भागवत-दर्शन

(श्रीमद्भागवत-महापुराण)

प्रवचन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

संकलन

सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

भागवत-दर्शन

: १ :

(श्रीमद्भागवत-महापुराण)

प्रवचन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

संकलन

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

भागवत-दर्शन : १ :
(श्रीमद्भागवत-महापुराण)

दोनों खंडों का मूल्य
४५०-००

चार सौ पचास रूपये मात्र

प्रथम संस्करण : ५०००
१५ फरवरी, १६८१
द्वितीय संस्करण : ११००
तृतीय संस्करण : १३००
चतुर्थ संस्करण : ११००
पंचम संस्करण : ११००
षष्ठ संस्करण : ७५०
सप्तम् संस्करण : ११००
अष्टम संस्करण : ११००
२४ जून २००६
रथ यात्रा

●

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्राकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८७१६ बी.जी. खेर मार्ग
मलाबार हिल,
मुम्बई - ४००००६
फोन : २३६८२०५५

●

मुद्रक – मैजिक इंटरनेशनल प्राइवेट लिमिटेड,
ग्रेटर नोएडा

।। श्रीहरिः ।।

शुभाशीराशयः सन्तु

समय-समय पर पृथक्-पृथक् स्थानों पर श्रीमद्भागवत के पाक्षिक प्रवचन हुए। अनेक भक्तों ने उन प्रवचनों को टेप कर लिया था। उनमें वह मुख्य प्रवचन था जो वाराणसी में श्री श्री माँ आनन्दमयी के आश्रम में हुआ था। सौभाग्यवती श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी ने वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम करके उन्हें मिला-मिलाकर एक वृहद् ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया। यह काम बड़े परिश्रम और लगन का था। श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी यदि इतने परिश्रम और बुद्धिमत्ता से यह काम न करतीं तो इसका सम्पन्न होना बहुत ही कठिन था। हम उन्हें भूरि-भूरि शुभाशीर्वाद देते हैं। साथ ही श्रीदेवधर शर्मा को भी आशीर्वाद देते हैं, जिनकी सूझबूझ और सम्पादन-कला से यह प्रस्तुति इतनी सुन्दर और उपादेय बन सकी।

इसके प्रकाशित होने में सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टियों एवं विशेष करके श्रीमती हेमलता खटाउ एवं रतनसी भाई खटाउका जो उत्साहपूर्ण सहयोग रहा, वह भी कम प्रशंसनीय नहीं है। भगवान इन सभी उत्साही, प्रत्यनशील भागवत-प्रेमियों को अपनी भक्ति और भगवत्सेवा में रुचि देता रहे।

श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी, आनन्दकानन प्रेस के प्रकाशक, मुद्रक भी सर्वथा आशीर्वाद एवं धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इतना विशाल ग्रन्थ अल्प समय में ही मुद्रित करके दे दिया।

धर्मे मतिरस्तु, भगवति रतिरस्तु !

— स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

॥ श्री हरिः ॥

सबके लिए हितकारी

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (२.३.१०)

सम्पूर्ण विश्व के भगवद्चरणानुरागी,विरागी संतसमाज एवं श्रीमद्भागवत सप्ताह के कथावाचक,विद्यार्थी,विद्वान्-सबके लिए हितकारी,परम पूज्य परम आराध्य सद्गुरुदेव महाराजश्री के मुखारविन्द से प्रकट यह भगवद्विग्रह वाङ्मय 'भागवत - दर्शन' अपने अष्टम संस्करण में प्रवेश करने जा रहा है।

जो बुद्धिमान पुरुष है-वह चाहे निष्काम हो,कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो-उसे तो तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् की ही आराधना करनी चाहिए------और श्रीमद्भागवत महापुराण का दर्शन ,स्पर्श,स्मरण,अध्ययन,श्रवण आदि भगवदाराधना का ही रूप है,जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और भगवान् एवं उनकी दया का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

इस चंचल संसार में अचल है श्रीमद्भागवत का ज्ञान !

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

श्रीवृन्दावन धाम
२४-६-२००६
रथ यात्रा
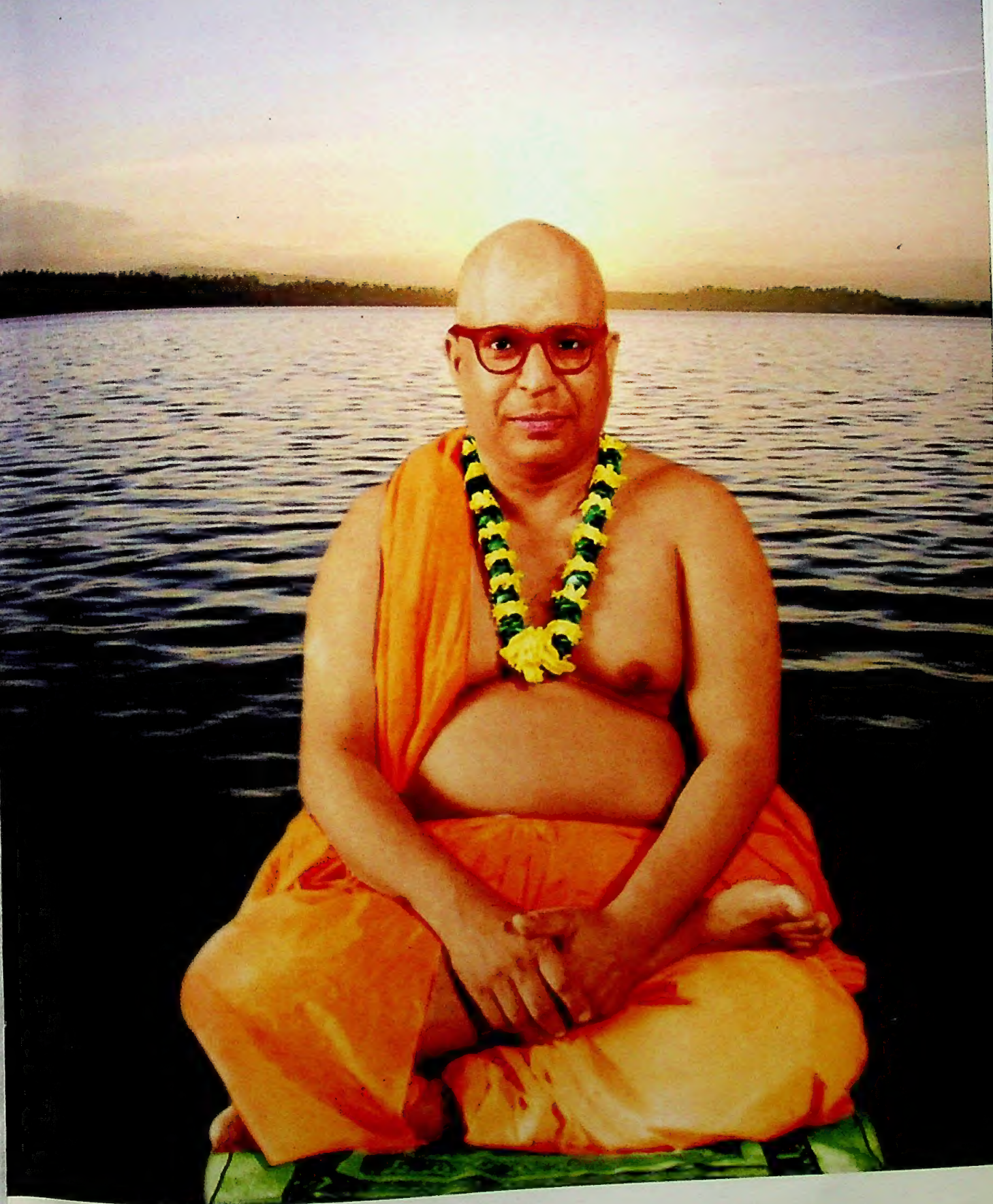
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अनुक्रम

'भूमिका' का विषय-क्रम (१-१६०)

भागवत-दर्शन : १ : उद्घाटन-समारोह

सर्वशास्त्रशिरोरत्नसमुद्भासितमूर्तये ।
नमोस्त्वखण्डानन्दाय वेदान्ताम्बुजभानवे ॥

परमपूज्य श्रीमहाराजजीके चरणोंकी वन्दना करते हुए उपस्थित आदरणीय ईश्वरानुरागी भक्तोंको नमस्कार करता हूँ।

आज परमपूज्य श्रीस्वामीजीकी संन्यास-जयन्तीके शुभ अवसरपर भारतके प्रसिद्ध उद्योगपति पद्मविभूषण श्रीघनश्यामदासजी बिरला प्रमुख अतिथिके रूपमें उपस्थित हैं। सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्टकी ओरसे मैं उनका हार्दिक स्वागत करता हूँ।

महामना घनश्यामदासजी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न, मेधावी सत्पुरुष हैं। घनश्याम यह एक भगवान् श्रीकृष्णका नाम है। बिरलाजीका जन्म रामनवमीको हुआ है। यह एक सुन्दर योग है।

भौतिक दृष्टिसे बिरला उद्योग-साम्राज्य (Birala Industrial Group)का स्थापन किया है वहीं आध्यात्मिक दृष्टिसे 'स्वानन्द-साम्राज्य'का रस लिया है। श्रीमद्भगवद्गीताके 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः', 'निर्मानमोहा', अध्यात्मनित्या, आदि दिव्य गुणोंसे विभूषित हैं। अनेक सार्वजनिक महान् कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हैं।

आपने अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन किया है। भागवत-दर्शनके उद्घाटनके शुभ प्रसंगके लिए श्रीबिरलाजी अत्यन्त योग्य महानुभाव हैं।

श्रीमद्भागवतका वर्णन है कि—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

परम पूज्य श्रीमहाराजजी अपने प्रवचनोंमें कहते हैं कि श्रीमद्भागवतमें केवल मधुर-रस ही रस है गुठली नहीं है। ऐसे ग्रन्थरत्नके उद्घाटनके लिए श्रीघनश्यामदासजी बिरलासे निवेदन करता हूँ।

—दत्तात्रेय बुहानुकर
अध्यक्ष : सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

देशके प्रसिद्ध उद्योगपति कर्मयोगी श्री घनश्यामदास बिरला

का

उद्घाटन-भाषण

श्रीस्वामीजी महाराज, दहाणुकरजी और श्रीमती हेमलताजी, सबसे पहले तो मैं श्रीस्वामीजी महाराजको अनेक-अनेक नमस्कार करता हूँ। ये बम्बई—जैसे व्यवसाय-केन्द्रमें बार-बार प्रवचन करके लोगोंको अध्यात्मकी ओर ले जा रहे हैं, लोगोंका मंगल कर रहे हैं। दैवी-सम्पदाका प्रकाश करा रहे हैं। इससे सबका कल्याण हो रहा है। हम सब लोग स्वामीजी महाराजके अत्यन्त अनुगृहीत हैं कि उनसे हम सबका मंगल और कल्याण हो रहा है। केवल बम्बई ही नहीं, कलकत्तेमें भी सालमें एक-दो दफे प्रवचन होते हैं, वे दिल्ली भी जाते हैं। इनका जीवन असलमें दैवी-सम्पदाका प्रकाश फैलाना ही हो गया है।

आजके विकट समयमें, जब कि धर्मकी भावना कुछ कम मालूम देती है, यद्यपि मेरा ऐसा खयाल है कि कम नहीं हो रही है, वृद्धि पा रही है; किन्तु जो भी हो, आपका अत्यन्त सहारा मिलता है। इसलिए हम सब इनके अनुगृहीत हैं। मैं आपकी आज्ञा मानकर ही आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ और मैं दहाणुकरजी और हेमलताजीको धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने मुझे निमन्त्रण देकर यहाँ बुलाया है।

भागवत एक अनुपम ग्रन्थ है। ऐसी कथा आती है कि व्यासजीने वेदोंका संकलन करनेके बाद महाभारत रची, परन्तु उनको पूरा सन्तोष नहीं हुआ। उस असन्तोषको जब उन्होंने नारद मुनिके सामने प्रकट किया तो नारद मुनिने कहा, 'महाराज, आपने महाभारत तो लिखो, लोगोंको कर्मका उपदेश दिया, किन्तु साधारण लोगोंके लिए भक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। वेद सब लोग नहीं समझ पाते, इसलिए आपने महाभारत रची। महाभारतमें-आपने कर्मकी प्रशंसा की, । लोगोंको कर्मके मार्गमें प्रेरित किया। परन्तु इस विकट समयमें भक्तिके बिना लोगोंका उद्धार होना मुश्किल है। इसपर उन्होंने भागवतकी रचना की, ऐसी कथा है।

भागवत यह एक अनुपम ग्रन्थ है। मैं जब दस सालका था, उस समय वेंकटेश्वर प्रेसमें पुस्तक छपी थी—'सुखसागर'। मेरा ऐसा खयाल है, 'सुखसागर' नाम था। शुकसागर नहीं, सुखसागर। इसनेमें वह संक्षिप्त भागवत थी। दस सालकी उमरमें मैं वह पढ़ गया। उसके बाद जवान होनेके बाद मैंने भागवत भी पढ़ी और गुजरातीमें एक संक्षिप्त भागवत छपी। श्रीयुत् पटेलने संक्षिप्त भागवत गुजरातीमें लिखी, वह मुझे अत्यन्त पसन्द आयी। साधारण लोगोंके लिए वह थोड़ेसे-में भागवतका ज्ञान

करा देती है। उसीका अनुवाद मेरी पुत्रवधू सरलाने हिन्दीमें करवा दिया। उसके बाद कमला सुब्रह्मण्यने अंग्रेजीमें संक्षिप्त भागवत लिखी। उसके पहले उसने अंग्रेजीमें संक्षिप्त महाभारत लिखी थी, पीछे संक्षिप्त भागवत लिखी। वह भी छप गयी है। इसके अलावा एक श्रीरघुनाथजी हैं साउथ-इण्डियाके, उन्होंने सारी भागवतका अंग्रेजीमें बहुत अच्छा अनुवाद किया। वह भी बड़ी अच्छी पुस्तक है।

मैंने इन सब चीजोंका इसलिए जिक्र किया कि आपकी रुचि हो तो चाहे संक्षिप्त, चाहे पूरी अवश्य मंगाकर पढ़ें। भागवत यह एक अनुपम ग्रन्थ है, इसमें कोई शक नहीं। थोड़ा फेर भागवतका और महाभारतका समक्ष लेना इसलिए आवश्यक है कि महाभारतमें जो रचना है, वह यह निर्देश करती है कि कलिकालमें—विकट समयमें आपके सामने जब कोई समस्या उपस्थित हो तो महापुरुषोंने किस प्रकार आचरण किया, यह महाभारत बताती है। और उसी बातको भागवत बताती है कि जब विकट समय आवे तो भगवान्‌को सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करके आपको कर्म करना चाहिए। दोनों ही सद्‌ग्रन्थ कर्म करनेकी ओर प्रेरित करते हैं। एकमें आपको निर्देश किया गया है कि महापुरुषोंके आचरणोंका अनुकरण करें, दूसरेमें यह निर्देश किया गया है कि भगवान्‌को सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करके आप अपना कार्य करें।

गीता भी कहती है कि जो स्वकर्म है, वह भगवान्‌को अर्पण करो। 'तं अभ्यर्च्य' उसीसे मोक्ष-प्राप्ति होगी। अब, जैसे मैंने कहा, 'भागवत एक अनुपम ग्रन्थ है'—इसके ऊपर स्वामीजी महाराजका प्रवचन—वह भी अनुपम है। अब मेरे लिए, यह प्रवचनोंका जो संग्रह किया गया है उसपर न तो मेरी सामर्थ्य है कि मैं कोई महिमाकी टीका करूँ या शाङ्करभाष्यकी तरह कोई भाष्य करूँ। जिनको रुचि हो वे इसको अवश्य पढ़ेंगे। किन्तु संक्षेपमें मैं इतना कहना चाहता हूँ कि शास्त्र केवल पढ़नेकी चीज नहीं है। श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो और आचरण करो।

अन्तमें आदि शङ्कराचार्यने और बड़े-बड़े महामुनियोंने यही कहा है कि आचरण करो। आचरणके बिना जो पढ़ा-लिखा वह बेकार है। इसको यदि संक्षेपमें कहा जाय, तो भगवान्‌का नाम लो, अच्छा काम करो। हमारे सन्तोंने जो कुछ शास्त्रोंमें कहा, उसको भजनोंमें बहुत संक्षेपमें बताया और यह कहा है कि 'इस संसारमें कोई मजा नहीं है।'

मैं अब तो सत्तासी सालका हो गया। दुनिया बहुत देखी है, इसलिए मैं आपको अनुभवसे बता सकता हूँ कि भोगोंमें कोई मजा नहीं है। सुरदासजीने कहा—

यह संसार फूल सेमर को, सुन्दर देखि लुभायो।
चाखन लागो, रुई गयी उड़ि, हाथ कछू नहिं आयो॥

यह संसार फूल समर को,

हाँ, तो श्रीकृष्णमें राग भी है, वैराग्य भी है। वे दोनोंके ही अधिष्ठान तो हैं ही, अध्यास भी हैं। रज्जुमें अध्यस्त सर्प प्रतीतिकालमें भी क्या रज्जुसे पृथक् है ? वे भगवान् तो हैं ही, 'भगवान्' शब्दकी और उसके अर्थकी सीमाके बाहर भी हैं और यह बात उनकी प्रत्येक लीलासे प्रकट होती है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी यह सर्वशब्दार्थशून्य सर्वस्वरूपता स्थान-स्थानपर उनके मुखसे तथा उनके अन्तरङ्ग भक्तोंके मुखसे प्रकट हुई है। एक-दो उद्धरण देखिये। उद्धवजी कहते हैं—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः॥ (१०.३६.४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे सम्बन्ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे, स्थावर हो या जङ्गम, महान् हो अथवा अल्प—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो! श्रीकृष्णके अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें। वास्तवमें सब वही है, परमार्थ सत्य हैं।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः। भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः। उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥
(१०.८२.४६-४७)

'प्यारी गोपियो! जैसे घट-पट आदि जितने भी भौतिक आकार हैं, उनमें पृथिवी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओत-प्रोत हो रहे हैं—वैसे ही जितने पदार्थ हैं—उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ; मेरे अतिरिक्त उनका अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें ये ही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है; परन्तु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ। सच पूछो तो ये दोनों मेरे ही अन्दर प्रतीत हो रहे हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही उद्धवसे कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
(११.१३.२४)

'सनकादि ऋषियो! तुमलोग तत्त्वदृष्टिसे यों समझो कि मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा दूसरी इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं-ही-मैं हूँ; मुझसे भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि स्थूल-सूक्ष्म, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण विशेष तो क्या, सभी पदोंका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ श्रीकृष्णस्वरूप ही है। उनके

दर्शन-ध्यानके लिए मनको चाहे दूसरे लोकमें ले जायँ, चाहे इस लोकमें रखें—सर्वदा सर्वथा उनका दर्शन-ध्यान सम्भव है, क्योंकि सर्वत्र-सर्वदा और सर्वथा वही हैं। श्रीमद्भागवत इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्णताका प्रतिपादन करता है और उन्हींमें समा जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण हैं, श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णमें है और वास्तवमें श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय वस्तु तथा सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवतको जानना श्रीकृष्णको जानना है और श्रीकृष्णको जानना श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णके सम्बन्धका नहीं, स्वरूपका ज्ञान ही अपेक्षित है और यह भी एक लीला है।

मोर-मुकुट

स्वप्न और जाग्रत्की प्रशान्त सन्धिमें बाँसुरीकी स्वरलहरीके साथ ठुमुक-ठुमुककर पादविन्यास करते हुए उन्होंने प्रवेश किया। स्थितिमें गति, एकतामें अनेकता एवं शान्तिमें एक मधुर कान्तिका सञ्चार ही हो गया। वह अनन्त शान्ति, वह रहस्यरस और वह एकरस ज्ञानका अनन्त पारावार न जाने कहाँ अन्तर्हित—दृष्टिके एकान्तमें विलीन हो गया? न जाने कहाँ? नहीं, नहीं, यह तो भूल थी। वह प्रत्यक्ष आँखोंके सामने अमूर्तसे मूर्त होकर, नराकारसे साकार होकर और निर्गुणसे अनन्त दिव्यगुणसम्पन्न होकर अपनी रसभरी चितवनसे मुझे अपने साथ रमण करने—खेलनेका प्रणयाह्वान करने लगा।

अब मैंने देखा। हमारी चार आँखें हुईं, परन्तु यह क्या? एक क्षणमें ही मेरी आँखें लज्जासे अवनत क्यों हो गयीं? बात ऐसी ही थी। मैं अपराधी था। सचमुच जब प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करने योग्य वस्तुके भेदसे रहित उस विचित्र वस्तुकी प्राप्ति इस प्रकार स्वयं ही हो गयी, तब मैं चकित-सा रह गया। सहसा विश्वास न कर सका। एक हलकी-सी अवहेलना हो ही गयी। परन्तु दूसरे ही क्षण सँभल गया। ऐसा सँभला, ऐसा सँभला, मानो ज्ञानवान् होनेके पश्चात् 'वासुदेवः सर्वमिति'का ही तत्त्वतः अनुभूति हो गयी हो। एक महान् प्रकाश फैल गया और मानो उसने कहा भी—'अब उनके साथ रमण होगा। अबतक आनन्दका उपभोग तुम कर रहे थे, भले ही वह भोक्तृत्वहीन रहा हो। परन्तु अब? अब तो तुम्हारा उपभोग होगा। अब रासक्रीड़ा होगी।' मैंने भाष्य कर लिया—'वास्तवमें प्रेम या आनन्द भोग अथवा भोक्तृत्वहीन भोग (मोक्ष)में नहीं है, वह तो उनका भोग्य हो जानेमें ही है। इसीको तो प्रेमा भक्ति कहते हैं।'

उस प्रकाशमें मैंने क्या देखा? हाँ, अवश्य कुछ देखा तो था। वही मेरे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हुए ठुमुक रहे थे। चरणोंकी किंकिणी 'रुनझुन'की उल्लासपूर्ण ध्वनिसे चिदाकाशको मुखरित कर रही थी। पीताम्बर फहरा रहा था, परन्तु उसका मुँह पीछेकी ओर था। सुन्दर अलकावलीसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, परन्तु उनमें-से एक भी मेरी ओर नहीं आरहा था। ऐसा क्यों? वे स्वयं मेरी ओर

आरहे थे, मैंने विस्मित होकर एक बार उस अनूप रूपराशिका सर्वांग देखना चाहा, परन्तु देख न सका। बीचमें ही मुसकराकर उन्होंने आँखोंको विवश कर दिया। वे एकटक वहीं लग गयीं। न आगे बढ़ीं न पीछे हटीं। न चढ़ीं और न उतरीं। न जाने कितना समय बीत गया। गजबकी मुस्कराहट थी ! अजब जादू था !!

अब मुझे ध्यान आया। भगवान् स्वयं मेरे सामने खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। अरे ! अबतक मैंने कुछ स्वागत-सत्कार नहीं किया ? अर्घ्य-पाद्यतक न दिया ! हाँ, हुआ तो ऐसा ही। परन्तु यह क्या ? उन्होंने स्वयं अपने हाथों स्वागत-सत्कारका आयोजन कर लिया है ! ऐसा ही जान पड़ता है। प्रकृतिके आत्यन्तिक लयके पश्चात् यह नूतन प्रकृति कहाँसे आयी ? हाँ, हाँ, यही इनकी दिव्य प्रकृति है। यह चिन्मय है, इनकी लीलाकी सहकारिणी है। हाँ, इसमें तो सजीव स्फूर्ति है, नवीन ही जागृति है और भरा हुआ है दिव्य जीवन। इसका स्वागत भी अपूर्व है।

अब मैंने उस ओर दृष्टि डाली। हाँ, तो पैरोंके तले हरे-हरे दिव्य दूर्वादलके कालीन बिछे हुए हैं। तारामण्डित गगनका बड़ा-सा बितान तना हुआ है। सफेद चाँदनीकी ठंडी और उजली रोशनीसे पत्ते-पत्तेमें जगमग ज्योति झिलमिला रही है। अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर हवा पङ्खा झल रही है। वृक्षोंने अपने रसभरे फलोंसे झुकी हुई कलियाँ सामने कर दी हैं। परन्तु वे, वे तो बस पूर्ववत् बाँसुरीके रसीले रन्ध्रोंसे राग-अनुरागके समुद्र उँड़ेलनेमें लगे हैं। मैं चकित होकर केवल देख रहा था।

मैंने स्तुति करनेकी ठानी। परन्तु मेरे 'ठानने'का क्या महत्त्व ? भ्रमरोंने अपनी गुंजारको उनके वेणुनादसे मिलाकर गुनगुनाना प्रारम्भ किया। कोयलोंने अपनी 'कुहू कुहू'की मञ्जुल ध्वनि निछावर कर दी। थोड़े-से साँवले बादलोंने तबलोंकी तरह मन्द-मन्द ताल भरनेकी चेष्टा की, परन्तु दो-चार क्षणमें ही वे कुछ नन्हीं-नन्हीं सफेद बूँदोंके रूपमें 'रस' बनकर चरण पखारने आगये। अबतक झुण्ड-के-झुण्ड मयूर आकर थिरकने लगे थे।

अब वे घिर गये। चारों ओर मयूरका दल अपने पच्छ फैलाकर नाच रहा था। और बीचमें श्यामसुन्दर अबाध गतिसे पैंजनीमें स्वरसाम्य रखते हुए बाँसुरी बजानेमें तल्लीन थे। मैं अनुभव कर रहा था उनके लाल-लाल अधरोंसे निकलकर अणु-अणु परमाणु-परमाणुमें मस्ती भर देनेवाले मोहन-मन्त्रका ! हाँ, तो सब मुग्ध थे, सब-के-सब अनुरागभरे रागकी धारामें बह गये थे। किसीको तन-बदनकी सुध नहीं थी। सुध रखनेवाला मन ही नहीं था। हाँ, वे, बस वे, सबकी ओर देखते हुए भी मुझे ही देख रहे थे। बिना जतनके ही मेरे रोम-रोमसे वही वेणुके आरोह-अवरोह क्रमसे मूर्च्छित स्वरलहरी प्रवाहित हो रही थी। शरीर, प्राण, हृदय और आत्मा सब-के-सब उस रागके अनुरागमें रँगकर किसी अनिर्वचनीय रसमें

डूब गये थे। सबकी आँखें मोहनके मुख-कमलपर निर्निमेष लग रहीं थीं। बहुत समय बीत गया होगा। परन्तु वहाँ समय था ही कहाँ ?

अच्छा, एकाएक मुरलीध्वनि बन्द हो गयी। एं, ऐसा क्यों हुआ ? परन्तु हुआ ऐसा ही। जबतक सबकी आँखें खुलें, होश सँभले, तबतक उन्होंने झपटकर एक मयूरके गिरे हुए पिच्छको अपने करकमलोंसे उठाकर सिरपर लगा लिया, सबकी आँखोंमें आँसू आगये, सभीका हृदय पिघल गया। सबके हृदयने एक स्वरसे कहा—

'प्रियतम ! तुम्हारा प्रेम अनन्त है। तुम्हारी रसिकता अनिर्वचनीय है। आजसे तुम 'मोर-मुकुट-धारी' हुए। उन्होंने मुस्कराकर आँखोंके इशारेसे स्वीकृति दी।

उसी समय उनके पास कई ग्वालबाल आते हुए दीख पड़े और वे उनमें मिलकर खेलते-कूदते दूसरी ओर निकल गये।

अब मुझे मालूम हुआ कि वास्तवमें यह जाग्रत्-स्वप्नकी सन्धि वृन्दावन है और इसमें वे लीला करते हैं।

क्या महाभारतके श्रीकृष्ण दूसरे हैं ?

श्रीमद्भागवतमें इस बातको स्पष्ट घोषणा की गयी है कि 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' अर्थात् दूसरे अवतार अंशावतार एवं कलावतार हैं, परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् भगवान् हैं। तात्पर्य यह है कि और जितने अवतार होते हैं, वे भगवान्‌के अंशमात्र या कलामात्र होते हैं; परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परिपूर्णतम हैं। चाहे जिस दृष्टिसे विचार किया जाय, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ही सिद्ध होंगे; क्योंकि वे वास्तवमें पूर्ण हैं। पूर्णताका अर्थ क्या है, किन उपपत्तियोंसे पूर्णताका निश्चय करना चाहिए, यह विचारणीय प्रश्न है। जगत्‌में जितनी वस्तुएँ हैं, उनकी एक सीमा निर्धारित है। जिसका अंश हो सकता है, उसकी सीमाका भी अनुमान लगाया जा सकता है। एक कण हमें प्राप्त है, यह कण किसी विशेष वस्तुका करोड़वाँ हिस्सा है। अब वह वस्तु कितनी बड़ी है, यह जानना हो तो इस कणको करोड़गुना कर सकते हैं; यही उस वस्तुका परिमाण है। परन्तु जो वस्तु अनन्त है, उसका न तो कोई अंश होता है और न कोई परिमाण ही। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, उनकी सत्ता अनन्त है, उनका ज्ञान अनन्त है, उनका आनन्द अनन्त है, वे परिपूर्ण एकरस सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जगत्‌के समस्त ज्ञान, सत्ता और आनन्दका परिच्छेद है; परन्तु उनकी सत्ता, ज्ञान और आनन्दका परिच्छेद नहीं है। वे पूर्ण हैं।

जगत्‌के सभी पदार्थ शक्ति, क्रिया आदिके सम्बन्धसे एक-एक विशेषता रखते हैं। उन सब विशेषताओंको यदि एकत्र कर लिया जाय तो वह विशेषताका एक समुद्र बन जायगा। वह विशेषताओंका समुद्र अपने आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके सामने एक बिन्दुके समान भी नहीं है। जगत्‌की समग्र शक्ति, समग्र

धर्म, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी (सौन्दर्य, माधुर्य एवं सम्पत्ति), समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य भगवान् श्रीकृष्णमें ही निवास करते हैं। इनकी पूर्णता केवल भगवान् श्रीकृष्णमें ही है।

भगवान् श्रीकृष्णमें तीनों प्रकारकी पूर्णता प्रत्यक्ष रूपमें पायी जाती है। वे आध्यात्मिकतामें परिपूर्ण हैं। उनका ज्ञान अनन्त है। स्थान-स्थानपर उन्होंने अर्जुन-उद्धव आदि भक्तोंको जो उपदेश किया है और जगत्में वे जिस प्रकार निर्द्वन्द्व वीरभावसे रहे हैं, वह सर्ववादिसम्मत है। भगवान्में आधिदैविक शक्ति भी पूर्णरूपसे प्रकट है। बाललीलासे लेकर परमधाम-गमनपर्यन्त जितने कार्य किये हैं सबमें अधिदैव जगत्का सम्बन्ध रहा है और उपासनाकी दृष्टिसे वे सर्वथा पूर्ण हुए हैं तथा दूसरोंको पूर्ण बनानेके लिए हुए हैं। आधिभौतिक दृष्टिसे श्रीकृष्णका शरीर सर्वथा परिपूर्ण है। यद्यपि भगवान्का शरीर पञ्चभूत-निर्मित नहीं होता, तथापि यदि भौतिक दृष्टिसे विचार करना ही हो तो कहा जा सकता है कि उतना सुन्दर, उतना बलिष्ठ, उतना सुगठित शरीर सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक न किसीका हुआ और न आगे होनेकी सम्भावना है। श्रीमद्भागवतमें कंसकी रंगशालामें जानेपर श्रीकृष्णके शरीरका जो वर्णन हुआ है, वह श्रीकृष्णके शरीरकी पूर्णताका द्योतक है। वहाँ ऐसा वर्णन आता है कि श्रीकृष्ण पहलवानोंको वज्रके समान दीख रहे थे और स्त्रियोंको कामदेवके समान। बड़े-बड़े लोग उन्हें श्रेष्ठ पुरुषकी भाँति देख रहे थे और पिता-माताकी दृष्टिमें वे नन्हें-से शिशु मालूम पड़ रहे थे। ग्वालोंकी दृष्टिमें वे अपने आत्मीय थे और दुष्टोंकी दृष्टिमें शासक; कंस उन्हें मृत्युके रूपमें देख रहा था और योगी लोग परम तत्त्वके रूपमें; अज्ञानी लोग उनके विराट् शरीरको देखकर भयभीत हो रहे थे और प्रेमी भक्त अपने प्रभुके रूपमें देखकर कृतार्थ हो रहे थे। इस प्रकार उनके शरीरकी पूर्णताके कारण सब लोग उनका दर्शन विभिन्न रूपमें करते थे। केवल शारीरिक पूर्णता ही नहीं, उनके जीवनमें कर्मकी पूर्णता भी प्रत्यक्षरूपसे दृष्टिगोचर होती है। साधु-परित्राण, दैत्योंका संहार, धर्मकी स्थापना, अधर्मका नाश—इतना ही क्यों, समष्टिके हितके लिए जिन कर्मोंकी आवश्यकता थी, श्रीकृष्णके जीवनमें उन सबकी पूर्णता पायी जाती है।

अंशावतार और पूर्णावतारके कर्ममें थोड़ा अन्तर होता है। अंशावतारका कर्म एक देश, एक काल, एक परिस्थिति और कभी-कभी तो एक व्यक्तिके लिए हितकर होता है; परन्तु पूर्णावतारका कर्म सब देश, सब काल, सब परिस्थिति और सब व्यक्तियोंके लिए हितकर होता है। उदाहरणके लिए परशुराम और बुद्धके चरित्र ले सकते हैं। क्षत्रियोंका संहार उस समय आवश्यक था, परन्तु वह सर्वदा आवश्यक नहीं हो सकता। बुद्धके समय ईश्वरकी भी उपेक्षा करके अहिंसाका प्रचार करना अनिवार्य हो गया था, परन्तु वह सर्वदाके लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम एवं श्रीकृष्णके कार्यकलाप सब देश और सब समयके लिए एक-सरीखे उपयोगी हैं। उनका कार्य समष्टिके सार्वकालिक हितको ध्यानमें रखकर होता है।

भगवान्‌में सांसारिक जीवोंके समान कोई इच्छा नहीं होती। वे सर्वदा अपने स्वरूपमें रमण किया करते हैं, उनकी दृष्टिमें कोई दूसरा है ही नहीं, सब कुछ अपना ही पसारा है—अपनी ही लीला है। उनमें इच्छा उत्पन्न करती है भक्तोंकी इच्छा। जब भक्त लोग जगत्‌की रक्षाके लिए उन्हें पुकारते हैं, जब बहुत-से भक्त भगवान्‌को, उनकी लीलाको प्रकटरूपसे देखना चाहते हैं और स्वयं उनकी लीलामें सम्मिलित होकर उसका आनन्द लेना चाहते हैं, और भगवान्‌की प्रत्यक्ष सेवा करके अपने जीवनको सफल करना चाहते हैं, तब भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी अभिलाषाके अनुसार उनके बीचमें आते हैं और उनकी एक-एक लालसा पूर्ण करते हैं। जगत्‌का कल्याण ही भगवान्‌का अवतार है। भक्तोंकी लालसा ही भगवान्‌की लीला है। भक्त भगवान्‌से चाहे जो करा ले—हँसा ले, नचा ले, मानखचोरी करवा ले, चीरहरण करवा ले, रासलीला करवा ले, रथ हँकवा ले, पैर धुलवा ले—सब कुछ करनेको वे निरन्तर प्रस्तुत रहते हैं। वे स्वयं इच्छाहीन हैं, भक्तकी इच्छा ही उनकी इच्छा है।

भगवान् श्रीकृष्ण एक भी हैं, अनेक भी हैं। वे ही गोलोकमें रहकर गोपियोंके साथ विहार करते हैं, वे ही वैकुण्ठमें रहकर सारे जगत्‌की रक्षा करते हैं, वे ही नर-नारायणके रूपमें रहकर अपनी तपस्याके बलसे संसारको धारण करते हैं, वे ही महाविष्णुके रूपमें भी हैं और उनके श्वेत-कृष्ण केशोंके रूपमें अवतीर्ण भी होते हैं; वे एक हैं, फिर भी भक्तोंकी भावनासे अनेक हो जाते हैं। वे अपनी दृष्टिमें एक हैं, भक्तोंकी दृष्टिमें अनेक। श्रीमद्भागवतमें जिन श्रीकृष्णका वर्णन हुआ है, वे परिपूर्णतम श्रीकृष्ण हैं; इसलिए उनमें सबका समावेश है। इसलिए अमुक श्रीकृष्ण मेरे हैं और अमुक श्रीकृष्ण मेरे नहीं हैं—इस प्रकारकी भेद-बुद्धि करनेवाले भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं; क्योंकि जो भगवान्‌के सच्चे प्रेमी हैं, उन्हें तो सभी रूपोंमें अपने प्रियतम श्रीकृष्णका ही दर्शन होता है, उनकी दृष्टिमें तो दूसरेकी सत्ता ही नहीं है।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रकारकी भ्रान्त धारणा और भी सुनी जाती है। कुछ लोग श्रीकृष्णकी केवल कर्मलीलाको ही प्रधानता देते हैं और उनकी उपासना-लीला अथवा प्रेम-लीलाको गौण कर देते अथवा अस्वीकार कर देते हैं। उनकी बुद्धिमें कर्मकी वासना इतनी बलवती हो गयी है कि उसके सामने वे प्रेमकी लीलाओंको भूल ही जाते हैं अथवा उड़ा देनेकी चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगोंने श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेममयी वृन्दावनकी चिन्मयी लीलाओंका रहस्य न समझकर उसको अद्भुतकर्मी श्रीकृष्णके जीवनमें उचित नहीं समझा और ऐसी कल्पना कर ली कि जिन ग्रन्थोंमें ऐसी लीलाओंका वर्णन है, उन ग्रन्थोंके श्रीकृष्ण दूसरे हैं और महाभारतके वीर श्रीकृष्ण दूसरे। उन्होंने यहाँतक धृष्टता की कि वृन्दावनवाले श्रीकृष्णकी महाभारतके श्रीकृष्णसे सर्वथा पृथक् होनेकी घोषणा कर दी। यह महाभारतके अध्ययन और अनुशीलनके अभावका ही परिणाम है। महाभारतके अनेक स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनकी लीलाओंका उल्लेख है।

महाभारतके सभापर्वमें जहाँ द्रौपदीके वस्त्राकर्षणका उल्लेख किया गया है, वहाँ बड़े स्पष्ट शब्दोंमें

द्रौपदीकी प्रार्थना मिलती है—'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।' अर्थात् 'हे गोविन्द ! हे द्वारकामें रहनेवाले श्रीकृष्ण ! हे गोपीजनोंके प्रियतम ? आओ, हमारी रक्षा करो ।' यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग भक्त थी और उनकी अन्तरङ्ग लीलाओंसे परिचित थी । गोपियोंके साथ भगवान्का जो सम्बन्ध है, उसके द्वारा भगवान्को पुकारना इस बातका सूचक है कि भगवान् इस नामसे शीघ्र प्रसन्न होते हैं । 'गोपीजनप्रिय' सम्बोधन मथुरावासी अथवा द्वारकावासी भगवान्के लिए तभी प्रयुक्त हो सकता है, जब वे पहले गोकुल और वृन्दावनमें रहे हों एवं गोपियोंके साथ उनका विशेष प्रेम-सम्बन्ध रहा हो। इस एक सम्बोधनसे ही भगवान्की व्रजमें की हुई समस्त लीलाओंकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है ।

महाभारतके अन्यान्य स्थलोंमें भी श्रीकृष्णकी बाललीलाका वर्णन है । शिशुपालने श्रीकृष्णकी निन्दा करते समय और भीष्मपितामहने दुर्योधनके प्रति श्रीकृष्णकी महिमा वर्णन करते समय उनकी बाललीलाओंकी चर्चा की है । यहाँ उन सबका उद्धरण न देकर केवल द्रोणपर्वके कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं, जो कि सञ्जयसे धृतराष्ट्रने कहे हैं—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय । कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।।
गोकुले वर्द्धमानेन बालेनैव महात्मना । विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ।।
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे । जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ।।
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् । वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ।।
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम् । मुरं चामरसङ्काशमवधात् पुष्करेक्षणः ।।
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः । विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ।।
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः । भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ।।
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना । तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ।।
चेदिराजं च विक्रान्तं रा सेनापतिं बली । अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत्तदा ।।
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय । कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ।।

इन श्लोकोंका अर्थ बहुत स्पष्ट है । इनमें गोकुल, मथुरा और हस्तिनापुरकी लीलाओंका स्पष्ट उल्लेख है । महाभारतके अतिरिक्त अग्निपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण आदि समस्त पुराणग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ भगवान्की लीलाका वर्णन हुआ है, सर्वत्र एक ही कृष्णका वर्णन है ।

श्रीमद्भागवतके कृष्ण दूसरे हैं और महाभारतके दूसरे—यह कहनेवालोंके चित्तमें ऐसी बात बैठी हुई है, अथवा वे यह कहना चाहते हैं कि श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं । श्रीमद्भागवतके कविने अपनी भावनाके अनुरूप श्रीकृष्णका चित्रण किया है और महाभारतके कविने अपनी भावनाके । वे काव्य, नाटक

और उपन्यासके पात्रोंके समान इन पौराणिक व्यक्तियोंको भी कल्पित मानते हैं और कल्पनाके आदर्शके भेदसे श्रीकृष्णको दो व्यक्ति मान लेते हैं। बहुत जोर देनेपर और प्रमाणित करनेपर वे इतना तो मान लेते हैं कि इतिहासमें श्रीकृष्ण-अर्जुन आदि नामके व्यक्ति हुए हैं, परन्तु उनके चरित्रको सर्वथा अपनी-अपनी भावनाके अनुरूप कल्पित मानते हैं। उनकी यह धारणा भारतीय ऐतिहासिक पद्धतिके सर्वथा विपरीत होनेके कारण कदापि आदरणीय नहीं है। अभी भारतवर्षमें आज भी ऐसे लोग हैं जो अपनेको श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरका वंशज कहकर गौरवान्वित अनुभव करते हैं। गोकुल, वृन्दावन, गोवर्द्धन, नन्दगाँव, मथुरा द्वारका, कुरुक्षेत्र आदि ऐसे अनेकों स्थान हैं जहाँ परम्परासे श्रीकृष्ण आदिके अनेकों कर्मोंके स्थल-विशेष सुनिश्चित हैं। पाँच हजार वर्षके भीतरके जितने भी प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, उनमें उन स्थानोंकी और उनमें होनेवाले व्यक्तियोंकी ऐतिहासिकता एक स्वरसे स्वीकार की गयी है। क्या संसारके इतिहासमें केवल काव्य अथवा उपन्यासके बलपर किसी भी स्थान अथवा व्यक्तिकी इतनी पूजा पूजा हुई है? भारतीय पुराणोंमें जिन-जिन स्थानोंकी कथा है, वे आज भी प्रायः ज्यों-के-त्यों मिलते हैं, और अनेक शिलालेखों, स्तूपों और ताम्रशासनों द्वारा उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। यदि महाभारत-युद्ध ही ऐतिहासिक नहीं है, तो श्रीकृष्णका सारथ्य और उनका गीतोपदेश क्या महत्त्व रखता है? एक बात बड़ी स्पष्टताके साथ कही जा सकती है—वह यह कि महाभारत और श्रीमद्भागवतमें जब बहुत ही स्पष्ट रूपसे लिखा है कि यह ऐतिहासिक घटना है, तब उनकी इस उक्तिको न मानकर उनके एक अंशके बलपर किसीको मनमानी कल्पना करनेका क्या अधिकार है? यदि उन्हें मानते हैं तो पूर्णरूपसे मानें और जैसे उनमें श्रीकृष्णको ऐतिहासिक, उनके चरित्रको सत्य एवं गोकुल तथा कुरुक्षेत्रके श्रीकृष्णको एक बतलाया गया है, वैसा ही स्वीकार करें; अपनी बुद्धिके भ्रमको शास्त्र-ग्रन्थोंपर न डालकर अपने ही पास रक्खें, शास्त्रमर्यादाको अक्षुण्ण चलने दें, उसपर अनुचित आघात न करें। शास्त्रग्रन्थोंके आधारपर इस कल्पनाके लिए तनिक भी अवसर नहीं है कि ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं।

श्रीकृष्णके भक्तोंकी अनेक श्रेणियाँ होती हैं। वे अपनी भूमिका, स्थिति और भावनाके अनुसार श्रीकृष्णकी विभिन्न लीलाओंसे प्रेम करते हैं और विशेष करके अपनी रुचिके अनुकूल लीलाओंका ही श्रवण-कीर्तन करते हैं। इनके अनेक भेद होनेपर भी मुख्यतः इनकी पाँच प्रकारकी आसक्तियाँ देखी जाती हैं—शान्तासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति और कान्तासक्ति। व्रजमें विशेष करके तीन आसक्तियोंका प्रकाश हुआ है—ग्वाल-बालोंमें सख्यासक्ति, नन्द-यशोदा आदिमें वात्सल्यासक्ति और गोपियोंमें कान्तासक्ति। वात्सल्यासक्तिकी लीला गृह-लीला है। माता-पिता घरपर रहकर अपने बच्चेसे प्यार करते हैं, उसकी देखभाल करते हैं और बाहर जानेपर उसके लिए चिन्तित रहते हैं। उसे ही सुख पहुँचानेके लिए अनेकों प्रकारकी तैयारी करते रहते हैं। सखाओंके साथ होनेवाली लीला वनकी लीला है और प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक ग्वालबाल श्रीकृष्णके साथ रहते हैं, उनके साथ हँसते हैं, गाते, खेलते-कूदते हैं,

समानताका व्यवहार करते हैं और सब कुछ भूलकर उन्हींके प्रेममें मग्न रहते हैं। कान्तासक्तिमती गोपियोंके साथ होनेवाली लीला कुञ्जलीला है और यह बड़ी ही गोपनीय है। औरोंकी तो बात ही क्या, वात्सल्यासक्ति रखनेवाले माता-पिताको भी इस रहस्य-लीलाका पता नहीं चलता और कुछ अन्तरङ्ग सखाओंको छोड़कर दूसरे ग्वालबाल भी इस अन्तरङ्ग-लीलाको नहीं जानते। श्रीमद्भागवतमें इन त्रिविध लीलाओंका वर्णन है और इन तीनों प्रकारके भाव रखनेवाले उनका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके भावोंमें लीन हो जाते हैं और अपने जीवनको सफल एवं कृतकृत्य अनुभव करते हैं।

जिनके जीवनका उद्देश्य केवल भौतिक उन्नति है, जो शारीरिक जीवन और सुखभोगको ही सब कुछ समझते हैं, जिन्होंने सहृदयताके साथ मानवहृदयका अध्ययन नहीं किया है, जिन्होंने आध्यात्मिक शान्तिके मूलमन्त्र इस प्रेम-रहस्यका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है—दूसरे शब्दोंमें जो साधक नहीं हैं, जिन्हें जगत्के भोगोंसे वैराग्य नहीं है, जो अभी भगवत्कृपाके अनुभवसे वञ्चित हैं, वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति होनेवाले सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भावके रसको न कल्पना ही कर सकते हैं और न तो अनुभव ही। श्रीमद्भागवत भागवतोंका, परमहंसोंका, सिद्ध साधकोंका ग्रन्थ है। इसकी मधुर और प्रेमपूर्ण लीलाओंको, केवल वे ही समझ सकते हैं और केवल वे ही समझ सकते हैं।

श्रीमद्भागवतमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्यरसकी लीलाओंका वर्णन हुआ है। समस्त ब्रह्माण्डोंके एकमात्र अधिपति समस्त यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-परवश होकर किस प्रकार ग्वालोंके साथ खेलते हैं, उनके साथ गौएँ चराते हैं, खेलमें उनसे हार जाते हैं और उन्हें पीठपर ढोते हैं—इन सब बातोंका बड़ा ही मधुर और हृदयको मुग्ध कर देनेवाला वर्णन हुआ है। वे ही परात्पर ब्रह्म, अखिललोक-महेश्वर, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किस प्रकार अपनी माताकी गोदमें बालोचित क्रीड़ा करते हैं, भूखे होकर दूध पीना चाहते हैं, डाँटनेपर डरते हैं, रोते हैं और ऊखलमें बँध जाते हैं—इन सब बातोंका इतना सुन्दर, इतना मोहक वर्णन हुआ है कि पढ़-सुनकर भगवान्‌की परम दयालुता और परम प्रेमिल स्वभावके अनन्त समुद्रमें हृदय डूबने-उतराने लगता है। इन लीलाओंके बीच-बीचमें पूतना, तृणावर्त, बकासुर, अघासुर आदि असुरोंके वधसे रसकी अभिवृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं। भगवान्‌की ये लीलाएँ भी ऐश्वर्यसूचक नहीं, भगवान्‌की दयालुताकी ही सूचक हैं; क्योंकि सङ्कल्पमात्रसे निखिल जगत्‌की सृष्टि और संहार कर सकनेवाले प्रभुके लिए किसी दैत्यको मार देना ऐश्वर्यका कार्य नहीं हो सकता; इसके विपरीत उनका कल्याण करनेके लिए उन्हें अपने हाथोंसे मारना प्रभुके दयामय स्वभावका ही परिचायक है। जो लोग भगवान्‌को भगवान् नहीं मानते, वे भी उनकी सख्य-वात्सल्यमयी लीलाओंको पढ़कर स्तम्भित हो जाते हैं और उनका हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रहता।

प्रेम, आनन्द एवं रसस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण इतने कोमल एवं मधुर हैं कि वे अपने प्रेमीके हृदयमें किसी लालसाकी स्फूर्ति होनेके पहले ही उसको पूर्ण कर दिया करते हैं। वे इस बातके लिए निरन्तर

सजग रहते हैं और अपने प्रेमीके हृदय-मन्दिरमें ही ज्योतिके रूपमें जगमगाते हैं कि कहीं उसे किसी वस्तुका अभाव न खटक जाय, उसे अपनेमें और मुझमें अपूर्णताका भाव न हो जाय। यही कारण है कि वे चौबीसों घण्टे अपने प्रेमीके हृदयमें, प्राणोंमें और नेत्रोंमें निवास करते हैं; एक क्षणके लिए भी उसे छोड़कर कहीं नहीं जाते। यही उनका नियम है और यही सत्य है। फिर भी जब हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण उन गोपियोंको—जिनका जीवन श्रीकृष्णके लिए था और वे इस बातको जानते थे, स्वीकार भी करते थे—छोड़कर मथुरा चले गये और फिर कभी नहीं लौटे, तो एकाएक चित्तमें एक प्रश्न उठता है कि क्या वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंका परित्याग ही कर दिया? और यदि यह बात सत्य है, तो क्या श्रीकृष्ण-जैसे परम प्रेमी पुरुषोत्तमके चरित्रमें यह बात उपालम्भके योग्य नहीं है? है, और अवश्य है। यही बात असह्य होनेके कारण अनेक वैष्णवाचार्योंने ऐसी मान्यता कर ली कि श्रीकृष्ण वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं बाहर नहीं गये, अक्रूरके साथ उन्होंने केवल अपना एक प्रकाश-विशेष भेज दिया। कुछ लोगोंकी ऐसी मान्यता है—और वे श्रीमद्भागवतके श्लोकोंसे ऐसा अर्थ भी निकालते हैं कि—श्रीकृष्ण गये तो सही, परन्तु नन्दबाबाके साथ ही लौट आये और मथुरामें अपना एक प्रकाश-विशेष छोड़ आये। किसी-किसी पुराणमें श्रीकृष्णके पुनः वृन्दावन आनेका वर्णन भी मिलता है। भगवान्‌के परम उदार स्वभावको देखते हुए ये सभी बातें ठीक जँचती हैं और ठीक हैं भी।

विचारणीय प्रश्न यह है कि भगवान्‌की नित्यलीलामें विहार करनेवाली गोपियाँ क्या जगत्‌में इसलिए अवतीर्ण हुई थीं कि भगवान् नित्य उनके साथ संयोगकी लीला किया करें और केवल इतनेमें ही उनके अवतारका प्रयोजन पूर्ण हो जाय? भगवान्‌की लीला, धाम और उनकी सहचरी शक्तियाँ इसलिए अवतीर्ण हुई थीं कि संसारमें भूले हुए जीव यह बात सीखें कि भगवान्‌के साथ कैसे प्रेम किया जाता है, उनसे मिलनेके लिए कैसी उत्कण्ठा होती है। और उनसे मिलन होनेपर कैसे लोकोत्तर रसका अनुभव होता है। व्रजकी लीलासे जगत्‌के जीवोंके सामने यह आदर्श रखा गया कि भगवान्‌के संयोगमें प्रेमका कैसा अनिर्वचनीय प्रकाश होता है; परन्तु जगत्‌में ऐसे कितने जीव हैं, जो भगवान्‌के मिलनका अनुभव करते हों? ऐसे भगवत्कृपा-प्राप्त महान् आत्माओंका अभाव नहीं है; परन्तु उनकी संख्या अँगुलियोंपर गिनी जा सकती है—वे बहुत थोड़े हैं। जगत्‌में ऐसे लोग बहुत अधिक हैं, जो भगवान्‌से वियुक्त हैं और उनके वियोगमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें अपना जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए, इस बातकी शिक्षा भी गोपियोंके जीवनसे ही मिलनी चाहिए। और यही कारण है कि भगवान्‌के वियोगमें भी जीवन धारण करके वे जगत्‌का हित करती रहती हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि श्रीकृष्णके बिना गोपियोंके लिए एक क्षण भी सैकड़ों युगके समान हो जाता था—पलक गिरनेका व्यवधान भी उन्हें असह्य था और गिरनेपर वे पलक बनानेवाले ब्रह्माको उपालम्भ भी देती थीं। फिर भी वे विरहमें जीवित रहीं, इसका कारण प्रेमकी पूर्णता ही है। प्रेमका यह स्वभाव है कि वह प्रेमीमें इस भावको भर देता है कि मुझे चाहे जितना दुःख हो,

परन्तु मेरे प्रियतमको दुःखका लेश भी स्पर्श न कर सके। गोपियाँ सोचती थीं—'श्रीकृष्ण हमसे अलग रहनेमें ही जगत्का कल्याण सोच रहे हैं, वे हमारे वियोगी जीवनसे जीवोंका हित करना चाहते हैं। वे एक-न-एक दिन हमारे पास आयेंगी ही। यदि हम उनकी इच्छाके अनुकूल अपना वियोगी जीवन न बितायें, शरीर त्याग दें, तो यह समाचार उन्हें किसी-न-किसी तरह मिल ही जायगा। वे हमारी मृत्युका समाचार सुनकर कितने दुःखी होंगे, उनके कोमल हृदयपर कैसी निष्ठुर ठेस लगेगी—कल्पना करके ही हृदय हहर उठता है। इसलिए जीवनमें चाहे जितनी व्यथा सहनी पड़े, उसे सहकर उनकी इच्छा पूर्ण करनी चाहिए और उन्हें एक क्षणके लिए भी कभी कष्ट न हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिए। गोपियोंका सङ्कल्प दृढ़ था, गोपियोंने इस व्रतका जीवनभर निर्वाह किया। उनमें जितनी कोमलता थी, उससे भी अधिक तितिक्षा और त्याग था—यह स्पष्ट है।

श्रीकृष्णमें जैसे समग्र माधुर्य और समग्र सौन्दर्य है, वैसे ही समग्र वैराग्य भी है। श्रीकृष्ण चाहे जिस रूपमें हों, जिस क्रियामें संलग्न हों, असङ्ग हैं—इतना निश्चित है। संसारमें मानव-बुद्धिमें जितने विरुद्ध भावोंकी कल्पना की जा सकती है, सब श्रीकृष्णमें हैं क्योंकि सबके आश्रय वे ही हैं। वे शिशु होते हुए भी पुरातन हैं, निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं, एक देशमें होते हुए भी सर्व देशमें हैं, वे गोपियोंके पास न होते हुए भी हैं, और होते हुए भी नहीं हैं। केवल शारीरिक सान्निध्य नहीं है; मुख्य सान्निध्य तो मनका है, आत्माका है। जहाँ प्रेम है, वहाँ सन्निधि भी है—चाहे वह आँखोंसे नहीं दीखे। प्रेम न होनेपर शारीरिक सन्निधि भी किसी कामकी नहीं। गोपियोंके हृदयमें सच्चा प्रेम था, और सच्चा सान्निध्य भी था। उसे दूसरे लोग नहीं देख सकते थे, गोपियाँ देखती थीं। श्रीकृष्ण जानते थे कि ऐसा सान्निध्य संयोगकी अपेक्षा वियोगमें अधिक होता है। संयोगमें प्रियतमका दर्शन, मिलन सीमित होता है और वियोगमें अनन्त। जहाँ देखिये, प्रियतम-ही-प्रियतम हैं। उन्हींका दर्शन, स्मरण। किसीकी पदध्वनि उन्हींके आनेकी आहट है। कोई भी रूप उसी नटवरकी लीला है। श्रीकृष्णने अपनेको गोपियोंसे अलग करके उन्हें कोटि-कोटि रूपमें अपने-आपका दान किया था, यह गोपियोंकी दिनचर्यासे प्रकट है और उद्धव यही अनुभव करके उनके चरणोंकी धूलपर लोटते थे।

भगवान् दयामय हैं, वे दयाके ही कारण अवतीर्ण होते हैं और दयाके ही कारण अनेकों प्रकारकी लीला करते हैं। उनका प्रत्येक कार्य दयासे पूर्ण ही होता है। जो उन्हें चाहता है, उसे वे मिलते हैं अवश्य—चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न चाहता हो। जो शत्रुके रूपमें चाहते हैं, उन्हें शत्रुके रूपमें भी मिलते हैं और उनका कल्याण भी करते हैं। अनेक अवतारोंमें अनेकों व्यक्ति भगवान्‌की ओर आकर्षित हुए थे और उनमें-से जिन्होंने पतिके रूपमें भगवान्‌को चाहा था, उनके लिए श्रीकृष्णावतार ही उद्धारका समय निश्चित किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णके व्रज और मथुराके जीवनमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ सम्पर्कमें

आती हैं। एक तो यशोदा-राधा आदि गुणातीत श्रेणीकी स्त्रियाँ, जो भगवान्‌के नित्यधाममें उनके साथ रहती हैं, और कुछ गोपियाँ, जो साधन-सिद्ध होकर गुणातीत हो गयी हैं। दूसरी श्रेणीकी सात्त्विक स्त्रियाँ मथुराकी रहनेवाली यज्ञपत्नियाँ हैं—जो बड़े ऊँचे भावसे श्रीकृष्णके पास आती हैं, प्रेम करती हैं, रहना चाहती हैं; परन्तु गोपियों-जैसा अधिकार न होनेके कारण रह नहीं पातीं। उनके चित्तमें परिवारके प्रति कुछ आसक्ति भी है, जो कि उनके वचनोंसे ही प्रकट हो जाती है। तीसरी श्रेणीकी राजसिक स्त्रियाँ वे हैं जो व्रजके वनोंमें रहती हैं, जातिकी पुलिन्द-कन्या—भीलिन हैं, परन्तु श्रीकृष्णके प्रति वे विशेष आकृष्ट हैं और चाहती हैं कि श्रीकृष्ण हमें मिलें। परन्तु सङ्कोच, भय और अपनी हीनताके बोधके कारण वे श्रीकृष्णसे अपनी कामना प्रकट नहीं कर सकतीं; केवल भगवान्‌के चरणोंकी धूलि लेकर अपनी व्यथा मिटाकर सन्तोष कर लेती हैं। श्रीमद्भागवतके वेणु-गीत (१०.२१) में इनकी बड़ी प्रशंसा है। इन तीनों श्रेणीकी देवियोंकी प्रशंसा सहस्र-सहस्र मुखसे गायी जाय, तो भी समाप्त नहीं हो सकती। इन तीनोंके अतिरिक्त चौथी श्रेणीकी एक स्त्री है, जो तामसिक है और जिसकी निन्दा भी श्रीमद्भागवतमें मिलती है; वह चौथी स्त्री है कुब्जा, जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवतमें दो स्थानोंपर है—

कुब्जा अथवा कंसकी सैरन्ध्री मथुराके बीच सड़कपर भगवान्‌को मिलती है, भगवान्‌को चन्दन लगाती है—जिसके फलस्वरूप भगवान् उसका कूबड़ ठीक कर देते हैं और वह एक सुन्दर स्त्रीके रूपमें हो जाती है। उसमें तामसिकता अधिक है और वह लज्जा-सङ्कोच छोड़कर वहीं भगवान्‌का पल्ला पकड़ लेती है। भक्त-वाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण उसकी कामना पूर्ण करनेका वचन दे देते हैं और मथुरामें शान्ति स्थापित हो जानेके पश्चात् उसे पूर्ण भी करते हैं। भगवान्‌का धर्म है भक्तकी इच्छा पूर्ण करना, और भक्त सब प्रकारके होते ही हैं। इसलिए भगवान्‌के सामने कदाचित् कोई ऐसा भक्त आजाय, तो भगवान् उसकी भी इच्छा पूर्ण करते हैं—इस बातका यह ज्वलन्त दृष्टान्त है। अनादि कालसे कामनाओंके कीचड़में फँसा हुआ जीव भगवान्‌के सामने जाकर भी अपनी कामनाओंको ही पूर्ण करना चाहता है, और भगवान् उसके लिए छोटे-से-छोटा काम कर दें—यह भी उनके अनुरूप ही है।

कुब्जाके पूर्वजन्मके प्रसङ्गमें तीन प्रकारकी कथाओंका उल्लेख मिलता है, एक तो माथुर हरिवंशकी कथा, जिसका उद्धरण श्रीजीवगोस्वामीजीने अपनी टीकामें दिया है, वह इस प्रकार है—पूर्वजन्ममें यह एक राजकुमारी थी। देवर्षि नारद इसके पिताके पास आकर भगवान्‌के गुण सुनाया करते थे। जब यह विवाहके योग्य हुई और इसके पिताने देवर्षि नारदसे वरके सम्बन्धमें पूछा, तब उन्होंने इस विषयमें राजकुमारीका ही अभिप्राय जानना ठीक समझा। राजकुमारीने कहा—'आप जिसके गुणोंका गान करते हैं, उसीको मैं वरण करूँगी।' नारदके बहुत मना करनेपर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब उन्होंने तपस्या करनेका उपदेश किया। तपस्या पूर्ण होनेपर आकाशवाणी हुई कि दूसरे जन्ममें जिसके स्पर्शसे तुम्हारा कूबड़ अच्छा हो जाय, उसीको वह पुरुष समझ लेना और उसीको वरण करना। वही कुब्जा हुई।

दूसरी कथा गर्ग-संहितान्तर्गत मथुराखण्डके ग्यारहवें अध्यायमें मिलती है। वहाँ कहा गया है कि अपने कान-नाक काटनेकी बात रावणको सुनाकर शूर्पणखा पुष्करतीर्थमें चली गयी और वहाँ बहुत दिनोंतक तपस्या करती रही। उसकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वर दिया कि 'द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हें अपनायेंगे।' वही मथुरामें कुब्जारूपसे रहती थी। तीसरी कथा श्रीमद्भागवतकी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखी है—'कुब्जा भू-शक्ति सत्यभामाकी अंशावतार थी। कंसके अत्याचारके कारण ही वह कुब्जा हो गयी थी। लक्ष्मीकी ही भाँति पृथिवी भी भगवान्की अर्धाङ्गिनी है, इसलिए उसे अपनाकर भगवान्ने उसका दुःख दूर किया।' कल्प-भेदसे ये सभी कथाएँ ठीक हैं।

भगवान् जिस समय कुब्जाके घर पधारे, उसके एक-ही-दो दिन पहले उद्धव वृन्दावनसे लौटे थे। उनके मनमें यह शङ्का थी कि भगवान् अपने भक्तोंको भी छोड़ देते हैं और उनकी इच्छा भी अपूर्ण रख देते हैं। उनकी इसी शङ्काको दूर करनेके लिए भगवान् उद्धवको लेकर कुब्जाके घर गये और यह दिखाया कि 'मैं जब कुब्जाका भी परित्याग नहीं कर सकता, तब गोपियोंका कैसे कर सकता हूँ?[1] गोपियाँ तो मुझसे नित्य-युक्त हैं, मैं उनके रोम-रोममें हूँ और वे मेरे रोम-रोममें हैं। एक क्षणके लिए भी हमारा, उनका वियोग नहीं है। इस लीलासे भगवान्की परम कृपालुता प्रकट होती है, जैसा कि श्रीजीवगोस्वामीने कहा है—'सैरन्ध्याः स्वीकृतिः सैनं व्यनक्ति स्म परां कृपाम्।' इतना होनेपर भी इसका चरित्र भक्तोंके लिए आदर्श नहीं माना गया है। स्वयं श्रीशुकदेवजीने कहा है—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्। यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥

'बड़ी कठिनतासे प्रसन्न होनेवाले सर्वेश्वर भगवान् विष्णुको प्रसन्न करके जो जीव विषय-भोगका ही वरण करता है, वह बड़ा दुर्बुद्धि है, क्योंकि विषय असत् हैं।' इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गोपियाँ श्रीकृष्णको सुख पहुँचाना चाहती थीं, उनमें विषयलिप्साकी गन्ध न थी और कुब्जामें विषयलिप्सा थी। इसीसे श्रीशुकदेवजीने उसकी निन्दा की है। यह प्रसंग भी गोपियोंके प्रेमकी महिमा ही सूचित करता है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीकृष्णावतारके समय अनेक युगोंके लोग अपनी-अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए, पूर्वजन्ममें प्राप्त वरदानोंके अनुसार पृथिवीमें जन्म ग्रहण करते हैं और उन सबका सम्बन्ध भगवान् श्रीकृष्णसे होता है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण परिपूर्णतम हैं। जिनका कल्याण अंशावतार-कलावतारसे नहीं हो सकता था, उनका कल्याण भी इस अवतारमें हो जाता है। इसी न्यायसे श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी बहुत-सी पत्नियों और पुत्रोंका होना मिलता है। यह ध्यान देनेकी बात है कि जबतक रुक्मिणी आदि स्त्रियोंने स्वयं अथवा उनके अभिभावकोंने श्रीकृष्णको बुलाया नहीं और

---

१. सैरन्ध्रीमपि सन्त्यक्तुमहं शक्तोऽस्मि नोद्धव। किमुत व्रजलोकांस्तानिति व्यञ्जजिमामगात्॥

उन्हींसे विवाह करनेकी इच्छा नहीं की, तबतक भगवान् श्रीकृष्णने किसीको ग्रहण नहीं किया। भगवान् श्रीकृष्णका ग्रहण भक्तोंके भावके अनुसार ही होता है और वे अपने चाहनेवालेको अस्वीकार नहीं कर सकते। श्रीमद्भागत (१०.६९)में वर्णन आया है—भगवान्‌के अनेक विवाहकी बात सुनकर देवर्षि नारदके मनमें बड़ा सन्देह हुआ कि वे ही इतनी स्त्रियोंको कैसे प्रसन्न रखते होंगे। उन्होंने द्वारकामें जाकर प्रत्येक पत्नीके महलमें भगवान्‌का दर्शन किया और उनकी विचित्र लीला देखकर आश्चर्यका अनुभव किया। भगवान् अपनी प्रत्येक पत्नीके साथ पृथक्-पृथक् रहते थे। यह उनके लिए कोई कठिन बात न थी; क्योंकि वे सङ्कल्पमात्रसे ही जितने रूप चाहें, धारण कर सकते हैं। प्रत्येक पत्नीकी प्रसन्नताके लिए उन्होंने बहुत-से पुत्र और पुत्रियाँ भी उत्पन्न की थीं, जिनकी संख्या सुनकर बहुत-से लोग चकित रह जाते हैं। उन्हें सृष्टि-तत्त्वपर विचार करना चाहिए (देखिये विसर्गका वर्णन)। सृष्टि केवल अंग-संगसे ही नहीं होती। स्त्री-पुरुषके संयोगसे होनेवाली सृष्टि तो बहुत निम्न स्तरकी है। सृष्टि मानसी, चाक्षुषी आदि कई प्रकारकी होती है और ब्रह्मा, प्रजापति एवं ऊँचे अधिकारके ऋषिगण इसी श्रेणीकी सृष्टि किया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका शरीर पाञ्चभौतिक था और वे भी साधारण पुरुषोंकी भाँति अंग-संगसे ही सन्तानोत्पादन करते थे, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य शरीरमें हेय वस्तु रहती ही नहीं। विष्ठा, मूत्र, नख, नेत्रमल, कर्णमल आदि वस्तुएँ केवल पाञ्चभौतिक शरीरमें ही होती हैं, दिव्य शरीरमें नहीं। वे मनुष्यरूप धारण करनेके कारण शौच-स्नानादिकी लीला करते हैं, यह दूसरी बात है। भगवान् श्रीकृष्णको भागवतमें 'अवरुद्धसौरत' कहा गया है और श्रुतियोंमें उनका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य प्रसिद्ध है। इसलिए उनके वीर्य-त्यागद्वारा सन्तानोत्पत्तिकी धारणा उनका स्वरूप न समझनेके कारण होती है। अतः उनके सब पुत्र और पुत्रियाँ मानसिक ही थीं, उनके सङ्कल्पमात्रसे ही उनकी उत्पत्ति हो गयी थी—ऐसा समझना चाहिए।

भगवान् जिन स्थानोंमें लीला करते हैं, वे नित्य और चिन्मय हुआ करते हैं। श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारका भगवान्‌के नित्य लीला-धाम हैं। ये देश और कालसे परिच्छिन्न होनेपर भी परिच्छिन्न नहीं होते, भगवान्‌की इच्छासे इनमें संकोच और विकास हुआ करता है। छोटे-से वृन्दावनमें जितनी गोपियों, ग्वालों और गौओंके होनेका वर्णन आता है, वह स्थूल दृष्टिसे देखनेसे सम्भव नहीं प्रतीत होता; फिर भी भगवान्‌की महिमासे वह सब सत्य ही है। वृन्दावनकी एक झाड़ीमें ही ब्रह्माको सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और उनके अधिवासी दीख गये थे। श्रीयोगवासिष्ठके मण्डपोपाख्यानमें एक-एक अणुके अन्दर सृष्टिके महान् विस्तारका प्रत्यक्ष अनुभव कराया गया है। देशका बन्धन केवल स्थूल वस्तुओंमें ही रहता है, सूक्ष्मतम दिव्य वस्तुओंमें नहीं। इसीसे द्वारकाधामका भी भगवान्‌की इच्छासे उनके स्थितिकालमें विकास हो जाता है और उसमें कोटि-कोटि यदुवंशी रह सकते हैं। स्थान-संकोचका अनुमान करके जो लोग यदुवंशियोंकी संख्या घटानेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि द्वारका भगवान्‌का चिन्मय धाम है। वह देश-कालके

परिच्छेदसे रहित, वास्तवमें भगवत्स्वरूप एवं अनन्त है; उसमें सारी सृष्टिके जीव निवास कर सकते हैं, यदुवंशियोंकी तो कथा ही क्या है ?

श्रीमद्भागवतका पूर्ण पाठ कर लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णका जीवन पूर्ण जीवन है। उनका ऐश्वर्य और साथ ही मर्यादापालन दोनों ही पूर्ण हैं। ऐश्वर्य और धर्मका अपूर्व सामञ्जस्य उनके जीवनमें देखा जाता है। सौन्दर्य, माधुर्य, कोमलता, सम्पत्ति आदिके साथ ही उनकी कीर्ति भी परिपूर्ण है एवं उनके रहते हुए भी वे ज्ञान-वैराग्यसे परिपूर्ण हैं। श्रीकृष्णके ज्ञानकी पूर्णता सभी मानते हैं। श्रीमद्भागवतके अध्ययन करनेवालोंसे उनके वैराग्यकी पूर्णता भी अविदित नहीं है। मथुरा और द्वारकामें स्वयं राजा न बनकर उन्होंने उग्रसेनको राजा बनाया और वे गोपियोंसे इतना प्रेम होनेपर भी उनसे अलग ही रहे। महाभारतकी सम्पूर्ण विजय इनके ही कारण हुई, परन्तु इन्होंने उससे तनिक भी लाभ नहीं उठाया, उलटे युधिष्ठिरको ही समय-समयपर बहुत-सा धन देते रहे। उनके वैराग्यकी पूर्णताका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि उनकी आँखोंके सामने यदुवंशकी समाप्ति हो गयी और बचे हुए लोगोंकी कोई व्यवस्था न करके मुसकराते हुए वे अपने धामको चले गये। वे चले गये, परन्तु हमलोगोंके लिए बहुत कुछ छोड़ गये। वे अपना ज्ञान, अपना वैराग्य और अपने 'लोकाभिराम', 'धारणा-ध्यान-मङ्गल' दिव्य शरीरकी वह स्मृति, जिसके द्वारा आज भी जीव उन्हें उसी प्रकार प्राप्त कर सकता है, कहाँ ले थोड़े ही गये हैं ? उनका स्मरण करके, अनुभव करके जीव अपना कल्याण सम्पादन करे—यही उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन है।

श्रीराधा-नाम

भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी सर्वथा अभिन्न और एक ही हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधास्वरूप हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णस्वरूप। 'कृ' राधा हैं और 'ष्ण' कृष्ण। यहाँतक कि 'कृ'में भी 'क' कृष्ण हैं, 'ऋ' राधा। वैसे ही 'राधा'के सम्बन्धमें भी है। किसी भी समय, किसी भी देशमें, किसी भी निमित्तसे और किसी भी रूपमें श्रीकृष्णका पार्थक्य सम्भव नहीं है। एक ही अर्थके दो शब्द हैं, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जब उनमें देश, समय और वस्तुकृत भेद ही नहीं है तो यह बात कैसे कही जा सकती है कि वे दोनों दो हैं ? यही कारण है कि श्रीकृष्णकी लीला श्रीराधाकी लीला है और श्रीराधाकी लीला श्रीकृष्णकी। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि अमुक ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी लीला है, श्रीराधाकी नहीं, अथवा श्रीराधकी लीला है, श्रीकृष्णकी नहीं, सर्वथा असङ्गत है। श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात है।

भगवान् श्रीकृष्णकी अथवा भगवती श्रीराधाकी एकता होनेपर भी अनेकता है। भेदमें अभेद और अभेदमें भेद—यही लीलाका स्वरूप है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह लीला प्राकृत नहीं है। देश,

काल और वस्तुओंके भेदकी समाप्ति तो मनके साथ ही हो जाती है। जब विशुद्ध ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होता है, तब उसके साथ ही अज्ञानस्वरूप अथवा अज्ञानकार्य प्रकृतिका भी आत्यन्तिक लय हो जाता है। उस समय केवल विज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही अवशेष रहता है। यद्यपि यह ब्रह्म विशुद्ध तत्त्व है, तथापि प्रकृतिके लयके बादकी स्थिति होनेके कारण तुरीयके नामसे कहा जाता है। जैसे प्रकृति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप है, वैसे ही ब्रह्म तुरीयस्वरूप है। ब्रह्ममें अवस्थाएँ नहीं हैं और अवस्थाएँ ब्रह्म नहीं हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर ब्रह्म भी एक अवस्था ही सिद्ध होता है। इस ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थित हो गये हैं, उनके लिए भी कदाचित् श्रीराधाकृष्णकी लीला अनुभवका विषय नहीं है; क्योंकि ब्रह्म तो जाग्रत् आदिकी अपेक्षासे तुरीय स्थिति है और श्रीराधाकृष्णमें द्वितीय, तृतीय, तुरीयका कोई भेद नहीं है। वे सर्वातीत और सर्वस्वरूप हैं। उनके नाम, धाम, रूप और लीला—सब-के-सब विशुद्ध चेतन हैं। वहाँ किसी भी रूपमें जड़ वस्तुओंका प्रवेश नहीं है। वहाँ भगवान् श्रीराधाकृष्ण ही विभिन्न नाम, रूप और धाम होकर विभिन्न लीलाएँ बनते रहते हैं। हमारी भाषामें जो एक क्षण श्रीराधा हैं, वही दूसरे क्षण श्रीकृष्ण हैं। जो अब श्रीकृष्ण हैं, वही दूसरे क्षण श्रीराधा हैं। वह अपने स्वरूपमें ही दो-से बनकर विहार करते रहते हैं, परन्तु अपनेसे भिन्न दूसरेको कोई भी पहचानता नहीं है। यही बात श्रीध्रुवदासजीने अपने एक पदमें कहा है—'न आदि न अंत, विहार करैं दोउ, लाल प्रियामें भई न चिन्हारो।' श्रीसूरदासजी भी इन्हींके स्वरमें स्वर मिलाते हैं—

सदा एकरस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल सरूप॥

श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-नामका उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्न उठाते समय भगवान् श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपपर विचार कर लेना चाहिए। भला, यह भी कभी सम्भव है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी लीलाओंका तो वर्णन हो और श्रीराधाजीकी लीलाओंका न हो? भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी सत्-शक्तिसे कर्म-लीला, चित्-शक्तिसे ज्ञान-लीला और आनन्द-शक्तिसे विहार-लीला सम्पन्न होती है। यदि किसी भी ग्रन्थमें भगवान्की बिहार-लीलाका वर्णन नहीं होता, तो समझना चाहिए कि उस ग्रन्थमें भगवान्के आनन्दांशका वर्णन नहीं हुआ है। श्रीमद्भागवत एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसमें उनकी आनन्द-प्रधान विहार-लीलाका भी पूर्णतः वर्णन है। एक नहीं, अनेक अध्यायोंमें गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर-लीलाका अत्यन्त सरसताके साथ उल्लेख किया गया है। वेणुगीत, युगलगीत, कुरुक्षेत्रका प्रसंग और सबसे बढ़कर रास-लीलामें तो आठ प्रधान गोपियों और उनमें एक श्रेष्ठ गोपीका भी सुन्दर वर्णन है। इस प्रकार देखते हैं तो मालूम होता है कि श्रीमद्भागवतमें भगवान्की देश, काल और वस्तुसे परे होनेवाली अप्राकृत मधुर-लीलाका स्पष्टतः उल्लेख है और उसमें गोपियों तथा श्रीराधाजीका भी वर्णन है। जब श्रीमद्भागवतमें उनकी

लीलाका वर्णन है ही, तब श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम नहीं है—यह कहकर श्रीमद्भागवतसे श्रीराधाजीकी लीला उड़ायी तो नहीं जा सकती। और इस बातका तो स्वयं ही खण्डन हो जाता है कि श्रीमद्भागवतकी रचनाके समय श्रीयुगल सरकारकी आराधना प्रचलित नहीं थी। इसका निष्कर्ष यह है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधातत्त्वका स्पष्ट वर्णन है और श्रीमद्भागवतमें ही क्यों, उपनिषदोंमें भी गान्धर्वी आदि विभिन्न नामोंसे उन्हींके सुयशका संकीर्तन है। रासलीलाके प्रसंगमें अन्य समस्त गोपियोंको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रधान गोपीको एकान्तमें ले गये, अन्ततः उसका कुछ नाम तो होना ही चाहिए।

जब यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका वर्णन है, तब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर उनका नाम क्यों नहीं दिया गया? परन्तु यह प्रश्न भी निर्मूल है। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें वर्णित अन्य गोपियोंका नामोल्लेख भी तो वहाँ नहीं है। जब किसी भी गोपीका नाम नहीं है, तब श्रीमद्भागवत-कारकी यह शैली स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि वे जान-बूझकर किसी भी गोपी या श्रीराधाजीका नाम नहीं लिखना चाहते। जब वस्तुका वर्णन है, तब नाम होना और न होना दोनों ही समान हैं। इस प्रकार कोई भी वस्तुका तो खण्डन कर सकता नहीं; रही बात नामके सम्बन्धमें विकल्पकी, सो दूसरे पुराणोंसे निश्चित हो ही जाती है।

अवश्य ही इस प्रश्नके लिए अवकाश है कि श्रीमद्भागवतकारने किस अभिप्रायसे ऐसी शैली अपनायी, जिससे श्रीमद्भागवतमें किसी भी गोपी और श्रीराधाजीका नामोल्लेख न हो सका? परन्तु इस प्रश्नमें सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह परबुद्धिविषयक है। कोई साधारण पुरुष भी जब ऐसा काम करने लगता है जिसका उद्देश्य वह न बताये, तब दूसरे लोग उसके सम्बन्धमें तरह-तरहके अनुमान करने लगते हैं और जो बात उसके मनमें नहीं होती, उसकी भी कल्पना कर लेते हैं। सम्भव है, उनमें-से कोई चतुर पुरुष उनके चित्तका ठीक-ठीक अनुमान कर भी ले, परन्तु होता है वह कोरा अनुमान ही। भगवान् व्यास अथवा श्रीशुकदेवजी महाराज अनन्त ज्ञानसम्पन्न हैं। उनकी बुद्धि अगाध है। वे किस उद्देश्यसे कौन-सा काम करते हैं,यह वे ही समझ सकते हैं या जिसे वे कृपा करके समझा दें, वह। ऐसी स्थितिमें उन्होंने किस अभिप्रायसे श्रीराधाजी और गोपियोंका नामोल्लेख नहीं किया, इस प्रश्नका उत्तर या तो उनकी कृपासे ही प्राप्त हो सकता है अथवा केवल अपने या दूसरेके अनुमानपर सन्तोष कर लेनेसे।

फिर भी सहृदय एवं भावुक भक्त श्रीशुकदेवजीकी भावनाके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ सोचते ही हैं। महात्माओंसे ऐसा सुना जाता है कि श्रीशुकदेवजी महाराज श्रीराधाजीके महलमें ही लीलाशुक (तोते)के रूपमें रहते थे और उनकी लीलाके दर्शनमें मुग्ध रहते थे। ऐसे श्रीजीके अनन्य लीलाप्रेमी वक्ता थे और श्रीपरीक्षितजी भी उनके वैसे ही प्रेमी श्रोता। यदि उनके कानोंमें उस समय श्रीराधाजीका नाम पड़ जाता, तो वे इतने भावमुग्ध हो जाते कि आगेकी कथा बन्द हो जाती और महीनोंतक वे समाधिस्थ ही रह जाते।

परन्तु समय केवल सात दिनका ही था, यही सोचकर श्रीशुकदेव मुनिने श्रीराधा नामका उच्चारण नहीं किया। इस सम्बन्धमें एक श्लोक प्रसिद्ध है—

श्रीराधानाममात्रेण मूर्च्छा षाण्मासिकी भवेत्। नोच्चारितमतः स्पष्टं परीक्षिद्धितकृन्मुनिः ॥

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव मुनिने भगवती श्रीराधाका नामोच्चारण क्यों नहीं किया ? इसके सम्बन्धमें श्रीव्रजधामके परम रसिक सन्त श्रीव्यासजीका एक पद है—

परमधन श्रीराधा नाम अधार। जाहि स्याम मुरली में टेरत सुमिरत बारंबार॥
जंत्र मंत्र औ बेद तंत्र में सबै तार का तार। श्रीसुकदेव प्रगट नहिं भाख्या जानि सार कौ सार॥
कोटिक रूप धरे नँदनंदन तऊ न पायौ पार। 'व्यासदास' अब प्रगट बखानत डारि भारमें भार॥

अभिप्राय यह कि श्रीराधाजीका नाम तारकका भी तारक एवं श्रीकृष्ण-नामसे भी गोपनीय है; क्योंकि श्रीराधा-नाम भगवान् श्रीकृष्णके जीवनका भी आधार और आत्मा है। पद्मपुराणमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और उनके साथ विहार करनेके कारण ही श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ। आत्माराम इति प्रोक्त ऋषिभिर्गूढवेदिभिः॥

श्रीकृष्णकी आत्मा राधिका और श्रीराधिकाके आत्मा श्रीकृष्ण हैं। दोनोंमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। पुराणोंमें स्पष्टरूपसे ऐसे वचन मिलते हैं, जिनमें श्रीराधाकृष्णमें भेद देखनेवालेको नरककी प्राप्ति बतलायी है। इसलिए श्रीकृष्णके नाममें श्रीराधाका नाम और श्रीराधाके नाममें श्रीकृष्णका नाम अन्तर्भूत है। कहाँ किसके नामका उल्लेख है और कहाँ नहीं है, इस झगड़ेमें न पड़कर किसी भी नामका आश्रय लेना चाहिए और अपने जीवन, प्राण, मन तथा आत्माको श्रीराधाकृष्णमय बना देना चाहिए।

श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ

श्रीमद्भागवत भावका समुद्र है। उसके एक-एक श्लोक और एक-एक पदमें इतने अनूठे भाव भरे हैं कि यदि कोई उसमें गोता लगाये तो इतना सुख, इतना रस अनुभव करे जिसकी कोई सीमा नहीं। अबतकके अनेक आचार्यों और सन्तोंने उसमें डुबकी लगाकर बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त किये हैं और मुक्त हस्तसे उन्हें जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित भी किये हैं। यदि कोई उनके नामोंकी गिनती करना चाहे तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। वैसे ही सन्तोंमें श्रीहरिसूरि नामके एक महाकवि हो गये हैं। उन्होंने सम्वत् १८८४ के लगभग एक 'भक्तिरसायन' नामका काव्यग्रन्थ लिखा था। उसकी श्लोक-संख्या ५०००के लगभग है। उस ग्रन्थमें दशम स्कन्धके पूर्वार्धके अनुसार ४९ अध्याय हैं और सबमें श्रीमद्भागवतके मूल

और अर्थके आधारपर सुन्दर-सुन्दर भावोंकी उद्भावना की गयी है। श्रीमद्भागवतको लेकर ऐसी सरस उत्प्रेक्षाएँ शायद ही कहीं अन्यत्र मिलें। सचमुच भागवतके गम्भीर भावोंको समझ लेना बड़े-बड़े विद्वानोंके भी वशकी बात नहीं है। इसे तो वे ही लोग ग्रहण कर सकते हैं जिनका हृदय भगवान्‌के प्रति प्रेमभावसे छलक रहा है। यों तो उनका पूरा ग्रन्थ ही अत्यन्त मधुर एवं सरस है, परन्तु एक स्थानपर सब-का-सब उद्धृत कर लेना सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ पाठकोंकी सेवामें उसके कुछ नमूने ही उपस्थित किये जाते हैं।

जिस समय पृथिवी असुरभावाक्रान्त राजाओंके अत्याचारसे पीड़ित होकर ब्रह्माकी शरणमें जाती है और ब्रह्मा उसकी व्यथा सुनकर भगवान् शङ्करको साथ ले क्षीरसागरकी यात्रा करते हैं, उस समय ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको साथ क्यों ले जाते हैं— इसका रहस्य खोलते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

> भक्ताभक्तजनावनार्दनकृते सत्त्वं तमोऽपेक्ष्यते
> तत्राद्यं तु हरौ सदावनपरे नैसर्गिकं वर्तते।
> अन्यद् योजयितुं ध्रुवं विधिरगात् त्र्यक्षेण सार्द्धं यतः
> प्रोक्तं तेन पुरो हरेर्विहरणं शक्त्या स्वकालस्थया॥

'भक्तोंकी रक्षाके लिए सत्त्वगुणकी आवश्यकता होती है और दुष्टोंके दमनके लिए तमोगुणकी। भगवान् विष्णुमें सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा स्वाभाविक ही विद्यमान रहता है; क्योंकि वे भक्तोंकी रक्षामें तत्पर रहते ही हैं। परन्तु तमोगुणके स्वामी तो भगवान् शङ्कर ही हैं। इसलिए ब्रह्माजी भगवान् शङ्करको विष्णु भगवान्‌के पास ले गये कि वे भी इनके गुणसे युक्त होकर दुष्टोंके दमनका कार्य करें।' यह बात श्रीमद्भागवतके मूलमें भी स्पष्टरूपसे कह दी गयी है कि भगवान् अपनी कालशक्ति अथवा रुद्रशक्तिके द्वारा पृथिवीका भार क्षीण करते हुए विहार करेंगे।

शङ्करजीको साथ ले जानेका दूसरा कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—

> यदा स्यातां सत्त्वानुसरणचणौ द्वावपि गुणौ तदा योगः सिद्धो भगवत्प्रापक इति॥
> स्फुटं यत् क्षीराब्धौ सहरपरमेष्ठिप्रसरणात् समाधिः सिद्धोऽभूदुदितहरिसाक्षात्कृतिसुखः॥

अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् यह बात जानते हैं कि, जब रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुणका अनुगमन करने लगते हैं, तब भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला योग सिद्ध हो जाता है। यह बात इस घटनासे स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि जब तमोगुणके अभिमानी रुद्र और रजोगुणके अभिमानी ब्रह्मा दोनों एक साथ मिलकर सत्त्वगुणके प्रतीक क्षीरसागरके तटपर पहुँचे, तब स्वयं उनकी समाधि लग गयी और उसमें भगवान्‌के साक्षात्कारका सुख हुआ।"

कितनी सुन्दर और शास्त्रीय सूझ है!

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृतिकी प्रसन्नताका वर्णन किया गया है। उस प्रसङ्गमें श्रीहरिसूरिने एक-एक विषयपर अनेक-अनेक सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि उस समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं। इसपर वे कहते हैं कि दिशाओंके प्रसन्न होनेका एक विशेष कारण था। वह यह कि उनके पति दिक्पालगण दैत्योंके भयसे अपना अधिकार और घर-द्वार छोड़-छाड़कर भाग गये थे। वे वियोगिनी थीं, दुखिया थीं। श्रीकृष्णके जन्मसे उन्हें अपने पतियोंके अधिकार और संयोगकी प्राप्ति होगी, यह सोचकर वे प्रसन्नतासे फूली नहीं समातीं। देखिये इसका कितना सुन्दर वर्णन है—

रिपुजातभयोज्झिताधिकारैः पतिभिः साकमितोऽचिरेण योगः।
प्रभवेदिति ता दिशः प्रसेदुर्भुवि जन्मैशमवेक्ष्य कंसहन्तृ॥

परन्तु दिशाओंकी प्रसन्नताका इतना ही कारण नहीं था, वे इसलिए भी प्रसन्न हो रही थीं कि उनका एक नाम 'हरित्' है और श्रीहरिके अवतारसे उनका हरित्व और भी बाधारहित तथा प्रसादपूर्ण हो जायगा। संस्कृतमें दिशाओंका एक नाम आशा भी है। दिशाएँ यह सोचकर और भी प्रसन्न हो गयीं कि 'अब भगवान्के अवतारसे सत्पुरुषोंकी आशाएँ अर्थात् हम दिशाएँ पूर्ण हो जायँगी। इससे बढ़कर हमारे लिए आनन्दकी बात और क्या होगी!' श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान्के अवतारके दिन दिशाएँ प्रसन्न हों, यह तो स्वाभाविक ही है; क्योंकि दिशाएँ ही भगवान्के कान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दुःखियोंकी प्रार्थना सुननेके लिए सदा-सर्वदा सावधान रहते हैं, यह बात अपनी प्रसन्नताके द्वारा उन्हें सूचित जो करनी है। उन्हींके शब्दोंमें—

दुर्दान्तोद्धतदैत्यदत्तविपदां तत्क्लेशनाशार्थिकां श्रोतुं वाचमदुर्हृदां सदयधीर्दत्तावधानः सदा।
अस्त्येव प्रभुरित्यशङ्कमखिलस्पष्टावगत्यै तदा युक्तं ता निखिलाः प्रसेदुरमलास्तच्छ्रोत्ररूपा दिशः॥

अवश्य ही श्रीहरिसूरिकी दृष्टिमें प्रकृतिका एक-एक कण और एक-एक भावना भगवद्भावसे सम्बद्ध होकर ही सचेष्ट है।

आज वायु बड़ी ही शीतल, मन्द, सुगन्ध बह रही है—इसका कारण क्या है? सम्भव है, वह उदारशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके लिए स्वयं भी उदार बन रही हो। नहीं-नहीं, वह अभ्यास कर रही है इस बातका कि जब प्यारे श्यामसुन्दर लीलाविहार करते-करते थक जायँगे और उनके मुखारविन्दपर मकरन्दके समान स्वेदबिन्दु झलकने लगेंगे, तब मैं धीरे-धीरे उनका पान करूँगी। इसके लिए पहलेसे ही अभ्यास करना चाहिए, कहीं कोई ढिठाई न हो जाय। सम्भव है, वायुदेव यह सोच रहे हों कि भगवत्प्राप्तिके लिए शुद्ध अन्तःकरण चाहिए और उसके लिए कुछ दान-पुण्यकी आवश्यकता है। इसीसे वह सुकृत-सुगन्धके उपार्जनमें व्यस्त हो रहे हों। वायुदेवके मनमें एक दूसरी बात भी हो सकती है। वे सोच

रहे होंगे कि 'मेरे पुत्र हनुमान्ने श्रीरामावतारमें भगवान्की बड़ी सेवा की है। यद्यपि अपने पुत्रकी सेवासे मैं कृतार्थ हो चुका हूँ, तथापि स्वयं भी भगवान्की कुछ-न-कुछ सेवा करनी चाहिए।' श्रीहरिसूरि कहते हैं—

पुत्रेण प्राग्घनुमता कृतयास्य भूयः शुश्रूषयात्र भृशमस्मि कृतार्थं एव।
साक्षात्तथाप्यहमिहापि समाचरेयं सेवामतः परिचचार तदा स दासः॥

जिस समय श्रीवसुदेवजी अपने पुत्र श्यामसुन्दरको लेकर नन्दबाबाके घर पहुँचनेके लिए गोकुल जा रहे थे, श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि उस समय यमुनाजी बहुत बढ़ गयी थीं। बढ़नेके कारणकी उत्प्रेक्षा करते हुए श्रीहरिसूरिजी कहते हैं—

सन्मानसे लसति यत्पदपद्मरेणुः सोऽयं स्वयं प्रभुरुपैति ममाद्य तीरे।
सूर्यात्मजेत्यतितरां मुदमुद्वहन्ती सानन्दबाष्पलहरीभिरभूदपारा॥

श्रीयमुनाजीने सोचा, सन्तोंके पवित्र मानसतीर्थमें जिनके चरण-कमलोंकी रमणीय रेणु शोभायमान होती है, वे ही प्रभु आज मेरे तटपर पधार रहे हैं।' यह बात ध्यानमें आते ही श्रीयमुनाजीका हृदय आनन्दसे भर गया। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी धारा बह चली और बस, यही कारण है कि उस समय वे अपार हो गयीं। सम्भव है, श्रीयमुनाजीने सोचा हो कि—'ये हैं शूरके वंशज और मैं हूँ सूर्यकी पुत्री! इनके सामने मैं भी अपना शौर्य प्रकट करूँ, यह उचित ही है।' इसीसे उन्होंने एक सुसज्जित सेनाके समान अपनी जलराशि उनके सामने खड़ी कर दी। यह भी सम्भव है कि यमुनाजी शेषनागको देखकर डर गयी हों। उन्होंने सोचा कि भयङ्कर कालियनाग तो मेरे अन्दर रहकर सबको भयभीत कर ही रहा है, अब यह दूसरा आ पहुँचा। इसीसे उन्होंने शेषनागके सहस्र फण देखकर उन्हें लौटा देनेके लिए अपनेको इतना बढ़ा लिया हो; परन्तु यह सब कुछ नहीं, श्रीयमुनाजी कालिन्दीके रूपमें भगवान्की पटरानी होनेवाली हैं। 'मैं तुम्हारी योग्य प्रेयसी हूँ,' यह दिखलानेके लिए ही वे अपनी अपार जलराशि द्वारा भगवान्के हृदयके समान ही अपने हृदयकी विशालता प्रकट कर रही हैं। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

अनन्तशम्बरोल्लसि हृदयं सदयं सदा। तवेवेश ममाप्यस्तीत्यापगा किमबोधयत्॥

यह सब तो हुआ, परन्तु क्षणभरमें यमुनाजी घट क्यों गयीं? इसका भी कारण सुनिये—

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलिर्ममाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम्।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना क्वचित्कण्ठदघ्ना च सा किं तदाऽऽसीत्॥

श्रीयमुनाजीने सोचा कि 'कहीं भगवान् श्रीकृष्णके मनमें यह बात आगयी कि मैं यमुनाके अगाध जलमें जलक्रीड़ा कैसे करूँगा, तब तो बुरा होगा!' इसीसे वे झट इतनी कम हो गयीं कि उनमें कहीं

गलेभर पानी रह गया तो कहीं नाभितक ही। कहीं-कहीं तो घुटनेतक आगया! सचमुच श्रीयमुनाजीके हृदयका यह भाव श्रीहरिसूरिकी दृष्टिसे ही समझा जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आया है कि जिस समय पूतना खूब बन-ठनकर श्रीकृष्णको कालकूट विष पिलाने गयी, उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपने नेत्र बन्द कर लिये। भगवाद् श्रीकृष्णके नेत्र बन्द करनेका क्या रहस्य है, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए श्रीहरिसूरिने अनेकों उत्प्रेक्षाएँ की हैं। वे कहते हैं—'भगवान्ने सोचा होगा कि 'मैं सोनेका अभिनय कर लूँ, तभी पूतनाकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति पापजनक हो सकती है। यदि मैं देखता ही रहा, तब तो उसका अपराध हल्का हो जाता है।' इस प्रकार समदर्शी भगवान्ने अपने स्वच्छन्द लीला-विहारमें भी मर्यादा-पालनका समुचित ध्यान रक्खा। भगवान्के नेत्र बन्द करनेका यह भी कारण हो सकता है कि वे पूतनाको आया हुआ देखकर कुछ सोचने लगे हों। अवश्य ही उन्होंने बाह्य नेत्र बन्द करके अन्तर्दृष्टिसे इस विषयपर विचार किया होगा कि 'मुझे केवल अपनी ही रक्षा करनी चाहिए अथवा इस पापिनी पूतनाके पंजेसे जगत्के समस्त बालकोंकी रक्षा?' तभी तो इनकी रक्षाके लिए पूतनाके मृत्युदण्डका निर्णय हुआ। परम कृपालु मधुसूदन भगवान्की अन्तर्दृष्टिसे यही निर्णय होना चाहिए था। सम्भव है भगवान्के मनमें यह बात आगयी कि 'तनिक देखो तो इस पूतनाका परस्पर विरुद्ध व्यवहार! यह रूप तो धरकर आयी है मेरी पत्नी लक्ष्मीका और पिलाना चाहती है मुझे अपना दूध! ऐसी पापिनीका मुँह देखना भी पाप है।' यही सोचकर उन्होंने नेत्र बन्द किये होंगे। नेत्र बन्द करनेका कारण भी हो सकता है कि भगवान्ने सोचा होगा—'पूतनाने इस जन्ममें तो कोई पुण्य किया नहीं; सम्भव है पूर्वजन्ममें कुछ किया हो, तभी तो मेरे पास चली आ रही है।' नेत्र बन्द करनेका यही कारण होगा। एक बात और है, भगवान्ने सोचा होगा कि 'मुझे इस अवतारमें पहले-पहल स्त्रीका ही बध करना पड़ रहा है। जब यह कटु कर्म करना ही पड़ रहा है, तो चलो, आँख बन्द करके ही कर लें।' अन्यथा वे उस पापिनीका स्पर्श ही कैसे करते! ऐसा जान पड़ता है कि सर्वानिष्टनि-वृत्तिके लिए भगवान्को योग ही अभीष्ट है। इसी आदर्शकी स्थापनाके लिए पूतनारूप अरिष्टकी निवृत्तिके उद्देश्यसे नेत्र बन्द करके योगकी साधना तो नहीं कर रहे हैं? श्रीहरिसूरि भगवान्के नेत्र बन्द करनेपर उत्प्रेक्षा करते हुए लिखते हैं—

> दातुं स्तन्यमिषाद् विषं किल धृतोद्योगेयमास्ते यतः।
> पीतं चेत् प्रभुणा पुरो बत गतिः का वास्मदीया भवेत्॥
> इत्थं व्याकुलिताञ्जिजोदरगतानालोक्य लोकान् प्रभु।
> र्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम्॥

भगवान्के उदरमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड निवास करते हैं। जब उनमें रहनेवाले जीवोंने देखा कि पूतना दूधके बहाने भगवान्को विष पिलाना चाहती है, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—अब

हमारी क्या गति होगी ! भगवान्‌ने अपने निज जनोंको इस चिन्तामें पड़े देखकर उन्हें अभयदान देनेके लिए नेत्र बन्द कर लिये, ऐसा जान पड़ता है। सम्भव है, भगवान्‌ने इसलिए भी अपने नेत्र बन्द कर लिये हों कि जो स्त्री बाहर तो माताके समान भाव दिखाती है और भीतर राक्षसीके समान क्रूर कर्म करनेके लिए उद्यत रहती है, उसका मुँह देखने योग्य नहीं है। भगवान्‌के नेत्र बन्द करनेका एक और कारण जान पड़ता है। भगवान्‌ने सोचा होगा कि 'यदि मैं उसकी ओर कृपादृष्टिसे देखता हूँ तो यह निष्पाप हो जाती है और यदि उग्र दृष्टिसे देखता हूँ तो भस्म हो जाती है। दोनों ही प्रकारसे इसकी वासनाके संस्कार अवशेष रह जाते हैं और यह सर्वथा मुक्त नहीं हो पाती।' यह सोचकर उसके कल्याणके लिए भगवान्‌ने अपने नेत्र बन्द कर लिये। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें सुनिये—

दृष्टा चेत् करुणादृशेयमनघा स्याच्चोग्रया भस्मसात्
एवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्वासनासंस्कृतिः ॥
एतस्या हृदये तथा च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः।
सा मा भूदिति दीर्घदृष्टिकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम् ॥

भगवान् तो भगवान् ही हैं। वे किसीका परम कल्याण करनेके लिए नेत्र बन्द कर लें, खोल लें— दोनों ही ठीक हैं; परन्तु उनके नेत्र भी तो चिन्मय ही हैं न ! उनका बन्द होना और खुलना भी कुछ-न-कुछ रहस्य रखता होगा ! अवश्य। भगवान्‌के नेत्रोंने सोचा 'हम भगवान्‌के नेत्र हैं। हममेंसे 'एक ही एक' सूर्यरूप होनेके कारण देवयानमार्ग है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हमारे ही द्वारा आत्मोचित गति प्राप्त करते हैं। ऐसी स्थितिमें पूतना-जैसी दुष्टा राक्षसीको—जो स्पष्टरूपसे शत्रुका हित करनेके लिए यहाँ आयी है —भगवान् कृपा करके चाहें तो उत्तम-से-उत्तम गति दे दें, हमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु हम तो अपना मार्ग कभी न देंगे' यही सोचकर भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंने अपने द्वारपर पलकोंके किवाड़ लगा लिए। यह बात उचित भी है कि जो व्यक्ति किसीकी हिंसा करना चाहता है, वह चाहे आत्मीय-से-आत्मीय क्यों न हो, देखनेयोग्य नहीं है। तभी तो भगवान्‌के नेत्रोंने पूतनाके नेत्र न देखनेके लिए पलक गिरा लिए। महात्मा पुरुषोंके चित्तमें अयोग्य पुरुषोंको देखनेकी उत्कण्ठा नहीं हुआ करती। तभी तो भगवान्‌के नेत्ररूप राजहंसोंने बकासुरकी बहिन बनावटसे भरी पूतनाका मुँह नहीं देखा। श्रीहरिसूरि कहते हैं—

अनर्हवीक्षानुत्कण्ठा प्रसिद्धैव महात्मनाम्। ईशाक्षिराजहंसाभ्यां युक्तं नैक्षि बकीमुखम् ॥

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी माखन-चोरीके प्रसङ्गके बाद ही मिट्टी खानेकी कथा आती है। भगवान्‌ने मिट्टी क्यों खायी, इसका रहस्य श्रीहरिसूरि बतलाते हैं—

स्निग्धाज्यादिपदार्थभक्षणकृतः कुर्वन्ति तत्स्निग्धताशेषोन्मार्जनहेतवे निजकरे मृल्लेपनं सर्वतः।
आलोच्यैवमशिष्टसरणिं श्रीशोऽपि तद्भक्षणव्याजाद् विश्वमुखस्तदेव बहुधा सम्पादयामास किम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण देखते थे कि बड़े-बड़े सदाचारी शिष्ट पुरुष जब घी आदि स्निग्ध पदार्थोंका भोजन करते तो हाथकी चिकनाई मिटानेके लिए मिट्टी लगा लिया करते। भगवान्‌ने भी अभी-अभी मक्खन खाया है, इसलिए उसकी स्निग्धता मिटानेके लिए मिट्टी खा ली है। बचपनमें इसी प्रकार तो शिष्टाचारका अनुकरण होता है। परन्तु भगवान्‌में केवल बचपनकी बात हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता। इसमें कुछ-न-कुछ समझदारी भी अवश्य होगी। ठीक है, वैद्यलोग कहा करते हैं न कि 'विषस्य विषमौषधम्' विषकी दवा विष है। और विष है मिट्टीका ही विकार। तब मिट्टीका ही एक अंश उसके प्रभावका नाशक भी हो सकता है। सम्भव है, भगवान्‌ने यह सोचा हो कि 'मैंने पूतनाके स्तनका विष पी लिया है तो मिट्टी खाकर उसकी दवा कर लेनी चाहिए।' हो न हो, यही सोचकर उन्होंने मिट्टी खायी होगी। यही बात श्रीहरिसूरि कहते हैं—

पुरा विषमधायि यत् प्रबलपूतनास्तन्यगं विधेयमिह तद् विषं भवति नष्टवीर्यं यथा।
शिशुश्रियमुपाददे किमु विभुर्मृदंशादनाद् विषस्य विषमौषधं भवति यद्भिषग्भाषितम्॥

परन्तु भगवान् अपने लिए तो कुछ करते ही नहीं, सब कुछ भक्तोंके लिए ही करते हैं। तब उन्होंने मिट्टी खाकर भक्तोंकी कौन-सी इच्छा पूर्ण की? हाँ, वह भी सुनिये—

यत् स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद् योगिनां
प्राप्तं स्यात् किमु तद् रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम्।
इत्थं भूरिनिजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते॥

भगवान्‌के उदरमें रहनेवाले भक्त बार-बार इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि 'व्रजभूमिकी वह धूलि, जिसका सम्बन्ध गौओं और गोपियोंके चरणोंसे है, जिसे बड़े-बड़े देवता चाहते रहते हैं, दुष्ट कभी पा नहीं सकते और बड़े-बड़े योगी जिसका ध्यान करते रहते हैं, हमें भी मिल सकेगी क्या?' दयाके परम सागर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी यह अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए व्रजकी मिट्टी खाने लगते हैं कि किसी प्रकार यह रज उन भक्तोंतक पहुँच जाय। एक बात और है। भगवान् श्रीकृष्ण सम हैं, परम शान्त हैं, अपने स्वरूपमें ही एकरस विराजमान हैं। ऐसी स्थितिमें वे किसीकी रक्षा और किसीका दमन कैसे करें? हाँ, इसीलिए उन्हें सत्त्वगुण और रजोगुण अपनाने पड़ते हैं। सत्त्वगुण तो सदा-सर्वदा उनकी सेवामें हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अब दुष्टोंके दमनके लिए रजोगुणकी आवश्यकता है। उसीका भगवान् व्रजकी रजके रूपमें संग्रह कर रहे हैं। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें—

नानाविधं बहु रजोगुणकार्यमग्रे कर्तव्यमस्ति मम चेति विचिन्त्य कृष्णः।
मृत्स्नानुभक्षणमिषात् प्रकृतोपयुक्तं प्रायो रजोगुणसुसंग्रहणं चकार॥

अजी, इतना सोचनेकी क्या आवश्यकता है ? सीधी-सी बात है। पृथिवीका एक नाम है 'रसा'। इसमें ऐसा कौन-सा रस है कि इसका नाम 'रसा' पड़ा है, सम्भव है, भगवान्‌ने उसी रसकी परीक्षा करनेके लिए मिट्टीका रस चखा हो। यह तो ठीक है ही, संस्कृतमें पृथिवीका नाम 'क्षमा' भी है। मिट्टी खानेका अर्थ क्षमाको अपनाना है। इस समय इसकी क्या आवश्यकता आ पड़ी थी ? श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें सुनिये—

विश्रृङ्खलविहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम्।
क्षमांशविधृति विना न हि भवेत् स्वभक्तेष्विति प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम्॥

बात यह है कि भगवान्‌के साथ खेलनेवाले ग्वालबाल बिना किसी मर्यादाके मनमाने खेल खेला करते थे। कभी-कभी तो वे भगवान्‌के सम्मान और अपमानका ध्यान भी भूल जाया करते थे और भगवान्‌को उन्हींके साथ खेलना था। तब पृथिवीसे मिट्टीके रूपमें क्षमाको ग्रहण किये बिना वे उनके साथ कैसे खेल पाते ? अवश्य ही उन्होंने इसीलिए मिट्टी खायी होगी! केवल इतना ही नहीं, भगवान्‌की दृष्टि भविष्यकी ओर भी अवश्य ही रही होगी। अभी-अभी अपनी माँको अपने मुँहके भीतर ही सारे विश्वकी सृष्टि कर दिखायेंगे! तब वह विश्वसृष्टि रजोगुणके बिना कैसे बन सकेगी ? अवश्य उसीका आयोजन करनेके लिए आप व्रजकी रज संग्रह कर रहे हैं। धन्य है!

ऐसी-ऐसी अनेक उत्प्रेक्षाएँ करनेपर भी श्रीहरिसूरिको सन्तोष नहीं होता। वे कहते हैं—

मय्येव सर्वार्पितभावना ये मान्या हि ते मे त्विति किं नु वाच्यम्।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्यात् इत्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणुः॥

भगवान् व्रज-रजका सेवन करके यह बात दिखला रहे हैं कि जिन भक्तोंने मुझे अपनी सारी भावनाएँ और सारे कर्म समर्पित कर रक्खे हैं, वे मेरे सर्वथा मान्य हैं। केवल इतना ही नहीं, उनके चरणोंकी धूलि भी मेरे लिए एक प्रधान वस्तु और मुखमें धारण करने योग्य है। वास्तवमें भगवान्‌की भक्तवत्सलता ऐसी ही है। उनकी एक-एक लीलासे भक्तोंके प्रति परम प्रेम और करुणाके भाव व्यक्त होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ कलेवा कर रहे थे। उनके चारों ओर गोल-गोल पंक्तियाँ बनाकर ग्वाल-बाल भी तरह-तरह वस्तुओंका स्वाद ले रहे थे। उसी समय एकाएक सब-के-सब बछड़े आँखोंसे ओझल हो गये। जो ग्वालबाल बछड़ोंकी सुध-बुध खोकर खाने-खिलानेके खेलमें मस्त हो रहे थे, उन्हींके सिरपर चिन्ताके बादल मँडराने लगे। भगवान्‌ने उनके कलेवेमें विघ्न न पड़ने देकर स्वयं बछड़ोंको ढूँढ़नेके लिए अपना भोजन छोड़ दिया और वनकी यात्रा की। इस लीलाका रहस्य बतलाते हुए श्रीहरिसूरि कहते हैं—

ये मद्भक्तिरसैकलुब्धमनसस्तेषां कदाचित् सता-
मक्षाणि भ्रमतां दुरन्तविषये मग्नानि जातानि चेत्।

त्यक्त्वा भोज्यमहं स्वमप्यतिजवात् संशोधयामि स्वतः
तद्भीतिं च निवारयन्निति तथा कृत्वाच्युतोऽदर्शयत् ॥

भगवान्की यह प्रतिज्ञा है कि 'जो सत्पुरुष निरन्तर मेरी प्रेमा भक्तिके रसास्वादनमें ही मग्न रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ यदि कभी विषयोंमें भटक जाती हैं और उनका पार पाना कठिन हो जाता है तब मैं और तो क्या, अपना भोजन भी छोड़कर अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए बड़े वेगसे दौड़ पड़ता हूँ और उनका भय मिटाकर सर्वदाके लिए उन्हें शुद्ध कर देता हूँ।' सच पूछो तो ग्वालबालोंके कलेवेमें कोई विघ्न-बाधा न पड़ने देकर बछड़ोंकी रक्षाके लिए दौड़ना उनकी लीलाका यही रहस्य प्रकट करता है। इस प्रसङ्गमें एक बात ध्यान देनेकी है। जिस समय भगवान् बछड़ोंको ढूंढ़नेके लिए चले उन्होंने और सारी वस्तुएँ तो पत्तलपर ही छोड़ दीं, केवल भातका ग्रास लिये हुए दौड़े। इसका कारण क्या है? संस्कृत भाषामें भातको 'भक्त' कहते हैं। भगवान्ने अपने हाथमें भातका ग्रास रखकर यह भाव प्रकट किया कि मैं समयपर सब कुछ छोड़ सकता हूँ—और तो क्या, अपनी प्रियतमा लक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु किसी भी कारणसे अपने प्रेमी और प्रियतम भक्तका परित्याग नहीं कर सकता। श्रीहरिसूरिके शब्दोंमें ही सुनिये—

सर्वं त्यजामि समये बहुना किं प्रियामपि। सदाऽऽश्रयगतं भक्तं न कदापीत्यगात्तथा ॥

श्रीहरिसुरि रचित 'भक्तिरसायन'के आरम्भिक अध्यायोंके कुछ अंशोंकी थोड़ी-सी सूक्तियाँ ऊपर संगृहीत की गयी हैं। उनके उनचास अध्यायोंमें-से बहुत-से अध्याय तो ऐसे हैं, जिनमें चार-चार सौ-तक बड़े-बड़े श्लोक हैं। यदि उनका सारांश भी लिखा जाय तो एक बड़ी-सी पुस्तक तैयार हो सकती है। कहीं वे एक ही शब्दमें अनेकों प्रकारके सन्धि-विच्छेद करके विभिन्न अर्थ करते हैं तो कहीं घटनाक्रमसे भाँति-भाँतिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं, तो कहीं अध्याय-के-अध्याय किसी विशेष योग-क्रियाके वर्णनमें लगा देते हैं। श्लेष, युक्ति, साधन और समाधिके विशेष अङ्गोंका वर्णन-सौन्दर्य स्थान-स्थानपर दृष्टिगोचर होता है। उनके एक-एक श्लोकसे यह बात प्रकट होती है कि वे श्रीमद्भागवतके गम्भीर-से-गम्भीर स्तरमें भी प्रवेश कर जाते हैं और वहाँसे सूक्ष्मतम भाव ढूँढ़ लाते हैं। स्थान-संकोचके कारण यहाँ बहुत थोड़ी बातें लिखी गयी हैं।

भक्तिरसकी पाँच धाराएँ

भक्ति साधारणतः दो प्रकारकी मानी गयी है—एक साधनभक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिए प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा अथवा परा भक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं, इसलिए जब जीवका,

अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिए भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है; परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता, क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिए चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर दूसरे विषयके लिए द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिए। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जबतक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुनः किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त सर्वदाके लिए उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न साधन-भक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गंगाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है; यदि वह संसारके लिए है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिए है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्ति-रसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तर भेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, दास्यका सख्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें, परिणाम होता है। इस मतमें मधुर-रस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्यरसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके द्वारा एक महान् भक्ति-रसकी परिपुष्टि मानते हैं दृष्टिभेदसे ये सभी मत सत्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि जिस भावका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है उसका स्वरूप चाहे जो भी हो, वह पूर्ण रस है। यहाँ इन पाँचोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

शान्त-रस

जैसा कि रसोंके प्रसंगमें वर्णन आता है, रसकी अनुभूतिकी एक प्रक्रिया है। आलम्बन और उद्दीपन विभाग, अनुभाव, सात्त्विक भाव, संचारी एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त होनेवाला स्थायिभाव ही रस होता है। जिसको शान्तरस कहा जाता है, उसके अनुभवकी भी यही प्रणाली है। इसका स्थायिभाव शान्ति-रति है। इस भावमें भगवान्‌के संयोग-सुखका आस्वादन होता है। यद्यपि परमात्माके निर्गुण स्वरूपमें

स्थिति भी शान्त-रसका ही एक स्वरूप मानी जाती है, तथापि यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग होनेके कारण सगुण भगवान्‌की अनुभूतिको ही शान्त-रसके रूपमें समझना चाहिए। निर्गुण स्थितिमें किसी प्रकारका आस्वादन न होनेके कारण और सगुण-शक्तिके आस्वादनात्मक होनेके कारण दोनोंकी विलक्षणता स्पष्ट है। इस शान्त भक्ति-रसके आलम्बन सगुण परमात्मा हैं। उनका स्वरूप ही—वह चाहे निराकार हो या साकार चतुर्भुज हो या द्विभुज—इस रसका आलम्बन-विभाव है। इसमें दास्य आदि भावोंके समान लीलाकी विशेषता नहीं है। भगवान्‌का स्वरूप सच्चिदानन्दघन है, वे सर्वदा अपने-आपमें ही स्थित रहते हैं। वे समस्त शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं, सब पवित्रताओंके एकमात्र उद्‌गम हैं, जगत्‌की निखिल वस्तुओंके एकमात्र नियामक हैं। वे सबके कर्त्ता, भर्त्ता, संहर्त्ता हैं। सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं। वे व्यापक प्रभु ही चाहे साकाररूपमें अथवा निराकाररूपमें, अपने इष्टदेवरूपसे हृदयमें स्फुरित हुआ करते हैं। निखिल जीव और जगद्रूपी तरङ्गोंके समुद्र ये भगवान् जिस जीवके भावनेत्रोंके सामने इनके चरणोंमें प्रकट हो जाते हैं, उसका मन सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मोक्षसुखका भी परित्याग करके आ समाता है।

शान्तरसके उपासक प्रायः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंकी करुणादृष्टिसे भगवान्‌की ओर आकर्षित हुए हैं। दूसरे वे साधक जिनका ऐसा विश्वास है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आत्माराम भक्तोंमें सनक, सनन्दनादिका नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये पाँच वर्षकी अवस्थाके गौर वर्ण, नग्न और प्रायः साथ ही रहनेवाले चारों अत्यन्त तेजस्वी हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब वे वैकुण्ठधाममें गये तो भगवान्‌के चरणकमलोंकी सुगन्धसे इनका वह चित्त जो अक्षरब्रह्ममें स्थित था, खिंच गया। इनका चित्त द्रवित हो गया और शरीरमें सात्त्विक भावके चिह्न प्रकट हो गये। श्रीरूपगोस्वामीने इनके भावोंका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

> समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
> न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युतेर्मुकुन्दसुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥

'हे प्रभो! तुम्हारे निर्गुण और इन्द्रियोंके अगोचर स्वरूपमें तभीतक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता था, जबतक तुम्हारी इस अद्भुत मूर्तिका जो नवीन तमालके समान नील कान्तिवाली है, सच्चिदानन्दमय साक्षात्कार नहीं हुआ था।' तात्पर्य यह कि भगवान् आनन्दघन रूपराशिपर मुग्ध होकर ये आत्मसुखका परित्याग करके भगवान्‌की रूपमाधुरीका पान कर रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्वज्ञानी राजा जनक भगवान् रामके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसीमें रम जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

> इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
> सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

जिन साधकोंका यह निश्चय है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, जो विरक्त होकर प्राण-

पणसे साधनामें संलग्न हैं, जिनकी मुमुक्षा अभी शान्त नहीं हुई है, वे शान्त-रसके तपस्वी उपासक हैं। आत्माराम भक्तोंकी कृपा और प्रेरणासे ही इनके हृदयमें शान्तरसका अनुभव हुआ करता है। एक साधक कितनी सुन्दर अभिलाषा करता है—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसतिर्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं चिदानन्दं ज्योतिः क्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥

'पर्वतकी कन्दरामें, अथवा विशाल वृक्षकी छायामें निवास करता हुआ मैं केवल कौपीन पहने हुए, फल-मूलका भोजन करते हुए और हृदयमें बार-बार चिदानन्दमय श्यामज्योति भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने जीवनकी बहुत-सी रात्रियोंको एक क्षणके समान कब व्यतीत कर दूँगा? मेरे जीवनमें ऐसा शुभ अवसर कब आयेगा? ऐसे जीवनकी अभिलाषा ही इस प्रकारके जीवनकी जननी है, जिसमें शान्त-रसकी भक्ति पूर्ण होती है।

शान्तरसके उद्दीपन विभाव जिनसे शान्तरसकी पुष्टि होती है, दो प्रकारके होते हैं—एक तो असाधारण और दूसरे साधारण। असाधारण विभाव निम्नलिखित हैं—

१. उपनिषद्, दर्शन और पुराणोंका तथा उन ग्रन्थोंका श्रवण, कीर्तन, मनन, स्वाध्याय जिनमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, गुण, रहस्य और महिमाका वर्णन है।

२. उस पवित्र एकान्त स्थानका सेवन जिसमें चित्त एकाग्र होता है।

३. शुद्ध सत्त्वमय चित्तमें निरन्तर भगवान्‌की स्फूर्ति।

४. भगवान्, जीव और जगत्‌के स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् विवेचन और उनके सम्बन्धोंका निर्णय।

५. भगवान्‌में ज्ञान-शक्तिकी प्रधानताका अङ्गीकार और अपने जीवनकी प्रगति भी ज्ञानानुसारिणी।

६. सम्पूर्ण विश्वको भगवान्‌का व्यक्त रूप समझना और व्यवहारमें उनके दर्शनकी चेष्टा करना।

७. ज्ञानप्रधान भक्तोंका सत्सङ्ग करना और अपने ही समान रुचि रखनेवाले साधकोंके साथ भगवान् और उनकी भक्तिके सम्बन्धमें चर्चा करना।

इनके अतिरिक्त साधारण उद्दीपन भी बहुत-से होते हैं। यथा—

१. भगवान्‌की पूजाके पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

२. भगवान्‌की पूजाके शंख, घण्टा, आरती, स्तुति आदिके पाठकी ध्वनि सुनना।

३. पवित्र पर्वत, सुन्दर जङ्गल, सिद्ध क्षेत्र और गङ्गा आदि नदियोंका सेवन।

४. संसारके भोगोंकी क्षणभङ्गुरताका विचार।

५. संसारकी समस्त वस्तुएं, अपना जीवन भी मृत्युग्रस्त है—यह विचार इत्यादि।

हृदयमें शान्तरसका उन्मेष होनेपर बहुत प्रकारके साधारण और असाधारण चिह्न उदय हो जाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं। यथा—

१. आँखोंका बन्द रहना, नासाग्रपर, भ्रूमध्यपर अथवा निरालम्ब ही स्थिर रहना।

२. व्यवहारका विशेष ध्यान नहीं रहना।

३. चलते समय बहुत इधर-उधर नहीं देखना, सामने चार हाथ तक देखना।

४. स्थिर, धीर, गम्भीर भावसे बैठे रहना, ज्ञानमुद्राका अवलम्बन।

५. भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेवालेसे भी द्वेष न करना तथा प्रेमाभाव रखनेवालेसे भी अत्यन्त प्रेम न करना।

६. सिद्ध-अवस्था अथवा जीवन्मुक्तिके प्रति आदर भाव।

७. किसीकी अपेक्षा नहीं, किसीसे ममता नहीं करना और कभी अहङ्कारका भाव नहीं आना।

८. संसार और व्यवहारके सम्बन्धमें स्फुरणाका न होना और बहुत कम वार्तालाप करना इत्यादि।

इनके अतिरिक्त साधारण अनुभाव भी प्रकट होते हैं। यथा—

१. बार-बार भगवान्‌को नमस्कार करते रहना।

२. सत्सङ्गियोंको भगवद्भक्तिका उपदेश करना।

३. भक्तोंके साथ भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना आदि करना।

४. भावोदय होनेपर जमुहाई आना, शरीर तोड़ना आदि।

शान्तरसके उदय होनेपर सात्त्विक भावोंका भी प्रकाश होता है। परन्तु इस रसके उपासक प्रायः शरीरसे ऊपर उठे रहते हैं और बड़ी सावधानीके साथ शरीर-भावसे अपनी रक्षा करते हैं। इसलिए इनके हृदयमें तो समस्त सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं, परन्तु शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि कुछ थोड़े-से ही प्रकट होते हैं। प्रलय, उन्माद और मृत्यु आदि सात्त्विक भाव प्रायः इनके शरीरमें नहीं देखे जाते। संसारके प्रति निर्वेद (वैराग्य), विपत्ति आनेपर धैर्य, भगवद्भक्तके मिलनसे हर्ष, विस्मरणसे विषाद तथा और भी बहुत-से सञ्चारी भाव शान्तरसके पोषक हैं। शान्तरसका स्थायिभाव शान्तिरति है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यह दो प्रकारकी होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा। जब मन वृत्तिशून्य होकर ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है, असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, तब कहीं यदि उस समाधिमें भगवान् प्रकट हो जायँ और उनको देखकर योगीका चित्त प्रेममुग्ध हो जाय, तो इसको शान्तरसकी समरति कहेंगे। समस्त अज्ञानके ध्वंस हो जानेपर निर्विकल्प समाधिमें जो एकरस निर्विशेष अनन्तके रूपमें अनुभव होता है, वही तो उस अनन्त आनन्दको भी अनन्तगुना बनाकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके रूपमें प्रकट हुआ है। इस प्रकारकी अनुभूति सान्द्र शान्तिरतिके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्‌के साक्षात्कारके लिए उत्सुकता और साक्षात्कार—दोनों स्थितियाँ इस रसके अन्तर्गत हैं।

शान्तरस साहित्यिकोंके मतमें भी सर्ववादिसम्मत रस है। नाटचशास्त्रके आचार्योंने शान्तको इसलिए रस नहीं माना है कि शान्तिरति निर्विकार है। रङ्गमञ्चपर किसी भावभङ्गीके द्वारा उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है; परन्तु काव्य एवं भक्ति-साहित्यमें इसका साक्षात्कार होनेके कारण इसकी रसता निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें शमकी व्याख्या करते हुए कहा है कि, मुझमें परिनिष्ठित बुद्धिका नाम शम है।' यदि शान्तिको रतिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय, तो इस निष्ठाकी उपपत्ति कैसे हो सकती है ? श्रीविष्णु-धर्मोत्तर पुराणमें शान्तरसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः। समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

'जिसमें न सुख है और न तो दुःख, न द्वेष और न तो मात्सर्य, जो समस्त प्राणियोंमें समभाव है, वही शान्तरसके नामसे प्रसिद्ध है।' इस शान्तरसमें और सम्पूर्ण रसोंका अन्तर्भाव हो सकता है। वीर, करुणा, शृङ्गार आदि रस परिणत होते हुए, जब अहङ्कारसे नितान्त रहित हो जाते हैं, तो शान्तरसमें उनका पर्यवसान हो जाता है। इस रसका स्थायिभाव शान्तिरति है, इसमें पूर्वाचार्योंका मतभेद है। किसी-किसीके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव रति है। व्यवहारमें चाहे जैसी भी घटना घट जाय, किन्तु रति अविचलित रहे, यही शान्तरसका पूर्वरूप स्थायिभाव है। कोई-कोई कहते हैं—शान्तरसका स्थायिभाव निर्वेद है। निर्वेद दो प्रकारका होता है। एक तो अनिष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होता है। यह स्थायिभाव नहीं हो सकता, यह व्यभिचारी भाव है। परन्तु तत्त्वज्ञानके उदयसे जो जागतिक विषयोंके प्रति सहज निर्वेद है, वह शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है। शान्तरसका स्थायिभाव चाहे शान्तरति हो, धृति हो अथवा निर्वेद हो—इनमें-से किसीके द्वारा साधकके चित्तमें शान्तरसका उद्रेक होना चाहिए। शान्तरसका उन्मेष होनेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव होने लगता है और इससे बढ़कर जीवके लिए सौभाग्यकी और कौन-सी बात हो सकती है ? जहाँतक शान्तरसकी गति और स्थिति है, वहाँतक पहुँचनेपर ही जाना जा सकता है कि इसके बाद भी कोई स्थिति है या नहीं। इसलिए सम्पूर्ण शक्तिसे इस शान्तरसका ही अनुभव करना चाहिए।

दास्यरस

दास्यरसका स्थायिभाव प्रीति है। यही जब आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, सात्त्विक भाव आदिमें सुपुष्ट और व्यक्त होता है, तब दास्यरसके नामसे कहा जाता है। कुछ लोग इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। कई आचार्योंने इसे शान्तरसके अन्तर्गत ही माना है। परन्तु उसकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। शान्तरसमें स्वरूप-चिन्तनकी प्रधानता है, दास्यरसमें ऐश्वर्यचिन्तनकी। दास्यरसके दो भेद माने गये हैं—एक तो सम्भ्रमजनित दास्य और दूसरा गौरवजनित दास्य। सम्भ्रमजनित दास्य वह है, जिसमें साधक

भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य, प्रभाव, महत्त्व, शक्ति, प्रतिष्ठा, गुणोंका आधिक्य और चरित्रकी अलौकिकता आदि देखकर, जानकर अपने सेव्यके रूपमें प्रभुका वरण कर लेता है और उनकी सेवाके रसमें ही अपनेको डुबा देता है। गौरव-प्रीतिरस वह है जिसमें भगवान्‌के साथ कोई गौरव सम्बन्ध रहता है। जैसे भगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदि गुरुबुद्धिसे भगवान्‌की सेवा किया करते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दास्यरसके आलम्बन भगवान् सगुण ही होते हैं। यद्यपि निराकार भगवान्‌के आज्ञापालनके रूपमें वेदोक्त सदाचारका अनुष्ठान और विश्व-सेवाकार्यके द्वारा भी दास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। इस व्यक्त जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझकर इसकी सेवा करना भी दास्यरसके अन्तर्गत हो सकता है, तथापि रसिक भक्तोंने सगुण साकार, अनन्त ऐश्वर्योंके निधि द्विभुज, चतुर्भुज आदि आकारविशिष्ट भगवद्विग्रहको ही दास्यरसका आलम्बन स्वीकार किया है।

भगवान्‌का ऐश्वर्य अनन्त है। उनके एक-एक रोमकूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका निवास-स्थान है। इतने ऐश्वर्यवान् होनेपर भी वे करुणाके तो समुद्र ही हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है। समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवामें तत्पर रहती हैं। संसारमें जितने भी देवी-देवता हैं, उन्हींके अंशविशेष हैं और जितने भी अवतार होते हैं, उसके वे ही बीजस्वरूप हैं। उनकी सर्वज्ञता, क्षमाशीलता, शरणागत-वत्सलता और अनुकूलता, सत्यता, सर्व-प्राणिहितैषिता आदि सद्‌गुण आत्माराम पुरुषोंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनके प्रतापसे ही संसारकी गति नियमित है, उनकी धारणाशक्तिसे ही धर्म सुरक्षित है। वे सब शास्त्रोंकी मर्यादाके स्थापक और पालक हैं। बड़े उदार हैं। महान् तेजस्वी हैं। एक बार भूलसे भी उनका कोई स्मरण करके भूल जाय, तब भी वे कभी नहीं भूलते। कृतज्ञताकी मूर्ति हैं। जो प्रेम करे उसीके वशमें हो जाते हैं। इस प्रकारके परम उदार, परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ही दास्यरसके आलम्बन हैं।

भगवान्‌के दास उनके आश्रित होते हैं। भगवान्‌पर उनका अखण्ड विश्वास होता है, वे सर्वात्मना भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं और भगवान्‌के अप्रतिहत ऐश्वर्यके ज्ञानसे उनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग – सम्पूर्ण जीवन भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित एवं नमित रहता है। इनके चार प्रकार होते हैं— अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुगामी। अधिकृत भक्तोंकी श्रेणीमें शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि देवतागण हैं। ये भगवान्‌की किस प्रकारकी सेवा करते हैं, इसका एक उदाहरण देखिये —

> का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
> तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौवासवोऽयम्।
> कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
> कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत्॥

कोठेपर खिड़कीके पास खड़ी होकर जाम्बवतीके पूछनेपर कालिन्दी देवताओंका परिचय करा रही हैं—यह प्रदक्षिणा कौन कर रही हैं ? यह अम्बिका देवी हैं। भगवान्का दर्शन करके यह कौन काँप रहे हैं ? ये शिव हैं। ये स्तुति कौन कर रहे हैं ? ये ब्रह्मा हैं। जमीनमें लोटकर नमस्कार कौन कर रहे हैं ? ये इन्द्र हैं। ये स्तब्ध कौन खड़े हैं, देवता लोग जिनकी हँसी उड़ा रहे हैं ? ये मेरे बड़े भाई यमराज हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि सभी देवता द्वारकामें आ-आकर भगवान्का दास्य करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, व्रज और वैकुण्ठकी ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। देवताओंके सहज वर्णनमें भी यह बात आती है कि वे सदा-सर्वदा भगवान्की दास्य-भक्तिमें ही तन्मय रहते हैं।

आश्रित भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। जरासन्धके द्वारा कैद किये हुए राजा लोग, भगवान्का अनुग्रहपात्र होनेपर कालियनाग—ये सब शरणागत श्रेणीके आश्रित हैं। जिन्होंने मुमुक्षा और जिज्ञासाका भी परित्याग कर दिया है और मोक्ष एवं ज्ञानका परित्याग करके भगवान्का ही आश्रयण किया है, वे ज्ञानी आश्रित हैं। इस श्रेणीमें शौनक आदि ऋषिगण आते हैं। इस श्रेणीके एक भक्त कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥

'जो ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयमें वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा रहे, हमारे तो जो स्वभाव-सुन्दर परम मधुर हैं, जिनके मुख-कमलपर मन्द-मन्द मुस्कान है, वर्षाकालीन मेघके समान जिनकी कान्ति है, जो पीताम्बरी एवं कमलनयन हैं, वे श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं। वे ही प्राणप्रिय हैं, वे ही सेव्य हैं। हमें कोई दूसरे आत्मासे और कोई काम नहीं।'

जो सच्चे हृदयसे भगवान्के भजनमें ही आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ आश्रितोंकी श्रेणीमें हैं। इसमें चन्द्रध्वज, हर्यश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव आदिका नाम लिया जा सकता है। इस श्रेणीके भक्तका हृदगत भाव इस प्रकार होता है—हे प्रभो ! जो सर्वदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे तुम्हारे गुणोंका श्रवण करनेके लिए उस सभामें सम्मिलित होने लगते हैं, जिसमें तुम्हारे गुणोंका गान होता है। जो एकान्त जंगलमें रहकर घोर तपस्यामें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे तुम्हारे उदार चरित्र सुननेके लिए प्रेमी भक्तोंके सामने भिक्षुकके रूपमें उपस्थित होते हैं। इसलिए मैं न तो स्वरूप-स्थिति चाहता हूँ और न तो निर्विकल्प समाधि। मैं तुम्हारी सेवामें रहूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँ, तुम्हारी सन्निधिमें रहकर निरन्तर तुम्हारी प्रसन्नता अनुभव किया करूँ—यही मेरे जीवनकी एकमात्र अभिलाषा है।

भगवान्की नित्य-लीलामें और समय-समयपर प्रकट होनेवाली लीलामें उनके नित्य पार्षद रहते हैं। वैकुण्ठमें विष्वक्सेन आदि द्वारकाकी लीलामें उद्धव, दारुक आदि और हस्तिनापुरकी लीलामें भीष्म, विदुर

आदि भगवान्‌के पार्षद श्रेणीके भक्त हैं। यद्यपि ये विभिन्न कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, कोई मन्त्रीका काम करता है तो कोई सारथिका, तथापि ये अवसर पानेपर भगवान्‌की शरीरतः सेवा करते हैं और उससे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अनुगामी भक्त भगवान्‌की सेवामें सर्वदा संलग्न रहते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें इनकी दृढ़ आसक्ति होती है। द्वारकामें सुचन्द्र, मण्डल आदि अनुग भक्त छत्र-चमर आदि धारण करते हैं और व्रजमें रक्तक, पत्रक आदि दासगण भगवान्‌के वस्त्र आदिके परिष्कार आदिकी सेवा करते हैं। जैसे द्वारकाके भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, वैसे ही व्रजके भक्तोंमें रक्तक श्रेष्ठ है। इनके तीन भेद होते हैं यथा—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य वे हैं जो महल और दरबार दोनोंमें एक-सी सेवा करते हैं। धीर-श्रेणीके सेवक भगवान्‌के प्रेयसीवर्गका आश्रय लेकर विशेष सेवा न करनेपर भी अपना मुख्य स्थान रखते हैं। वीर सेवक भगवान्‌के आश्रयसे निर्भीक रहता है और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌के चरणोंमें इसका अतुलनीय प्रेम होता है। यह कभी-कभी अपनी प्रौढ़तावश कह बैठता है कि 'मुझे न बलरामसे काम है और न प्रद्युम्नसे कुछ लेना है। भगवान्‌की कृपासे मैं इस प्रकार बलवान् हो गया हूँ कि मैं सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता।' अबतक जितने प्रकारके दासोंकी गिनती की गयी है, वे सभी तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—एक तो नित्यसिद्ध, दूसरे साधनसिद्ध और तीसरे जो अभी साधन कर रहे हैं। इन सभीके चित्तमें अनुदिन दास्य-रतिकी अभिवृद्धि हुआ करती है।

दास्यरसमें साधारण और असाधारण अनेकों प्रकारके उद्दीपन विभाव होते हैं, यथा—

१. पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव।

२. उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति।

३. भगवान्‌के प्रसादका सेवन।

४. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग।

५. भगवान्‌की वंशी, शृङ्ग आदिकी ध्वनिका श्रवण।

६. भगवान्‌की मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेम-भरी चितवन।

७. भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महत्त्व आदिका श्रवण।

८. कमल, पदचिह्न, मेघ, अङ्गसौरभ आदि।

जिनके हृदयमें दास्यरसका उदय हो गया है, उनके जीवनमें बहुत-से अनुभाव प्रकट हो जाते हैं, यथा—

१. भगवान् जिस कार्यमें नियुक्त कर दें, उसीको सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना।

२. किसीके प्रति ईर्ष्याका लेश भी नहीं होना।

३. जो अपनेसे अधिक सेवा करता है, उससे प्रसन्नता और भगवद्भक्तोंसे मित्रता।

४. भगवान्‌की सेवामें ही रति, उसीमें प्रीति और उसीकी निष्ठा। दास्यके अवसरकी प्राप्तिसे और उनकी अप्राप्तिसे भी स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंका उद्रेक होता है। हर्ष, गर्व आदि भाव भी समय-समयपर स्फुरित हुआ करते हैं। भगवान्‌के ऐश्वर्य और सामर्थ्यके ज्ञानसे जो आदरपूर्वक सम्भ्रम होता है, उनके साथ मिलकर प्रीति ही सम्भ्रम-प्रीतिका नाम धारण करती है। दास्यरसमें यही स्थायीभाव है। यह सम्भ्रम-प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। अकस्मात् भगवान्‌के मिलनेसे जो आदरभावपूर्वक सम्भ्रम प्रेम है, वह सम्भ्रम-प्रीति है। यही भाव जब इतना दृढ़ हो जाता है कि ह्रासकी आशङ्का नहीं रहती, तब इसे ही प्रेम कहते हैं। इस अवस्थामें प्रेम इतना स्वाभाविक हो जाता है कि भगवान् चाहे सौख्यके महान् समुद्रमें डाल दें, अथवा घोर दुःखमय नरकमें, कहीं भी चित्तमें विकार नहीं होता। भगवान्‌के चरणोंका पूरा विश्वास बना रहता है। यही प्रेम जब और घना होकर चित्तको अत्यन्त द्रवित कर देता है, तब इसका नाम स्नेह होता है। इसमें एक क्षणका वियोग भी सहन नहीं होता। यदि कहीं एक क्षणके लिए कृत्रिम वियोग हो जाय तो भी प्राणान्तकी नौबत आजाती है। यही स्नेह जब इतना गाढ़ हो जाता है कि दुःख भी सुख मालूम होने लगता है, तब उसका नाम राग होता है। इस अवस्थामें अपने प्राणोंका नाश करके भी भगवान्‌की सेवा करनेका प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें थोड़ा-बहुत सख्यका भी उदय हो जाता है। यदि भगवान् इस श्रेणीके किसी सेवकको कभी अपने हृदयसे लगा लेते हैं, तो वह लग तो लेता है, किन्तु उसके चित्तमें संकोच रहता है।

सेवककी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो भगवान्‌के साथ योगकी और दूसरी अयोगकी। भगवान्‌के साथ न रहकर सेवासे वञ्चित रहना, यह अयोग-अवस्था है। इसमें मन भगवान्‌में ही रहता है, प्रायः भगवान्‌के गुणोंका अनुसन्धान और उनके मिलनेके उपायका चिन्तन हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—उत्कण्ठा और वियोग। भगवान्‌के जबतक एक बार भी दर्शन नहीं हुए रहते, परन्तु उनके दर्शनकी बड़ी इच्छा रहती है, तबतककी अवस्थाका नाम उत्कण्ठा है। इस अवस्थामें कृष्णसार मृगका नाम सुनकर कृष्णकी स्मृति हो आती है। श्याम मेघको देखकर घनश्यामको पानेकी उत्कण्ठा तीव्र हो जाती है। इस अवस्थामें विरहके सभी भावोंका उदय होता है। भगवान्‌के पानेकी उत्सुकता, अपनी दीनता, संसारसे निर्वेद, आशा-निराशा, जड़ता, उन्माद—सभी एक-एक करके आते रहते हैं। भगवान्‌के दर्शन बिना एक-एक क्षण कल्पके समान मालूम होने लगता है। निरन्तर हृदयसे सच्ची प्रार्थनाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि व्यवहारका ध्यान नहीं रहता, आँखें निर्निमेष दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगती हैं। भक्त प्रेमोन्मोदमें मस्त होकर कभी रोता है, कभी निःसंकोच नाचने लगता है, कभी तन्मय होकर भगवान्‌की लीलाओंका ही अनुकरण करने लगता है, कभी मूर्च्छा हो जाती है तो कभी मृत्युकी-सी भी दशा हो जाती है। इसी अवस्थामें जाकर प्रेमपरवश भगवान्‌को दर्शन देनेके लिए बाध्य होना पड़ता है।

एक बार या अनेक बार भगवान्‌का दर्शन प्राप्त होनेके पश्चात् जो भगवान्‌का विरह होता है, उसको वियोग-अवस्था कहते हैं। भगवान्‌के मिलनका सुख ही ऐसा है कि जिसे एक क्षणके लिए भी प्राप्त हो जाता है, वह उसके विरहमें बड़ी कठिनाईसे जीवन धारण करता है। परन्तु संसारकी अपेक्षा उसकी यह कठिनाई भी परम रसमय है। भगवान्‌के विरहमें हृदयमें इतना ताप होता है कि सम्पूर्ण अग्नि और सूर्य भी वैसी जलन नहीं पैदा कर सकते। शरीर दुर्बल हो जाता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नींद नहीं आती, उनके सिवा चित्त कहीं स्थिर नहीं होता, धैर्यका बाँध टूट जाता है, पीड़ासे शरीर जर्जर, शिथिल और अविचल हो जाता है, श्वासकी गति बढ़ जाती है, मानसिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु, पुनः जीवन और फिर वही अवस्थाएँ—उसकी ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवत्प्रेमीके शरीरमें जो व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा आदि होते हैं, ये लोकोत्तर होते हैं। भगवान्‌के प्रेमराज्यमें मृत्युका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ जो ये अवस्थाएँ आती हैं, सो सब संयोग-सुखकी अभिवृद्धिके लिए। इसलिए प्रेमकी यह मृत्यु भी जीवनसे बढ़कर है; क्योंकि रसस्वरूप भगवान्‌की सन्निधिमें यह पहुँचा देती है। यह वियोग संयोगका पोषक होनेके कारण रसस्वरूप है।

योग-अवस्थाके तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें भगवान्‌की जो प्राप्ति होती है, उसको सिद्धि कहते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें अक्रूरकी उत्कण्ठा और उनकी भगवत्प्राप्तिका वर्णन है, यह सिद्धि-अवस्था है। भगवान्‌का वियोग होनेके पश्चात् जो मिलन होता है उसको तुष्टि कहते हैं। ऐसा वर्णन आता है कि द्वारकाके द्वारपर दारुकने जब भगवान्‌को देखा तब उसको इतना आनन्द हुआ कि अञ्जलि बाँधकर भगवान्‌को प्रणाम भी नहीं कर सका। उसकी दशा चित्रलिखित-सी हो गयी। इसीका नाम तुष्टि है। स्थिति-अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें भगवान्‌से कभी वियोग नहीं होता। इस स्थिति-अवस्थामें भक्त प्रत्येक क्षण बड़ी सावधानीसे भगवान्‌की सेवामें ही व्यतीत करता है। भगवान्‌के दास्यरसके लिए इससे बढ़कर वाञ्छनीय कोई अवस्था नहीं हो सकती। वे परमानन्दके महान् समुद्रमें स्थित रहकर भगवान्‌की अवसरोचित सेवा किया करते हैं। कहाँ बैठना, कहाँ खड़े रहना, कैसे बोलना, कैसी चेष्टा करना—सब उनके नियमित रहते हैं। सख्यमिश्रित दास्यमें कभी-कभी कुछ प्रगल्भता भी आजाती है, परन्तु वह कभी-कभी ही होती है।

गौरवप्रीतिजनित दास्यमें पिता, बड़े भाई, गुरु आदिके रूपमें भगवान्‌की सेवा की जाती है। सर्वश्रेष्ठ कीर्तिमान्, परम ज्ञानसम्पन्न, परम शक्तिमान्, एकमात्र रक्षक, दुलार करनेवाले पिता आदिके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। उनके प्रेम या दुलारके पात्र सारण, गद, सुभद्र आदि छोटे भाई, प्रद्युम्न, साम्ब आदि पुत्र भी आलम्बन हैं। ये भगवान्‌से नीचे आसनपर बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। साथ भोजन करते हैं। भगवान् इनका सिर सूँघते हुए आलिङ्गन करते हैं। ये उनका स्नेह देख मुग्ध होते रहते हैं। सम्भ्रमजनित दास्यमें भगवान्‌के ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान रहता है। परन्तु भगवान्‌के प्यारे इन सम्बन्धियोंमें

तो सम्बन्धकी ही स्फूर्ति प्रधान रहती है। व्रजमें किसी प्रकारके ऐश्वर्यकी धारणा न होनेपर ही व्रजराज-कुमार होनेके कारण कुछ-कुछ ऐश्वर्यका लेश भी रहता ही है। भगवान्‌के वात्सल्यका स्मरण, उनकी प्रसन्नतासूचक मुस्कान और प्रेम-भरी चितवनका स्मरण आदि इस रसके उद्दीपन हैं। भगवान्‌के सामने नीचे आसनपर बैठना, उनकी आज्ञाका पालन, उनके कार्य-भारका ग्रहण, उच्छृङ्खलताका त्याग—ये सब अनुभाव इस रसमें प्रकट होते हैं। सात्त्विक और सञ्चारीभाव भी यथावसर प्रकट हुआ करते हैं।

गौरवप्रीति क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण कर लेती है। इनका वर्णन सम्भ्रमप्रीतिमें जैसा हुआ है, वैसा ही समझना चाहिए। योग और अयोग अवस्थाओंके भेद-विभेद भी उतने ही और वैसे ही हैं। गौरवप्रीति और सम्भ्रमप्रीति दोनों ही दास्यरसके स्थायिभाव हैं। जिन्हें भगवान्‌की इस प्रेममयी, रसमयी अवस्थाका अनुभव नहीं है, वे इसे रस नहीं मानते। परन्तु श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इस अवस्थाकी रसमयताका सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवके लिए इससे बढ़कर और कौन-सी सरस और आनन्दमयी अवस्था होगी, जब वह अपने प्रियतम प्रभुकी सन्निधिमें रहकर उनके कृपा-प्रसादका अनुभव करता हुआ उन्हींकी सेवामें संलग्न रहे। 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः' कहकर भागवतकारने इसके परमानन्दस्वरूपकी ओर निर्देश किया है।

सख्यरस

इस रसमें सख्यरति ही स्थायी होकर रसका रूप ग्रहण करती है। कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाके श्रीकृष्ण एवं उनके सखा इसके आलम्बन हैं। व्रजमें मरकतमणिके समान श्याम-सुन्दर शरीर, कुन्दके समान निर्मल हास्य, चमकता हुआ पीताम्बर, वनमाला, जादूभरी वंशी—ये सब-के-सब सख्य-रसकी धारा प्रवाहित करते रहते हैं। द्वारकामें और हस्तिनापुरमें भी श्रीकृष्णके समवयस्क अर्जुन आदि सखा हैं और वे सख्य-रसके अनुसार श्रीकृष्णसे व्यवहार करते हैं। सखाके रूपमें श्रीकृष्ण अपने सब सखाओंसे बलवान् हैं, सबसे अधिक भाषाके ज्ञाता, वक्ता और विद्वान्, प्रतिभा, दक्षता, करुणा, वीरता, विदग्धता, बुद्धिमत्ता, क्षमा और प्रसन्नतामें अतुलनीय। सखा भी रूप, वेष, गुण आदिमें उनके समान ही होते हैं। दासोंके समान नियन्त्रणमें नहीं रहते। अपने सखा श्रीकृष्णपर सम्पूर्ण रूपसे निर्भर रहते हैं। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, सुदामा—ये सब द्वारकाके सखा हैं। व्रजके सखा सर्वदा श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। उनके जीवन ही श्रीकृष्ण हैं। एक क्षण भी अपने सखा श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर वे दीन हो जाते हैं। इनके प्रेम और सौभाग्यकी तुलनामें और किसीका भी नाम नहीं लिया जा सकता। बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि यहाँके प्रसिद्ध सखा हैं। कितना प्रेम है इनका श्रीकृष्णके प्रति, वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्यमय रूपसे, अपने बायें हाथकी कनिष्ठा अँगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठाये हुए हैं। परन्तु ग्वालबालोंके लिए तो वे अपने सखा ही हैं, उन्हें उनके ऐश्वर्यका रहस्य कहाँ? वे जाकर उनसे कहने लगे—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम् ।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

'सखे ! तुम नींद छोड़कर सात दिनसे खड़े हो, बड़े कष्टकी बात है। अब तुम बहुत थके-से जान पड़ते हो, अब परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीदामाके हाथपर पर्वत रख दो अथवा हमारे हाथमें ही दे दो। तुम्हें इस प्रकार देखकर हमारे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। यदि ऐसा करनेकी इच्छा नहीं हो, तो थोड़ी देरके लिए उसे दाहिने हाथमें ले लो, हम तुम्हारे बायें हाथका थोड़ा संवाहन तो कर लें। उसे हाथसे दबाकर उसकी पीड़ा तो कम कर दें।'

इनकी चार श्रेणियाँ होती हैं—सुहृद, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था कुछ बड़ी होती है, उनमें वात्सल्यमिश्रित सख्य रहता है। वे अपने सखा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिए सर्वदा तैयार रहते हैं। इस श्रेणीमें सुभद्र, मण्डलीभद्र, बलभद्र आदि सखा हैं। ये भरसक श्रीकृष्णको अकेले नहीं छोड़ते। अपने बिना उनको अरक्षित समझते हैं। उनके चित्तमें अनिष्टकी आशंका बार-बार आया करती है और ये सर्वदा सजग रहते हैं। सखा-श्रेणीके ग्वाल-बाल अवस्थामें कुछ छोटे रहनेपर भी समान ही रहते हैं। इनमें दास्यमिश्रित सख्य होता है। विषाद, ओजस्वी, देवप्रस्थ आदि इस श्रेणीमें हैं। ये वनमें, गोष्ठमें और जलमें सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें संलग्न रहते हैं। खेलमें इनका सख्य प्रकाशमें आजाता है। प्रिय सखाओंकी श्रेणीमें श्रीदामा, सुदामा आदि हैं। इनकी अवस्था श्रीकृष्णके समान है और इनमें केवल विशुद्ध सख्य है। ये श्रीकृष्णके साथ कुश्ती लड़ते, लाठी चलाते, तरह-तरहके खेल खेलते हैं। कोई श्रीकृष्णसे विनोद करता है, कोई पुलकित शरीरसे उनका आलिङ्गन करता है। श्रीकृष्णका क्षणिक वियोग भी इनके लिए असह्य है। प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी प्रिय-सखाओंकी अपेक्षा और भी अन्तरङ्ग है। ये अत्यन्त रहस्यमें भी सम्मिलित रहते हैं और गोपियोंके सन्देश, पत्र आदि श्रीकृष्णके पास ले आते हैं और उनके पास पहुँचाते भी हैं। इस श्रेणीमें सुबल, उज्ज्वल आदि हैं। ये चारों श्रेणियाँ व्रजके सखाओंमें ही होती हैं। इनमें-से कोई बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई सरल हैं तो कोई चपल हैं तो कोई गम्भीर, कोई बहुत बोलनेवाले हैं तो कोई चुप रहनेवाले। इनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिए होती हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी ये बड़े ही मधुर हैं। इनकी पवित्र मित्रता और विचित्रता श्रीकृष्णको भी मोहित कर लेती हैं।

सख्यरसके उद्दीपनोंमें बहुत-सी वस्तुएँ हैं, यथा—

१. श्रीकृष्णकी कुमार, पौगण्ड किशोर अवस्थाएँ।

२. श्रीकृष्णकी मुनिजन-मनमोहिनी लोकोत्तर सुन्दरता।

३. श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि, शृङ्गध्वनि आदि।

४. श्रीकृष्णकी विनोदप्रियता, मधुर भाषण।

५. श्रीकृष्णकी लीलाप्रियता, उछलना, कूदना, नाचना, गाना आदि।

६. श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनन्द और सौभाग्यका स्मरण।

७. श्रीकृष्णके द्वारा राजा, देवता, अवतार, हंस आदिका अनुकरण।

८. श्रीकृष्णका अपने सखाओंके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्ण और समान व्यवहार।

इन बातोंके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चिन्तनसे हृदयमें सख्य-रस प्रकट होता है। सख्य-रसके प्रकट होनेपर निम्नलिखित अनुभाव स्वयं ही स्फुरित होने लगते हैं—

१. श्रीकृष्णके साथ गेंद खेलना, कुश्ती लड़ना, एक-दूसरेपर सवारी गाँठना आदि।

२. आपसमे खेल-कूदकर श्रीकृष्ण जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करना।

३. उनके साथ पलङ्गपर बैठना, झूलेपर झूलना, साथ सोना इत्यादि।

४. श्रीकृष्णके साथ सुन्दर-सुन्दर अद्भुत विनोद।

५. श्रीकृष्णके साथ जल-विहार।

६. श्रीकृष्णके साथ नाचना, गाना, बजाना।

७. उनके साथ गायें दुहना-चराना, कलेऊ करना, आँख-मिचौनी आदि खेलना, दूर हो जानेपर आपसमें होड़ लगाकर उन्हें छूना इत्यादि।

ये अनुभाव सख्यरसका अनुभव करनेवालेके हृदयमें और परिपक्व होनेपर शरीरमें भी प्रकट हुआ करते हैं।

श्रीकृष्णके प्रेममें पगे रहना, उनकी कोई अद्भुत लीला देखकर स्तम्भित हो जाना, शरीर पसीज जाना; रोमाञ्चित हो जाना, काँपना, विवर्ण हो जाना आदि सात्विक भाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं। आनन्दके आँसू, हर्षकी गाढ़ता आदि स्वाभाविक ही रहते हैं। सख्यरतिमें ऐश्वर्यका भान नहीं रहता। इसमें अपने सखाके प्रेमपर पूरा विश्वास रहता है। सख्यरसका यही स्थायी भाव है। यही परिपुष्ट होकर रसका रूप धारण करता है। यही सख्यरति क्रमशः विकसित होकर प्रणय प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। सख्यरतिमें मिलनकी इच्छा प्रबल रहती है। प्रणयमें ऐश्वर्यका प्रकाश होनेपर सखापर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ओर ब्रह्मा और शिव श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं, तो दूसरी ओर एक सखा उनके बालोंपर पड़ी हुई धूलि झाड़ रहा है। प्रेममें दुःख भी उसको बढ़ानेवाला होता है। स्नेहमें एक क्षणके लिए भी अपने सखाकी विस्मृति नहीं होती। हृदय सर्वदा स्नेहसे भरा रहता है। आँखोंमें आँसू और कण्ठ गद्गद, प्रियतमका गुणगान हुआ करता है। रागमें दुःखके निमित्त भी सुखके रूपमें अनुभव होते हैं। अश्वत्थामा श्रीकृष्णपर अत्यन्त तीखे बाण चलाता है, परन्तु अर्जुन उन्हें श्रीकृष्णको न लगने देकर अपने वक्षःस्थलपर ले लेते हैं। उन्हें मालूम होता है मानो कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा है। आनन्दमग्न हो रहे हैं।

दास्यरसकी भाँति ही सख्यरसमें भी अयोगके दोनों भेद होते हैं—जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उत्कण्ठित-अवस्था और मिलनेके पश्चात् जब विरह होता है, तब वियोग-अवस्था। श्रीकृष्णसे मिलन होनेसे पहले पाण्डवोंको, विशेष करके अर्जुनकी उत्कण्ठित अवस्था प्रसिद्ध है। मिलनके पश्चात्‌का वियोग भी पाण्डवोंके जीवनमें बहुत ही सुस्पष्ट रूपसे वर्णित हुआ है। भागवतके प्रथम स्कन्धमें अर्जुनने भगवान्‌का विछोह होनेपर जो विलाप किया है, वह बड़ा ही हृदयद्रावक एवं मर्मस्पर्शी है। भगवान्‌के मथुरागमनके पश्चात् व्रजके ग्वाल-बालोंको जो वियोग हुआ है वह वर्णनातीत है। उनके जीवनमें जितने भी दुःखके अवसर आये हैं—दावानलमें जलना, कालीदहका विषैला जल पीना और अघासुरके मुखमें जाना आदि, सबसे बड़ा दुःख श्रीकृष्णके विरहका ही हुआ है। उनके अन्तस्तलमें विरहकी ज्वाला इस प्रकार प्रज्वलित होती रहती है कि भाण्डीर वटकी शीतल छाया, यमुनाकी बरफके समान ठण्डी धारा भी उसे शान्त न करके और भी धधका देती है। शरीर दुर्बल हो जाते हैं, आँखोंमें आँसू भरे रहनेके कारण नींद नहीं आती, उनका चित्त आलम्बनशून्य होकर धैर्यहीन, विचारशून्य एवं जड़प्राय हो जाता है। उनके शरीरकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है। जगत्‌के व्यवहार भूलकर कहीं लोटते हैं, कहीं दौड़ते हैं, कहीं खिलखिलाकर हँसने लगते हैं, अपने आप न जाने क्या-क्या बका करते हैं और कभी-कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रीकृष्णके विरहमें ग्वाल-बालोंकी दशा भी गोपियोंके समान ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें—

> कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
> गोपाः शैलतटे तथा शिथिलतश्वासाङ्कुराः शेरते।
> वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
> शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहकी तरङ्गोंसे उत्पन्न ज्वालाएँ ग्वाल-बालोंको जर्जरित बना रही हैं। उनके श्वासका अङ्कुर भी अब क्षीण हो चला है। वे पर्वतकी तराइयोंमें निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इतने निश्चल हो रहे हैं वे कि उनके चिर-परिचित स्नेही हरिण बार-बार अपने आँसुओंकी अजस्र धारासे भिगोकर भी जब उन्हें नहीं उठा पाते, तब बहुत देर तक उनके लिए शोक करते हैं।' भगवान्‌के विरहकी ऐसी अवस्था जिनके जीवनमें प्रकट हुई है, उन भाग्यवान् ग्वाल-बालोंके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है?

ग्वाल-बालोंकी यह विरहावस्था व्यक्त लीलाके अनुसार है। इनके जीवनसे यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सख्यरसके उपासकोंमें भगवान्‌के विरहकी कितनी ऊँची अवस्थाका प्रकाश होना चाहिए। अन्तर्लीलामें तो श्रीकृष्णके साथ इनका वियोग कभी होता ही नहीं। दास्यरसके समान ही इसमें भी संयोगकी सिद्धि, तुष्टि और स्थिति नामकी तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पहले-पहल भगवान्‌का दर्शन जैसे पाण्डवोंको हुआ था, दुबारा-तिबारा दर्शन जैसे कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय ग्वाल-बालोंको हुआ था और सर्वदा एक साथ

रहना जैसे कि ब्रजके ग्वाल-बालोंका अन्तर्लीलामें रहता है—सब सख्यरसकी ही उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं। उनके सौभाग्यका भला कौन वर्णन कर सकता है, जो सन्तोंके परमानन्दस्वरूप आत्मा, भक्तोंके परमाराध्यदेव भगवान् और प्रेमियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्णके साथ—जिनके चरणोंकी धूलि बड़े-बड़े योगियोंको कोटि-कोटि कल्पकी तीव्र तपस्यासे भी दुर्लभ है—इस प्रकार खेलते हैं मानो कोई अपना ही समवयस्क, अपने ही जैसा साधारण बालक हो। यही भगवान्के प्रति सख्यरतिका फल, सख्यरस है। शान्त और दास्यरसकी अपेक्षा इसका वैलक्षण्य बहुत ही सुस्पष्ट है और सहृदयोंके अनुभवगोचर इस रसकी रसरूपता भी निर्विवाद है। श्री जीवगोस्वामीने दास्यरसका प्रीतिरसके नामसे और सख्यरसका प्रेयोरसके नामसे वर्णन किया है।

वत्सलरस

भगवान्के प्रति वात्सल्यरति ही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा व्यक्त होकर वात्सल्यरसका रूप ग्रहण करती है। इसके आलम्बन हैं—बालक भगवान् और उनके गुरुजन। अयोध्यामें शिशुरूप भगवान् राम और ब्रजमें शिशुरूप श्रीकृष्ण—ये दोनों ही वात्सल्य-भाजन हैं। सुकुमार शैशवसे लेकर कमनीय कैशोरतक वात्सल्यरतिकी अवस्था है। यौवनका प्रारम्भ होनेपर भी गुरुजनोंकी दृष्टिमें किशोर अवस्था ही रहती है। नवीन नीलकमलके समान साँवला शरीर, शिरीष कुसुम-सा कोमल अङ्ग, मरकतमणिके समान सुचिक्कण कपोलोंपर घुंघराली अलकें, प्रभाव और ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित नन्हें-से शिशुके रूपमें शैशवोचित चापल्य और व्याघ्रनख आदि भूषणोंसे विभूषित भगवान् अनुग्रहपात्रके रूपमें इस वात्सल्यके लोकोत्तर आलम्बन हैं। तोतली बोली—मानो मूर्तिमान् मिठास, सरलताकी सीमा नहीं, गुरुजनोंके प्यारसे बार-बार उल्लसित एवं प्रफुल्लित होनेवाले, गुरुजनोंको बार-बार प्रणाम करनेवाले और बात-बातमें उनके सामने सकुचा जानेवाले, अपनी नन्हीं-नन्हीं हथेलियोंसे किसीको माखन और किसीको धन, रत्न लुटानेवाले बालरूप भगवान् गुरुजनोंके सम्पूर्ण स्नेहको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। वेद, उपनिषद्-दर्शन और भक्त जिनकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे ही भगवान् वात्सल्यरतिके वश होकर ऊखलमें बाँधे जाते हैं, डाँट-फटकार सुनते और माँकी साँटीसे डरकर रोने लगते हैं। क्या ही अलौकिक माधुर्य है! अवश्य ही यह वात्सल्यरतिकी महिमा और श्रीकृष्णकी प्रेमपरवशता है।

श्रीकृष्णके गुरुजन—जैसे नन्द, यशोदा और वे गोपियाँ जिनके बच्चोंको ब्रह्माने चुरा लिया था—इसके आलम्बन विभाव हैं। वे अपनेको श्रीकृष्णसे अधिक माता-पिता आदिके रूपमें मानते हैं। वे उनको दुलारते हैं, पुचकारते हैं और अपराध करनेपर दण्ड भी देते हैं। देवकी, कुन्ती, सान्दीपनि मुनि—ये सब भी गुरुजनोंकी ही श्रेणीमें हैं। यशोदा अपने प्यारे शिशुको माखन खिलानेके लिए अपने हाथसे ही बहुत-सी दासियोंके होनेपर भी दही मथती हैं। वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिए गद्गद कण्ठ और अश्रुपूर्ण नयनोंसे श्रीकृष्णके शरीरमें मन्त्रों और देवताओंका न्यास करती हैं, उनके सिरपर रक्षा-तिलक करती हैं और

भगवान्से, देवी-देवताओंसे प्रार्थना करती रहती हैं। अभी पूरा प्रातःकाल भी नहीं हुआ होता, श्रीकृष्ण सोकर उठे भी नहीं होते, इनके स्तनोंसे दूधके रूपमें वात्सल्यरसकी धारा फूट पड़ती है। यदि कोई वात्सल्यरसका मूर्तिमान दर्शन करना चाहता हो तो माँ यशोदाका दर्शन कर ले। ये वत्सलरसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसकी जननी हैं। नन्दबाबाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है! जब श्रीकृष्ण उनके हाथकी अँगुली पकड़कर लड़खड़ाते हुए आँगनमें चलते हैं तब नन्दबाबाका स्नेह उमड़ पड़ता है, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू झर-झर झरने लगते हैं, पुलकित शरीरसे श्रीकृष्णको उठाकर वे अपने हृदयसे लगा लेते हैं और सिर सूँघकर बार-बार चूमते हैं। उनके सुख-सौभाग्यकी कल्पना भी मनकी सीमासे परे है; उनका वर्णन तो किया ही कैसे जा सकता है।

वात्सल्य-रसके उद्दीपन विभावोंकी संख्या अपरिमेय है। श्रीकृष्णकी कुमार आदि अवस्थाएँ; उन अवस्थाओंमें प्रस्फुटित सहज सौन्दर्य और उसके अनुकूल वेष-भूषा चपलताएँ, बोलना, हँसना, खेलना, रोना, सोना, जगना, रूठना—यहाँतक कि बालोचित सभी क्रियाएँ उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हैं। कुमार अवस्थाके तीन भाग होते हैं—आदि, मध्य और शेष। आदि अवस्थामें मध्य भाग और ऊरु कुछ स्थूल होते हैं। आँखके कोने श्वेत और बहुत-से दाँत। अङ्ग-अङ्गमें मृदुलताका साम्राज्य होता है। इस अवस्थामें बार-बार पैर उछालना, एक क्षणमें रोना तो दूसरे ही क्षणमें हँस देना, अपने पैरका अँगूठा चूसना और उत्तान पड़े रहना—यही चेष्टा होती है। गलेमें बघनहीं, ललाटपर रक्षा-तिलक, आँखोंमें अञ्जन, कमरमें करधनी और हाथमें सूत—यही आभूषण होते हैं। नन्दरानी और नन्दबाबा इस शोभाको देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते, यही चाहते हैं कि निर्निमेष नयनोंसे इन्हें निहारते रहें। मध्य अवस्थामें आँखोंके कोनोंमें कुछ केसरिया रंग आता है। कभी कपड़ा पहिनते हैं और कभी नग्न रहते हैं। कान छिदे हुए होते हैं। तोतली बोली बोलते हैं। आँगनमें घुटनोंके बल चलते हैं। नाकमें मोती, हाथमें माखन, कमरमें घुँघरू—यही आभूषण होते हैं। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान और बालोचित चेष्टाओंको देखकर गुरुजन आनन्दित होते रहते हैं। शेष अवस्थामें कमर कुछ पतली और वक्षःस्थल कुछ ऊँचा हो जाता है। मस्तकपर घुँघराले बाल लहराते हैं। इस अवस्थामें कन्धेपर पीताम्बरकी चादर, जङ्गली पुष्पोंके आभूषण और छोटा-सा बेंतका डण्डा आदि धारण करते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ खेलते हैं। गाँवके आस-पास उनके साथ बछड़ोंको चरा लाते हैं। छोटी-सी बाँसुरी और छोटी-सी सींग अपने पास रखते हैं और कभी-कभी पत्तोंके बाजे बनाकर बजाते हैं। जो इनकी लीलाओंको देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही वास्तवमें बड़भागी हैं।

पौगण्ड-अवस्थाका वर्णन सख्यरसके प्रसङ्गमें प्रायः आ ही गया है। आँखोंमें धवलिमा, सिरपर पगड़ी, वदनमें कंचुक, चरणोंमें मन्द-मन्द ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुर, पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण इस अवस्थामें गौओंको चराने लगते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर भी जाते हैं। किशोर-अवस्थामें दोनों आँखोंके कोनोंमें किञ्चित् लालिमा आजाती है। वक्षःस्थल ऊँचा होता है, हार धारण करते हैं। इसी

समय नव-यौवनका उन्मेष होता है, परन्तु वात्सल्य-प्रेमवालोंको ये शिशु ही मालूम पड़ते हैं। दास्यरस-वालोंको ये पौगण्ड-अवस्थामें किशोरके समान मालूम पड़ते हैं। बचपनमें ये कहीं दूधकी कमोरी फोड़ देते हैं, तो कहीं आँगनमें बिखेर देते हैं। कहीं मथानीका डण्डा तोड़ देते हैं, तो कहीं माखन आगमें डाल देते हैं, वानरोंको खिला देते हैं या ग्वाल-बालोंको बाँट देते हैं। गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए इसी समय माखन-चोरी भी करते हैं। एक गोपी कह रही है—'बहिन, तनिक अनजानकी तरह चुप होकर यह दृश्य देख तो लो—लताओंकी आड़में से धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कन्हैया सशङ्क भावसे इधर-उधर देखता हुआ माखन-चोरी करनेके लिए कितनी चालाकी और मधुरताके साथ आरहा है! ठहरो! तनिक मुझे देख लेने दो—भयभीत आँखें किस प्रकार इधर-उधर घूम रही हैं, ओठ सूखा जा रहा है। इस छलियाकी छलना भी कितनी मधुर है! तनिक देखो तो सही!

इस रसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा विलक्षण ही हैं, यथा—

१. गोदमें लेकर या हृदयसे लगाते हुए सिर सूँघना।

२. अपने हाथसे शरीरमें लगी हुई धूलि झाड़ना, उबटन, तेल, फुलेल लगाना।

३. देवताओंसे रक्षाकी प्रार्थना करना, कवच बाँधना, न्यास करना, आशीर्वाद देना।

४. अमुक वस्तु ले आओ, अमुक वस्तु रख आओ—इत्यादि आज्ञा करना।

५. दुलारना-पुचकारना।

६. पशुओंसे, काँटेसे, नदीसे और भयके अन्य निमित्तोंसे रक्षा करना।

७. तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिए, ऐसे नहीं रहना चाहिए—इत्यादि उपदेश करना।

८. चूमना, हृदयसे लगाना, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना, डाँटना इत्यादि।

नन्दरानी यशोदाके स्तनोंसे स्नेहाधिक्यके कारण दूध तो प्रायः निकलता ही रहता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके खेलोंको देखकर वे चकित रह जाती हैं। उस दिन जब उन्होंने अपने लाड़लेको गोवर्धन उठाये देखा, तो इनका शरीर स्तम्भित हो गया। ये उनका आलिङ्गन भी नहीं कर सकीं। आँखोंमें इतने आँसू आगये कि देख भी नहीं सकीं। और तो क्या—गला रुँध गया, ये उन्हें समझा भी न सकीं कि तुम ऐसा साहस क्यों कर रहे हो। अन्तमें इन्होंने यही निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन भगवान्की आराधना करती हूँ, प्रतिदिन अपने पुत्रकी रक्षाके लिए उनसे प्रार्थना करती हूँ—उसीका यह फल है; नहीं तो मेरा कुसुम-सा सुकुमार लल्ला इतना बड़ा पहाड़ भला कैसे उठा सकता है? इन सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त हर्ष, निर्वेदादि भी पूर्वोक्त रसोंके समान ही होते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वत्सलरसमें ऐश्वर्यका लेश भी—चाहे वह गौरवकी दृष्टिसे हो, या सम्भ्रमकी दृष्टिसे—सर्वथा नहीं होता। अपने स्नेहपात्रके प्रति स्नेह करनेवालेकी जो विशुद्ध रति है, उसीका

नाम वात्सल्य भाव है; यही वत्सलरसका स्थायिमाव है। यशोदामें यह वात्सल्यरति स्वभावसे ही परिपूर्ण रहती है। औरोंमें यह कभी प्रेमके रूपमे, कमी स्नेहके रूपमें और कभी रागके रूपमें प्रकट होती है। श्रीकृष्णके दर्शनकी व्याकुलता, मुनिजनोंके द्वारा पूजित होते समय भी उन्हें गोदमें बैठा लेना, हृदयका उनके स्नेहसे सर्वदा द्रवित रहना, उनके लिए, उनकी प्रसन्नताके लिए और उनकी सन्निधिके लिए, दुःखको भी सुखके रूपमें अनुभव करना — ये सब उसके लक्षण हैं।

इस रसमें भी पहले-पहल मिलनेके पूर्व उत्कण्ठा, एक बार मिलनेके पश्चात् विरह पूर्ववत् ही होते हैं। देवकी और कुन्तीकी उत्कण्ठा, श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदाका विरह कौन नहीं जानता? यशोदाका ऐसा वर्णन आता है कि उन्हें अपने बालोंकी सुध नहीं रहती, व्यथित होकर इस प्रकार जमीनमें लोटतीं कि चोट लगनेकी भी परवा नहीं रहती। 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई अपनी छाती पीटतीं। वत्सलरसमें वियोगकी इतनी अवस्थाएँ होती हैं कि उनका वर्णन असम्भव है। विशेष करके चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह — ये तो अत्यन्त अभिवृद्ध हो जाते हैं। थोड़े ही समयके लिए जब श्रीकृष्ण वनमें गौएँ चरानेके लिए चले जाते हैं, तो नन्दरानीकी चाल धीमी पड़ जाती है। मति कुछ स्तब्ध रहती है। आँखें कई बार स्थिर हो जाती हैं। श्वास गरम आने लगता है। अपने पुत्रकी अनिष्ट-शङ्कासे वे क्षुब्ध हो उठती हैं। श्रीकृष्णके मथुरा और वहाँसे द्वारका चले जानेपर तो उनके विषादकी सीमा न रही। वे कभी सोचतीं कि हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने पुत्रकी मनोहर जवानी नहीं देख सकी। उसके विवाहका सुख देखना मेरे भाग्यमें नहीं बदा था। मेरे जीवनको धिक्कार! मैं उसे अब अपनी गोदमें नहीं बैठा पाती। इन गौओंसे अब मेरा कौन काम है, जिनका दही और माखन चुराकर लुटानेवाला ही दूर चला गया।' कभी वे घरमें जाती हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरी अथवा छड़ीपर आँख चली जाती है, तो वे घण्टोंतक छड़ीकी तरह ही खड़ी रह जाती हैं, शरीर हिलता-डोलता तक नहीं। जड़ता दूर होनेपर वे बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगती हैं—'हे प्रभो, एक क्षणके लिए मेरे कन्हैयाको मेरी आँखोंके सामने ला दो; मैं जन्म-जन्म तुम्हारी ऋणियाँ रहूँगी।' वे कभी-कभी विरहकी ज्वालासे चञ्चल हो उठती हैं और नन्दबाबाको उलाहना देने लगती हैं कि 'तुमने मेरे हृदयको, जीवन-सर्वस्वको, आँखोंके तारेको मथुरामें क्यों छोड़ दिया? मेरे बच्चेको माखन-मिश्री मिलती होगी कि नहीं, क्या पता? तुम यहाँ गोष्ठमें बैठकर आराम कर रहे हो।' वे कभी-कभी उन्मत्त होकर वृक्षोंसे, हरिनोंसे पूछने लगतीं कि क्या तुमने कहीं मेरे श्यामसुन्दरको देखा है? वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि जब बहुत देरतक आँखें नहीं खुलतीं, तब नन्दबाबा अनेकों प्रकारके यत्न करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्का संयोग इस रसमें भी तीन प्रकारका ही माना गया है — सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। जब श्रीकृष्ण पहले-पहल मथुरामें गये तो वहाँकी वे स्त्रियाँ, जिनका उनमें पुत्रभाव था, स्नेहकी रसधारासे

आप्लावित हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा प्रवाहित होकर उनके वस्त्रोंको भिगोने लगी। कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा और श्रीकृष्णका मिलन हुआ, तो माँके हृदयमें कितनी तुष्टि और कितने रसका सञ्चार हुआ—वर्णन नहीं किया जा सकता। लोगोंने देखा यशोदाके नयनों और स्तनोंसे रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है और श्रीकृष्णका दिव्य अभिषेक सम्पन्न हो रहा है। श्रीकृष्णका नित्य-संयोग जो कि अन्तर्लीलामें सर्वदा एकरस रहता है, उसकी रसरूपताका, उसके आनन्दका वर्णन करना ही उसे नीचे उतारना है। प्रेम अन्तर्जगत्की वस्तु है। उसका कुछ बाह्यरूप है तो केवल सेवा। दास्यकी सेवामें और वात्सल्यकी सेवामें बड़ा अन्तर है। यह तो सख्यसे भी विलक्षण है। जिनके शुद्ध और भगवत्कृपापात्र हृदयमें इस भावका उदय और परिपोष हुआ है, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

बहुत-से काव्य-रसिकों और नाटयाचार्योंने भी वात्सल्य-भावके रसत्वको स्वीकार किया है। इस रसकी चमत्कारकारिता निर्विवाद है। दास्यरसमें यदि भगवत्प्रेमका स्फुरण न होता रहे, तो ऐसा समझना चाहिए कि दास्यरस अभी परिपुष्ट नहीं हुआ है। प्रेमकी स्फूर्ति बिना सख्य-रसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। परन्तु यह वात्सल्यरस उनकी अपेक्षा यह महान् विलक्षणता रखता है कि प्रतीति हो या न हो, यह ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। जिस समय माता अपने शिशुकी ताड़ना करती है, उसकी चञ्चलताओंसे घबराकर उसे डाँटती है—यहाँतक कि बाँध देती है और पीटती भी है—इन अवस्थाओंमें भी वात्सल्यभाव ज्यों-का-त्यों एकरस बना रहता है। यही इसकी अनन्यसाधारण विशेषता है। कभी-कभी यह दास्य और वात्सल्यसे मिश्रित ही होता है। किसीका सख्यप्रधान वात्सल्य, किसीका दास्य-प्रधान वात्सल्य और किसीका उभयप्रधान वात्सल्य। वात्सल्य-प्रधान सख्य और दास्य भी होते हैं। ये सब भेद और उनके उदाहरण श्रीरूपगोस्वामीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं।

मधुर रस

सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। इस रसका इतना अधिक विस्तार है कि यदि इसकी अवस्थाओंके केवल नाम ही गिनाये जायँ, तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ बन सकता है। इसलिए यहाँ संक्षेपसे उनकी कुछ थोड़ी-सी बातें ही लिखी जायँगी। इसके आलम्बन हैं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी त्रिभुवनमें किसीसे समता भी नहीं की जा सकती, उससे परेकी तो बात ही क्या? उनकी लीलाका माधुर्य लोकोत्तर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त मधुर, समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त बलवान्, नित्य-नूतन, नवयुवा और प्रेम-परवश, मदनमोहन श्यामसुन्दर। लहराते हुए बाल और फहराता हुआ पीताम्बर। जिसकी आँखें एक बार क्षणभरके लिए उन्हें देख लें, वह सर्वदाके लिए उन्हींपर निछावर हो जाता है। प्रेम करनेवालोंके अनुकूल, कृतज्ञ और रहस्यको गुप्त रखनेवाले यह मूर्तिमान् शृङ्गार

हैं अथवा प्रेम। अङ्ग-अङ्गसे उन्मादकारी रस, मधुमय आनन्द छलक रहा है। धीर, वीर और गम्भीर, ललित और उदात्तचरित्र। ये मोहन भला, किसका मन नहीं मोह लेते ? व्रजदेवियाँ तो इनपर निछावर हैं।

श्रीकृष्णकी वल्लभाएँ—द्वारकाकी, वृन्दावनकी-अत्यन्त प्रेममय, सहृदय और श्रीकृष्णको ही अपना जीवन-सर्वस्व माननेवाली, नित्य नवकिशोरावस्था। प्रतिक्षण माधुरीकी धारा प्रवाहित होती रहती है। हृदय प्रेम और आह्लादकी तरङ्गोंसे उच्छ्वलित। इनमें व्रजकी गोपियाँ प्रधान हैं, गोपियोंमें राधाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या ? वे भगवान्‌की स्वरूपभूता अह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण उनके अपने और वे श्रीकृष्णकी अपनी, श्रीकृष्ण राधा और राधा श्रीकृष्ण। भेद-भावकी माया-छायामात्र भी नहीं। ऐसी स्थितिमें राधाकृष्णके पारस्परिक भावको कहा जाय तो कैसे, सोचा जाय तो कैसे ? एक हीके दो रूप, दोके अनेक रूप, यही लीलाका स्वरूप है। सभी गोपियाँ राधाकी ही अंश-विशेष, शक्तिविशेष हैं। उनमें स्वकीया और परकीया भेद लीलामात्र है, सो भी लीलारसकी परिपुष्टिके लिए। एक गोपी कहती है कि नन्दरानी मुझसे बड़ा स्नेह करती हैं, सखियाँ मुझे प्राणोंसे भी प्रिय समझती हैं और वृन्दावन वैकुण्ठसे भी उत्तम है। परन्तु यदि कात्यायनीकी आराधनाके फलस्वरूप मयूरपिच्छधारी, गुञ्जाकी माला पहने हुए, मदनमोहन श्रीकृष्ण प्राणप्रियके रूपमें न मिलें तो इन सबसे मुझे क्या लाभ ? गोपियोंकी महिमा अनन्तकोटि मुखसे भी नहीं कही जा सकती। उनके प्रेमका उल्लास आर्यमर्यादाकी सीमा पार कर गया है। फिर भी सतीशिरोमणि अरुन्धती आदि श्रद्धापूर्ण हृदयसे उनके चरित्र और सौभाग्यकी महिमा गाकर अपनेको कृत-कृत्य समझती हैं। वे वनमें रहनेवाली गोपबालाएँ इतनी मधुर हैं, इतनी रसाप्लावित हैं कि लक्ष्मीका प्रेम-सौन्दर्य इनके सामने धूमिल पड़ जाता है। गोपियोंकी अपेक्षा भी श्रीकिशोरीजीकी विशेषता दिखलानेके लिए उज्ज्वल नीलमणिमें एक कथाका उल्लेख हुआ—

रासके समय भगवान् गोपियोंके प्रेमकी और भी अभिवृद्धि करनेके लिए एक कुञ्जमें जाकर छिप गये। गोपियोंको उनके बिना चैन कैसे पड़ती। वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुञ्जमें पहुँच गयीं, जिसमें श्रीकृष्ण छिपे हुए थे। अब पकड़े गये, तब पकड़े गये। नटवर श्रीकृष्णने वहीं एक लीला रच दी—द्विभुजसे चतुर्भुज हो गये। गोपियाँ देखकर सकुचा गयीं। उन्हें इस ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपसे क्या काम ? ये तो भक्ति-नम्र हृदयसे दण्डवत् प्रणाम करनेके योग्य हैं ! वे उनके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गयीं। जब यह बात राधाके कानों-तक पहुँची, तब उन्होंने कहा—'चलो तनिक मैं भी तो देखूँ, यहाँ ईश्वर अथवा विष्णुका क्या काम ? हो-न-हो हमारे नटवर मनमोहन श्यामसुन्दरकी ही कोई लीला होगी। श्रीकिशोरीजीके वहाँ पहुँचते ही श्रीकृष्णको यह बात भूल गयी कि मैं चतुर्भुज रूप धारण किये हुए हूँ। अपनी प्राणप्रियाके दर्शनमात्रसे उनके कृत्रिम ऐश्वर्यका लोप एवं सहज माधुर्यका उदय हो गया। यहीं गोपियों और श्रीराधाका अन्तर परिस्फुट हो जाता है। गोपियाँ ऐश्वर्य सहन नहीं कर सकतीं, उन्हें केवल माधुर्य चाहिए और श्रीजीके सामने ऐश्वर्य ठहर नहीं सकता, मधुर रूपमें रहनेके लिए ही श्रीकृष्ण विवश हैं। राधाका श्रीकृष्णके प्रति जितना अधिक प्रेम

है, उससे भी अधिक श्रीकृष्णका राधाके प्रति है। यहाँ न्यूनाधिक्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, दोनों प्रेम-स्वरूप हैं।

मधुर रसके उद्दीपनोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उनको बतलाना भी कठिन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें बहुत थोड़े-से लिखे जाते हैं—

१. थोड़ी सेवासे रीझना, असह्य अपराध हो जानेपर भी मुस्करा देना, दूसरेके लवमात्र दुःखसे भी कातर हो जाना इत्यादि भगवान्‌के स्वभावसिद्ध गुण हैं।

२. इतनी रसमयी, मधुमयी और अश्रुतपूर्व प्रेमपूर्ण वाणी, जो प्राणोंमें और हृदयमें अमृतका सिञ्चन करती है।

३. भगवान्‌की किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ, उनका रूप-लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मृदुलता आदि शारीरिक विशेषताएँ।

४. वंशीवादन, नृत्य, सुन्दर खेल, गोदोहन, गोवर्द्धन-उद्धार, गवाह्वान और मत्तगतिसे गमन इत्यादि लीलाएँ।

५. वस्त्र, आभूषण, माला, अनुलेपन आदि शारीरिक अलङ्कार।

६. वंशी और शृङ्गकी ध्वनि, मधुर गायन, शरीरकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणोंकी झनकार, चरण-चिह्न, उनका शिल्पकौशल आदि।

७. श्रीकृष्णका प्रसाद, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, धातुएँ, सखाओंका दीख जाना, गोधूलि, गोवर्द्धन, यमुना, कदम्ब, रासस्थली, वृन्दावन; भौंरे, हरिन, कुञ्ज, लताएँ आदि।

८. मेघ, विद्युत, वसन्त, चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, सुन्दर-सुन्दर पक्षी आदि।

अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं—अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक। भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात बिना प्रयास ही होनेवाले तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम आदि दस स्वाभाविक—ये बीस अलङ्कार कहे जाते हैं। शरीरपरसे वस्त्रका गिर जाना, बाल खुल जाना, अङ्ग टूटना, लम्बी साँस चलना—ये सब उद्भास्वर अनुभावके अन्तर्गत हैं। आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप आदि बारह प्रकारके वाचिक अनुभाव होते हैं। इनके अतिरिक्त मौग्ध्य और चकित नामके दो अनुभाव और भी होते हैं। अपने प्रियतमसे जानी हुई वस्तुको भी अज्ञानीके समान पूछना, यह मौग्ध्य है और भयका स्थान न होनेपर भी भयका बहाना करके प्रियतमके पास पहुँच जाना—जैसे भौंरेसे डरकर श्रीकृष्णसे लिपट जाना, यह चकित अनुभाव है। इस रसमें सभी प्रकारके सात्त्विक भाव उदय होते हैं—

१. स्तम्भ—हर्षसे, भयसे, आश्चर्यसे अथवा अमर्षसे स्तम्भित हो जाना।

२. स्वेद—भगवान्‌के संस्पर्श, दर्शन-आदिजनित आनन्दसे, भयसे अथवा क्रोधसे शरीरका पसीजने लगना।

३. रोमाञ्च—आश्चर्यसे, हर्षसे अथवा भयसे शरीरका रोमाञ्चित हो जाना।

४. स्वरभङ्ग—विषादसे, विस्मयसे, अमर्षसे, भयसे अथवा हर्षसे कण्ठका रुद्ध हो जाना, वाणीका स्वाभाविक ढंगसे नहीं निकलना।

५. कम्प—त्राससे, हर्षसे और अमर्षसे शरीरका काँपने लगना।

६. विवर्णता—विषादसे अथवा भयसे शरीरका विवर्ण हो जाना। (चेहरा फक हो जाना।)

७. अश्रुपात—हर्षसे, रोषसे, विषादसे आँसू गिरना।

८. प्रलय—सुखसे या दुःखसे शरीर और मनका अविचल हो जाना।

ये अपनी अभिव्यक्तिके तारतम्यसे धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सुदीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। यों तो सभी रसोंमें इन सात्त्विक भावोंका उदय होता है, परन्तु उनकी पूर्णता मधुर रसमें होती है। निर्वेद आदि तीसों भाव उग्रता और आलस्यको छोड़कर पूर्णरूपसे इस मधुर रसमें ही अभिव्यक्त होते हैं। यदि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव—सबके लक्षण और उदाहरणकी चर्चा की जाय तो विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है। एक-एकके अनेक-अनेक भेद होते हैं। जैसे निर्वेद ही अनेक कारणोंसे होता है। वियोगके कारण होनेवाले निर्वेदसे श्रीकिशोरीजी ललिता सखीसे कह रही हैं।

न क्षोदीयानपि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि॥

'हे सखी! मुझमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है, तुम विश्वास करो; मेरा श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम था और मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमपात्र थी, अपने इस सौभाग्यकी ख्यातिके लिए ही मैं रो रही हूँ। सखि! प्रेमकी यह कैसी विडम्बना है कि राग, स्वर, ताल और मूर्च्छनाके साथ बाँसुरीमें स्वरलहरी भरते हुए श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको देखे बिना ही, जीवनका सहारा टूट जानेपर भी मैं अपने प्राणरूपी कीड़ोंको जो मुझे निरन्तर डँस रहे हैं, धारण कर रही हूँ और इतना ही नहीं, उनका पालन कर रही हूँ। श्रीजीके इन बचनोंमें कितना निर्वेद है, इसका अनुभव कोई सुहृद ही कर सकता है। इसी प्रकार सभी भाव श्रीजीके और गोपियोंके जीवनमें व्यक्त हुए हैं।

इस रसमें मधुर रति ही स्थायिभाव है। उसके आविर्भावके सात कारण बतलाये गये हैं। यथा—

१. अभियोग—अपनी चेष्टाओंसे हृदगत भावोंका प्रकाश, वह चाहे प्रियतमके सम्मुख ही हो अथवा दूसरा कोई जाकर उससे कहे।

२. विषय—शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयोंमें-से किसी एकका या सबका आकर्षण—जैसे भगवान्‌की मधुर वाणी, वंशीध्वनि, अकस्मात् स्पर्श, सुन्दर रूपका दीख जाना इत्यादि।

३. सम्बन्ध—उनके कुल, रूप आदि सामग्रीके गौरवसे उनके साथ सम्बन्ध-स्थापन ।

४. अभिमान—संसारमें यदि बहुत-सी उत्तम और रमणीय वस्तुएँ हैं तो वे रहें, मुझे तो यही चाहिए—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ।

५. श्रीकृष्णकी विशेषताएँ—श्रीकृष्णके पदचिह्न, गोष्ठ और प्रियजन जो उनसे प्रेम करते हैं, उनका दर्शन, मिलन, वार्तालाप ।

६. उपमा—उनके समान कोई-सी भी वस्तु देखकर उनकी स्मृतिमें तल्लीन हो जाना । जैसे बादल देखकर घनश्यामकी स्फूर्ति, कमल देखकर कमलके समान नयनोंकी स्फूर्ति—इत्यादि ।

७. स्वभाव—यह दो प्रकारका होता है, एक निसर्ग और दूसरा स्वरूप । दृढ़ अभ्यास करते-करते जो संस्कार बन गये हैं, गुण, रूप और नामके किञ्चित् श्रवणमात्रसे उनका उद्बोधन निसर्गके नामसे कहा जाता है—जैसे रुक्मिणीका । स्वरूप वह है जिसमें किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती, स्वतःसिद्ध प्रेमभाव होता है—जैसे व्रजदेवियोंका ।

मधुर रति ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें परिणत होती है । उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है कि जैसे ईखका नन्हा-सा अंकुर क्रमशः ईख, रस, गुड़, खाँड़, चीनी, मिश्री और ओलेका रूप धारण करता है, वैसे ही यह रति भी भावके रूपमें परिणत होकर पूर्णताको प्राप्त होती है । रतिसे भावपर्यन्त सभी प्रेम शब्दके द्वारा कहे जाते हैं । प्रेमी और प्रियतमके उस भावसम्बन्धको, जो नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रेम कहते हैं । इसके प्रौढ़, मध्य और मन्द—तीन भेद होते हैं । वियोगकी असहिष्णुता, दुःखपूर्वक सहिष्णुता और यदा-कदा किञ्चित् विस्मृति—क्रमशः यही तीनोंके स्वरूप हैं । यही प्रेम जब और भी उद्दीप्त होकर हृदयको अतिशय द्रवित कर देता है, जिससे दर्शन-स्पर्शमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, तब उसे स्नेह कहते हैं । इसके तीन भेद होते हैं—अङ्गसङ्गमें अतृप्ति, दर्शनमें अतृप्ति और नाम-गुणके श्रवण आदिमें अतृप्ति । ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । स्नेह दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह । पहलेमें कुछ आदरभाव रहता है और दूसरेमें केवल अतिशय ममता । घृतस्नेहमें थोड़ा उन्माद और अपनापन भी रहता है । घृतस्नेहमें 'मैं उनका हूँ' यह भाव रहता है और मधुस्नेहमें 'वे मेरे हैं', यह भाव रहता है । स्नेह ही उत्कर्षको प्राप्त होकर नवीन माधुर्यके साथ मानके रूपमें प्रकट होता है । इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित ! उदात्त मानमें घृतस्नेहकी विशेषता रहती है—अनुकूलता अधिक और प्रतिकूलता कम । ललित मानमें मधुस्नेहकी प्रधानता रहती है—प्रतिकूलता अधिक और अनुकूलता कम । यही मान जब सम्भ्रम-रहित होकर अत्यन्त विश्वासके साथ परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्रणय नाम धारण करता है । प्रणय दो प्रकारका होता है—मैत्र और सख्य । विनययुक्त विश्वास मैत्र है और प्रियतमको अपने वशमें रखनेवाला उन्मुक्त विश्वास सख्य है । यह प्रणय ही आगे चलकर रागके रूपमें अनुभवका विषय होता है ।

जिसमें अधिक-से-अधिक दुःख भी सुखके रूपमें ही अनुभव होने लगता है, प्रणयकी उस उत्कृष्ट अवस्थाको ही राग कहते हैं। यही गुप्त रहनेपर नीली राग और प्रकट होनेपर श्यामा रागके नामसे कहा जाता है। और भी इसके अनेकों भेद हैं। यह राग प्रतिक्षण वर्द्धमान और नवनवायमान होकर अनुरागके रूपमें प्रकट होता है। यह प्रतिक्षण अनुभूयमान प्रिय-समागमको और प्रियतमको भी नित्य नूतन बनाता रहता है। इस अवस्थामें ऐसा मालूम होता है—अभी मिलन हुआ है, अभी मैंने पहले-पहले देखा है। इसमें प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके अधीन रहते हैं। प्रियतमके सम्मुख रहनेपर भी वियोगकी आशङ्कासे मृत्युके समान दुःखका अनुभव होने लगता है और इस अवस्थाको देखकर स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी चकित-स्तम्भित रह जाते हैं। इसीका नाम प्रेमवैचित्त्य है। अनुरागको इस स्थितिमें संयोग होनेपर भी अतृप्तिकी सीमा नहीं रहती। ऐसी लालसा होती है—यदि मैं बाँस बन जाती तो बाँसुरीके रूपमें नित्य-निरन्तर प्रियतमके अधरोंकी सुधा-मधुरिमाका आस्वादन करती रहती। यदि कहीं इस अवस्थामें प्रियतमका विछोह हुआ तो जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उनके दर्शन होते हैं। इसी अवस्थाके सम्बन्धमें कहा गया है कि संयोगसे वियोग ही उत्तम है; क्योंकि सयोगमें अपने प्राणनाथ अकेले रहते हैं और वियोगमें सारा संसार ही उनका रूप हो जाता है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय हैं, तथापि अबतक जिनका वर्णन हुआ है, वे रसिकोंके द्वारा अनुमेय तथा ज्ञेय हैं। भगवान्की द्वारकास्थित नित्य सहचरियोंमें भी इनका प्रकाश होता है और व्रजदेवियोंमें तो ये सहज स्वभावसिद्ध रूपसे ही रहती हैं। यह अनुराग ही जब परसंवेद्यतासे ऊपर उठकर स्वसंवेद्य रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, तब प्रेमी अनुरागीके रूपमें न रहकर अनुरागस्वरूप हो जाता है, श्रीकृष्णकी अनुभूतिका सुख, प्रेमकी अनुभूतिका सुख और सुखकी ऐसी अनुभूति होती है जिसे अनुभूति कहना भी नहीं बनता, तब उस अनुरागकी ही भाव संज्ञा होती है। द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंके लिए भी यह अत्यन्त दुर्लभ है, व्रजकी देवियोंमें इसीका नाम महाभाव है। दूसरे किसीको भी इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह अमृतस्वरूप श्रेष्ठ रस है, इसे आनन्दकी सीमा कहते हैं। इसमें दिव्य प्रेमी दिव्यतास्वरूप ही होता है। इसके दो भेद हैं—रूढ महाभाव और अधिरूढ महाभाव। जिस महाभावमें सात्त्विक भाव उद्दीप्त रहते हैं, उसे रूढ महाभाव कहते हैं। इसमें प्रियतमके दर्शन-सुखमें बाधक होनेके कारण पलकोंका गिरना भी असह्य हो जाता है—'यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।' इस स्थितिके प्रेमीको—व्रजदेवियोंको देखनेवाले प्रेम-समुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं। स्वयं लक्ष्मी भी चकित—स्तम्भित हो जाती हैं। इस परम रसमें कल्पान्त-पर्यन्त मग्न रहनेपर भी एक क्षण-जितना भी मालूम नहीं होता। प्रियतमको सुख मिलनेपर भी कहीं उन्हें कष्ट न पहुँच जाय, इस आशंकासे खेद होने लगता है। गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरण-कमल रखते समय डरने लगती हैं कि कहीं इसकी कर्कशता उनके दुःखका कारण न हो जाय—'भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।' प्रेमकी इस सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें, जहाँ मोह आदि प्राकृत भावोंका

प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है, अपनेको, परायेको, सबको भूल जाना और श्रीकृष्णके बिना एक क्षणका भी कल्पसे अधिक मालूम होना इस रूढ महाभावकी असाधारण विशेषता है—'त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम् ।'

रूढ महाभावमें जो अनुभाव होते हैं, उनकी अपेक्षा और भी विशिष्ट—जिनका निर्वाचन नहीं किया जा सकता—अधिरूढ महाभावमें प्रकट होते हैं। यदि समस्त मोक्षसुख अथवा ब्रह्मसुखको और त्रैकालिक संसार-सुखको एक स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय और संसारके समस्त त्रैकालिक दुःखोंको दूसरे स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय तो ये दोनों ही इस अधिरूढ महाभावके सुख-दुःखरूपी महासागरकी एक बूँदके समान भी नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँका दुःख जागतिक दुःख-जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह भी दिव्य रसका ही एक रूप है। इस दुःखके लेशमात्रकी समतामें संसारके समस्त सुख तुच्छ हैं। इसीसे यह दुःख भी परम पुरुषार्थ प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप है। अधिरूढ महाभावके दो प्रकार हैं—मोदन और मादन। जिसमें सात्त्विक भाव प्रेमी और प्रियतम दोनोंमें ही सूद्दीप्तरूपसे प्रकट रहते हैं, दोनों ही स्तम्भित-कम्पित रहते हैं, उसको मोदन कहते हैं। दोनोंको इस अवस्थामें देखकर प्रेमी भी विक्षुब्ध हो जाते हैं। दोनोंके प्रेमकी सम्पत्ति समस्त चराचरकी प्रेम-सम्पत्तिसे बढ़ जाती है। यह मोदन ही विरहकी अवस्थामें मोदन कहा जाता है। इसमें भी विरहकी विवशतासे प्रिया-प्रियतम दोनोंमें ही सात्त्विक भाव सूद्दीप्त रहते हैं। इसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण हैं। इस मोदन-दशामें द्वारकास्थित अन्य पत्नियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी राधाका स्मरण करके श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं वृन्दावनमें यमुनातटवर्त्ती निकुञ्जमें श्रीजीके साथ रास-विलास कर रहा हूँ। असह्य दुःख स्वीकार करके भी जिस प्रकार अपने प्रियतम सुखी हों, वही चेष्टा इसमें की जाती है। इस सम्बन्धमें गोपियोंका कितना सुन्दर भाव है, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनने योग्य है—

> स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि ।
> अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु ॥

'यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन आजायें तो हमें बड़ा सुख होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यदि यहाँ आनेसे उनकी तनिक भी क्षति हो, तो वे यहाँ कभी न आवें। यद्यपि उनके यहाँ न आनेसे हमें महान् दुःख होगा, तथापि यदि वहाँ रहनेमें ही सुख होता है तो वे सुखपूर्वक वहीं निवास करें।' कहना न होगा कि गोपियोंका यह भाव प्रेमकी अत्यन्त ऊँची स्थितिका उद्गार है। इस स्थितिके प्रेमीका जीवन, उसका श्वास-प्रश्वास निखिल ब्रह्माण्डमें प्रेमका सञ्चार कर देता है। इस अवस्थाका प्रेमी जब तारस्वरसे रुदन करने लगता है, तब पशु-पक्षी भी—यहाँतक कि लता-वृक्ष भी उसके साथ रोने लगते हैं। प्रेमी अपनी मृत्युकी आशङ्कासे इस जन्ममें प्रियतमका मिलना असम्भव देखकर यह अभिलाषा करने लगता है कि मेरे शरीरके पञ्चभूत मृत्युके पश्चात् भी प्रियतमकी सन्निधिमें रहकर उनकी सेवामें लगें—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

'शरीरकी मृत्यु हो जाय, पाँचों भूत अपने-अपने मूल कारणमें विलीन हो जायँ—इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उनके सम्बन्धमें परमात्माको प्रणाम करके मैं एक वरदानकी प्रार्थना करता हूँ। जिस बावलीका वे जल पीते हैं उसमें मेरे शरीरका जलांश, जिस दर्पणमें वे अपना मुख देखते हैं उसमें मेरे शरीरकी ज्योति, उनके आँगनके आकाशमें मेरे शरीरका आकाश, उनके मार्गमें मेरे शरीरकी मिट्टी और उसके पंखेमें मेरे शरीरकी हवा मिल जाय।' प्रेमकी कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! यही मोदन दशा आगे चलकर दिव्योन्मादका रूप धारण करती है। इसमें प्रेमी प्रियतमके लिए उनके न होनेपर भी शय्या सज्जित करता है, अपना शृङ्गार करता है और विरहोद्भ्रान्त होकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। प्रियतमके सुहृदोंको देखकर अनेकों प्रकारके प्रलाप करने लगता है। जल्प, प्रजल्प आदिके भेदसे वे दस प्रकारके होते हैं, जो श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धान्तर्गत भ्रमरगीतमें सुस्पष्टरूपसे प्रकट हुए हैं। प्रायः ये भाव श्रीराधामें ही पूर्णरूपसे प्रकाश पाते हैं।

रतिसे लेकर महाभावपर्यन्त जितने भी भाव हैं वे सब जब उल्लसित हो जाते हैं, तब संयोग-अवस्थामें आह्लादिनीका सार एवं सर्वश्रेष्ठ मादन नामका परात्पर भाव उदय होता है। इसका उदय राधाके अतिरिक्त किसीमें नहीं होता। इसकी स्थिति विचित्र ही होती है। भगवान्का सर्वदा संयोग रहनेपर भी उनके वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान वनमालाके साथ इस अवस्थामें ईर्ष्या होने लगती है और ऐसे भाव उठने लगते हैं, कि 'री वनमाले! तू हमारा तिरस्कार करके नित्य-निरन्तर प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करती रहती है। यह तो हम लोगोंके प्रति तुम्हारा विद्वेष है।' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अवस्थाके ईर्ष्यादि भाव भी दिव्य ही होते हैं। इस मादनकी अनेकों दशाएँ हैं और अनिर्वचनीय गतियाँ हैं। संयोगलीलाके अधिकांश भेद इसीके अन्तर्गत हैं। लीलाभेदसे जो भावभेद होते हैं, उनकी कल्पना भी साधारण चित्तमें नहीं आ सकती। मधुररसमें यही सब लोकोत्तर चमत्कारी भाव, जो कि रसरूप हैं, विकास और पूर्णताको प्राप्त होते हैं। श्रीराधाजी महाभाव-स्वरूपिणी हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें समस्त भावोंकी अपेक्षा इस महाभावकी उत्कृष्टताका वर्णन करके कहा गया है।

ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम। आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान ॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि। सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानि ॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित। कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित ॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि-सार। कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य यार ॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप। ललितादि सखी यार कायव्यूहरूप ॥

यह मधुर महाभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुर रस, उज्ज्वल रस अथवा दिव्य शृङ्गार रसके

नामसे कही जाती है। यद्यपि इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, तथापि संयोगकी परिपुष्टिके लिए वह भी होता है। इसलिए इस रसके दो भेद हो जाते हैं—एक तो संयोग और दूसरा वियोग। वियोगकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे, स्वप्न-दर्शनसे अथवा चित्र-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती है। वन्दीजन, दूती, सखी और किसी गायकके मुखसे श्रीकृष्णके सद्गुण, सौन्दर्य आदिका श्रवण करनेसे भी पूर्वरागका सञ्चार होता है। मधुर रतिके उदयके प्रसंगमें जो अभियोग आदि हेतु बतलाये गये हैं, वे सब इसमें भी कारण हैं। यह प्रौढ़, समञ्जस और साधारण भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसमें व्याधि, शङ्का, असूया आदि सभी सञ्चारी भावोंका उदय होता है। प्रियतमकी प्राप्तिके लिए लालायित रहना, चित्तका उद्विग्न होना, नींद न आना, शरीरका दुबलापन, जड़ हो जाना, चित्तका व्यग्र होना, शारीरिक व्याधि, उन्माद, बेहोशी और मृत्युपर्यन्त तककी अवस्थाएँ पूर्वरागमें भी प्राप्त होती हैं। प्रियतमका स्मरण, उनकी प्राप्तिके उपायकी चिन्ता, उनके गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन, पत्र-प्रेषण, मालार्पण आदि इसके विशेष चिह्न हैं। मानका प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध है और भावोंके प्रसंगमें प्रेमवैचित्त्यका उल्लेख किया जा चुका है। इसलिए उनका पिष्टपेषण उचित नहीं जान पड़ता।

मिलनके पश्चात् प्रिया-प्रियतमके समागममें जो व्यवधान होता है, उसे प्रवास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो जान-बूझकर और दूसरा विवशतासे अनजानमें। थोड़ी दूर और थोड़ी देरका प्रवास एवं बहुत दूर और बहुत दिनोंका प्रवास; इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानका प्रवास; दैवी कारणोंसे अथवा लौकिक कारणोंसे प्रवास। इन सभी प्रवासोंमें श्रीकृष्णकी ही चिन्ता, जागते रहनेके कारण स्वप्नमें भी नहीं आना, हृदयमें आग जलती रहना, शरीरका सूख जाना, मैला-कुचैला रहना, प्रलाप करना और हृदयमें अत्यन्त सन्ताप रहना—यही सब दशाएँ होती हैं। श्रीराधा ललितासे अपनी व्याधिका वर्णन कर रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविशूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

'जो स्वर्णके जलते हुए द्रवसे भी अधिक तापकारी है, कालकूट विषसे भी अधिक क्षुब्ध करनेवाला है, वज्रसे भी अधिक दुस्सह है, हृदयमें बिंधे हुए शल्यसे भी अधिक तीखा है और उग्र विषूचिकाओंके समूहसे भी अधिक तीव्र है, वही यह श्रीकृष्णके वियोगका तीव्र ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको बेध रहा है।

श्रीकृष्णके वियोगमें कभी हँसना, कभी रोना, निष्प्रयोजन भटकना, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षोंसे भी प्रियतमका पता पूछना और जमीनमें लोटना आदि उन्मादके बहुत-से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। दुःखकी अधिकतासे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञानशून्य हो जाना, मर जाना और मरकर फिर जीना और फिर वही अवस्था।

इस पकार एक क्षणके लिए भी विरहके पंजेसे छुटकारा नहीं मिलता। प्रेमकी सभी अवस्थाओंमें वियोगकी मर्मवेधिनी पीड़ा होती है और उनके अनुभव भी प्रकट होते हैं। अधिरूढ महाभावमें मोदन दशाका वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसे यहाँ स्मरण कर लेना चाहिए और ऐसा समझना चाहिए कि वह तो बहुत कम है। विरहकी वेदना कोई विरही ही जान सकता है, सो भी यदि उसी श्रेणीका हो। प्रकट लीलाके अनुसार विरहकी परिपूर्णता व्रजदेवियोंमें ही देखी जाती है। अन्तर्लीलामें तो उनका एकरस विहार सदा-सर्वदा चलता ही रहता है!

भगवान्‌का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुररसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। वैसे तो सभी रस हैं। परन्तु यह रसराजकी भी सरस अवस्था है। यह दिव्य उज्ज्वल शृङ्गार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा और कहीं नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्‌के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वप्नका संयोग अत्यन्त गौण है। फिर भी भगवान्‌के साथ मानस-संयोग होनेके कारण उसकी रसरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जागरणमें जितने प्रकारके संयोग और उसकी लीलाएँ हो सकती हैं, उनसे भी अधिक स्वप्नमें सम्भव हैं। प्रेमियोंका स्वप्न साधारण स्वप्न नहीं है। मूढ़ पुरुषोंके जागरण और योगियोंकी समाधिसे भी उसका ऊँचा स्थान है। प्रेमियोंका दिव्य मन समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से ऊपर उठा हुआ, दिव्य होता है। अन्तः-करणके साधारण विकार स्वप्नका उस प्रेमराज्यमें प्रवेश नहीं है। इसलिए प्रेमियोंका भगवत्संयोगरूप दिव्य स्वप्न भी अलौकिक ही होता है।

जाग्रत् अवस्थामें चार प्रकारके संयोग होते हैं—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण सम्पन्न और समृद्धिमान्। व्रज-देवियोंके जीवनमें ये सभी अपने अवान्तर भेदोंसहित अनुभवके विषय होते हैं। उनका वर्णन लेखविस्तारभयसे नहीं किया जाता। संयोगकी लीलामें प्रियतमका दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, उनका स्पर्श, उनके साथ वृन्दावनके निकुञ्जोंमें रहस्य-क्रीड़ा, जल-विहार, रासलीला, नौकालीला, वेषपरिवर्त्तन, कपटशयन, वंशी-चौर्य, मार्गरोधन आदि अनेकों लीलाएँ होती हैं—जिनका अनुभव कोई गोपीभावापन्न सरसहृदय प्रेमी ही कर सकता है। भगवान्‌के लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें इन लीलाओंका अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णन हुआ है। मधुररसके रसिकोंको वहींसे उनका आस्वादन करना चाहिए।

यहाँतक हमने भक्तिरसकी जिन पाँच धाराओंमें अवगाहन किया है और जिनमें डूब-डूबकर सम्पूर्ण प्राणसे और उन्मुक्त हृदयसे रसास्वादन किया है, वे सब-के-सब स्वर्गीय सुधा और मोक्षसुखको भी तिरस्कृत करनेवाले परमामृतस्वरूप दिव्य रस हैं—इसमें सन्देह नहीं। इनमें उत्कृष्ट और निकृष्टका भेद करनेका हमें कोई अधिकार नहीं। जिस प्रेमीको जिस रसकी अनुभूति हुई है, उस रसके रूपमें उसे भगवान्‌की ही अनुभूति हुई है; क्योंकि भगवान् ही रसस्वरूप हैं। उनकी अनुभूति ही वास्तविक रसानुभूति है। इसलिए

हम नम्र हृदयसे प्रेमपरिप्लुत होकर उनके प्रेमको ही, युगल सरकारके उस लोकोत्तर महाभावस्वरूपको ही प्रणाम करें—

> आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं
> पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
> तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासम्पदं मादनत्वा-
> दद्वैतं नौमि राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम् ॥[1]

एतवान् एव !

श्रीमद्भागवत स्वयं ही सार-ग्रन्थ है। भगवत्स्वरूप होनेके कारण इसके किसी भी अंशमें कुछ भी त्याज्य नहीं है। यदि इसके किसी अंशमें किसीको कुछ त्याज्य प्रतीत होता है तो वह उसकी दृष्टिका दोष हैं, जैसे श्यामसुन्दरके परम सुकुमार श्रीविग्रहमें कंसको केवल अपनी मृत्यु ही दीख रही थी। ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवतसे कुछ थोड़ा-सा संग्रह करके यह कह देना कि इतना ही भागवतका सार है, साहसमात्र है। फिर भी श्रीमद्भागवतमें कुछ बातोंका उल्लेख करके स्पष्ट कर दिया गया है कि इसका तात्पर्य बस इतना ही हैं। इसके लिए मूलके अनेक स्थानोंमें 'एतावानेव' पदका प्रयोग हुआ है। उन्हें ही यहाँ नमूनेके तौरपर उद्धृत किया जाता है—

१. जीवका परम कल्याण क्या है ?

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः। भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥
(२.३.११)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः। तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥
(३.२५.४४)

पहले श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जो लोग अपने परम कल्याणकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील हैं उनके परम कल्याणका उदय बस, इतना ही है कि भगवान्‌में उनकी भाव-भक्ति अविचल हो जाय। इसका साधन बतलाया गया है—भगवान्‌के प्यारे भक्तोंका सङ्ग अथवा श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त साधनाओंका लक्ष्य चाहे वे क्रियाके रूपमें हों चाहे भावनाके रूपमें, स्वयं श्रीभगवान् ही हैं। उनमें अचल स्थिति या निष्ठा हो जाना ही प्रयत्नकी परिसमाप्ति है। इस युगमें जब कि समष्टिमें ही

---

१. इस विषयमें जिनको विशेष जानना हो, वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' नामक संस्कृत ग्रन्थोंको पढ़ें।

घोर रजोगुण और तमोगुणका प्रवाह प्रबल हो रहा है, सुगम-से-सुगम और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन भी सत्सङ्ग ही है। यदि सन्तोंकी पहचान न हो, उनके सङ्गकी सुविधा न हो तो श्रीमद्भागवत-शास्त्रका स्वाध्याय भी परम कल्याणके उदय और भक्तिभावकी स्थिरतामें सत्सङ्ग-जैसा ही सहायक है। यह सबके लिए सुगम और निरापद भी है। अपने अधिकारके अनुसार इनकी शरण ग्रहण करना चाहिए। दूसरे श्लोकमें केवल साधकोंके लिए ही नहीं, समस्त जीवोंके लिए ही, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, परम कल्याणका निर्देश है। परन्तु उनके लिए साधनोंके लिए तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यह निश्चित है कि अपना सम्पूर्ण जीवन चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, भगवान्‌को समर्पित कर देना होगा। बिना आत्म-समर्पणके अभिमानी जीव कभी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। समर्पण भी ऐसा जो स्थिर हो, जिसके बाद कभी अहङ्कारका उदय न हो। ऐसा आत्मसमर्पण भगवान्‌के आज्ञा-पालनरूप तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानसे ही सम्भव है। यही बात दूसरे श्लोकमें समस्त जीवोंके परम कल्याणके नामसे कही गयी है।

२. जीवका धर्म क्या है ?

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः। यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥
(६.१०.९)

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते। (४.२७.२६)
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्। (८.७.२८)
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्। (६.५.४४)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(६.३.२२)

एक शरीर और उसके सम्बन्धियोंमें क्रमशः अहंता और ममता करके जीवने स्वयं ही अपने-आपको संसारबन्धनमें जकड़ लिया है। अब धर्मका काम यह है कि जीवकी अहंता और ममताको शिथिल करके उसे संसारके बन्धनसे सर्वदाके लिए छुड़ा दे। ऐसे धर्मको ही अविनाशी धर्म कहते हैं और जगत्‌के परम यशस्वी महात्मा उसीका अनुष्ठान करते रहे हैं। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि केवल अपने सुखसे फूल न उठे और अपने ही दुःखसे मुरझा न जाय। समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखके साथ अपना नाता जोड़ दें। सबके सुखमें सुखी हो और सबके दुःखमें दुःखी। इससे अहंकारका बन्धन कटता है और ममता भी शिथिल पड़ती है। यही बात पहले श्लोकमें बतलायी गयी है। परन्तु इतना ही धर्म नहीं है। धर्मकी गति इससे आगे भी है। बहुत-से पशु भी दूसरोंके सुखसे सुखी और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं, परन्तु मनुष्य अपनेको सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ मानता है। इसलिए उसमें कुछ विशेषता होनी चाहिए। वह विशेषता क्या है? बस, इतनी ही कि किसीको दुःखी देखकर उसका हृदय दयासे द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूतिके भावसे भर जाय। यद्यपि सहानुभूति भी एक बहुत बड़ा बल है, इससे दुःखियोंको बड़ी शक्ति

प्राप्त होती है, तथापि जो कुछ प्रत्यक्ष सहायता कर सकते हैं, उनकी ओरसे केवल मानसिक या वाचनिक सहायता प्राप्त होना ही पर्याप्त नहीं है। उनकी प्रभुता या ऐश्वर्यकी सफलता इसीमें है कि वे तन मन, धनसे दीनोंकी रक्षा करें। जो सामर्थ्य होनेपर भी दीन-दुःखियोंकी रक्षाका कार्य नहीं करते, उनका सामर्थ्य व्यर्थ है; उन्होंने अपने धर्मका पालन न करके पाप कमाया।

श्रीमद्भागवतमें यह बात स्थान-स्थानपर बहुत ही जोर देकर कही गयी है कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्वयं परमात्माका ही निवास है, इसीलिए यथाशक्ति दान और सम्मानके द्वारा सभीकी पूजा करनी चाहिए। इस सम्बन्धमें यहाँतक कहा गया है कि जो दुःखी प्राणियोंकी उपेक्षा करके अथवा किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव रखकर केवल सूखे पूजा-पाठमें लगे रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और न तो उन्हें परमात्माकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है (देखिये तीसरेस्कन्धका उन्तीसवाँ अध्याय)। चौथे स्कन्धमें तो इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि चारों वेदोंका ज्ञाता और समदर्शी महात्मा भी यदि दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करता है तो उसका सारा वेदज्ञान नष्ट और निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे फूटे घड़ेसे पानी बह जाता है। जो लोग सांसारिक सम्पत्ति और ऐश्वर्यको अपना मानकर अभिमानसे फूले हुए हैं और दीन-दुःखियोंकी सहायता नहीं करते, उन्हें श्रीमद्भागवतके इस वचनपर ध्यान देना चाहिए—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः । आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥
(७.१४.८-९)

'मनुष्योंका अपनी सम्पत्तिपर उतना ही हक है जितनेसे उनका पेट भर जाय। जो इससे अधिक अपना मानते हैं, वे चोर हैं और दण्डके पात्र हैं। हरिण, ऊँट, गदहा, वानर, चूहा, रेंगनेवाले कीड़े, पक्षी, मक्खी—और तो क्या, सभी प्राणियोंको अपने पुत्रके समान ही देखना चाहिए। भला! अपने पुत्रोंमें और इनमें अन्तर ही कितना है।' यह उपदेश गृहस्थोंके लिए है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वे जैसे स्वयं भोजन करते हैं, वैसे ही सबके भोजनका ध्यान रक्खें। जैसे अपने शरीर और पुत्रके शरीरके कष्टसे पीड़ित होते हैं और उसका उपचार करते हैं, वैसे ही दूसरोंके लिए भी करें। इतना ही नहीं, श्रीमद्भागवतके ऊपर उद्धृत चौथे श्लोककी अर्धालीमें तो यह बात कही गयी है कि प्रशंसनीय तो वह है कि अपने कष्टोंको मिटानेकी क्षमता होनेपर भी उन्हें सहन करे। अर्थात् स्वयं दुःख सहन करके दूसरोंका दुःख मिटावे, अपनी इच्छा अपूर्ण रखकर दूसरेकी इच्छा पूर्ण करे। यह सत्य है कि इससे अपनी साम्पत्तिक, परिवारिक और शारीरिक हानि होनेकी सम्भावना है; परन्तु उस लाभके सामने, जो इससे स्वयं होता है, कुछ भी नहीं है। क्योंकि हानि तो होती है केवल सांसारिक पदार्थोंकी और लाभ होता है परमार्थका। जो मनुष्य सर्वस्व

त्यागकर और कष्ट उठाकर दूसरोंका भला करता है, उसे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, समता आदि आदर्श सद्गुण स्वयं ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पन्न होती है और मनुष्य अपने धर्म-पालनके द्वारा परम कल्याणका अधिकारी होता है।

यह तो हुई सामान्य धर्मकी बात। एक परम धर्म भी है, जिसका संकेत पूर्व उद्धृत पाँचवें श्लोकमें किया गया है। एक तो कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म मिलना ही कठिन, दूसरे मनुष्यका जन्म। मनुष्यका जन्म प्राप्त करके अपने धर्मका पालन करना और भी दुर्लभ है। परम धर्मका तो ज्ञान भी बड़े सौभाग्यसे होता है, वह श्रीमद्भागवतमें सुनिश्चितरूपसे बतलाया गया है। ब्रह्माजी बार-बार शास्त्रोंका आलोचन करके इसी निश्चयपर पहुँचे कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य भगवान्के निरन्तर स्मरणमें ही है। स्मरणका स्वरूप क्या है? जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है, जैसे तेलकी धारा अविच्छिन्नरूपसे एक पात्रसे दूसरे पात्रमें जाती है, वैसे ही बिना किसी फलका अनुसन्धान किये चित्तवृत्तियाँ नित्य-निरन्तर भगवान्को ही विषय करती रहें, उन्हींके चिन्तनमें तन्मय रहें—यही है भक्तियोगका स्वरूप। इसे ही उपर्युक्त श्लोकमें परम धर्मके नामसे कहा गया है। इसका साधन क्या है? सभी शास्त्रोक्त साधन हैं। अभी-अभी जिस धर्म-पालनकी चर्चा की गयी है, उसका पर्यवसान भी इसीमें है। परन्तु उन समस्त साधनोंमें सबसे श्रेष्ठ है—भगवान्के नामोंका जप, कीर्तन, अर्थ-चिन्तन। वृत्तियोंको निरन्तर भगवान्में लगाये रखनेके लिए इससे सरल कोई साधना नहीं है। इस प्रकार इस प्रसंगमें मनुष्यके लिए धर्म, परम धर्म और उसके साधनका संक्षेपमें निर्देश किया गया है।

३. योग क्या और किसलिए ?

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः। सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥
(११.१३.१४)

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः। युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥
(३.३२.२७)

भगवान् श्रीकृष्ण योगका बस, इतना ही स्वरूप बतलाते हैं कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् भगवान्में प्रविष्ट कर दिया जाय। मनको लगानेका उपाय चाहे कोई भी हो, जीवोंका मन स्वभावसे ही जड़ विषयोंकी ओर ही दौड़ता है और उन्हींमें लगता भी है। यदि योग-साधनाके द्वारा भी मनको जड़ विषयोंमें ही लगाया गया तो सारा प्रयास व्यर्थ ही समझना चाहिए। सविकल्प समाधिपर्यन्त जितनी भी स्थितियाँ हैं, सब-की-सब कुछ-न-कुछ जड़ता लिये हुए हैं। योगकी रीतिसे निर्विकल्प स्वरूपसे अवस्थान ही अखण्ड निर्विकल्प समाधि है और वास्तवमें वही विशुद्ध चेतनकी स्थिति भी है। कर्मयोगसे, अष्टांगयोगसे, भक्तियोगसे अथवा ज्ञानयोगसे वही स्थिति प्राप्त करनी है। भगवान्के निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार

स्वरूपकी अनुभूति किसी भी जड़ स्थितिमें नहीं होती, उसके लिए विशुद्ध चेतनकी स्थिति अनिवार्य है। जीव और भगवान्‌का उसी स्थितिमें वास्तविक मिलन होता है, इसलिए उसे योगके नामसे कहते हैं।

दूसरे श्लोकमें समग्र योगका उद्देश्य बतलाया गया है। योगके द्वारा होता क्या है? समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से असङ्गता। सङ्ग ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यह प्रकृति और प्राकृत पदार्थ मैं हूँ, अथवा यह मेरे हैं; यही संगका स्वरूप है। इस बातको तनिक स्पष्ट समझ लेना चाहिए। व्यवहारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं। एक तो प्राकृतिक और दूसरे प्रातीतिक। उदाहरणके लिए पृथवीको लीजिये। पृथवी एक प्राकृतिक पदार्थ है। यह केवल प्रकृतिकी है अथवा भगवान्‌की है। यह न किसीके साथ गयी और न जायगी, फिर भी लोग इसे अपनी मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि इतनी पृथवी मेरी है। यह मेरे-पनकी भावना नितान्त प्रातीतिक है और यही समस्त दुःखोंका मूल भी है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मन आदिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इनके प्रति अहंता-ममता जोड़ लेना ही संग है। जब योगके द्वारा बहिर्मुखता घटती है और अन्तर्मुखताकी वृद्धि होती है, तब स्वयं ही बाह्य पदार्थोंसे आसक्ति छूटने लगती है और अन्ततः विशुद्ध चित्स्वरूप एवं असंग आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जबतक असंगता प्राप्त नहीं होती, तबतक योगका लक्षण अपूर्व ही समझना चाहिए। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें अन्तर्मुखताकी सीमा तो भगवान्‌में मनका लग जाना बतलाया है और योगका स्वरूप बतलाया है—समस्त प्रकृति और प्राकृत सम्बन्धोंसे अलग हो जाना।

४. जीवका परम स्वार्थ और परमार्थ क्या है?

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः। स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥

(६.१६.६२)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

(७.७.५५)

जिन मनुष्योंकी बुद्धि योगमें निपुणता प्राप्त कर चुकी है, उनके लिए सब प्रकारसे बस इतना ही अपना स्वार्थ और परमार्थ है कि वे अपनी आत्मा और परमात्माके एकत्वका साक्षात्कार करें। पहले यह बात कही जा चुकी है कि योग अन्तर्मुखताकी सीमा है। अन्तर्मुख हो जानेपर बाह्य विषयोंमें किसी प्रकारकी दिलचस्पी नहीं रह जाती और न तो उनका चिन्तन ही होता है। उस समय जितनी भी वृत्तियाँ उठती हैं, सब अन्तःस्थित वस्तुके सम्बन्धमें ही। अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें जो वस्तु है, वह क्या है? उसे आत्मा कहें या परमात्मा? यह प्रश्न ही उस समय उठता है जिस समय अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख और शुद्ध हो जाता है। जब उपर्युक्त प्रश्न उठता है तो मैं कौन हूँ और परमात्मा क्या है, दोनोंमें क्या अन्तर है—इन प्रश्नोंका ऐसा विशुद्ध समाधान प्राप्त होता है कि जो अबतक अपनेको जीव समझकर अपनेको नाना संकटोंका

घर समझे रहता है, वह अनिर्वचनीय एवं आश्चर्यमय स्थितिमें पहुँच जाता है। अनादि कालका अज्ञान मिट जाता है और फिर कुछ बोलने और सोचनेका कोई अवसर ही नहीं रहता। यह परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और यही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है।

दूसरे श्लोकमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गयी है। जीवनका परम स्वार्थ क्या है? भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति। भक्तिका अर्थ विभक्ति नहीं है, समस्त विभक्तियोंका मिट जाना ही सच्ची भक्ति है। एक कवि कहता है—'प्रेमी और प्रियतमके मिलनमें वक्षःस्थलपर स्थित माला भी पर्वतसे भी बड़ा व्यवधान है। भक्त और भगवान्के बीचमें किसी भी प्रकारका आवरण—चाहे वह कितना भी झीना क्यों न हो, अभीष्ट नहीं है। आखिर कौन-सा ऐसा रहस्य है, जिसे प्रियतम प्रभु अपने प्रेमीसे छिपाकर रख सकते हैं। प्रेमके सामने सारे पर्दे फट जाते हैं, सारी दूरी समीपतामें परिणत हो जाती है। इसीसे अनन्य भक्तिस्वरूपका निदर्शन करते समय यह बात कही जाती है—'यत् सर्वत्र तदीक्षणम्'। भगवान्की अनन्य भक्ति है सर्वत्र उन्हें देखना। 'सर्वत्र' शब्द बड़ा व्यापक है। अपनेमें, परायेमें, निद्रामें, जागरणमें, ब्रह्ममें और प्रकृतिमें—जहाँ दृष्टि जाय, जो दीखे, वहीं उसीमें, अधिक तो क्या, उसीके रूपमें भगवान्का दर्शन! यही जीवनका सबसे बड़ा स्वार्थ अथवा परमार्थ है।

५. अज्ञान और ज्ञानका स्वरूप

एतावानात्मसम्मोहो यद् विकल्पस्तु केवले। आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥
(११.२८.३६)

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(२.९.३५)

पहले श्लोकमें अज्ञानका स्वरूप बतलाया गया है। कहते हैं कि अद्वितीय आत्मस्वरूपमें जो विविधताका संकल्प है, यह मनका मोह है। क्योंकि आत्माको छोड़कर उस विविधताके संकल्पके लिए भी कोई दूसरा अवलम्बन नहीं है, यही विविधताकी भावना अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानसे है। अज्ञान किसे है, किसमें है—यह प्रश्न इस बातको मानकर उठता है कि अज्ञानकी सत्ता है। परन्तु अज्ञानकी सत्ता भी तभीतक मानी जाती है, जबतक अपने आश्रय और विषयके सहित अज्ञानके स्वरूपका बोध नहीं होता। अज्ञान ज्ञात होनेपर तो अज्ञान रहता ही नहीं, ज्ञान हो जाता है और जहाँतक वह स्वयं अज्ञात है वहाँतक यह प्रश्न बनता ही नहीं कि वह किसमें है, किसे है? ऐसी अवस्थामें अज्ञानका स्वरूप क्या है, तत्त्वदृष्टि करानेके लिए एक अध्यारोपमात्र! इसीलिए वह किसीको नहीं है, किसीमें नहीं है; क्योंकि अध्यारोपित वस्तुसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु यह यथार्थ उक्ति तो अज्ञानपर लगायी हुई सारी व्यवस्थापर ही पानी फेर देती है। यह भी अभीष्ट ही है। फिर भी उसे अनिर्वचनीय स्वीकार कर लिया

जाता है। 'अनिर्वचनीय' शब्दका अर्थ अज्ञेय नहीं है। जिसका मन और वाणीके द्वारा 'इदंतया' निर्वचन नहीं किया जा सकता, वही अनिर्वचनीय है। तब वह 'अनिदं' है अर्थात् 'अहं' है—स्वरूपसे अभिन्न है। ज्ञान और अज्ञान सब कुछ स्वरूप ही है—यही बात जाननेकी है। दूसरे श्लोकमें यही कहा गया है।

जो आत्मतत्त्वके जिज्ञासु हैं, उन्हें बहुत-से विषयोंका ज्ञान नही प्राप्त करना है। उन्हें तो केवल एक ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहती है। यह जाननेका साधन क्या है? अन्वय और व्यतिरेक। आकाशके रहनेपर ही पृथिवीका अस्तित्व है—यह अन्वय है। आकाशके न रहनेपर पृथिवी भी नहीं रह सकती। परन्तु पृथिवीके न रहनेपर भी आकाश तो रहता ही है—यह व्यतिरेक है। आत्मसत्ताके रहनेपर ही अनात्म पदार्थोंकी सत्ता रह सकती है, परन्तु अनात्म पदार्थोंकी सत्ता न रहनेपर भी आत्मपदार्थकी सत्ता तो रहती है। तब सत्ता केवल आत्माकी—परमात्माकी है। अनात्मपदार्थ केवल प्रतीतिमात्र, सर्वथा मिथ्या हैं। तब यही सर्वत्र और सदा तथा उनकी सीमासे परे भी रहनेवाली आत्मसत्ताका स्वरूप ही तत्त्वजिज्ञासुके ज्ञानका स्वरूप है। न इसमें ज्ञातृ-ज्ञेय-सापेक्ष ज्ञान ही है और न तो आश्रय-आश्रयी-भाव रखनेवाला अज्ञान ही। इस सत्तामात्र निर्विशेष चैतन्यमें मन और वाणीसे निर्वचन करने योग्य वस्तु नहीं है। वही आत्मा है, वही मैं हूँ। उसको अपने-आपके रूपमें न जानना ही अज्ञान है। और जो इस अज्ञानको मिटा दे वही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'अज्ञान' शब्दोंका कोई अर्थ नहीं है।

६. समस्त वेदोंका तात्पर्य

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्। मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥
(११.२१.४३)

वेदोंमें कहीं किसी कर्मका विधान है तो कहीं देवता आदिके विभिन्न नामोंका उल्लेख है, आकाशादि विविध सृष्टिका वर्णन है तो कहीं उनका निषेध भी है—यह सब क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि कर्मोंके रूपमें मेरा ही विधान है। देवताओंके नामोंके रूपमें मेरे ही नामोंका गान है। आकाशादि विविध सृष्टिके रूपमें मेरा ही वर्णन है और उनके निषेध तथा निषेधकी अवधिके रूपमें मेरा ही वर्णन है। तब समस्त वेदोंका तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नका सीधा उत्तर होता है—स्वयं परमात्मा। ऊपर उद्धृत श्लोकमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। सारे वेदोंके तात्पर्य हैं—भगवान्। वेद उन्हीं परमार्थस्वरूप परमात्माका आश्रय लेकर कहता है—दीखनेवाला भेद सर्वथा मायामात्र है। नानात्व कुछ नहीं है, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है। इस प्रकार अशेष विषयोंका निषेध करके वेद अपना काम बन्द कर देता है, स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है! वेद-स्तुतिके अन्तमें भी यही बात कही गयी है—'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः'। 'नेह नानास्ति किञ्चन'। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूपसे परमात्मामें ही पर्यवसित होती हैं।

इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धके पाँचवें अध्यायमें श्री शुकदेवजी महाराजने राजर्षि परीक्षितको अन्तिम उपदेश किया है—

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् । एवं समीक्षन्नात्मानं आत्मन्याधाय निष्कले ।।

इत्यादि ।

प्रत्यक्चैतन्य और ब्रह्म दोनोंका मुख्य सामानाधिकरण्य है । जगत् और ब्रह्मका बाध सामानाधिकरण्य है । इसीलिए ब्रह्म अविनाशी परिपूर्ण अखण्ड आत्मसत्ता ही है ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है । यह श्रुतियोंका सार-सार अंश है । जैसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य एकमात्र परमात्मामें ही है, वैसे ही श्रीमद्भागवतका भी । इसका रस तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसके मूलका स्वाध्याय करनेसे प्राप्त होता है । भगवान् हमलोगोंको इसके मूलके स्वाध्यायमें लगायें, उसका रस लेनेकी योग्यता दें ।

परम तात्पर्य

१. सत्यं परं धीमहि (१.१.२)
सत्यं परं धीमहि (१२.१३.१९)

प्रथम स्कन्धके प्रथम श्लोकमें ही परम सत्यके चिन्तनका निर्देश है । परम सत्य वह है जो जगत्का उपादान और निमित्त दोनों ही है । उसीसे नाम-रूपात्मक प्रपञ्चके आकार, विकार एवं प्रकार प्रकट हुए हैं, उसीमें हैं और उसीमें समा जायँगे । प्रपञ्चकी अभिव्यक्ति होनेपर भी वह उसमें अनुगत है और अनुगत होते हुए भी उनसे व्यतिरिक्त अर्थात् प्रपञ्चके गुणधर्मोंसे असंस्पृष्ट है । वह न केवल स्थूल द्रव्योंमें प्रत्युत सम्पूर्ण जीव-बुद्धियोंमें एवं एक जीव हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें भी अनुगत है और उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देता रहता है । वस्तुतः त्रिविध सृष्टि बिना हुए ही उसमें भास रही है और उसकी सत्तासे ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं । वह स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक एवं अविद्या मायाके स्पर्शसे भी रहित है । ऐसे अद्वितीय ज्ञानस्वरूप परम सत्यके चिन्तनके लिए ही श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ हुआ है ।

इस उपक्रमके अनन्तर एक दृष्टि उपसंहारपर भी डाल ली जाय । ठीक वही शब्द है । वह परम सत्य-स्वरूपसे शुद्ध, आगन्तुक मलोंसे रहित, शोक और मृत्युसे वर्जित है । उसको जान लेनेपर जन्म-मृत्यु नहीं, शोक-मोह नहीं, आवरणादि दोष नहीं । इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थका प्रारम्भ और अन्त दोनों परम सत्यके चिन्तनके लिए ही हैं ।

२. यज्ज्ञानमद्वयम् (१.२.११)

धर्म अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा मोक्षका हेतु है, धनका नहीं ! धन धर्मका हेतु है, भोगका नहीं ।

भोग जीवन-निर्वाहके लिए है, इन्द्रियतृप्तिके लिए नहीं। जीवन तत्त्व-जिज्ञासाके लिए है, बहुत कर्म करनेके लिए नहीं। फिर तत्त्व क्या है? तत्त्ववेत्ता लोग, तत्त्वका स्वरूप बतलाते हैं, वह क्या है—अद्वय ज्ञान। अद्वयका क्या अर्थ है? ज्ञाता अर्थात् जीव और ईश्वर, ज्ञेय अर्थात् व्यष्टि-समष्टि, कार्य-कारण, व्यक्त एवं अव्यक्त रूपसे रहनेवाला प्रपञ्च; इन दोनोंसे जो सर्वथा रहित अर्थात् दोनोंके भावाभावका अधिष्ठान स्वयं-प्रकाश चेतन है, वह ज्ञानस्वरूप ही अद्वय तत्त्व है। इसीको शास्त्रकी परिभाषाके अनुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌के नामसे कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवतमें जहाँ-जहाँ 'ब्रह्म' 'परमात्मा' एवं 'भगवान्' शब्दके प्रयोग किये गये हैं वहाँ-वहाँ इसी अद्वय ज्ञानतत्त्वको सूचित करनेके लिए। यह श्रीमद्भागवतमें शास्त्रका परिभाषा-वचन है। यदि स्वाध्यायशील व्यक्तिके हृदयमें इसका अभिप्राय ठीक-ठीक जम जाय तो भागवतका परम तात्पर्य समझनेमें किसी प्रकारकी अड़चन नहीं पड़ेगी।

३. इति तद् ब्रह्मदर्शनम् (१.३:३३)

वृत्तिज्ञानकी जिस दशामें यह निश्चय हो जाता है कि यह जितने भी स्थूल और सूक्ष्मरूप प्रतीत होते हैं, यह सब प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे ही अपने-आपमें प्रतीत होते हैं। यह वस्तुतः सत्य नहीं हैं और अपने स्वरूपका दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार हो जानेपर जब इनका नितान्त निषेध, अपवाद अथवा बाध हो जाता है तब उस अविद्या-तत्कार्यनिवर्तक ज्ञानको ही ब्रह्मदर्शन कहते हैं। ठीक यही बात दूसरे स्कन्धमें दसवें अध्यायके पैंतीसवें श्लोकमें कही गयी है। पहले स्कन्धमें 'त्वं-पदार्थ'की प्रधानतासे प्रपञ्चका निषेध है और दूसरे स्कन्धमें 'तत्-पदार्थ'की प्रधानतासे। स्पष्ट कह दिया गया है कि कार्य-कारणरूप प्रपञ्च भगवान्‌के ही रूप हैं; परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष उन्हें मायाकी सृष्टि जानकर सत्यरूपसे ग्रहण नहीं करते। इसलिए अद्वितीय ब्रह्म ही परम सत्य तत्त्व है। तीसरे स्कन्धके बत्तीसवें अध्यायमें कहा गया है कि अद्वितीय अर्थात् ज्ञाता-ज्ञेयमें द्वैतसे रहित ज्ञान ही निर्गुण ब्रह्म है। बहिर्मुख इन्द्रियोंके कारण ही वह शब्द, स्पर्शादि धर्मसे युक्त पदार्थोंके रूपमें प्रतीत होता है और भ्रान्तिसे वे पदार्थ सत्य माने जाते हैं। एक परब्रह्म परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे एक ही वस्तु विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूपमें अनुभवका विषय होती है, इसी प्रकार शास्त्रोक्त विभिन्न साधन-पद्धतियोंसे एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें अनुभवके विषय होते हैं। पुरञ्जनोपाख्यानमें देह, इन्द्रिय और मनके धर्मोंका अपने-आपमें अभ्यास कर लेनेके कारण ही यह आत्मा अपनेको कर्ता, भोक्ता एवं बद्ध मान बैठता है और दुःख पाता है—यह बात कही गयी है 'ममाहमिति कर्मकृत्'। जडभरतोपाख्यानमें विशुद्ध अद्वय ज्ञानको ही परमार्थ कहा गया है और उसीका नाम भगवान् और वासुदेव भी है। वह बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे रहित है। उसके अतिरिक्त जो भेद-विभेद हैं वे सब अविद्याके कारण मनःकल्पित हैं।

द्वितीय स्कन्धके चतुःश्लोकी भागवतमें नारायण अपने आदिकालीन स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था तथा केवल था ही था। मेरे अतिरिक्त सत्, असत् या इनसे अतिरिक्त

कोई भी दूसरी वस्तु नहीं थी। इनके न रहनेपर भी मैं ही रहता हूँ। जो प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं हूँ। सबका निषेध कर देनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ। मायासे ही असत् प्रपञ्च सत्-सा और सद्ब्रह्म असत्-सा भासता है। यथा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पाषाण आदि नाना नाम-रूपोंमें महाभूत पहलेसे ही विद्यमान रहते हैं, वैसे ही मैं सबमें विद्यमान और विवर्तमान हूँ। मैं सबसे व्यावृत्त रहकर भी सबमें अनुवृत्त हूँ। मैं अविनाशी एवं पूर्ण हूँ। तत्त्व-जिज्ञासुके लिए केवल यही आत्मज्ञान पर्याप्त है। नारायणकी इस युक्तियुक्त उक्तिसे यह सिद्ध है कि परमात्मा भूत, भविष्य, वर्तमानरूप कालभेदसे बाह्य, अन्तर एवं अन्तरालरूप देश-भेदसे तथा सजातीय-विजातीय-स्वगतरूप वस्तु-भेदसे सर्वथा रहित है। इसका अभिप्राय ही यह है कि परमात्मा अद्वितीय ज्ञान-स्वरूप है! ज्ञाता एवं ज्ञेयका पृथक् स्वरूप मिथ्या है। वे केवल परमात्माके रूपमें ही सत्य हैं। इसकी व्याख्या करनेके लिए श्रीमद्भागवतमें सैकड़ों प्रसङ्ग हैं।

४. अहं ब्रह्म परं धाम (१२.५.११.१२)

श्रीशुकदेवजी महाराजने सारे श्रीमद्भागवतका उपदेश करनेके अनन्तर अन्तमें राजा परीक्षितसे कहा कि 'तुम ऐसा अनुसन्धान करो कि मैं स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान ब्रह्म हूँ। परमार्थ-स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार निष्कल ब्रह्ममें अभेदरूपसे आत्माका सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लेनेपर यह शरीर और विश्व भी आत्मासे पृथक् नहीं रहेगा।' इसके पश्चात् राजा परीक्षितने कृतज्ञता प्रकट की—'आपने ज्ञान-विज्ञान-निष्ठाके द्वारा मेरे अज्ञानका निरसन कर दिया और मुझे परमात्मपदकी प्राप्ति हो गयी।' इसके बाद परीक्षितने अपनेको ब्रह्म अनुभव कर लिया। यही श्रीमद्भागवतके श्रवणका फल है। इस प्रकारके प्रसंग श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर हैं। सनत्कुमारने पृथुसे कहा—'तमवेहि सोऽस्मि'। पुरञ्जनोपाख्यानमें ईश्वरने अपने सखासे कहा—'मित्र मैं ही तुम हूँ। तुम कोई दूसरे नहीं हो। तुम्हीं मैं हो—तुम इस प्रकारका अनुभव प्राप्त करो; क्योंकि ब्रह्मानुभवी महापुरुष मुझमें और तुममें अर्थात् ईश्वर और जीवमें कभी कुछ भी अन्तर नहीं देखते।' यथा—

'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः। न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥

कितना स्पष्ट वर्णन है—

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि। आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः। मायामात्राणि विज्ञाय तद् द्रष्टारं परं स्मरेत्॥
येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा। सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम्॥

(६.१६.५३-५५)

......'एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः। स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥ (६३)

'जैसे एक व्यक्ति स्वप्नावस्थामें सो गया और फिर निद्रावस्थामें स्वप्नान्तर होनेपर अपनेमें ही सम्पूर्ण विश्व देखता है और फिर वह दूसरा स्वप्न टूट जानेपर पहले स्वप्नमें ही जागता है और देखता है कि मैं संसारके एक कोनेमें स्थिर हूँ। मैं स्वप्नसे जग गया हूँ, अब उठ बैठा हूँ; परन्तु वस्तुतः वह भी एक स्वप्न ही है, वैसे ही जीव एक शरीरके सोनेपर उसमें स्वप्न देखता है और जागनेपर समझता है कि स्वप्न टूट चुका है; परन्तु अभी तो यह जागा हुआ पुरुष भी स्वप्नपुरुष ही है। यह जागरण आदि प्रतीयमान अवस्थाएँ मायामात्र ही हैं, समझकर अपने सर्वोपरि द्रष्टास्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिए। शयनके समय पुरुष जिस चिन्मात्र सत्स्वरूपकी अधिष्ठानतामें निद्रा और उसके अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह निर्गुण ब्रह्म मैं ही हूँ। और तुम इस ब्रह्मस्वरूप मुझको अपना आत्मा जानो।'

'साधन-साध्यके स्वरूपको समझनेमें निपुण पुरुषोंको भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ-परमार्थ केवल इतना ही है कि वह आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार करे।'

इस सम्बन्धमें कहाँतक उदाहरण दिये जायँ, बारहवें स्कन्धके तेरहवें अध्यायका यह एक श्लोक ही पर्याप्त है—

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥

(१२.१३.१२)

'सम्पूर्ण वेदान्तका सार है अद्वितीय वस्तु। यह कल्पना, भाव, फल अथवा स्थिति नहीं है। यह आकारके आरोपसे विनिर्मुक्त तत्त्ववस्तु है। इसका एकमात्र लक्षण है ब्रह्म और आत्माकी एकता। उसीमें इसकी निष्ठा अर्थात् परम तात्पर्य है और इससे केवल कैवल्यरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है। यह सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्तियोंके लिए नहीं है; क्योंकि कैवल्यमुक्ति केवल ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे होती है। श्रीमद्भागवतके परम तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि श्रीमद्भागवतमें संन्यासियोंके आत्मचिन्तनकी जो प्रक्रिया बतलायी गयी है—विशेषकर मृत्युके समय, उसका स्वरूप यह है—

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्। ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः॥

(७.१२.३१)

आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये।

और जीवनकालमें भी इस प्रकार अनुसन्धान करे—

तथा—

पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः।

(७.१३.५)

इन श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट की गयी है कि संन्यासी अपने आपको परब्रह्मके रूपमें जाने, बन्धन और मोक्षको वास्तविक न समझें। वे केवल मायामात्र हैं।

५. ब्रह्मणि निष्कले

महापुरुषोंकी अन्तिम गतिके अनेक प्रसङ्ग हैं। भगवान्‌के विशेष अनुग्रहभाजन अजामिल, अघासुर आदि कुछ व्यक्तियोंको तो अन्तिम गतिके रूपमें भागवत-देहको प्राप्ति हुई है; परन्तु उनके अतिरिक्त जिन-जिन महापुरुषोंकी अन्तिम गतिका वर्णन है—ब्राह्मी स्थिति अथवा ब्रह्मनिर्वाणके रूपमें ही है। भीष्मके प्रसङ्गमें—'आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्' अर्थात् आत्मस्वरूप श्रीकृष्णमें अपने-आपको मिलाकर वे निष्प्राण-उपरत हो गये। इसका अर्थ है कि उनके सूक्ष्म शरीरका कहीं गमन नहीं हुआ। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इस श्रुतिके अनुसार उनके प्राण यहीं लीन हो गये। इसलिए कहा गया कि 'सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले'। महात्माओंने देखा कि भीष्म निरवयव ब्रह्मसे एक हो गये हैं। इसी प्रकार अर्जुन भी तत्त्वज्ञानके द्वारा लिङ्गशरीरसे मुक्त होकर पुनर्जन्मरहित गतिको प्राप्त हुए। देखिये, पन्द्रहवें अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक! युधिष्ठिरने भी 'सर्वमात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये' (१.१५.४२) और वे ब्रह्मसे एक हो गये। श्रीमद्भागवतका अनुसन्धान करनेवालोंके लिए जितने भी सत्पुरुषोंके निर्वाण-प्रसङ्ग हैं उनमें देखने योग्य एकरूपता है।

६. त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः (१०.५९.३०)

आत्मा और परमात्माकी एकता सिद्ध वस्तु है—यह निश्चय तबतक नहीं हो सकता, जबतक दोनोंकी उपाधि, व्यष्टि, समष्टिरूप प्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध न हो। हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर उभयविध प्रपञ्चको भ्रम, मृषा, माया, भानमात्र इत्यादि शब्दोंसे कहा गया है। उदाहरणके लिए पृथिवी भगवान् श्रीकृष्णसे कह रही है—

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः॥ (१०.५९.३०)

भगवन्! मैं (पृथिवी), जल, अग्नि, वायु, आकाश, पञ्चतन्मात्राएँ, मन, इन्द्रिय और इनके अधिष्ठातृदेवता, अहङ्कार और महत्तत्त्व—कहाँतक कहूँ, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपके अद्वितीय स्वरूपमें भ्रमके कारण ही पृथक् प्रतीत हो रहा है।'

इसी प्रकार वेदस्तुतिमें कहा गया है कि जो लोग कर्म और कर्मफलरूप व्यवहारको सत्य बतलाते हैं वे केवल अध्यारोपसे ही ऐसा कहते हैं। आत्माका कर्तृत्व अज्ञानसे ही है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा इन सबसे परे है और उसमें यह सब कुछ नहीं है (१०.८७.२४) छत्तीसवें श्लोकमें बतलाया गया है कि

अविद्या और अधिष्ठानके संयोगसे जो सृष्टि होती है वह मिथ्या ही होती है। सैंतीसवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात् अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

'भगवन्! वास्तविक बात तो यह है कि जगत् उत्पत्तिके पहले नहीं था और प्रलयके बाद नहीं रहेगा; इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीचमें भी एकरस परमात्मामें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घड़ा, लोहेमें शस्त्र और सोनेमें कुण्डल आदि नाममात्र है; वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मामें वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको उपदेश करते हुए कहा—

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि माया मनोमयम्॥
(११.७.७)

'इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिए मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो।'

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चात् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम्॥
(११.२८.२१-२२)

जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिए कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ सत्ता है—यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिए इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं, उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है।

न केवल परमात्माके स्वरूपमें यह प्रपञ्च मिथ्या है, बल्कि विवेक करनेपर जो शुद्ध त्वं-पदार्थ सिद्ध होता है, उसकी दृष्टिसे भी नाम-रूपात्मक प्रपञ्च ही है—

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः। अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः। अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥
(७.७.१९-२०)

'आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असङ्ग तथा आवरणरहित है।

ये बारह आत्माके उत्कृष्ट लक्षण हैं। इनके द्वारा आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको चाहिए कि शरीर आदिमें अज्ञानके कारण जो 'मैं' और 'मेरे'का झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दे।'

इस प्रकार आत्माका विवेक करके स्वरूपदृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट अनुभव होता है कि—

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्। दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥
दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत्। एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥
बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते। मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च। ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह। विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्यैवाङ्ग तन्तवः ॥
यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः। अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा। न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत् ॥
नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते। नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥
(१२.४.२३-३०)

'परीक्षित ! (अब आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्षका स्वरूप बतलाया जाता है।) बुद्धि, इन्द्रिय, और उनके विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान, ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिए वे सब सत्य नहीं हैं। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठानसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं है। इसलिए वे सर्वथा मिथ्या—मायामात्र हैं।

जैसे दीपक, नेत्र और रूप—ये तीनों तेजसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं—यद्यपि वह इनसे सर्वथा भिन्न है; (जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त सर्पसे अधिष्ठानका कोई सम्बन्ध नहीं है।)

परीक्षित ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—यह तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही हैं। अतः इनके कारण अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है, वह केवल मायामात्र है। बुद्धिगत नानात्वका एकमात्र सत्य आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह विश्व उत्पत्ति और प्रलयसे ग्रस्त है, इसलिए अनेक अवयवोंका समूह अवयवी है। अतः यह कभी ब्रह्ममें होता है और कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें मेघमाला कभी होती है और कभी नहीं होती।

परीक्षित! जगत्के व्यवहारमें जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं उनके न होनेपर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव सत्य माने जाते हैं; क्योंकि वे उनके कारण हैं। जैसे वस्त्ररूप अवयवीके न होनेपर भी उसके कारणरूप सूतका अस्तित्व माना ही जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत्के अभावमें भी इस जगत्के कारणरूप अवयवकी स्थिति हो सकती है।

परन्तु ब्रह्ममें यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है; क्योंकि देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु। इस प्रकारका जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेषकी स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारणभावका आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिए भी वह स्वाप्निक भेद-भावके समान सर्वथा अवस्तु है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रपञ्चरूप विकार स्वाप्निक विकारके समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मासे भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मासे भिन्न रूपमें अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मासे पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप आत्माके समान स्वयंप्रकाश होगा और ऐसी स्थितिमें वह आत्माकी भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा।।

परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ सत्य वस्तुमें नानात्व नहीं है। यदि कोई अज्ञानी परमार्थ सत्य वस्तुमें नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसा ही है, जैसा महाकाश और घटाकाशका, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका तथा बाह्य वायु और आन्तर वायुका भेद मानना।

यही बात सातवें स्कन्धके इन श्लोकोंमें स्पष्ट कही हुई है—

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः। दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थं विकल्पितम्।।
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि। न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा।।
धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना। न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः।।
स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः। जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता।।
(७.१५.५८-६१)

दर्पण आदिमें दीख पड़नेवाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्तिसे बाधित है, उसका उनमें अस्तित्व है नहीं, फिर भी वस्तुके रूपमें तो वह दीखता ही है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा दीखनेवाला वस्तुओंका भेदभाव भी विचार, युक्ति और आत्मानुभवसे असम्भव होनेके कारण वस्तुतः न होनेपर भी सत्य-सा प्रतीत होता है।

पृथिवी आदि पञ्चभूतोंसे इस शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न तो वह उन पञ्चभूतोंका संघात है और न विकार या परिणाम ही; क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न तो पृथक् है और न उनमें अनुगत ही है, अतएव मिथ्या है।

इसी प्रकार शरीरके कारण पञ्चभूत भी अवयवी होनेके कारण अपने अवयवों—सूक्ष्म भूतोंसे भिन्न नहीं हैं, अवयवरूप ही हैं। जब बहुत खोज-बीन करनेपर भी अवयवोंके अतिरिक्त अवयवीका अस्तित्व नहीं मिलता—वह असत् ही सिद्ध होता है, तब अपने-आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि ये अवयव भी असत्य ही हैं।

जबतक अज्ञानके कारण एक ही परमात्मतत्त्वमें अनेक वस्तुओंके भेद मालूम पड़ते रहते हैं, तबतक यह भ्रम भी रह सकता है कि जो वस्तुएँ पहले थीं, वे अब भी हैं और स्वप्नमें भी जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके अलग-अलग अनुभव होते ही हैं तथा उनमें भी विधि-निषेधके शास्त्र रहते हैं—वैसे ही जबतक इन भिन्नताओंके अस्तित्वका मोह बना हुआ है, तबतक यहाँ भी विधि-निषेधके शास्त्र हैं ही।

छठे स्कन्धमें यह बात दो टूक कही हुई है कि यह दृश्यमान प्रपञ्च गन्धर्वनगर, स्वप्न, माया एवं मनोरथके समान है। बिना हुए ही मनकी कल्पनासे दीख रहे हैं और कभी-कभी तो खोज करनेपर भी दिखायी नहीं पड़ते—

'गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः। दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवा॥'

इसलिए—

'द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश।'

'चित्रकेतु! इसलिए तुम द्वैतमें सत्य वस्तु होनेका विश्वास छोड़ दो और शान्त हो जाओ।'

७. सर्व वेदान्तसारम् (१२.१३.१५)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थरत्न सम्पूर्ण वेदान्तोंका सारसंग्रह है, इसकी एक-एक कथामें वैराग्य, ज्ञान, योग एवं भक्तिसे युक्त नैष्कर्म्यका उपदेश—सन्देश दिया गया है। शत शत भगवल्लीलाके उज्ज्वल प्रसङ्ग अपने अमृतसे सन्त और देवताओंको आनन्द देते रहते हैं। यह उक्ति सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है कि जो इसके रसामृतसे तृप्त है उसका मन कहीं अन्यत्र आकृष्ट नहीं हो सकता। इस प्रसंगका अधिक विस्तार न करके अन्तमें आइये, हम सब श्रीमद्भागवतके शब्दोंमें ही श्रीशुकदेवजी महाराजको नमस्कार करें—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(१२.१२.६८)

धर्मका मूल :

भौतिक ज्ञान, तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'विज्ञान'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मका ज्ञान और तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'धर्माधर्मविज्ञान' कहलाता है। साधारण धर्म सच्चिदानन्दघन अद्वय ब्रह्म-स्वरूप उपादानकी प्रधानतासे होता है। वस्तुतः निखिल प्रपञ्चका मूलतत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। अतएव वह सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु एवं सर्वव्यक्तिमें अनुगत रहता है। साधारण धर्म सर्वदा सर्वत्र सर्व प्रकारके अधिकारियोंके लिए आवश्यक होते हैं और यथाकथञ्चित् गुप्त-प्रकट रूपसे उनमें रहते भी हैं। सृष्टिमें जहाँ पूर्णता अधिक विकसित होती है वहाँ वे अधिक मात्रामें होते हैं और जहाँ कम मात्रामें होती है वहाँ कम। पूर्णतामें तारतम्य नहीं होता, अभिव्यक्तिके प्रकारमें तारतम्य होता है। प्राणी-अप्राणी सभी पदार्थोंमें धर्माधर्मका ह्रास-विकास होता रहता है। पूर्णताका सर्वाधिक विकास मानव शरीरमें होता है। मनुष्यमात्रके लिए साधारण धर्म उपादानसे ही प्राप्त है। उपादानगत धर्मके विकासमें सत्से जीवन, चित्से ज्ञान तथा आनन्दसे सुखका प्रकाश होता है। अद्वयता अभेद और मेल-मिलापके रूपमें प्रकट होती है। जीवनदान, ज्ञानदान, सुखदान और प्रेमदान जीवमात्रके लिए अकृत्रिम सहज धर्म है। इसमें प्रकाश तारतम्यसे ही ह्रास-विकास अथवा तारतम्य प्रतीत होता है।

मनुष्यमें ही धर्माधिकार :

धर्म सभी पदार्थोंमें होता है। अभिव्यक्तिके भेदसे उनमें परस्पर वैधर्म्य भी होता है। कोई रोगका हेतु है कोई औषधका हेतु; कोई मधुर है तो कोई कटु; कोई शुक्ल है, कोई कृष्ण। इन विशेषोंकी गणना आवश्यक नहीं है। मनुष्यके शरीरकी रचना अधःस्रोत है। वृक्ष ऊर्ध्वस्रोत होते हैं और पशु-पक्षी तिर्यक् स्रोत। इसका अभिप्राय यह है कि विरञ्चि-प्रपञ्चमें रचनागत जितनी चातुरी है वह मनुष्यके निर्माणमें प्रकट हो गयी है। अब यह विशेष धर्मका आश्रय लेकर अपनेको प्रपञ्च-जालसे मुक्त करनेका प्रयास नहीं करेगा तो फिर पशु-पक्षियोंके समान तिर्यक् स्रोत अथवा लता-वृक्षके समान ऊर्ध्वस्रोत जातियोंमें जन्म ग्रहण करेगा; क्योंकि योग्यताके अनुसार ही पदकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यके दो हाथ उसके कर्माधिकारकी सूचना देते हैं। वृद्धिकी विशेषताको सूचित करते हैं—नये-नये आविष्कार। विविध गन्ध, स्वाद, सौन्दर्य, स्पर्श, स्वर आदिकी सृष्टि उसकी सुख-वासनाको निवारण करती रहती है। परस्पर-सम्बन्ध आनन्द-भावके, अभेद-भावके सूचक हैं। ऐसी स्थितिमें मनुष्य यदि अपनी विशेष योग्यताका उचित और उपयुक्त प्रयोग न करे तो वह उत्थानकी दिशासे च्युत होकर पतनकी ओर भ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य अपने स्वभाव-प्राप्त योग्यताका उचित उपयोग करके अभ्युदय-

निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है और उनका ठीक-ठीक उपयोग न करनेपर उन योग्यताओंसे वञ्चित होकर पतनीय दशाको प्राप्त हो जाता है।

मानव शरीरमें स्वतः प्राप्त योग्यताकी ग्लानि-म्लानि न हो और वह अपनी सहज पूर्णताको अभिव्यक्त कर ले इसके लिए कर्म-क्षेत्रमें विशेष धर्मकी आवश्यकता होती है।

धर्मका निमित्त :

प्रपञ्चके उपादानको ब्रह्म, प्रकृति, परमाणु, पुद्गल, शून्य, विज्ञान, भूतचतुष्टय—कुछ भी कहें वह भेदकी अभिव्यक्तिसे पूर्वकी दशा ही है। भेद प्रकट होनेपर उनका समत्व सबमें अनुगत ही रहता है। विवर्त, परिणाम या आरम्भ कुछ भी क्यों न हो—मूल तत्त्व अर्थात् उपादानकी दृष्टिसे धर्माधर्मका विभाग नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें प्रतीयमान विक्रिया समान ही होती है। अतएव मनुष्यके द्वारा कर्तृत्वपूर्वक या प्रयत्नपूर्वक किये जानेवाले व्यापारोंमें धर्माधर्मका विभाग आवश्यक हो जाता है। वह उपादानकी दृष्टिसे नहीं होता, अनुशासनकी दृष्टिसे होता है। कुछ भी हो धर्माधर्मका विभाजक-निमित्त उपादान कारण नहीं, संविधान शास्त्रगत विधि-निषेध ही है। भले ही वे विधि-निषेध देश, काल, समाज, जाति, सम्प्रदाय अवस्था, वय, शक्ति, बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न क्यों न हों।

भेद-सृष्टिमें विक्रिया स्वाभाविक है और क्रिया कर्तृत्वपूर्वक की हुई। क्रियामें ही मनुष्यका स्वातन्त्र्य है कि वह क्या करे क्या न करे? कोई वस्तु जैसे चाँदी, सोना दुष्ट नहीं है। उनके साथ धर्माधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु उनको ग्रहण करना या त्याग देना यह क्रिया मनुष्यके अधीन है। इसलिए उसीके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध होता है। कोई भी स्त्री-पुरुष स्वभावसे दूषित नहीं हैं परन्तु उनमें-से कौन किसके उपभोगका अधिकारी है, इस उपभोगकी क्रियासे ही धर्माधर्मका सम्बन्ध है, स्त्री-पुरुषसे नहीं। तात्पर्य यह कि जिस कर्मको करनेमें मनुष्यका स्वातन्त्र्य है उसीके करने, न करनेके विधि-निषेध होते हैं और विधि-निषेधके आचरण और उल्लंघनसे ही धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति तत्काल सुखाभास उत्पन्न कर सकती है परन्तु भविष्यके लिए वह वस्तु, व्यक्ति, स्थान, समय, क्रिया या भोगके परतन्त्र बना देती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति ही पराधीनताका मूल कारण है। अनुशासनके द्वारा उसीको नियन्त्रित किया जाता है। शिष्टानुशिष्ट कर्म मिष्ट-मिष्ट इष्ट फलका जनक होता है। इसीको 'विशेष धर्म' कहते हैं। वह जीवनमें स्वतः नहीं आता, लानेका प्रयास करना पड़ता है। इसमें अधिकारी, संकल्प, विधि-पूर्वक अनुष्ठान सामग्री और समग्रताकी अपेक्षा होती है। धर्मका एक अङ्ग भी फलप्रद होता है परन्तु अंगवैगुण्य होनेपर प्रत्यवायकी भी उत्पत्ति होती है। समग्र धर्म समयपर समग्र फल देता है। वह कर्तामें या उसके अन्तःकरणमें अपूर्वके रूपसे तबतक रहता जबतक उसका फल उदय न हो जाय। 'कर्मका विहित नियन्त्रण, धर्म है। वासनाका विहित नियन्त्रण उपासना है। वृत्तिका विहित नियन्त्रण योग है।

नियन्त्रणके बिना कोई भी साधना अपने साध्य आकारके रूपमें परिणत नहीं होती है। जैसे दूध विधिपूर्वक जमानेपर दही हो जाता है और उससे नवनीत निकलता है इसी प्रकार कर्म विधिपूर्वक करनेपर धर्म हो जाता है और उससे सुखकी प्राप्ति होती है। कर्ममें विधि-निषेध, उपासनामें आवाहन-विसर्जन, योगमें अभ्यास-वैराग्य और तत्त्वज्ञानमें अध्यारोप-अपवाद ये सब मिलते-जुलते साधनाके प्रकार-भेद ही हैं। इनमें सामान्य एक ही है। मूल वस्तु ज्यों-की-त्यों है। कर्म, उपासना, योग और ज्ञानके द्वारा उसका शोधन अथवा अनुसन्धान ही सम्पन्न होता है। परम्परया अथवा बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग रूपसे सब साधन समन्वित होते हैं और एक ही लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हैं।

नाम-रूप सृष्टि और वेद :

यह कहा जा चुका है कि सामान्य धर्म जगत्के मूल उपादान सच्चिदानन्दघन अद्वय-ब्रह्मकी प्रधानतासे होते हैं और विशेष धर्म अपने निमित्त कारण अनुशासनकी प्रधानतासे। जैसे सृष्टि अनादि है वैसे ही दृष्टि भी अनादि है। जैसे रूपात्मक सृष्टि अनादि एवं प्रवाहरूपसे नित्य है ऐसे ही नामात्मक सृष्टि भी अनादि और अनन्त है। जैसे मूल धातुमें रूप व्याकृत होते हैं वैसे ही मूल धातु में शब्द भी व्याकृत होते हैं। नाम-रूपका विभाग कार्यावस्थामें ही है, कारणावस्थामें नहीं। अतएव प्रलयके समय रूप-प्रपञ्चके समान ही नाम-प्रपञ्च भी विलीन रहता है और सृष्टिके समय उनका आविर्भाव हो जाता है। मूलतः नाम और रूप एक ही तत्त्व हैं। परावाणीमें नाम-रूपका विभाग नहीं है। अतएव द्रष्टाके सम्मुख जब दृश्य-रूप आते हैं तभी दृश्य-शब्द भी आते हैं। अतएव वेदवाणीका निर्माण नहीं होता, दर्शन होता है। संस्कृत-भाषामें 'ऋषि' शब्दका अर्थ भी द्रष्टा है। जैसे ईश्वरके सन्निधानसे यथापूर्व सृष्टिका उदय होता है वैसे ही वेदोंकी आनुपूर्वीका भी। इसीसे वेदको अनादि-निधन नित्य कहा गया है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता।

धर्म-प्रामाण्य—वैलक्षण्य :

ज्ञानका जो परमार्थ-स्वरूप है वही वेदका भी परमार्थ-स्वरूप है। ज्ञानका प्रथम निर्माता कोई नहीं है, न ईश्वर, न जीव क्योंकि निर्माणमें ज्ञानकी अपेक्षा होती है। यदि कोई निर्माण करेगा तो ज्ञानके अनुसार ही करेगा। ईश्वर-जीवका विभाग भी ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। ईश्वर जीवरूप-पुरुषके द्वारा निर्मित न होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं। इनमें पुरुषनिष्ठ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगी) कर्णापाटव (ऐन्द्रियक शक्तिकी न्यूनता) आदि दोष-पंककी कलंकरेखा नहीं है। वेद वह विज्ञान नहीं है जो लौकिक वस्तुओंका अनुभव करके उदय होता है। वह नित्य-सिद्ध विज्ञान है। धर्मका निर्णय करनेमें वही प्रमाण है। वैदिक विज्ञानके निमित्तसे ही धर्माधर्मका निश्चय होता है। कहना न होगा कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्म-ग्रन्थके स्वरूप एवं आविर्भावके सम्बन्धमें इस प्रकारकी गम्भीर दृष्टि परिलक्षित नहीं होती। अतएव वेदके समकक्ष

किसी भी साम्प्रदायिक ग्रन्थको रखा नहीं जा सकता। वेद सम्प्रदायविशेषके धर्म-विशेषका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ-विशेष नहीं है, वह सार्वकालिक उदय-विलयशील प्रपञ्चका शाश्वत धर्मबोध है। किसी भी राष्ट्र, जाति, लिङ्ग या समाजकी सीमामें वह आबद्ध नहीं है। सर्वदेश, सर्वकाल, सर्व व्यक्तियोंके लिए अधिकारानुसार अर्थात् सबकी योग्यताके अनुसार सबके हितके लिए अनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन करता है।

यह अनन्त वेदराशि दो प्रकारसे पदार्थका निरूपण करती है—१. सिद्ध वस्तुका वर्णन; २. साध्यवस्तु और उसकी प्राप्तिके उपाय। पहला ब्रह्म है और दूसरा धर्म। सिद्धवस्तुका साक्षात्कार होता है तद्विषयक अविद्याकी निवृत्तिसे। अविद्याकी निवृत्ति होती है तद्विषयक विद्यासे। ब्रह्मविद्या है ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान। एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान होता है यह वेदकी प्रतिज्ञा है। इसके लिए स्वर्ण, लौह आदि मूल धातुओंके दृष्टान्त हैं। प्रतीयमान सब कुछ ब्रह्म मात्र ही है। केवल प्रज्ञानघन तन्मात्र आत्माका कभी बाध नहीं हो सकता। आत्मासे भिन्न होनेपर ब्रह्मको कल्पित या जड़ मानना पड़ेगा। महावाक्य स्पष्ट रूपसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका वर्णन करते हैं। अतएव ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मा, ब्रह्मकी एकताका बोध भेदका बाध है। अद्वय ब्रह्म ही सिद्धवस्तु है। शम, दम आदि सम्पन्न जिज्ञासु अधिकारीके लिए वेद इसीका निरूपण करता है।

जिनकी दृष्टि विशेष-विशेष सृष्टिमें तादात्म्यापन्न हो गयी है, ब्रह्मात्माके सिद्धि-स्वरूपके अज्ञानसे परिच्छिन्न पदार्थमें अहंता-ममता करके जड़प्राय: हो गयी है, जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न मानकर दृश्यके मोहजालमें फँस गये हैं; उनको वहाँसे छुड़ानेके लिए मातासे भी अधिक वात्सल्यवती, भगवती श्रुति क्रममार्गका उपदेश करती है। स्वच्छन्द-प्रवृत्तिका निरोध ही क्रम-मार्गका प्रारम्भ है। दुश्चरित, दुर्वासना, दुर्गुण, चाञ्चल्य आदि दोषोंका परिहार करके अन्त:करणको शुद्ध करना और सिद्धवस्तुके साक्षात्कारके योग्य बनाना, इसी धर्मका कार्य है। धर्म-साधनामें क्रमकी स्वीकृति ही सम्प्रदायका मूल है। साधन अनेक हैं। उनका फल है अन्त:करणकी शुद्धि, वही साध्य है। धर्मानुष्ठान साध्याकार वृत्तिको उत्पन्न और स्थिर करता है। शुद्धाकार वृत्ति शुद्ध चिन्तनकी धारा है। उसीमें शुद्धतत्त्वकी जिज्ञासा और महावाक्यके निमित्तसे भ्रम-निवर्तक ब्रह्मात्मैक्यप्रमाका जन्म होता है। वह भ्रमको मिटाकर निष्प्रयोजन हो जाती है और स्वरूपमें स्वयं बाधित हो जाती है।

धर्मका वास्तविक प्रयोजन : आत्म-पदार्थ शोधन :

अन्त:करण शुद्धिके लिए पाँच बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है, १. कर्म शुद्धि; २. भोग शुद्धि; ३. भाव शुद्धि; ४. अहंता शुद्धि; ५. शुद्ध चिन्तन। अन्त:करण चिन्तनात्मक है। अत: जब चिन्तन शुद्ध हो जाता है तब अन्त:करण भी शुद्ध हो जाता है। कल्पित वस्तुके त्यागके बिना अकल्पित यथार्थ परमार्थ सत्यवस्तुका साक्षात्कार नहीं होता।

धर्मानुष्ठानके कुछ अंग हैं। उनसे अधिकार सम्पत्तिके सम्पादनमें अत्यधिक सहायता मिलती है।

जैसे वर्ण-व्यवस्था। माण्डूक्योपनिषत्में तत्त्वका निरूपण करनेके लिए साधन और सिद्धिके रूपमें आत्माका चार विभागोंमें निरूपण किया है। वैश्वानर शूद्र है और तैजस वैश्य, प्राज्ञ क्षत्रिय है तथा तुरीय ब्राह्मण है। सेवा, व्यापार, वाणिज्य, उपसंहार एवं तत्त्वज्ञान इनकी वृत्ति हैं। इसी क्रमसे आश्रम-व्यवस्था भी है। ब्रह्मचारी वैश्वानर है तथा गृहस्थ तैजस, वानप्रस्थ प्राज्ञ और संन्यासी तुरीय हैं। जाग्रत्-स्वप्न आदिकी उपाधिसे जैसे आत्मामें गुण-धर्मका आरोप होता है, इसी प्रकार चारों वर्णों एवं आश्रमोंके भी गुण-धर्म होते हैं। जैसे स्थानानुरूप स्थानीका अनुसन्धान करनेसे आत्म-पदार्थका विवेक होता है। वैसे ही साधार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका चिन्तन एवं तदनुकूल धर्मानुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अनुष्ठानसहित चिन्तन बुद्धिको निर्मल एवं तदाकार बना देता है। अतएव धर्मज्ञानको धर्मानुष्ठानकी तथा धर्मानुष्ठानको धर्मज्ञानकी अपेक्षा होती है। जो अध्यात्मको ठीक-ठीक नहीं समझता वह वेदज्ञान एवं क्रिया-फलसे भी वञ्चित हो जाता है; ऐसा शास्त्रवचन है।

निषिद्ध कर्मानुष्ठानके कारण जितनी अशुद्धियाँ उत्पन्न हुईं वह सब अन्तःकरणमें ही हुईं। ईश्वरमें कोई अशुद्धि नहीं होती। इसलिए अन्तःकरण ही शुद्ध किया जाता है, ईश्वर शुद्ध नहीं किया जाता। अपने अन्तःकरणकी कल्पनाके अनुसार ही ईश्वरमें गुण-दोष प्रतीत होते हैं। यहाँतक कि अन्तःकरणमें जबतक भ्रम है और उसका मूल अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है तभीतक ईश्वरके स्वरूपमें मायाका भी आरोप होता है। मायाके आरोपसे विनिर्मुक्त ईश्वर ब्रह्म ही है। अतएव बुद्धिगत दोष-आवरणके निवारणके लिए ज्ञान एवं मल-विक्षेपके निवारणके लिए धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता होती है।

धर्म-विवेक :

धर्मके चार रूप हैं—१. नित्य कर्म-सन्ध्यावन्दनादि, २. नैमित्तिककर्म— संक्रान्ति, ग्रहण आदिके अवसरपर कर्तव्य, ३. काम्यकर्म—स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-यागादि, और ४. प्रायश्चित्तकर्म—ज्ञात-अज्ञात त्रुटियोंके दोषको मिटानेके लिए शास्त्रोक्त कर्म। इन चारोंका अन्तःकरणकी शुद्धिमें उपयोग है। ये चार प्रकारसे अन्तःकरण शुद्ध करते हैं—१. अधःपतनके कारणभूत प्रत्यवायको मिटा देते हैं। २. जन्म-जन्मान्तरके या सङ्गदोषसे उत्पन्न मलविक्षेपको भगा देते हैं। ३. अनात्मचिन्तनसे वैराग्य होनेके कारण आत्म-चिन्तनके लिए उन्मुख करते हैं अर्थात् जिज्ञासा देते हैं। ४. इन्हींके द्वारा ज्ञानोत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार धर्मानुष्ठान हमारे जीवनको पूर्णताके सन्निकट पहुँचा देता है।

धर्ममें पुरुषार्थ-सिद्धि :

शास्त्रोक्त सकाम-कर्मसे भी अन्तःकरण शुद्धि होती है; क्योंकि अलौकिक स्वर्ग-सुख, ब्रह्मलोक आदि भोगनेका सामर्थ्य अन्तःकरणमें नहीं रहता। धर्मानुष्ठानके द्वारा उनके भोग-योग्य अन्तःशरीरका निर्माण होता है, वह लौकिक शरीरसे विलक्षण होता है। सकाम-कर्म अशुद्धियोंको दूर करके इस शुद्ध सात्त्विक

शरीरको उत्पन्न करता है। यदि बीचमें ही कदाचित् वैराग्य उदय हो जाय तो परमार्थस्वरूप परमात्माका भी साक्षात्कार हो जाता है।

संसारके पदार्थ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। उनकी प्राप्तिकी इच्छा अर्थ-पुरुषार्थके नामसे कही जाती है। वे अपने शरीर और मनसे बाहर रहते हैं। उनका संयोग श्रमसाध्य है और वियोग नैसर्गिक। उनकी प्राप्तिमें पराधीनता है, चिन्तनमें तन्मयता होनेसे जड़ता है, अप्राप्त होनेपर दुःख है, प्राप्त होनेपर भी विनाशका भय है। अर्थमें भी सुख नहीं है। अर्थके मिलनकी कल्पना या उसके मिलनकी अनुभूतिमें सुख है? सुख सर्वथा एक मानसिक अनुभूति है। बाह्य-पदार्थोंमें, मानसिक अनुभूतिके लिए, निमित्त होनेकी कल्पनाभर की जा सकती है। बाह्य-पदार्थ, स्थान, काल, अभिरुचि, अवस्था अथवा स्वगत परिवर्तनके कारण कभी सुख देते हैं, कभी दु.ख देते हैं। इसलिए कामनापूर्तिके अनुकूल होनेपर ही अर्थ पुरुषार्थ होता है। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें वही दुःखप्रद हो जाता है। अर्थ मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, काम पुरुषार्थका अङ्ग होनेसे गौण पुरुषार्थ है।

अर्थ बहिरङ्ग है, काम अन्तरङ्ग है। यह अन्तःकरणमें ही रहता है, बाहर नहीं। मनोरूप होनेसे इसकी गति उच्छृङ्खल है। अनुभूतके संस्कार, दूरकी वस्तुओंके सम्बन्धमें मनोराज्य, प्राप्तके प्रति ममता और अभिमान, भोगमें आत्मविस्मृति, ये सब काम-पुरुषार्थके सहचर हैं। यह सब होनेपर भी काम-पूर्तिमें सुख है; इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अनुभव-सिद्ध है कि अभिरुचिके अनुरूप भोग प्राप्त होनेपर सुख होता है। तो क्या इसको रुचिपर ही छोड़ देना चाहिए? चाहे जिस वस्तु और व्यक्तिपर स्वत्व स्थापित कर लें, उसका उपभोग कर लें, ऐसा क्या अपने हितमें या समाजके हितमें उपयोगी है? ऐसी स्थिति तो पशुसे भी गयी बीती होगी। इसलिए बहिरङ्ग-अर्थ और अन्तरङ्ग-काम दोनोंके नियन्त्रणके लिए जीवनमें धर्मकी आवश्यकता है। धर्मका निवास बुद्धिमें है। उपनिषद्का वचन है—विज्ञान ही यज्ञका विस्तारक है। अर्थ-संग्रह और भोग-प्रवृत्तिका नियन्त्रण करनेके लिए अन्तर्यामी परमेश्वरकी ही एक शक्ति बुद्धिमें अवतीर्ण होती है। वह बुद्धिस्थ होकर ही उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्याकर्तव्यको इङ्गित करता रहता है। धर्ममें स्थिरता है, प्रतिष्ठा है, विश्वास है, आत्मबल है और प्रज्ञाकी अपराधीनता है। विषयवासनाका आक्रमण होनेपर भी प्रज्ञा हारती नहीं, धर्मके बलकर प्रतिष्ठित रहती है। लक्ष्योन्मुख जीवनको धर्म ही आगे बढ़ाता है और पथभ्रष्ट होनेसे त्राण करता है। वह कल्याणका मूल है, निर्वाणका सोपान है।

धर्म उच्छृङ्खल अर्थ-तृष्णाको संयत करता है भोगलिप्साको नियमित करता है। इस प्रकार दुराचरणके आन्तरिक निमित्तोंको ही कुण्ठित कर देता है। धर्मके दो काम हैं—स्वच्छन्द-प्रवृत्तिका अवरोध और निवृत्तिकी परिपुष्टि। अवरोधसे अथ-कामपर नियन्त्रण होता है और निवृत्तिकी परिपुष्टिसे मोक्ष

पुरुषार्थकी प्राप्तिमें सहायता मिलती है। इस प्रकार धर्म पराधीनताके बन्धनको काटता है और मुक्तिका मार्ग उन्मुक्त कर देता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षका निवास आत्मामें है, वह आत्मरूप ही है। अतएव निवृत्तिकी परिपुष्टिके बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। धर्मका चाहे कोई भी अङ्ग हो वह दुःखप्रद संसारके किसी-न-किसी अंशका निवर्तक होता है। जो किसी दोषका निवर्तक नहीं है, वह धर्म ही नहीं है।

मिथ्याज्ञान-मूलक राग-द्वेष मोहरूप दोष ही प्रवृत्ति-विस्तारके मूल कारण हैं। योग-दर्शनके अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेष-रूप क्लेशोंका मूल भी अविद्या ही है। वे अविद्याके खेतमें पनपते-फलते एवं फूलते हैं। अविद्या स्वयं महाक्लेश है। वेदान्त अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वतः सिद्ध आत्माको ही मोक्षकी संज्ञा देता है। अतएव मोक्ष-पुरुषार्थीको निवृत्तिप्रधान धर्मका ही आश्रय लेना चाहिए।

परमधर्म : योग

योगाङ्गोंपर एक दृष्टि

निवृत्तिप्रधान धर्म है 'योग'। याज्ञवल्क्यने आत्म-दर्शनके साधन योगको 'परम धर्म' कहा है। योग पौरुष-साध्य है। जीवके द्वारा अनुष्ठित होता है। उसकी भी एक विधि है। वह त्वं-पदार्थ प्रधान है। द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान ही योग है। इसलिए निवृत्ति-प्रधान साध्य धर्मके अन्तर्गत योगका भी सन्निवेश है। योगके आठ अङ्ग हैं। अङ्गोंके क्रमपर एक चलती-फिरती दृष्टि डाल लें। पहला 'यम'—यमके पाँच विभाग हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। शत्रु चार हैं और निवर्तक पाँच हैं। कामका निवर्तक ब्रह्मचर्य है। सबके अन्तमें इसकी गणना इसलिए है कि पराधीन करनेवाली वृत्तियोंमें यह सबसे प्रमुख है और पहलेके चार गुणोंके सहकारसे ही इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। कामकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह बार-बार जीने-मरनेका स्वाँग करता रहता है। आत्मासे अतिरिक्त देशान्तर, कालान्तर या वस्त्वन्तर रूपमें विद्यमान या वर्तमान किसी वस्तुको चाहना काम है। न चाहनेके रूपमें भी काम ही रहता है। इसीसे कामरूपको 'दुरासद' कहते हैं। उसको पकड़ पाना कठिन है। नित्यप्राप्त सत्ताके खो जानेकी भ्रान्ति और अन्यकी प्राप्तिकी इच्छा कामका मूल है। इसकी निवृत्तिके लिए अद्वय तत्त्वका, ब्रह्मका, आत्मरूपसे ज्ञान अपेक्षित है। उसी ब्रह्मकी प्राप्तिकी साधनाका नाम 'ब्रह्मचर्य' है। यह स्त्री-पुरुषकी परस्पर कामनासे लेकर भ्रम-प्रमा-मूलक वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छातक पहुँचता है। ब्रह्मके लिए चर्या ही इस इच्छाको मिटा सकती है।

यमों द्वारा व्यावृत्त्य

स्तेय, लोभ एक दुर्गुण है। यह दो रूप धारण करके आता है। जिस वस्तुपर अपना स्वत्व नहीं है उसको किसी प्रकार प्राप्त करना, इसका नाम 'स्तेय' है। दूसरा रूप है—जो वस्तुएँ अपने पास हैं, जिनपर अपना स्वत्व है उन्हें अधिक-से-अधिक संग्रह करके अपने साथ रखें, परिग्रह करें, इसका नाम

'परिग्रह' है। लोभके इन दोनों तरुण-तनयोंको वशमें करनेके लिए अस्तेय और अपरिग्रह नामकी दो वृत्तियाँ आवश्यक होती हैं, पहले अन्याय-पूर्वक उपार्जनका परित्याग, फिर आवश्यकतासे अधिक संग्रहका परित्याग।

काम और लोभकी पूर्ति न होनेपर मनुष्यके मनमें क्रोधका उदय होता है। इच्छापूर्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष भी होता है। द्वेष और क्रोध ज्वलनात्मक-वृत्तिके रूपमें प्रचण्ड हो उठते हैं और हिंसा तथा विद्रोहके रूपमें झण्डा उठाते हैं। यह क्रोध आग है और हिंसा उसकी ज्वाला। हिंसाके निरोधके लिए अहिंसाकी आवश्यकता होती है। अहिंसा आत्मस्वरूपके अनुरूप अन्तःकरणका एक गुण है। यह स्वरूप-स्थितिके अधिक अनुकूल पड़ता है। यह करुणा तथा क्षमासे भी अन्तरङ्ग है; क्योंकि वे दोनों व्यवहार-दशामें ही रहते हैं। अहिंसा शान्तिके रूपमें व्यवहारशून्य दशामें भी विद्यमान रहती है।

यमोंका प्रयोजन

हमारी वाणी, कर्म-कलाप, कामसंकल्प, विचार-विवेक, असत्यसे अनुविद्ध हो गये हैं। हमारी बुद्धि अधिकांश असत्य को ही सत्यके रूपमें ग्रहण करती है और व्यवहार करती है। व्यवहारमें माताके लिए सत्य अलग होता है, पत्नीके लिए अलग। यह सत्यकी विभाजक-रेखा समाधि लगाये बिना टूट नहीं सकती और स्वरूप-सत्यका साक्षात्कार होनेके लिए ऐसा आवश्यक है। ऐसी अवस्थामें यदि केवल वाणीसे ही सत्य-भाषण प्रारम्भ कर दिया जाये तो सत्य क्या है, यह जिज्ञासा जाग जायेगी। हम सत्यको जानेंगे तब सत्यको बोलेंगे। क्या बौद्धिक, मानस या ऐन्द्रियक सत्य ही सत्य है? आत्मसत्य सर्वथा गुप्त-लुप्त-सुप्त हो गया है? आत्मसत्य क्या है? इस जिज्ञासाका बीज सत्य-भाषणमें निहित है। आपकी दृष्टिसे जो असत्य है वह न बोलें, न करें, न सोचें। आपके जीवनमें एक दिन ऐसा आयेगा जब आप वास्तविक मौनका महत्त्व समझ जायेंगे। सत्यके साक्षात्कारके बिना बोलनेमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। सत्यकी अभिव्यक्ति मौनमें होती है।

कहना न होगा कि अष्टाङ्गयोगका यह प्रथम अंग यम न केवल अपने लिए हितकारी है, प्रत्युत लोक व्यवहारमें समाज-सेवाके लिए भी बहुत उपयोगी है। धर्म-कक्षामें साधारण धर्मका सार यही है। वेदान्तके साधन-चतुष्टयमें शम-दम आदि रूप षट्-सम्पत्ति भी इसीका परिपाक है। यह यम ही आदिमें धर्म है और अन्तमें अधिकार-सम्पत्ति। यह जिज्ञासुके जीवनमें इतना घुल-मिल जाता है कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी इसमें शिथिलता नहीं आती। जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका आधार बनकर जीवन्मुक्त पुरुषके जीवनमें उल्लसित होता रहता है। अन्तर्मुखताके साधनोंमें यही प्रथम है, इसके बिना किसी साधनकी नींव मजबूत नहीं होती।

दूसरा अंग : नियम

योगका दूसरा अंग है 'नियम'। यह व्यक्तिगत जीवनके निर्माणका आवश्यक साधन है। एक वस्तु

जब दूसरी वस्तुके साथ मिश्रित हो जाती है तब दोनों हो अपने शुद्ध रूपमें नहीं रहते। मिट्टी और पानी मिलकर कीचड़ बन जाते हैं। शक्कर और जलका मिश्रण शर्बत हो जाता है। न शुद्ध जल रहा, न शुद्ध शक्कर। इसी प्रकार मनुष्यका चरित्र भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियोंके समागमसे अपने शुद्ध रूप अर्थात् पवित्रताको खो बैठता है। आत्मा-अनात्माका मिश्रण भी अशुद्धि ही है। मनुष्यके चरित्रमें जब पवित्रताकी रुचि उदय होती है तब वह बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग दोनों ही प्रकारसे पवित्र रहनेका प्रयास करता है। शरीरपर मैल चढ़नेसे धोनेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मनमें शत्रु-मित्रके प्रवेशसे क्रोध-काम-रूप मलिनता आजाती है और उसके निवारणके लिए द्वेषकी आग बुझानी पड़ती है और रागका रंग छुड़ाना पड़ता है। ऐसा कोई भी रंग नहीं है जो शरीरके बहिर्देश या अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाय और उसको निकालना न पड़े, इसको 'शौच' कहते हैं। यह अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके मलको प्रक्षालित करनेकी प्रक्रिया है। स्नान, सन्ध्या-वन्दनगत अघमर्षणसे यह सम्पन्न होता है। शरीरमें जो भोगका अभ्यास हो गया है वह गहराईमें उतर गया है। भोगका अभ्यास एक रोग है, वह जितना-जितना बढ़ता है उतना-ही-उतना राग-संस्कार घनीभूत होता है, साथ ही भोगके कौशल बढ़ते हैं। भोगी पुरुष किसी-न-किसीको दुःख पहुँचाकर ही भोग करता है। अतएव भोगवृत्तिके संकोचका नियम लेना चाहिए। अपनी रुचिके अनुसार कुछ न हो, न मिले, कोई न बोले तो थोड़ा कष्ट सहकर भी अपनेको संयत रखना चाहिए। संयमहीन मनुष्य पशु हो जाता है। चाहे जिस खेतमें, चाहे जिसकी खेतीपर मुँह मार दिया। जो स्वधर्म-पालनके लिए कष्ट सहन नहीं करता वह धर्मात्मा नहीं, ढोंगी है। योगसम्बन्धी नियममें जो 'तप' है वही वेदान्तियोंकी षट् सम्पत्तिमें तितिक्षा बनकर प्रकट होती है। तपकी माँ है धृति, बेटी है तितिक्षा। जिसके जीवनमें तप नहीं है वह किसी मन्त्रकी रक्षा या ज्ञानके धारणमें समर्थ नहीं हो सकता।

शौच है—तन-मनमें बाहरसे लगे हुएको निकाल देना। तप है भीतर-ही-भीतर तन-मनको तपाकर कुन्दन बना देना। इसके बाद अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेके लिए तत्सम्बन्धी ज्ञान तथा तन्मयता प्राप्त करनेके लिए 'स्वाध्याय'की आवश्यकता पड़ती है। धर्ममें स्वाध्यायका अर्थ होता है सांगवेदोंका अध्ययन। कम-से-कम अपनी शाखाके वेदोंका अध्ययन। उपासनामें स्वाध्यायका अर्थ होता है इष्ट देवताके दर्शनके लिए जप। जपसे प्रपञ्चकी विस्मृति और बारम्बार लक्ष्यका स्फुरण होता है। स्वाध्याय बार-बार प्रपञ्चका विस्मरण कराता है और लक्ष्यका स्फुरण। इससे अभ्यास एवं वैराग्यकी परिपुष्टि होती है। जपमें स्वरूपतः अभ्यास है, दुहराना है और लक्ष्यसे अतिरिक्त वृत्तिका उच्छेद है। स्वाध्यायसे लक्ष्यकी ओर अभिरुचि बढ़ती है।

साधकके लिए यह आवश्यक है कि अपने साधन-शरीरको परिपुष्ट रखनेके लिए किसी बाह्य वस्तुके लिए व्याकुल न हो। निर्वाह-मात्रके लिए ही खान-पान, परिधान, शयन-स्थान अपेक्षित है, सुख लेनेके लिए या ममता करनेके लिए नहीं। यदि बाह्य वस्तुओंसे ही अपनेको गौरवशाली महामहिम माना जाय तो

अन्तरमें जो गरिमा सुषुप्त है वह जाग्रत् नहीं होती; क्योंकि उसकी ओर पीठ हो जाती है। आप असंग आत्मा होनेसे श्रेष्ठ हैं कि बहिरङ्ग पद-प्रतिष्ठा, प्रशंसा, भोग-रागकी प्राप्तिसे ? आपकी आत्मतुष्टि कहाँ है ? 'सन्तोष'के बिना साधना निष्प्राण हो जाती है। हाँ, वह सन्तोष लक्ष्य-प्राप्तिकी साधनासे नहीं, बाह्य-वस्तुओंकी लिप्सासे विरतिके रूपमें होना चाहिए।

यह जीव तबतक शिवसे एक नहीं हो जाता, जबतक पूर्णता एवं अपूर्णता—प्रतीति दृष्टि, उल्लास या कल्पनामात्र नहीं हो जाती, तबतक अपनी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिताके बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। जीव जीव ही है। साधनकी सभी कक्षाओंमें जीवत्व अनुगत रहता है। जीवत्वके साथ निर्बलता जुड़ी हुई है। वह कभी उदास होता है, कभी निराश होता है, कभी थोड़ी देरके लिए उल्लास भी तरंगायित हो जाता है। जैसे शरीर स्वस्थ-अस्वस्थ होता रहता है, वैसे मन भी खिलता-मुरझाता रहता है। जैसे शरीरके लिए चिकित्सक और चिकित्साकी आवश्यकता होती है वैसे ही मनके रोगोंकी चिकित्सा है—'ईश्वर प्रणिधान'। ईश्वर शाश्वत है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, करुणा-वरुणालय है, परम गुरु है। जैसे साँसके साथ हवा रहती है, आँखके साथ प्रकाश-ज्योति रहती है, वैसे ही प्रत्येक मनमें जो सत्त्वांश है वह महासत्त्व शरीर परमेश्वरका ही रूप है। मन कण है तो ईश्वर मृत्तिका, मन बिन्दु है तो ईश्वर सिन्धु, मन घट है तो ईश्वर घटाकाश। अतएव 'ईश्वरमें स्वतः समर्पणकी विद्यासे मनको देखना प्रणिधान है।' ईश्वर है प्रकृष्टनिधान। सत्त्वात्मक मनका खजाना है, कोश है। स्थिति-मति-गति-रतिका कारण है—परमेश्वर। उसमें अपने मनको समर्पित करना, उसीके उद्देश्यसे अपने समस्त क्रिया-कलापोंका अनुष्ठान, ईश्वरके प्रति आत्म-समर्पण 'प्रणिधान' अथवा शरणागतिभाव है। क्या हो रहा है, मिल रहा है, किया जा रहा है, बोला जा रहा है ? इसकी ओर न देखकर सर्वत्र परम गुरु परमेश्वरका करुणामय, हितमय वरद हस्तकमल ही देखना चाहिए। उसकी उपस्थितिमें, उसकी आँखोंके सामने जो कुछ हो रहा है उसमें अनिष्टकी सम्भावना ही क्या है ? इस सम्पूर्ण समर्पणसे साधक लौकिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर तथा परमार्थकी प्राप्तिमें आशावान होकर विश्वासपूर्वक दृढ़तासे अपने साधनमें संलग्न हो जाता है। जहाँ भक्तिमार्गमें समर्पणको साधनकी पूर्णता मानते हैं वहाँ योगमार्गमें समर्पणको योग-साधनामें सहायक अङ्गीकार करते हैं।

यम-नियम साधनमात्रकी प्रथम भूमिका है। साधन-मार्गपर चलनेके लिए ये अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य पाथेय हैं। ये मार्गमें मिलनेवाले प्रलोभनों एवं प्रतिबन्धोंसे रक्षा करते हैं। किसीको हानि पहुँचाये बिना एवं स्वयं हानि उठाये बिना आगे बढ़नेके लिए यही अन्तरङ्ग बलसम्बल हैं।

योग-सिद्धान्त और साधना

योग-सिद्धान्तमें सृष्टि दो प्रकारकी है; १. प्रकृतिका परिणाम, २. अविद्याका परिणाम। अविद्या ही मैं-मेरा, अपना-पराया एवं भयकी सृष्टि करती है। इन्हींको योगकी भाषामें अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश कहा जाता है। ये क्लेश हैं। धन-हरण, जन-मरण अथवा भवन-दहन क्लेश नहीं हैं, क्लेश है—

धन, जन, भवनमें ममता एवं अहंता। यह अविद्याके कारण ही होती है। जब प्रकृति-पुरुषका विवेक होता है और समग्र सृष्टिप्रपञ्च प्रकृतिमें समाधिस्थ कर दिया जाता है जैसे मुर्देको कब्रमें गाड़ दिया गया हो तब ज्ञानस्वरूप द्रष्टा समाधिमें नहीं गड़ता; वह समाधिसे पृथक् होकर विवेक-ख्यातिके द्वारा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। जबतक विवेक-ख्याति नहीं होती तबतक सम्प्रज्ञात-समाधि होती है। विवेक-ख्यातिके अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि हो जाती है। योगके अंगोंमें यह समाधि अन्तिम अंग है, इसलिए साधनाके प्रारम्भसे ही समाधिका प्रारम्भ हो जाता है। योग-सिद्धान्तके अनुसार तत्त्व केवल दो ही हैं—पुरुष और प्रकृति। असङ्ग द्रष्टा पुरुष अपरिणामी है। प्रकृति क्षण-परिणामी है। प्रकृति ही प्रथम कारण है। यह अनेक रूप धारण करती है। पञ्चभूत अन्तिम कार्य हैं। बीचके तत्त्व अपने कार्यके प्रति कारण हैं एवं अपने कारणके प्रति कार्य हैं अर्थात् उभयात्मक हैं। पुरुष इस कार्यकारणात्मक सृष्टिसे विलक्षण असंग एवं उदासीन है। वह कभी किसी रूपमें परिणत नहीं होता। उसके विविक्तरूपका साक्षात्कार समाधिसे हो जाता है। योगकी भाषामें उसे साक्षात्कार नहीं कहते, स्वरूपमें अवस्थान कहते हैं। उसके पूर्वके जितने साधन हैं, उनमें समाधि किसी-न-किसी रूपमें अनुगत रहती है।

प्रकृति त्रिगुणमयी है। गुण हैं सत्त्व, रज, तम। ये परिणामके क्रमसे प्रलयके समय साम्यावस्थामें होते हैं और सृष्टिके समय वैषम्य दशामें। साधन तमसे रजमें, रजसे सत्त्वमें, वृत्त्याकार-सत्त्वसे शान्तसत्त्वमें प्रतिष्ठित करता है। यही कारण है कि आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार तीनों अपने-अपने स्थानपर समाधिके लिए आवश्यक साधन हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रकृतिका अन्तिम कार्य पञ्चभूत ही है। पशु-पक्षी-मनुष्य आदिके जो विविध शरीर हैं वे कार्य नहीं हैं, कार्याभास हैं तथा पञ्चभूतमें क्लृप्त अथवा कृत्रिम हैं। कार्यका कार्य नहीं हुआ करता। अतएव शरीरोंका आदि एवं अन्त पञ्चभूत ही हैं। उन्हींमें ये दीखते हैं और समाप्त हो जाते हैं। इसमें मैं-मेरा अविद्या अथवा अविवेककी रचना है, प्रकृतिकी रचना नहीं। अतः शरीरोंको योग-साधनके द्वारा द्रव्य-समाधि दी जाती है। शरीरकी स्थिरता उसे पञ्चभूतसे एक कर देती है। व्यष्टि-मूढ़ता समष्टि-मूढ़तासे एक हो जाती है। यही शरीरकी द्रव्य-समाधि है। यदि किसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव किये बिना आरामसे शरीर चिरकालतक स्थिर रह जाय और चेतनाका लोप न हो तो तमोगुणका व्यष्टि-कार्याभास समष्टि-कार्यमें समाधिस्थ हो गया। यही आसनकी सिद्धि है। इससे क्षुधा-पिपासापर विजय प्राप्त हो जाती है। पञ्चभूतोंका जीवन ही शरीर-जीवनके लिए पर्याप्त हो जाता है।

आसन और प्राणायाम

रजोगुण विक्षेप-रूप है। उसकी प्रधानतासे क्रियाएँ होती हैं, विक्रिया भी होती है। अविद्याके कारण देहमें मैं-मेरा होता है और तद्गत क्रियाशक्ति प्राणमें भी मैं-मेरा होता है। इसीसे शरीरमें श्वासोच्छ्वास,

रक्त-सञ्चार, पाचन, मलापसरण, केशवृद्धि, आंगिक-परिवर्तन और तो क्या, क्रिया-विक्रिया सब-की-सब होती रहती हैं। प्राणायामकी साधना इन क्रिया-विक्रयाओंकी प्रक्रियाको ठप्प कर देती है, केवल श्वासक्रिया-मात्र शेष रहती है। समष्टिगत क्रिया ही व्यष्टिकी क्रिया हो जाती है। समष्टि क्रियामें व्यष्टि-क्रियाकी समाधि ही प्राणायामकी सिद्धि है। इससे देहमें स्वाभाविक बलका विकास और दीर्घजीवनका प्रकाश भी आजाता है। प्रारम्भमें आसन-प्राणायाम दोनोंके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु समाधिके लिए उपयोगी एक ही आसन और एक ही प्राणायाम होता है। हिलते हुए या सोते हुए शारीरिक आसन योगके लिए उपयोगी नहीं हैं। पहलेमें विक्षेप है और दूसरेमें लय है। अतएव जैसे समाधिके लिए बैठे हुए शरीरका आसन उपकारक है वैसे ही विविध प्राणायामोंमें कुम्भकप्रधान प्राणायाम ही योगके लिए उपयोगी होता है।

योगाङ्गोंमें प्रत्याहार

इन्द्रिय एवं विषयोंका सन्निकर्ष ध्यानात्मक ही होता है। आसनसे द्रव्यशक्ति, प्राणायामसे क्रिया-शक्ति एवं प्रत्याहारसे विविध ज्ञानात्मक इन्द्रियशक्तिको समाधिस्थ किया जाता है। इन्द्रिय एवं विषय दोनोंकी शक्ति सीमित होती है। वे अपने-अपने मण्डलमें परस्पर मिलते रहते हैं। वे कितनी दूरीतक, कितनी देरतक और किस प्रकार स्वयंमें मिलते-बिछुड़ते हैं, यह उनकी शक्तिपर अवलम्बित है। वस्तुतः सारी सृष्टिका चित्त-सत्त्व एक है। इन्द्रियोंकी उपाधिसे भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय-शक्तियाँ चित्त-सत्त्वकी वृत्ति हैं। जैसे जल बहनेके समय तरंगायित होता है, स्थिरताके समय शान्त होता है; उसी प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा सत्त्वात्मक ज्ञान-शक्ति भी पृथक्-पृथक् विषयोंको ग्रहण करते समय वृत्ति-रूपसे विक्षिप्त होती है। और विषयोंका ग्रहण न करनेपर अपने गोलकमें शान्त हो जाती है। इन्द्रियवृत्तियोंका अपने-अपने विषयोंका आहार न करके अपने-अपने गोलकमें स्थिर हो जाना ही प्रत्याहार है। ऐन्द्रियक ज्ञानवृत्तियोंकी समाधि ही प्रत्याहारका मुख्य रूप है, इससे विषयोंके आकर्षण, प्रलोभन एवं तज्जन्य प्रतिबन्धको निवृत्त करनेमें पूरी सहायता मिलती है। अतएव योगके अंगोंमें आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार द्रव्य-समाधि, क्रिया-समाधि तथा ऐन्द्रियक वृत्ति-समाधिके द्वारा चित्त-निरोधमें पूर्णतः उपयोगी हैं। इन्हींके द्वारा शरीर कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियोंका वशीकरण सम्पन्न होता है। 'निरोधका अर्थ मारण नहीं होता, स्वायत्तीकरण होता है।' इन तीनोंमें इतना अन्तर अवश्य है कि आसन और प्राणायाम तो बिना वैराग्यके केवल अभ्याससे किये जा सकते हैं। परन्तु प्रत्याहार अपनी स्थिरताके लिए वैराग्यकी अपेक्षा रखता है। यम-नियममें धर्म, आसन-प्राणायाममें अभ्यास और प्रत्याहारकी स्थिरतामें वैराग्य हेतु है। अपने लक्ष्यको बारम्बार स्पर्श करना अभ्यास है। लक्ष्यके विरोधीकी उपेक्षा कर देना वैराग्य है। लक्ष्यके विरोधीके प्रति भी स्पर्धा, द्वेष, क्रोध या ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए।

धारणा, ध्यान, समाधि और उनका विज्ञान

इन पाँच साधनोंके बाद इनकी अपेक्षा तीन अन्तरङ्ग-साधनोंका प्रारम्भ होता है, उनका नाम है

धारणा, ध्यान औ. समाधि। इस बातपर बहुत कम लोगोंका ध्यान जाता है कि न्यायवैशेषिक एवं पूर्व-मीमांसामें द्रव्यरूपसे स्वीकृत देश-काल योगाभ्यासमें कहाँ लुप्त हो जाते हैं? देश तथा काल योगसिद्धान्तमें पदार्थ ही नहीं हैं। वृत्तिके संकोच-विस्तारका नाम 'देश' है और उदय-विलयके क्रमका नाम 'काल' है। ये न प्रकृति हैं, न विकृति हैं, न उभयात्मक हैं। वृत्तिनिरोधसे ही इनका निरोध सम्पन्न हो जाता है। जैसे पञ्चभूतोंमें कल्पित आकृतियों अर्थात् कार्याभासोंको वस्तु समझना अविवेक है, वैसे ही व्यष्टि-समष्टि कालको वृत्तिसे पृथक् मान बैठना अविवेक ही है। धारणाके द्वारा देशाकार-वृत्तिका मुख्यरूपसे संकोच किया जाता है और ध्यानके द्वारा प्रधानतया कालाकारवृत्तिका संकोच किया जाता है। वृत्तिके संकोचनसे साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण ही पूर्वोक्त तीन साधनोंसे ये दोनों अन्तरङ्ग हैं।

पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊर्ध्व-अधः, अन्तर्बहिरूप वृत्तियाँ ही दिशाओंके आकारमें फैली हुई मालूम पड़ती हैं। देशके किसी एक आकारमें वृत्तिको बाँध दीजिये—मूलाधार या सहस्रार, दिव्य देश वैकुण्ठ, या आध्यात्मिक हृदय-देश इनमेंसे कहीं भी एक हृदय-देशमें वृत्तियोंको बाँध दीजिये द्विभुज, चतुर्भुज आदि मूर्तियोंमें भी लम्बाई-चौड़ाई होती है, शालिग्राम शिलामें भी गोलाई होती है। उसमें कहीं भी वृत्तिको स्थिर कर लेना, दूसरा स्थान स्फुरित न हो। इसको यहाँसे भी शुरू कर सकते हैं कि हम अपनी मनोवृत्तियोंको मकान, कमरे या शरीरके घेरेसे बाहर नहीं जाने देंगे। शरीरगत किसी चक्रमें वृत्तिको तदाकार कर दीजिये। धीरे-धीरे देशकी कल्पना सूक्ष्म होकर लुप्त हो जायगी और वृत्तिका स्थानान्तरण नहीं होगा। वस्तुतः वृत्तिका स्थानान्तरण नहीं होना चाहिए। स्थानाकार कल्पना ही नाना रूप धारण करती है। न वृत्ति देशमें रहती है, न विदेश जाती है। वृत्ति ही तत्तत् रूपसे परिणत होती रहती है। जब वृत्ति अणु-देशमें स्थित होती है तब देशका विस्तार लुप्त हो जाता है और केवल वृत्ति ही रहती है। यह देश-कल्पना-विनिर्मुक्त वृत्ति परिणामरूप देशके आश्रयसे संकोचविस्तारसे मुक्ति पा लेती है और चित्त,सत्त्वसे एकता अर्थात् समाधिकी योग्यतासे प्राप्त कर लेती है। समाधि और समाधानका अर्थ एक ही है। सम्यक् आधान अर्थात् वृत्तिका अपने चित्त-सत्त्वरूप कारण-द्रव्यसे अभिन्न होकर स्थित होना है।

वृत्तियाँ क्रम अथवा अक्रमसे उदय-विलयको प्राप्त होती रहती हैं। उदय एवं शान्तिका क्रम तो रहता ही है। क्रमकी संख्या ही वृत्तिका कालाकार परिणमन दिखाती है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब वृत्तिमें ही हैं; न प्रकृतिमें, न पञ्चभूतमें। द्रष्टासे तो इनका सम्बन्ध कल्पित रूपसे भी नहीं हो सकता। वस्तुतः काल वृत्ति-रूप ही है। वृत्तियोंकी लयदशामें काल-संवित् नहीं रहती। जबतक संवित् है। वृत्ति और कालको पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। जब वृत्ति पुनः-पुनः एक ही लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होने लगती है, एक ही लक्ष्यके सम्बन्धमें ताना-बाना फैलाने लगती है तो धीरे-धीरे वृत्तिकी गाढ़ता होनेपर काल अणु होता जाता है और उसके साथ ही वृत्ति भी अणु होती जाती है। अणुदशामें जाकर काल अपने अस्तित्वकी कल्पना खो देता है और वृत्ति कालाकार परिणामको छोड़कर लक्ष्याकार हो जाती है। फिर

कालका बोध नहीं रहता। वृत्ति क्रमसे हो, अक्रमसे हो, प्रतिलोम क्रमसे हो, कैसे भी क्यों न हो, उसमें अणुकाल जान पड़ता है। ध्यानकी पराकाष्ठामें उसी काल-कलनाका लोप हो जाता है। इस समाधि अथवा समाधान-दशामें लक्ष्य-ही-लक्ष्य फुरता है, वह काल नहीं। इसलिए ध्यान समाधिका अव्यवहित पूर्ववर्ती साक्षात् साधन है।

समाधि विज्ञान

यही कारण है कि आत्मा अथवा ब्रह्म देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। यह सिद्ध करनेके लिए योगसाधनामें आवश्यकता ही नहीं होती। वृत्तियोंका निरोध अथवा समाधि होनेपर देश, काल और विविध कार्य-वस्तुएँ भासती ही नहीं। चित्तवृत्तियाँ एक अखण्ड चित्त-सत्त्वसे एक हो जाती हैं और उसका द्रष्टा समग्र चित्त-सत्त्वका विभु—द्रष्टा होता है। दूसरा पुरुष है, कोई ईश्वर है, प्रकृति प्राकृत है, यह सब वृत्ति-विलास है। वृत्ति जब चित्त-सत्त्वमें लीन हो जाती है, तब द्रष्टा किसीका द्रष्टा नहीं, दृङ्मात्र ही रहता है। इसीको 'कैवल्य' कहते हैं।

वृत्तिका चित्त-सत्त्वमें शान्त होना समाधि है। इसके दो विभाग हैं; विवेकख्यातिके पूर्व और उसके पश्चात्। पहलीका नाम सम्प्रज्ञात समाधि, दूसरीका नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। इनमें विवेक ख्याति ही विभाजक रेखा है। प्राकृत प्रपञ्चका स्वाभाविक उदय-विलय पुरुषके कैवल्यका हेतु नहीं है। अभ्यासजन्य समाधिसे कैवल्य होता है। अतः समाधि-स्थिति लाभ करनेके लिए प्रयत्न आवश्यक है।

चित्त-सत्त्वका साम्योन्मुख या वैषम्योन्मुख स्पन्दन ही वृत्ति है। साम्यमें आकार सम होते हैं और वैषम्यमें विषम। 'वर्तनम् वृत्तिः' व्यापृत होनेका नाम वृत्ति है। योगदर्शनमें इन्हें पाँच प्रकारका माना गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। ये अविद्या आदि पञ्चक्लेशोंसे युक्त भी होती हैं और वियुक्त भी। इनका रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो निरोध करने योग्य ही है। लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक सभी प्रकारकी वृत्तियाँ निरोध्य कोटिमें ही आती हैं। धर्मानुष्ठान; भगवद्भक्ति, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, इनमें-से किसीको योगी लोग निरोध्यसे बाहर नहीं मानते। जब प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमारूप समग्र व्यवहार ही वृत्ति रूप है और उसका निरोध करना है तब दूसरी वृत्तियोंकी तो महत्ता ही क्या है? यह एक अलग दर्शन है। भक्ति-दर्शन और वेदान्त-दर्शन इस प्रकारके समाधि-योगको स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्ति और ब्रह्मविद्या दोनों ही वृत्तिरूप हैं और उन्हें निरोध कर देनेके बाद भगवदाकारताकी प्राप्ति और अविद्याकी निवृत्तिके लिए कोई साधन ही नहीं रह जाता। इसीका नाम शास्त्रोंमें प्रस्थान-भेद है। अस्तु।

स्थूल-आलम्बनसे वृत्तियोंका निरोध, सूक्ष्म आलम्बनसे वृत्तियोंका निरोध, आनन्दालम्बनसे वृत्तियोंका निरोध—सम्प्रज्ञात समाधिके ये चार प्रकार हैं। इनके तीन विभाग और होते हैं—ग्राह्य, ग्रहण और

ग्रहीतामें समापत्ति। समाधिकालमें ज्ञान शब्द एवं अर्थका भेद मिट जाता है। योग-सिद्धान्तमें ज्ञान भी प्रकृतिका ही परिणाम है। इसलिए 'घट' शब्द 'घट' अर्थ और 'घट' ज्ञानकी एकता होनेपर प्राकृत ज्ञानमें ज्ञाताज्ञेयका भेद नहीं रहता। परन्तु अप्राकृत चितिशक्ति ज्ञानस्वरूप ज्यों-की-त्यों रहती है। यहीं प्राकृत ज्ञान और शुद्ध ज्ञानका पृथक्करण हो जाता है। इसे विवेक-ख्याति कहते हैं। समाधिकालसे प्रशान्त भावसे संस्कार प्रवाहित होते रहते हैं। जब द्रष्टाके सम्मुख त्रिपुटी अर्थ मात्र भासती है तब सबीज-समाधि है। जब उसका भी निरोध हो जाता है तब सबका निरोध हो जाता है और निर्बीज-समाधि सिद्ध हो जाती है।

सिद्धान्त वैलक्षण्य

योग-सिद्धान्तकी यह विलक्षणता है कि वहाँ पुरुष कर्ता नहीं है। प्रकृति ही कर्तृ है। वह स्वाभाविक रूपसे परिणामको प्राप्त होती है और बुद्धिपूर्वक करती है। होना और करना प्रकृतिके दोनों ही रूप हैं। निद्रा स्वतः होती है और समाधि बुद्धिपूर्वक की जाती है। बुद्धि जब वृत्तियोंको बहिर्मुखताकी ओर तीव्र संवेगसे धक्का दे देती है तब वे कर्तृत्वके बिना ही अपने लक्ष्यसे जाकर मिल जाती है; अर्थात् पुरुषके सम्मुख चित्त-सत्त्वसे एक होकर स्थिर हो जाती है। समाधिकी साधनामें बुद्धिका कर्तृत्व काम करता है। परन्तु विवेकख्याति हो जानेपर वह निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार बहिर्मुख परिणामके द्वारा प्रकृति ही पुरुषको भोग देती है और अन्तर्मुख परिणामके द्वारा अपवर्ग देती है। पुरुष असङ्ग उदासीन है, वह अपने कैवल्यमें स्थित है, उसमें न भोग है, न अपवर्ग है। योग-दृष्टिसे कृतार्थ पुरुषके प्रति प्रपञ्च नहीं रहता। परन्तु प्रपञ्च एक प्राकृत सत्य है। वह दूसरे अकृतार्थ पुरुषोंके प्रति ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जो वृत्तिनिरोध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जायगा वह मुक्त है और जो ऐसा नहीं करेगा वह बद्ध है और वृत्तियोंके साथ घुल-मिलकर जैसी-जैसी वृत्तियाँ होंगी वैसा-ही-वैसा वह बनता रहेगा। शरीरमें अभिनिवेश होनेपर भयकी उत्पत्ति होती है, पञ्चतन्मात्राओंके प्रति राग-द्वेष होता है। अहंताकी कक्षामें अस्मिता जुड़ जाती है। महत्तत्त्वमें बुद्धिकी भ्रान्त करनेवाली अविद्या है। समाधि प्रकृति-लयकी समानान्तर-रेखापर है। परन्तु पुरुष इन सबसे विलक्षण है। संसारके सभी क्लेश वृत्ति-सारूप्यके कारण हैं। इन्हींसे परिवर्तन, ताप, संस्कार, गुण वृत्ति-विरोधके कारण दुःख होता है। अतः योगाभ्यासके सिवाय इनसे बचनेका कोई उपाय नहीं है।

योग विभूतियाँ

योगानुष्ठानके साथ विभूतियोंका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब वृत्तियाँ परिच्छिन्न देहका तादात्म्य छोड़कर परिपूर्ण चित्त-सत्त्वसे एक होने लगती हैं तो उसके पूर्ण ज्ञान, शक्तिका सम्बन्ध वृत्तियोंसे भी होने लगता है। इससे अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंका प्रकाश होना सम्भव है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण परचित्त-ज्ञान, परकाया-प्रवेश—ये सब क्षुद्र सिद्धियाँ हैं,। जब वृत्तियाँ चित्त-सत्त्वमें डूबकर निकलती हैं

तो कुछ-न-कुछ ले आती हैं। ये विभूतियाँ, समाधि, विवेक-ख्याति एवं पुरुषकी स्वरूप-स्थितिके प्रति विघ्न हैं। यदि योगाभ्यास करते-करते कोई सिद्धि आ भी जाय तो मौनके द्वारा अर्थात् उसे गुप्त रखकर दबा देना चाहिए। सिद्धियोंके प्रति आकर्षण या प्रदर्शन या ख्यातिका भाव होनेपर यौगिक लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

योग और धर्म

धर्म और योग—दोनों ही पुरुष-प्रयत्न-साध्य हैं। अतएव अपौरुषेय श्रुतिके द्वारा इनका उपदेश होनेपर भी यह त्वं-पदार्थ-प्रधान जीवके धर्म ही हैं। यही कारण है कि शास्त्रोंमें इन्हें अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके नामसे कहा गया है। अनुष्ठान-प्रवण बुद्धिके द्वारा धर्म होता है, शान्ति-प्रवण बुद्धिके द्वारा योग। सिद्धि-लाभतक इन दोनोंका समुच्चय नहीं चल सकता। सबके लिए इनका विकल्प भी योग्य नहीं है। अतः अधिकारीभेदसे ही इनकी व्यवस्था करनी चाहिए। जिसकी प्रवणता (झुकाव या रुझान) कर्मकी ओर है उसके लिए धर्मका विधान है, जिसका झुकाव शान्ति एवं समाधिकी ओर है उसके लिए योगाभ्यासका। धर्म करण-शुद्धिका प्रधान साधन है और योग कर्ताकी शुद्धिका। अतएव दोनों वेदोक्त त्वं-पदार्थके शोधनमें सहायक हैं।

भागवत धर्म

तत्पदार्थ और भक्ति

अब तत्पदार्थ-प्रधान धर्मका विचार करते हैं। तत्-पद सर्वनाम भी है और ईश्वर-नाम भी है। 'ॐ तत् सत्' प्रसिद्ध है। धात्वर्थ है—प्रपञ्चका विस्तारक—तनोति। उसके स्वरूपका चिन्तन, स्मरण, श्रवण, कीर्तन, सब तत्पदार्थ-प्रधान धर्म हैं। जिससे मन उसमें लगे उसपर मनःकल्पित आवरण भंग हो। वह तत्पदार्थ-प्रधान धर्म होता है। लोक-भाषामें उसे भक्ति कहेंगे। संसारको और ईश्वरको विभाग-पूर्वक अलग-अलग करके ईश्वरका अनुसन्धान करना। 'भाग-विभाग' भक्ति है। 'भजन' भक्ति है। 'संसार-भञ्जन' भक्ति है। त्वं-पदार्थके चिन्तनमें आत्म-अनात्म-विवेकका जो स्थान है वही तत्-पदार्थके चिन्तनमें भक्तिका स्थान है। अपरोक्षका विवेक, परोक्षकी भक्ति। प्रत्यक्षानुमानवादी चार्वाक, बौद्ध आत्मा-परमात्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। जैन सङ्कोच-विकासशील आत्माको मानते हैं, परमात्माको नहीं। जैन एवं बौद्धोंमें भक्ति तो है परन्तु वह वीतराग सिद्ध पुरुष तीर्थङ्कर अथवा बुद्धकी है, परमात्माकी नहीं। न्याय-वैशेषिकमें युक्ति-सिद्ध परमात्मा है। योगदर्शनमें साधनसिद्धिमें सहायक प्रयोजनसिद्ध परमात्मा है। तत्त्व-दृष्टिसे सांख्ययोगमें परमात्माको दृश्य-विभाग या द्रष्टा-विभागमें अन्तर्भूत करना पड़ेगा या द्रष्टा-दृश्यसे विलक्षण महाद्रष्टाकी कल्पना करनी पड़ेगी। पूर्वमीमांसामें आत्मा कर्ता है, फलदाता परमात्मा स्वीकार नहीं है। कर्म स्वयं अपना फल दे लेता है। वेदान्त-दर्शनमें-परमात्मा माया-उपाधिसे युक्त होकर जगत्का कर्ता

भी है और जीवोंके कर्मका फलदाता भी है। यह केवल युक्ति-सिद्ध या भावकल्पित नहीं, श्रुतिसिद्ध है। परमार्थके अनुभवमें इसका एक स्थान है। जीव-ईश्वर अविद्या-मायासे विनिर्मुक्त-स्वरूपमें अभिन्न है।

प्रपञ्च कारणत्व-विचार

प्रपञ्चके कारणके सम्बन्धमें भी विविध मत हैं। चार्वाक भूत-चतुष्टयसे सृष्टि मानते हैं। उन्हें उत्पत्ति-प्रलय स्वीकार नहीं है। अतएव कर्म या ईश्वर-रूप निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती। जैन सृष्टिकी उत्पत्ति एवं विनाश तो नहीं मानते परन्तु पुद्गलको उपादान एवं कर्मको निमित्त मानकर पदार्थोंके जन्म-मृत्युकी संगति लगाते हैं। भूत-चतुष्टय और पुद्गल दोनों बहिरङ्ग हैं, कर्म अन्तरङ्ग है। न्यायवैशेषिक परमाणुको उपादान, ईश्वरको निमित्त और कर्मादिको सहकारी मानते हैं। इसका उपादान भी बहिरङ्ग हैं। बौद्ध अन्तरङ्ग कारणवादी हैं। उनका विज्ञान, चित्त, शून्य, कर्म सब कुछ अन्तरङ्ग ही है। उनके कार्य-कारणवादमें परमात्माके लिए कोई स्थान नहीं है। सांख्य-योगमें प्रकृति उपादान एवं निमित्त दोनों ही है, वह स्वयं बनती है और स्वयं बनाती है। बुद्धि और पुरुषके बीचमें स्थित होनेके कारक वह अन्तरङ्ग है। पूर्वमीमांसक सृष्टिको अनादि-अनन्त मानते हैं। इसमें कर्म-निमित्तक विविधता है। आत्मा कर्ता-भोक्ता है। सृष्टि-बहिरङ्ग है परन्तु कर्म एवं कर्ता अन्तरङ्ग ही हैं।

वेदान्त तत्-पदार्थस्वरूप परमात्माका निरूपण करता है। उसमें दो धारा बन गयी हैं—सगुणवादी और निर्गुणवादी। सगुणवादीमें वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। परन्तु आश्चर्य है कि ये सब-के-सब परमात्माको अभिन्न-निमित्तोपादान कारण मानते हैं। कोई विशेष्य-विशेषण, कोई कार्य-कारण, कोई स्वाभाविक, कोई औपाधिक, कोई विवर्त, कोई परिणाम मानते हैं। ऐसा मानना, जानना अनुभव करना इसलिए भी आवश्यक है कि श्रुतियोंमें एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञा है। मृत्तिका, लौह और स्वर्णके दृष्टान्तों द्वारा परमात्माकी एकताका प्रतिपादन है। उपनिषद् स्पष्ट कहती है—सब कुछ प्रज्ञान-घन ही है। ब्रह्म-सूत्र भी दुविधामें नहीं। उसका कहना है; श्रुतिका आदेश है कि केवल परमात्मा ही सत्य है। अन्यत्र श्रूयमाण प्रकृति भी परमात्माका ही एक नाम है। सब कुछ परमात्मासे अनन्य है, विकार वाचारम्भण (नाम) मात्र है। आत्मा सब है, ब्रह्म सब है, वह सब है, सत् सब है, अहं सब है, इस प्रकारके अनेकानेक मन्त्र उपलब्ध हैं। अतएव परमात्माके अतिरिक्त जो कुछ जान पड़ता है वह भ्रम-कल्पित है अथवा परमात्माका आत्म-विलास है। सत्के कार्य हैं परन्तु सत् अपरिणामी है। चित्की प्रतीतियाँ हैं परन्तु वह दृश्य कभी नहीं होता। आनन्दके लीला-विलास हैं परन्तु वह निर्विकार है। परिणाम-रहितमें कार्य है। अदृश्यमें दृश्य है। भोक्ता-भोग्यके बिना आनन्द है। परमात्माका यही वेदान्त-सिद्ध स्वरूप है। यह केवल श्रद्धाका विषय नहीं है। आवरण-भंग होनेपर साक्षात् अपरोक्ष अनुभवस्वरूप है, पहले श्रुति-सिद्ध है, पश्चात् अनुभव-स्वरूप है।

भजनीय तत्त्वकी अद्वयता

यह परमात्मा यदि आत्मासे पृथक् हो तो प्रत्यक्ष होनेपर दृश्य, कार्य, जड़ एवं भोग्य हो जायेगा। परिच्छिन्न मानना पड़ेगा। यदि परोक्ष हो तो केवल कल्पित होगा। परमात्माकी प्रत्यक्ष-परोक्षसे विलक्षण साक्षात् अपरोक्षता, अभेदको स्वीकार किये बिना हो नहीं सकती। परमात्मा मुझसे अलग होकर कल्पित है, सत्ताशून्य है, मूर्च्छित है, जड़ है। परमात्मासे अलग होकर आत्मा मृत्युग्रस्त है, मूर्च्छित है, दुःखी है। अतएव श्रुति-सिद्धि परमात्मा अद्वितीय है। एकका दो-तीनमें अन्वय होता है। उनसे व्यतिरेक भी होता है। एकमें वृद्धि-ह्रास-विभाग-संयोग-पृथक्त्व आदि हैं परन्तु अद्वितीयमें यह सब कुछ नहीं है। अतः वेदान्तोंने निरुपाधिक स्वरूपमें आत्मा-परमात्माके अभेद एवं अद्वितीयताका ही निरूपण किया है। निश्चय ही तत् तथा त्वं-पदार्थका निरूपण करनेके लिए बहुत-से वेदान्त-वाक्य हैं, उन्हें अवान्तर-वाक्य कहते हैं। उन सबके द्वारा निरूप्य 'तत्-त्वं'का सामानाधिकरण्य एवं 'असि' पदके द्वारा सांकेतिक एकता दोनों पदार्थोंकी उपाधिका निषेध करके स्वरूपकी अद्वितीयता बोधित करती है। अद्वितीयतामें उपाधियाँ बाधित हो जाती हैं, फिर प्रयोजन-पूर्ति हो जानेसे निषेध्य भेद-समर्पक एवं तन्निवर्तक वाक्य, महावाक्य भी बाधित हो जाते हैं। सत्य प्रत्यगात्मासे अभिन्न एवं अद्वय ब्रह्म है।

भागवतधर्ममें अधिकार-वैलक्षण्य

अबतक यह विचार किया गया कि धर्म तथा परमधर्म अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारमें उपयोगी हैं। यह निश्चत है कि उनके विशेष-विशेष अधिकारी होते हैं। धर्मके अनुष्ठानमें वह अधिकारी होता है जो उसके साध्य-फलका इच्छुक हो, समर्थ हो, समझदार हो एवं शास्त्र-निषिद्ध न हो। अधिकार सम्पत्तिके बिना अविधि-पूर्वक निरुद्देश्य किया हुआ धर्मानुष्ठान अपूर्व द्वारा फलोत्पादक नहीं होता। समाधिके द्वारा आत्मस्वरूपावस्थानके इच्छुक विवेकवान् अभ्यास-वैराग्यपरायण व्यक्ति योगके अधिकारी होते हैं। विवेक-वैराग्य-शमादि सम्पत्तियुक्त मुमुक्षु जिज्ञासा-सम्पन्न होकर ब्रह्मात्मैक्य-बोधके अधिकारी होते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकारकी साधन-सम्पन्नता सर्वसाधारणके लिए सुगम नहीं है। मानसिक दुर्बलताओंके कारण पग-पगपर वासनाके वशीभूत होकर दुश्चरित्रताके गर्तमें गिरना, हीनताकी ग्रन्थिसे आबद्ध होना, भोग्य वस्तुओं एवं ममतास्पद व्यक्तियोंके प्रति अनर्थकारक आसक्ति, विद्या-बुद्धि-धन आदि आगन्तुक विनश्वर वस्तुओंका मिथ्याभिमान, अज्ञानको ही ज्ञान समझ बैठना, कुछ ऐसे बाधा-विघ्न हैं जिनके कारण मनुष्य धर्म, योग या ज्ञानकी साधना करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। यह न कर पाना बल-पूर्वक निषेधके कारण नहीं हैं परन्तु अपनी अयोग्यताओंके कारण है। इन अयोग्यताओंसे ऊपर उठनेके लिए किसी प्रबल आश्वासन अथवा दृढ़ आलम्बनकी आवश्यकता होती है। फिसलता हुआ सँभल जाय, गिरा हुआ उठ जाय, पिछड़ा हुआ भी आगे बढ़े, इसके लिए कोई दृढ़ आश्रयकी अपेक्षा होती है। गिरे हुएको

गोदमें उठा ले, दीन-हीनको हृदयसे लगा ले, बेसहारेका सहारा बन जाय; ऐसा कोई-न-कोई होना चाहिए और ऐसा अवश्य कोई है। वह ऐसा होना चाहिए जो हमारी योग्यताओंकी ओर न देखे, क्योंकि वह तो अयोग्यता ही है। अपने सहज शील-स्वभावसे ही हमारा रक्षण, पालन-पोषण एवं संवर्द्धन करे। मनुष्यकी इसी आशाकी पूर्तिके लिए भागवत-धर्म प्रकट हुआ है।

भागवत-धर्मकी यह विशेषता है कि वह अधिकार-अनधिकारकी परीक्षा नहीं करता। वह निरीक्षण-समीक्षणके बिना ही क्षण-क्षण सबके ऊपर कल्याणकी वर्षा करता है। भागवत-धर्म एक ओर नारदादि ऋषियों, धर्मराजादि देवताओं, मनु आदि राजाओं, व्यास आदि विद्वानों शुक आदि अवधूतोंमें रहता है, तो दूसरी ओर वृत्रासुर आदि दैत्यों, गोपियों, गायों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, लताओं और अजामिल आदि पतितोंमें भी प्रकट होता है। जैसे एक बगीचेका माली अपने लगाये हुए पौधेको निर्बल देखता है तो स्वयं उसकी गोड़ाई, सिंचाई, छँटाई, खाद एवं औषधियोंके प्रयोग करके उसका रोग मिटाता है, दोष दूर करता है और सब प्रकारके सम्वर्द्धन करता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् जब अपने किसी बीज या जीवको निर्बलताके कारण पतित होते देखते हैं तो उसको अपने हाथोंसे सँभाल लेते हैं। अधिकारियोंको अपने दरबारमें बुला लेना सगुण भगवत्ताकी सार्थकता नहीं है, दीन-परिपालनमें ही भगवत्ता सफल होती है। अधिकार-परीक्षाके बिना ही अपनी कृपावीक्षासे जीवको निहाल कर देनेके कारण ही भगवान्के धर्मको जिसका नाम भागवत-धर्म है सब धर्मोंकी अपेक्षा विशेषता प्राप्त है। यह सर्वसम्मत है कि भागवत-धर्म अधिकारी-निरपेक्ष है। मनुष्य हो या पशु, देवता हो या दानव, ब्राह्मण हो या शूद्र, स्त्री या पुरुष, धनी हों या दरिद्र, बालक हो या वृद्ध, दुराचारी हो या सदाचारी, मूर्ख हो या पण्डित, सभी इस धर्मके अधिकारी हैं। जब हम व्रजकी लीलाओंमें या रामके वनवासमें पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, सभीको भगवत्प्रेमसे सराबोर होते देखते हैं तो बरबस ही लगने लगता है कि कृपणके घरमें छाँट-छाँटकर बड़े लोगोंको भोजन कराया जाता है परन्तु उदार पुरुषके घरमें सबके लिए द्वार खुला होता है। भागवत-धर्म सचमुच ऐसा ही उदार है इसका द्वार सबके लिए सर्वदा एवं सर्वत्र खुला है। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति प्रभुकी सहज करुणा ही भागवत-धर्मके रूपमें अवतीर्ण हुई है।

भागवत-धर्मका स्वरूप-वैलक्षण्य

श्रौत-स्मार्त आदि धर्मोंमें यज्ञ-यागादि-रूप विशेष कर्म करने पड़ते हैं। अधिकार-विचारके साथ ही कर्मके सम्बन्धमें विधि-विधान होते हैं। विविध कर्मोंकी विविध विधा, उनमें थोड़ी-सी भी भूल हो जाये तो प्रत्यवायकी उत्पत्ति हो जाती है। संकल्पमें भूल हो जाये, क्रिया पूर्वापर हो जाये, अंग-संचालनमें त्रुटि हो जाये, सामग्री शुद्ध न हो, मन्त्र-वर्णका उच्चारण ठीक न हो, यजमानकी अन्यथा प्रवृत्ति हो जाये, पुरोहितसे त्रुटि हो जाये, अंग-वैगुण्य हो जाये, अनेक कारणोंसे अनुष्ठानात्मक-धर्मकी सफलतामें बाधा पड़ती है।

कर्म-विशेषका नाम धर्म होता है, वह साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होना चाहिए। किसी-किसी यज्ञ-यागमें, परिसंख्या-विधिसे ही सही, हिंसाका भी समावेश होता है। उसके लिए श्रद्धा, उत्तमकाल, पवित्र-स्थान, न्यायोपार्जित वस्तु, वृत्ति-सन्तोष आदिकी भी अपेक्षा होती है। भागवत-धर्ममें यह सब कुछ अपेक्षित नहीं है; चाहे जो भी कर्म हो वह भगवान्‌के प्रति अर्पित होना चाहिए। कर्म-विशेषका नियम नहीं है, समर्पण-भावकी विशेषता है। जहाँ श्रौत-स्मार्त-धर्ममें कर्तृत्व, संकल्प, विधि, सामग्री एवं कर्म-समग्रताका बल है, फलकी प्राप्तिके लिए, वहाँ भागवत-धर्ममें बल है जो केवल एक भगवान्‌का। इसमें कर्त्ता-कर्मकी प्रधानता नहीं है, 'उद्देश्यकी प्रधानता' है। आचार्योंकी वाणी है: प्रमेय-बलसे भक्ति बलवती है। विधान-बलसे धर्म, अभ्यास-बलसे योग, प्रमाण-बलसे वेदान्त और प्रमेय-बलसे भक्ति। धर्म और भक्तिमें यही महान् अन्तर है। धर्म प्रमाताका क्रिया-कलाप है, भक्ति प्रमेयका अवतरण है। इसलिए शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, संस्कारजन्य स्वभावसे, जो कुछ भी करे वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर नारायणके उद्देश्यसे समर्पित कर दे। भागवत-धर्ममें कर्मका स्वरूप निर्धारित नहीं है। 'एकमात्र भगवदर्पण ही उसका स्वरूप है।' परधर्म रूप योगाभ्यासमें जहाँ क्रमशः अन्तर्मुख होते जाना आवश्यक है। वह शर्त भी भागवत-धर्ममें नहीं है। भागवत-धर्ममें अनुष्ठान नाम-मात्र ही है। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानके समान 'अनुष्ठान-निरपेक्ष आस्था-प्रधान धर्म है।' कहीं-कहीं तो आस्था भी प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आती जैसे अजामिलमें।

फल-वैलक्षण्य

श्रौत एवं स्मार्त-धर्मकी भागवत-धर्मके साथ यदि फलकी दृष्टिसे तुलना करें तो महान् अन्तर है। धर्मानुष्ठानसे कर्तामें या उनके अन्तःकरणमें एक ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है जो धर्मानुष्ठानके पूर्व नहीं रहती। वही समयपर फलके रूपमें प्रकट होती है। जितना धर्म उसीके अनुपातमें फल। फल देकर अपूर्व नष्ट हो जाता है फल भी समयपर नष्ट हो जाता है। क्षणिक कर्मसे अविनाशी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती; चाहे वह स्वर्ग हो या ब्रह्मलोक एक दिन न रहेगा। वहाँके सुखसे वञ्चित होनेपर दुःख भी अवश्यम्भावी है। कृतक अनित्य होता है, दृष्ट नष्ट हो जाता है। 'जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।' धर्मका फल उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य आप्य या विनाशी नहीं हैं, वे जड़-चेतन सबके परमार्थ-स्वार्थके रूपमें नित्य प्राप्त हैं। उनकी प्राप्ति—अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है अपने आपकी ही प्राप्ति हैं। इसलिए भागवत-धर्मका फल भगवत्प्राप्ति विनश्वर नहीं है। गुण-विशिष्ट भगवान्‌की प्राप्ति भक्ति-विशिष्ट ज्ञानसे होती है, अतएव सगुण परमेश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति सर्वथा स्वाधीन है। इसको धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास अथवा निर्गुण ज्ञानकी किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है।

पूर्व-मीमांसामें फलदाताके रूपमें ईश्वर स्वीकार नहीं है। उत्तर-मीमांसामें स्पष्ट रूपसे ईश्वरको फलदाता अङ्गीकार किया हुआ है। जैसे धर्मात्माको धर्मके फलस्वरूप स्वर्ग-सुखादिरूप फल चाहिए वैसे

भक्तको भक्तिके सिवाय दूसरा कोई फल नहीं चाहिए। सम्पूर्ण साधनोंका फल भगवद्भक्ति है। यह स्वयं फल है; क्योंकि इसीमें भगवद्-रस प्रतिफलित होता है। जिस फलमें भगवद्रस प्रतिफलित नहीं होता वह फल परिणाममें कटु है। भक्तके लिए भगवान्से भी बढ़कर भक्ति है। जैसे सती स्त्री अपनी भक्तिसे अपने सज्जन पतिको वशमें कर लेती है वैसे ही भक्त भक्तिसे भगवान्को। भगवान्को वशमें करनेका सामर्थ्य भक्तिमें कहाँसे आया?

भागवत-धर्म रसात्मक है

भक्तिके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए सांख्यवादी कहते हैं कि यह सत्त्वगुणमयी प्रकृतिकी ही एक स्वाभाविक वृत्ति है। उनके दर्शनके अनुसार यह ठीक है, परन्तु जड़ चञ्चला परिणामिनी प्रकृतिकी वृत्तिमें भगवान्को वशमें करनेका सामर्थ्य नहीं हो सकता। योगी लोग समाधिके साधनके रूपमें ईश्वरालम्बन-चित्तवृत्तिको भक्तिके रूपमें स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर-प्रणिधानको महत्त्वपूर्ण तो स्वीकार करते हैं, परन्तु समाधि-सिद्धिके लिए उसे निरोध्य मानते हैं। अक्लिष्ट-वृत्ति अवश्य है, परन्तु है तो वृत्ति ही जिसको स्वयं निरोध-स्थानमें जाना है वह वृत्ति भगवान्को वशमें किस शक्तिसे करेगी? प्रक्रियावादी वेदान्ती अविद्याके परिणाम अन्तःकरणकी भगवदाकारवृत्तिको मुक्ति कहते हैं। परन्तु ब्रह्मविद्या द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका बाध होते ही मिथ्या हो जानेवाली भक्ति परमेश्वरको वशमें कैसे कर सकती है? कोई कहते हैं भक्ति भी वैध क्रिया-कलाप अथवा रागानुग-भावनासे उदित भावनाका परिपाक-विशेष है, वह भी परमेश्वरको वशमें करनेमें असमर्थ है। कोई कहते हैं—भक्ति ईश्वरकी शक्ति है, परन्तु शक्ति शक्तिमान्को वशमें नहीं कर सकती। यह आह्लादिनी शक्ति भी नहीं है; क्योंकि उसका काम सेवा है, वशीकरण नहीं। वस्तुतः भगवान्की परमान्तरङ्गा आह्लादिनीका सारसर्वस्व ही भक्तिके रूपमें प्रकट होता है। वह भगवद्-रससार-सर्वस्व राधा ही भक्तिके रूपमें प्रकट होकर भगवान्को अपने वशमें करती है। यह धर्मका फल नहीं है और न योगाभ्यासकी स्थिति। यह भगवद्-रसका स्वतःसिद्ध आविर्भाव है।

भागवतधर्ममें प्राणाण्य-वैलक्षण्य

धर्ममें प्रमाण विधि-शास्त्र है, ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण वेदान्तशास्त्र है। निश्चय ही दोनों वेद हैं, शाश्वत ज्ञानके निधान हैं। इन्होंने अपने अन्दर दुर्लभ रहस्यके रूपमें भक्तिको गुप्त रखा है। ऋषि-मुनियोंके मुखसे धर्म प्रकट हुआ। आचार्य महर्षियोंके द्वारा ज्ञान प्रकट हुआ। स्वयं भगवान्के श्रीमुखसे वह वेदोंका गुप्त खजाना प्रकट हुआ। भगवान्की अदभ्र करुणा उनके कोमल हृदयको भी कोमलातिकोमल बनाकर अपने साथ रहस्यात्मक भक्तिको उनकी वाणीपर ले आयी और उन्होंने स्वयं इसका उपदेश किया। भगवान्ने स्वयं अपनी प्राप्तिके लिए जो उपाय बतलाये हैं उसे 'भक्ति' कहते हैं। इसका अर्थ है भक्तिके वक्ता भी विलक्षण हैं। कोई अनुमानसे बता दे कि वह व्यक्ति अमुक-स्थानपर मिलेगा कोई सुन-सुनाके, कोई पूर्व

स्मृतिके आधारपर, कोई पूर्व स्मृतिके आधारपर, कोई कल्पना ही कर ले; इससे उस व्यक्तिका मिलना सुनिश्चित नहीं हो जाता। परन्तु यदि वह व्यक्ति स्वयं ही अपने मिलनेका स्थान, समय, युक्ति बता दे तो उसका मिलना सर्वथा सुनिश्चित हो जाता है। भगवत्प्राप्ति न आकाशमें उड़नेकी बात है, न गुहामें प्रवेश करनेकी, न डोंड़ी पीटनेकी। यह भक्त, भगवान्का परस्पर प्रेम-मिलन है और वे स्वयं ही उसका संकेत करते हैं। भगवद्वचनकी विशेषता है—वह सबके लिए हितकारी होता है और सबके जीवनमें सद्भाव, चिद्भाव एवं आनन्दभावको भर देता है। भगवद्वचन छाँट-छाँटकर हित नहीं करता तथा रसदानमें किसी प्रकारकी कृपणता नहीं करता। अभिप्राय यह है कि भक्तिमें प्रमाण है भगवद्वाणी, जिससे वेदका गुप्त रहस्य प्रकट होता है। इस प्रकार वक्ताकी विशेषतासे भी भक्तिकी विशेषता है।

भागवतधर्मकी ये विशेषताएँ

धर्म क्रियारूप है। वह अधिकारी पुरुषके द्वारा अनुष्ठित होता है। कर्ता विधि-विधानका ज्ञाता होता है। धर्म-महाराजकी पहचान ही यह है कि उनका दर्शन कर-करके आर्य-पुरुष उनकी प्रशंसा करने लगते हैं और जय ही बोलने लगते हैं। योग देवता पाँव दबाकर चलते हैं; किसीको पता न लग जाये। वे एकान्त-वासी, पक्के अभ्यासीके जीवनमें आविष्ट होते हैं। ब्रह्मज्ञान शान्त-दान्त, चिन्तनशील जिज्ञासुके हृदयमें चमक उठता है; परन्तु भक्ति माता अपने किसी भी पुत्रको अपनी गोदमें उठा लेती हैं और उसके रोम-रोमको अपने वात्सल्य-रससे आप्लावित एवं आप्यायित कर देती हैं। उन्हें शास्त्रोक्त अधिकारी एकान्ताभ्यासी अथवा शान्त-दान्त जिज्ञासुकी अपेक्षा वह बालक अधिक प्यारा लगता है जो अज्ञानी है, अबोध है, कर्म करनेमें असमर्थ है। एकान्त होनेपर रोता है, डरता है, जिसे मुक्ति नहीं चाहिए, प्रेम-माधुरीका बन्धन ही जिसको भाता है, वह कभी- कभी अपनी माताको भी भूल जाता है। परन्तु माता उसे नहीं भूलती। माता अपने अबोध शिशुपर करुणाकी गंगा बहा देती है। एकान्तवासीको लोरी देने लगती है, अशुद्धके मल-मूत्रको प्रक्षालित कर देती है। भक्तके प्रति भगवान्के ममत्वको वही चरितार्थ करती है। वह जब देखती है कि हमारा शिशु मलिनतासे लथपथ हो रहा है, आगमें हाथ डालने जा रहा है, अहंकार, ममकारकी विघ्न-बाधासे व्यथित हो रहा है, तब भगवती भक्ति माँके समान ही उसपर छा जाती हैं और अपनी स्नेह-माधुरीसे उसको निर्मल बना देती हैं, कुमार्गसे बचा लेती हैं, उसके तन-मनमें मुस्कान भर देती हैं। वे नासमझको ज्ञान देती हैं, मलिनको स्वच्छ करती हैं, पीड़ितको सुखी करती हैं। वे अबोधको सँभालती हैं, मलिनता दूर करनेमें रुचि लेती हैं, स्वयं मुस्कान बिखेरकर बच्चेके मुखकमलको भी विकसित कर देती हैं, रोतेको चुप कराती हैं, चुपको हँसाती हैं, भूखे-प्यासेको तृप्त करती हैं। इन्हें भगवान्के किसी रूपसे, किसी शिशुसे, किसी लीलासे कोई परहेज नहीं है। सबमें अपने प्रभुका अनुभव करना ही भक्तिका स्वभाव है।

धर्मानुष्ठानमें त्रुटि होनेपर प्रत्यवाय होता है और फलभ्रंश हो जाता है। योगमें प्रमाद होनेपर समाधिमें विघ्न आजाता है! तपस्यामें मद होता है! वैराग्यमें भगवद्-सम्बन्धी पदार्थोंका भी तिरस्कार हो

जाता है। पाडित्यमें अल्पज्ञोंका अपमान होता है। मौनमें दीनता आती है। ज्ञानाभिमानी दूसरेकी नव नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाको भी आदर न देकर उनको अपनी पूर्व स्मृतिका विषय मान बैठता है—'यह तो मैं पहलेसे ही जानता था'। इस प्रकार प्रायः सभी साधनोंमें कुछ-न-कुछ विघ्न हैं। सिद्धियोंका लोभ समाधिको भी दूर भगा देता है। ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे असंस्पृष्ट भक्ति माता ही मनुष्यके लिए एकमात्र त्राण-कल्याण-निर्वाणकी जननी है। भक्तिकी ओर बिना समझे-बूझे, आँख बन्द करके दौड़ पड़ी, बीच-बीचमें साधन-पथका क्रमभंग भले ही हो जाय परन्तु न इसमें पाँव फिसलता है और न तो लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई बाधा पड़ती है। भक्तिके मार्गमें स्खलन तथा फलभ्रंश नहीं है।

धर्म अन्तःकरण-शुद्धिके पहले आता है, शुद्ध करता है। तत्त्वज्ञान अन्तःकरण शुद्धिके पश्चात् आता है। अशुद्धि-कालमें अन्तःकरणको सँभालनेवाली भक्ति ही है। यदि किसीसे धर्म छूट जाय, भगवान्का भजन करते-करते भजनका भी परिपाक न हो, वह भजनसे विमुख हो जाय तो स्वयं भजन ही उसको सहारा देकर अपनी ओर खींच लेता है। परन्तु यदि नित्यसिद्ध भगवान्का बल न हो तो केवल अपने बलपर किया हुआ कृतक धर्म कुछ भी नहीं दे सकता। इसका कारण क्या है? भक्तिके हृदयमें विराजमान भगवान् ही इसके कारण हैं। आचार्योंने इसको वस्तुकी शक्ति कहा है। भक्तिके विषय भगवान्की महिमा प्रमेय-प्रभुका बल है। आप जानते हैं अनजानमें कोई अमृत पी ले तो अमर हो जायगा कि नहीं? अनजानमें कोई विष पी ले तो मरेगा कि नहीं? भगवत्सम्बन्धी पदार्थ अमृत हैं। उनमें वस्तु-गुण हैं, भगवद्-रस है। हम जानें, न जानें वे हमारे जीवनमें आते हैं और हमको भगवन्मय बना देते हैं। जातिहीन, ज्ञानहीन, आचारहीन व्यक्ति भी भगवत्सम्बद्ध वस्तुसे अनजानमें ही जुड़कर परम कल्याण-भाजन हो जाते हैं। कुब्जामें काम था, कंसमें भय था, शिशुपालमें द्वेष था, पौण्ड्रकमें दम्भ था। इनमें-से कोई भी भगवान्को पहचानता नहीं था; निष्काम प्रेम-भक्तिकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। जादू तो वह जो सिरपर चढ़कर बोले। भगवान्की शक्ति तो वह जो अव्यक्त रहकर ही हृदयमें भक्ति-फलकी अभिव्यक्ति दे दे। अजामिलने कौन-सा जान-बूझकर भगवान्का नाम लिया था? शबरीने कब विधि-विधानसे धर्माचरण किया था? भगवान्ने स्वयं ही अपनेको भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रतिष्ठित कर दिया है। उनके गुण-धर्मका लोप कभी नहीं होता।

भागवत-धर्मकी मूल दृष्टि

सगुण ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अर्थात् वही बनता है, वही बनाता है। हिरण्यगर्भसे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त एवं प्रकृतिसे लेकर तृण-पर्यन्त सब भगवान्का ही रूप है। आकृति, संस्कृति, विकृति, प्रकृति पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेपर भी उनके भेदसे तत्त्वमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। वह अपने सुनिश्चित स्वरूपका परित्याग नहीं करता। सत् अविनाशी है, चेतन-निर्विकार है, आनन्द निर्विषय हैं। आकार है सत्, निर्वृत्तिक है चित्, अभोग है आनन्द। परन्तु ये आकार-विकार-भोग जो देखनेमें आते

हैं ये कौन हैं ? वही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण प्रभु। उपादान जैसे घड़ेमें माटी, निमित्त जैसे घड़ा बनानेवाला कुम्हार, सूत, डंडा, चाक, थापी, सब कुछ। यह जगत् घट है। इसका मूल मसाला कर्ता-धर्ता-संहर्ता, कर्मसंस्कार-फल सब परमेश्वर है।

ईश्वरवादी अवैदिक उसे केवल निराकार रूपमें ही मानते हैं, साकार रूपमें नहीं, जैसे ईसाई, मुसलमान। ईश्वरवादी वैदिकोंमें कुछ ऐसे हैं जो ईश्वरको साकार नहीं मानते, वे द्वैतवादी हैं, त्रैतवादी हैं जैसे ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी। अभिन्न निमित्तोपादान कारणवादी सभी सम्प्रदायके वैदिक ईश्वरको साकार-निराकार दोनों ही मानते हैं। विश्व वही है, विश्वातीत साक्षी वही है, विश्वकर्ता कारण वही है, विश्व-रहित भी वही है। वह सब है, सबसे न्यारा है। इस दृष्टिकोणसे सृष्टिको देखिये। आपको कहीं ईश्वरकी नये रूपसे प्राण-प्रतिष्ठा नहीं करनी पड़ेगी, वह सर्वरूपमें विद्यमान तथा वर्तमान है।

केवल निराकारवादी चाहे वैदिक हों या अवैदिक, उनके मतमें मूर्तिपूजा और अवतारकी संगति नहीं लग सकती। वे सबमें परमात्मा मान सकते हैं, परन्तु सबको परमात्मा नहीं मान सकते। अद्वैतवादी भी बाधितवृत्तिसे अधिष्ठानाभेदेन सबको परमात्मा ही मानते हैं। अतः उनके मतमें भी मूर्तिपूजा एवं अवतार सिद्ध होता है। सगुण परमेश्वरमें शरीर-शरीरीभावसे, कार्य-कारणभावसे, उपादान-उपादेय-भावसे मूर्तिपूजा सिद्ध होती है और जीवोंके उद्धारके लिए कृपा-पारावार प्रभुका अवतार भी सिद्ध होता है। अतएव सनातन धर्मके सभी सिद्धान्त, साधन-पद्धति एवं पूजाप्रक्रिया समंजस एवं सुसंगत हो जाती है। प्रकृति परमेश्वरका ही एक नाम है। ब्रह्मसूत्रमें यह अत्यन्त स्पष्ट है। अतः प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थमें परमेश्वर-भाव करके उपसना की जा सकती है। कालके रूपमें एकादशी, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी आदि परमेश्वरके ही रूप हैं। दिव्य देशके रूपमें काशी, मथुरा, नैमिषारण्य, श्रीरङ्गम् आदि परमेश्वर ही हैं। इनका तो विन्यास भी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीयके रूपमें माना गया है, जैसे काशी, वाराणसी, अन्तर्वेदी एवं अविमुक्त-क्षेत्र। सभी तीर्थोंमें क्षेत्रोंमें इसी प्रकारका विवेक है। वस्तुओंमें शालिग्राम-शिला, नर्मदेश्वर आदि। द्विभुज, चतुर्भुज, त्रिकोण आदि आकार; शुक्ल, कृष्ण आदि रूप; सब परमात्माके ही उपास्य रूप हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन सबमें परमात्माकी भावना और अनुभव किया जाता है! माता-पिता, पति-पत्नी, बहन-भाई, कुमारी-कुमारके रूपमें भी ईश्वरकी पूजा होती है। गोबरकी गौरी, सुपारीके गणेश, पीपलके वासुदेव, गाय, घोड़े, हाथी भी परमात्माके स्वरूप हैं। सर्वरूपमें परमेश्वर। इसका विज्ञान ही उसका अभिन्न निमित्तोपादान-कारण होना है। स्थलचर, नभचरके रूपमें भी परमात्माका प्रकाश होता है। राम, कृष्ण, मत्स्य, वाराह इसीके उदाहरण हैं। यही भागवत धर्मका विज्ञान है और विशिष्टता है। अपने शरीरमें भी भगवान्‌की पूजा होती है और आकाशमें भी। सम्पूर्ण चराचर विश्व भगवद्रूप है, और भगवान् आत्मस्वरूपसे अभिन्न हैं। यही भागवत-धर्म है। राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनेवाला ऐसा कोई धर्म नहीं है।

विशेष-विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिए विशेष-विशेष रूपमें भगवान्‌की आराधना की जाती है। ज्ञान-प्राप्तिके लिए ऋषियोंमें, ऐश्वर्य-वीर्यभोगकी प्राप्तिके लिए देवताओंमें, वंश-परम्पराकी वृद्धि एवं सांस्कृतिक सम्पदाकी रक्षाके लिए पितरोंमें परमेश्वरकी ही पूजा की जाती है इसीसे श्राद्ध-तर्पण आदिकी भी संगति लग जाती है। भागवत-धर्म सनातन-धर्म ही है, उससे पृथक् कोई अलग धर्म नहीं है। यह किसी आचार्य-विशेषके द्वारा चलाया हुआ केवल अपने अनुयायियोंके लिए नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में बनी बनायी निखिल-विश्व-सृष्टिके लिए है।

श्रीमद्भागवतका वर्तमान रूप ही प्राचीन है

श्रीमद्भागवत् इस समय जिस रूपमें उपलब्ध होता है, वही इसका प्राचीन स्वरूप है।—यह बात इन सभी टीकाओंसे तथा अन्य अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। श्रीनारदीय पुराणमें श्रीमद्भागवतकी जो सूची मिलती है और प्रत्येक स्कन्धमें जिन कथाओंका निर्देश मिलता है, वे सब ज्यों-की-त्यों श्रीमद्भागवतमें मिलती हैं। वह वर्णन इस प्रकार है—

तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमः। व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च॥
पारीक्षितमुपाख्यानमितीदं समुदाहृतम्। परीक्षिच्छुकसंवादे सृतिद्वयनिरूपणम्॥
ब्रह्मनारदसंवादेऽवतारचरितामृतम्। पुराणलक्षणं चैव सृष्टिकारणसम्भवः॥
द्वितीयोऽयं समुदितः स्कन्धो व्यासेन धीमता। चरितं विदुरस्याथ मैत्रेयेणास्य सङ्गमः॥
सृष्टिप्रकरणं पश्चात् ब्रह्मणः परमात्मनः। कापिलं साङ्ख्यमप्यत्र तृतीयोऽयमुदाहृतः॥
सत्याश्चरितमादौ तु ध्रुवस्य चरितं ततः। पृथोः पुण्यतमाख्यानं ततः प्राचीनबर्हिषः॥
इत्येष तुर्यो गदिते विसर्गे स्कन्ध उत्तमः। प्रियव्रतस्य चरितं तद्वंश्यानां च पुण्यदम्॥
ब्रह्माण्डान्तर्गतानां च लोकानां वर्णनं ततः। नरकस्थितिरित्येष संस्थाने पञ्चमो मतः॥
अजामिलस्य चरितं दक्षसृष्टिनिरूपणम्। वृत्राख्यानं ततः पश्चान्मरुतां जन्म पुण्यदम्॥
षष्ठोऽमुदितः स्कन्धो व्यासेन परिपोषणे। प्रह्लादचरितं पुण्यं वर्णाश्रमनिरूपणम्॥
सप्तमो गदितो वत्स वासनाकर्मकीर्तने। राजेन्द्रमोक्षणाख्यानं मन्वन्तरनिरूपणम्॥
समुद्रमन्थनं चैव बलिवैभवबन्धनम्। मत्स्यावतारचरितमष्टमोऽयं प्रकीर्तितः॥
सूर्यवंशसमाख्यानं सोमवंशनिरूपणम्। वंशानुचरिते प्रोक्तो नवमोऽयं महामते॥
कृष्णस्य बालचरितं कौमारं च व्रजस्थितिः। कैशोरं मथुरास्थानं यौवनं द्वारकास्थितिः॥
भूभारहरणं चात्र निरोधे दशमः स्मृतः। नारदेन तु संवादो वसुदेवस्य कीर्तितः॥
यदोश्च दत्तात्रेयेण श्रीकृष्णेनोद्धवस्य च। यादवानां मिथोन्तश्च मुक्तावेकादशः स्मृतः॥

भविष्यकलिनिर्देशो मोक्षो राज्ञः परीक्षितः । वेदशाखाप्रणयनं मार्कण्डेयतपः स्मृतम् ॥
सौरीविभूतिरुदिता सात्वती च ततः परम् । पुराणसंख्याकथनमाश्रये द्वादशो ह्ययम् ॥
इत्येवं कथितं वत्स श्रीमद्भागवतं तव ।

श्रीमद्भागवतमें बारह स्कन्ध हैं, इसमें तो किसीका विवाद ही नहीं है । पद्मपुराणमें श्रीमद्भागवतके बारह स्कन्धोंका भगवान्‌के बारह अंगोंके रूपमें वर्णन किया गया है, जिसमें लोग श्रीमद्भागवतके रूपमें भगवान्‌का ध्यान कर सकें । उसमें पहले और दूसरे स्कन्धको दोनों चरणकमल, तीसरे और चौथेको जाँघ, पाँचवेंको नाभि, छठेंको वक्षःस्थल, सातवें और आठवेंको बाहु-युगल, नवेंको कण्ठ, दसवेंको मुखारविन्द, ग्यारहवेंको ललाट और बारहवेंको मूर्धा कहा गया है ।[1]

कौशिक संहितान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें यही बात कुछ दूसरे ढंगसे कही गयी है । उसमें पैरसे लेकर जानुपर्यन्त पहला स्कन्ध, जानुसे कटिपर्यन्त दूसरा स्कन्ध, तीसरा स्कन्ध नाभि, चौथा स्कन्ध उदर, पाँचवाँ स्कन्ध हृदय, छठा स्कन्ध बाहुसहित कण्ठ, सातवाँ स्कन्ध मुख, आठवाँ स्कन्ध नेत्र, नवाँ स्कन्ध कपोल एवं भृकुटि, दसवाँ स्कन्ध ब्रह्मरन्ध्र, ग्यारहवाँ स्कन्ध मन और बारहवाँ स्कन्ध आत्मा कहा गया है ।

पादादिजानुपर्यन्तं प्रथमस्कन्ध ईरितः । तदूर्ध्वं कटिपर्यन्तं द्वितीयस्कन्ध उच्यते ॥
तृतीयो नाभिरित्युक्तश्चतुर्थं उदरं मतम् । पञ्चमो हृदयं प्रोक्तं षष्ठः कण्ठं सबाहुकम् ॥
सर्वलक्षणसंयुक्तं सप्तमो मुखमुच्यते । अष्टमश्चक्षुषी विष्णोः कपोलौ भ्रुकुटिः परः ॥
दशमो ब्रह्मरन्ध्रं च मन एकादशः स्मृतः । आत्मा तु द्वादशस्कन्धः श्रीकृष्णस्य प्रकीर्तितः ॥

इस प्रकार स्कन्धोंके सम्बन्धमें कोई मतभेद न होनेपर भी अध्यायोंके सम्बन्धमें थोड़ा मतभेद प्राप्त होता है । पद्मपुराणमें ऐसा कहा गया है कि 'द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः' और चित्सुखाचार्यने एक पद्यांश उद्धृत किया है—'द्वात्रिंशत्त्रिशतं पूर्णमध्यायाः ।' इन वचनोंके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवतमें तीन सौ बत्तीस ही अध्याय होने चाहिए । इसी आधारपर एक आचार्यने श्रीमद्भागवतके

---

१. पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयतुर्यौ कथितौ यदूरू ।
नाभिस्तथा पञ्चम एव षष्ठो भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ ॥
कण्ठस्तु राजन् नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमं प्रफुल्लम् ।
एकादशो यस्य ललाटपट्टं शिरोऽपि यद् द्वादश एव भाति ॥
नमामि देवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम् ।
अपारसंसारसमुद्रसेतुं भजामहे भागवतस्वरूपम् ॥

तीन अध्यायोंको प्रक्षिप्त माना है। उनकी दृष्टिमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं। ऐसा मानते हुए भी उन्होंने इन तीन अध्यायोंकी व्याख्या की है और संगति बैठायी है। उनके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके प्रायः सभी टीकाकार श्रीमद्भागवतमें तीन सौ पैंतीस अध्याय मानते हैं और सबकी व्याख्या भी करते हैं। श्री जीव गोस्वामीने बारहवें अध्यायकी टीकाके प्रारम्भमें लिखा है—'जो इन तीन अध्यायोंको प्रक्षिप्त मानते हैं, उनके वैसा माननेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि सब देशोंमें वे प्रचलित हैं और वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, शुकमनोहरा, परमहंसप्रिया आदि प्राचीन एवं आधुनिक टीकाओंमें इनकी व्याख्या की गयी है। यदि अपने सम्प्रदायमें अस्वीकृत होनेके कारण ही वे इन्हें अप्रामाणिक मानते हैं, तो दूसरे सम्प्रदायोंमें स्वीकृत होनेके कारण प्रामाणिक ही क्यों नहीं मानते। इसीलिए 'द्वात्रिंशत् त्रिशतञ्च' इस पदका अर्थ यदि तीन सौ बत्तीस ही हो तब भी चाहे जहाँसे तीन अध्याय नहीं निकाल देने चाहिए। वास्तवमें तो 'द्वात्रिंशत् च त्रयश्च शतानि च' इस प्रकारका द्वन्द्वैक्य स्वीकार करके उन पदोंका भी तीन सौ पैंतीस ही अर्थ समझना चाहिए। श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोककी श्रीधरी व्याख्याकी टिप्पणी 'दीपनी' एवं श्री राधामोहन तर्क-वाचस्पतिकी टीकामें इस विषयपर बड़ा विचार किया गया है और अनेक प्रमाणोंके आधारपर इस पदका अर्थ तीन सौ पैंतीस ही माना गया है। गौरी-तन्त्रमें इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि श्रीमद्भागवतमें तीन सौ पैंतीस अध्याय हैं—

ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः। पञ्चत्रिंशोत्तराध्यायस्त्रिशतीयुक्त ईश्वरि॥

इतना ही नहीं, कौशिक संहितान्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें तो पूरे ग्रन्थकी अध्याय-संख्या तीन सौ पैंतीस लिखकर प्रत्येक स्कन्धकी अध्याय-संख्या पृथक्-पृथक् भी गिनायी गयी है—प्रथम स्कन्धमें उन्नीस, द्वितीय स्कन्धमें दस, तृतीयमें तैंतीस, चतुर्थ स्कन्धमें इकतीस पञ्चम स्कन्धमें छब्बीस, षष्ठमें उन्नीस, सप्तममें पन्द्रह, अष्टममें चौबीस, नवममें चौबीस, दशममें नब्बे, एकादशमें इकतीस और द्वादशमें तेरह सब मिलाकर तीन सौ पैंतीस।[1] इसी प्रकार इक्कीस दिनोंके पाठमें कितने-कितने अध्याय प्रतिदिन पढ़ने चाहिए, यह वर्णन करते समय भी अध्याय संख्या दी गयी है। श्लोकोंके सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं है। पुराणोंसे लेकर आधुनिक टीकाकारपर्यन्त श्रीमद्भागवतमें श्लोकोंकी संख्या अठारह हजार मानते हैं। श्रीमद्भागवत मन्त्रात्मक ग्रन्थ है। इसके एक-एक श्लोक एक-एक पद और शब्दोंका मन्त्रकी भाँति प्रयोग

स्कन्धेषु सर्वेषु गतां ब्रुवेहमध्यायसंख्यां शृणुत द्विजेन्द्राः।
एकोनविंशा दश रामरामास्तथैकत्रिंशद्रसनेत्र संख्याः॥
नन्देन्दुसंख्याः शरचन्द्रसंमिताश्चतुर्द्वयं चाग्रिमके तथैव।
खनन्दसंख्या विधुवह्निसंख्या अध्यायसंख्याः क्रमतस्त्रिरूपाः॥

करके लोग अपनी अभीष्ट-सिद्धि करते हैं, इसलिए परम्परासे ही पाठ-ग्रन्थ होनेके कारण श्रीमद्भागवतमें कुछ घटती-बढ़ती नहीं हुई है। वह ज्यों-का-त्यों चला आता है। स्थूल दृष्टिसे देखनेपर वर्तमान श्रीमद्भागवतमें अट्ठारह हजार श्लोक नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि इस समय प्रेस आदिके कारण ग्रन्थोंके सुलभ हो जानेसे, प्राचीन कालमें जिस प्रकार श्लोक गिननेकी प्रथा थी वह अब नहीं रही। प्राचीन कालमें बत्तीस अक्षरोंका एक श्लोक माना जाता था और उसी गणनाके अनुसार लिखनेवालेको पुरस्कार आदि दिये जाते थे। इस प्रकार गणना करनेसे सोलह हजारके लगभग श्लोक श्रीमद्भागवतमें होते हैं। प्रत्येक उवाचको एक श्लोक मान लेनेपर श्लोक संख्या अठारह हजार हो जाती है। इसीसे श्रीमद्भागवतके पाठमें 'इति' 'अथ' आदिको भी छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि श्रीमद्भागवत रसरूप फल है। इसमें त्याग करने योग्य छिलका आदि कुछ नहीं है। श्रीमद्भागवतकी अन्वितार्थ-प्रकाशिका टीकाके रचयिता स्वनामधन्य श्री गंगासहायजी जरठ महोदयने लिखा है कि मैंने तीन बार श्रीमद्भागवतका अक्षर-अक्षर गिना है। उनके कथनानुसार सत्रह हजार नौ सौ, साढ़े अट्ठानबे श्लोक होते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीमद्भागवतमें डेढ श्लोक कम अठाहर हजार श्लोक हैं। यह कमी भी उवाच आदि के पाठभेदके कारण ही है। अबतक जितनी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें सबसे प्राचीनतम सरस्वती-भवन, काशीकी पुस्तक है। परन्तु वही पाठ ठीक है, यह बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि वर्तमान प्रचलित प्रतियोंमें कहीं-कहीं पाठभेदके अतिरिक्त उसका और कोई भेद नहीं है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीधरस्वामी एवं श्रीवल्लभाचार्य आदिको इससे भी प्राचीन प्रति न मिली होगी। सम्भव है उनकी टीकाओंमें आदृत पाठ इस प्रतिसे भी प्राचीन हो और यही ठीक जँचता है। इस श्लोक गणनासे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि श्रीमद्भागवतका प्रचलित रूप बहुत ही प्राचीन है।

श्रीशुकदेवजीका अनुपम दान

भगवान् भगवान् ही हैं। जब उनकी दयालुता, भक्तवत्सलता और कोमल स्वभावकी स्मृति होती है, तब चित्त गद्‌गद हो जाता है, हृदय लोकोत्तर आनन्दसे भर जाता है। इच्छा होती है कि मैं अपने प्रभुकी दयामें समा जाऊँ, उनकी गोदमें बैठे-बैठे ही अस्तित्वहीन हो जाऊँ। अखिल जगत्‌के रचयिता, सञ्चालक और आधार प्रभु जीवोंकी इतनी सुरत करते हैं, उनकी एक-एक चेष्टा ध्यानमें रखते हैं और प्रतिक्षण उनके कल्याणके लिए, आनन्दके लिए नये-नये निमित्त उपस्थित किया करते हैं। दिन-रात प्राणोंमें प्रेरणा भरते रहते हैं और चाहते रहते हैं कि जीव विषयोंकी ओर न जाकर मेरी ओर आवे और मेरे पास ही रहे। भगवान्‌के इतना चाहनेपर भी जीव उनसे विमुख होकर दौड़ता है, यह उसका दुर्भाग्य है—अपराध है। फिर भी अकारण कृपालु उसे क्षमा ही नहीं कर देते, बल्कि तबतक सचेत करते रहते हैं जबतक वह उनका होकर

उनसे एक नहीं हो जाता। क्षमा करनेकी बात भी केवल जीव-दृष्टिसे ही है। वास्तवमें तो परमात्मा अपने नन्हे-नन्हें शिशुओंकी क्रीड़ासे प्रसन्न ही होते हैं और अनेकों प्रकारके इङ्गितसे उन्हें अपनी ओर बुलाते रहते हैं।

जब समष्टि-तमोगुणके प्रभावसे सारे जीव प्रलयकी घोर निद्रामें सो जाते हैं, उनकी चेतना लुप्त हो जाती है, वे पुरुषार्थ-साधनमें समर्थ नहीं रहते, तब भगवान् उन्हें अज्ञान-निद्रासे जगाकर इस योग्य बनाते हैं कि वे धीरे-धीरे उन्नति करते हुए अपने स्वार्थ और परमार्थके सम्पादनमें प्रयत्नशील हो सकें। चिरकालतक तमोगुणमें शयन करनेके कारण जगनेपर भी जीवोंका नैसर्गिक प्रवाह अज्ञान और अज्ञानजनित पदर्थोंकी ओर ही रहता है। इसलिए भगवान् समय-समयपर वेद, शास्त्र, अवतार, कारक, सन्त, सद्गुरु और साधुजनों द्वारा ऐसी प्रेरणा देते हैं कि जीव अज्ञानसे ज्ञानकी ओर मोहसे प्रेमकी ओर वहिर्मुखतासे अन्तर्मुखताकी ओर अग्रसर हो। फिर भी कालक्रमसे जीव असावधान हो जाता है, उसका ज्ञान जर्जरित और जीवन चिन्ताग्रस्त हो जाता है—जिसके कारण वह निरुद्देश्य होकर पथ-विपथका विचार किये बिना ही इतस्ततः भटकने लगता है। जीवोंकी अल्प शक्ति, अल्प बुद्धि और अल्पायु देखकर भगवान्के चित्तमें बड़ी दया आती है,। और वे स्वयं ही अवतीर्ण होकर भटकते हुऐ जीवोंको मार्ग दिखाते हैं, अपने पास पहुँचनेका साधन उन्हें देते हैं।

वैवस्वत मन्वन्तरके इसी अट्ठाइसवें द्वापर और कलियुगकी सन्धिमें बड़ी विषम अवस्था उत्पन्न हो गयी थी। वेद और शास्त्रोंका ह्रास हो चला था और उनका प्रचार-प्रसार सर्वथा शिथिल होनेलगा था। शास्त्रोंकी रक्षाके बिना धर्म-कर्म, उपासना-भक्ति और ज्ञान-विज्ञानकी रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए स्वयं भगवान्ने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके रूपमें अवतीर्ण होकर वेदोंका चार भागोंमें विभाजन किया और इतिहास, पुराण, ब्रह्मसूत्रादि का निर्माण करके वेदार्थका निर्णय एवं विस्तार किया। इतना सब करनेपर भी जीवोंकी स्थितिमें कुछ विशेष परिवर्तन न हुआ। जिस अभावके कारण जगत्के जीव छटपटा रहे थे, जिस कमीके कारण उन्हें सन्तोष नहीं प्राप्त हो रहा था, वह अभाव—वह कमी अभीतक दूर नहीं हुई थी। व्यासदेव उनके लिए चिन्तित हो गये।

भगवान्की लीलाका रहस्य स्वयं भगवान् ही जानते हैं अथवा उनके कृपापात्र भक्त। अपने सङ्कल्पमात्रसे सारे जगत्का कल्याण कर देनेकी शक्ति रखनेवाले स्वयं व्यासदेव भी चिन्तित हो गये, यह उनकी परम दयालुता ही है। जबतक जगत्के जीव दुःखी हैं, उन्हें उस दुःखसे त्राण पानेका सरल-से-सरल उपाय नहीं प्राप्त है, तबतक जगत्का हित चाहनेवाले कैसे सुखी हो सकते हैं। सबके अतृप्त रहनेपर भी वे कैसे तृप्त हो सकते हैं। इसीसे परमदयालु व्यासदेव सरस्वती-तटपर बैठकर इस बातपर विचार करने लगे कि 'मैंने अपने शरीर, मन और वाणीसे जगत्का जितना हित हो सकता था किया, उसमें कोई कोर-कसर नहीं रखी, फिर भी मेरा हृदय सन्तुष्ट नहीं, इसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। मैंने

आश्रमोचित नियमोंका उल्लंघन नहीं किया, निष्कपट भावसे वेदोंका स्वाध्याय, गुरुजनोंकी सेवा और अग्नि-होत्र किये और उनकी आज्ञाका पालन भी किया। वेद-उपनिषद् आदिके स्वाध्यायमें स्त्री, शूद्र और ब्राह्मण-बन्धुओंका अधिकार नहीं है—ऐसा देखकर मैंने महाभारतके उन लोगोंके लिए वेद-उपनिषदोंका वास्तविक अर्थ प्रकट कर दिया। इतना सब होने पर भी मेरा अन्तःकरण सन्तुष्ट शुद्ध नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि मैं अपना कर्त्तव्य पालनमें—अपना काम पूरा करनेमें समर्थ नहीं हुआ हूँ। क्या इसका यही कारण तो नहीं है कि अबतक मैंने भगवान्को प्राप्त करानेवाले उपायोंका, भागवत-धर्मका प्रायः वर्णन नहीं किया है? क्योंकि भागवत-धर्म परमात्मा और उनके प्रेमी परमहंस दोनोंके ही प्यारे हैं।'

भगवान्-व्यासदेव एकान्तमें बैठकर इसी प्रकार चिन्ता कर रहे थे कि देवर्षि नारद वहाँ आगये। महर्षि वेदव्यासने उनका स्वागत किया और अपने चित्त की अशान्ति का कारण पूछा। देवर्षि नादरने कहा, महर्षे! आपने अबतब भगवान्के निर्मल यशका प्रायः निरूपण नहीं किया है। जिस क्रिया, संङ्कल्प और जीवनके द्वारा आत्मतुष्टि न प्राप्त हो वह अपूर्ण है। अभी उसकी पूर्णतामें कुछ त्रुटि है। अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका जैसा वर्णन किया वैसा श्रीकृष्णका नहीं किया। सन्तोंकी वाणी निरन्तर भगवत्-गुणा-नुवादोंका गायन करती रहती है। इसीमें उसकी सफलता भी है। ज्ञानकी ऊँची-से-ऊँची अनुभूति भी भगवद्भजनके बिना चमकती नहीं। आप श्रीकृष्णकी लीलाका स्मरण करें, बिना उसके आपकी आत्मग्लानि मिट नहीं सकती। केवल धर्म-कर्मके निर्णय और विधि-निषेधमें ही जीवनकी पूर्णता नहीं है। यह जीवन भगवान्की लीलाओंसे ही कृतकृत्य होता है। आप स्वयं भगवान्के अवतार हैं, आपसे ये बातें छिपी नहीं हैं, फिर भी आपके प्रश्नका सम्मान करनेके लिए मैंने ये बातें कही हैं। मुझे तो भगवान्के लीला-गायनसे ही आत्मतुष्टि प्राप्त हुई है।'

देवर्षि नारदने वेदव्यासको संक्षेपमें बताया कि 'मैंने अपने पिता ब्रह्मासे वह ज्ञान प्राप्त किया है, जो कि उन्होंने स्वयं भगवान् विष्णुसे प्राप्त किया था। इस प्रकार मैं तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश कर रहा हूँ, वह भगवान् विष्णुसे ब्रह्माको, ब्रह्मासे मुझको और मुझसे तुमको प्राप्त हो रहा है। तुम संसारमें इसका विस्तार करो। इसे सेवन करनेवाले जीवोंको शान्ति मिलेगी और तुम्हें भी आत्मतुष्टि प्राप्त होगी।' यों कहकर देवर्षि नारद भगवन्नामका दिव्य संगीत गाते हुए बिदा हुए और भगवान् व्यासने श्रीमद्भागवत-संहिताकी रचना की।

श्रीमद्भागवत-शास्त्रका प्रणयन तो हो गया, परन्तु अब इसका अध्ययन किसको कराया जाय, यह प्रश्न उठा। महर्षि वेदव्यासने योगदृष्टिसे देखा तो उन्हें अपने पुत्र श्रीशुकदेवका ध्यान आया। श्रीशुकदेव निवृत्तिपरायण एवं ब्रह्मनिष्ठ थे। वे अध्ययन और अध्यापनसे अलग रहकर समाधिमें ही स्थित रहते थे। व्यासदेवके मनमें कई बार ऐसा संकल्प उठा करता था कि शुकदेव अध्ययनाध्यापनमें लगें, परन्तु उनकी रुचि उस ओर न थी। वेदव्यासने जब ध्यानसे देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि श्रीशुकदेवके अन्तःस्थलमें

पहलेसे ही श्रीमद्भागवत-संस्कार विद्यमान हैं। क्योंकि पूर्वजन्मसे ये तोतेके गले हुए अण्डेके रूपमें कैलास पर्वतपर पड़े हुए थे, तब भगवान् शंकरके मुखसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुनकर ये जीवित हो गये थे और पार्वतीजीके सो जानेपर भी 'ओम्-ओम्' बोलते हुए स्वीकृति वचन देते रहे थे। इससे यदि मैं इन्हें श्रीमद्भागवतके श्लोक सुनाऊँ, तो उन्हें सुनकर ये अवश्य आकृष्ट हो जायेंगे। ऐसा विचारकर जहाँ शुकदेवजी समाधि लगाते थे, वहीं जाकर व्यासदेव भगवान्‌की लीलाके और दयालुताके श्लोक[1] सुनाने लगे। उन श्लोकोंको सुनकर श्रीशुकदेवजीका चित्त गद्‌गद हो गया, वे सहज समाधि और आत्मानन्दको छोड़कर भगवत्प्रेमकी अनन्त धारामें बह गये। भगवान्‌की लीला, भगवान्‌के गुण इतने अद्भुत, इतने लोकोत्तर हैं कि उन्हें सुनकर कोई भी सहृदय पुरुष आनन्दित हुए बिना नहीं रह सकता। श्रीशुकदेवजी महाराजने महर्षि व्यासके आश्रममें आकर सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमधाममें पधारे। उन्होंने अपनी प्रकट लीलाका संवरण कर लिया। उनके अन्तर्धान होनेके पश्चात् पाण्डव भी इस लोकमें न रह सके, अपने-अपने कर्मके अनुसार गतिको प्राप्त हुए। परीक्षितका राजत्वकाल भी पाण्डवोंके समान ही प्रजाके लिए बड़ा सुखद था। परन्तु कलियुग आगया था, इसलिए वे बहुत दिनोंतक पाण्डवोंके समान राजशासनका निर्वाह न कर सके। एक दिन उन्होंने देखा कि एक बूढ़ी गौ और बैलको राजाओं-सरीखे चिन्ह धारण करनेवाला शूद्र मार रहा है। दोनों भूखके मारे सूख-से रहे थे। महाराज परीक्षितने उन्हें पहचानकर शूद्रवेषधारी कलियुगको डाँटा—तुम धर्मरूपी वृषभ और पृथिवीरूपी गौको मार रहे हो? कलियुगने देखा कि ये मुझे मार डालेंगे, इसलिए वह राजाओंके चिह्न छोड़कर परीक्षितके चरणोंपर गिर पड़ा। धर्मंष्ठ परीक्षित उसे शरणमें आया हुआ देख तथा उसकी अनुनय-विनय सुनकर उसको जानसे तो नहीं मारा, परन्तु अपने राज्यसे बाहर निकल जानेका आदेश दे दिया। जब उसने यह प्रार्थना की कि 'आपके राज्यसे तो बाहर रहनेका कहीं स्थान ही नहीं है।' तब उन्होंने जूआ, शराब, स्त्री और हिंसाके स्थान उसे रहनेके लिए दे दिये। पुनः प्रार्थना करनेपर सोना और तिबारा प्रार्थना करनेपर झूठ, रज, काम मद और वैर—ये पाँच स्थान और दे दिये। कलियुग इन्हीं स्थानोंमें रहने लगा।

महात्मा और दुष्टमें यही भेद है कि महात्मा तो अपराधीको भी क्षमा कर देता है। परन्तु दुष्ट क्षमा करनेवालेके साथ विश्वासघात करता है। कलियुगने राजा परीक्षितके मुकुट, मृगया और राजापनके अभिमानका आश्रय लेकर चुपकेसे उनपर आक्रमण कर दिया। उन्होंने उनके प्रभावमें आकर एक ब्राह्मणका तिरस्कार कर दिया। यही तिरस्कार उनकी मृत्युका कारण हुआ।

१. तीसरे स्कन्धके दूसरे अध्यायका तेइसवाँ श्लोक और दशवें स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायका पाँचवाँ श्लोक।

साधारण लोग मृत्युका नाम सुनकर घबड़ा जाते हैं, परन्तु महापुरुषोंको यही विशेषता होती है कि वे जीवनके समान ही मृत्युका भी आलिङ्गन और सदुपयोग करते हैं। परीक्षितने अपनी मृत्युकी उपस्थितिसे बड़ा लाभ उठाया। और जगत्से ममता तोड़कर, राज-काज छोड़कर वे गङ्गा-किनारे जा बैठे और सात दिनके अनशनका निश्चय करके महात्माओंका सत्सङ्ग करने लगे। बाह्यदृष्टिसे देखा जाय तो परीक्षितके लिए यह बड़ा विषम समय आगया था। परन्तु अन्तर्दृष्टिसे विचार करनेपर पता चलता है कि यह घटना उनपर और सारे संसारपर भगवान्की महती कृपा थी, क्योंकि इसी घटनाके कारण श्रीमद्भागवत-जैसा महापुराण संसारको प्राप्त हो गया। क्या करनेके लिए भगवान् क्या करते हैं—इस प्रश्नका उत्तर तो केवल भगवान् ही जानते हैं, हमें तो केवल फल देखकर आनन्दित होते रहना चाहिए।

'संसार'का अर्थ है सरकनेवाला। संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो परिवर्तित न होती हो। 'मृत्यु' शब्दका अर्थ भी ठीक वैसा ही—दृश्यसे अदृश्य हो जाना है। संसार की यही स्थिति—गति है कि वह दृश्यसे अदृश्य और अदृश्यसे दृश्य हो रहा है। संसारके सारे पदार्थ मृत्युकी ओर जा रहे हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे परीक्षितकी ही भाँति आनेवाली मृत्युको देखकर संसारकी ओरसे मुँह मोड़ लेते हैं। और परमात्माकी ओर अग्रसर होते हैं। श्रीमद्भागवतके श्रवणका अधिकारी कौन है? इसका उत्तर है—परीक्षित। वे संसारको छोड़कर परमात्माकी ओर चलते हैं। इसी प्रकार शुकदेवजी भी ब्रह्मानन्दका परित्याग करके भगवान्की लीलामें, कथामें रमे हुए आत्माराम पुरुष हैं। श्रीमद्भागवतके प्रवचनका अधिकारी कौन है? इसका सही उत्तर है कि जो ब्रह्मानन्दकी अनुभूति प्राप्त करके श्रीकृष्ण-लीलारसके समास्वादनमें संलग्न है। ऐसे श्रोता-वक्ताको उपस्थितिमें जो उज्ज्वल रसका महान् समुद्र उद्वेलित होगा, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

परीक्षित भगवान्के अत्यन्त प्यारे भक्त हैं। भगवान्ने परीक्षितकी माताके गर्भमें प्रवेश करके उन्हें जीवन-दान किया था। परीक्षित भगवान्के थे, कृतकृत्य थे, उन्हें कुछ प्राप्त करना अवशेष न था। फिर भी उन्होंने भगवान्की प्रेरणासे जगत्के हितके लिए समस्त मृत्युग्रस्त प्राणियोंके उद्धारकी दृष्टिसे अनेकों प्रश्न किये और भगवान् श्रीशुकदेवके मुखसे भागवत-धर्म, पराभक्ति और परमज्ञान एवं भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन सुनकर परमानन्दका अनुभव किया। परीक्षितके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीशुकदेवने वेदोंके सारको अपने अनुभवके रससे युक्त करके सारे जगत्को वितरण किया। श्रीशुकदेवजीका वही अनुपम दान श्रीमद्भागवतके नामसे विख्यात है, जो कि भगवान्की दयालुताका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जिसके दर्शन, स्पर्श, स्मरण, अध्ययन, श्रवण आदिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और भगवान् एवं उनकी दयाका साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण
१

माहात्म्य

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ·
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

१

प्रथम स्कन्ध

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ·

सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

भागवत-दर्शन : १ :

माहात्म्य

: १ :

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।।

भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनके सद्रूप, चिद्रूप और आनन्दरूप तीनों लक्षणोंमें सृष्टि-स्थिति-प्रलयका समन्वय है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द इन तीनोंका सृष्टि-स्थिति-प्रलयमें समन्वय है। तात्पर्य यह है कि तीनोंके अद्वयत्वमें विवर्त है। किन्तु पृथक्त्वमें सत् और आनन्दमें तो परिणामकी प्राप्ति होती है, चित्में परिणामकी प्राप्ति नहीं होती। इसका कारण है 'चित्' परिणामका साक्षी है और साक्षी परिणामी नहीं होता। यह विलक्षण विवेक है इसका।

हम श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं। नमस्कारका अर्थ है 'न मे इति नमः'। अहिर्बुध्न्य संहितामें नमः शब्दकी नैरुक्त व्युत्पत्ति दी हुई है—'न मे इति'—अर्थात् मेरा कुछ नहीं, मैं कुछ नहीं, 'मैं' और 'मेरा' छोड़ दो। परमात्माकी अभिव्यक्ति नमः है। कर्मकाण्डी लोग भी 'इदं इन्द्राय न मम' ऐसे बोलते हैं। यह 'न मम'का ही संक्षिप्त रूप नमः हैं। 'नमनं नमः'— नमन ही नमस्कार है। अपने अहंकारको छोड़ देनेका नाम नमस्कार है। नमस्कारका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—'तापत्रयविनाशाय' अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक जितने भी ताप हैं, उन सबकी निवृत्तिके लिए नमस्कार है।

एक विलक्षणता यह है कि यहाँ पापनिवृत्तिकी बात नहीं कही जा रही, तापनिवृत्तिकी बात कही जा रही है। ताप-निवृत्तिका अर्थ फल-निवृत्ति होता है, पाप-निवृत्तिका अर्थ साधन-निवृत्ति होता है। तापका जो साधन है, उसकी निवृत्ति पाप-निवृत्ति है। पापके फल (ताप) की जो निवृत्ति है, वह ताप-निवृत्ति है। भले ही हमने पहले पाप किये हों, परन्तु अब उनका फल न भोगना पड़े—उसके लिए 'तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः'—हम श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं। हम सब अर्थात् श्रोता-वक्ता सब। पाप तो कितने ही हुए होंगे, परन्तु अब पाप और तापके सम्बन्धका व्यवच्छेद हो गया। अब पापका फल ताप नहीं आयेगा, यह इसका अर्थ हुआ।

अब प्रतिपाद्य देवता का अनुस्मरण करके इसके वक्ता गुरुदेवको नमस्कार करते हैं। वक्तामें त्यागकी प्रधानता है। भगवान् श्रीशुकदेव इसके वक्ता हैं। ऐसे भी देख सकते हैं कि वे अन्तर्यामी नारायण हैं, मायाधिपति हैं और कारणावच्छिन्न चैतन्य हैं। ब्रह्मा समष्टि-अन्त -करणावच्छिन्न चैतन्य हैं। नारद समष्टि-मन-अवच्छिन्न चैतन्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें यह बात कही हुई है—

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा।
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणम्॥

श्रीमद्भागवतके आदिवक्ता साक्षात् भगवान् नारायण हैं। व्यास भी नारायण हैं। व्यास वाग्-अवछिन्न चैतन्य हैं। शुकदेव शब्दावच्छिन्न चैतन्य हैं। ये सब नारायणके ही रूप हैं। यदि परमात्मा सर्वरूपमें प्रकट होता है तो स्वयं भगवान् ही शब्दके रूपमें प्रकट हुआ है—परम्पराके क्रमसे। यह सब चैतन्यका विवर्त है। यदि सगुण ईश्वरको ही स्वीकार करें तो यह सब सगुण ईश्वरका ही रूप है। नारायण, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव ये इसके वक्ता हैं।

अब परीक्षितको श्रीमद्भागवतका श्रवण करानेवाले श्रीशुकदेवके प्रति नमस्कार करते हुए कहते हैं—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥

कौशिकी संहिताके माहात्म्यमें यह कथा आती है कि एक बार श्री शंकर भगवान् गौरीको श्रीमद्भागवतका अत्यन्त गोपनीय उपदेश कर रहे थे तब उन्होंने पूछ लिया कि यहाँ कोई दूसरा व्यक्ति तो नहीं ? परन्तु संयोगवश एक शुकका मृत अण्ड वहाँ पड़ा हुआ था। वह श्रीमद्भागवतामृतके सेवनसे जीवित हो गया। गौरीको तो सुनते-सुनते भाव-समाधि लग गयी। पर वह शुक-शावक कथाका श्रवण करने लगा और बीच-बीच में 'ऊँ ऊँ' बोलने लगा। जब शङ्करजीको मालूम पड़ा कि इसने कथाका श्रवण कर लिया, किन्तु कोई दीक्षा ग्रहण नहीं की, शिष्य नहीं हुआ, ऐसे ही सुन लिया तब उनको क्रोध आगया और उन्होंने उसपर त्रिशूल फेंक दिया। शुक भागकर श्रीव्यासजी महाराजकी पत्नीके शरीरमें प्रविष्ट हो गया। वह बारह बरस तक गर्भमें छिपा रहा, बाहर निकला ही नहीं। श्रीव्यासजी महाराजने जब सुना कि पेटमें-से वेद-ध्वनि आ रही है, तब उन्होंने बाहर निकलनेके लिए बड़ी प्रार्थना की। यह कथा स्कन्द-पुराण आदि अन्य पुराणोंमें भी आयी है। गर्भस्थ शिशुने कहा कि जबतक भगवान्‌का दर्शन नहीं होगा तबतक मै बाहर संसारमें नहीं जाऊँगा।

अब व्यासजी भगवान् श्रीकृष्णको बुलाकर ले आये। जब वे आकर खड़े हुए तब शुकदेवजी गर्भसे बाहर निकले और निकलते ही बोले—महाराज; जिसको विकार होता है उसीको संस्कारकी जरूरत पड़ती है। बाल बढ़े तो दाढ़ी बनानी पड़ेगी, पसीना निकले तो साबुन लगाना पड़ेगा। जहाँ विकार ही नहीं वहाँ संस्कारकी कोई जरूरत नहीं। क्योंकि परमपद न विकृत है न संस्कृत है, विकार और संस्कार दोनोंसे विलक्षण है। जब हम अविकृत हैं तो संस्कृत भी नहीं होंगे। विकार और संस्कार दोनोंसे विलक्षण रहेंगे। हम विश्व, तैजस और प्राज्ञकी अवस्थाओंको और ब्रह्मचर्य-गृहस्थाश्रम-वानप्रस्थ आदि आश्रमोंको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं। हम तो साक्षात् संन्यासमें स्वभावसे प्रतिष्ठित रहेंगे।

शूद्र विश्ववत्, वैश्य तैजसवत्, क्षत्रिय प्राज्ञवत् और ब्राह्मण तुरीयवत् है। इस प्रकारके आध्यात्मिक आधारपर ही आश्रमकी व्यवस्था है। परन्तु वह केवल आध्यात्मिक ही नहीं, आधि-दैविक और आधिभौतिक भी है। माता ब्राह्मणी और पिता ब्राह्मणसे जन्म होनेपर रजोवीर्यकी शुद्धि मानी जाती है और यह आधिभौतिक शुद्धि है। यज्ञोपवीत आदिके संस्कारसे, गायत्री आदिके जपसे, सूर्योपासनासे, पवित्र्य होनेसे शौक्ल्य होनेसे जो ब्राह्मणत्व आता है, वह आधिदैविक

शुद्धि है और शमदमादि षट् सम्पत्तिसे सम्पन्न जो ब्राह्मणत्व है, वह आध्यात्मिक शुद्धि है।

शुकदेवजीको जो प्रव्रज्या है, वह उसका सहज स्वभाव है। इसमें गुरुकी शरणागति लेकर उपनीत होनेकी आवश्यकता नहीं। 'अनुपेतम् अपेतकृत्यम्'—कोई कर्तव्य नहीं। न तो प्रवृत्ति कर्त्तव्य है और न निवृत्ति कर्तव्य है। केवल सहज स्वभावसे है।

निवृत्तिमपि मृद्नाति सम्यग् बोधः प्रवृत्तिवत्।

नैष्कर्म्यसिद्धि ४.५६

भगवान् सुरेश्वराचार्यजी कहते हैं कि जैसे सम्यक्बोध प्रवृत्तिका उपमर्दन करता है, वैसे ही वह निवृत्तिका भी उपमर्दन कर देता है। जो सच्चा संन्यासी है, उसका न प्रवृत्तिमें आग्रह है, न निवृत्तिमें आग्रह है। वह दोनोंमें सम है, दोनोंका अधिष्ठान है, दोनोंका साक्षी है, दोनों उसमें विवर्त हैं।

यदि कहो कि वे 'अनुपेत कृत्यम्' अर्थात् अयोग्य रहे होंगे, तो ऐसा नहीं है। वैसे मीमांसक लोग कहते हैं कि जो कोई अन्धा हो, लँगड़ा हो, लूला हो, कर्मका अनधिकारी हो उसको ही संन्यासी होना चाहिए। परन्तु यहाँ तो यह बालक इतना योग्य है कि 'द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव'—सर्व-शास्त्रविद्, एक वेदका चतुर्धा विभाजन करनेवाले, उपनिषदोंके तात्पर्य-निर्णय करनेके लिए ब्रह्मसूत्रोंके रचयिता और अष्टादश पुराणोंके कर्ता, भगवान् व्यासदेव उस बालकको देखकर विरह-व्याकुल हो गये और पुकारने लगे—बेटा! बेटा! बेटा! परन्तु शुकदेवजीको बाप और बेटेका ख्याल ही नहीं, कौन किसका बाप और किसका बेटा। जब पञ्चभूतमें भी कोई किसीका बाप-बेटा नहीं होता, तब आत्मचैतन्यमें, ब्रह्मचैतन्यमें बाप-बेटा कहाँसे होगा! यहाँ तो केवल आकृतिको देखकर मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जातियोंका बोध होता है।: ब्राह्मण आदिका बोध जाति देखकर नहीं होता। ब्राह्मणादि तो वर्ण हैं—'वर्णनात् वर्णः'। जाति उपदेश-व्यंग्य होती है—आकृति-व्यंग्य नहीं होती। यह शास्त्रका निर्णय है।

'तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः'—अभिनेदुः उत्तरं ददुः। वृक्षोंने कहा कि व्यासजी, तुमको हम उत्तर देते हैं। जिसको तुम पुत्र-पुत्र कहकर पुकार रहे हो, वह 'सर्वभूतहृदयम्—अयं सर्वभूतहृत्—कोई साधारण बालक नहीं; यह तो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयोंमें रहनेवाला है। वह हर है, हरि है—'हरतीति हरः हरिर्वा अथवा सर्वभूतहृदयं, हृदि अयते इति हृदयं तं सर्वभूतहृदयम्'—सबके हृदयोंमें रहनेवाला परमात्मा है। इसको हम नमस्कार करते हैं।

ग्रन्थके आरम्भमें श्रीशुकदेवजी महाराजको 'स सर्वनामा स च सर्वरूपः' अर्थात् सर्वनामा, सर्वरूप परमात्मा कहा है। उनको नमस्कार करके ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं। यह स्वयं ग्रन्थ होनेपर

भी ग्रन्थि-भेदक है, दूसरोंको निर्ग्रन्थ बनानेवाला है। बहुत सारे ग्रन्थ ऐसे होते हैं कि उनका स्वाध्याय करें तो वे ग्रन्थि डाल देंगे। श्रीहर्षने स्वयं वर्णन किया है—'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिद्-पिन्यासि प्रयत्नान्मया' (खण्डन खण्ड खाद्य) अर्थात् इस ग्रन्थमें मैंने ग्रन्थि डाल रखी है। इसलिए ऐसी पोथी मत पढ़ो कि एक पोथी के बाद दूसरी पोथीकी जरूरत पड़ जाय।

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम्।

नैमिषारण्यमें महामति सूत बैठे हुए हैं। शौनकजीने वहाँ आकर उनका अभिवादन किया। अभिवादनसे स्थानकी पवित्रता बतायी। लेकिन श्रीमद्भागवतमें तो यह बात कही गयी है कि संसारमें जितने भी तीर्थ श्रेष्ठ हैं, उनमें वाराणसी सर्वोत्तम है। फिर इस नैमिष क्षेत्रका अर्थ क्या है? ब्रह्माजीने जो चक्र दिया था, वह जहाँ जाकर गिरे, नेमि शीर्ण हो, उसका नाम नैमिष है। वहाँ महामति सूतजी यज्ञ-यागके प्रसंगमें बैठे हैं। यज्ञ-यागमें हवनादिसे जब छुट्टी मिलती है, तब सब ऋषि-महर्षि इकट्ठे हो जाते हैं और पुराण-कथा होती है। वक्ता होते हैं सूतजी, उनका काम ही यह है कि वे भगवत्कथा, पुराण-कथा सुनाते हैं। यह भी एक पद्धति है कि हृदयमें पहलेकी जो स्मृतियाँ भरी हैं, उनको बाहर निकाल दिया जाय, फिर श्रुति प्रकट हो जाती है। यह प्रसंग अग्नि, ब्रह्म और मत्स्य (५३·३) इन तीनों पुराणोंमें भी आया है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्य विनिर्गताः॥

इसका अर्थ है कि ब्रह्माजीके हृदयमें जो पुराण भरा हुआ था, उसको उन्होंने पहले याद करके निकाल दिया। फिर जब पुराणोंका प्रवचन कर दिया, हृदय खाली हो गया तब उसमें वेद प्रकट हुए। इस प्रकार पहले पुराण प्रकट हुए, बादमें वेद प्रकट हुए। जो पुराना होता है, वह बड़ा भाई होता है, इसलिए पुराण वेदके ज्येष्ठ भ्राता हैं। पुराण यों परमात्माका स्वरूप है—पुराणि अन्तःकरणानि जीवहृदयानि अनति (अण्यते) उज्जीवयति इति पुराणम्। जो लोगोंके हृदयोंको परिपूर्ण करता रहता है उसका नाम पुराण है। परिपूर्णत्वात् पुरा नवम् एव पुराणम् यह पहले भी नया ही था।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। यहाँ श्रोता ब्राह्मण हैं, ऋग्वेदी हैं और वक्ता सूत अयोनिज हैं, परन्तु उनमें सूतत्व तो है ही। बोले—देखो यदि तुमको वेद पढ़ना हो तो जाकर ऋग्वेदी ब्राह्मणोंसे पढ़ना। लेकिन भगवच्चारित्र श्रवण करना हो और उसके लिए ऋग्वेदी ब्राह्मण न मिलें, सूत मिलें तो उससे भी सुन लेना। भगवच्चरित्र श्रवण करनेके लिए श्रवणगत वस्तु माहात्म्य-प्रधान है, वक्तृगत माहात्म्य-प्रधान नहीं। वस्तुगत प्रधानता दूसरी होती है, वस्तुगत और श्रोतृगत प्रधानता दूसरी होती है। यहाँ यही विशेष है कि भगवान्‌का आश्रय लो, भगवान्‌के चरितामृतका श्रवण करो।

अब शौनकने प्रश्न किया—

अज्ञानध्वान्तविध्वंस - कोटिसूर्यसमप्रभ ।
सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम् ॥

यहाँ जो 'प्रभ' शब्द है, उसका अर्थ प्रतिभा और प्रभा दोनों है। सूर्य-पक्षमें प्रभा अर्थ है और सूत-पक्षमें प्रतिभा अर्थ है। संसारके लोग अज्ञानान्धकारमें भटक रहे हैं। उसको मिटानेके लिए कोटि-सूर्यके समान आपकी प्रतिभा है। इसलिए सूतजी, हमें कथाका सार-सार बताइये।

कथा शब्द वेदमें प्रकार-वचन है, जैसे यथा, तथा, सर्वथा। येन प्रकारेण इति यथा, तेन प्रकारेण इति तथा, सर्वेण प्रकारेण इति सर्वथा; वैसे ही केन प्रकारेण इति कथा। ऋग्वेदमें दस-बीस बार कथा शब्दका प्रयोग आया है, परन्तु सर्वत्र कथनके अर्थमें कथाका प्रयोग है। पाणिनीय-व्याकरणमें जिस अर्थमें 'कथम्' शब्दका प्रयोग होता है उसी अर्थमें वेदमें कथा शब्दका प्रयोग है। कथा माने कैसे। कैसे भगवान्‌का अवतार हुआ ? कैसे भगवान् से सृष्टि हुई ? कैसे भगवान् बँध गये यह कैसे बताने लिए जिस-जिस सिद्धान्तका, जिस-जिस वस्तुका प्रतिपादन होता है, उसके प्रति कथा शब्दका प्रयोग होता है।

कथा-विस्तार अथवा व्यास और समास दोनों पद्धतियोंसे होती है। 'कथासारम्' का अर्थ है कि आप उसको समासपद्धतिसे बतायें, थोड़ेमें बतायें। इसमें विशेषता क्या है, कि 'मम कर्ण-रसायनम्' यह सुननेमें बड़ी ही प्यारी है।

यदि कोई किसी वस्तुका निरूपण 'अवच्छेदकावच्छिन्न' पद्धतिसे करने लगे तो सुनने-वाला उद्विग्न हो जायगा। वह तो केवल विद्वद्भोग्य है और यह कथा कर्णरसायन है। इसमें तो और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए—इस प्रकारकी चाह बनी ही रहती है।

शौनकजी आगे पूछते हैं कि भक्ति-ज्ञान-वैराग्ययुक्त विवेककी वृद्धि कैसे होती है ? वैसे विवेककी वृद्धि तो बहुत लोगोंको होती है—बड़े बड़े विवेकी होते हैं, कोई बैरिस्टर होता है, कोई जज होता है, कोई वैज्ञानिक होता है, कोई तार्किक होता है। उनको विवेक तो होता है परन्तु स्नेहरहित विवेक होता है। परमार्थकी प्राप्तिके लिए एक विशेष प्रकारका विवेक होना चाहिए, केवल विवेक मात्रसे ही परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती। विवेकमें जो विशेष विवेक होता है उसी विवेकके आश्रित सम्प्रदाय होते हैं। सम्प्रदायका अर्थ है क्रमकी स्वीकृति, भवित विशेषसे विशिष्ट विवेक। जब हम परमार्थके विवेकमें एक क्रम स्वीकार कर लेते हैं तब वहाँ सम्प्रदाय आजाता है। सम्प्रदाय अच्छे अर्थमें है, बुरे अर्थमें नहीं। यह राजनीतिज्ञोंका सम्प्रदाय नहीं। जो हमारा 'सम्यक् प्रकृष्ट महापुरुषोंसे प्राप्त ज्ञानका दाय' है, उसको सम्प्रदाय कहते हैं।

तो सूतजी, ऐसे विवेककी वृद्धि कैसे हो ? वैष्णव लोग माया-मोहका निरास कैसे करते हैं ? घोर कलियुग आगया है, जीव असुर हो गया है। इन क्लेशाक्रान्त जीवोंको सुखी बनानेका क्या उपाय है ?

देखो, एक महात्माने आशीर्वाद दिया कि 'राजपुत्र चिरंजीव मरत्वं ऋषिपुत्रक,' राजकुमार चिरंजीवी हो। ब्राह्मणकुमार जल्दी मरो। 'साधो त्वं मर वा जीव वा'—सत्पुरुष तुम जीओ या मरो—तुम्हारे लिए दोनों कल्याणकारी हैं। 'व्याध मा जीव मा मर'—अरे दुष्ट, न तो तू जी, न तू मर—क्योंकि दुष्टको कहीं सुख नहीं।

कम-से-कम इस जीवनमें तो सुखी होना ही चाहिए। लेकिन नासमझी और घमण्ड सिर पर सवार हैं, मुहब्बतमें फँसे हुए हैं, दुश्मनीसे जल रहे हैं और मृत्युके भयसे भयभीत हैं। इसी नासमझीका, इसी अज्ञानका नाम क्लेश है, दुःख है।

सूतजी, यह क्लेश कैसे दूर हो ? जो श्रेयस्करसे भी श्रेयस्कर है, जो पावनसे भी पावन है, जो श्रीकृष्णकी प्राप्तिका हेतु है और जो अनन्त-साधन है, वह आप हमें बताइये।

देखो, अनन्त साधनका अर्थ है संसारकी छोटी-मोटी चीजोंमें न फँसना। यदि तुम्हें पचास रुपये मासिक आयकी आवश्यकता हो तो छोटी-सी नौकरी कर लो, आय हो जायेगी। लेकिन अनन्त परमात्माको प्राप्त करना है तो साधन भी अनन्तके उपयोगी होना चाहिए। उसकी प्राप्तिका साधन शान्ति है, प्रीति है। भोग भगवत्प्राप्तिका साधन नहीं हो सकता—

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्॥

चिन्तामणिसे लोक-सुख मिल जाता है, इन्द्र स्वर्गकी सम्पत्ति दे सकते हैं, परन्तु यदि सत्पुरुष, सद्गुरु प्रसन्न हो जाँय तो वे योगि-दुर्लभ वैकुण्ठका दान कर देते हैं।

अब सूत जी कहते हैं कि आपके हृदयमें अपार प्रीति है। इसलिए मैं भलीभाँति विचार करके, सम्पूर्ण सिद्धान्तोंसे निष्पन्न संसार-भयका नाशक, भक्तिवर्धक और श्रीकृष्णको सन्तुष्ट करनेवाला साधन सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनो 'सावधानतया शृणु'।

देखो कलियुग एक अजगर है और यह सबको सता रहा है। उससे बचनेके लिए श्रीशुकदेवजी महाराजने श्रीमद्भागवत शास्त्ररूप मन्त्रका उपदेश किया है। जैसे किसीको साँप काट जाय तो लोग मन्त्र बोलते हैं, वह मन्त्र सुननेवालेकी समझमें कुछ नहीं आता; परन्तु उससे साँपका विष उतर जाता है, वैसे ही शुककी जो विशेषता है—उसपर आप ध्यान दें। तोतेको जैसा पढ़ाया जाता है, वैसा ही बोलता है, अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता। उसी तरह परम्परासे प्राप्त

श्रीमद्भागवतको श्रीशुकदेवजी बोलते हैं, उसमें अपनी ओरसे कुछ गढ़ते या मिलाते नहीं। कीरेण भाषितम्‌का अर्थ है कि श्रीमद्भागवत ज्यों-का-त्यों अनादि परम्परा से ही प्राप्त है।

इसमें एक बात और विलक्षण कही गयी कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अन्तःकरण-शुद्धिका साधन नहीं—'एतस्मादपरं किञ्चिन्मनःशुद्ध्यै न विद्यते।' केवल यही मनः शुद्धिका साधन है। इसमें एक बात यह है कि वक्ताके मुखसे बोला जाता है और श्रोताका मन शुद्ध हो जाता है। कर्ता दूसरा है और फलका भोक्ता दूसरा। यह बहुत विलक्षण बात है। जैसे यजमान आहुति अग्निमें डालता है और उससे तृप्ति होती है इन्द्र देवताकी। परम्पराके अनुसार फलका भोक्तृत्व तो कर्ताका होना चाहिए। जो कर्मका कर्ता होता है वही कर्मफलका भोक्ता होता है। परन्तु यह सत्कर्म बड़ा विलक्षण ज्ञान-यज्ञ है। यहाँ आपका श्रवण ही अग्निकुण्ड है और आपके हृदयमें बैठे हुए आत्मदेव ही यज्ञाराध्य देव हैं। यजमान यदि आहुति देता है तो वह आपकी अन्तरात्माको मिलती है। कर्ता दूसरा है और भोक्ता दूसरा है। वास्तवमें यहाँ कर्ता कोई दूसरा नहीं, जो अन्तर्यामी यहाँ बैठाकर बुलवा रहा है वही अन्तर्यामी वहाँ बैठाकर सुनवा रहा है। श्रोता और वक्ता दोनोंके हृदयमें एक ही कर्ता और भोक्ता मौजूद है। इसलिए इसका रस लेना चाहिए। यह जन्मान्तरके पुण्यका फल है; 'जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत्।' यह पुण्य नहीं, पुण्यकर्म नहीं, पुण्यका फल है, जो आप श्रवणके द्वारा अनन्त तृप्ति प्राप्त कर रहे हैं।

अब सूतजी बताते हैं कि जब श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितको उपदेश कर रहे थे, तब अमृतका घड़ा लेकर देवता लोग आये और श्रीशुकदेवजी से बोले कि महाराज, आप यह अमृत हमको पिला दीजिये। कथा-सुधाका पान हमलोग करगे। श्रीशुकदेवजीने कहा कि देवताओ, तुम लोग बहुत स्वार्थी हो जो स्वर्गके अमृतके साथ हमारे भागवतामृतका परिवर्तन करना चाहते हो। लेकिन इस भागवतामृतका अधिकारी भक्त है। अभक्त इसका अधिकारी नहीं। तुम लोग अर्थी हो, समर्थ हो, विद्वान् हो, परन्तु अधिकारी नहीं हो। जो संसारके तापसे संतप्त प्राणी हैं, उन्हें ही श्रीमद्भागवत प्राप्त है। देवताओं के लिए दुर्लभ है यह।

पूर्वकालमें राजा परीक्षितका मोक्ष देखकर ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने सब साधनकी तुलना की और बोले कि दूसरे सब साधन छोटे हैं और श्रीमद्भागवत सबसे बड़ा है। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है। इसके कथन-श्रवणसे तत्काल ईश्वरकी प्राप्ति होती है। पहले सनकादिकोंने दया करके यह नारदको सुनाया था।

यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धाच्छ्रुतमेतत्सुरर्षिणा।

यहाँ ब्रह्म-सम्बन्धका अर्थ है कि नारदजीने पहले ब्रह्माजीसे सुना था। नारद ब्रह्माजीके

बेटे हैं, शिष्य हैं और ब्रह्माजीसे श्रीमद्भागवतका श्रवण करते हैं। इसलिए नारदजीने सुना तो पहले था, परन्तु इसके श्रवणकी विधि सनकादिने बतायी।

अब शौनकजीने यह प्रश्न उठाया कि नारदजी तो इधर-उधर घूमते रहते हैं और श्रवण विधिमें उनकी प्रीति नहीं। वे तो कहते हैं कि कौन वेदी बनावे, कौन कुश ले आवे और कौन प्रोक्षण-कण्डिका स्थापित करे? इसलिए आओ, हम तो 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव'—इस भगवन्नामका कीर्तन करें और उसमें सन्तुष्ट रहें।

धन्य हैं देवर्षि नारद! सब शास्त्र केवल कर्मकाण्डियोंके लिए ही नहीं होते, कुछ उन लोगोंके लिए भी होते हैं जो कर्मकाण्ड नहीं करते। ये कर्मकाण्डी लोग सोचते हैं कि जब सब हमारी तरह होम करेंगे तब उनका कल्याण होगा। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो होम नहीं कर सकते और यह श्रीमद्भागवत उनके लिए भी है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ २.४.१८

कर्मकाण्डमें तो नारदजीकी प्रीति है नहीं। वे तो भक्तिके आचार्य हैं, प्रीतिके आचार्य हैं, वे कैसे भागवत सुननेमें लग गये?

इसका उत्तर सूतजीने शौनकजीको यह दिया—मुझे श्रीशुकदेवजीने बताया था कि एक दिन चारों सनकादि सत्सङ्गके लिए विशाला नगरीमें एकत्र हुए। वहाँ उनकी नारदसे भेंट हो गयी। सनकादिने पूछा कि नारदजी, आप जल्दी-जल्दी कहाँसे आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं? आपके मुखपर इतनी चिन्ता क्यों भास रही है, इतना दैन्य क्यों झलक रहा है? मालूम होता है आपका कुछ खो गया है। किन्तु अनासक्त पुरुषका इतना व्याकुल होना तो उचित नहीं है।

नारदजीने कहा—मैं पृथिवीलोकमें गया था और वहाँ पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरिक्षेत्र, कुरुक्षेत्र आदि सब तीर्थोंमें घूमा; 'तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः।'

इस श्लोकमें 'भ्रममाण' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है कि मैं तीर्थोंमें भटक रहा था। वैसे लोग अपनी-अपनी निष्ठामें रहते हैं। जो समाधि-निष्ठामें रहते हैं वे चलकर तीर्थोंमें जाना अपने लिए उपयोगी नहीं समझते। जो अद्वैत निष्ठावाले होते हैं, वे भी कहते हैं कि बहुत भटकनेकी जरूरत नहीं। 'आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षी भवेत् प्रिये।' जो तीर्थोंमें भटकते हैं उन्हें आत्मतीर्थका ज्ञान नहीं है।

परन्तु नारदजी तो तीर्थोंको पवित्र करनेके लिए ही जाते हैं। इसलिए वे बोले—महात्माओं, मुझे किसी तीर्थमें शान्ति नहीं मिली, सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि अधर्म-मित्र कलियुगने पृथिवीपर अपना प्रभाव जमा लिया है। अब तीर्थमें तो लोग रहते हैं परन्तु सच नहीं बोलते—'सत्यं नास्ति

तपः शौचं दया दानं न विद्यते ।' गङ्गास्नान करना बहुत अच्छा समझते हैं। परन्तु गङ्गास्नानके तुरन्त बाद जहाँ दुकानपर पहुँचे, दूसरोंकी जेबसे पैसा निकाल लेते हैं। लोगोंमें न सत्य है, न तप है, न शौच है, न दया-दान है और झूठ बोलते रहते हैं। 'मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।'

लोग मन्द हैं। मन्द उसे कहते हैं जिसको चलने-फिरनेमें ज्यादा आलस्य हो और आलस्यका भाव यह है : जिसके जीवनमें काम करनेमें रस न हो, स्वाद न आये। अरस माने जिसके जीवनमें रस नहीं और 'र' 'ल'के अभेदसे इसीका नाम अलस है। उस अलसके भावको बोलेंगे आलस्य—'अलसस्य' भावः आलस्यम्।' आलस्य ही मन्द है। जीवनमें मन्द वही है जिसको जीवनमें अपने कर्तव्यका पालन करते समय स्वाद नहीं आता।

अच्छा भाई, आलसी यदि बुद्धिमान् हो तो वह तो अपना काम बना लेगा ? बोले—नहीं, 'सुमन्दमतयः'—बुद्धि भी उसकी अच्छी नहीं। यदि बुद्धि न हो, पर प्रारब्ध अच्छा हो तो काम बन जायेगा। नहीं, 'मन्दभाग्याः'—उसका प्रारब्ध भी मन्द है। अच्छा; यह सब कुछ न होनेपर भी, यदि वह शान्तिसे बैठा रहे तो ? उस स्थितिमें यदि उसे कुछ चाहिए ही नहीं तो आलस्य क्या बिगाड़ेगा ? मन्दमतित्वसे उसकी क्या हानि होगी। मन्दभाग्यसे उसका क्या बिगड़ेगा ? नहीं, नहीं, उसको शान्ति कहाँ ? क्योंकि 'ह्युपद्रुताः'—उसका मन तो राग-द्वेषसे भरा हुआ है। अब बताओ—जो आलसी है, जिनके पास बुद्धि है नहीं, प्रारब्ध है नहीं, उनको क्या सफलता मिलेगी ? इस प्रकार नारदजीने जीवनकी विफलताका सार ही बता दिया।

नारदजी आगे कहते हैं—आजकल जो जितना बड़ा पाखण्ड करे, उसको उतना ही बड़ा सन्त मानते हैं। पाखण्डी माने पापके खण्ड—'पापस्य खण्डानि।' श्रीमद्भागवतमें पाखण्डकी यही व्युत्पत्ति बतायी है। 'विरक्ता सपरिग्रहाः'—जिसके पास बहुत परिग्रह है, वह विरक्त-शिरोमणि है। घरोंकी स्थिति यह है कि जबतक स्त्री तरुणी रहती है तबतक उसका हुकुम चलता है और वृद्धा हो गयी तो नहीं चलता—'तरुणी-प्रभुता गेहे।' सलाहकार साले हैं। लोभ तो इतना है कि लोग अपनी लड़कीतक बेच देते हैं। दम्पतीमें भी—पति-पत्नीमें भी कलह होता रहता है। आश्रमोंको यवनोंने रोक लिया है। तीर्थोंको सरिताओं और मन्दिरोंको दुष्टोंने नष्ट कर दिया है। योगी, सिद्ध, ज्ञानी एवं सत्कर्मी मिलते नहीं। कलिदावानलने सब साधनोंको भस्म कर दिया है।

अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः।
कामिन्यः केशशूलिन्यः सम्भवन्ति कलाविह॥ १.३७

महाराज, ऐसा कलियुग आगया है, ऐसा समयका परिवर्तन हो गया है कि अपने खानेकी जो अच्छी चीजें पैदा होती हैं, उन्हें लोग विदेशोंमें भेज देते हैं। अट्टशूलाका यही अर्थ है। द्विजाति तो हैं परन्तु उनको वेदसे प्रेम नहीं। शिव माने वेद।

'कामिन्यः केशशूलिन्यः'—यहाँ सीधे अर्थमें यही मालूम पड़ता है कि कामिनियाँ अपने बाल कटा देती हैं, बाल कटानेमें उनका प्रेम हो गया है। किन्तु 'केशशूलिन्यः' पदका प्रयोग बड़ी मर्यादाके साथ किया गया है, जिसका अर्थ है—कः प्रजापतिः ईशो यस्य तस्य शूलिन्यः। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ व्यभिचार पसन्द करने लगी हैं।

एवं पश्यन् कलेर्दोषान् पर्यटन्नवनीमहम्।
यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत॥ १.३७

नारदजीने कहा—यह इस धरतीकी दशा है। एक दिन मैं विचरण करता हुआ पहुँच गया यमुनाजीके तटपर, जहाँ भगवान्की लीला हुई थी और जो लीला तन्मय कर देती है। जैसे दवासे किसी रोगीका दर्द लीन हो जाता है वैसे ही संसारके दुःखोंसे हटाकर जो परमात्मामें लीन कर दे, लय कर दे, तन्मय कर दे उसका नाम लीला है—'लयनं लाति इति लीला।' वहाँ हमने एक बड़ा भारी आश्चर्य देखा। एक तरुणी स्त्री दुःखी होकर बैठी हुई थी। उसके पास दो बालक बेहोश पड़े थे। वह उनको जगानेकी कोशिश करती थी। सहायक ढूँढती, पर कोई दीखता नहीं था। सैकड़ों स्त्रियाँ उसकी सेवामें लगी हुई थीं और उसको समझाती जाती थीं। मैं दूरसे यह दृश्य देखकर उसके पास चला गया। वह स्त्री उठकर खड़ी हो गयी बोली—आप क्षण भर यहाँ ठहर जायँ, आपके दर्शनसे हमारा अघ=पाप नष्ट हो जायगा—'दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाघहरं परम्।' जैसे भगवान् शंकर सृष्टिका प्रलय कर देते हैं वैसे ही आपका दर्शन है। किन्तु शंकरजी सृष्टिका प्रलय तो कर देते हैं, लेकिन पाप-पुण्यका प्रलय नहीं करते। फिर बादमें और सृष्टि होती है। जब तत्त्वज्ञान होगा तभी पाप-पुण्य बाधित होंगे। शंकरजी तो केवल थोड़ी देरके लिए रोगको शान्त कर देते हैं। परन्तु आपका दर्शन कभी न मरनेवालेको भी मार डालता है। 'अघहरं परम्' न हन्यते इति अघः, न हन्यते भोगं बिना।'—भोगके बिना जिसकी मृत्यु नहीं होती उस अघको भी मार देता है—ऐसा आपके दर्शनों का पुण्य है। आप कुछ ऐसी दया करें—जिससे हमारा यह दुःख मिट जाय।

जब मैंने पूछा कि तुम कौन हो, ये सब स्त्रियाँ कौन हैं, तुमको दुःख क्या है? तो बताया—मेरा नाम है भक्ति। ये हैं मेरे दोनों बेटे—ज्ञान और वैराग्य। जो समयके प्रभावसे जर्जर हो गये हैं। वृत्तिके रूपमें जो वस्तु रहती है, उसपर समयका प्रभाव पड़ता है। वह तरुणी भी होती है, वृद्धा भी होती है और जर्जर भी होती है। ये गङ्गा आदि नदियाँ हैं जो मनुष्यके ज्ञान-वैराग्यको बढ़ानेके लिए हमेशा आगे बढ़ रही हैं, परन्तु कल्याण नहीं हो रहा है। मेरी स्थिति यह है कि मैं आचार्योंके द्वारा दक्षिण देशमें प्रकट होती हूँ, कर्नाटकमें बढ़ती हूँ, कहीं महाराष्ट्रमें प्रकट हो जाती हूँ। समय-समयपर वहाँ भी बड़े-बड़े सन्त प्रकट होते हैं। गुर्जरमें जाकर मैं जीर्ण-शीर्ण हो जाती हूँ। गुर्जरमें जो पाखण्ड है वे मेरे अंगोंको खण्ड-खण्ड कर देते हैं।

देखो, जब मनुष्य समग्र धर्म या समग्र भक्तिको लेकर नहीं चलता, केवल एक अंगको पकड़ लेता है, तब दूसरे अंगोंको हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई अहिंसाको तो ले ले परन्तु स्नानको छोड़ दे तो स्नानसे जो शरीरमें स्वच्छता आती है, सद्भाव उत्पन्न होता है उसकी हानि होती है। परलोकको, पुनर्जन्मको तो मान लें, परन्तु हमको—यज्ञादि रूप साधनोंको न मानें। जैसा साध्य होता है वैसा ही साधन होता है। एक अंगको स्वीकार करके, दूसरे अंगको जब छोड़ देते हैं तब हानि होती है। पाखण्डियोंने उसके अंगका खण्डन कर दिया; मैं दुर्बल हो गयी। मेरे पुत्र मन्द हो गये। यहाँ वृन्दावनमें आकर मैं तो फिर सुन्दरी हो गयी, युवती हो गयी, परन्तु मेरे ये दोनों पुत्र ज्यों-के-त्यों पड़े हैं। अब माँ तो जवान, लेकिन बेटे बूढ़े—यह कितने आश्चर्यकी बात है। वृन्दावनमें भक्ति युवती है, परन्तु उसके पुत्र ज्ञान-वैराग्य वृद्ध हैं। ये तीनों एक साथ ही रहते हैं। जहाँ ज्ञान-वैराग्य वहाँ भक्ति, जहाँ भक्ति वहाँ ज्ञान-वैराग्य—तीनों कभी अलग-अलग नहीं रहते। यदि भगवदाकार वृत्ति नहीं होगी, तो राग-द्वेष वृत्तिमें आयेंगे ही। जब राग-द्वेष होंगे तो ज्ञान कहाँसे रहेगा। ज्ञान नहीं तो भक्ति किसकी होगी? भक्ति नहीं तो अन्यसे वैराग्य कैसे होगा? इसलिए श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त यह है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैव त्रिक एककाल।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥

जैसे भोजन करनेसे प्रत्येक ग्रासमें पुष्टि-तुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति होती है, वैसे ही भजनके प्रत्येक क्षणमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिको वृद्धि होती है। ये तीनों एक साथ रहते हैं। परन्तु यहाँ हो गया है वैषम्य, इसलिए बहुत दुःख हो रहा है। आप हमारी इस बातका समाधान कीजिये।

नारदजीने एक क्षणके लिए भगवान्का ध्यान किया और सब-कुछ समझकर बोले कि 'हरिः शं ते करिष्यति'—देवी, तुम विषाद मत करो। भगवान् तुम्हें कल्याण देंगे। कालका चक्र बहुत विलक्षण है, दिनके बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन। इसका अर्थ यह है कि प्रकाशमें अपने कर्तव्यका पालन करो और अन्धकारमें निवृत्ति होकर विश्राम करो। प्रकृतिने विश्रामके लिए रात बनायी है। काल ही दो भागोंमें विभक्त होकर हमको श्रम और विश्राम देता है। जो विश्राम छोड़कर श्रम करेगा उसको भी काल खा जायेगा और जो श्रम छोड़कर विश्राम करेगा उसको भी काल खा जायेगा। रात्रि और दिन दोनों जीवनमें हैं। 'युगोऽयं दारुणः कलिः' इस युगके प्रभावसे सदाचार, योगमार्ग एवं तपस्याका लोप हो गया है और 'जना अघासुरायन्ते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः।' लोग अघासुर बन गये हैं। जैसे अघासुर निर्दोष ग्वालों और गो-वत्सोंको निगल जाता है, वैसे ही आज लोग भलेमानुषके साथ भी बुरा बर्ताव करते हैं। सन्त दुःखी हैं और असाधु सुखी हैं।

इस समय जो धैर्य धारण करे, वही धीर अथवा पण्डित है। पृथिवी देखने योग्य नहीं रही, मङ्गलका कहीं भी दर्शन नहीं हो रहा और तुम्हारा भी कोई दर्शन नहीं कर रहा है। लोगोंकी दृष्टि वैराग्यपर नहीं; समझते हैं कि रागसे ही हमको सुख मिलेगा, परन्तु जिससे राग हो गया है, वह चीज ही मर जायेगी। राग भी हमेशा नहीं रहेगा। तुम्हींको दूर जाना पड़ेगा। रागसे हमेशा सुख कैसे मिल सकता है : यह विचार करते रहना चाहिए। अच्छा; है कोई ऐसा व्यक्ति जो चौबीस घण्टे अपने जीवनमें द्वेष रख सके ? वह स्वयं मर जायेगा। ये तो सब बदलनेवाली चीजें हैं। लोग भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी उपयोगिताको नहीं समझते। यह भी कालका ही प्रभाव है। वृन्दावन तो बहुत अच्छी जगह है। परन्तु—

अत्रेमौ ग्राहकाभावान्न जरामपि मुञ्चतः। १.६२.

यहाँ भी भक्तिके तो ग्राहक बहुत हैं, ज्ञान और वैराग्यके ग्राहक नहीं हैं। यहाँ कोई-कोई तो वैराग्यको भक्तिका आभूषण मानते हैं, लेकिन बिना आभूषणके भी सौन्दर्य तो रहता ही है। कोई वैराग्यको भक्तिकी आँख मानते हैं—नेत्र मानते हैं, उसके बिना तो भक्ति अन्धी हो जायेगी। कोई-कोई वैराग्यको भक्तिका फल मानते हैं। शास्त्रमें पुत्ररूपसे भक्तिका वर्णन है। पुत्र माने भक्तिका फल। श्रीमद्भागवतका दृष्टिकोण है कि ज्ञान-वैराग्य भक्तिके आभूषण नहीं, भक्तिके अंग भी नहीं, ये तो भक्तिके फल हैं। फलका अर्थ यह है कि भगवदाकारवृत्ति करनेसे प्रपञ्चके प्रति वैराग्य हो जायेगा। जिसकी भक्ति है, उसके स्वरूपका बोध हो जायेगा। भजनीयके स्वरूपका बोध और तदितरकी व्यावृत्ति—यह भागवतकी दृष्टिसे भक्तिका स्वरूप है।

इसलिए ज्ञान और वैराग्य 'नेति-नेति'के द्वारा निषेध तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिके द्वारा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मका अनुभव करते हैं। ये दोनों भक्तिके पुत्र हैं, भक्तिके फल हैं। भक्ति सम्पूर्ण वेदशास्त्रके साथ समन्वित है। इनको भी कुछ आत्मसुख आरहा है और इसलिए ये सो रहे हैं।

भक्तिने कहा—राम, राम ! राजा परीक्षितने कलियुगकी स्थापना ही क्यों की ? क्योंकि सभी वस्तुएँ सार-रहित हो गयीं। लगता है भगवान्के अन्दर भी करुणा नहीं रही, दया-दाक्षिण्य नहीं रहा तभी वे इतना अधर्म देख रहे हैं। मेरे मनमें संशय है और आपसे इसीलिए पूछा है कि आपकी बात सुनकर मुझे सुख होता है।

देखो, यह भक्तिका उद्देश्य न तो परीक्षितमें दोष-दर्शन करना है और न भगवान्पर दोषारोपण करना है। भक्तिका उद्देश्य तो दूसरोंके मनमें होनेवाली शंकाका निराकरण करना है इसीलिए वह प्रश्न कर रही है।

नारदजीने कहा—देवी, तुमने जो पूछा है, उसका उत्तर प्रेमसे सुनो। जब भगवान् श्रीकृष्ण

पृथिवीसे अपनी लीलासंवरण करके अन्तर्धान हो गये तब सम्पूर्ण साधनोंमें बाधा डालनेवाला कलियुग आगया। राजा परीक्षितने अपने दिग्विजयमें उसको दीन देखकर शरणागतके रूपसे स्वीकार कर लिया। भगवान्‌को कलियुगसे कोई डर नहीं है। ऐसे-ऐसे कलियुग तो उनकी सङ्कल्प-कलामें कितने ही आते-जाते रहते हैं। राजा परीक्षितने तो शरणागत-संरक्षण धर्मको प्रकट कर दिया—

दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदर्गर्हितः।

इसका अर्थ है कि शरणागत दोषी भी हो तो भी उसको स्वीकार कर लिया, क्योंकि भगवान्‌के भरोसे उन्हें कोई डर नहीं। वे तो 'सारङ्ग इव सारभुक्' जैसे हंस दूधको पी लेता है और जलको छोड़ देता है, ऐसे गुणग्राही हैं। एक बात और भी है—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥१.६८

तपस्यासे, योगसे, समाधिसे, जिस फलकी प्राप्ति नहीं होती, वह फल कलियुगमें केवल भगवन्नामसे मिल जाता है। बस; यही एक गुण कलियुगमें है, अन्यथा यह तो बिलकुल नीरस है। क्योंकि इसमें कुकर्माचरणसे वस्तुका सार चला जाता है। जैसे चावल निकाल लेनेपर भूसी होती है, वैसे ही स्थिति वस्तुओंकी हो जाती है। बड़े-बड़े विद्वानोंने तो भागवत-कथाकी कोमत तय कर दी कि इतना हमें दोगे तो हम तुमको भागवतकी कथा सुना देंगे। इस तरह जब भागवत-कथाका मूल्याङ्कन हो गया तब कथाने कहा कि ये तो हमारा अपमान करते हैं और फिर कथाका सार निकलकर चला गया। अगर आप कभी हीरा खरीदने लगें तो समझें कि असली हीरा होता तो सस्तेमें थोड़े मिलता ? सस्ता हीरा तो वही मिलेगा जो चोरीका होगा या नकली होगा।

तो कथा-सार उसके ऐसे वक्ताओंको वजहसे चला गया, तीर्थोंका सार वहाँ रहनेवाले नास्तिको और रौरवी लोगोंके कारण चला गया और तपस्याका सार उन कामी-क्रोधी-लोभी लोगोंके कारण चला गया जो उसका दिखावा करने लगे। अब उन लोगोंकी बात देखो, जो ध्यानका ढोंग करते हैं। पहले तो वे ध्यानकी लूट मचाते हैं कि आओ हमारे पास, हम तीन मिनटमें ध्यान लगवाते हैं। भला कहीं तीन मिनटी ध्यान टिकनेवाला है ? वह तो वैसे ही हुआ, जैसे नोट दुगुना-चौगुना करनेवाले ठग करते हैं। अरे बाबा ! ध्यान लगानेके लिए तो पहले जप करना पड़ता है, गुरुकी शरणागति लेनी पड़ती है, अभ्यास करना पड़ता है। ऐसा करनेपर ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। यह कहीं रास्तेमें पड़ा हुआ माल नहीं है कि तुम उसे उठा लोगे या दूसरोंको लुटा दोगे। लोग ऐसे हो गये हैं कि उनका मन वशमें नहीं है, लोभ भरा हुआ है और दम्भ-पाखण्ड ही उनको अच्छा लगता है, शास्त्रका अभ्यास नहीं, वे इतना भी नहीं जानते कि ध्यानका मतलब क्या होता

है ? किसीने नस दबा दी तो कहने लगे कि बस ध्यान लग गया। किसीने उनकी आँख बन्द कर दी या बिजलीकी रोशनी इतनी खोल दी कि उनको लगने लगा हमारा तो ध्यान लग गया।

अब रही बात पण्डितोंकी—'पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते'—वे तो भैंसोंकी तरह बच्चे पैदा करनेमें बहुत दक्ष हैं; परन्तु मुक्ति-साधन करनेमें दक्ष नहीं। सम्प्रदाय पुरःसर गुरुपरम्परासे जो वैष्णवता आती है वह देखनेको भी नहीं मिलती। यदि कोई कहे कि भगवान् यह सब क्यों सहते हैं तो यह सब समयका धर्म है, इसलिए भगवान् साथ रहकर भी सब सहन करते हैं। कभी-कभी गन्दी जगहमें बच्चा गिर पड़ता है, रोने लगता है और माँ बिलकुल पास खड़ी रहती है, उठाती नहीं। कोई उसको देखे तो यही कहेगा कि बड़ी क्रूर है, बच्चेको उसके गिरनेपर भी नहीं उठाती, उसके रोनेपर भी गोदमें नहीं लेती, इसका हृदय बहुत कठोर है, माँ कहती है कि जाओ मैं कठोर ही सही, तुम्हारे ऐसा कहनेसे क्या होता है ? मैं तो यह चाहती हूँ कि मेरा बच्चा जरा अपने आप उठना सीखे, गिरनेपर उसको उठनेका अभ्यास हो, गन्दगी लग गयी तो अपने हाथसे अपना शरीर धोनेका अभ्यास करे। यदि ऐसे ही रो-रोकर यह अपना काम करता रहेगा तो इसके अन्दर योग्यता कभी नहीं आ सकेगी।

अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्।
अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥१.७७

इस कलियुगका ऐसा प्रभाव है कि सबको इसका कुछ-न-कुछ रंग लग ही जाता है। भगवान् कहते हैं—एक-दो दिनकी बात है, यह आया है तो इसका भी मजा लोगोंको ले लेने दो और इसी दृष्टिसे वे सब सहन करते हैं।

भक्ति देवीने कहा कि नारदजी, आपके दर्शनोंसे मुझे परमानन्दकी प्राप्ति हुई। साधु-दर्शन सम्पूर्ण मङ्गलोंको देनेवाला है :

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि ॥१.८०

आपको एक बातसे ही कयाधूका पुत्र प्रह्लाद माया-विजयी हो गया और ध्रुवको ध्रुवपदकी प्राप्ति हो गयी। आप तो ब्रह्माजीके पुत्र हैं, सकल कुशल-पात्र हैं, मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

❀

: २ :

नारदजीने भक्तिसे कहा कि देवी, तुम खेद मत करो, चिन्ता मत करो। भगवान्के चरणारविन्दका स्मरण करो। मैं तुमको एक बात बताता हूँ—हमारे मनको भगवान्ने ऐसा बनाया है कि उसमें एक समय एक ही बात रह सकती है :

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम्। न्याय सू० १.१.१६

मनकी पहचान ही यह है कि उसमें एक साथ दो बातें नहीं रह सकतीं। वह इतना जल्दी-जल्दी घूमता है कि मनुष्यको मालूम पड़ता है, उसके मनमें बहुत सारी बातें हैं। पर असलियत यह है कि मनमें हमेशा एक ही बात रहती है। यदि मनमें भगवान्का स्मरण है—चाहे वे पीताम्बरधारी, मुरलीमनोहर, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण हों, चाहे धनुषधारी, कौशल्या-नन्दवर्द्धन श्रीरामभद्र हों अथवा चाहे शिव हों तो वह उन्हींके आनन्दमें डूबा रहेगा। यदि मन विवृत्तिक है, निर्विकारी है तो भी उसमें दुःख नहीं हो सकता। दुःखको दूर करनेका यह बहुत सुगम मार्ग है कि मनको भगवान्के ज्ञान-ध्यान अथवा लीला-चिन्तनमें तदाकार कर दो। यह सर्वथा वैज्ञानिक पद्धति है मनको दुःखसे छुड़ानेकी।

मान लो भगवान् आपके मनमें मुस्करा रहे हैं अथवा आपका मन ही भगवान्का कोई रूप ग्रहण करके मुस्कुरा रहा है तो उसमें दुःख नहीं आ सकता। दुःख-निवारणको अमोघ औषधि है श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका स्मरण—

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति। २.१

जिन भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-कश्मलसे द्रौपदीकी रक्षा की और गोपसुन्दरियोंका पालन किया, वे कहीं चले नहीं गये आज भी विद्यमान हैं; फिर भक्ति देवी ! तुम तो भगवान्की प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो। तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचके घरमें भी चले आते हैं—

त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि। २.३

गीतामें तो भगवान्ने प्रतिज्ञा ही कर रखी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९.३०

इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि जो नीच है, पतित है, पापी और दीन-हीन हैं उनके हृदयमें भी तुम्हारा प्रवेश है। दैन्यमें तो तुम आती ही हो। सन्त कवि कहते हैं :

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
हौं हरि सब पतितन को राजा।

मनुष्यको जहाँ अपने पापीत्वका, दैन्यका अनुभव होगा, वहाँ प्रेमसे भगवान्‌का स्मरण तो होगा ही। चलो यही सही, जब भक्ति एक पतित, दीन-हीनके हृदयमें जा सकती है तो वह कैसा भगवान् होगा, जो वहाँ न जा सके। जब पति यह सुनें कि उसकी पत्नी तो अमुकके घर किसी रोगीकी सेवा करने, किसी गरीब की मदद करने, किसी दीन-हीनकी सहायता करने पहुँच गयी तो यह कैसे हो सकता है कि पति वहाँ न जाय ? जहाँ-जहाँ भक्तिका प्रवेश है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌का भी आविर्भाव है। भगवान्‌को कहीं प्रवेश नहीं करना पड़ता, वे तो पहलेसे वहाँ विद्यमान हैं। इसलिए भक्ति जहाँ पहुँची कि उसको देखते ही भगवान्‌का आविर्भाव हो जाता है।

पुराणोंमें वर्णन आता है :

अपि पापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
सद्यस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः॥

दीन-हीन और मलिन-चित्त व्यक्तिके लिए सबसे बड़ा सहारा यह है कि वह एक निमिषके लिए ही सही, भगवान्‌का ध्यान करे। यह ज्ञानके मार्गमें भी बाधक नहीं है। क्योंकि स्वयं भगवान्‌का ही यह वचन है :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ गीता ४.३६

भगवान् कहते हैं—दुनियाके सब पापियोंको इकट्ठा करो और उनमें से तीन पापी छाँट लो — एक पापकृत् दूसरा पापकृत्तर और तीसरा पापकृत्तम। पापकृत्तम सबसे बड़ा पापी है। उससे कहो कि हमारी ज्ञान-नौकापर बैठ जाय। फिर वह इस संसार-सागरको भली-भाँति तर जायेगा।

वास्तवमें जिस धर्ममें दीन-हीनके लिए, पापी-पतितके लिए सहारा नहीं, वह धर्म धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो वही है, जो दीन-हीन और पापी-पतितको भी सहारा देकर ऊपर उठानेका मार्ग प्रशस्त करता है। इसीलिए भक्तिदेवी, तुम भगवान्‌को नीचके घरमें भी ले जाती हो।

नारदजी आगे कहते हैं—सत्यादि अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर इन तीनों युगोंमें बोध-वैराग्य-मुक्ति देनेवाले होंगे, परन्तु कलियुगमें तो केवल भक्ति ही सायुज्य मुक्ति देती है और यही निश्चय करके भगवान्‌ने तुम्हारा सृजन किया है। तुम तो परम सुन्दरी, श्रीकृष्ण-वल्लभा हो। जैसे परमानन्दचिन्मूर्ति भगवान् हैं, वैसे ही परमानन्दचिन्मूर्ति तुम हो।

भक्तिदेवी, एकदिन तुम्हारे यह पूछनेपर कि मैं क्या करूँ, भगवान्‌ने आज्ञा दी थी कि मेरे भक्तोंका पोषण करो, मेरे बच्चोंकी देख-भाल करो। पति अपनी पत्नीसे तभी सन्तुष्ट हो सकता है जब वह बच्चोंका पालन-पोषण करे, उनको ठीक रास्तेपर चलाये। तुम जानती ही हो कि यह सारी सृष्टि भगवान्‌की है। तुमने भगवान्‌की आज्ञा मान ली, भगवान् तुमपर प्रसन्न हुए, उन्होंने तुम्हें

मुक्ति-रूपिणी दासी दे दी और ज्ञान-वैराग्यको तुम्हारे साथ कर दिया। तुम बैकुण्ठमें अपने स्वरूपसे पोषण करती हो और पृथिवीमें छायारूप होकर रहती हो। तुम्हारे साथ मुक्ति, ज्ञान, वैराग्य सब रहते हैं। कलियुग आनेसे मुक्ति बैकुण्ठमें भाग गयी और जब तुम याद करती हो तभी वह यहाँ आती है। किन्तु ज्ञान और वैराग्य तुम्हारे बच्चोंके रूपमें रहते हैं। उपेक्षाके कारण ही ये वृद्ध हो गये हैं। तुम चिन्ता छोड़ो। मैं तुम्हारे लिए उपाय करता हूँ।

असलमें 'कलि' शब्दका एक अर्थ तो यह है कि जिसमें लोग कलह करें, उसका नाम कलि। इस शब्दका प्रयोग वेदोंमें भी आता है। जैसे–'कलिः शयानो भवति' (एतरेय ब्राह्मण ७.१५)। इसका अर्थ यह है कि यदि ईश्वरकी ओरसे सो गये तो कलियुगमें आगये। लेकिन इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि यह सुख-स्वरूप परमात्माको बड़ी आसानीसे मिला देता है। 'क' माने परमात्मा है और 'लि' देनेवालेका नाम है। इसलिए यह कीर्तन मात्रसे ही परमात्माका दान कर देता है—कं लाति इति कलिः। देखो, हम जिस युगमें हैं, उसी युगमें तो हमें भगवान्‌से मिलना है। इसकी निन्दा करके नाराज कर दें और दूसरे युगकी आशा करें, यह बिल्कुल बेकार बात है।

कलिना सदृशो कोऽपि युगो नास्ति वरानने।
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥ २.१३
अन्यधर्मांस्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवम्।
तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥ २.१४

नारदजीने प्रतिज्ञापूर्वक कहा कि इस कलियुगके समान दूसरा युग नहीं है। मै तुमको घर-घरमें, जन-जनमें स्थापित करूँगा। जो गिरिवासी हैं, आदिवासी हैं, जंगली हैं, पिछड़े हुए हैं, उनमें भी तुम्हारी स्थापना करूँगा। यदि मैंने लोकमें भक्तिभावका प्रचार नहीं किया तो मै भगवान्‌का भक्त नहीं। जिनके हृदयमें भगवान्‌की प्रेमरूपिणी भक्ति होगी, वह पापी भी निर्भय होकर भगवान्‌के मन्दिरमें जायेंगे और उन्हें स्वप्नमें भी यमराजका दर्शन नहीं होगा। प्रेत, पिशाच, राक्षस, असुर, कोई भी भक्तियुक्त मनपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। तपस्या, वेदज्ञान, कर्म किसीके द्वारा भी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् तो भक्तिसे मिलते हैं और इसकी प्रमाण हैं गोपिकाएँ :

हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः। २.१८

देखो, यह पुराणकी महिमा है। सामान्यतः नारदजीको बोलना चाहिए था कि 'श्रुतयः प्रमाणम्'—श्रुतियाँ प्रमाण हैं। लेकिन उनका कथन अपने स्थानपर ठीक है क्योंकि प्रमाण अर्थात् प्रमाजनकत्व श्रुतियोंमें है और ये गोपियाँ श्रुतिरूपी हैं—'गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयः'। गोपियोंने स्वयं बताया कि उनकी जाति भी ऊँची नहीं, उनका ज्ञान भी ऊँचा नहीं और आचार भी ऊँचा नहीं। ये तीनों बातें श्रीमद्भागवतके मूलमें ही हैं :

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनु भजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥

श्रीमद्भागवत १०.४७.५९

जो मुर्दके मुँहमें डालनेपर भी अपना प्रभाव दिखा दे, उसका नाम अमृत है और यह है भगवान्‌की भक्ति । हजारों जन्मोंके बाद भक्तिमें मनुष्यकी रुचि होती है तथा भक्तिसे भगवान् सम्मुख आकर खड़े हो जाते हैं । जो भक्तिके द्रोही हैं, वे दुःखी होते हैं । भक्तोंकी निन्दा करनेके कारण ही दुर्वासाको दुःख भोगना पड़ता है । इसलिए :

अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः ।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥ २.२१

अलम् अलम् अलम् माने बस-बस ! व्रत बहुत हो गये । तीर्थोंमें बहुत घूम लिया । बहुत योग कर लिया, बहुत यज्ञ कर लिये और ज्ञानकी चर्चा भी बहुत कर ली । अब तो केवल भक्ति ही परम कल्याणकारिणी है, भक्तिसे ही परम कल्याण होता है ।

यहाँ इस कथनका अभिप्राय किसीकी निन्दासे नहीं है । संकृत भाषामें बोलनेकी यह एक रीति है । इसको जो लोग नहीं जानते वे ही समझते हैं कि खण्डन हो गया । लेकिन हम किसीका खण्डन नहीं करते, किसीकी निन्दा नहीं करते; भक्तिकी महिमाका गान करनेके लिए ही कहते हैं कि अकेली भक्ति ही सबकुछ कर सकती है ।

भक्तिने कहा कि नारदजी, तुम धन्य हो । मेरे प्रति तुम्हारी निश्चल प्रीति है । मैं हमेशा तुम्हारे हृदयमें रहूँगी, कभी तुम्हें छोड़ूंगी नहीं । तुमने हमारी तो बाधा मिटा दी. जरा हमारे इन बच्चोंको भी जाग्रत कर दो ।

नारदजीका तो काम ही है ज्ञान देना । नारद शब्दका अर्थ क्या होता है ? नर-नारायणकी सम्प्रदाय-परम्परासे प्राप्त ज्ञानका नाम 'नार' है और उस ज्ञानका जो दान करे उसका नाम है नारद । अथवा नरके हृदयमें जो अज्ञान है, उसका जो नाश करदे, उसे नारद कहते हैं । 'नरस्य सम्बन्धि अज्ञानं द्यति' अथवा माताके नार माने नाल-नाली (जन्म-मरण ही गन्दी नाली है) इस नार या नालीसे जो छुड़ा दे उसका नाम नारद है ।

अब भक्तिके कहनेपर उसके बच्चोंको नारदजी जगाने लगे । वे उनको हाथसे मलें माने कर्मसे भी जगावें और शब्दसे भी जगावें । 'कराग्रेण विमर्दयन्' (२५) का अर्थ है कि क्रियाके द्वारा भी ज्ञान-वैराग्यको जाग्रत करनेका प्रयास करते हैं । किन्तु कर्मसे ज्ञान-वैराग्य जाग्रत नहीं होते, शब्दसे भी नहीं जागते । इनके बाद वे कानके भीतर मन्त्र बोलते हैं-'मुखं संयोज्य कर्णान्ते' । (२.२६)

लेकिन मन्त्रसे अर्थात् गुरुदीक्षासे भी ज्ञान-वैराग्य नहीं जागता। फिर नारदजी कहते हैं—रे वैराग्य, 'प्रबुद्ध्यताम्।' लेकिन आज्ञा देनेसे भी वे नहीं जागे। इसके बाद वेद-वेदान्त, गीता-पाठ द्वारा जगानेपर भी नहीं जगे। थोड़ी देरको जगें भी तो फिर आँख बन्द कर लें। अब नारदजी बहुत उद्विग्न हो गये। उनको यह चिन्ता हुई कि अब मुझे क्या करना चाहिए ? कैसे इनकी निद्रा जाये ? जब कोई भी उपाय काम नहीं आया तब अन्तमें उन्होंने सम्पूर्ण विपत्तियोंके नाशक भगवत्-स्मरणका सहारा लिया।

इस संसारमें भगवान्की विस्मृति ही विपत्ति है और स्मृति ही सम्पत्ति है—'विपद्-विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायण-स्मृतिः'। इसलिए आप जो कुछ भी करना चाहते हैं, उसकी सम्पन्नताके लिए भगवान्का स्मरण कीजिये। इसीलिए नारदजीने गोविन्दका स्मरण किया।

अब स्मरण करते ही आकाशवाणी हुई—'व्योमवाणी तदैवाभूत्' (२.३१)। नारद, दुःखी मत होओ। तुम्हारा उद्यम सफल होगा ! इसके लिए तुम सत्कर्म करो-सत्कर्म करो। सत्कर्म साधुओंसे ज्ञात होगा। इसका आचरण करनेपर ज्ञान-वैराग्यकी निद्रा टूट जायेगी। तुम्हारे जीवनमें भी ज्ञान-वैराग्य आजायेगा।

यह आकाशवाणी सुनकर नारदजीने कहा—बात मेरी समझमें नहीं आयी। मुझे गुप्तरूपसे कोई शिक्षा दी गयी है। मैं क्या सत्कर्म करूँ ? कहाँ वे साधु मिलेंगे ? वे क्या साधन बतायेंगे ? यह सोचते हुए नारदजी इधर-उधर घूमने लगे। लोग उनकी बात सुनें; परन्तु निश्चित रूपसे कोई कुछ न बतायें। कोई कहे असाध्य है, कोई कहे दुर्ज्ञेय है, कोई-कोई तो जब सुनें कि नारदजी आकर प्रश्न पूछनेवाले हैं तब वे मौन ग्रहण कर लें। उनके चेले-चाँटी कहें कि आजकल हमारे महाराज काष्ठ-मौनी हैं, बोलेंगे नहीं। इस तरह लोगोंने एक बहाना निकाल लिया नारदजीके प्रश्नका उत्तर न देनेके लिए। 'कियन्तस्तु पलायिताः' (२.३८)। कुछ लोग तो कहीं बाहर भाग गये। कई लोग समाधिमें बैठ गये। 'हाय-हाय' मच गयी दुनियामें–'हाहाकारो महानासीत्'–(२.३९)। जब वेद-वेदान्त, गीता-पाठसे भी भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका हित नहीं हुआ तब कैसे होगा, कोई उपाय नहीं। कानाफूसी लोगोंमें होने लगी। जब नारदको ही पता नहीं, तब दूसरा कोई कहाँसे बतायेगा, अवश्य यह कार्य दुरासद है।

अब चिन्तातुर नारदजी बदरीवन में तपस्या करने चले गये। उसी समय उनको सनकादिकी प्राप्तिहुई। नारदजी बोले कि बड़े भाग्यसे आप लोगोंका सत्सङ्ग प्राप्त हुआ है। कृपया आप लोग जल्द बताइये कि ज्ञान-वैराग्यका जागरण कैसे होगा ? जो बड़े-बड़े मार्ग हैं, उनमें बड़ा भारी श्रम है और उनका फल बहुत छोटा है। जिससे अनन्त फलकी प्राप्ति हो उस मार्गको बतानेवाला उपदेष्टा दुर्लभ है। इसलिए आप लोग कृपा करके सरल मार्ग बतायें—'अनुग्रहस्तु कर्त्तव्यो मयि दीने दयापरैः'। (२.५०)

देखो, महात्माका अनुग्रह वर है और जिज्ञासुकी श्रद्धा कन्या है। दोनोंका पक्का विवाह हो जाता है। दोनोंका विवाह-सम्बन्ध बिल्कुल शास्त्रीय रीतिसे पक्का हो जाता है तब परमार्थका प्रसव होता है, परमार्थ-ज्ञानका उदय होता है। अंहकारीपर वह अनुग्रह कभी नहीं होता, इसीलिए नारदजीने कहा—'मयि दीने दयापरैः'। जब हृदय अंहकारसे खाली होता है तब अनुग्रह आता है। नारदजी और सनत्कुमार दोनों ही ब्रह्माके पुत्र हैं और दोनों ही समान कक्षाके हैं, परन्तु ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अंहकारको छोड़ना पड़ता है। ज्ञान प्राप्त करके नारदजीको स्वयं सुखी नहीं होना है, उन्हें सुखी तो भक्ति-ज्ञान-वैराग्यको करना है। 'स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रत्नतः' २.५२)। उनको भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका स्थापन केवल द्विजातियोंमें ही नहीं, सब वर्णोंमें करना है।

सनत्कुमारोंने कहा कि देवर्षि नारद ! चिन्ता मत करो, अपने हृदयमें हर्ष धारण करो। तुम जिस उपायकी खोज कर रहे हो, वह बहुत ही सुखसाध्य है। तुम विरक्तशिरोमणि हो, श्रीकृष्ण-दासोंके अग्रणी हो, योगभास्कर हो। तुम्हारा भक्तिके लिए जो प्रयत्न है, वह कोई कठिन बात नहीं। जो श्रीकृष्णका भक्त होता है, वह भक्तिकी स्थापनाके लिए प्रयत्न करता ही है।

असलमें भक्तकी दृष्टि ही यह होती है कि उसको सारी सृष्टि भक्तिमयी दिखाई देती है। गोपियोंके हृदयमें जब भक्तिका उदय हुआ तब उन्हें लता-वृक्ष-नदी-नद सब ऐसे दिखाई पड़ते थे कि ये सब भगवान्के भक्त हैं। उनको वृक्षोंका मधुक्षरण, लताओंका कुसुमित होना और पृथिवीका दूर्वांकुरित होना ऐसा प्रतीत होता था कि मानो यह सब भगवान्की भक्तिसे हो रहा है। भगवान्का भक्त यही चाहता है कि भक्तिका विस्तार हो। महात्माओंने इसके लिए बहुत-से पन्थ प्रकट किये हैं, क्योंकि जब प्राप्तव्य वस्तु सब स्थानोंपर होती है तब उसका पन्थ भी सब जगह होता है। जैसे परमेश्वर सब जगह है, तो जो जहाँ है वह वहीं उसको प्राप्त कर सकता है। यदि कोई कह दे कि इस स्थानपर, इस कालमें, इस व्यक्तिको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती तो उसका यह कहना गलत है; क्योंकि उसी स्थानमें उसी समय, उसी व्यक्तिके हृदयमें भी परमात्मा विद्यमान है। इसलिए जितने जीव हैं, उतने ही पन्थ हैं, जिससे कि जो जहाँ है, वहीं परमात्माको प्रकट कर ले। पर जिसकी अटक संसारमें होती है, वह परमेश्वरको पकड़ नहीं सकता। उसको छोटी-छोटी वस्तुओंके लिए बहुत श्रम करना पड़ता है। उसे परमात्माकी प्राप्तिके लिए मार्ग बतानेवाला पुरुष बड़े भाग्यसे मिलता है।

सनत्कुमारोंने कहा कि नारदजी, आकाशवाणीने जो तुमको बताया है, उसके सम्बन्धमें श्रवण करो—बहुत सारे ऐसे यज्ञ हैं, जो चरु-पुरोडाश आदि द्रव्योंसे साध्य हैं। कोई कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तपस्याओंमे साध्य है। कोई आसन, प्राणायाम आदि योगसे साध्य है। कोई वेदोंके स्वाध्यायसे साध्य है। परन्तु ये सब कर्म हैं और कर्त्ताके प्रयत्नसे उत्पन्न होते हैं। केवल ज्ञान ही ऐसा है जो

कर्तृसापेक्ष नहीं है। वह तो प्रमेयवस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही होता है। स्वर्ग कैसा मिलेगा—जैसा यज्ञ करेंगे। होटलमें भोजन, कमरा कैसा मिलेगा—जैसा पैसा खर्च करेंगे। परन्तु जो हिमालय है, गंगाजल है, बर्फ है, चाँदनी है, सूर्यकी रोशनी है, वह पैसेके अनुसार नहीं मिलेगी। जो सिद्ध वस्तु होती है वह सबको एक सरीखी मिलती है। कृत्रिम वस्तु ही पैसेके अनुसार मिलती है। ज्ञान-यज्ञ प्रमेय वस्तुके अनुरूप होता है, और जो कर्मका फल होता है वह कर्ताके अनुरूप होता है।

श्रीमद्भागवत ज्ञान-यज्ञ है। ज्ञानका अर्थ है कि इसके द्वारा परमात्मा जैसा है, वैसा मिलता हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य तीनों एक ही चीज हैं। भक्ति है भजन। भजनके दो अंश हैं, एक भजन एक भञ्जन। जैसे 'भजनं भक्तिः' होता है, वैसे 'भञ्जनं भक्तिः' भी होता है अर्थात् भञ्जनसे भी भक्ति बनता है। यह संसार-वासनाका भञ्जन करती है और भगवद्विषयक सेवन-रति उत्पन्न करती है। इसलिए भक्तिको भक्ति कहते हैं। इससे भजनीयका ज्ञान होता है और उससे भिन्नसे वैराग्य होता है तथा प्रेमपूर्वक तदाकार वृत्ति होती है। जब ये तीनों बढ़ जाते हैं तब भक्ति सुखी हो जाती है। भागवतकी ध्वनिसे कलियुगके सब दोष दूर हो जाते हैं। ज्ञान-वैराग्यके विना भक्ति कभी सुखी नहीं हो सकती। अगर कोई भगवान्‌को जाने नहीं कि कैसे हैं और आसक्ति करे दूसरोंसे तो उसको भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ? स्वयं देवर्षि नारदजी अपने भक्ति-सूत्रोंमें कहते हैं—'तद्विहीनं तु जाराणाम् इव', 'तत्रापि न माहात्म्य-ज्ञान-विस्मृत्यपवादः' (१.२३, २२) अर्थात् भगवान्‌के माहात्म्यका विस्मृतिरूप कलङ्क गोपियोंके हृदयमें नहीं था। क्योंकि माहात्म्य-ज्ञानके बिना तो जारप्रीतिके समान प्रीति होती है।

अब नारदने प्रश्न किया कि महाराज ! जब वेद-वेदान्तके घोषसे, गीता-पाठसे ज्ञान-वैराग्य प्रबोधित नहीं हुए, तब श्रीमद्भागवतालापसे ये कैसे जाग्रत होंगे ? क्योंकि उसके श्लोक-श्लोकमें, पद-पदमें भी तो वेदार्थ ही भरा हुआ है। अतः आप लोग मेरे इस संशयको मिटाइये। इसका तात्पर्य है कि जब यह बात कही जा चुकी है कि वेद-वेदान्तसे भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका जागरण नहीं हुआ और भागवतसे हो जायेगा, तब इससे वेद-वेदान्तकी कुछ निन्दा और भागवतकी प्रशंसा हो गयी। यहाँ भागवतकी प्रशंसा करना तो अभीष्ट है, लेकिन वेद-वेदान्तकी निन्दा करना अभीष्ट नहीं। इसलिए बताते हैं कि वेद-वेदान्तका जो सार है, वही भागवत है। यदि वेद-वेदान्तके साररूप भागवतसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी वृद्धि होती है तो इसमें वेद-वेदान्तकी प्रतिष्ठा और बढ़ती है, घटती नहीं।

सनत्कुमारादिकोंने कहा—नारद, वेद-उपनिषद्‌के सारसे यह भागवती कथा बनी है। यह उससे अलग है; परन्तु जैसे वृक्षमें-से निकला हुआ फल उसी वृक्षका सार होता है, उसी प्रकार यह वेद-उपनिषद्‌का सार है। वेद में कहीं धर्म है; कहीं अर्थ, कहीं काम और कहीं मोक्षका वर्णन है।

उनके सार-सारका जल्दी ग्रहण नहीं होता। किसी भी वृक्षमें जड़से लेकर शाखातक उसका रस रहता है, लेकिन वही रस जब फलके रूप में प्रकट होता है तो दूसरोंके मनको आकृष्ट कर लेता है। दूधमें घी सब जगह रहता है लेकिन जब मथ करके वह निकाल लिया जाता है, तब देवता लोग उस घीसे बहुत आनन्दित होते हैं। गन्ने में रस जड़से लेकर उसकी शिखातक रहता है, परन्तु जब रस निकालकर उसकी शर्करा बना ली जाती है तब वह उसका सार-सार होता है। इसी तरह यह भागवत-पुराण साक्षात् वेदके समान ही है और भक्ति-ज्ञान-वैराग्यके स्थापनके लिए ही प्रकाशित हुआ हैं।

इसलिए नारदजी, याद करो उस समयको जब वेद-वेदान्तमें निष्णात व्यासजी महाराजको भी सन्ताप हुआ तब उसको दूर करनेके लिए तुमने ही उन्हे चतु:श्लोकी भागवतका उपदेश दिया था। चतु:श्लोक कहनेका अभिप्राय ही यह है कि वेदकी परम्पराकी रक्षा करता है श्रीमद्भागवत। जैसे वासुदेवके चार व्यूह हैं, ब्रह्माके चार मुख हैं, चार वेद हैं, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय—ब्रह्म चतुष्पाद है; इसी प्रकार यह श्रीमद्भागवत चतुष्पाद ही है। मूलरूप इसके चार श्लोक ही हैं। इनके श्रवण मात्रसे ही बादरायणकी बाधा दूर हो गयी। तुम काहेको विस्मय करते हो? भागवत सुनो तो सही अर्थात् हाथ कंगनको आरसी क्या? इसमें प्रमादकी क्या जरूरत? तुम सुनकर देखो कि श्रवणमात्रसे ही तुम्हारा दु:ख दूर हो जाता है कि नहीं!

नारदने कहा कि महाराज! आपके दर्शनसे ही हमारे सारे अशुभ दूर हो गये। हमारा कल्याण हो गया। आप तो शेषके नि:शेष मुखसे अर्थात् सहस्रमुखसे नि:सृत भागवत-गीतका पान करनेवाले हैं। अब आप ही उसको प्रकाशित कीजिये। हम आपकी शरण ग्रहण करते हैं। अनेक जन्मके सौभाग्यसे मनुष्यको सत्सङ्ग मिलता है—'भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।'

सत्सङ्ग साधन नहीं है सत्सङ्ग फल है। फल भी पुण्यका नहीं, पुण्यजन्य सद्भाग्यका सार है। जब यह सत्सङ्ग प्राप्त होता है, तब अज्ञानकृत मोह, मद, अन्धकारका नाश होकर विवेकका उदय होता है।

: ३ :

अब नारदने सनत्कुमारोंके सामने सङ्कल्प किया कि मैं श्रीमद्भागवत-कथारूप ज्ञान-यज्ञ द्वारा भक्ति-ज्ञान-वैराग्यकी स्थापना करूँगा। उसके लिए आपलोग कृपया स्थान बताइये। यह भी बताइये कि कितने दिनोंमें श्रीमद्भागवतका श्रवण करना चाहिए तथा इसके श्रवणकी विधि क्या है?

सनत्कुमारोंने बताया कि देखो नारद, तुम तो इसके अधिकारी हो। 'विनम्राय विवेकिने' एक तो समझदार हो, दूसरे विनम्र हो। सार-असारके विवेकमें चतुर हो। गङ्गाद्वार हरिद्वारके पास एक आनन्द नामक तट है। वहाँ नाना वृक्ष-लताएँ हैं और बहुत-से ऋषि, सिद्ध, महात्मा रहते हैं। वहाँ स्वर्ण-कमल हैं। उस स्थानके आस-पास रहनेवाले वन्य जन्तुओंमें भी वैर नहीं रहता। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि किसीके प्रति हृदयमें वैर रखकर कथा सुननेसे भगवान्‌की याद नहीं आती। वह व्यक्ति ही याद आता है जिसके प्रति वैर है। जब दिलमें दुश्मन बैठा रहेगा तो भले ही उसका नाम दुश्मन है, लेकिन वह तुम्हारे मनको दुष्ट बनाता रहेगा। दुश्मन कौन है? वह है या जो तुम्हारे मनको दुष्ट बनानेवाला है—'दूषितं मनो येन स दुष्मनः'। इसलिए अपने मनमें वैर-विरोध लेकर कथा नहीं सुननी चाहिए।

कथा-श्रवणकी दूसरी विधि है—'अप्रयत्नतः'। इसका अर्थ है कि यजमान और श्रोता कथा सुनते समय बाह्य प्रयत्नमें व्यस्त हो जायें तो उनका मन बहिर्मुख हो जाता है। इसलिए जहाँतक हो सके सहज भावसे कथाका श्रवण करना चाहिए और तभी उसमें अपूर्व रसका उदय होता है। जब

कथा प्रारम्भ होगी तब भक्ति भी अपने ज्ञान-वैराग्यरूप बालकोंको लेकर श्रवण करने आयेगी, क्योंकि जहाँ-जहाँ कथा होती है वहाँ-वहाँ वे तीनों आते हैं तथा कथा श्रवण करके तरुण हो जाते हैं।

अब नारदजीके साथ सनत्कुमार गङ्गाजीके तटपर गये। चारों ओर कोलाहल मच गया। तीनों लोकोंमें यह बात फैल गयी कि जो भागवत-रस-पीयूषके लम्पट हों वे कथा श्रवण करने आयें। बड़े-बड़े वैष्णव और भृगु, वसिष्ठ, च्यवन, गौतम, मेधातिथि आदि ऋषि अपने-अपने पुत्रों तथा शिष्यों सहित आये। वेद, वेदान्त, मन्त्र-तन्त्र, सत्रहों पुराण, छहो शास्त्र, गङ्गा आदि नदियाँ, क्षेत्र, दिशाएँ, दण्डकादि वन, नगादि सब-के-सब मूर्तिधारी होकर वहाँ पहुँचे।

देखो, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो इस तरहके अवसरोंपर भी बिना बुलाये नहीं जाते। 'तेऽनुकम्पनीया'—उनके ऊपर कृपा करनी चाहिए और वे जिस कारणसे नहीं आते उसे दूर करके उनको आदरपूर्वक, प्रणाम करके ले आना चाहिए। यदि वे अभिमानी हों, बड़े हों तो उनके पास जाकर सिर झुकाना चाहिए और आग्रह करना चाहिए कि महाराज! चलकर कथा सुनिये। जो अपनेसे छोटे हों उनको स्नेहसे आज्ञा देनी चाहिए कि तुमको आना पड़ेगा और कथा सुननी पड़ेगी। जैसा प्रसङ्ग हो वैसा कर लेना चाहिए। यह आयोजन-कर्ताका धर्म है।

भृगुजीने सबको समझा-बुझाकर वहाँ कथा-श्रवणके लिए इकट्ठा किया। नारदजीने सबको सङ्कल्प दिया, सुननेके लिए आसन दिया, सनत्कुमारोंकी वन्दना की। वैष्णव, विरक्त, संन्यासी, गृहस्थ, ब्रह्मचारी सब मुख्य स्थानोंमें स्थित हो गये। सबके आगे नारदजी बैठ गये। एक ओर ऋषि और देवता हैं, दूसरी ओर वेद-उपनिषद् हैं, तीसरी ओर तीर्थ हैं, चौथी ओर स्त्रियाँ हैं। चारों ओर जय हो, जय हो, नमो नमः और शङ्खोंकी ध्वनि गूँज उठी। सभी श्रोता विभागपूर्वक अपने-अपने स्थानोंपर बैठे हुए हैं। अबीर, लाजा, प्रसूनकी वर्षा होने लगी है। देवता लोग विमानपर चढ़कर आये हैं। जब सब लोग एकाग्र हो गये तब सबका मन एक दिशामें लग गया।

वेदान्तमें श्रवणका बड़ा भारी माहात्म्य है। शब्दकी शक्ति इतनी अचिन्त्य है कि गाली अथवा प्रशंसा चाहे कितनी भी झूठी हो, लेकिन लोग गाली सुनते हैं तो बौखला जाते हैं, तिलमिला उठते हैं और प्रशंसा सुनते हैं तो प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु परमात्माका निरूपण करनेवाले शब्द तो इतने विलक्षण होते हैं कि श्रोत्र-वृत्तिके सुषुप्त होनेपर भी उनको जाग्रत करके अपने ज्ञानको भीतर भर देते हैं—इसीलिए श्रवणकी भारी महिमा है।

सनत्कुमार कहते हैं—श्रीमद्भागवतमें अट्ठारह हजार श्लोक हैं, जो सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए मनुष्यके सूक्ष्म शरीरको विध्वंस और बाधित करके इसकी वासनाओंको मिटाकर एक अद्वय परमात्मासे मिला देते हैं। इसमें परीक्षित और शुकके संवादरूपमें जो बारह स्कन्ध हैं, द्वादशात्मा

विष्णु हैं। मनुष्य तभीतक संसार-चक्रमें भ्रमण करता है, जबतक श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनता। बहुत सारे शास्त्रों और पुराणोंमें फँस जानेसे मनुष्य भ्रममें पड़ जाता है—

किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः। ३.२८

श्री उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी बोलते थे—'मत पड़ो रे मन शास्त्र जंगले।' यह उड़िया या बंगालका कोई गीत होगा, जो वे गाते थे। भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज् ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥

विवेकचूडामणि ६०

केवल प्रतिवादीको परास्त करनेके लिए मत भटको। एक भागवत-शास्त्र ही बहुत है। जिसके घरमें यह होता है, उसीका नाम तीर्थ है। यज्ञ भागवतकी बराबरी नहीं कर सकते। इस शरीरमें तभीतक पाप रहते हैं जबतक भागवत सुना नहीं जाता। गङ्गा, गया, काशी, ये सब तीर्थ भागवतकी बराबरी नहीं कर सकते—'शुकशास्त्रकथायाश्च न फलेन समतां नयेत्।' एक पाद भी भागवतका सुन लें तो परागति मिल जाय। गायत्री, पुरुषसूक्त, त्रयी—ये सब एक हैं। पुरुषोत्तम भागवतरूप है। जो इसका पाठ करता है उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं। राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंको करनेमें कितनी कठिनाई है। परन्तु भागवतकी कथा सुनें तो आपको उस यज्ञका फल अपने-आप मिल जायेगा। जो प्रेमसे शुकशास्त्रकी वाणी सुन लेता है, उसको भगवान् वैकुण्ठ देते हैं। जो इसका दान करता है, उसको हेम-सिंहासनपर भगवत्सायुज्य मिलता है। जिसने जीवनमें कभी भागवतकी कथा नहीं सुनी, उसने अपना जीवन चाण्डाल-खरवत् व्यतीत किया और जन्म लेकर अपनी माताको केवल दुःख ही दिया। वह पापी जिन्दा भी मुर्दा है जिसने कभी भागवतकी कथा नहीं सुनी। उस मनुष्यको धिक्कार है। वह पृथिवीके लिए भार है। श्रीमद्भागवतकी कथा कोटि-कोटि जन्म-समुत्थ पुण्यसे प्राप्त होती है। इसके श्रवणके लिए ज्यादा मुहूर्तके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहिए। जब वक्ता मिल जाये, श्रोता मिल जाये, अवसर मिल जाये, तब इसमें भद्रा-व्यतीपात देखनेकी कोई जरूरत नहीं।

इसके लिए दिनका नियम नहीं कि कृष्णपक्ष है, इसमें मत सुनो—'दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम्।' पता नहीं फिर वह समय आये कि न आये। जो क्षण बीत जाता है वह फिर जीवनमें नहीं आता। सत्यभाषण करो, ब्रह्मचर्यका पालन करो, चाहे कभी भी सुनो; परन्तु यदि यह कठिन पड़े तो सात दिनमें सुन लो, क्योंकि मनको वशमें रखना, नियमका पालन करना, दीक्षा लेकर बैठना—यह बहुत कठिन पड़ता है। माघ मासमें इसका श्रवण करना चान्द्र रीतिसे है। माघ उसको कहते है जिसमें अघ रहता ही नहीं—'मा अघः यस्मिन्'। माघ ऐसा महीना है जो पापको

निवृत्त कर देता है। मन काबूमें रहे, इसका कुछ ठिकाना नहीं, शरीरमें रोग हो जाये, जुकाम हो जाये, बुखार आजाये, अथवा शरीर ही न रहे; बड़े-बड़े दोष हैं कलियुगमें, इसलिए जल्दी कर लेना चाहिए। तपस्यासे, योगसे, समाधिसे जो वस्तु नहीं मिलती वह अनायास भागवतसे मिल जाती है। यह यज्ञसे श्रेष्ठ है, व्रतसे श्रेष्ठ है, तपसे श्रेष्ठ है, तीर्थयात्रासे श्रेष्ठ है, योगसे श्रेष्ठ है। 'योगाद् गर्जंति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जंति'। यह ध्यानसे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। ध्यानमें अपना मन एकाग्र करना पड़ता है, इसमें अपने आप ही हो जाता है। ज्ञानमें विशुद्ध बुद्धिवालेका प्रवेश है और इसको बिना विशुद्ध बुद्धिवाला भी सुन सकता है। कहाँतक बतायें यह भागवत-श्रवण सर्वश्रेष्ठ है।

शौनकजीने कहा कि यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि भागवत सम्पूर्ण साधनोंसे श्रेष्ठ है!

सूतजीने उत्तर दिया कि हाँ, ऐसा ही है। जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी लीलाका संवरण करने लगे उस दिन उद्धवजीने उनके मुखारविन्दसे ग्यारहवाँ स्कन्ध श्रवण करनेके बाद कहा कि—'श्रीकृष्ण, तुम तो अपनी लीला समेट लोगे। लेकिन मेरे मनमें यह चिन्ता है कि कलियुग आ रहा है, लोग उग्र हो जायेंगे, पृथिवीका भार बढ़ जायेगा, तुम्हारे सिवाय दूसरा रक्षक नहीं, इसलिए भक्तवत्सल, तुम सत्पुरुषोंपर दया करके मत जाओ। यदि तुम छोड़कर चले जाओगे तो भक्तोंको बहुत ही दुःख होगा। कैसे रहेंगे भक्त लोग? सब लोग आँख बन्द करके निर्गुण-निराकारकी उपासना करें—यह तो बड़ा कठिन है।

भगवान् भक्तोंकी प्रार्थनापर ही निर्गुणसे सगुण और निराकारसे साकार होते हैं। इसलिए उद्धवजीकी बात सुनकर भगवान्‌को भी चिन्ता हो गयी कि भक्तोंके लिए मुझे कुछ करना चाहिए। उसके बाद भगवान्‌ने अपना सम्पूर्ण तेज श्रीमद्भावगतमें स्थापित कर दिया। यह भागवत नहीं, भगवान्‌के तेजका आधार है। बिना पीठके उपासना नहीं हो सकती। जब किसीकी पूजा करनी हो तो उसके बैठनेका एक आसन चाहिए, उसे आधार-शक्ति बोलते हैं। यदि स्त्रीका गर्भाशय शुद्ध न हो तो बच्चा कहाँ आयेगा? ऐसे देवताके बैठनेके लिए एक शुद्ध आसन चाहिए। आज भगवान्‌को बैठानेके लिए शुद्ध आसन कौन-सा है? यह है श्रीमद्भागवत—'तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्'। ३.६१

अन्य अवतार अपनी-अपनी लीला समेटकर क्षीरसागरमें जाया करते थे। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि मैं क्षीरसागरमें नहीं जाऊंगा। मैं तो मर्त्यलोकमें ही रहूँगा। किसीने कहा—महाराज, यहाँ कहाँ रहेंगे? यहाँ क्षीरसागर कहाँ मिलेगा? भगवान् बोले कि यह जो भागवतार्णव—भागवत-महासागर है, इसीमें रहूंगा। तबसे भगवान् इसीमें रह रहे हैं। इसलिए यह भागवत भगवान्‌की प्रत्यक्ष मूर्ति है। इसकी सेवा, श्रवण, पाठ, दर्शनसे पाप नष्ट होते हैं और यही कारण

है कि भागवतके श्रवणको दूसरे साधनोंका तिरस्कार करके उन सब साधनोंसे श्रेष्ठ बताया गया है। कलियुगमें दुःख, दारिद्र्य, दौर्भाग्य, आधि-व्याधि सबका नाश करनेके लिए और काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करनेके लिए भागवतका श्रवण ही सबसे बड़ा धर्म है, नहीं तो भगवान्‌की मायासे पार जाना बड़ा कठिन है।

इस प्रकार जब सनत्कुमारोंने भागवत-श्रवणका माहात्म्य सुनाया तब वहाँ बड़ा आश्चर्य हुआ। यह आश्चर्य हुआ कि भक्ति देवी मूर्तिमती होकर अपने दोनों पुत्रों ज्ञान-वैराग्यके साथ वहाँ प्रकट हो गयी।

देखो, प्रत्येक भावकी एक मूर्ति होती है। हमारे मनमें जिस भावका आध्यात्मिक रूपसे उदय होता है, उसकी एक आधिदैविक मूर्ति होती है और भक्तके आनन्दके लिए यह अधिभौतिक मूर्तिके रूपमें भी प्रकट हो सकती है। जो चीज हमारे मनमें आती है—मनसे देखी जाती है—वह आँखसे भी देखी जा सकती है। अगर मनमें भगवान्‌का ध्यान हो सकता है, तो आँखसे भी भगवान् देखे जा सकते हैं। क्योंकि मन और आँखमें कुछ ज्यादा फर्क नहीं। चश्मा ही लगा हुआ है; यह आँख ही चश्मा है। बाहर हो या भीतर हो, दिखता तो मनमें ही है।

जब भक्ति प्रकट हुई तो उसकी मूर्तिका वर्णन करते हुए सूतजी कहते हैं कि मूर्ति प्रेममयी है—'प्रेमैकरूपा' और वह भगवान्‌का नाम ले रही है—'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव। उसके अंगमें आभूषण भी हैं। लेकिन आभूषण क्या है? भागवतका अर्थ ही उसके आभूषण हैं। वह बड़ी सुन्दरी है। उसको देखकर सब लोग कहने लगे कि यह कहाँसे आयी? कहाँसे आयी? सनत्कुमारोंने कहा कि यह और कहींसे नहीं, कथामें-से आयी है।

देखिये, जो इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत भाव होते हैं वे अन्तःकरणमें संस्कार रूपसे सञ्चित रहते हैं और समयपर प्रकट हो जाते हैं। परन्तु जो चीज हमारे अनुभवमें कभी नहीं आयी, वह हमारे संस्कारमें भी नहीं होती और जब संस्कारमें ही नहीं होती तब आयेगी कहाँसे? हमको कभी ब्रह्मानुभूति हुई कि नहीं हुई? अगर ब्रह्मानुभूति हो गयी होती तो जन्म न होता। ब्रह्मानुभूति नहीं हुई, इसलिए जन्म हुआ। ब्रह्मानुभूति हमारे संस्कारसें तो कभी निकलेगी नहीं। अगर अन्दर कहीं छिपी होती तो निकलती। जब उसको वहाँ वाक्यादिके द्वारा भीतर डालते हैं तब तज्जन्य वृत्ति अन्य वृत्तियोंका तिरस्कार कर देती है और स्वयं भी वह निवृत्त हो जाती है, ब्रह्मानुभूति हो जाती है। इसलिए जो चीज हमारे दिलमें न हो तथा स्वर्गादि-जैसी नित्य परोक्ष वस्तु हो, वह बिना वाक्यके कभी हमारे हृदयमें आरूढ़ नहीं हो सकती। जो नित्य-अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात होती है। जो नित्य-अपरोक्ष आत्माकी ब्रह्मता अज्ञात है, उसको जाननेका वाक्यके

सिवाय और कोई तरीका हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव आदि किसी भी प्रमाणके द्वारा आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह तभी होगा जब नित्य-अपरोक्ष होनेके कारण वाक्यसे ही बताना पड़ेगा कि 'त्वमेव ब्रह्मासि'—तुम्हीं ब्रह्म हो। इसके सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है। इसलिए शब्दकी बड़ी भारी महिमा है।

अब कथाके अर्थमें-से प्रकट हुई भक्ति देवीने कहा कि महाराज, आपलोगोंने ही तो हमको कथाके रससे पुष्ट कर दिया है, अन्यथा कलियुगमें मैं नष्ट हो गयी थी—'कलिहृतनष्टापि कथारसेन।' ३.७०। अब आप बतायें हम कहाँ रहें ?

सनत्कुमारोंने बताया कि तुम भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌का रूप धारण करके रहो। इसका अर्थ है कि जब हमारी वृत्ति भगवदाकार रहे तब समझना चाहिए कि भगवान् हैं। हमारे हृदयमें जो भगवदाकारता है, वही भक्ति है। यह बहुत प्रेम प्रदान करनेवाली है। भवरोगका हनन करनेवाली है। जो भक्ति है वही भगवान् हैं। भक्ति आजानेपर भक्तोंके हृदयसे सब दोष भाग जाते हैं। भक्ति जिन भक्तोंके चित्तमें बैठ गयी वे सम्पूर्ण विश्वसृष्टिमें गरीब होनेपर भी धन्य हैं— 'सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्याः।' ३.७३

वैसे धन्य शब्दका प्रयोग धनवान्‌के लिए ही होना चाहिए और उन्हींको धन्य कहना चाहिए। परन्तु यहाँ धन्य शब्द ऐसा है कि इसके पूर्वाक्षर 'सा'का लोप हो गया है। इसलिए इसका अर्थ है कि जो साधन-सम्पन्न हैं, वही धन्य हैं। केवल धनी ही धन्य नहीं होता, वह निर्धन भी धन्य होता है जिसके हृदयमें श्रीहरिकी भक्ति निवास करती है। क्योंकि भगवान् बैकुण्ठमें नहीं रहते। यह तो एक सुनी-सुनायी बात है कि भगवान् बैकुण्ठमें रहते हैं। उनको तो भक्तिकी रस्सी बाँधकर भक्तके हृदयमें बैठा देती है और वे बैकुण्ठ छोड़कर भक्तके हृदयमें रहने लगते हैं। हम आपको भागवतकी महिमा कहाँतक सुनायें। इसके वक्ता और श्रोता श्रीकृष्ण-रूप हो जाते हैं। इसलिए 'अलमन्यधर्मैः'—बस, बस, दूसरे धर्मानुष्ठानकी जरूरत नहीं, केवल श्रीमद्भागवतका हो सेवन करो।

❀

: ४ :

सूतजी कहते हैं कि मुनिवर जब भगवान्ने देखा कि यहाँ जितने श्रोता बैठे हैं, सबके हृदयमें अलौकिक भक्ति आगयी है, तब उन्होंने अपना लोक छोड़ दिया, क्योंकि वे तो भक्तवत्सल हैं। गाय वत्सला होती है। उसके पेटसे जब बछड़ा पैदा होता है, तब वह जरायुसे परिवेष्ठित होता है। उसमें पीब होता है, खून होता है, मूत्र होता है, गोबर होता है; पर गाय उसकी परवाह न करके बछड़ेको जीभसे चाटती है। भक्तवत्सल भगवान् उसीको कहते हैं, जो अपने भक्तके दोषकी ओर कभी देखे ही नहीं। किन्तु वैष्णव लोग तो यह कहते हैं कि भगवान्के लिए केवल भक्तके दोषको न जानना या जानकर उपेक्षा कर देना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि भगवान् तो अपने भक्तोंके दोषको अपना भोग्य बना लेते हैं।

अब तो सबके हृदयमें भक्तिवत्सल भगवान् प्रकट हो गये। वनमाली, घनश्याम, पीतवासा, मुरलीमनोहर, काञ्चीकलापकटि, त्रिभङ्गललित, कौस्तुभधारी, कोटिमन्मथलावण्य, हरिचन्दन-चर्चित परमानन्दचिन्मूर्तिके आविर्भूत होते ही प्रसूनवृष्टि, जय-जयकार और शङ्खध्वनि होने लगी। वहाँ उद्धवजी भी गुप्तरूपसे कथाश्रवण करने आये थे, उनके समेत सभामें जितने लोग बैठे थे, उनको देह-गेह सब भूल गया।

श्रोताओंकी यह तन्मयावस्था देखकर नारद बोले—महात्माओं, हमने भागवतके श्रवणकी अलौकिक महिमा देखी है। सब-के-सब पशु-पक्षी भी निष्पाप हो जाते हैं इसके श्रवणसे। इसलिए चित्तशुद्धिके लिए इससे पवित्र संसारमें दूसरी कोई वस्तु नहीं। आप लोगोंने तो भागवतके माध्यमसे कोई नवीन मार्ग ही प्रकाशित कर दिया—'प्रकाशितो कोऽपि नवोनमार्गः।' ४.१०

सनत्कुमारोंने बताया कि इससे तो दुराचारी, कुमार्गगामी, क्रोधाग्निदग्ध, कुटिल, कामी सब पवित्र हो जाते हैं। असलमें संस्कारकी आवश्यकता ही विकार दूर करनेके लिए होती है। जिस साधनमें विकार दूर करनेका सामर्थ्य नहीं, वह साधन साधन नहीं। विकारको दूर करके साधन अविकृत वास्तविक स्वरूपमें स्थित कर देता है। भागवतसे झूठे लोग, माता-पिताको दोष लगानेवाले तृष्णाकुल, आश्रमधर्मरहित, दाम्भिक, मत्सरी, हिंसक भी पवित्र हो जाते हैं। पञ्चमहापापी—छलछद्मकारी, क्रूर पिशाचके समान निर्दय, ब्रह्मस्वपुष्ट, व्यभिचारी सबको यह पवित्र करता है। जो जानबूझकर पाप करते हैं वे भी इससे पवित्र हो जाते हैं। परस्वपुष्ट दुराशय भी इससे पवित्र हो जाते हैं।

इसके सम्बन्धमें हम आपको एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं—'इतिहासं पुरातनम्'। क्योंकि इतिहासके श्रवणसे एक उदाहरण मिल जाता है। जैसे न्यायमूर्ति लोग फैसला देते समय उसके समर्थनमें पुरानी नजीरोंका हवाला दे देते हैं कि पुराने समयमें ऐसा हो चुका है, वैसे ही पुराने इतिहासके द्वारा उदाहरण दिया जाता है। गोपथ ब्राह्मणमें इतिहास शब्दकी इति+ह+आस ऐसी व्युत्पत्ति दी हुई है—'एतदेव इतिहासस्य इतिहासत्वम्'। इसका अर्थ है, यह बात बिल्कुल पक्की है कि पहले ऐसा हुआ था अर्थात् इसके श्रवणसे ही पापकी हानि होती है।

एक तुङ्गभद्रा नदी है। वहाँ सब वर्णाश्रमी लोग रहते थे। उस नगरका नाम था उत्तम नगर—'अभूत्पत्तनमुत्तमम्।' उसमें थे एक आत्मदेव ब्राह्मण जो बड़े विद्वान् और श्रौत-स्मार्त कर्ममें निपुण थे। परन्तु वे महात्मा धनी होनेपर भी भिखारी थे, भीख माँगकर अपनी जीविका चलाते थे। इसका अभिप्राय यही है कि वे कृपण बहुत थे। उनकी पत्नी थी धुन्धली। वह ऐसी थी कि जो बात उसके मुँहसे निकल जाय वही ठीक। वह कहती थी कि श्रुति-उपनिषद् क्या होता है? जो मैं कहती हूँ वह ठीक है। वह अपने पतिकी बात नहीं मानती थी और कहती थी कि इनके तो मन नहीं है, बुद्धि ही नहीं है, इनके वचनकी भी कोई कीमत नहीं है। जो मैं बोलती हूँ वही ठीक है। वह देखनेमें सुन्दर थी और उसका वंश भी बहुत अच्छा था। इसलिए उसकी बात चल जाती थी। वह दिन भर दूसरोंकी बहू-बेटियोंकी बातें करती रहती थी। बहुत कठोर और बहुत बोलनेवाली थी।

देखो, एक सज्जन बहुत बोलते थे। किसीने कहा कि ये बोलते भी खूब हैं और बड़े सच्चे आदमी हैं। महात्माने कहा कि ये बहुत बोलते हैं यह तो सच है, लेकिन जो बहुत बोलेगा वह सच्चा कैसे होगा? बहुत बोलनेबाला सत्यवादी नहीं हो सकता।

इसी तरह किसीने किसीका परिचय देते हुए कहा कि ये करोड़पति हैं एवं ईमानदारीका व्यापार करते हैं। महात्माओंने कहा कि ये करोड़पति हैं यह तो ठीक है। पर ईमानदारीका

व्यापार करते हैं यह गलत है। क्योंकि ईमानदारीका व्यापार करके आजकलके जमानेमें कोई करोड़पति कैसे हो सकता है ?

तो, पति-पत्नी दोनों घरमें रहते थे, धन भी खूब था, भोग भी खूब था, घर भी अच्छा था; परन्तु सुख नहीं था। सुख दूसरी चीज है। मकान-रुपये-भोगका नाम सुख नहीं है। अब उनको ख्याल हुआ कि हमारे बच्चा होना चाहिए। अतः दान-पुण्य करने लगे। उन्होंने धर्ममें बहुत खर्च किया, पर न बेटा हुआ और न बेटी हुई। एक दिन वह ब्राह्मण दुःखी होकर जंगलमें चला गया। वहाँ सरोवरमें पानी पीनेके बाद उसको एक संन्यासी मिल गया। संन्यासीने भी सरोवरमें पानी पीआ। उसके बाद ब्राह्मणने जाकर उन्हें नमस्कार किया। संन्यासीने पूछा ब्राह्मण देवता, तुम रोते क्यों हो ? क्या चिन्ता तुमको लगी है ? अपने दुःखका कारण बताओ।

ब्राह्मणने कहा कि क्या बताऊँ महाराज ! पूर्वजन्मके कुछ ऐसे पाप सञ्चित हैं कि हम जब तर्पण करते हैं तब हमारे बाप-दादा अपनी सांसकी गर्मीसे हमारे उस तर्पणके जलको गर्म करके ग्रहण करते हैं। क्योंकि उनको चिन्ता है कि यह अभी हमको पानी दे रहा है, इसके बाद तो पानी देनेवाला खानदानमें कोई रहेगा ही नहीं। देवता और ब्राह्मण भी मेरी दी हुई चीज नहीं लेते। मैं तो प्राण छोड़नेके लिए आया हूँ। धिक्कार है हमारे जन्मको ! हमारी गाय भी बाँझ है, हमारा पेड़ भी बाँझ हो जाता है, अब हम क्या करें ? फल हमारे घरमें आते ही सूख जाता है। न बच्चा है, न भाग्य है। ऐसा कहकर ब्राह्मण रोने लगा।

संन्यासीने ध्यानसे देखा और देखकर बताया कि तुम सन्तानकी इच्छा छोड़ दो। कर्मकी गति बड़ी गहन है। देखो, भागवतमें यह प्रसंग अनेक बार आयेगा कि लोग आशा करते हैं, जब बच्चा होगा तो हमको बहुत सुख देगा; लेकिन बच्चा पैदा होकर इतना दुःख देता है कि अन्तमें उनको घर-द्वार छोड़ना पड़ता है। जब वैराग्य हो जाता है, तब आदमी कहता है कि अच्छा हुआ, इसकी कृपासे हमको वैराग्य हुआ और हमने भगवान्का भजन किया। लेकिन जबतक वासना रहती है तबतक बात समझमें नहीं आती।

संन्यासी बोले—सात जन्मतक तुझे बेटा-बेटी कुछ नहीं होगा। बेटेके कारण सगर और अङ्गको बहुत दुःख हुआ है। तू बेटा-बेटीकी आशा छोड़ दे। जो स्वयं अपना कल्याण नहीं करेगा, उसके बेटा-बेटी पैदा होकर कल्याण कर देंगे—यह तो दुराशा ही है।

ब्राह्मणने कहा कि महाराज, हमको विवेक नहीं चाहिए, हमको तो बेटा चाहिए। अब मैं तुम्हारे आगे मरता हूँ। संन्यास तो बिल्कुल सूखा है—न बेटा है न बेटी।

संन्यासीने कहा कि देखो ब्राह्मण, ब्रह्माका लेख मिटाना नहीं चाहिए, इसमें कोई सुख-शान्ति नहीं है। लेकिन तुम्हारे मनमें बड़ा हठ है तो तुमको एक फल देता हूँ। इसे ले जाकर अपनी

दे देना, तुम्हें पुत्र हो जायेगा ! लेकिन तुम्हारी पत्नीको एक बरस तक इन नियमोंका पालन करना चाहिए—सत्य बोले, पवित्रतासे रहे, दया करे, दान करे और एक समय भोजन करे।

ऐसा कहकर योगिराज चले गये और ब्राह्मण देवता फल लेकर घर आये। पत्नीने फल तो ले लिया लेकिन अपनी सखीके सामने जाकर रोने लगी—हाय-हाय, मैं यह फल खाऊँगी तो गर्भ रह जायेगा, पेट बढ़ेगा, खाना छूट जायेगा, फिर घरका काम कैसे होगा ? डाका पड़ेगा तो भगूंगी कैसे ? यदि कहीं बच्चा पेटमें अटक गया तो उसको कैसे निकालेंगे ? 'शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षः कथमुत्सृजेत्'। वह टेढ़ा हो गया तो मर जाऊँगी। यह दुःख कैसे सहूँगी ? यदि मैं अशक्त हो जाऊँगी तो मेरी ननद सब घरकी सामग्री उठाकर ले जायेगी। हमारे ब्राह्मण देवता तो अपनी बहनको मना करेंगे नहीं, क्योंकि इनका उससे बड़ प्रेम है। घरकी सब सम्पत्ति चली जायेगी। हमको तो बिना बच्चेके ही अच्छा लगता है।

इस प्रकार कुतर्क करके उस ब्राह्मणीने वह फल नहीं खाया। पतिने पूछा तो कह दिया कि हाँ खा लिया—'भुक्तं चेति'। उसने सत्य बोलनेकी सौगन्ध तो खायी नहीं थी। एक दिन उसकी बहन आयी तो उसने उसको सारा दुःख बताया। बहनने कहा कि मै अपना बच्चा तुमको दे दूंगी। तुम चुपचाप गर्भवतीके समान रहो। हम जाहिर कर देंगे कि छह महीनेका बालक गिर गया, फिर हमारा बच्चा तुम ले लेना। समय पर ऐसा ही हुआ। एकान्तमें बड़ी खुशी हुई कि आत्मदेव ब्राह्मणके पुत्र उत्पन्न हो गया। बाजे बजने लगे, मंगलगान होने लगा। ब्राह्मणोंको दान दिया जाने लगा। जातकर्म संस्कार हुआ।

इधर धुन्धलीने कहा कि हमारे स्तनमें तो दूध है नहीं, मेरी बहनको बुलवा लो। आत्मदेवने वैसा ही किया। जब नामकरणका समय आया तब आत्मदेवने कहा कि हमारा नाम आत्मदेव तो हमारे बेटेका नाम ब्रह्मदेव। धुन्धली बोली कि नहीं, इसे तुमने अपने पेटमें रखा है कि मैंने अपने पेटमें रखा है ? नाम हमारे ऊपर होना चाहिए। मेरा नाम धुन्धली है और बेटेका नाम होगा धुन्धुकारी। उसने जिद करके बेटेका नाम धुन्धुकारी रखा—'नाममात्रा प्रतिष्ठितम्'।

इधर उसे धुन्धुलीने वह फल खुद न खाकर अपनी गायको खिला दिया था। इसलिए तीन महीने बाद गायसे बालक हुआ। उस बालकके कान गायके समान थे। वह सर्वाङ्गसुन्दर दिव्य निर्मल था। आत्मदेवको तो बड़ी प्रसन्नता हुई। लोग देखनेके लिए आने लगे। लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले—देखो, देखो, आत्मदेवका कैसा भाग्योदय हुआ है कि एक साथ दो-दो बच्चे घरमें आगये। क्योंकि रहस्य तो किसीको मालूम नहीं था। ब्राह्मण देवताने कहा कि मैं अपने बेटेका नाम तो नहीं रख सका, लेकिन गायके इस देवतुल्य बेटेका नाम रखता हूं गोकर्ण। दोनों बालक समयपर बड़े

हो गये। गोकर्ण तो पण्डित और ज्ञानी हुआ, परन्तु धुन्धुकारी महा खल हुआ, वह स्नान-शौच-क्रिया-हीन और दुष्परिग्रह था। मन्त्रसाधना करनेके लिए श्मशानमें चला जाय और मुर्देके हाथसे स्पर्श करके खाय–'शवहस्तेन भोजनम्'। चोर था, लोगोंके घरमें आग लगा देता था। बच्चोंको कूँएमें डाल देता, बड़ा हिंसक हुआ। उसने वेश्याके कुसंगसे पिताकी सम्पत्तिका नाश कर दिया। माँ-बापको पीट-कर उनका धन छीन लिया। अब धुन्धलीको पछतावा होने लगा कि इससे तो बाँझ होना अच्छा था। ऐसे कुपुत्रका होना तो बहुत दुःखप्रद है। आत्मदेव सोचने लगे—कहाँ रहूँ, क्या करूँ? प्राण छोड़ दूँ?

उसी समय गोकर्ण आये और उन्होंने अपने पिताको वैराग्यकी बात समझायी–'वैराग्यं परिदर्शयत्'। गोकर्णने कहा कि संसारमें दुःख रागके कारण ही है। असलमें जब कोई कहीं फँस जाता है तो उसको न ईश्वर मालूम पड़ता है, न गुरु मालूम पड़ता है, न धर्म मालूम पड़ता है, न अपना कर्तव्य मालूम पड़ता है। जिसके चित्तमें किसीके प्रति राग नहीं, उसके चित्तमें किसी प्रकारका दुःख भी नहीं। राग-द्वेषसे हृदय जब कलुषित हो जाता है तब उसमें सम्पूर्ण दुःख, भय, अन्धकार और मृत्यु आते हैं।

गोकर्णने समझाया–'असारः खलु संसारः'–यह संसार सरकता हुआ जा रहा है, संसरणशील है, दुःखरूप है, विमोहक है। कौन किसका बेटा और कौन किसका घर? 'स्नेहवान् ज्वलतेऽनिशम्'—जिस प्रकार जबतक दीयेमें तेल रहता है तबतक वह जलता है, इसी प्रकार जबतक हृदयमें लोगोंके प्रति, संसारके प्रति मोह बना रहता है तबतक हृदयमें जलन होती है। चक्रवर्ती राजा अथवा इन्द्र सुखी नहीं हैं, सुखी वे हैं जिसके मनमें किसीसे राग नहीं।

देखो, राग शब्दका अर्थ द्वेष भी होता है। ये दोनों सहचरित हैं। जहाँ राग है; वहाँ द्वेष है, जहाँ द्वेष है, वहाँ राग है। ये मधु-कैटभ दैत्यके समान हैं, भगवान्‌से भी बहुत दिनों तक लड़ते हैं। भगवान् भी इनको तभी मारते हैं जब ये स्वयं मरना चाहते हैं। कहाँ मारते है? जहाँ विषय-रसकी निवृत्ति हो जाती है।

आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता।

सप्तशती १-७६

भगवान् इनको तब मारते हैं जब ये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो हमको मिटा दो। जहाँ धरतीपर जल न हो वहाँ हमको मारो। ये राग-द्वेष जहाँ भी रहते हैं, वहाँ दुःख देते हैं। ये हमारे हैं और वे दूसरे हैं—यही तो अज्ञान है—यह भी एक दिन चला जायेगा।

गोकर्णके पिताने कहा—बेटा, मैं अपने कर्मसे पतित हो गया हूँ, तुम मुझको दुःखसे छुड़ाओ। यहाँ गोकर्णने संक्षेपमें जो कहा, वह माहात्म्यका सुन्दर-से-सुन्दर प्रसंग है। इसके श्लोक बहुत उत्तम

कोटिके माने जाते हैं। श्री उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी इन श्लोकोंका अर्थ सुनाया करते थे। गोकर्णने कहा—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥ ४.७९

पिताजी यह हड्डी-माँसका बना हुआ शरीर है। यह मैं हूं—ऐसा अभिमान छोड़ दो। पत्नी पुत्रादि मेरे हैं—यह ममता भी छोड़ दो। जगत् क्षणभङ्गुर है, यह मिट जायेगा। यदि कहो कि राग किये बिना रहा नहीं जाता; क्योंकि राग रसकी वृत्ति है, किसीसे मुहब्बत करके उसका मजा लेता है। उसका उपाय है कि 'वैराग्यरागरसिको भव'—तुम अपना प्रियतम वैराग्यको बनाओ। वैराग्यको माशूक बना लो और खुद उसके आशिक बन जाओ। माशूक माने महासुख और आशिक माने आसक्त है। ये दोनों शब्द संस्कृतके ही हैं। महासुखका ही माशूक और आसक्तका ही आशिक हो गया है। इसलिए अगर तुम्हें किसीका आशिक बनना है तो वैराग्यके आशिक बनो और कहीं निष्ठा बनानी है तो भक्तिमें निष्ठा बनाओ।

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधु पुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥ ४.८०

पिताजी, लोकधर्मका परित्याग करो, सच्चे धर्मका सेवन करो। साधु पुरुषकी सेवा करो, कामतृष्णाका परित्याग करो। दूसरेके दोष और गुणके चिन्तनमें क्या रखा है? इनको छोड़ दो, छोड़ दो, तुरन्त छोड़ दो। क्योंकि गुणोंका चिन्तन करोगे तो उनसे राग हो जायेगा और दोषोंका चिन्तन करोगे तो उनसे द्वेष हो जायेगा। जिसके हृदयमें राग-द्वेष आकर बस जाता है, दुश्मन-दोस्त आकर बस जाते हैं, उसके हृदयमें ईश्वरका दर्शन नहीं होता। इसलिए भगवत्सेवाके, भगवत्कथाके रसका हमेशा पान करो।

इस प्रकार अपने बेटेसे उपदेश ग्रहण करके आत्मदेव घरसे निकल गये। वे साठ बरसके हो गये थे। उन्होंने वनमें जाकर भगवान्‌की भक्ति की, दशम स्कन्धका पाठ किया। उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी।

: ५ :

सूतजी कहते हैं कि शौनकजी, जब आत्मदेव वनमें चले गये तब धुन्धुकारीने हाथमें लुकाठी ली और माताके पास जाकर बोला कि बता धन कहाँ है, यदि नहीं बताओगी तो इस लकड़ीसे तुम्हारी पिटाई करूँगा। वह बेचारी डरकर कूएँमें कूद पड़ी और मर गयी। उस समय गोकर्ण तीर्थयात्रापर चले गये थे। उनको न सुख था और न दुःख था, क्योंकि उनका कोई प्रिय-अप्रिय नहीं था।

धुन्धुकारीने पाँच बाजारू औरतोंको लाकर घरमें रख लिया—'पञ्चपण्यवधूवृतः'। पाँच-पाँच बहुएँ आगयीं। संस्कृतमें वधूका अर्थ 'बध्नाति इति वधूः' है, ऐसा कोई कहते हैं। जो बाँधके रखे, उसका नाम वधू। 'उह्यते इति'—जिसको उठाना पड़े—जिसका भार अपने ऊपर हो उसको भी वधू कहते हैं। मनुष्यके लिए एक ही वधू मुश्किल पैदा कर देती है, यहाँ तो पाँच-पाँच हैं। उनके लिये भोग-सामग्री जुटानेके उद्देश्यसे धुन्धुकारी बड़े-बड़े दुष्कर्म करे! वह मूढ़ हो गया।

एक दिन उन स्त्रियोंने धुन्धुकारीसे कहा कि हमारे लिए आभूषण ले आओ। वह घरसे निकला और इधर-उधर चोरी-चमारी करके बहुत धन ले आया। स्त्रियोंने सोचा कि कहींसे लूटकर लाया है, इसको राजा पकड़ लेगा, मारेगा, इसे जरूर फाँसीकी सजा होगी, फिर हमारा धन भी चला जायेगा। इसलिए क्यों न हमी लोग इसको मार डालें? यह तो मर जायेगा और धन बच जायेगा फिर धन लेकर हम कहीं अन्यत्र चली जायेंगी। इसी योजनाके अनुसार रातको उन सभीने मिलकर धुन्धुकारीको मार डाला। जब जल्दी नहीं मरा, जलता हुआ कोयला

उसके मुँहमें डालकर मार डाला। बड़ा साहसका काम किया। जब लोगोंने आकर पूछा कि धुन्धुकारी कहाँ है, तब वे बोलीं कि वे धन कमानेके लिए परदेश गये हुए हैं, इसी साल आजायेंगे।

मनुष्यको दुष्ट बाजारू औरतोंका विश्वास कभीं नहीं करना चाहिए। जो उनके विश्वासमें आजाता है, वह कहींका नहीं रहता। यदि घरमें कुलटा हो तो समझना चाहिए कि वहाँ मृत्यु रहती है—

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥

यदि अपनी पत्नी व्यभिचारिणी हो जाय तो समझना चाहिए कि उस पत्नीके रूपमें हमारी मौत घरमें रहती है। वह बातें तो मीठी करती है, लेकिन उसके दिलमें छुरा है। ऐसी स्त्री किसीसे प्यार करनेवाली नहीं होती। अन्तमें पाँचों स्त्रियाँ धुन्धुकारीका सारा धन लेकर कहीं चली गयीं और धुन्धुकारी प्रेत होकर इधर-उधर भटकने लगा।

देखो, लोग अनजानमें ही मनुष्यके मनमें यह संस्कार भर देते हैं कि देहके नाशके बाद भी आत्मा है। वेदमें दोनों पक्षोंका उल्लेख मिलता है। एक पक्ष कहता है कि मरनेके बाद आत्मा है और दूसरा पक्ष कहता है कि मरने के बाद आत्मा नहीं। यह चार्वाक पक्ष भी बहुत पुराना है। ऐसा नहीं समझना कि भारतमें पहले कोई नास्तिक नहीं था। पाणिनिने सूत्र ही बना दिया कि परलोक है, यह जो माने वह आस्तिक, जो न माने वह नास्तिक। भारतीयोंमें पहले नास्तिक परम्परा भी थी। वे भी हिन्दू ही थे, कोई दूसरे नहीं थे। वाक्याभास, युक्त्याभास, अनुभवाभासका आश्रय लेकर कहते थे कि आत्मा अन्नमय, मनोमय है, प्राणमय है, इन्द्रियमय है। परन्तु उपनिषदोंमें इसको पूर्वपक्ष करके माना हुआ है, उत्तरपक्ष नहीं है। उत्तरपक्षमें तो जबतक आत्मा ब्रह्म है यह ज्ञान न हो, तबतक सब पूर्वपक्ष-ही-पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षोंमें एक नास्तिकका भी पूर्वपक्ष है। शास्त्रोंमें उसका खूब-खूब वर्णन मिलता है। पुराणोंमें तो घनघोर वर्णन है। 'न वा अरे प्रेत्य संज्ञा अस्ति'। (बृहदारण्यक २-४-१२)

बृहदारण्यक आदिमें जो वर्णन है, वह पक्ष यहाँ नहीं। यहाँ यह मत है कि आत्मा मरनेके बाद है। धुन्धुकारीको कहीं भी शरण नहीं मिली। जब गोकर्णको मालूम हुआ ती उन्होंने उसके लिए गया-श्राद्ध किया। वे और भी जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने श्राद्ध किया। एक बार वे अपने गाँवमें आये तो रातको घरके आँगनमें सोये। आधीरातको देखते हैं कि एक बड़ा भारी प्रेत है।

देखो, प्रेत कौन है ? एक जिन्दा प्रेत होता है, दूसरा मुर्दा प्रेत होता है। जिसके अन्तःकरणमें उसके अन्तः करणमें स्थिरता नहीं है।

आकार स्थिर है वह जिन्दा प्रेत है और जिसके अन्तःकरणमें आकार स्थिर नहीं वह मुर्दा प्रेत है।

धुन्धुकारी कभी भेड़ा बन जाये, कभी हाथी बन जाये, कभी भैंस बन जाये, कभी इन्द्र बन जाये, कभी अग्नि बन जाये और कभी मनुष्य बन जाये। यह विपरीतता देखकर गोकर्णने समझ लिया कि दिखाई देनेवाला प्रेत कोई दुर्गति-प्राप्त जीव है। गोकर्णने पूछा कि तुम कौन हो? क्या प्रेत हो? परन्तु वह कुछ बोला ही नहीं। इसके बाद जब गोकर्णने अपनी अञ्जलिमें पवित्र जल लेकर उसके ऊपर डाला, तब प्रेतने कहा कि मैं तुम्हारा भाई धुन्धुकारी हूँ। मैंने अपने ब्राह्मणत्वका नाश कर लिया, बड़े-बड़े पाप किये, बाजारू औरतोंने मुझे मार डाला, इसलिए मैं प्रेत हो गया। अब आप मुझे इस योनिसे छुड़ाइये।

गोकर्णने कहा, मैंने तो तुम्हारा गया-श्राद्ध कर लिया है, फिर भी तुम्हारी मुक्ति क्यों नहीं हुई? अब तो कोई दूसरा उपाय शेष नहीं रहा मेरे पास! अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ?

प्रेतने कहा—सौ गया-श्राद्ध करोगे तब भी मेरी मुक्ति नहीं होगी। दूसरा कोई उपाय करो—'उपायमपरं कंचित्त्वं विचारय साम्प्रतम्।'

गोकर्णको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। उन्होंने रातभर सोच-विचारकर दूसरे दिन बड़े-बड़े पण्डितोंको बुलाया और उनको सब हाल सुना दिया। बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी, योगी परस्पर विचार-विमर्श करनेके बाद इस निर्णयपर पहुँचे कि गायत्रीके प्रतिपाद्य-देवता सूर्यसे प्रश्न किया जाये। शक्तिशाली ब्राह्मणोंने सूर्यको स्तब्ध करके प्रश्न किया कि धुन्धुकारीकी सद्गतिका उपाय बतायें। सूर्यने कहा कि भागवतका वाचन करो, इससे उसकी मुक्ति होगी। सूर्यकी वाणी सब लोगोंने सुनी। लोगोंने कहा कि यह तो बड़ा सुगम है। भागवतके वाचनमें तो न कहीं आना न जाना, अपने घरमें बैठे और श्रीमद्भागवतका पाठ कर लिया। इतने से ही मुक्ति हो जायेगी।

ऐसे प्रसंगमें मैं आपको एक छोटी-सी बात सुनाता हूँ। एकबार हम लोग बदरीनाथ गये थे। वहाँ बिहारके एक सेठ मिले। वे बहुत दिनोंसे मुझे मिले नहीं थे। उन्होंने अपने लड़केका सब जगह श्राद्ध किया था। लेकिन जब बदरीनाथके ब्रह्मकपाली नामक स्थानपर श्राद्ध क्रिया, तब उनका मरा हुआ लड़का अपनी मातासे बात करने लग गया। उसने कहा कि ऐसे तो मेरी मुक्ति नहीं होगी। मेरी मुक्तिके लिए भागवतका श्रवण करना जरूरी है। वे मुझसे मिलने वृन्दावन आये। मैं उन दिनों वहाँ श्रीहरिबाबाजी महाराजको कथा सुना रहा था। इसलिए कह दिया कि जबतक बाबा नहीं कहेंगे, मैं दूसरी जगह कथा सुनाने नहीं जा सकूँगा। मैं समझता था कि हरिबाबा मुझे छोड़ेंगे नहीं और इस प्रकार मैं दूसरी जगह जानेसे बच जाऊँगा। लेकिन जब वे हरिबाबाजीके पास गये तो वे बोले कि आओ हम भरी सभामें सबसे पूछते हैं और देखते हैं कि सब लोग क्या कहते

हैं ? अब ऐसा वातावरण बना कि प्रेत प्रकट हो गया और उसने कहा कि मैं सबको मना लूँगा और सब कह देंगे कि जाओ। बिल्कुल ऐसा ही हुआ, पूछनेपर सबने कह दिया कि वृन्दावन छोड़कर वहाँ जाओ। वहाँ मुझे कथा सुनाने जाना पड़ा। वहाँ वह प्रेत अपनी माँसे ऐसी-ऐसी बात करता था कि मैं सुनकर चकित रह जाता था और मुझे वैसा ही करना पड़ता था। मैंने उससे कहा कि तुम यह बताकर जाना कि तुमको भागवत-श्रवणसे क्या लाभ हुआ ? उसने अपनी माँके द्वारा बताया कि अब मैं वैकुण्ठमें जा रहा हूँ और अब अपनी माँसे बात करने कभी नहीं आऊँगा।

आजकल बीसवीं शताब्दी है। कोई बात सुनानेकी होती है और कोई नहीं सुनानेकी होती। लोगोंकी रुचि देखकर भी बात करनी पड़ती है : मैं यह नहीं कहता कि आप मेरी बात मानें ही। मैंने तो जैसा-जैसा घटित हुआ, वह आपको सुना दिया।

गोकर्णने धुन्धुकारीको कथा सुनानेका निश्चय किया। गाँव-गाँवसे, देश-देशसे श्रोता लोग आने लगे। लँगड़े-लूले, अन्धे-अपाहिज अपने-अपने पापोंके नाशके लिए इकट्ठे हुए। बड़ा भारी समाज जुटा। जब गोकर्ण कथा सुनाने लगे तो प्रेतरूप धुन्धुकारी आया। उसने अपने लिए और कोई स्थान नहीं देखा तो सात गाँठोंवाले बाँसपर बैठ गया। क्योंकि बिना आधारके प्रेत बैठ नहीं सकता। गोकर्णने एक वैष्णव ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाया और प्रथम स्कन्धसे स्पष्ट आख्यान प्रारम्भ किया। दिनके अन्तमें जब कथाका विश्राम हुआ तब लोगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बाँसकी एक गाँठ फट गयी। इसी तरह दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठवें और सातवें दिन क्रमशः सातों गाँठें फट गयीं। बारह स्कन्धके श्रवणसे धुन्धुकारीकी प्रेतयोनि छूट गयी। वह दिव्य रूपधारी तुलसी-दाम-मण्डित हो गया। जैसा भगवान्‌का रूप है वैसा ही उसका रूप हो गया— पीताम्बरधारी, घनश्याम, मुकुटी और कुण्डली। उसने आकर गोकर्णको नमस्कार किया और कहा- कि तुमने ही मुझे इस बन्धनसे छुड़ाया है। यह भागवत कथा भी धन्य है, इससे सारे पाप काँप जाते हैं। यह सारे पापोंका नाश कर देनेवाली है—'अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति।' (५.५४) पाप चाहे गीला हो—आर्द्र हो माने ताजा हो, चाहे शुष्क हो सूखा हो, माने बहुत पुराना हो, चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो और चाहे मन-वाणी और कर्मसे किया गया हो, कैसा भी हो, वह श्रीमद्भागवतके श्रवणसे नष्ट हो जाता है। अन्य जितने भी प्रायश्चित्त होते हैं, वे सब अपने करनेसे होते हैं, लेकिन यह श्रवण रूप प्रायश्चित ऐसा है कि बोलनेका परिश्रम दूसरा करता है और पाप दूसरेके मिटते हैं। उसपर कहावत चरितार्थ होती है कि 'हर्र लगे न फिटकरी रंग चोखा आये।'

देव-संसदमें विद्वानोंने यह कहा है कि जो इस भारतवर्षमें भागवतकी कथा नहीं सुनते, उनका जन्म निष्फल है। क्या करोगे भागवतके बिना यह शरीर रखकर ? यह तो हड्डी खम्भोंपर टिका

हुआ, स्नायुओंसे बँधा हुआ—मांस-शोणितलेपित, चर्मावनद्ध, दुर्गन्ध, मूत्र-पुरीषका पात्र है। इसका नाम ही शरीर है—'शीर्यते इति शरीरम्।' शरीर शब्दका अर्थ संस्कृतमें यही होता है कि जो शीर्ण हो जाये, जीर्ण हो जाये, क्षरित हो जाये। यह अन्तमें सड़ जायेगा। यदि इस नाशवान् शरीरसे अविनाशीको नहीं प्राप्त किया गया तो यह व्यर्थ है।

देखो, जो भोजन प्रातःकाल बनाते हैं, वह सायंकाल तक बासी पड़ जाता है और उसीसे बनता है यह शरीर। फिर यह हमेशा कैसे रहेगा? अरे भाई, पा लो इससे भगवान्‌को। यह शरीर जानेवाला है, रहनेवाला नहीं। इसके जानेसे पहले ही इससे भागवतको प्राप्त करो, अविनाशीको प्राप्त करो। वैसे तो बहुत-से मच्छर पैदा होते हैं, पानीमें बुलबुले पैदा होते हैं और मिट जाते हैं। इसलिए यदि तुम्हारा शरीर इसी तरह पैदा हुआ और मर गया तो क्या हुआ? भागवत तो ग्रन्थि-भेद करनेके लिए विचित्र औषध है। तुम्हारे भीतर जो चिद्-जड़-ग्रन्थि पड़ गयी है—'जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

वह ग्रन्थि भागवत-श्रवणसे ही छूटनेवाली है। इससे हृदय-ग्रन्थिका भेदन होता है, सर्व-संशयोंका छेदन होता है और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। संसारके कीचडको धोनेके लिए यह कथा तीर्थ है। इसमें जो स्थित हो गया, उसके लिए तो मुक्ति-ही-मुक्ति है।

इसी समय चमकता हुआ विमान आया और उसपर धुन्धुकारी बैठ गये। गोकर्णने कहा कि श्रोता तो बहुत हैं सबके लिए विमान क्यों नहीं आया? क्योंकि सब लोग समान रूपसे श्रवण कर रहे हैं। फलमें भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर भगवान्‌के पार्षदोंने यह दिया कि लोग सुनते तरह-तरहसे हैं। 'श्रवणं तु कृतं सर्वैर्नतथा मननं कृतम्।' (५.७१) सुनते तो सब हैं, पर समझनेकी कोशिश नहीं करते और भजन भी नहीं करते। इसीसे फल-भेद होता है। इस प्रेतने ठीक-ठीक श्रवण किया है और मनन भी किया है। ज्ञानमें यदि दृढ़ता न हो और 'प्रमादेन हतं श्रुतम्।' (५.७३) यदि कोई श्रवण तो करे, परन्तु प्रमाद करे तो वह नष्ट हो जाता है।

देखो, एक आलस्य होता है और दूसरा प्रमाद होता है। सनत्कुमारसे पूछा गया कि मृत्यु क्या है तो बोले कि—'प्रमादं वै मृत्युं ब्रवीमि।' (उद्योगपर्व ४२.४), अपने जीवनमें जो प्रमाद है भूल है, सावधान न रहना ही वही मृत्यु है। मन्त्रमें सन्देह हो तो मन्त्र मारा जाता है। जपमें चित्त व्यग्र हो तो जप मारा जाता है, जहाँ भगवान्‌के भक्त न मिलें, वह स्थान मारा जाता है। जिस श्राद्धमें शास्त्र न मिले, वह श्राद्ध मारा जाता है; अश्रोत्रियको दिया हुआ दान मारा जाता है। जिस वंशमें अनाचार आ गया वह वंश मारा जाता है। इसलिए अपने गुरुके वचनमें विश्वास रखना चाहिए, अपनेमें दैन्यकी भावना लानी चाहिए, मनके दोषोंपर विजय प्राप्त करना चाहिए और कथामें

मतिको निश्चय करना चाहिए। ये सब जब किये जाते हैं तब भगवान्‌की प्राप्ति होती है। हे गोकर्ण ! गोविन्द तुम्हें गोलोक देंगे। यह कहकर भगवान्‌के पार्षद लोग चले गये।

गोकर्णने श्रावण मासमें कथा की। कथाके अन्तमें स्वयं भगवान् प्रकट हुए, 'जय हो, जय हो', 'नमो नमः' की ध्वनि गूँज उठी। भगवान् भी खुशीसे शंख बजाने लगे, उन्होंने गोकर्णको हृदयसे लगाया और अपने समान कर लिया। जितने श्रोता थे सबको भगवान्‌ने घनश्याम, पीताम्बरधारी किरीटी, कुण्डली बना दिया। उस गाँवमें जितने लोग रहते थे, उनका भी उद्धार कर दिया। भगवान्‌को किसीसे कोई भेदभाव तो है नहीं। उन्होंने वहाँ जितने भी कुत्ते थे, चाण्डाल थे—'आश्वचाण्डालजातयः'। (५.८३) सबको बुलाया और बोले कि बैठो विमानपर। बहुत-से धर्माभिमानी लोग तो यह दृश्य देखते ही रह गये और कहने लगे कि हाय-हाय हमको विमान नहीं मिला। महात्माओंका लक्षण ही यह है—

ऐसी कौन प्रभु की रीति।
विरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि सों प्रीति।

भगवान् बड़े-बड़े पवित्रात्माओंको छोड़कर पामरोंसे प्रीति करते हैं। इसलिए उन्होंने सबको विमानपर बिठाया। गोकर्णने कहा कि महाराज, पहले इनको, पीछे हमको। भगवान्‌ने कहा, नहीं सब एक साथ। और सब भगवान्‌के लोकमें चले गये। जैसे अयोध्यावासियोंको भगवान् रामचन्द्र साकेत-धाम ले गये, वैसे ही सबको श्रीकृष्ण भगवान् गोलोक ले गये, जहाँ बड़े-बड़े सिद्धोंकी गति नहीं है।

सनत्कुमार कहते हैं कि नारदजी, भागवत-कथाके श्रवण द्वारा सञ्चित फलके सम्बन्धमें हम आपको क्या बतायें ? जिसने गोकर्णके मुखसे कथाका एक अक्षर भी सुन लिया उसको फिर गर्भमें नहीं आना पड़ा। इसलिए बड़ी-बड़ी तपस्या और योग करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल भागवतसे ही सब सद्गतियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह जो आत्मदेव गोकर्णका उपाख्यान है, इसका पाठ मुनीश्वर शाण्डिल्य चित्रकूटमें बैठकर और ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर करते हैं।

देखो, स्थान है चित्रकूट, मुनीश्वर हैं शाण्डिल्य, वे ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं और गोकर्ण कथाका पाठ किया करते हैं। इसका अर्थ है कि यह बिल्कुल सच्ची है। इसलिए आप इसपर विश्वास करें। इसको कभी झूठो या कपोल कल्पित नहीं समझें। एक बार भी इस कथाका श्रवण करनेसे पापकी राशि भस्म हो जाती है। इसको श्राद्धमें पढ़नेसे पितरोंको तृप्ति मिलती है और नित्य पाठ करनेसे अपुनर्भव अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है।

: ६ :

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् ।
सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥ ६.१

सनत्कुमार कहते हैं कि नारदजी, अब हम कथा-श्रवणकी विधिका वर्णन करते हैं। विधिमें दो वस्तु चाहिए—एक तो सहायक मनुष्य चाहिए, बिना सहायक मनुष्योंके विधि-पूर्ति नहीं होती और दूसरा सम्पत्ति चाहिए। ज्योतिषीसे पूछकर जब करना हो तब करना चाहिए। कृपणता नहीं करनी चाहिए—

विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्पयेत् । ६.२

जब गीताप्रेसमें भागवत छप रही थी, तब यह विचार हुआ कि 'विवाहे यादृशं वित्तं' पाठ ठीक है अथवा 'विपाहे यादृशं चित्तं' पाठ ठीक है ?' निर्णय हुआ कि चित्त तो सब लोग बना लेते हैं परन्तु वित्तमें करते हैं कृपणता। विधान उसीके लिए होना चाहिए, जो स्वतः प्राप्त न हो। मनुष्य अपने आप धन निकालना नहीं चाहता। अतः उसके लिए ही विधान होना चाहिए। लोग विवाहमें तो करते हैं लाख रुपये खर्च, किन्तु भागवत पचास ही रुपयोंमें कर लेना चाहते हैं। इसलिए जो वित्तमें कृपणता होती है, इसको दूर करनेके लिए ही यहाँ पाठ चित्तं नहीं वित्तं है। बिल्कुल सोच-समझकर कहा हुआ है कि चित्त उदार होना चाहिए।

फिर बताया कि आषाढ़से लेकर कार्तिक तकके मास इसके लिए बहुत पवित्र माने जाते हैं। माघ-फाल्गुनको भी बहुत पवित्र मानते हैं। मार्गशीर्षको भी उत्तम मानते हैं। एक जगह ऐसा भी मिलता है कि पौष और चैत्रको छोड़कर सब महीनोंमें भागवत सुने। यह भी वर्णन आता है कि माघ मासके शुक्ल पक्षमें इसको सुनना चाहिए। 'माघमासोऽपि धन्योऽयं सप्ताहश्रवणे'—सप्ताह-श्रवणमें माघ मास भी अत्यन्त धन्य माना जाता है। परन्तु यह बात तो मुहूर्त पूछनेवालोंके लिए है। जिसको वैराग्य है उसके लिए कालका कोई नियम नहीं।

अब बताते हैं कि जिस महीनेमें जो-जो चीजें वर्जित हैं, उन चीजोंको कथा-श्रवणके समय

नहीं खाना चाहिए। माघ महीनेमें श्रवण करना हो तो लाल मूली नहीं खानी चाहिए—'रक्तमूलं च माघान्ते'। इस तरह अलग-अलग महीनोंके लिए जो चीजें त्याज्य हैं, उनको छोड़ देना चाहिए।

जो लोग कथामें परिश्रमपूर्वक सहयोग करते हैं, उनको बुला लेना चाहिए। जगह-जगह यह समाचार भेज देना चाहिए कि अमुक स्थानपर भागवतकी कथा होगी, आप लोग पधारें। यह नहीं सोचना चाहिए कि लोग अधिक हो जायेंगे तो हमको प्रबन्ध करना पड़ेगा। बल्कि ऐसे सोचना चाहिए कि अधिक-से-अधिक लोग इसका लाभ उठायें। प्रबन्धका भार दूसरोंपर छोड़ देना चाहिए क्योंकि अपने ऊपर भार रखनेसे उसकी चिन्ता बनी रहती है और कथामें तन्मयता नहीं हो पाती। जो लोग हरिकथा और अच्युतकीर्तनसे दूर हैं उनको कथा-श्रवणके लिए जरूर बुलाना चाहिए, जिससे कि उनका भी कल्याण हो—

स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत्। ६.६

व्यासजीने महाभारतकी रचना ही इसलिए की कि उसके द्वारा सबको बोध हो जाये। पर महाभारतको समझना भी बड़ा कठिन है, क्योंकि उसमें लौकिकी वार्ता बहुत अधिक है। यह भागवती वार्ता इसीलिए बनायी गयी कि जो पतित हैं, पापी हैं, अनधिकारी हैं, वे भी इसके द्वारा अपना परम कल्याण प्राप्त करें।

अब लोगोंके पास निमन्त्रण-पत्र कैसा भेजना चाहिए, यह बताते हुए कहते हैं—

सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः। ८.८

उसमें यह लिखना चाहिए कि यहाँ समाज होनेवाला है। उसमें अपूर्वरसरूपा कथा होगी। आप भागवतरस-पीयूष पानके रसलम्पट हैं। इसलिए प्रेमपूर्वक अवश्य आइये। यदि अधिक अवकाश न हो तो एक दिनके लिए आइये। लेकिन आइये अवश्य, क्योंकि इस कथामें एक क्षण भी दुर्लभ है—'क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः।' (६.१०) सबको विनयसे बुलाना चाहिए। जो आयें उनके लिए ठहरनेका स्थान देना चाहिए।

कथा तीर्थमें सुनो, घरमें सुनो या वनमें सुनो, जहाँ अधिक-से-अधिक खुली जगह हो, वहाँ कथास्थल बनाना चाहिए। उस स्थानपर या उसके आस-पास कूड़ा-कचरा हो तो उसको साफ कर देना चाहिए और उसका शोधन, मार्जन, लेपन, मण्डन करना चाहिए। पाँच दिन पहलेसे ही उस स्थानकी बिल्कुल सफाई हो जानी चाहिए। ऊँचा मण्डप बनाना चाहिए, उसमें केलेके खम्मे लगा देने चाहिए और फल, पुष्प, दलोंसे सज्जित करके उसको शोभायमान कर देना चाहिए। चारों ओर ध्वजा उड़ानी चाहिए, उसके लिए धन खर्च करना चाहिए, उसमें सात लोक बनाना चाहिए। ब्राह्मण विरक्तोंको अच्छी तरह समझा-समझाकर लाना चाहिए। यदि कोई आनेमें आनाकानी करें

तो उनको आग्रहपूर्वक लाना चाहिए। उनको सबके आगे आसन देना चाहिए। वक्ताके लिए भी दिव्य आसन होना चाहिए। यदि वक्ता उदङ्मुख—उत्तरमुख हो तो श्रोताको प्राङ्मुख—पूर्व मुख होना चाहिए और वक्ता पूर्वमुख हो तो श्रोताको उत्तरमुख होना चाहिए अथवा वक्ता-श्रोता दोनोंका मुख पूर्वकी ओर होना चाहिए।

देश, काल और अधिकारके अनुसार हो सब व्यवस्था करनी चाहिए। किसी बातके लिए आग्रह नहीं करना चाहिए। 'बुद्धे फलम् अनाग्रहः'—यदि किसीको बुद्धि प्राप्त है तो उसे जिद्दी नहीं होना चाहिए।

अब वक्ताके सम्बन्धमें कहते हैं कि जो विरक्त-वैष्णव ब्राह्मण और वेदशास्त्रादिका यथार्थ ज्ञान जिसमें हो, उसे ही भागवतकी कथा सुनानी चाहिए। 'दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽति-निःस्पृहः' (६.३०) वक्ताको बीच-बीचमें दृष्टान्त भी देना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े तो कथाके विषयको समझानेके लिए भागवतके बाहरकी बात भी बोलनी चाहिए। वक्ताको धीर होना चाहिए, जल्दबाज नहीं होना चाहिए, गम्भीर होना चाहिए और अतिनिःस्पृह होना चाहिए; वक्ता ऐसा होना चाहिए, जो भागवतकी कथा बेचकर उससे कमाई न करना चाहता हो। जो अनेक धर्मविभ्रान्त हों—यह पता ही न हो कि किस धर्मके अनुयायी हैं, स्त्रीभक्त हों, पाखण्डी हों, वे यदि पण्डित हों तब भी उनको वक्ताके आसनपर नहीं बैठाना चाहिए, अन्यथा वे कुछ-का-कुछ बोलने लग जायेंगे। वक्ताके पास सहायताके लिए एक और व्यक्ति होना चाहिए, जो पण्डित हो, संशयच्छेत्ता हो और जिसमें लोगोंको समझानेका सामर्थ्य हो—'पण्डितः संशयश्च्छेत्ता लोकबोधनतत्परः।' (६.२२) कथाके एक दिन पहले क्षौर करवा लेना चाहिए। अरुणोदयके समय शौच-स्नान आदि नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दनादि सम्पन्न करना चाहिए। किन्तु कथाके दिनोंमें सन्ध्यावन्दनादि संक्षेपमें करने चाहिए; क्योंकि इन नित्यकर्मोंको तो हमेशा ही विस्तारसे कर सकते हैं। कथा प्रारम्भसे पूर्व गणेशकी पूजा कर लेनी चाहिए, तर्पण कर लेना चाहिए, सर्व प्रायश्चित कर लेना चाहिए, मण्डल आदि बनाना चाहिए। भगवान्‌को स्थापना करनी चाहिए और श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिए। फिर प्रदक्षिणा, नमस्कार और स्तुति करनी चाहिए—

संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे।
कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात्।। ६.२७

मैं संसार-सागरमें डूब रहा हूँ, कर्मके मोहने पाँव पकड़ लिये हैं। हे करुणानिधे! मुझे बचा लो। इसके बाद भागवतकी पूजा करनी चाहिए। धूप, दीप, श्रीफल आदि समर्पित करके नमस्कार करना चाहिए और प्रसन्न-चित्त होकर स्तुति करनी चाहिए। श्रीमद्भागवत आप प्रत्यक्ष कृष्ण हैं। 'श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि' (६.३०) ऐसे प्रत्यक्ष कृष्ण हैं कि हम आपको कानसे सुनें

सकते हैं। त्वचासे सटा सकते हैं, आँखसे देख सकते हैं, नाकसे सूँघ सकते हैं और वाक्‌से आपका उच्चारण कर सकते हैं। हमें अक्षम्-अक्षं प्रति—प्रत्येक अक्षके द्वारा आपका दर्शन हो सकता है। हमने आपको ही भगवान्‌के रूपमें स्वीकार किया है। आप हमारा मनोरथ पूरा करें और यह कथासत्र निर्विघ्न पूर्ण हो जाय।

इसके बाद वक्ताकी पूजा करे, उसको वस्त्राभूषणोंसे आभूषित करे और उससे यह प्रार्थना करे—

शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय॥ ६.३३

हे शुकरूप वक्ता महोदय, आप प्रबोधज्ञ हैं, समझानेकी कलामें निपुण हैं। सब शास्त्रोंसे इसकी संगति लगा सकते हैं—समझा सकते हैं। आप इस कथाको प्रकाशित करके मेरे अज्ञानको मिटाइये।

वक्ताके अतिरिक्त पाँच ऐसे ब्राह्मणोंका वरण करना चाहिए, जो कथामें विघ्नका निवारण करनेके लिए द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करें। उनके अतिरिक्त जो ब्राह्मण, वैष्णव, कीर्तनकारी उपस्थित हों, उन सबको नमस्कार करके उनकी पूजा करनी चाहिए और उनसे आज्ञा लेकर अपने आसनपर बैठना चाहिए। श्रवणके समय लोकचिन्ता, धनचिन्ता, वित्तचिन्ता, गृहचिन्ता, पुत्रचिन्ता आदि छोड़कर केवल कथामें अपना चित्त लगाना चाहिए। बुद्धिको शुद्ध रखना चाहिए, तभी उत्तम फलकी प्राप्ति होती है।

कथा सूर्योदयसे लेकर तीन पहरतक होनी चाहिए। मध्याह्नमें दो घटिकाका विराम करना चाहिए और मल-मूत्रपर विजय प्राप्त करनेके लिए हल्का भोजन करना चाहिए—'लघ्वाहारः सुखावहः।' (६.४०) क्या खायें, क्या न खायें—इसका विचार करते समय यह देखना चाहिए कि जो हम खाना चाहते हैं, वह भगवान्‌के सामने रखने लायक है कि नहीं? भोग लगाने लायक है कि नहीं? देवताओंको देने लायक है कि नहीं? जो भोजन यज्ञमें काम आने लायक है, वह हविष्य हैं।

यदि शक्ति हो तो एक ही बार भोजन करना चाहिए चाहें तो सातों दिन उपवास कर सकते हैं। घी-दूध पीकर अथवा फलाहार करके रह सकते हैं। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि ये व्रतके दिन नहीं, कथाश्रवणके दिन हैं। जिससे श्रवणमें बाधा पड़ती हो, वह नहीं करना चाहिए और जिससे श्रवणमें सहायता मिलती हो वह करना चाहिए। क्योंकि यहाँ मुख्य श्रवण ही है। व्रत-उपवास तो बादमें भी अकेलेमें भी, जब चाहें तब कर सकते हैं, लेकिन कथा-श्रवण तो हमेशा नहीं मिलेगा। इसलिए यदि भोजन कथामें सहायक हो तो एक या दो बार खा लेना चाहिए। यदि कथामें विघ्न पड़ता हो तो उपवास नहीं करना चाहिए।

अब यह बताते हैं कि भागवत सुननेके लिए विष्णु-दीक्षा आवश्यक है। गायत्रीके प्रतिपाद्य देवता विष्णु हैं। उनको आगे करके फिर सबको सुना सकते हैं। कथा-श्रवणके दिनोंमें ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए, नीचे सोना चाहिए पत्तोंपर खाना चाहिए। द्विदल, मधु, तैल, गरिष्ठान्न, भावदुष्ट, पर्युषित भोजन नहीं करना चाहिए। जला हुआ अन्न, मसूरिका, निष्पाव आमिष भी कथाव्रतीको नहीं खाना चाहिए। पलाण्डु, लहसुन, हींग, मूलक, गृंजन, नालिकामूल, कमलगट्टा और कुष्माण्ड (काशीफल) आदिका भोजन भी कथाव्रतीको नहीं करना चाहिए।—'लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।' जिसको दो बार पकाना पड़े—जैसे इडली, डोसा आदि, पूतका अन्न, नमक, मांस, बकरीका दूध, कुएँका पानी—ये सब काममें नहीं लेना चाहिए।

लेकिन यह सब तो बाहरकी चीजें हैं, भीतर अन्तःकरणमें जो काम-क्रोध-मद-मान-मत्सर-लोभ-दम्भ-मोह-द्वेष आदि हैं, इन सबको छोड़ देना चाहिए। वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गोव्रती, स्त्री, राजा और महापुरुष—इनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। रजस्वला, अन्त्यज, म्लेच्छ, पतित, व्रात्य, ब्राह्मणद्रोही, वेदबाह्य—इनके साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इसके लिए श्रोताके पास समय ही कहाँ है ? सत्य, शौच, दया, मौन, आर्जव, विनय—यह सब धारण करना चाहिए। अपने मनको उदार रखना चाहिए। कोई दरिद्र हो, क्षयी हो, रोगी हो, निर्भाग्य हो, पापी हो, अनपत्य हो अथवा मोक्षकी कामना करनेवाला हो तो उसको यह कथा सुननी चाहिए। जिसके बच्चे न होते हों, रजोधर्म न होता हो या बच्चे होकर मर जाते हों, गर्भ गिर जाता हो उस स्त्रीको भी यह कथा सुननी चाहिए क्योंकि इससे बड़ा भारी पुण्य मिलता है। कथाका उद्यापन भी जन्माष्टमी व्रतके समान बड़े प्रेमसे करना चाहिए। जिन भक्तोंके पास कुछ नहीं है उनके लिए उद्यापनका कोई आग्रह नहीं है—'अकिंचनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः' (६.५५) क्योंकि वे निष्काम वैष्णव होनेके कारण 'श्रवणेनैव पूतास्ते' (६.५५) श्रवणसे ही पवित्र हो जाते हैं।

इसके बाद पुस्तक और वक्ताकी पूजा करनी चाहिए। सब श्रोताओंको प्रसाद और तुलसी-दल देना चाहिए। मृदङ्ग बजाकर ललित कीर्तन करना चाहिए—जय हो, जय हो, नमो नमः तथा शङ्खध्वनि करनी चाहिए। ब्राह्मण, याचक सबको धन-अन्न देना चाहिए। यदि श्रोता विरक्त हो तो अन्तिम दिन गीताका पाठ कर लेना चाहिए। गृहस्थ हो तो होम करना चाहिए। उस होममें दशमस्कन्धके प्रत्येक श्लोकसे आहुति देनी चाहिए अथवा पायस, मधु, घी (सर्पिः) आदिसे आहुति देनी चाहिए अथवा गायत्री-मन्त्रसे आहुति देनी चाहिए। होम न कर सकते हों तो होमकी वस्तुएँ ब्राह्मणको दे देनी चाहिए और विष्णुसहस्रनामका पाठ कर लेना चाहिए, क्योंकि इससे सम्पूर्ण विघ्न दूर हो जाते हैं और न्यूनाधिकताका दोष निवृत्त हो जाता है।

देखो, ये जो साधन हैं, इनको तो कलियुग ही छुड़ा देता है, माया-मोह ही छुड़ा देते हैं। फिर यदि कोई आचार्य या उपदेशक आकर साधन छुड़ा दें तो क्या बड़ी बात कर गये ? असलमें जीवात्माको परमात्माके साथ जोड़नेके लिए भगवान्का नाम ही एक कड़ी है। यदि हम नाम लेते रहेंगे तो आज नहीं कल, हमारी आत्मा परमात्माके साथ जुड़ जायेगी। इसीमें सब सफल हो जाता है, क्योंकि इससे बड़ा और कोई साधन नहीं है।

कथाके अन्तमें बहुत अधिक ब्राह्मण-भोजन करानेको आवश्यकता नहीं है। बारह ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे भी काम चल सकता है। अपने पास धन हो तो गाय और सुवर्ण आदिका दान करना चाहिए। तीन पल सोनेका सिंहासन बनवाकर उसपर हाथसे ललिताक्षरोंमें लिखित पुस्तककी स्थापना करनी चाहिए और उसकी पूजा करके ब्राह्मणको दान कर देना चाहिए। इससे सब पाप दूर हो जाते हैं और यह पुराण-श्रवण सफल होता है। लोग यह न समझ लें कि भागवतसे केवल मोक्ष-ही-मोक्ष मिलता है। मोक्ष चाहनेवाले तो बहुत थोड़े होते हैं। अतः यदि मोक्षके लिए ही भागवत होता हो तो कोई भागवत सुनेगा ही नहीं या बहुत थोड़े लोग सुनेंगे। असलमें भागवत सुननेसे धर्म होता है, कामनाकी पूर्ति होती है, धन मिलता है और फिर मोक्ष भी मिलता है। यह चतुर्वर्गका साधन है, चारों पुरुषार्थ इससे सिद्ध होते हैं—धन चाहिए तो धन लो, भोग चाहिए तो भोग लो, धर्म चाहिए तो धर्म लो—'सर्वपापहरां पुण्यां मुक्तिभुक्तिप्रदायिनीम् ।' (६.७०)

सूतजी कहते हैं कि शौनकजी, इस प्रकार जब सनत्कुमारने नारदजीको श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-कथाका श्रवण करा दिया तब ज्ञान-वैराग्य और भक्तिकी पुष्टि हो गयी। वे तीनों तरुण हो गये और सबको अपनी ओर आकर्षित करने लगे। इसका अर्थ यह है कि जितने भी श्रोता थे, सबके मनमें यह रुचि पैदा हो गयी कि उनको भी भक्ति मिले, ज्ञान मिले और वैराग्य मिले तथा वे भी इसी तरह भागवत सुनें।

अब नारद कृतार्थ हो गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया और वे परमानन्दमें मग्न होकर बोले—मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, बहुत अनुग्रह किया आपने। आज हमको सर्वपापापहारी परमात्मा श्री हरिकी प्राप्ति हो गयी। आज मैं मान गया कि दुनियामें जितने भी धर्म हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ धर्म श्रवण ही है। श्रवणके बिना भक्ति नहीं, ज्ञान नहीं। इसलिए श्रवण करना चाहिए। स्वाध्याय-विधि दूसरी है और श्रवण-विधि दूसरी है। स्वाध्याय धर्माङ्ग-विधि है और 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यक) यह ज्ञानका साधन है।

सूतजी कहते हैं कि नारदजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतनेमें योगेश्वर श्रीशुकदेवजी महाराज वहाँ पहुँच गये। सोलह वर्षीय किशोर, सुकुमार आत्मलाभसे परिपूर्ण व्यासनन्दन

शुकदेवजीका दर्शन करते ही लोगोंके हृदयोंमें ज्ञान-समुद्र लहराने लगा और सब लोग उस तेजस्वी महापुरुषके सम्मानमें उठकर खड़े हो गये। श्रीशुकदेवजी महाराज जीवन्मुक्त महात्मा होते हुए भी श्रीमद्भागवतका पाठ करते रहते हैं। उनका दर्शन करके सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनको ऊँचे आसनपर बैठाया गया और फिर देवर्षि नारदने उनका प्रीतिपूर्वक पूजन किया। जब श्रीशुकदेवजी महाराज सुखपूर्वक बैठ गये तब बोले—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहोरसिका भुवि भावुकाः॥ ६.८०

रसिको और भावुको, वेद कल्पवृक्ष हैं, कल्पतरु हैं, अज्ञात-ज्ञापक हैं। निगम शब्दका अर्थ है—'निगमायते।' जिस अज्ञात वस्तुको हम इन्द्रिय, मन, बुद्धि और समाधिसे नहीं जानते, साक्षी, भास्यरूपसे भी जिनका हमें ज्ञान नहीं होता, जो आभासभास्य भी नहीं—साक्षीभास्य भी नहीं, उस वस्तुका ज्ञान करानेवाला निगम कल्पवृक्ष ही है। यह निगमरूपी कल्पवृक्ष ऐसा है कि किसीने इससे द्वैत माँगा तो द्वैत दे दिया, किसीने अद्वैत माँगा तो अद्वैत दे दिया और किसीने द्वैताद्वैत माँगा तो द्वैताद्वैत दे दिया। इससे तो जो माँगो वह ले लो। जब हमारे महात्माओंने कहा कि नहीं, नहीं, हम तो माँगकर नहीं लेंगे, जो तुम्हारे पास सबसे अच्छी वस्तु हो वह हमें स्वयं ही दे दो।

निगम-कल्पतरुने महात्माओंसे कहा कि अच्छा तुम भी ले लो—'गलितं फलम्।' गलितं फलम्का अर्थ है कि वह किसीका तोड़ा हुआ नहीं है। वैसा नहीं है, जैसा आमके पेड़पर लोग ढेला फेंककर या चढ़कर, इसकी डाल हिलाकर फल गिरा लेते हैं, या तोड़ लेते हैं। यह गलित फल हमारी वासनाके अनुसार प्राप्त नहीं, वेदका स्वारसिक फल है। जो वेदका सार-सर्वस्व है, वह अपने आप भागवतके रूपमें प्रकट हुआ है। यह साधनात्मक नहीं फलात्मक है। सब साधनोंका जो फल है वह भी इसमें त्याज्य नहीं है। लेकिन यह कुछ विशेष रसम्—रसस्वरूप है। यह केवल फल होता तो इसमें गुठली, छिलका आदि जो त्याज्य हैं, उन्हें अलग करना पड़ता और केवल रस होता तो धरतीपर गिरनेपर बिखर जाता। किन्तु यह फल भी है, रस भी है। इसमें कुछ त्याज्य नहीं और यह बिखरनेवाली चीज भी नहीं, फिर इसपर मुहर लग गयी है श्रीशुकदेवजी महाराजकी! यह शुकजीके श्रीमुखके अमृत-द्रवसे संयुत है। इसलिए—'पिबत भागवतं रसमालयम्।' पीओ, पीओ 'रसमालय' भागवतको पीओ।

'भगवता ब्रह्मणे प्रोक्तं भागवतम्'—भागवत शब्दका यह अर्थ है कि भगवान् नारायणने ब्रह्माजीके लिए इसका प्रकाशन किया है। इसलिए यह भागवत है, यह रस है, इसको पीओ, पीओ, पीओ।

कब तक पीयें महाराज ? 'आलयं'—पीते-पीते जब तक बेहोश होकर गिर न जाओ तब-तक पीओ। दुनियामें बहुत-सी ऐसी चीजें होती हैं, जिनको पीकर लोग बेहोश हो जाते हैं। लेकिन उनमें क्या रखा है, जरा इसको पीकर तो बेहोशी बुलाओ, फिर देखो कितना आनन्द आता है। लेकिन बेहोश होकर तो फिर होशमें आजायेंगे। नहीं, नहीं, 'आलयं—लयपर्यन्तम्' तबतक पीओ, जबतक मर न जाओ। 'आलयम्'का अर्थ है आ-लयम् अर्थात् मृत्यु-पर्यन्तम्। क्या मरनेके बाद फिर जन्म नहीं हो जायेगा ? नहीं, जबतक प्रलय न हो जाये तब तक पीओ। लेकिन प्रलयके बाद तो फिर सृष्टि हो जाती है! नहीं 'आलयम्'— जबतक आत्यन्तिक प्रलय न हो जाये तबतक पीओ।

देखो, यह 'रसमालयम्' है। जितनी भी रस-प्रापक सामग्रियाँ हैं, रसकी जो 'मा' है, प्रमा है, उसका यह आलय है। रसकी यथार्थ अनुभूति इसीमें होती है। 'अहो रसिका भुवि भावुकाः' आपमें जो इसी जीवनमें रस लेनेवाले हैं वे रसिक हैं और जो परलोकमें रस लेनेवाले हैं वे भावुक हैं। आप दोनों आओ, आओ। इसी धरतीपर यह रस लो। यह मरनेके बाद मिलनेवाली अमांगलिक वस्तु नहीं है, परम मंगलमयी वस्तु है। इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥ ६.८१.

देखो, इसमें धर्मका वर्णन है। परन्तु लोग धर्मके साथ कपट जोड़ देते हैं। पाँच आनेकी फूलमाला हनुमान्‌जीको चढ़ायेंगे और बोलेंगे कि हमको पाँच हजार रुपये दे दो। यह जो धर्ममें कामना है, धर्मके लिए थोड़ा-सा खर्च करके उससे अधिक फायदा उठानेवाला जो कपट है, वह धर्मकी पवित्रताको नष्ट कर देता है। श्रीमद्भागवतमें भी धर्म है, परन्तु वह 'प्रोज्झितकैतवः' है अर्थात् कैतवरहित है। श्रीधर स्वामीने कहा कि यहाँ 'प्र' उपसर्गके प्रयाससे अर्थ हो जाता है— 'मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्ता'। तात्पर्य यह कि तुम इस धर्मका ऐसा पालन करो कि भगवान्‌को कह दो—हमको मुक्ति नहीं चाहिए।

एक सेवक आया और बोला कि महाराज, मैं आपकी सेवा करूँगा। जब पूछा गया कि क्या तनख्वाह लोगे, तो बोला कि महाराज तनख्वाह नहीं चाहिए, मैं ऐसे ही सेवा करूँगा। और वह सेवा करने लगा। आज हमारे आश्रममें ऐसे अनेक सेवक हैं जो भिक्षा माँगकर खाते हैं और दिन भर काम करते हैं। वे पेंतीस-चालीस बरसोंसे भिक्षा माँगकर खाते हैं। कभी-कभी उनको मौका

मिलता है तो मेहनत-मजदूरी करके कुछ पैसा कमा लेते हैं और उसको इकट्ठा करके दे भी जाते हैं। इस प्रकार अपना अंश पूरा करते हैं। जब कहा जाता है कि सेवा छोड़कर जाओगे तब कुछ पेन्शन लोगे, तो बोलते हैं कि—राम-राम, हमको पेन्शन चाहिए ?

तो जो लोग लोकमें सुख चाहते हैं वे तनख्वाह चाहते हैं और जो परलोकमें सुख चाहते हैं वे पेन्शन चाहते हैं। लेकिन यहाँ तो ऐसा प्रेम है कि न तो मुक्ति चाहिए और न वेतन चाहिए—क्योंकि वह प्रेम 'प्रोज्झित-कैतवः' है। इसमें बेइमानी बिल्कुल नहीं है, मनोरथ बिल्कुल नहीं, कपट बिल्कुल नहीं है। इसीको परम-धर्म कहते हैं—'अत्र परमो धर्मः' यह धर्म नहीं, परम धर्म है। याज्ञवल्क्यने परम धर्मका वर्णन किया है, भागवतमें परम धर्मकी चर्चा वारम्बार आयेगी।

काशीमें एक पण्डितजी महाराज जब भागवतकी कथा कहते थे, तब परम धर्मका अर्थ ऐसे करते थे—'नास्ति त्रपा येषां ते अत्रपाः = दिगम्बराः अवधूताः। ते रमन्ति अस्मिन् इति अत्रपरमः' अर्थात् बड़े-बड़े दिगम्बर अवधूत लज्जा छोड़कर निरावरण विचरण करते हैं, वे भी इसमें रम जाते हैं। जो शुद्धान्तःकरण निर्मत्सर सत्पुरुष हैं उनके लिए इसमें 'वेद्य' अर्थात् वास्तविक वस्तुका वर्णन है। 'अत्रैव साक्षात्' 'अपरोक्षं यद् वस्तु'—अर्थात् जो वस्तु यहीं साक्षात् अपरोक्ष प्राप्त हो जाती है। 'वास्तवं वस्तु' कहनेका अभिप्राय है 'भावनात्मकं न; यद् भावनात्मकं न भवति तद् वास्तवं वस्तु भवति परमार्थं भवति'। यहाँ उस वस्तुका वर्णन है जिससे समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति और 'तापत्रयोन्मूलन' होकर 'शिवद' परमानन्दकी प्राप्ति होती है। दुःख निवृत्ति तो नैयायिक एवं वैशेषिक सम्मत मोक्षमें भी हो जाती है। जैन-बौद्ध-सम्मत मुक्तिमें भी दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। परन्तु यहाँ जो सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर शिवकी, परमानन्दकी प्राप्ति है, वही विशेष है।

इस प्रकार यहाँ यह बताया कि इसके कर्ता पवित्र हैं, धर्मका स्वरूप विलक्षण है, अधिकारी विलक्षण हैं, इसमें वर्णित वस्तु विलक्षण है, इसका प्रयोजन इसके निर्माता हैं—'किं वा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यते।'

'अत्र महामुनिः नारायणः और किं वा, किं परैः साधनैः शास्त्रैर्वा ईश्वरः सद्यो हृदि अवरुध्यते ? न अवरुध्यते'। क्या दुनियामें कोई ऐसा शास्त्र है, कोई ऐसा साधन है कि भगवान् तत्काल हृदयमें आकर बैठ जाँय ? बोले—नहीं, नहीं, 'अत्र तु कृतिभिः शुश्रूषुभिः तत्क्षणात् अवरुध्यते'—आओ श्रीमद्भागवतका श्रवण करो, तुम्हारे हृदयमें ईश्वरावरोध वैसे ही हो जायगा जैसे कोई कैदी हो, प्यारका बन्दी हो। जैसे यशोदा मैयाने भगवान्‌को ऊखलमें बाँध लिया, वैसे ही तुम्हारे हृदयमें ईश्वर बँध जायेगा। यह कोई फलश्रुति नहीं है। जिसके मनमें भगवत्कथाके रसके

आस्वादनकी लालसा होगी, उसकी लालसाके गर्भमें—इच्छाके गर्भमें आकर भगवान् बैठ जायेगा। आपको पानी पीनेकी इच्छा होती है तो मनमें पानीकी याद आती है कि नहीं ? स्त्रीकी इच्छा होती है तो मनमें स्त्री होती है कि नहीं ? लेकिन पानी जड़ है, वह चाहने मात्रसे स्वयं नहीं आयेगा, उसका एक आभास आयेगा। ईश्वर पानीकी तरह जड़ नहीं और स्त्रीकी तरह दूर नहीं। जब ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा होती है, तब उसकी उपाधिसे अवच्छिन्न परमात्मा उस इच्छामें प्रकट हो जाता है और तबतक अवरुद्ध रहता है, जबतक इच्छा बनी रहती है। इसलिए ईश्वरको अपने हृदयमें सर्वदाके लिए तत्क्षण अवरुद्ध कर लो। तत्क्षणका अर्थ है कि इसमें कालकृत देरी नहीं है, देशकृत दूरी नहीं है और ईश्वरको कहींसे अन्य वस्तुके रूपमें नहीं बुलाना है। तत्क्षणात्—अन्य इच्छानिवृत्तिपूर्वक भगवद्-इच्छाके उदय मात्रसे ही अथवा अन्य इच्छानिवर्तक भगवत्प्राप्तिकी इच्छाके उदय-मात्रसे ही हृदयमें ईश्वर अवरुद्ध हो जाता है।

यह श्रीमद्भागवत पुराणोंमें तिलक है, वैष्णवोंका परम धन है और इसमें परमहंसोंका प्रिय एक अमल ज्ञानका ही गान किया गया है—'यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते'। हंस उसको कहते हैं, जिसमें विवेक-ज्ञान हो और जो नीर-क्षीरको अलग-अलग कर दे। विवेक शब्दका अर्थ होता है दो चीजों को अलग-अलग करना। 'विचिर् पृथग्भावे, विवेचनं विवेकः'। हंसज्ञान वही है, जिसमें दो-दो न रहें, एक अद्वितीय परमात्मा ही रहे। जहाँ द्वैतका बाध होकर प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व ही रहता है, उसका नाम पारमहंस ज्ञान है। इसी पारमहंस्य ज्ञानका श्रीमद्भावतमें वर्णन है—

यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्।
तच्छृण्वन्प्रपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥६.८२

इसमें ज्ञान-वैराग्य और भक्तिका विरोध नहीं, नैष्कर्म्य ब्रह्मका 'आविष्कार' है। इसके श्रवण, पठन और विचारणसे मनुष्यको मुक्तिकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग, सत्य, कैलाश, वैकुण्ठमें यह रस नहीं है। इसलिए भाग्यवानों, इस रसका पान करो, एक क्षणके लिए भी इसका परित्याग मत करो।

इस प्रकार श्रीशुकदेवजी महाराज श्रीमद्भागवत-माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे थे कि उसी समय सभामें भगवान् प्रकट हो गये—

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणे मध्ये सभायां हरिराविरासीत्। ६.८४

भगवान्के साथ प्रह्लाद, बलि, उद्धव, अर्जुन आदि भी थे। नारदने उन सबकी पूजा की। भगवान् सिंहासनपर विराजमान हुए। गौरीके साथ शंकरजी भी आगये। ब्रह्माजी भी आये, पर

ब्रह्माजीके साथ सरस्वती नहीं आयीं। बात यह है कि भवानी तो शंकरजीके बिना कहीं जातीं नहीं, लेकिन सरस्वती तो ब्रह्माजीको छोड़कर भी यत्र-तत्र चली जाती हैं। यहाँ भी श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ होते ही ब्रह्माजीको साथ लिये बिना ही सरस्वती चली आयी थीं। क्योंकि वे तो वाग्रूपा हैं, वाग्रूपाके बिना तो कोई काम ही नहीं चलता। इसलिए ब्रह्माजी बादमें अकेले आये।

अब कीर्तन प्रारम्भ हुआ। आप उसका दर्शन कीजिये—प्रह्लाद तबला बजा रहे हैं, उद्धवजी झाँझ बजा रहे हैं, देवर्षि नारद वीणा बजा रहे हैं, अर्जुन राग आलाप रहे हैं, इन्द्र मृदङ्ग बजा रहे हैं, सनत्कुमार जय-जय कर रहे हैं, व्यासनन्दन शुकदेवजी महाराज भावका निर्देश कर रहे हैं और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तीनों नटके समान नृत्य कर रहे हैं।

इस अलौकिक कीर्तनको देखकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—मेरे प्यारे भक्तों, जो चाहो वर माँग लो। मैं इस कथा-कीर्तनसे बहुत प्रसन्न हूँ।

भगवान्‌की वाणी सुनकर सबका हृदय प्रेमसे गद्‌गद हो गया। भक्तोंने कहा कि महाराज, हम आपसे यही वरदान माँगते है कि जहाँ-जहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा हो, वहाँ-वहाँ आप ज़रूर पधारें।

भगवान्‌ने कहा कि ऐसा ही होगा। जहाँ-जहाँ भागवतकी कथा होगी, वहाँ-वहाँ मैं अवश्य आऊँगा। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। नारदने भगवान्‌के चरणोंमें तथा अन्य सबके चरणोंमें भी प्रणाम किया। सब लोग कथामृतका पान करके चले गये।

भगवान् तो श्रीमद्भभागवतमें रहते ही हैं, श्रीशुकदेवजी महाराजकी आज्ञासे भक्ति-ज्ञान-वैराग्य भी इसीमें बैठ गये। इसलिए भागवतका सेवन करनेसे श्रोता और वक्ता दोनोंके चित्तमें भगवान्‌का अवतरण होता है। जो योग दारिद्र्य-दुःखके ज्वरसे दग्ध हैं, माया–पिशाचीके रौंदे हुए हैं और संसार–समुद्रमें डूबते–उतराते रहते हैं, उनके परम कल्याणके लिए श्रीमद्भागवत गर्जना करता है।

अब शौनकजीने पूछा कि सूतजी, इस श्रीमद्भागवतको श्रीशुकदेवजी तथा गोकर्णने अपने-श्रोताओंको कब सुनाया, आप कृपा करके बताइये? यद्यपि यह भागवतरस न तो समय सापेक्ष है, न देश सापेक्ष है, न वस्तु सापेक्ष है और न व्यक्ति सापेक्ष है क्योंकि यह तो निरपेक्ष स्वतन्त्र रस है। परन्तु जैसे भगवान्‌के आविर्भाव–लीलाका वर्णन करते हैं, वैसे ही इसके लीलाका वर्णन है। यह 'जन्माद्यस्य यतः' (१.१.१) से लेकर 'तं नमामि हरिं परम्' (१२.१३.२३) पर्यन्त सनातन शास्त्र है। व्यासजी इसके रचयिता नहीं, स्मर्ता हैं। जैसे वेदकी आनुपूर्वी होती है, वैसे ही इसमें

भावकी आनुपूर्वी है। वह आनुपूर्वी कल्प-कल्पमें बिल्कुल एक सरीखी होती है। फिर भी हम लोग आपके श्रीमुखसे इस सम्वन्धमें श्रवण करना चाहते हैं।

सूतजी कहते हैं, शौनकजी, भगवान् श्रीकृष्णके स्वधामगमनके तीस बरस वाद भाद्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिसे श्रीशुकदेवजीने यह कथा प्रारम्भ की थी। उसके दो सौ वर्षों बाद आषाढ़ मासमें नवमी तिथिसे ही गोकर्णनेकथाकी। उसके वाद तीस वर्ष और वीत जानेपर कार्तिक मासमें सनत्कुमारोंने कथा सुनायी। भागवत-कथा सम्पूर्ण भवरोगोंका नाश करनेवाली है। श्रीमद्भागवत-श्रीकृष्णका प्रिय है, सकलकल्मषोंका नाशक है, मुक्तिका कारण है और भक्तिको विलसित करनेवाला है। आप आदरसे इसका सेवन कीजिये। अपनी भलाईके लिए इसके अतिरिक्त और कुछ ढूंढ़नेकी जरूरत नहीं। जब यमदूत यमपुरीसे हाथमें फन्दा लेकर चलते हैं, तब यमराज उन्हें बुलाकर कहते हैं—जो भागवत कथामें, भगवान्की कथामें मग्न हो उसका मै स्वामी नहीं। मैं तो जो भगवान्से विमुख हैं, उन्हींका स्वामी हूँ।

असारे संसारे विषयविषभङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितपथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥ ६.१००

यह संसार असार है, विषयविषके संगसे लोगोंकी बुद्धि व्याकुल हो गयी है। यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं तो आधे क्षणके लिए इस भागवतामृतका पान कीजिये। उस कुमार्गमें मत जाइये, जहाँ बुरी-बातें सुननेको मिलती हैं। इसके श्रवण मात्रसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। परीक्षित इसके साक्षी हैं। शुकदेवजी महाराजने रसप्रवाहमें स्थित होकर यह कथा कही है। जिसके कंठसे इसका सम्बन्ध होता है, वह वैंकुण्ठका प्रभु हो जाता है।

मैंने परमगुह्य सर्वसिद्धान्तसिद्ध शास्त्र पुञ्ज देखकर आपको यह बात सुनायी है। जगत्में शुककथासे निर्मल कोई वस्तु नहीं। इसके बारह स्कन्ध सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पुराणोंके सार हैं। आप इनका सार-सार पीजिये। जो भक्तिसे इसका नियम-पूर्वक श्रवण करता है और जो शुद्ध वैष्णवके सामने इसका कथन करता है, उन दोनोंको सम्यक् विधिके अनुष्ठानके फलस्वरूप परमानन्दकी प्राप्ति होती है। सच पूछो तो सत्यका आश्रय ग्रहण करनेपर संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं। यदि श्रीमद्भागवतका आश्रय लिया जाये तो सब-कुछ प्राप्त हो सकता है।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

प्रथम स्कन्ध

: १ :

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥

श्रीमद्भागवतका यह मंगलाचरण वस्तुनिर्देशात्मक है। इसमें वैदिकत्व और सत्यत्वका प्रतिपादन इतने कौशलसे किया गया है कि उनके समन्वयको देखकर आश्चर्य होता है। 'धीमहि' का प्रयोग करके तो वैदिकत्व सूचित कर दिया गया है—'भर्गो देवस्य धीमहि' (प्रसिद्ध गायत्री मन्त्रका तृतीय पाद)। इसमें भी एक वेदका पक्षपात नहीं, एक शाखाका पक्षपात नहीं, क्योंकि गायत्री मन्त्र सभी वेदोंमें प्रयुक्त है, उसके अन्तिम पदको यहाँ ले लिया गया है। यह सम्प्रदाय-निरपेक्ष ग्रन्थ है। जो लोग ग्रन्थ रचनाकी पद्धति जानते हैं, वे जानते हैं कि 'सत्यं परं धीमहि' के स्थानपर 'रामं परं धीमहि, कृष्णं परं धीमहि, विष्णुं परं धीमहि, शम्भुं परं धीमहि, धीशं परं धीमहि, भानुं परं धीमहि, शक्तिं परां धीमहि' इत्यादि किसी भी उपासना विशेषके, सम्प्रदाय-विशेषके इष्टदेवका नाम यहाँ प्रयुक्त हो सकता था और छन्दमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं आता। परन्तु श्रीमद्भागवत कहता है कि 'सत्यं परं धीमहि'—हम परमसत्यका ध्यान करते हैं। कोई भी साम्प्रदायिक यह निषेध नहीं कर सकता कि वह अपने इष्टदेवताको सत्य नहीं मानता। सबको स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारा इष्टदेवता सत्य है।

नाम, रूप, आकृति और आभास इन चारोंका अधिष्ठान, प्रकाशक और इन चारोंमें अनुस्यूत जो परमसत्य है, अबाधित तत्त्व है उसका हम श्रुतियोंके अनुसार चिन्तन करते हैं। 'धीमहि' में जो बहुवचन है, उसका अर्थ वक्ता और श्रोता सभीसे है। तात्पर्य यह कि हमलोग जो श्रीमद्भागवतके वर्णन, श्रवणमें प्रवृत्त हो रहे हैं, वह सत्यानुचिन्तनके लिए है, तत्त्वानुचिन्तनके लिए है। यह अनुचिन्तन सम्प्रदायविशेषका, इष्टविशेषका नहीं, अनेक-अनेक इष्टोंमें जो निर्विशेष सत्य है, उसका अनुचिन्तन है।

'सत्यं परं धीमहि' का वैदिकत्व देखो। कठोपनिषद् कहता है—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (१.३.११) अर्थात् सबसे परे पुरुष है, उसके परे और कोई नहीं है। तो श्रीमद्भागवतका सत्य जड़ात्मक सत्य नहीं है, चेतनात्मक सत्य है। सबके अध्यारोप और अपवादके बाद जो अवशेष है, वह सत्य है। जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमसत्य है, उसीका हम अनुचिन्तन करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस सत्यकी पहचान क्या है, इसका लक्षण क्या है? लक्षण शब्द संस्कृतका है जिसका अर्थ है लखाना। जैसे भगवान् रामचन्द्रको लखानेके लिए लक्ष्मण हैं और हम समझते हैं कि जहाँ लखनलाल हैं वहाँ राम हैं, वैसे ही परमात्माके साथ लक्षण क्या है? लक्षण दो प्रकारका होता है—एक तटस्थ और दूसरा स्वरूप। जैसे कोई कहें कि जो गोरे भाईके साथ हैं वे राम हैं तो यह तटस्थ लक्षण हो गया और यह कहना कि जो श्याम हैं, वे राम हैं, स्वरूप लक्षण है। अन्यके द्वारा अन्यको लखा देना तटस्थ लक्षण होता है। तटस्थ लक्षणके द्वारा परमात्माको लखानेका अर्थ है—लक्ष्यसे अलग रहकर लक्ष्यको लखाना और स्वरूप लक्षणके द्वारा परमात्माको लखानेका तात्पर्य है स्वयं स्वरूपके द्वारा स्वरूपकी पहचान कराना। यदि दोनों लक्षणोंको एक साथ देखना है तो ऐसे समझो कि 'इस पेड़के दो हाथ ऊपर हँसियाकी तरह चन्द्रमा दीख रहा है।' इस उक्तिमें 'हँसियेकी तरह जो रोशनी है' वह स्वरूप लक्षण है और जो 'पेड़के दो हाथ ऊपर' बताना है वह तटस्थ लक्षण है।

अब आओ तटस्थ लक्षणके द्वारा परमात्माकी पहचानपर विचार करें। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति (तैत्ति० उप० ३.१.१) यह श्रुति है और 'जन्माद्यस्य यतः (१.१.२) यह ब्रह्मसूत्र है। वहींसे श्रीमद्भागवत प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ हुआ कि श्रीमद्भागवत श्रुतिसूत्रानुरूप है। गायत्रीमन्त्रमें सविता शब्दका अर्थ सृष्टिक कर्ता है। उसमें और इसमें वैलक्षण्य क्या है? ब्रह्मसूत्रमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१.१.१) के बाद 'जन्माद्यस्य यतः' है। वहाँ अधिकारी चाहिए, वैराग्य चाहिए तब ब्रह्मजिज्ञासा होती है और यहाँ ब्रह्मका लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' है। यहाँ यदि अधिकार न हो, वैराग्य न हो तब भी श्रीमद्भागवतका श्रवण किया

जा सकता है। जैसे शम-दमादि-साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही वेदान्त श्रवणका अधिकारी होता है, वैसा कोई प्रतिबन्ध श्रीमद्भागवतके श्रवणमें नहीं है। श्रीमद्भागवत सुननेसे शम-दमादिका अधिकार स्वयं आजाता है। अधिकारी होकर उपनिषद् सुनो, पर अधिकार प्राप्तिके पहले भी और बादमें भी श्रीमद्भागवतका श्रवण करो। यह अधिकारी होनेके पूर्व और उत्तरकाल दोनोंमें चलता है। इसलिए यहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'को न देकर सीधे ही दूसरा सूत्र दे दिया गया—'जन्माद्यस्य यतः।'

अब इसमें एक तीसरी बात देखो। 'यतः अस्य जन्मादि, 'अस्य दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य'। जिसको हम यह-यह बोलते हैं, उसको कहते हैं अस्य। अस्य जन्मादि, इदं जन्मादिमद् भवति' जो यह है उसीका जन्म है, उसीकी स्थिति है, उसीका प्रलय है। यह प्रपञ्चका लक्षण हो गया। परन्तु 'यतः इदं भवति तत् जन्मवन्न भवति, स्थितिमन्न भवति, प्रलयवन्न भवति।' जिससे इसका जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, उस परमात्मामें स्वयंमें न जन्म है न स्थिति है, न प्रलय है। जन्म स्थिति और लय यह दृश्यका लक्षण है। 'इदन्त्व' दृश्यका लक्षण है, 'अनिदन्त्व परमात्माका लक्षण है और 'यतः' अनिर्वचनीय है। कौन है? जो है, सो है।

अब दूसरी बात यह उठाते हैं कि जो जगत्का मूल कारण है वह केवल निमित्त कारण है अथवा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है?, घड़ा बनानेवाला-कुम्हार जैसा है अथवा माटी और कुम्हार दोनों जैसा है? इसपर यह कहते हैं कि हम अभिन्ननिमित्तोपादान कारण रूपसे ही उस परमात्माका वर्णन करते हैं। जैसे घड़ेमें मिट्टीका अन्वय है और मिट्टीसे घड़ेका व्यतिरेक है वैसे ही परमात्मा है। जिस प्रकार कार्य-कारण-भाव होता है, उसी प्रकार इस जगत्का परमात्माके साथ कार्य-कारण भाव है अर्थात् बननेवाला भी वही है और बनानेवाला भी वही है, मिट्टी भी वही है, कुम्हार भी वही है। 'अर्थेषु अन्वयात् इतरतश्च'—वह सबमें भरपूर है। मुस्लिम और ईसाई मजहबोंमें ईश्वरको केवल दुनिया बनानेवाला माना जाता है। हमारे नैयायिक भी परमात्माको केवल सृष्टि निर्माण-कर्ता मानते हैं किन्तु श्रीमद्भागवतमें सृष्टिनिर्माताके रूपमें ही नहीं, स्वयं सृष्टिके रूपमें निर्मित होनेवाले रूपमें भी परमेश्वरका वर्णन है। क्योंकि उसको प्रयोजनका ज्ञान है—'अर्थेषु अभिज्ञः'। 'अर्थेषु' का अन्वय दोनों ओर करते हैं—अन्वयमें भी व्यतिरेकमें भी। परमेश्वरकी सत्तासे ही प्रपञ्चकी सत्ता है और प्रपञ्चके बिना भी, परमेश्वरकी सत्ता है। उसने जीवोंपर महती करुणा करके उनको प्रलयकी घोर निद्रासे, अज्ञानकी निद्रासे जगाया, इसलिए कि उनको धर्म मिले, अर्थ मिले, काम मिले, मोक्ष मिले, अन्यथा ये बेचारे जीव सोते ही रह जाते। जैसे माता अपने सोये हुए बेटेको जगाती है और उसके लिए पहलेसे ही मक्खन, मिश्री आदि तयार रखती है, वैसे ही परमेश्वर जीवोंके लिए अनुग्रह करता है। वह जानता है कि बिना जगाये,

बिना सृष्टि बनाये, जीवका कोई प्रयोजन पूरा नहीं होगा। इस दृष्टिसे परमेश्वर ही सृष्टिको बनाता है।

'अर्थेष्वभिज्ञः' का दूसरा अभिप्राय यह बताते हैं कि परमेश्वर जड़ नहीं, चेतन है। वह पहचानता है, उसको इस बातका अभिज्ञान है कि पूर्वसृष्टिमें किसने कैसा कर्म किया है, किसके कैसे संस्कार हैं, किसको कैसे भोग मिलने चाहिए। अभिज्ञानको ही हिन्दीमें पहचान बोलते हैं। पहले देखी हुई चीजको पहचाना जाता है और जिसको कभी नहीं देखा है, उसको जाना जाता है। यदि कहें कि हम पहचान गये, पहचान गये, ईश्वर अभिज्ञ है तो यह सर्वथा सत्य है। ईश्वर जीव नहीं है, स्वराट् है, स्वतन्त्र है—'स्वेन राजते इति'। यदि कहो कि यह लक्षण हिरण्यगर्भका है और वही सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेवाला है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो हिरण्यगर्भका गुरु है—

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

उसीने आदिकवि हिरण्यगर्भको, ब्रह्माको वेदका ज्ञान प्रदान किया। वाणीके उच्चारणपूर्वक वक्तृ-श्रोतृ-परम्परासे नहीं 'हृदा एव'—केवल अपने सङ्कल्पसे ही उसने हिरण्यगर्भको वेदका ज्ञान दे दिया। उस ब्रह्मके सम्बन्धमें, ज्ञानस्वरूप वेदके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित होते हैं—'मुह्यन्ति यत्सूरयः'। यहाँ देखो 'सूरि' शब्दका प्रयोग पहले ही श्लोकमें कर दिया। श्रीरामानुज सम्प्रदायके लोग अपने पूर्वगुरुओंको 'सूरि' बोलते हैं। परन्तु सूरि शब्दका प्रयोग न तो वैष्णवोंने प्रारम्भ किया, न जैनोंने प्रारम्भ किया और न भागवतमें किसीका अनुकरण किया गया। यह तो वैदिक शब्द है—'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।' (ऋग्. १.२०.२२)

इस वैदिक मन्त्रमें बहुत बढ़िया बात कही गयी है। सूरि है, परमपद है और उनका सदा दर्शन है। इसका तात्पर्य है कि महात्मा लोग कालानवच्छेदेन सदा परमात्माका दर्शन करते रहते हैं। परमात्मा भी सदा है, सूरि भी सदा है और दर्शन भी सदा है। यदि सूरि और परमात्मा सदा न हों तो दर्शन सदा होगा ही नहीं।

अब प्रश्न उठा कि ठीक है, परमात्मा चेतन है हिरण्यगर्भको भी ज्ञान देनेवाला है, स्वयं प्रकाश है; अभिज्ञ है, कार्य कारणरूपसे सबमें व्याप्त है, जगत्-जन्मादिका कारण है, परन्तु इसमें जो प्रपञ्च है वह पृथक् रूपसे सत्य है या उसका स्वयंका स्वरूप ही है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।

जैसे जलमें सूर्य किरणोंके चमकते समय उनमें स्वर्णबुद्धि हो जाती है जैसे दुर्योधनकी तरह स्थलमें जलबुद्धि तथा जलमें स्थलबुद्धि हो जाती है, वैसे ही प्रपञ्चमें भ्रम होता रहता है। 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा'—मायाके जो तीनों गुण हैं, वे परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो तीनों परमात्मा ही हैं, इसलिए 'अमृषा'—सत्य हैं। परन्तु परमात्मासे पृथक् रूपमें वे बिल्कुल सत्य नहीं हैं। कहनेका

अभिप्राय यह है कि इस सृष्टि-प्रपञ्चमें परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सर्वत्र सब कुछ परमामा-ही-परमात्मा है। यह साधारण बात नहीं है। मनुष्यके रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए इससे बढ़कर और कोई सिद्धान्त इस सृष्टिमें न कभी हुआ है, न है और न होगा। यदि दूसरी कोई वस्तु होगी तो उससे भय भी होगा, राग भी होगा और द्वेष भी होगा। परन्तु एक अद्वितीय प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म होनेपर, परमात्मा होनेपर, रागद्वेष एवं अस्मिताकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जो है वह भी परमात्मा, जो था वह भी परमात्मा और जो होगा वह भी परमात्मा। यदि कोई परमात्माको जुदा मानता है तो केवल भ्रमसे मानता है। परमात्मासे भिन्न प्रपञ्च है, मृषा है, भूठा है।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।

अब कई ऐसे हैं, जो सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं मानते। पूर्वमीमांसक कहते हैं—'न कदाचित् अनीदृशं जगत्'—अर्थात् दुनिया हमेशासे ऐसे ही है। बौद्ध कहते हैं—इसकी उत्पत्ति तो हुई है पर इसका कोई कारण नहीं है। कोई कहता है—कार्यकारण तो है, परन्तु सब जड़में ही है। परन्तु श्रीमद्भागवत कहता है कि इसकी उत्पत्ति हुई है, इसका कारण भी है, यह जड़से नहीं, चेतनसे है और चेतन भी जीवसे नहीं, साक्षात् स्वराट्से है। बोले स्वराट् तो ब्रह्मा हैं, क्या ब्रह्मासे है? नहीं, ब्रह्माके गुरुसे है। यह परमात्मासे भिन्न सत्य नहीं, परमात्माके स्वरूपसे ही सत्य है।

यदि कहो कि हो सकता है कोई माया-छाया हो, जिसने यह सृष्टि बनायी हो, तो यह बात भी नहीं—'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्—स्वेन धाम्ना स्वयं प्रकाशरूपेण, निरस्तकुहकम्।' यहाँ 'कुहक' माने माया है। श्रीमद्भागवतमें तक्षकको भी कुहक बोला गया है—'कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः।' (१.१९.१५)। यह मालूम पड़ना कि हमारा जन्म हुआ, हमारी मृत्यु होगी और संसारमें कोई मैं-मेरा है, इसीका नाम माया है। तो 'स्वेन धाम्ना'—परमात्माने अपने स्वरूपसे माया-छाया सबको काट दिया है, निरस्त कर दिया है, माया-छाया उनका स्पर्श नहीं कर सकती। वहाँ तो—'माया माया कथं तात छाया छाया न विद्यते।'

जिज्ञासुओंको समझानेके लिए एक प्रक्रियाके रूपमें जो माया स्वीकृत हुई है, वह परब्रह्म परमात्मामें वास्तविक नहीं है। जबतक जिज्ञासुको समझाना होता है, तबतक वह अनिर्वचनीय रूपसे स्वीकार की जाती है। किन्तु तत्त्वबोध होनेके बाद माया-छाया कुछ भी नहीं होती। ऐसा जो परम सत्य परमात्मा है, उसीका हम श्रीमद्भागवतके अनुसार चिन्तन करते हैं।

यह श्लोक माहात्म्यमें भी आया है। इसमें जो बात कही गयी है, इसपर ध्यान दें। श्रीमद्भागवतमें साधनके रूपमें परम धर्मका निरूपण किया गया है। परम धर्मका स्वरूप यह है कि उसमें किसी प्रकारका कैतव, कपट, कामना या चाह नहीं है। यह भी नहीं कि हम परमेश्वरकी

सेवा करके उससे वैकुण्ठादि प्राप्त करें, मोक्ष प्राप्त करें। इसमें तो निर्मत्सर, शुद्धान्तःकरण सन्तोंके लिए वास्तव वस्तुका वर्णन है। इसमें कड़ा, कंगन, पायजेबका वर्णन नहीं, स्वर्णतत्त्वका वर्णन है। इसमें वह असली कसौटी है जो स्वर्णतत्त्वकी पहचान बता देती है। इसका प्रयोजन है सकल अनर्थ निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति। श्रीमद्भागवतकी विशेषता है कि यह साक्षात् वेद है, भगवान्‌ने अपने हृदयको ही इसके रूपमें प्रकट कर दिया है। पुरुष अपने दिलकी बात जाहिर कर दे, यह कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु यदि वह अपने साथ अपनी श्रीमतीको भी जाहिर कर दे कि देखो यह मैं हूँ और यह मेरी श्रीमती है तो आश्चर्य है। 'भगवता प्रोक्तम्—' भगवान्‌ने करुणा-परवश होकर अपने हृदयको तो खोलकर रख ही दिया, अपनी सहचारिणी श्रीमती भक्ति देवीको भी, जो श्रीराधारानी हैं, लक्ष्मी हैं, सीता हैं, गौरी हैं, प्रकट कर दिया। श्रीमद्भागवतके रचयिता हैं साक्षात् नारायण। उन्होंने बताया कि दुनियामें जितने भी साधन हैं, शास्त्र हैं, वे ईश्वरको तत्काल नहीं मिलाते। परन्तु यदि कोई पुण्यात्मा शुश्रूषु श्रीमद्भागवतका आश्रय ले ले तो उसी क्षण उसके हृदयमें ईश्वर अवरुद्ध हो जाता है। जैसे यशोदा मैयाने कन्हैयाको बछड़ा बाँधनेकी रस्सीसे बाँध लिया, वैसे ही श्रीमद्भागवतका रसिक अपने प्रेमरज्जुसे परमेश्वरको सदा-सर्वदाके लिए हृदयमें बाँध सकता है। आपको यह सुनाया ही जा चुका है कि कोई भी निष्ठा निर्विषय नहीं हो सकती। जब हमारे मनमें पानी पीनेकी इच्छा होती है तब पानीका स्मरण होता है। पर पानी बाहर रहता है, उसको मालूम नहीं कि हमें चाहनेवाला कौन है। इसी तरह जब पत्नी या पुत्रकी इच्छा होती है तब पुत्री, पुत्रका स्मरण होता है, परन्तु वे दूर होते हैं। किन्तु परमेश्वर न पानीके समान जड़ है और न पत्नी, पुत्रादिके समान दूर है। वह तो वहीं, इच्छाके अन्तरङ्गमें ही विराजमान है। इसलिए जब उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है तो यावत्काल इच्छा है तावत्काल इच्छाके पेटमें बैठकर मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर दर्शन देता रहता है, अवरुद्ध रहता है। जब दर्शनेच्छा निवृत्त होगी तभी उसके आकारका दर्शन दूर होगा, जबतक दर्शनेच्छा रहेगी तबतक उसके आकारका दर्शन निवृत्त नहीं होगा। वह स्वतःसिद्ध पहलेसे ही हमारे हृदयमें विद्यमान है। हम स्वयं दूसरी-दूसरी वस्तुओंकी इच्छा करके उसके अनुभवमें प्रतिबन्ध उपस्थित कर देते हैं। यदि दूसरी वस्तुओंकी इच्छा छोड़ दी जाये, तो यह दिखेगा कि यह इच्छा महारानी उसीकी गोदमें सोती है, उसीकी गोदमें जागती है, उसीकी गोदमें मुस्कुराती है, उसीकी गोदमें हँसती है। वास्तविकता यह है कि हमारी इच्छा महारानी उसको छोड़कर कहीं जा नहीं सकती, यह निरन्तर परमात्मासे आलिंगित ही रहती है, इसीलिए उपनिषदोंमें वर्णन किया—'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।' (बृहदा० ४.३.२१) और, 'यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा····। प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः।' (छान्दोग्य ६.८.२)।

इसी प्रकार इच्छा महारानी चाहे जितनी घूम-फिर लें, अन्ततोगत्वा परमेश्वरमें पहुँचकर विराजमान हो जाती हैं। इसलिए आप परमेश्वरकी रूप-माधुरी, नाम-माधुरी, गुण-माधुरी लीला-माधुरीके श्रवणकी इच्छा करो और देखो कि किस प्रकार तत्काल उसका अनुभव होता है।

श्रीमद्भागवत समस्त वेदोंका सार है। सभी उपनिषदोंका सार है। सारे पुराणोंका सार है। सम्पूर्ण वेदान्तका सार है—'अखिलश्रुतिसारं सर्ववेदान्तसारं।' इसका नाम भागवत होनेसे कोई इसे अवैदिक ग्रन्थोंकी कोटिमें न समझ ले। यह तो 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्' है। हमको द्वैत चाहिए, विशिष्टाद्वैत चाहिए— इस उपाधिसे इसका अवतरण नहीं हुआ है। यह स्वारसिक फल है।

अब इसकी विशेषता क्या है? अपौरुषेय वेदवाणीमें रसाधान करनेकी प्रक्रिया क्या है? इसपर विचार करो। हमने एक महात्मासे पूछा था कि परमात्मा तो एक ही है। उसका आनन्द भी एकरस ही है। हम यदि चाहें कि परमात्माका रस और आनन्द बढ़ जाय तो कैसे बढ़ेगा, किस देशमें बढ़ेगा, किस कालमें बढ़ेगा, किस रूपमें बढ़ेगा? वह तो ज्यों-का-त्यों भरपूर है। फिर उसको बढ़ानेकी कोई रीति है या नहीं? इसपर महात्माने उत्तर दिया कि रीति है; परन्तु साधु लोग उसको गुप्त रखते हैं, लोगोंको बताते नहीं। निस्सन्देह परमात्मा एक, एकरस, अखण्ड, अद्वय तत्त्व है, परन्तु उसके रसास्वादनकी रीतिसे हम उसको अभिवृद्ध कर सकते हैं। यदि रसपान करनेवाले अनेक हो जायें, रसपायी वृत्तियाँ अनेक हो जायें, तो उसी अनुपातसे भगवद्-रसमें वृद्धि हो जाती है। जब अनेक गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ रास करने लगीं तो श्रीकृष्णके एक होनेपर भी उनका रसास्वादन कोटिगुणित हो गया। श्रीकृष्ण एकरस हैं, परन्तु गोपियोंके भेदसे उनका रसास्वादन कोटिगुणित है। इसी प्रकार अपौरुषेय शब्दराशि और परा-अपरा विद्याके रसास्वादनकी बात है, जिसका संवर्द्धन वक्ता और श्रोताके रसास्वादनकी पद्धतिसे होता जाता है। 'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्'— शुकदेवजी महाराज निष्काम हैं, अवधूत हैं, उनके मुखारविन्दका सम्बन्ध होनेसे यह अमृतमय हो गया।

आपको यह भी सुनाया जा चुका है कि यह रस साधनात्मक नहीं, फलात्मक है—'फलं रसं, रसं फलम्।' लोग दुर्गापाठ करते हैं और चाहते हैं कि इससे अमुक फल मिल जाये, गीताका पाठ करते हैं और चाहते हैं कि इससे ईश्वरका साक्षात्कार हो जाये। यह अपने स्थानपर ठीक है, किन्तु भागवतका पाठ ऐसे उद्देश्यको लेकर मत करो। तो फिर क्यों करो? यह समझकर करो कि भागवतका पाठ करना या श्रवण-वर्णन करना ही सबसे बड़ा फल है। इसका अपमान करके इसके फलपर दृष्टि मत ले जाओ। किसीने किसीसे कहा कि महाराज, आप आगये, बहुत बढ़िया किया,

लेकिन अपने साथ थोड़ी-सी मिठाई भी लाते तो कितना मजा आता। इससे आनेका मजा फीका पड़ गया, मिठाई आती तब मजा बढ़ता। अरे बाबा, भागवत आगया, अब दूसरे फलको क्यों ढूंढते हो ? यह क्या किसीका साधन है ? यह तो साधन नहीं, है स्वयं फल और लोक-परलोक दोनोंमें हितकारी है। फल है इसलिए कि रसात्मक है और रसात्मक होनेसे फल है। फल ज्ञान है और रस भक्ति है, ऐसा वर्णन एक जगह गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है। यह कहो कि अविद्याका निवर्तक जो ज्ञान है वह फल है अथवा अविद्याकी निवृत्ति फल है, परन्तु जीवन्मुक्तिका जो विलक्षण सुख है, वह रसात्मक है। श्रीमद्भागवत तत्काल रसानुभूतिके लिए है। 'पिबत भागवतं रसमालयम्' का अर्थ है बेहोशीतक पीओ, मरनेतक पीओ, प्रलयतक पीओ; महा प्रलयतक पीओ। पीते जाओ। फिर-फिर जन्म लेकर पीते जाओ। इस रसके सामने मुक्तिमें कोई रस नहीं है। इसलिए रसिको ! पीओ, भावुको ! पीओ। यदि तुरन्त रस चाहते हो तो भी पी लो और परलोकमें रस चाहते हो तो भी पी लो। 'मुहुः मुहुः पिबत' बारम्बार पीओ।

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥

एक बार देवताओंके क्षेत्र नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने, परमात्माकी प्राप्तिके लिए सहस्र वर्षव्यापी अथवा सहस्र दिनव्यापी बड़ा भारी सत्र किया था। 'स्वर्गाय लोकाय'का अर्थ है परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए। स्वः स्वर्गे गीयते इति स्वर्गाः यः परमेश्वरः तस्य लोकाय। सत्र माने सत्सङ्ग। एक दिन ऋषियोंने हवनादि करके सूतजीका सत्कार किया और जब सूतजी आनन्दसे बैठ गये तब उन्होंने उनसे आदरपूर्वक प्रश्न किया। प्रश्नमें आदर अवश्य होना चाहिए, नहीं तो वक्ताका हृदय संकुचित हो जाता है। आदर शब्दका अर्थ क्या है ? संस्कृत भाषामें 'दर' माने डर होता है और 'आ' माने थोड़ा। जिसमें थोड़ा-सा डर भी लगे और गौरवका भाव भी हो, उसको आदर बोलते हैं। भारविने अपने काव्यग्रन्थमें लिखा है—'न विद्विषादरः' (किरातार्जुनीय १.३२)। मल्लिनाथने 'आदरः' और 'दरः' दोनों प्रकारका पदच्छेद करके इसकी व्याख्या की है।

ऋषियोंने जो सूतजीसे प्रश्न किया वही उनका बड़ा भारी आदर हो गया। इससे बढ़कर और कोई आदर नहीं हो सकता कि बड़े-बूढ़े महात्मा शंका-समाधानके लिए प्रश्न करें। इससे उनकी विनम्रता प्रकट होती है और वे जिससे प्रश्न करते हैं, उसके प्रति उनका आदर प्रकट होता है। यह आदर प्रकट करनेकी श्रेष्ठ पद्धति है।

तो, ऋषियोंने पूछा कि निष्पाप सूत, तुमने इतिहाससहित पुराणोंका अध्ययन किया है। इतिहास घटनाप्रधान और पुराण शिक्षाप्रधान होते हैं। एक ही घटना जब शिक्षा देनेके उद्देश्यसे वर्णित की जाती है तब उसका नाम पुराण हो जाता है और जब केवल उसके यथार्थ रूपके प्रदर्शनके

लिए ही उसका वर्णन किया जाता है, तब वह इतिहास हो जाता है। परीक्षित गर्भमें आये और उनकी रक्षा हो गयी, यह इतिहास है, पर भगवान्‌ने गर्भमें प्रवेश करके उनकी रचना की, इसका वर्णन पुराण हो गया। महाभारत इतिहासप्रधान ग्रन्थ है, इसलिए उसमें भगवान्‌के गर्भमें प्रवेश करके रक्षा करनेकी कथा नहीं है। उसमें तो ऐसा वर्णन है कि जब परीक्षित मृत बच्चेके रूपमें पैदा हुए तो सबलोग रोने लगे। फिर श्रीकृष्ण बुलाये गये और उन्होंने छाती ठोंककर कह दिया कि यदि कौरव-पाण्डव युद्धमें मेरे मनमें किसीके प्रति पक्षपात न रहा हो, रागद्वेष न रहा हो, सबके प्रति समता रही हो तो इस सत्यके बलपर यह बालक जीवित हो जाय। श्रीमद्भागवत भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसलिए उसमें भगवान् द्वारा पेटमें प्रविष्ट होकर परीक्षितकी रक्षा करनेका वर्णन है।

तो, ऋषिगण कहते हैं कि सूतजी, तुमने समस्त शास्त्रोंका अध्ययन किया है। जो व्यास जानते हैं, मुनि जानते हैं, सगुण-निर्गुणवादी जानते हैं, वह सब तुम जानते हो। सद्‌गुरुओंका स्वभाव है कि वे अपने स्नेही शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात बता देते हैं। इसलिए बताओ, तुमने सबकुछ पढ़कर मनुष्यके एकान्त श्रेयके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया है? असलमें हमारे जो आध्यात्मिक शास्त्र हैं, उनमें अर्थ और कामको पूर्वपक्ष तथा धर्म और मोक्षको उत्तरपक्ष बना दिया गया है। अध्यात्मका स्वभाव ही ऐसा है, परन्तु यह नहीं कि उसमें अर्थ और कामकी उपेक्षा हो। इन दोनोंके प्रतिपादक शास्त्र भी हैं, अर्थशास्त्र भी है, कामशास्त्र भी है। परन्तु आध्यात्मिक शास्त्रकी दृष्टिसे वे दोनों पूर्वपक्ष हैं। धर्मशास्त्र साधन है और मोक्षशास्त्र फलरूप है। इस कलियुगमें लोगोंकी आयु प्रायः अल्प है। उनके जीवनमें कोई शोभा, कोई सौन्दर्य नहीं है। उनका लक्ष्य है—'सुखमेव-लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति।'

वे अरस हैं, आलसी हैं। उनकी बुद्धि भी मन्द है, उन्हें आगेकी बात सूझती नहीं है। कर्मका परिणाम कैसे निकलता है, यह गणित उनको मालूम नहीं है। काम करने, बात बोलने और उनका फल प्राप्त करनेका एक गणित होता है। वह गणित जिसको मालूम है उसका जीवन सफल होता है। और, जिसको वह गणित नहीं मालूम, उसका जीवन संशयग्रस्त और असफल होता है। जहाँ बुद्धि भी मन्द हो, भाग्य भी मन्द हो और हृदयमें रागद्वेषका उपद्रव लगा हुआ हो वहाँ जीवनमें सफलता कैसे मिलेगी?

ऋषियोंने कहा—'सूतजी, शास्त्र बहुत-से हैं और उनमें नाना-प्रकारके कर्मोंका वर्णन है। उन सबको समझना और करना बड़ा कठिन है। इसलिए श्रद्धालुओंको उनका सार बताइये। आप जो कहेंगे, उसको हम सत्यरूपसे मानेंगे, अपनी जिद या वासनावासित विचारोंपर अड़े नहीं रहेंगे। श्रत् माने सत्य होता है। सत्को छिपानेके लिए नैरुक्तोंने उसको श्रत् कर दिया है। 'श्रदिति आस्ति-

कताया अभिधानम् ।' सूतजी, आप यह बताइये कि भगवान्ने क्या करनेके लिए वसुदेव-पत्नी देवकीके गर्भसे जन्म लिया। उनका अवतार तो लोगोंके कल्याण और अभ्युदयके लिए होता है। भगवान् इतने महान् हैं कि यदि मनुष्य विवश होकर भी उनका नाम ले ले तो संसारके भयसे छूट जाये। भय तो भगवान्से स्वयं ही भयभीत रहता है। भगवच्चरणाश्रित सन्त, महात्मा 'प्रशमायनाः' (१५) अर्थात् शान्तिके आश्रय होते हैं और वे तत्काल पवित्र कर देते हैं। पवित्रता गंगा जलसे भी होती है, परन्तु बहुत दिनोंके सेवनसे होती है क्योंकि गंगाजीसे पवित्रता हमें अपने आप लेनी पड़ती है। महात्माओंसे पवित्रता लेनी नहीं पड़ती, वे स्वयं अपनी ओरसे पवित्रता दे देते हैं। भगवान्का चरित्र सुननेमें भला किसकी रुचि नहीं होगी? क्योंकि उससे हृदयकी शुद्धि होती है, कलिमलका नाश होता है। भगवान्के चरित्र बड़े उदार हैं—'कर्माण्युदाराणि' (१७)। जो अपनी शक्ति और सामर्थ्यसे अधिक दे, उसको उदार बोलते हैं—'उद् ऊर्ध्वं शक्तेः आसमन्तात् रातीति उदारः।' भगवान्की लीला इसलिए उदार है कि वह लीलापतिका दान करती है। यही उसका अपने सामर्थ्यसे अधिकका दान है। जैसे नौकर मालिकका दान करे और कर्म कर्मके मालिकका दान करे, वैसे ही भगवान्का चरित्र भगवान्का दान करता है। आप भगवान्के चरित्रका अनुसन्धान करें तो वह भगवान्को लाकर आपके हृदयमें बैठा देगा। बड़े उदार हैं भगवान्के चरित्र।

अतः सूतजी, तुम भगवान्के अवतारका वर्णन करो। वे स्वच्छन्द अवतार ग्रहण करते हैं, उनके चरित्र-श्रवणसे कभी तृप्ति नहीं होती। जो लोग भगवान्का चरित्र श्रवण करते हैं, उनके लिए वह पद-पदमें स्वादु है। हमें स्वयं भगवान्के चरित्रसे तृप्ति नहीं मिलती—'वयं तु न वितृप्यामः।' (१९)। तृप्ति तब होती है जब पेट भर जाय। लेकिन इससे पेट कभी भरता ही नहीं है। यदि चीज खत्म हो जाय तो जबरदस्ती तृप्त होना पड़ेगा। किन्तु भगवान्की लीला कभी समाप्त होनेवाली है ही नहीं—'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।' इससे कान कभी भरते नहीं, इसका रस कभी जाता नहीं, यह विरस कभी होती नहीं। इसमें तो पदे-पदे नये-नये रसका आस्वादन होता रहता है। इसलिए सूतजी, बताओ कि भगवान्ने अवतार लेकर क्या-क्या काम किये? हमलोग कलिकालमें इस वैष्णवी क्षेत्रमें दीर्घसत्रके व्याजसे, बहानेसे बैठे हुए हैं—'आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः।' (२१)।

हम श्रीहरिकी कथाके लिए सक्षण हैं, सावकाश हैं। हमें ब्रह्माजीने बता रखा है कि सूतजी तुमको पुराण सुनावेंगे। इसलिए कृपा करके बताओ कि भगवान् श्रीकृष्णका लीला-संवरण हो जानेके बाद इस समय धर्म कहाँ रह रहा है?

: २ :

यह प्रश्न सुनकर रोमहर्षणनन्दन उग्रश्रवा बड़े प्रसन्न हुए। रोमहर्षणका अर्थ है रोयें खड़े करनेवाला। वे जब कथा करते तो श्रोताओंके रोयें खड़े हो जाते, सब रोमाञ्चित हो जाते। इसीलिए ऋषियोंने सोचा कि जब सूतजी प्रवचन करेंगे तो हम सब पुलकावलि-मण्डित हो जायेंगे। इसीसे यह नाम दिया।

अब प्रश्नकर्ता ऋषियोंके प्रश्नका अभिनन्दन करके सूतजी बोलनेको तत्पर हुए। अभिनन्दनका अभिप्राय क्या है? यदि कोई प्रश्नकर्ता प्रश्न करे और आप उसको डाँट दें कि हट मूर्ख, तुमको प्रश्न करना नहीं आता, तो यह उचित नहीं है। प्रश्न करनेवालेसे यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वह बहुत बड़ा विद्वान् हो, तब पूछे। सूतजीने ऋषियोंके प्रश्नका आदर किया, अभिनन्दन किया और कहा कि आपने बहुत सुन्दर प्रश्न किया। इसके बाद गुरुवन्दना करते हुए बोले—ऋषियो, मैं आपके मूल प्रश्नका उत्तर देनेके पहले भगवान्‌की लीलाका वर्णन करनेवाले श्रीशुकदेवजीका स्मरण करना चाहता हूँ—'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव'। (२)। श्रीशुकदेवजी महाराज जन्मसंन्यासी थे। भगवान्‌के दर्शनके लिए ही संसारमें प्रकट हुए थे। वे यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंके लिए गुरुके पास उपस्थित नहीं हुए क्योंकि जहाँ विकार होता है वहाँ संस्कारकी जरूरत होती है। परमात्माका स्वरूप तो अविकृत और असंस्कृत है। उसमें महापुरुष शुकदेवजी पहलेसे

ही प्रतिष्ठित हैं। जहाँ बाल उगते ही न हों वहाँ उस्तरा लगानेकी क्या जरूरत है? जहाँ पसीना आता ही न हो वहाँ साबुनसे धोनेकी क्या जरूरत है? शुकदेवजी तो अविकृत परमात्मा हैं। व्यास-सरीखा महात्मा ब्रह्मसूत्रका, गीताका कर्ता व्याकुल हो गया इनके लिए और बेटा-बेटा करके पीछे दौड़ा। उनको वृक्षोंने उत्तर दिया, क्योंकि वृक्षोंकी आत्मा भी भगवान् ही है और भगवान्का साक्षात्स्वरूप शुकदेव हैं। जो वृक्षोंमें प्रत्यक् चैतन्य है वही शुकदेवजीमें प्रत्यक् चैतन्य है। वृक्ष और मनुष्यमें शरीरकी उपाधिसे अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। इसलिए 'तरवः अभिनेदुः, उत्तरं ददुः' वृक्षोंने व्यासजीको उत्तर दिया—'अयं सर्वभूतहृदयः'—यह तो सबके दिलमें बैठा हुआ परमात्मा है—'सर्वभूतहृदि अयते इति।'

इसलिए ऋषियो, हम सर्वप्रथम उन मुनि शुकदेवजीको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने स्वानुभाव—अपना असाधारण प्रभाव—भागवतमें प्रकट कर दिया है। यह सम्पूर्ण श्रुतियोंका सार है और 'एकम् एति इति एकः' जो सबमें अनुगत हो। इसकी बराबरीका दूसरा कुछ नहीं है। जो भागवतमें है वही सब जगह है, जो भागवतमें नहीं है वह कहीं नहीं है। यह हमारे अन्तःकरणका दीपक है और घोर अन्धकारसे पार करनेवाला है। संसारियोंपर करुणा करके श्रीशुकदेवजी महाराजने इस गुह्य पुराणका उपदेश किया है। वे मुनियोंके गुरु हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं।

गुरुदेवकी वन्दना करनेके बाद ईश्वरकी वन्दना होती है। गुरु पहले, ईश्वर बादमें। यदि गुरु न हो तो न वेदकी अपौरुषेयता ज्ञात होगी, न धर्म ज्ञात होगा, न ईश्वर ज्ञात होगा और न आत्मा ज्ञात होगा। नित्य परोक्ष वस्तु और नित्य अपरोक्ष वस्तुका ज्ञान केवल वाक्यके द्वारा ही होता है। यह नियम वेदान्तशास्त्रका है और इसे आप अपने हृदयमें बैठा लें। स्वर्ग और स्वर्गका साधन वेदके बिना मालूम नहीं पड़ सकता। अपना जो नित्य अपरोक्ष आत्मा है वही ब्रह्म है—यह बिना वाक्यके ज्ञात नहीं हो सकता, चाहे हजार ध्यान कर लो। यह बताना ही पड़ेगा कि जो स्वयं तुम हो, वही परमात्मा है। आइये अब आगे बढ़ें—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ ४

पहले प्रतिपाद्य देवता नारायणका स्मरण कर लो फिर नरोत्तमका, माने कृष्ण और अर्जुन दोनोंका; क्योंकि 'नारायणं नरं चैव सत्यमेकं द्विधा स्थितम्' (महाभा०)—एक ही वस्तु दो रूपमें प्रकट हो रही है। वाणीकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और वक्ता व्यासजीको नमस्कार करके अन्तःकरणके दोष-दुर्गुणोंपर विजय प्राप्त करानेवाले इस जयका उदीरण करना चाहिए।

सूतजीने जो ऋषियोंसे कहा कि आपने बहुत बढ़िया प्रश्न किया सो इसलिए कि वह कृष्ण-

विषयक प्रश्न है। धनका, भोगका, रागका प्रश्न नहीं है, भगवत्प्रश्न है। इस प्रकारके प्रश्नसे ही आत्मा सम्प्रसन्न हो जाता है। सांसारिक प्रश्नोंसे रागद्वेष बढ़ता है और आत्मामें विषाद आता है, किन्तु भगवद्विषयक प्रश्न हृदयमें सम्प्रसाद लाता है। असलमें एक ही परम धर्म है—'स वै पुंसां परो धर्मः (६)। सामान्य धर्मका वर्णन मन्वादि स्मृतियोंमें है और परम धर्म भागवतमें वर्णित है। परमधर्म वह है जिससे अधोक्षज भगवान्‌में भक्ति होती है—'अधस्तात् अक्षस्य पुनर्जात इव इति अधोक्षजः'—जो छकड़ेके नीचे मानो फिरसे पैदा हुए, उनका नाम अधोक्षज। अधोक्षज माने श्रीकृष्ण। चारों ओर जड़ता छा गयी थी, जड़तामें चैतन्यका प्रकाश हो गया। उनकी ऐसी भक्ति हो जिसमें कोई हेतु न हो, निर्हेतुक हो। दूसरी बात यह है कि भक्ति अप्रतिहत हो, टूटे नहीं। इससे परमात्मा प्रसन्न होता है।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सम्प्रसीदति। ५

भगवद्विषयक प्रश्न करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और भक्तिसे भगवान्‌की प्रसन्नता होती है। ५.६ दोनों श्लोकोंमें जो 'सम्प्रसीदति' है इनका अर्थ जुदा-जुदा है।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च तदहैतुकम्। ७

भगवान् वासुदेवके प्रति भक्तियोगका प्रयोग ऐसा है जैसे पत्नी और पतिका मिलन हो। भक्ति है पत्नी, परमात्मा है पति और भक्तियोग है दोनोंका समागम। जब हमारी प्रीति परमात्माका समागम करती है, तब क्या होता है? भक्ति तो बाँझ नहीं और भगवान् नपुंसक नहीं। तो दोनोंके समागमसे बच्चा तो होगा ही होगा। क्या बच्चा होता है? दो होते हैं—एक ज्ञान दूसरा वैराग्य। इसमें परमात्माके अंशकी प्रधानतासे जो बच्चा होता है उसका नाम ज्ञान और भक्ति अंशकी प्रधानतासे जो बच्चा होता है, उसका नाम वैराग्य है। एकसे जब राग होता है तो दूसरेसे वैराग्य हो जाता है। दूसरेको छुड़ानेवाला वह वैराग्य है और परमात्माका आविर्भाव करानेवाला ज्ञान है।

अब परमात्मा और भक्ति दोनोंके संयोगसे जो पैदा होता है, वह क्या संसारकी तरह दस महीनोंके बाद होता है? नहीं, 'जनयत्याशु'—भक्ति माताके पेटमें बच्चोंको क्रमशः बढ़ना नहीं पड़ता, वे तुरन्त ही पैदा हो जाते हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८

धर्मका फल भगवत्कथामें प्रीति होना है। यदि भगवत्कथामें प्रीति नहीं हुई तो वह धर्म नहीं, श्रम है। धर्म और श्रमका भेद समझ लो। रुई साफ करना, लोहा साफ करना, मशीन बनाना, गहने गढ़ना इत्यादि ये सब श्रम हैं और अपने हृदयको भगवदाकार बनाना धर्म है। जिससे हृदयका

निर्माण हो वह धर्म और जिससे बाह्य वस्तुओंका निर्माण हो उसका नाम श्रम है। जो निर्माण बाहरी चमक-दमकके लिए होगा, वह श्रम तो होगा, परन्तु उससे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी। आप यह बात ध्यानमें रखो कि धर्म छुड़ानेके लिए है, बाँधनेके लिए नहीं।

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य (९)।' अपवर्गः अपवर्जनम्। सबका निषेध करके परमात्मामें अवस्थापित कर देनेके लिए धर्म होता है। अपगतो वर्गः यस्मात्—जिसमें ऊँच-नीचका भेद नहीं होता, वह अपवर्ग होता है। नास्ति पवर्गो यत्र—जिसमें पाप, पुण्य, फल, बन्ध, भोग, मोक्ष आदि पवर्ग न हों उसका नाम है अपवर्ग। धर्म उसी अपवर्गकी प्राप्तिके लिए है।

'अपवर्गावर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति'। अर्थप्राप्ति धर्मका फल नहीं है, अपवर्ग धर्मका फल है। अर्थका फल धर्म है, कामोपभोग नहीं। काम इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए नहीं जीवन निर्वाहके लिए है। जीवनका अर्थ बहुत काम-धन्धा करना नहीं है। दिन रात व्यस्त रहना जीवनका फल नहीं है। जीवनका फल कभी न बदलनेवाली असल वस्तुको, तत्त्वको, आत्माको, परमात्माको जान लेना है। तत्त्व वस्तु क्या है? तत् तत् तत् तानि, तेषां भावः तत्त्वम्। जैसे जीवतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, जगत्तत्त्व आदि। तत् और त्वम्—इन दोनोंको, इनकी असलियतको जान लेनेका नाम तत्त्व-ज्ञान है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ ११

अद्वय ज्ञानका नाम तत्त्व है। जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञेय अलग-अलग नहीं है, जड़ और चेतन अलग-अलग नहीं हैं, जीव और ईश्वर अलग-अलग नहीं हैं, प्रकाश्य और प्रकाशक अलग-अलग नहीं हैं। अद्वयज्ञानं भेदनिर्मुक्तम्। 'ब्रह्मेति, परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'—उपनिषदोंमें उसीको 'ब्रह्म' कहते हैं। उसीको 'हिरण्यगर्भ' 'परमात्मा', कहते हैं। पञ्चरात्रके उपासक उसीको 'भगवान्' कहते हैं।

अब यदि कहो कि वह मालूम कैसे पड़ता है तो पहली बात देखो। तच्छ्रद्दधाना मुनयः। इसमें साधनोंका वर्णन है। एकान्तवासित्व, श्रद्धालुत्व, विवेकित्व, वैराग्ययुक्तत्व, श्रवणशीलत्व और दृढ़ भक्तित्व, इन साधनोंके द्वारा अपने हृदयमें परमात्माका दर्शन होता है। जो एकान्तवासी हो, श्रद्धालु हो, श्रवण किये हुए हो, ज्ञान-वैराग्यसे युक्त हो, और जिसके हृदयमें इस प्रकारकी भक्ति आजाय। वह अपने आपमें अपने आपको ही देखता है। यह भक्ति यों ही नहीं आजाती। 'श्रुतगृहीतया' (१२) श्रवणसे आती है। संसारमें यदि किसी रूपवान् व्यक्तिसे—चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो - अथवा सुन्दर पेड़ पौधा हो, तो उसे आँखसे देखकर उससे प्रेम कर लेंगे। किन्तु यदि परमेश्वरसे प्रेम करना

हो तो जीभसे चाटकर, नाकसे सूँघकर, आँखसे देखकर प्रेम नहीं किया जा सकता। उसके प्रति तो सुनकर ही प्रेम हो सकता है। श्रवणके बिना भक्ति आ ही नहीं सकती। इन्द्रियगोचर पदार्थके प्रति दूसरे प्रकारसे भी भक्ति उत्पन्न हो सकती है, परन्तु अतीन्द्रियके सम्बन्धमें श्रवणके बिना भक्ति नहीं हो सकती। जो लोग श्रवणका निषेध करते हैं वे तो परमार्थ साधनकी जड़ ही काट देते हैं। सबका मूल श्रवणमें है, क्योंकि परमेश्वर इन्द्रियगोचर नहीं है।

वर्णाश्रम विभागसे स्वनुष्ठित धर्मकी संसिद्धि है भगवान्‌को प्रसन्न करना। संसिद्धिर्हरितोषणम् (१३)। इसलिए एकाग्र मनसे यदुवंश शिरोमणि सात्वतोंका पति भक्तोंके हृदयमें निवास करनेवाले अन्तर्यामी भगवान्‌का श्रवण, वर्णन, कीर्तन, ध्यान और पूजन हमेशा करना चाहिए। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए ये चार साधन मुख्य हैं। वक्ता मिले तो श्रवण करो, श्रोता मिले तो कीर्तन, वर्णन करो। दोनों न मिलें तो ध्यान करो। यदि ध्यानमें मन न लगे तो भगवान्‌के चित्र या मूर्तिको सामने रखकर उनकी पूजा करो। इन्हीं चार साधनोंके द्वारा भगवान्‌की आराधना होती है। इन चारोंके अनुध्यान रूपी असिसे ही विद्वान् लोग उस कर्म ग्रन्थिको काटते हैं, जिसके कारण जन्म-मरणकी प्राप्ति होती रहती है। 'छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् (१५)।' इस दुनियामें ऐसे ऐसे विद्वान् होते हैं जो ललकारते रहते हैं कि हमारे समान कोविद कौन है? 'को विद इति भावो यस्य स कोविदः।' ठीक है, आप सबसे बड़े विद्वान्-वेत्ता हैं, आपसे बड़े पण्डित कोई नहीं। परन्तु कृपया इस सिद्धान्तको भी ध्यानमें रखिये कि जबतक आप भगवत्कथासे प्रेम नहीं करेंगे तबतक कल्याण नहीं होगा।

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ १६

इसी श्लोकमें साधनोंका क्रम बताया गया है। श्री मधुसूदन सरस्वतीने अपने भक्तिरसायन ग्रन्थमें इसीको साधन भक्तिके क्रममें लिया है। पहले पुण्य तीर्थका सेवन करो। पुण्य तीर्थमें जानेसे महापुरुषकी सेवा मिलेगी। महापुरुषकी सेवासे श्रद्धा बढ़ेगी। श्रद्धा बढ़ेगी तो श्रवण करनेकी इच्छा होगी। श्रवणेच्छासे कथामें रुचि हो जायेगी। जब कथामें रुचि होगी तो भगवान् आकर हृदयमें बैठ जायेंगे और वहाँ जितनी मलिनता है उसको दूर कर देंगे। जब सारी मैल दूर हो जायेगी तब भक्तिमें निष्ठा आजायेगी। सर्वत्र काम, क्रोधकी निवृत्ति हो जायेगी और चित्त उनसे अनाविद्ध होकर निर्मल हो जायेगा। इस प्रकार मन भक्तिसे निर्मल होगा तब आसक्ति छूट जायेगी और आसक्ति छूट जानेपर भगवत्-तत्त्वका ज्ञान हो जायेगा। तब हृदयकी ग्रन्थि छिन्न भिन्न हो जायेगी—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ २१

यह तो हमारे सभी वैदिक सम्प्रदायोंको मान्य है कि तत्त्वज्ञानसे ही ग्रन्थि-भेद होता है—जिनका परमात्मा अद्वैत है उनको अद्वैत विज्ञानसे, जिनका परमात्मा विशिष्ट है, उनको विशिष्ट विज्ञानसे और जिनका परमात्मा द्वैत है, उनको द्वैत विज्ञानसे। किन्तु तत्त्वविज्ञानके बिना हृदय-ग्रन्थिका भेदन नहीं हो सकता—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।

एक बात और है। यह ग्रन्थि सच्ची है कि झूठी? बिल्कुल झूठी है। गाँठ तो है ही नहीं।

जदपि मृषा छूटत कठिनई।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

ग्रन्थि-भेदनके लिए प्रकाश चाहिए—चाहे ज्ञानका दीपक जला लो अथवा भक्ति-चिन्तामणिको प्राप्त कर लो। जब ज्ञान अथवा भक्तिके प्रकाशमें देखोगे तो यह अनुभव करोगे कि वह ग्रन्थि तो है ही नहीं, जिसके कारण तुम परेशान हो रहे थे। ग्रन्थि भक्ति-प्रकाशमें देखनेसे मिटती है तो उसे खोलना नहीं पड़ता, वह अपने आप ही खुल जाती है। इसीसे कहा गया है कि परमात्माका दर्शन होते ही हृदयग्रन्थिका भेदन, संशयका उच्छेदन और जन्म-मरणके हेतुभूत कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष हैं वे भगवान्‌की भक्ति प्रेमसे करते हैं।

एक ही भगवान् प्रकृतिके गुणोंसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश होते हैं। जो सत्त्वकी उपाधिसे परमात्माका भजन करते हैं, उन्हें सत्त्वमें ही परब्रह्म परमात्माका दर्शन होता है। तमस् और रजस् तो वैसे ही हैं जैसे किसी शीशेपर मैल लगी अथवा उसपर धूल पड़ी हो। फिर उसमें अपना मुँह कहाँसे दीखेगा। यदि वह शुद्ध हो तो उसमें दिखाई पड़ेगा। इसी प्रकार महात्मा लोग सत्त्वकी उपाधिसे परमात्माकी आराधना करते हैं। भूत, भैरवादि परमात्माके घोररूप हैं। मुमुक्षु लोग उनका भजन नहीं करते। वे तो शान्त नारायण-कलाका भजन करते हैं। जिसके भीतर जैसा मौलिक तत्त्व होता है, उसीके अनुसार उसका सम्बन्ध जुड़ता है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' देवताओंके चुनावमें भी अपने दिलके भीतर जो भाव भरा होता है वही काम करता है। कोई भूतकी पूजा करता है, कोई प्रेतकी पूजा करता है, उसको हम मना नहीं करते। भूतानि यान्ति भूतेज्याः—गीता (९.२५)। यदि भूतकी पूजा करोगे तो भूत मिलेगा और ईश्वरकी पूजा करोगे तो ईश्वर मिलेगा, यह बात पक्की है।

सारे वेद तात्पर्य रूपसे वासुदेवका प्रतिपादन करते हैं। वासुदेव ही उनका तात्पर्यगोचर है। सारे यज्ञ कार्यकारणका प्रतिपादन करके परमेश्वरकी ओर ही ले जाते हैं। सम्पूर्ण योगका अभिप्राय है 'हृद्देश-स्थित'—परमात्मामें पहुँचाना। सारे कर्मकाण्डका उद्देश्य प्रभुकी पूजा है। सारा ज्ञान

वासुदेव विषयक है। सारा तप परमात्माके लिए है। सारा धर्म, सारी गति परमात्माके लिए है। ईश्वरने यह सृष्टि बनायी है और वे इसमें प्रविष्ट होकर गुणवान्के समान मालूम पड़ते हैं। जैसे लकड़ी बड़ी हो, छोटी हो अथवा मोटी हो किन्तु एक ही आग उसमें तरह-तरहसे मालूम पड़ती है, वैसे ही इस विश्वसृष्टिमें एक ही परमात्मा नाम-रूपकी उपाधिसे सर्वरूपमें प्रकाशित होता है। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते जैसे चार्वाक आदि, उनके लिए तो अवतारकी प्राप्ति ही नहीं है। जैनमतमें भी अवतार नहीं होता। वहाँ तो जीव ही शुद्ध होकर वीतराग तीर्थंकर हो जाता है। बौद्धोंमें भी बुद्ध-शुद्ध होकर अपने स्वरूपमें बैठते हैं। मुसलमान, ईसाई और आर्यसमाजी ये तीनों ईश्वरको केवल निराकार मानते हैं। उनके मतमें भी ईश्वरका अवतार नहीं होता। परन्तु जो ईश्वरको सर्वात्मा मानते हैं, पीपल, मछली, गाय, पति, गुरु सबको भगवान् मानते हैं, जिनके मतमें परमेश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उनके लिए मूर्ति और ईश्वरकी पूजा सिद्ध होती है। यह निराकारियोंकी नहीं, सर्वात्मवादियोंकी, अद्वयात्मवादियोंकी वस्तु है और इसमें अवतार एवं मूर्ति पूजाकी सिद्धि होती है। निराकारवादी लोग अपने अपने पंथकी दृष्टिसे निषेध करते हैं। किन्तु सर्वात्म भावके सिद्धान्तोंमें तो पेड़, पौधे, मिट्टी, पत्थर, पानी आदि सबकी पूजा होती है। वहाँ पत्नीकी भी पूजा होती है, माताकी भी पूजा होती है, कुमारीकी भी पूजा होती है और आत्माकी भी पूजा होती है। क्योंकि इन सबमें भगवान्का अवतार होता है। भगवान् अनेक रूपोंमें हैं। कभी देवता, कभी पशु और कभी पक्षी। जिसको सूअर होनेमें संकोच नहीं, मछली होनेमें संकोच नहीं, शेर होनेमें संकोच नहीं, वह कितना निडर होगा। उसकी निर्भयता, उसका स्वातन्त्र्य तो देखो। वैसे परमात्माका एक स्वरूप निराकार भी है। उसको हम भी मानते हैं, उसका उपहास नहीं करते, परन्तु हमारा जो अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदिका सिद्धान्त है, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य ३.१४.१), 'ब्रह्मैवेदं वरिष्ठम्' मुण्डक की (२.२.११) दृष्टिसे है।

❀

: ३ :

अब आगे अवतारके पहले यह निरूपण करते हैं कि भगवान्‌के अवतार होते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें महत्तत्त्व होता है फिर अहंकार, पञ्चतन्मात्रोंकी सृष्टि होती है। इनके द्वारा भगवान् पुरुष-रूप ग्रहण करते हैं। विराट् भी भगवान्‌का एक अवतार है और जो क्षीरसागरमें शयन करता है, वह भी एक अवतार है। नारायण भी एक अवतार है और वह नित्य अवतार है। अवतारके कई भेद होते हैं—कोई पूर्ण होता है, कोई अंश होता है, कोई कुछ कला होता है, कोई आवेश होता है, कोई स्फूर्ति होती है, कोई गुणावतार होता है, कोई वेदावतार होता है और कोई अर्चावतार होता है।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोक सिसृक्षया। १
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। २

इन्हींमें सम्पूर्ण विश्व कल्पित है। जो पहचान जाते हैं वे देखते हैं कि हजारों सिर, हजारों पाँव, हजारों बाहु, हजारों कान, हजारों आँख, हजारों नाक—ये सब परमेश्वरके रूप हैं। इसीमें जो नारायण रूप है, पुरुष रूप है, वह भगवान्‌के अनेक अवतारोंका निधान है, सब अवतार इसीमें-से निकलते हैं। उन्हींके अंशांशसे, विराट्‌के अंशांशसे, देव-तिर्यक्-नरादि रूप होते हैं—'देव तिर्यङ्‌नरादयः'। (५)।

अब अवतारोंमें सबसे पहले सनत्कुमार अवतारका वर्णन है। ये ब्राह्मणके रूपमें अखण्डित ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। फिर उसके बाद 'यज्ञेशः सौकरं वपुः' (७) का वर्णन है जैसे आप रामावतार, कृष्णावतारमें प्रीतिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं, वैसे ही यदि वराहावतारका अनुचिन्तन करें तो पृथिवीके प्रति उनकी कितनी प्रीति है, इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। पर वराहावतार क्रिया-प्रधान है और दत्त, कपिल, व्यासादि अवतार, ज्ञानप्रधान हैं। अवतारोंके इन दो भेदोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उसके बाद देवर्षि नारदका अवतार है। उन्होंने ऐसे कर्मका उपदेश किया जिससे मनुष्य नैष्कर्म्यको प्राप्त कर लेता है। फिर नर-नारायण अवतार जो तपस्याके लिए हैं, उसके बाद कपिलावतार है, जो सांख्यका उपदेश करते हैं। उसके बाद अत्रि-अनसूयानन्दन दत्तावतारका वर्णन है। अत्रिका अर्थ है त्रिगुणातीत—जिसमें गुण न हों और अनसूया माने जो किसीमें दोष न देखे। भगवान् दत्त अवधूत वेषमें रहते हैं।

इसी प्रकार यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम और व्यासावतारका वर्णन करनेके बाद रामावतार, कृष्णावतारका वर्णन है। फिर बुद्धावतार और अन्तमें कल्कि अवतार है। इस प्रकार भगवान्के अवतार अनन्त हैं। जैसे अक्षय सरोवरमें-से बहुत-से झरने झरते हैं और नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही भगवान्के अवतारोंका आविर्भाव होता है। सभी अवतार शक्तिशाली हैं, इनके रूपमें स्वयं परमात्मा ही प्रकट होता है।

इन सब अवतारोंका वर्णन यहाँ किसलिए किया गया? गौडीय सम्प्रदायके महात्माओंका कहना है कि श्रीकृष्णावतारकी मुख्यताका प्रतिपादन करनेके लिए ही अन्य अवतारोंका वर्णन किया गया है।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। २८

यह लक्षण वचन नहीं, लक्ष्य वचन है। और सब अवतार अंश हैं, कला हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अंशी हैं, स्वयं भगवान् हैं, सकल हैं। अन्य सब अवतारोंके द्वारा वही रक्षा करते हैं। जो इन अवतारोंका अनुसन्धान करता है, वह दुःखसे छूट जाता है।

वस्तुतः परमात्मा अरूप है, चिदात्मा है, साक्षात् भगवान् है। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च उसीका रूप है और यह मायाके गुणों तथा महदादिके द्वारा उसी परमात्मामें विचरित हुआ है। जैसे आकाशमें बादल होते हैं, वायुमें पार्थिव रेणु होते हैं। इसी प्रकार दृग्मात्र द्रष्टा परमात्मामें दृश्यत्व अज्ञानियोंके द्वारा आरोपित है :—

एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः। ३१

इसके परे उसका कारण रूप है, जिससे संसारकी उत्पत्ति और स्थिति होती है।

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ ३३

ये कार्य और कारण दोनों रूप आत्मानुभूतिसे बाधित हैं। बाधका स्वरूप यही है कि ये अविद्यासे अपने आपमें कल्पित हुए हैं, वास्तविक नहीं हैं। जब मालूम पड़ जाता है कि यह स्वारसिक, स्वाभाविक नहीं, आविद्यक है तब अविद्याका निवर्तन हो जाता है। अपना स्वरूप तो साक्षात् ब्रह्म है। जब यह माया देवी प्रसन्न होकर वैशारदी मति बन जाती है—

'सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते'। (३४) तब तो जीवात्मा परमात्मासे एक ही हो जाता है।

महात्मा लोग अकर्ताके कर्मका, अजन्माके जन्मका वर्णन इसलिए करते हैं कि उसके जन्म और कर्मका वर्णन करनेसे जन्म-कर्मका बन्धन छूट जाता है। असलमें वही अपने हृदयका स्वामी है। वह सबका निर्माण करके भी किसीमें आसक्त नहीं होता। वह क्या करना चाहता है, इसको सब लोग नहीं समझते। जो निष्कपट होकर सन्तत अनुवृत्तिसे परमात्माके चरण-कमलकी गन्धको सूँघता है, वही उसको जानता है।

सूतजी कहते हैं कि आप लोग धन्य हैं जो परमात्मामें आत्मभाव करते हैं। उसमें एक बार पड़ गये तो इस संसार-सागरके भयंकर थपेड़ोंसे, जन्ममरणसे बिलकुल बच गये, मुक्त हो गये।

यह भागवत नामका महापुराण वेदके समान है। भगवान् वेदव्यासने लोककल्याणके लिए इसका निर्माण किया है। यह धन्य है, स्वस्त्ययन है। इसीको व्यासजी महाराजने 'आत्मवतां वरम् सुतम् ग्राहयामास' (४१) संयमियोंके शिरोमणि शुकदेवजी महाराजको ग्रहण कराया है। यह भागवत सम्पूर्ण वेद-इतिहासका सार-सार है।

सर्ववेदेतिहासानां सारं-सारं समुद्धृतम्। ४२

शुकदेवजी ने राजा परीक्षितको सुनाया जो गंगा किनारे बैठे हुए थे। वहीं मैंने भी इसका अध्ययन उनकी कृपासे किया है। इस कलियुगमें जिन लोगोंकी आँखें धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमें फूट गयी हैं—'कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽद्युनोदितः'। (४४)। उन अन्धोंको दृष्टि प्रदान करनेके लिए इस भागवतरूपी सूर्यका उदय हो रहा है। 'यथाधीतं' और 'यथामति'। (४५)। जैसा मैंने पढ़ा और जितना मेरी बुद्धिने समझा वह मैं आपको सुना रहा हूँ। सूतजीकी वाणीमें कितना विनय है! वह यह नहीं कहते कि उन्होंने जो कुछ कहा वह सब सुना रहा हूँ, अपितु यह कहते हैं कि सुनकर जितना मैंने ग्रहण किया, वह सुना रहा हूँ।

तो, यहाँतक तीन अध्याय हुए। प्रथम स्कन्धमें तीन प्रकरण होते हैं। एक तो सूत-शौनक संवाद, और दूसरा नारद-व्यास संवाद। इन दोनोंमें तीन-तीन अध्याय हैं। तीसरा शुक-परीक्षितका उपाख्यान् जो तेरह अध्यायका है। इस प्रकार कुल मिलाकर उन्नीस अध्यायोंमें यह प्रथम स्कन्ध पूरा होता है। जो लोग इसपर विचार करते हैं, उनको यह मालूम पड़ता है कि सब जगह एक ही वस्तु मिलती है।

स्कन्धेऽध्याये प्रकरणे श्लोके वाक्ये पदेऽक्षरे।
एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते ॥

सर्वत्र अविरोध है। पूरे स्कन्धका जो अर्थ है, वही अध्यायोंका अर्थ है। जो अध्यायोंका अर्थ है वही प्रकरणका अर्थ है। जो प्रकरणका अर्थ है वही श्लोकका अर्थ है। जो श्लोकका अर्थ है, वही वाक्यका अर्थ है। जो वाक्यका अर्थ है, वही पदका अर्थ है और जो पदका अर्थ है वही अक्षरका अर्थ है। इस तरह इसके एक-एक अक्षरमें परमात्मा है। आपलोग कभी यह मत समझना कि श्रीमद्भागवतमें कहीं असंगति है।

सूत-शौनक संवाद धर्म-प्रधान है। ब्रह्मच ब्राह्मण शौनकादि यज्ञ कर रहे हैं। यज्ञ धर्म है। पूर्वमीमांसकोंने यज्ञ-यागादिरूप कर्मविशेषको ही धर्म माना है। उसी यज्ञ-यागादिरूपमें सूतजी महाराज आगये और वे धर्माङ्ग-रूपसे श्रीमद्भागवतका श्रवण करा रहे हैं। वहाँ धर्म मुख्य है और भागवत गौण है। शौनकादि मुख्य धर्मका पालन करते हैं और उधर भागवत भी सुनते हैं। बादमें जब उनकी भक्तिमें निष्ठा होगी तो यज्ञ-यागादिका परित्याग करके भगवान्का भजन करेंगे। सूतजी महाराजकी तो यह वंश-परम्परागत जीविका ही है। वे जहाँ-जहाँ यज्ञ होता है, वहाँ-वहाँ पुराण सुनाते हैं। यहाँ श्रोता शौनकादिका वंश श्रेष्ठ है, ज्ञान भी श्रेष्ठ है और वक्ता सूतजीका वंश कनिष्ठ है तथा उनका ज्ञान भी अन्यत्र छान्दसात् अर्थात् वेदातिरिक्त होनेसे कनिष्ठ है और सुनाना जीविका है, इसलिए वक्ता कनिष्ठ है और श्रोता धर्माङ्गके रूपमें श्रवण कर रहे हैं। यहाँ धर्माधिकारके तीन अध्याय हैं।

इसके बाद नारदजी वक्ता हैं और व्यासजी श्रोता हैं। व्यासजी अवताररूप कारक पुरुष होनेके कारण अपनेको बहुत बड़ा मानते हैं और नारदजी महाराज वीणा बजाते हुए सृष्टिमें विचरण करते रहते हैं। कहीं भी एक जगह नहीं रहते। वे शुकदेवजीके समान न तो वैराग्यसे रहते हैं और न अवधूतीसे। व्यासजीके मनमें लोकहितकी चिन्ता है। जब नारदजीने स्वयं आकर व्यासजीको कहा कि तुम भगवान्के गुणानुवादका वर्णन करो और देखा कि व्यासजी कहनेपर भी गुणानुवादके गानमें प्रवृत्त नहीं हुए तो बोले—

समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् । ५.१३

व्यासजी तुम बड़े भारी महापुरुष हो। तुमने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। अब समाधि लगाओ और समाधिमें भगवान्‌की लीला देखो। यहाँ भी त्वं-पदार्थकी ही प्रधानता रही। जब उपदेश मात्रसे, श्रवण मात्रसे व्यासजीका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ तब नारदजीने बता दिया कि समाधि लगाओ।

पर शुकदेव जहाँ निर्गुण अधिकारी हैं, वहाँ परीक्षित निर्गुण श्रोता हैं। तेरह अध्यायोंमें इस कथाका वर्णन है कि शुकदेवजी कैसे हैं और राजा परीक्षित कैसे हैं? परीक्षितके पिता अभिमन्यु भगवान् श्रीकृष्णके भान्जे हैं और उनके दादा अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके दूसरे रूप हैं। सुभद्रा महामाया हैं। उनका श्रीकृष्णके सिवाय दूसरा कोई पति हो ही नहीं सकता। श्रीकृष्णने देखा कि सुभद्राका दूसरा कोई पति हो नहीं सकता और हमारी बहन कुमारी रह जायगी, तो अपने दूसरे रूपके साथ उसका विवाह करा दिया। परीक्षितकी परदादी भी भगवान्‌की भक्त हैं। दादी द्रौपदी भी भगवान्‌की भक्त हैं और माता उत्तरा भी भगवान्‌की भक्त हैं। मातृकुल तीन पीढ़ियोंसे उनका शुद्ध है। उधर पितृकुलमें पिता अभिमन्यु भी भक्त हैं और दादा अर्जुन भी भक्त हैं। स्वयं परीक्षित तो पवित्र हैं ही क्योंकि गर्भमें भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। उनका प्रभाव इतना कि उन्होंने कलियुगपर विजय प्राप्त कर लिया। उनकी पवित्रतामें किसी प्रकारकी कमी नहीं थी। उनको वैराग्यके किसी बाहरी हेतुकी आवश्यकता नहीं थी फिर भी वे श्रीमद्भागवतके श्रवणमें लग गये, मृत्युको सम्मुख देखकर और उसकी परवाह छोड़कर। अतः राजा परीक्षित और शुकदेवजीका जो अधिकार है, वह सर्वोपरि है और उनके अधिकारकी श्रेष्ठताका वर्णन करनेके कारण ही प्रथम स्कन्धको अधिकार-स्कन्ध बोलते हैं। इस स्कन्धमें अन्य अधिकारी महापुरुषोंका भी निरूपण है जैसे श्रेष्ठ धर्माधिकारी सूत-शौनक और श्रेष्ठ उपासनाधिकारी व्यास-नारद। पहले धर्माधिकारीका निरूपण करके फिर मध्यमाधिकारीका निरूपण किया गया है। वल्लभाचार्यजी महाराजने भी इस विषयका निरूपण किया है। किन्तु उन्होंने अपने मनसे नहीं किया है, यह उनकी स्वच्छन्द उद्भावना नहीं है। बोपदेवका जो हरिलीलामृत है, मुक्ताफल है, कामधेनु है, वहींसे वल्लभाचार्यजीने लिया है। स्वयं बोपदेवने भी प्राचीन परम्परासे ही लिया है। यह कोई कपोलकल्पना नहीं है।

☬

: ४ :

अब शौनकने प्रश्न किया कि आप हमें वही कथा सुनाइये, जो शुकदेवजीने सुनायी थी। शुद्धं कायति, शुक्लं कायति, कायति गायति। कै और गै दोनों धातुओंका अर्थ गाना है। आंध्रोंमें गायतिका उच्चारण कायति करते हैं। शुकदेवजीने जैसा गुरुमुखसे सुना है वैसा ही गान करते हैं। इसीलिए तो इनको शुक कहा गया। तोता जैसा सुनता है, वैसा ही बोलता है। अपनी ओरसे कुछ नहीं जोड़ता। शुकदेवजी अवधूत हैं, वृक्षोंके मध्य नग्न रहते हैं। श्रीकृष्णके रंगमें रँगे हुए हैं और नित्य-निकुञ्जकी अन्तरङ्ग लीलामें भी शुकरूपसे उनका प्रवेश है। इसलिए भी इनको शुक बोलते हैं।

तो शौनकजीने पूछा कि सूतजी! व्यासजीने किस समय, किस स्थानमें, किस कारणसे इस भागवत महापुराणकी रचना की। उनके पुत्र शुकदेवजी समदर्शी, निर्विकल्प; एकान्तमति थे। उनको कभी मायानिद्रा नहीं आती, वे उन्निद्र थे। ऐसे छिपे रहते थे कि लोग उनको मूर्ख समझें।

शुकदेवजीकी ऐसी महिमा है कि एक बार जब वे प्रव्रज्या ग्रहण करके जा रहे थे और व्यासजी पीछे-पीछे जा रहे थे, तब वे तो थे नंगे और व्यासजी थे कपड़े पहने हुए। मार्गमें स्त्रियाँ स्नान कर रही थीं। उनके सामने शुकदेवजी नंगे निकल गये परन्तु स्त्रियोंको संकोच नहीं हुआ।

परन्तु जब वयोवृद्ध अनुभवी महात्मा व्यासजी महाराज निकले तब तुरन्त स्त्रियोंने वस्त्र धारण कर लिये। यह देखकर व्यासजीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने स्त्रियोंसे पूछा—तुम लोगोंने मेरे जवान बेटेसे तो संकोच नहीं किया, फिर मुझसे क्यों संकोच किया? इसपर उन देवियोंने बताया—

तवास्ति स्त्री पुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः। ५

महाराज, आपका जो बेटा है, वह तो विविक्तदृष्टि है। उसने प्रकृति-पुरुष तथा आत्मा-अनात्माका विवेक करके परम तत्त्व जान लिया है। वह अद्वैतदर्शी है, किन्तु आपमें अभी स्त्री-पुरुषका भेद बना हुआ है। आपके भीतर लोकदृष्टि वर्तमान है। इसलिए हमें लोकदृष्टिके सामने संकोच करना चाहिए।

तो ऐसे महात्मा शुकदेवजीको लोगोंने कैसे पहचाना क्योंकि वे तो उन्मुक्त, मूक और जड़वत् रहते हैं। वे हस्तिनापुर कैसे पहुँच गये और परीक्षितसे उनका संवाद कैसे हुआ? वे तो वनोंमें विचरण करनेवाले हैं। ग्रामीणोंके घर तो जाकर चुपचाप खड़े होते हैं। गृहस्थके यहाँ तो वे इतनी ही देरतक ठहरते हैं जितनी देर गाय दुहनेमें लगती है। बस, उतनी देरतक गृहस्थके घरको पवित्र करनेके लिए शुकदेवजी रहते हैं।

उधर अभिमन्युपुत्र परीक्षित परम भागवत हैं। उनके जन्म और कर्म महान् आश्चर्यमय हैं। उन्होंने क्यों अपने साम्राज्य और लक्ष्मीका परित्याग करके गंगा किनारे आमरण अनशन किया। बड़े-बड़े राजा अपना धन ला-लाकर उनके चरणोंमें रखते हैं और उनको नमस्कार करते हैं। वे जवानीमें इतने बड़े ऐश्वर्यका परित्याग क्यों करना चाहते हैं? महात्माओंका जीवन उनका अपना जीवन तो होता नहीं है। महात्मा लोग अपने जीवनके स्वामी नहीं होते क्योंकि वे 'जीवन्ति नात्मार्थम्' (१२) अपने लिए नहीं जीते दूसरोंके लिए जीते हैं। तब अपना शरीर छोड़ भी कैसे सकते हैं? इसलिए परीक्षितजीने अन्योंके आश्रयभूत अपने शरीरका क्यों परित्याग किया? सूतजी, आप यह सब हमें सुनाओ क्योंकि आप छान्दस् वचनको छोड़कर सब शास्त्रोंमें निष्णात हो।

सूतजी महाराज कहते हैं कि जब चतुर्युगका तीसरा युग द्वापर समाप्त होने लगा तब पराशर ऋषिसे उनकी पत्नीके गर्भसे भगवान्की कला व्यासरूपमें अवतीर्ण हुई। एक दिन वे सरस्वती नदीके तटपर बैठे थे। 'पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यान्ति सस्रोतसः'। इन्द्रियोंकी पाँच ज्ञानधाराएँ हैं। श्रोत्रधारा, त्वग्धारा, चक्षुधारा, घ्राणधारा, और रसनाधारा। ये पाँचों बाहरसे ज्ञान ले-लेकर भीतर अपनी जलराशिमें जाती हैं और अन्तःसलिला सरस्वतीमें मिल जाती हैं। सरस्वती तटपर व्यासजी बैठे थे। एकान्तमें पवित्र जलका स्पर्श किया। सूर्योदयका समय था। उन्होंने देखा कि धर्मका

नाश हो रहा है। असलमें धर्म युग-युगमें बदलता है और उसका ह्रास-विकास होता है। किसी भी वस्तुके रहते उसके धर्मका नाश नहीं हो सकता। अग्निके अग्नित्वका, पृथिवीके पृथिवीत्वका नाश नहीं हो सकता। अग्नित्व और पृथिवीत्वके नाश हो जानेपर अग्नि कहाँ रहेगा, पृथिवी कहाँ रहेगी? इसलिए मनुष्य भी मनुष्य-धर्मका सम्पूर्ण नाश हो जानेपर जिन्दा नहीं रह सकता। इसलिए धर्मका ह्रास भले हो जाय, उसके बीजका नाश कभी नहीं होता। इसीसे धर्मको सनातन कहकर उसका अभिप्राय प्रकट करते हैं।

तो व्यासजीने देखा कि युगका प्रभाव सामने आ गया है और भौतिक वस्तुओंमें शक्तिका ह्रास होने लगा है। यह अवस्था आज भी है। पहलेके वृक्ष पचास बरस, सौ बरस, पाँच-पाँच सौ बरस तक फल देते थे। लेकिन अब पन्द्रह बीस बरसमें समाप्त हो जाते हैं। चाहे उनकी कितनी भी सेवा करो, कितनी भी खाद दो। वे बड़े-बड़े फल तो दे देते हैं लेकिन थोड़े दिनके बाद नष्ट हो जाते हैं। पहलेके गेहूँ और गन्नेकी जो परम्परा चलती थी, वह अब नहीं रही। इसी प्रकार मनुष्य शक्तिहीन हो गये, उनमें श्रद्धा करनेकी भी सामर्थ्य नहीं रही। कई लोग कहते हैं कि श्रद्धा तो निर्बल पुरुष करते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं। जिसमें आत्मबल होता है वही श्रद्धावान् होता है। दूसरेपर विश्वास करके उसपर टिक जाना, अडिग हो जाना—यह क्या कोई कम आत्मबलकी बात है? श्रद्धा तो आत्मबलका लक्षण है।

तो व्यासजीने देखा कि इस परिस्थितिमें सबकी भलाई कैसे हो। इसके लिए उन्होंने वैदिक कर्मकाण्डका प्रचार किया। लोगोंको वेद याद नहीं रहता था। उनकी सुविधाके लिए उन्होंने उसके विभाग कर दिये और इतिहास-पुराणकी रचना कर डाली। भिन्न-भिन्न शिष्योंको वेदोंका अध्यापन कर दिया और इतिहास-पुराण सूतके पिता रोमहर्षणको पढ़ाया। इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्योंकी परम्परामें वेदकी बहुत सारी शाखाएँ बन गयीं और लोग उनका अध्ययन करने लगे। अब व्यासजीने देखा कि 'स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' (२५) लोग वेदोंका, उनके उदात्त-अनुदात्त स्वरोंका उनकी आनुपूर्वीका अध्ययन तो गुरु-परम्परासे कर रहे हैं, किन्तु जो वेद नहीं पढ़ सकते उनका कल्याण कैसे हो? इसके लिए व्यासजीने महाभारतका निर्माण किया। 'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्'। (२५)। फिर भी उनके हृदयको सन्तोष न हुआ। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अब क्या करें? मैंने तो वेद, अग्नि, गुरु, सबकी सेवा की, उनकी आज्ञाका पालन किया और महाभारतके द्वारा वेदार्थका दर्शन कराया, जिससे अविद्वान् लोग भी अपने धर्मको समझ सकते हैं। किन्तु फिर भी मेरे मनमें असन्तोष है।

मनुजीने कहा है कि जबतक आत्मतुष्टि न हो, आत्मग्लानि बनी रहे, तबतक समझना हमारे

कर्ममें कोई त्रुटि है। हमें अपने कर्मसे आत्मतुष्टि होनी चाहिए और जिस कर्मसे आत्मग्लानि हो वैसा कर्म कभी नहीं करना चाहिए।

अब व्यासजीकी समझमें आया कि यह असन्तोष मेरे मनमें इसलिए है कि मैंने अभीतक भागवत-धर्मका निरूपण नहीं किया। मैंने त्वं-पदार्थप्रधान धर्मका तो निरूपण किया, किन्तु तत्पदार्थप्रधान धर्मका निरूपण नहीं किया। धर्म और परम धर्ममें क्या अन्तर है—इसको समझना चाहिए। धर्म स्वयंकृत और स्वयंसिद्धके लिए होता है। परम धर्म भगवत्कृपासे, भगवद्-गुणानुवादसे भगवत्-श्रवणसे प्राप्त होकर भगवत्-सन्तोषका हेतु होता है। मन्वादि-प्रोक्त धर्म त्वं-पदार्थप्रधान है और भागवत आदि प्रोक्त धर्म तत्पदार्थप्रधान हैं। त्वं-पदार्थ कर्ता और तत्पदार्थ अर्थात् प्रमेय प्रभु, इन दोनोंके ऐक्यका बोधक औपनिषद धर्म होता है।

तो व्यासजी इस चिन्तामें निमग्न थे कि मैंने भगवान्की लीलाका चिन्तन नहीं किया। उसी समय देवर्षि नारद उनके सामने प्रकट हो गये।

कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम्। ३२

शिष्यको गुरुजीके पास नहीं जाना पड़ा, स्वयं गुरु शिष्यके पास आगया। जब अधिकारी पुरुषको आवश्यकता होती है तब अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाला भगवत्-संकल्प स्वयं मूर्तिमान् होकर उसके समक्ष आजाता है। नारदजीको सामने देखकर व्यासजी उठकर खड़े हुए और उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की।

पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम्। ३३

विधिवत् पूजाका अर्थ केवल चन्दन लगाना और माला पहनाना नहीं होता। विधिवत् पूजा वह है, जो सामर्थ्यानुसार की जाये। वह षोडशोपचार हो। अष्टादशोपचार हो, राजोपचार हो अथवा महाराजोपचार हो। जैसा देश, काल और आतिथेय होता है, उसीके अनुसार विधिवत् पूजा होती है।

: ५ :

जब नारदजी पूजित होकर शान्तिसे बैठ गये और थोड़ा विश्राम कर लिया, तब उन्होंने व्यासजीसे पूछा कि महाराज, आपको आत्मतुष्टि तो है न ! आपने तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, महाभारत जैसे महान् ग्रन्थकी रचना कर ली है। फिर भी आपको असन्तोष क्यों है ?

व्यासजीने कहा देवर्षि नारदजी ! जो कुछ आप कहते हैं, वह सब ठीक है। परन्तु फिर भी मेरी आत्मामें सन्तोष नहीं है। इस असन्तोषका हेतु क्या है ? आपने परमेश्वरकी उपासना की है और त्रिलोकीमें असंग भावसे विचरण करते हैं। आप सबके आत्मा हैं, आप सगुण, निर्गुण दोनोंको जानते हैं। 'मे न्यूनमलं विचक्ष्व' (७) मुझमें कमी क्या है यह आप कृपाकरके बतलाइये।

नारदजीने कहा कि व्यासजी, आपने भगवद्-यशका वर्णन नहीं किया। भगवद्-गुणानुवादके बिना दो ही बात हो सकती हैं—या तो संसारका गुणानुवाद करे या अपना गुणानुवाद करे, क्योंकि गुणानुवाद करना मनुष्यका स्वभाव है। यदि संसारका गुणानुवाद करेगा तो रागद्वेष होगा और अपना करेगा तो अस्मिता बढ़ेगी। किन्तु यदि भगवान्का गुणानुवाद करेगा तो संसारमें रागद्वेष नहीं होंगे और अपनी अस्मिता भी नहीं बढ़ेगी। सीधी बात है, इस बातको सब समझ सकते है, यहाँ तक कि बालक भी समझ सकते हैं। दुनियाका गुण-दोष-वर्णन राग-द्वेषकी सृष्टि करता है, स्वयंका गुण-दोष वर्णन अस्मिता बढ़ाता है और परमेश्वरके गुणानुवाद वर्णन द्वारा सांसारिक राग-द्वेष तथा अस्मिताकी ओरसे दृष्टि हटकर परमेश्वरमें डूब जाती है। अत: अन्त:करणकी शुद्धिके लिए भगवद्-गुणानुवादके अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है। इसके बिना आत्मतुष्टि नहीं हो सकती। जहाँ आत्मतुष्टि नहीं, वहाँ धर्म नहीं।

व्यासजी ! तुमने केवल धर्मका वर्णन तो किया किन्तु भगवान्की महिमाका वर्णन नहीं किया। कोई कविता भले ही बहुत बढ़िया हो, चित्र-काव्य हो, विचित्र पदोंका विन्यास हो, परन्तु यदि उसमें भगवान्के यशका वर्णन नहीं है तो वह वैसा ही है, जैसा वायसतीर्थ होता है। 'तद्वायसं

तीर्थमुशन्ति'। (१०)। वहाँ तो केवल कौए आते हैं। मानस-सरोवरके वासी हंस नहीं आते। किन्तु रचना अच्छी न हो, व्याकरणसे अशुद्ध हो, छन्दोभंग भी हो, परन्तु यदि उसमें भगवान्‌के गुणानुवादका, भगवन्नामका, भगवद्-यशका वर्णन हो तो साधु लोग उसका व्याकरण नहीं देखते, उसकी कविता नहीं देखते, उसका पदार्थ देखते हैं। जो पद देखे वह स्थूलदर्शी और जो पदार्थ देखे वह सूक्ष्मदर्शी। महात्मा पदार्थप्रेमी होते हैं, पदप्रेमी नहीं होते। पदप्रेम अपरा विद्याके अन्तर्गत है और अर्थप्रेम पराविद्याके अन्तर्गत है। इसलिए वेदके दो विभाग हैं—एक शब्दराशि और दूसरा अर्थराशि। अर्थराशि वह है—जिससे अक्षरका ज्ञान होता है। 'यथा तदक्षरं अधिगम्यते'। (मुण्डक उप० १.१.५) उपनिषदोंमें ऋग्वेद आदिको अपरा विद्या कहा गया है और अक्षर तत्त्वके ज्ञानको परा विद्या। पराविद्या अनुष्ठाननिरपेक्ष होती है।

व्यासजी, तुम्हारा बन्धन तो छूट चुका है। 'अखिल बन्ध-मुक्तये' (१३) अब दूसरे का बन्धन छुड़ानेके लिए समाधिसे भगवान्‌का अनुस्मरण करो। यदि तुम उसके सिवाय किसी दूसरेका वर्णन करोगे तो नाम रूपके चक्करमें पड़ जाओगे। संसारमें नाम, रूप अनेक होते हैं। उसमें कहीं तुम्हारी मति टिकेगी नहीं। जैसे समुद्रमें नाव भटक जाती है वैसी ही गति तुम्हारे मनकी हो जायगी। एक दो टूक बात और सुन लो। महात्मा लोग संकोचसे नहीं बोलते। उन्हें जब किसीसे कुछ लेना-देना हो तब संकोच करें।

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥ १५

तुमने लोगोंका मन खींचनेके लिए क्या किया ? धर्मकी रक्षाके लिए ही तुमने कहीं-कहीं अधर्मकी अनुमति दे दी है। कहीं-कहीं तुमने यज्ञ-यागादिमें हिंसाकी अनुमति दे दी है, जिससे लोग मांसभक्षण और सुरापान आदिमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

'न मन्यते तस्य निवारणं जनः'

तुमने जो मना किया उसको तो लोग मानते नहीं, किन्तु जहाँ कहीं लोगोंका मन खींचनेके लिए हिंसा आदिकी अनुमति दे दी है, उसीको लोग पकड़ लेते हैं। यदि हम भरी सभामें कहें, आज बड़ा पुण्य पर्व है, पाँच-पाँच रुपयेका दान करनेसे बड़ा भारी फल मिलेगा तो उसको कोई मानेगा ? कोई नहीं मानेगा। किन्तु यह कह दें कि आज दान मत करना, दान करनेसे नरकमें जाना पड़ेगा तो इस कथनको तुरन्त मान जायेंगे और कोई किसीको दान नहीं देगा। हमारी यह बात सर्वसाधारणके लोभके, कार्पण्यके अनुरूप है। इसलिए लोगोंको तत्काल मान्य हो जायगी, किन्तु हमारी पहली बात लोगोंके कार्पण्य और लोभके विपरीत होनेके कारण सबको मान्य नहीं होगी। मनुष्यको उसकी वासनाके अनुरूप कुछ करनेकी छुट्टी दे दी जाय तब तो वह उसको मान

लेता है और उसकी वासनाके विपरीत अगर कुछ करनेको कहा जाय तो उसको नहीं मानता। इसलिए व्यासजी, तुम्हारा यह सोचना कि तुम मछली फँसानेकी क्रियाकी तरह लोगोंको उनकी वासना पूरी करके अपनी ओर खींचोगे, पूरा नहीं हुआ और लोगोंने तुम्हारी बात नहीं मानी। इस संसारमें तो निवृत्ति ही सुख है। अनात्मज्ञकी ही सत्त्व, रज, तम आदिमें प्रवृत्ति होती है। इसलिए तुम भगवान्‌की लीलाका वर्णन करो। देखो, यदि कोई अपना धर्म छोड़कर भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन करे और मान लो कि उसके भजनका परिपाक न हो, वह पतित ही हो जाय तो क्या उसका कोई अकल्याण होगा? नहीं, उसका वह भजन उसको उठा लेगा। लेकिन जो लोग भगवान्‌का भजन नहीं करते और केवल धर्ममें ही लगे रहते हैं उनको कौन सी वस्तु मिलेगी? मनुष्यको उस वस्तुके लिए प्रयत्न करना चाहिए जो कर्म फलके चक्करमें ऊपर नीचे भटकनेसे प्राप्त नहीं होती।

इस संसारमें पैसेकी कमी नहीं होती, भोजनकी भी कमी नहीं होती। यह मनका दैन्य है, जो वह यह समझता है कि हमको यह नहीं मिलेगा।

न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः। १८

जहाँ तक सुख प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका प्रश्न है, यदि इसका निषेध किया जाय तो यह साधारण संसारी लोगोंकी समझमें आनेवाली बात नहीं है। लेकिन देखो यह तर्कसंगत कितनी है? सुख तो अपने-आप वैसे ही मिलता है, जैसे दुःख मिलता है। आप दुःख चाहते हैं? नहीं चाहते। दुःखके लिए कोशिश करते हैं? नहीं करते। अच्छा दुःख मिटानेके लिए तो कोशिश करते हैं? हाँ, यह करते हैं। लेकिन फिर भी दुःख आता है, तो कौन भेजता है? जो दुःख भेजनेमें इतना सावधान है कि न चाहने पर भी, उसको मिटानेका प्रयत्न करनेपर भी बलात् हमारे कर्मोंके फलस्वरूप दुःख भेज देता है। वह क्या सुख भेजनेके समय भूल कर जायेगा। असलमें हम पिष्टपेषण करते हैं पीसे हुएको पीसते हैं, चबाये हुएको चबाते हैं, स्वयं मिलनेवाले पदार्थके बारेमें हाथ-पाँव हिलाकर कहते फिरते हैं कि हमने यह पैदा कर लिया है। और पैदा-वैदा कुछ नहीं करते, हम तो पागलोंकी तरह बहती हुई गंगाके किनारे खड़े होकर कहते हैं कि इस गंगाको हम प्रवाहित कर रहे हैं जब कि वह स्वयं प्रवाहित हो रही है। इसी तरह सुख-दुःखधारा, कर्मधारा, प्रकृतिधारा, प्रारब्धधारा, भागवतधारा अपने आप सहज रूपसे प्रवाहित हो रही है, उसमें कर्मसे निवारण करने योग्य कुछ भी नहीं है। महात्मा लोग इस बातको अच्छी तरह समझते हैं—'तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखम्'। (१८)।

तो जैसे दुःख अन्यसे प्राप्त होता है वैसे ही सुख भी अन्यसे प्राप्त होता है। कालकी गति बड़ी गम्भीर है। उसकी धारामें अभी अगले क्षण क्या होनेवाला है, इसका पता किसीको नहीं चलता है। कालके गर्भमें क्या छिपा हुआ है, उसका सम्पूर्ण रहस्य इस सृष्टिमें ईश्वरके सिवाय कोई

नहीं जानता। जो भगवान्का भजन करता है वह औरोंके समान संसारमें नहीं आता। उसको तो भगवान्के चरणारविन्दका उपगूहन, आलिंगन करनेमें इतना आनन्द आता है कि वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसको उसका चसका लग जाता है—'रसग्रहो यतः' (१९)। भगवान् ही विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। मत करो इसमें रागद्वेष :—

'घूँघट के पट खोल रे तोहें पीउ मिलेंगे।
घट घट में है साँई रमता, कटुक वचन मत बोल रे।'

नारद जी कहते हैं कि तुम तो यह सब बातें जानते ही हो ? मैंने तो केवल इशारेके तौर पर कह दिया है 'प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् (२०)। अब तुम समझ जाओ। अरे बाबा ! तपस्या अध्ययन, यज्ञ, सुभाषित, ज्ञान, दान, इनका अविच्युत अर्थ यही है कि उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवादका वर्णन किया जाये। भगवान्का गुण भगवान्के साथ बाँधनेकी रस्सी है। गुण शब्दका अर्थ संस्कृतमें रज्जु होता है। भगवान्का जो सौशील्य है, सौन्दर्य है, माधुर्य है, औदार्य है, वात्सल्य है, यही सब उनके सद्गुण हैं। इनका अनुचिन्तन करते ही हमारा हृदय भगवान्के साथ बँध जाता है।

नारदजी आगे बताते हैं कि मेरी ही बातका दृष्टान्त ले लो। अपने पहले किसी जन्म में—अहं पुरातीतभवेऽभवम् (२३)। मैं वेदवादी ब्रह्मणोंकी किसी दासीका बेटा था। वह दासी स्वयं ब्राह्मणी नहीं थी। मेरी बाल्यावस्थामें जब महात्मा लोग चातुर्मास्य करनेके लिए उस ब्राह्मण वस्तीमें आये, तब ब्राह्मणोंने मुझे उन महात्माओंकी सेवामें लगा दिया। मैं अपने बाल्यस्वभावकी चंचलता छोड़कर, इन्द्रियोंको वशमें करके उनके पीछे-पीछे चलता और दर्शन करता। महात्मा लोग मेरे ऊपर प्रसन्न हो गये क्योंकि मैं केवल उनकी सेवामें लगा रहता था और बोलता बहुत कम था।

देखो, सेवा करनेवालोंको ज्यादा बोलना नहीं चाहिए। जब सेवक जबान लड़ाने लगे, घरमें साँप समा जाय, स्त्री कुलटा हो जाय और मित्र विश्वास न करे तो समझना कि बस अब मृत्यु आनेवाली ही है। नारदजी सेवा तो करते थे परन्तु अल्पभाषी थे और महात्मालोग समदर्शी थे। नारदजी कहते हैं कि उन महात्माओंकी सेवासे मेरा चित्त शुद्ध हो गया और मनमें आया कि यह महात्मा लोग जैसे रहते हैं वैसे ही मैं भी रहूँ। वे लोग रोज मनोहारिणी भगवत्कथाका गान करते। मैंने श्रद्धाके साथ श्रवश किया, भगवान्में प्रीति हो गयी। जब भगवान्में प्रीति उत्पन्न हो गयी तब यह प्रतीत होने लगा कि जो दुनिया दिख रही है, यह तो मनसे ही दीखती है।

देखो, इस दुनियामें कोई माईका लाल ऐसा पैदा नहीं हुआ जो यह कह दे कि हमारा मन एकाग्र था और संसार भी दीख रहा था। समाधि में तो दुनिया दिखती नहीं, मनकी एकाग्रतामें भी दुनियाँ नहीं दिखती। इसका अर्थ यह हुआ कि यह जो दुनियाँ दीखती है वह मनका विक्षेप है। 'यत्र यत्र मनोविक्षेपः तत्र तत्र प्रपञ्चः'—जहाँ जहाँ मनोविक्षेप है, वहीं वहीं प्रपञ्च है 'यत्र विक्षेपो नास्ति तत्र प्रपञ्चोऽपि नास्ति' जहाँ मनोविक्षेप नहीं, वहाँ प्रपञ्च भी नहीं।

अस्खलिता मतिर्मम ।

ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे । २७

तो अब नारदजीको परमात्मस्वरूपमें ब्रह्मस्वरूपमें ही यह स्थूल, सूक्ष्म, कार्य-कारण सब-का-सब दीखने लगा। इसप्रकार चार महीनोंतक नारदजीको महात्माओंका जो सत्संग मिला, भगवद्गुणानुवाद हुआ, संकीर्तन हुआ, उससे उनके हृदयमें भक्ति उत्पन्न हो गयी और भक्तिके प्रभावसे रजोगुण-तमोगुणका निवारण हो गया, सारे पाप-ताप नष्ट हो गये—अनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः (२९) ।

नारदजी कहते है कि मैं उन महात्माओंका अनुरागी विनम्र, शरणागत और श्रद्धालु हो गया। वे दीनवत्सल महात्मा जाते समय मुझे गुह्यतम ज्ञानका उपदेश कर गये और मैं मायाका प्रभाव समझ गया।

यहाँ दीनवत्सलका अर्थ देखो—गाय वत्सला होती है। वह अपने बछड़ेको पीब लगे रहनेपर भी, गोबर लगे रहनेपर भी चाटती है, वात्सल्यका स्वरूप ही यह है। जो पापी अथवा पतितको देखकर डरता है, उसके हृदयमें वात्सल्य कहाँ ? गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान् रामका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'पाँवरनि सो प्रीति'—वे पामरोंसे प्रीति करते हैं।

केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बंधु बड़ाई।
स्वान कहे ते कियो पुर बाहिर, जती गयन्द चढाई।
तिय निंदक मतिमन्द प्रजारज निज नय नगर बसाई॥

तो भगवान्‌का यह उदार स्वभाव है। उसका स्मरण करके पतितोंको, दीनोंको बड़ा भारी आश्रय मिलता है। जिस धर्ममें, जिस समाजमें, जिस साधनापद्धतिमें पापियोंके उद्धारका मार्ग नहीं है, पतितोंको ऊपर उठानेका उपाय नहीं है, वह धर्म, समाज एवं साधना बेकार है।

तो नारदजी कहते हैं कि व्यासजी ! मैंने तुमको तीनों तापोंकी चिकित्सा बता दी। वह चिकित्सा यह है कि जितने भी कर्म किये जाँय, ब्रह्मार्पण भावसे किये जायें। कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस कारणसे रोग होता है, उस कारणकी ही चिकित्सा करके शुद्ध कर दिया जाये तो वह रोगका निवर्तक हो जाता है। होम्योपैथिक चिकित्साकी तो पद्धति ही यह है कि जिस वस्तुसे रोग होता है उसीको अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर उसका प्रयोग करते हैं और उससे वह रोग दूर हो जाता है।

तदेव द्रव्यं चिकित्सितं सत् आमयं न पुनाति । ३३

जिस प्रकार रोग उत्पन्न करनेवाले वस्तुविशेषको चिकित्साविधिसे प्रयुक्त करनेपर रोग-निवारण हो जाता है, उसी प्रकार बन्धनमें डालनेवाले कर्मकलापको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करके कर्म किया जाय तो मनुष्य बन्धनसे छूट जाता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ गीता ९.२१

यह नहीं कि केवल अच्छे-ही-अच्छे कर्मोंका समर्पण किया जाय। इसमें डरनेकी कोई बात नहीं है। क्योंकि स्वयं भगवान् कहते हैं कि

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। गीता ९.२८

अर्थात् शुभ फल देनेवाले और अशुभ फल देनेवाले दोनों प्रकारके कर्मबन्धनसे मुक्ति मिल जायेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अच्छे फल देनेवाले कर्मोंके साथ-साथ बुरे फल देनेवाले कर्मोंको भी समर्पित किया जा सकता है। क्योंकि भगवान्‌की घोषणा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। गीता ९.३०
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। गीता ४.३६

तुम निष्ठापूर्ण अपना कर्म भगवान्‌के प्रति अर्पित करो। भगवान् प्रसन्न होकर भक्ति प्रदान करते हैं। इस मार्गमें जो लोग कर्म करते हैं और भगवान्‌के गुण, नामका स्मरण करते हैं, वे निश्चिन्त हो जाते हैं।

महात्मा लोग नारदजीको मन्त्र क्या बता आये, जरा इसपर भी ध्यान दो। वह मन्त्र इस तरह है—

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः संकर्षणाय च॥ ५.३७
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥ ५.३८

इस मन्त्रमें कहा गया है कि हम भगवान् वासुदेवका ध्यान करते हैं। केवल भगवान्‌को ही नमस्कार, ध्यान नहीं करते उनके बेटे प्रद्युम्नको भी नमस्कार करते हैं, ध्यान करते हैं। पौत्र अनिरुद्धजीको भी नमस्कार करते हैं और बड़े भाई सङ्कर्षण बलरामजीको भी नमस्कार करते हैं। ये चारों चक्रव्यूह नित्य हैं। हमारे अद्वैत वेदान्तकी रीतिसे इनके नित्य माननेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। बस, इतनी बात है कि कूटस्थ नित्य केवल परमात्मा है।

नारदजी कहते हैं कि इस प्रकार महात्माओंने मुझे उपासनाकी पद्धति बतायी। इससे भगवान् बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझको ऐश्वर्य, भक्ति, भाव सब कुछ दे दिया। इसलिए व्यासजी तुम भी भगवान्‌की आराधना करो, भगवान्‌के गुणानुवादका वर्णन करो। इसीसे प्राणियोंको शान्ति मिलती है और तत्वज्ञानकी प्राप्ति होती है!

❀

: ६ :

अब सूतजी कहते हैं कि व्यासजीने इतना सुननेके बाद नारदजीसे पूछा—आपको शिक्षा-दीक्षा देनेवाले महापुरुष लोग जब चले गये तब आपकी अवस्था तो बड़ी छोटी थी। उस समय आपने क्या किया और किस रीतिसे वह जीवन बिताया? कैसे शरीर छोड़ा और किस प्रकार अभीतक आपको उस जीवनकी याद बनी हुई है? यह काल तो सब घटा देता है, आपकी स्मृति कैसे नहीं घटी?

नारदजीने कहा कि मैं अपनी माँका इकलौता बेटा था। मुझसे उसका बहुत प्रेम था। वह बेचारी एक तो स्त्री थी, दूसरे कुछ पढ़ी-लिखी नहीं थी। बहुत बुद्धिमती भी नहीं थी, दासी थी। वह अपने योगक्षेमकी व्यवस्था नहीं कर सकती थी। मेरे सिवाय उसका कोई दूसरा न था। मेरी बाल्यावस्था थी, कुल पाँच बरसकी उम्र थी। एक दिन वह गाय दुहानेके लिए गयी तो रास्तेमें उसे साँपने काट लिया और वह मर गयी। मैंने सोचा कि चलो, भगवान्‌की बड़ी कृपा हुई।

'यतो यतो निवर्तते विमुच्यते, ततस्ततः'

दुनियामें जो जो छूटता जाय, समझना कि बड़ा मंगल हुआ। लेकिन यहाँ ऐसा मत समझना

कि कोई मर जाएगा तो हम छूट जायेंगे। इस प्रकारका दुःसंकल्प तो मनमें कभी नहीं आना चाहिए।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥ १०

भगवान्‌की बड़ी कृपा है। जो उसे पहचानते हैं, वे नरकमें भी उसका अनुभव करते है। जब माँ गर्म पानीके टबमें बच्चेको बैठाकर नहलाने लगती है तो बच्चा चिल्लाता है और समझता है कि माँ उसके साथ बड़ी बेरहमी कर रही है, लेकिन असलमें माँकी तो उसमें कृपा होती है। इसी प्रकार जब जीवात्माका अन्तःकरण अत्यन्त गन्दा हो जाता है तब भगवान् उसको नरकमें डालकर थोड़ा चभोर देते हैं। इधर गाँवोंमें सेंधानेकी पद्धति है। गन्दी चीजें इकट्ठी करके नादमें रखते है, रातको लकड़ीकी आगसे जले हुए बर्तनोंको उसमें डाल देते हैं और निकालकर उनपर दो बार हाथ फेरते हैं तो बर्तन बिल्कुल साफ, चकाचक हो जाता है। जैसे बर्तनोंको स्वच्छ करनेके लिए उन्हें गन्दगीमें डालना पड़ता है, वैसे ही जीवात्माको शुद्ध करनेके लिए उसे नरकमें भी डालना पड़ता है।

माँको साँप काट गया और नारदजीको उसमें दीखी भगवान्‌की कृपा। अकेले उत्तर दिशामें निकल पड़े और पुर, ग्राम, व्रज, आकर, खेट, नदी सबको पार करते हुए आगे बढ़ते गये। तरह-तरहके चित्र-विचित्र दृश्य देखते हुए घोर वनमें पहुँच गये, जहाँ बड़े-बड़े भयंकर पशु थे। वहाँ नारदजीको भूख-प्यास लगी। उन्होंने स्नान किया, जलपान किया और नदीके किनारे बैठ गये। उनकी थकान मिट गयी। वे पीपल वृक्षके नीचे बैठकर परमात्माका चिन्तन करने लगे।

आप लोग सुन चुके हैं कि मनमें एक साथ दो ज्ञान नहीं होते। उसकी पहचान ही यह है कि उसमें एक साथ एक ही चीज रहती है। जिसके मनमें भगवान् आगये, उसके मनमें दुःख कहाँसे आवेगा ? भगवान्‌का स्मरण करो, सारा दुःख दूर हो जायेगा।

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर, दुःखं गमिष्यति।

नारदजीको परमात्माका चिन्तन करनेके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। 'भावनिर्जित-चेतसा' (१७)का अर्थ है आसन-प्राणायामादि-निरपेक्ष। न उनको आसन करना पड़ा और न प्राणायाम करना पड़ा। उनका भाव भगवान्‌में जुड़ा, हृदयमें उत्कण्ठा हुई, आँखोंमें आँसू और हृदयमें धीरेसे भगवान् प्रकट हो गये ! धीरेसे कहनेका अभिप्राय यह है कि नारदजीको अपनी ओरसे ध्यानके लिए जोर नहीं लगाना पड़ा। भगवान् स्वयं ही प्रकट हो गये। उनके पाँवकी ध्वनिका भी पता नहीं लगा और नारदजीने देखा कि भगवान् उनके हृदयमें बैठे हैं। 'हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः' (१७)। नारदजीका सारा शरीर प्रेमसे रोमांचित हो गया, पुलकित हो गया। उनको इतना आनन्द आया कि मानों वे आनन्दकी बाढ़में डूब गये हों। उनको न तो अपना ख्याल रहा और न संसारका ख्याल

रहा, केवल भगवान्का प्यारा-प्यारा रूप उनके सामने रह गया।

देखो दुःख-निवृत्तिका इतना सरल उपाय होते हुए भी जो दुनियामें दुःखी रहते हैं, उन्हींको भटका हुआ माना जाता है। दुःख स्मृतिरूप होता है। भय और मोह भी अन्यकी कल्पनाके बिना नहीं होते। इसलिए इनसे रहित होना हो तो भगवान्का आश्रय ग्रहण करो। जहाँ भगवान् आकर हृदयमें बैठे कि शोक गया, मोह गया, भय गया और तुम आनन्दके समुद्रमें डूब गये।

अब भगवान्की लीला देखो! नारदजीको एकाएक भगवान्का रूप दीखना बन्द हो गया। वे ध्यान करने लगे तो नहीं हुआ। इससे उनके हृदयमें अतृप्ति उत्पन्न हो गयी, व्याकुलता बढ़ गयी। अब यहाँ ध्यान दो। एक दुःख होता है, संसारका कोई अपेक्षित पदार्थ न मिलनेसे चाहे वह पैसा हो, पद हो अथवा प्रतिष्ठा हो। परन्तु एक दुःख होता है, भगवान्का स्मरण न होनेसे, उनके प्रति प्रीति न होनेसे! दोनोंमें बड़ा अन्तर है। भगवान्के न मिलनेसे जो दुःख होता है उसमें भक्त कहता है—

ऐसो हि जनम समूह सिराने।

संसारमें भटकते-भटकते जन्म-पर-जन्म बीत गये, युग-पर-युग बीत गये। किन्तु हमें हमारे प्राणाभिराम रामचन्द्र, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दरकी प्राप्ति नहीं हुई। इस प्रकारका जो दुःख होता है, वह भगवान्की प्राप्ति कराता है, किन्तु जो दुःख लौकिक वस्तुओंके अभावकी अनुभूतिके कारण होता है, वह बन्धनमें डालता है।

तो, नारदजीको भगवान्का ध्यान न होनेके कारण जो व्याकुलता हुई, उसे देखकर भगवान् द्रवित हो गये। उन्होंने आकाशवाणी द्वारा शोक निवृत्त करनेवाले धीर, गम्भीर, मधुर और स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि अब तुम्हें इस जन्ममें हमारा दर्शन नहीं होगा! क्योंकि अभी कषायका परिपाक नहीं हुआ है—'अविपक्वकषायाणाम्' (२२)।

यह कषाय क्या है? कषाय माने रंग! हमारे अन्तःकरणको रंगनेवाला—'कषाय' राग-द्वेष है। बड़े-बड़े तार्किक लोग यह सिद्ध कर सकते हैं कि राग-द्वेष करना भी एक धर्म है। किन्तु जिसके हृदयमें राग-द्वेष रहेगा, अशान्ति उसीको होगी! इसलिए किसी भी कीमतपर अपने हृदयमें राग-द्वेषको नहीं बसाना चाहिए। आपने एक कथा सुनी होगी! एक बार समर्थ रामदासने कहा कि अशोक-वाटिकामें सफेद कमल खिले हुए थे। यह सुनकर हनुमान्जीने कहा कि नहीं वहाँ रक्त कमल थे। दोनोंका विवाद बढ़ा तो जानकीजीसे पूछा गया। उन्होने निर्णय दिया कि श्वेत कमल थे। इसपर हनुमान्जीने कहा कि माँ, मैंने तो रक्त कमल देखा था। सीताजी बोलीं कि तुम्हें गुस्सा आया हुआ था, तुम क्रोधमें थे, इसलिए श्वेत रंग लाल दिखाई पड़ा। मतलब यह कि जबतक हमारे

हृदयमें संसारका रंग बना रहता है–चाहे वह स्त्रीका हो, पुत्रका हो, धनका हो, मान-मर्यादाका हो–तबतक ईश्वरका प्रकाश नहीं होता।

भगवान्‌ने नारदजीको एक बार अपने रूपका दर्शन क्यों कराया? इसलिए कि उनके मनमें और इच्छा उत्पन्न हो जाये। मानो भगवान्‌ने नारदजीको संकेत किया कि तुमने थोड़े दिनोंतक सन्तोंकी सेवा की और उसके परिणामस्वरूप तुमको ऐसी दृढ़ बुद्धि प्राप्त हो गयी। अब तुम्हारा यह शरीर छूटेगा तो तुम मेरे पार्षद बन जाओगे। तुम्हारी बुद्धि जो मुझमें बँध गयी है, यह कभी नहीं छूटेगी, प्रलयमें भी मुझसे बँधी रहेगी।

नारदजी कहते हैं कि आकाशवाणी पूर्ण हुई और मैंने उसको नमस्कार किया। मेरा जो अंहकार था कि मैं अपने साधनके बलसे परमेश्वरको पकड़ लूँगा—उसको मिटानेके लिए ही भगवान्‌ने यह कृपा, यह करुणा कर दी।

तो बाबा भगवान्‌के नामका उच्चारण 'हतत्रपः' (२७) अर्थात् निर्लज्ज होकर करना चाहिए। हमसे बड़े घरोंके बहुत-से स्त्री-पुरुष मिलते रहते हैं। हमारे सामने मीठा-मीठा बोलते हैं। उनको यह सिखाया रहता है कि बोलते समय होंठ किस कोणमें टेढ़ा हो, आँख किस कोणमें टेढ़ी हो। वे ब्यूटी हाउसमें सीखकर आते हैं कि कैसे सुन्दर लगेंगे। पर जब वे अपने नौकरपर नाराज होते हैं या उनके घरमें कलह होता है तो चिल्ला-चिल्लाकर बोलते हैं, गाली देते हैं। उस समय लगता है कि उनकी आवाज कितनी कर्कश है। उससे उनको शर्म नहीं आती, उन्हें शर्म तब आती है जब भगवान्‌का नाम लेना होता है। उनकी यह शर्म अनवसरकी है, अनुचित है। तुम भगवान्‌का नाम लेनेमें लज्जा मत करो। उनकी लीलाओंका पाठ करो, उनके नामका जप करो, उनका स्मरण करो।

तो, नारदजी तभीसे गतस्पृह होकर विचरण करने लगे। वे कहते हैं कि परमात्मामें मन लग गया तब काल बिजलीकी तरह चमक गया और मेरा स्थूल शरीर गिर गया। मैं ब्रह्माजीकी सांसमें प्रविष्ट हो गया। वहाँसे नारायणमें चला गया। फिर जब सृष्टि हुई तो भगवान्‌के अनुग्रहसे नारद होकर निकला। उन्होंने मुझे अपनी वीणा दे दी—

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्। ३२

नारायणकी दी हुई इस वीणामें स्वरब्रह्म है। संगीत विद्या भी कोई साधारण विद्या नहीं है। इसमें स्वरब्रह्मका निवास है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मुक्तिमार्गं नियच्छति॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति ३.११५)

जो वीणा-वादनमें विशारद है, वह तत्त्वज्ञानी है। जिसे स्वरजातिका ज्ञान है, उसको प्रज्ञा प्राप्त हो गयी है। जो ताल भी जानता है और तार-प्रणव भी जानता है, उसको मुक्ति-मार्गकी प्राप्ति होती है।

नारदजी कहते हैं कि मैं इसी तार-सप्तकपर भगवान्की कथा छेड़ता हुआ विचरण करता रहता हूं! जब मैं भगवान्के चरित्रका गान करने लगता हूँ तब किसी भी प्रपञ्चका भान नहीं रहता। ऐसी ही स्थितिमें भगवान् हृदयमें आकर दर्शन देते हैं। जो लोग विषय–भोगोंकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं, उनके लिए संसार-सागरसे पार जानेका एक ही मार्ग है—'हरिचर्यानुवर्णनम्' (३५) अर्थात् भगवल्लीलाका अनुवर्णन।

मैंने बचपनमें एक महात्मासे श्रीकृष्णमन्त्र लिया। मन्त्र देनेके बाद उन्होंने कहा कि अब तुम मुक्त हो। मैंने कहा कि महाराज, जब मैं मुक्त ही हो गया तो अब भजन करनेकी, माला फेरनेकी क्या जरूरत है? महात्मा बोले कि तुम्हारे जीवनका जो समय है, इसका पेट भरनेके लिए माला फेरनेकी जरूरत है, मुक्तिके लिए नहीं। तुम मुक्तिकी इच्छा मत करो, परन्तु अपना समय भगवच्चिन्तनमें, भगवत्स्मरणमें व्यतीत करो।

तो जिस प्रकार भगवान्की सेवा द्वारा मनमें-से काम, क्रोध, लोभ, मोह मिटते हैं, उस प्रकार अन्य किसी उपायसे–योगादिसे नहीं मिटते। नारदजी कहते हैं कि व्यासजी, तुमने मुझसे जन्म-कर्मके रहस्यकी जो बात पूछी थी, वह मैंने आपको बतायी! इससे आपको आत्म-तुष्टि होगी। जो लोग बार-बार भगवदाज्ञाके अनुसार उनके गुण-नामका स्मरण करते हैं, उनको ही भगवान्की प्राप्ति होती है।

इतना कहकर नारदजी वीणा बजाते हुए, जिधर उनकी मौज हुई, उधर चले गये। सूतजी वर्णन करते हैं—

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्ति शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥ ३९

यह संसार आतुर, मरणासन्न व्यक्तिकी भाँति मृत्युग्रस्त हो रहा है। धन्य हैं देवर्षि नारद, जो भगवान्की कीर्तिका गान करते हुए स्वयं तो मस्त रहते ही हैं, दूसरोंको भी आनन्द देते हैं। वीणाधारी नारदकी जय हो, जय हो!

: ७ :

शौनकजीने यह प्रश्न करनेपर कि नारदजीके जानेके बाद व्यासजीने क्या किया और उनका आश्रम कहाँ है ? सूतजी वर्णन करते हैं—व्यासजीका आश्रम ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिम तटपर है जहाँ ब्रह्माकार वृत्तिका अन्तः प्रवाह है। सरस्वतीके पूर्व तटपर व्यवहार होता है और पश्चिम तटपर महात्मा लोग बैठते हैं। यह प्रत्यक्ष और प्रत्यक् स्रोतका अन्तर है। जब हम पूर्वकी ओर मुँह करके बैठते हैं तो सामने विषयप्रकाशक सूर्य होता है और अन्तःकरणके पीछे प्रत्यक् वस्तु होती है। व्यासजीके आश्रमका नाम है शम्याप्रास, वहाँ शमी अर्थात् शमवान् पुरुष रहते हैं। जिन लोगोंके अन्दर शम-दमादि सम्पत्ति रहती है, वे ही यहाँ पहुचते हैं। वहाँ शमीके यज्ञीय वृक्ष भी स्थान-स्थानपर होते हैं जिससे कि हवनादिमें सुविधा हो। उसमें बदरीके फल भी हैं। महात्मा लोग बेरका फल खा-खाकर अपना समय व्यतीत कर लेते हैं।

वहाँ व्यासजीने जल-स्पर्श किया। जलसे अपनेको पवित्र करनेकी प्रणाली है। जलमें धारा है और उसका जो साक्षी है, तटस्थ है, कूटस्थ है उसमें धारा नहीं है। वह अपने साक्षित्वको बहुत जल्दी अनुभव कर सकता है। जब भक्तियोगसे व्यासजीका मन एकाग्र हुआ तब उन्होंने परमात्माका दर्शन किया। यहाँ मनकी दो विशेषताएँ बताई हैं। प्रणिहितेऽमले (४)—एक तो मन एकाग्र हो गया, प्रणिहित हो गया—जैसे एक निधानमें, एक खजानेमें, एक आकरमें रख दिया गया हो अथवा समाधिस्थ हो गया हो। दूसरी विशेषता है 'अमल'। अमलका अर्थ है मन उज्ज्वल हो गया, निर्मल हो गया। कभी-कभी जलकी धारा स्थिर तो होती है, पर निर्मल नहीं होती और कभी-कभी जल गँदला होता है, परन्तु चंचल नहीं होता। कभी जल निर्मल होता है पर चंचल बहुत होता है। व्यासजीका मानस-सरोवर ऐसा है कि न तो उसमें चंचलता रूपी तरंग है और न वासनारूप मलिनता है। व्यासजीने अपने मानस-सरोवरमें प्रतिबिम्बित अपने ही स्वरूपका दर्शन किया और उसकी माया भी देखी कि वह स्वयं हिलता तो नहीं है पर हिलता हुआ भासता है। इसी मायासे जीव मोहित हो जाता है।

अब देखो माया और अविद्यामें क्या अन्तर है? अविद्या जिसमें होती है उसको मोहित कर लेती है और माया जिसमें होती है, उसे मोहित नहीं करती। जो मायाको देखता है, उसीको मोहित करती है। इसको ऐसे समझो कि माया माने जादूका खेल जादूगरको मोहित नहीं करता, ईश्वरको मोहित नहीं करता, अपने आश्रयको मोहित नहीं करता। वह तो उसीको मोहित करता है, जो उसको देखता है। इसी तरह अविद्या माने अज्ञान, नासमझी, बेवकूफी। वह जिसके दिलमें रहती है, उसको मोहित करती है। अविद्या आश्रयव्यामोहिका होती है और माया विषयव्यामोहिका होती है।

तो, यह जीव मायाके चक्करमें पड़कर अपनेको त्रिगुणात्मक देख रहा है। इसे कभी मालूम पड़ता है कि मैं बहुत बड़ा पापी हूँ, कभी मालूम पड़ता है कि मैं बड़ा पुण्यात्मा हूँ और कभी मालूम पड़ता है कि मैं समाधिस्थ योगिराज हूँ। परन्तु यह सब माया ही है। आत्मामें सत्त्व-रज-तमके जितने विशेषण जोड़े जाते हैं, वे सब-के-सब माया ही हैं। आत्मा मायासे परे है, लेकिन मायाको अपनी मान लेता है और फिर दुःखी-सुखी होने लगता है। लोग यह नहीं जानते हैं कि भगवान्‌की भक्ति द्वारा ही मायासे रक्षा हो सकती है। अतः उनको ज्ञात करानेके लिए, व्यासजीने श्रीमद्भागवत-संहिताका प्रणयन किया, इसकी रचना की। इसकी विशेषता यह है कि इसके लिए किसी कर्मकाण्डका पालन नहीं करना पड़ता। जैसे यज्ञके लिए अमुक प्रकारकी वेदी बनायी जाती है, अमुक प्रकारसे होम किया जाता है और तब उसका फल मिलता है वैसा इसमें कुछ नहीं करना पड़ता। यह संहिता ऐसी है कि इसका श्रवण करनेसे ही कल्याण हो जाता है—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे, भक्तिरुत्पद्यते। ७

'श्रूयते इति श्रूयमाणा'—यह कर्णरन्ध्रके द्वारा हृदयमें प्रवेश करती है और वहाँ जाकर वासनाके कलुषको धो देती है। आप प्रत्यक्ष इसका अनुभव कर सकते हैं। यह देखा गया है कि अमुक व्यक्ति अपने घरमें व्याप्त बड़े-से-बड़े शोकके समय कथामें आकर बैठ गया और उसका शोक-निवारण हो गया। इसी तरह कई लोगोंकी सम्पत्ति, सम्बन्धी, मौत और वृद्धावस्थाकी चिन्ताका निवारण भी कथा-श्रवणके द्वारा ही देखा गया है। कथामें मन लगते ही मनुष्य बड़े-से-बड़े दुःखको भूल जाता है। भगवत्कथा तत्काल, अपरोक्ष और प्रत्यक्ष लाभ प्रदान करती है।

व्यासजीने भागवतका प्रणयन करके उसका अनुक्रमण किया अर्थात् उसमें फिरसे संशोधन किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि बड़े-से-बड़े विद्वान्‌को भी यह अभिमान नहीं करना चाहिए मैंने जो लिख दिया है, बोल दिया है, वही ठीक है। उसको अपना अभिमान छोड़कर अपनी कृतिका पुनर्निरीक्षण कर लेना चाहिए।

व्यासजीने अपनी रचना भागवतका संशोधन तो किया ही, अपने परमप्रेमास्पद श्रीशुकदेवजी

महाराजको उसका अध्यापन भी किया ! वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टिसे जो व्यास हैं, वही शुक है। अन्तर्यामी नारायण हृदय-देशमें बैठे हुए हैं, सत्त्वके क्षीरसागरमें बीजभूत शेषकी गोदमें विराजमान हैं। उनके नाभिकमलसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, जो चार मुखवाले हैं, अन्तःकरणरूप हैं। उनके मनोरूप पुत्र नारद होते हैं। नारदके वाक्रूप पुत्र व्यास होते हैं। व्यासके शब्दरूप पुत्र शुक होते हैं। यहाँ शब्दरूप शुककी प्रधानता है ! वे शब्दात्मक हैं। यही अधिकारी परीक्षितको, जिसके मनमें, गर्भावस्थामें भी भय उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे ब्रह्मास्त्रसे भी भय नहीं लगा, उसको तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं। शुकदेवजी महाराज निवृत्तिनिरत हैं, निवृत्तिपरायण हैं, शमायन हैं। एक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होकर शमायन होता है। निवृत्तिपरायण व्यवहारमें प्रवेश नही करता।

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः। ९

महात्मा लोग श्रोत्रिय होते हैं, ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। पर जो निवृत्तिपरायण सन्त होते हैं, उनकी मर्यादा दूसरी होती है। ईश्वर भी उनका नियमन नहीं कर सकता, क्योंकि वे अन्तःकरण छोड़कर, उपाधि छोड़कर, बैठे हुए हैं। शुकदेवजी महराज ऐसे ही हैं। ये सबकी उपेक्षा करनेवाले आत्माराम हैं—'आत्मारामः समभ्यसत्' (९)। इनका आराम किसी मकानमें नहीं है, भोजनमें नहीं है, कपड़ेमें नहीं है, पड़ोसीके घरमें नहीं हैं। अपना आत्मा ही इनका आराम है।

अब शुकदेवजीने इतना बड़ा श्रीमद्भागवत क्यों पढ़ा, इसके उत्तरमें श्री सूतजी महाराज कहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ १०

पहले महात्मामें जो विशेष बात है, उसको बताते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि जब शुकदेवजीका आराम बाहर नहीं, भीतर है, तब वे भक्ति क्यों करेंगे ? जब वे मननशील हैं, आत्म-चिन्तनमें संलग्न हैं तो भी भक्ति क्यों करेंगे ? जब वे निर्ग्रन्थ हैं, उसको कोई गाँठ ही नहीं हैं, तब वे भक्ति क्यों करेंगे ? उत्तर है कि वे अपने लिए भक्ति नहीं करते। भक्ति तो ऐसा जादू है, जो सिरपर चढ़कर बोलता है। भगवान्के गुणका ही ऐसा माहात्म्य है, उसमें ऐसी विशेषता है, ऐसा वैशिष्ट्य है कि बड़े-बड़े मुनिलोग भी उसपर मोहित हो जाते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभुने 'निर्ग्रन्था अपि' के अनेक अर्थ किये हैं। वे कहते हैं कि जिसको न केवल यज्ञोपवीतकी, शिखाकी और कौपीनकी, वल्कि कामकी, क्रोधकी, लोभकी, संशयकी तथा अविद्या आदिकी कोई भी ग्रन्थि नहीं है, वह निर्ग्रन्थ है। इसका यह भी अर्थ है कि जो लोग अवधूतरूपसे विचरण करते हैं, जिनका अविद्यानिवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध हो गया है, जिनको अपने लिए ग्रन्थकी आवश्यकता नहीं है, वे निर्ग्रन्थ हैं।

ऐसे निर्ग्रन्थ महात्मा भगवान्‌की सेवा क्यों करते हैं ? इसलिए करते हैं कि जो काम कामनासे किया जाता है, उसमें स्वका लोप नहीं होता और जो निष्काम किया जाता है, उसमें स्वका लोप हो जाता है। भगवान्‌के ऐसे गुण हैं कि उनपर सब मोहित हो जाते हैं। यहाँतक कि जब बौद्ध और जैन भगवद्गुणानुवादका श्रवण करते हैं, तब उनका हृदय द्रवित हो जाता है। इसलिए शुकदेवजी महाराजने भगवान्‌के गुणानुवादसे मोहित होकर श्रीमद्भागवतके महान् आख्यानका अध्ययन किया।

अब जब श्रीसूतजी परीक्षितके जन्म, कर्म आदिका वर्णन करने लगे तब मानो ऋषियोंने कहा कि महाराज ! हम तो श्रीकृष्णकी कथा सुनना चाहते हैं। आप परीक्षितको क्यों सुना रहे हैं ? श्रीसूतजीने उत्तर दिया कि 'कृष्णकथोदयम्'–इसीमें-से कृष्णकी कथा निकलती है। बीज देखकर मालूम नहीं पड़ेगा कि इसमें-से वृक्ष निकलेगा और बड़े सुन्दर-सुन्दर फल निकलेंगे, परन्तु उसीमें-से वृक्ष और सुन्दर-सुन्दर फल निकलते हैं।

तो, बात उन दिनोंकी है, जब महाभारत युद्ध समाप्त हो रहा था। भीमसेनने अपनी गदासे दुर्योधनकी जाँघ तोड़ दी थी। अवश्वत्थामाने दुर्योधनका प्रिय करनेके उद्देश्यसे पाण्डवोंके पाँचों बच्चोंके सिर काट दिये और उनको दुर्योधनके सामने रख दिया। बड़ा निन्दित कर्म किया उसने। स्वयं दुर्योधनको भी प्रसन्नता नहीं हुई, उसने इस कर्मकी निन्दा की और ग्लानि-पूर्वक कहा कि हाय-हाय इसने हमारे वंशका लोप कर दिया।

इधर द्रौपदीको बड़ा भारी दुःख हुआ। इस प्रसंगमें आपको एक छोटी-सी बात सुनाता हूँ। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि द्रौपदी तो भगवान्‌की भक्त है। वह भगवान्‌के संयोगमें खुश होती थी और भगवान्‌के वियोगमें रोती थी। बच्चोंसे तो उसका कोई प्रेम ही नहीं था, जिनके मारे जानेपर वह रोती। उसके मनमें यह आया कि अश्वत्थामा ब्राह्मण है। उसने हमारे बच्चोंको मार दिया है। उसकी दुर्गति हो जायेगी। इसलिए भगवान् किसी तरह इनके ऊपर कृपा कर दें। मरे हुए बच्चोंको भगवत्कृपा भगवदाभिमुख्य प्राप्त हो जाय, इसीलिए द्रौपदी रोयी थी।

इधर अर्जुनने प्रतिज्ञा की कि द्रौपदी ! मैं तुम्हारे आँसू तब पोछूँगा जब अश्वत्थामाको पकड़कर ले आऊँगा और उसका सिर काटकर तुम्हारे सामने रख दूँगा। तुम उसके सिरपर पाँव रखकर स्नान करना। इस तरह सान्त्वना देकर अर्जुनने अश्वत्थामाका पीछा किया। वह बहुत भागा। अन्तमें उसने एक ऐसा ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया, जिसको लौटानेकी विद्या वह स्वयं नहीं जानता था। उससे अर्जुन व्याकुल हो गये और उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। यहाँ स्तुति करनेकी एक प्रणाली देखो ! कोई दुःखमें स्तुति करता है, जैसे अर्जुन करता है। कोई सुखमें स्तुति करता है, जैसे कुन्ती करती है। कोई दुःख, सुख दोनोंमें ऊपर उठकर स्तुति करते हैं, जैसे भीष्म करते हैं।

अर्जुन प्रार्थना करते हैं—'प्रभो, जब तुम्हारे भक्तोंपर कोई विपत्ति आती है तब तुम्हीं उनको उस विपत्तिसे छुड़ाते हो। तुम साक्षात् परमेश्वर हो। जो लोग तुम्हारी मायासे मोहित हो रहे हैं, उनके लिए तुम धर्मादि श्रेयका विधान करते हो। तुम्हारा अवतार पृथिवीका भार हरण करनेके लिए और तुम्हारे भक्तोंके ध्यानके लिए है। देखो, एक भयंकर तेज मेरी ओर आ रहा है, जो लगता है, मुझे भस्म कर देगा। पता नहीं यह कहाँसे, क्यों आ रहा है।

भगवान्‌ने कहा कि यह अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र है, जिसको लौटाना उसे नहीं आता। उसने अपने प्राणोंपर आपत्ति उपस्थित हुई देख इसका प्रयोग कर दिया है। तुम भी ब्रह्मास्त्र छोड़कर दोनों शास्त्रोंको एकमें मिला दो। अर्जुनने ऐसा ही किया। दोनों ब्रह्मास्त्र एकमें मिल गये और परस्पर लड़ने लगे। उसको देखकर लोगोंने समझा कि अब प्रलय हो जायेगा। अन्तमें श्रीकृष्णकी सलाहसे अर्जुनने दोनों ब्रह्मास्त्रोंका उपसंहार कर दिया। उसके बाद उन्होंने अश्वत्थामाको पकड़ा और बाँधकर अपने शिविरमें ले आये।

अब यहाँ भगवान्‌ने जो कुछ कहा और अर्जुनने जैसा समझा, वह ध्यान देने योग्य है। भगवान्‌ने कहा कि अर्जुन, इसने सोते हुए बालकोंको मारा है। इसको मारनेमें किसी प्रकारका दोष नहीं है। तुमने इसको मारनेकी प्रतिज्ञा भी की है। अतः इस आततायी पापीको मार डालो। किन्तु श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर भी अर्जुनने उसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि नहीं नहीं, यह ब्राह्मण है, हमारे गुरुका पुत्र है, इसने हमारे बच्चोंको मारा तो क्या हुआ, हम इसको नहीं मारेंगे।

यहाँ देखो, अर्जुनकी महानता। वह इतना महान् निकला कि स्वयं श्रीकृष्णके कहनेपर भी उसने गुरुपुत्रको मारना स्वीकार नहीं किया। उसने समझ लिया कि भगवान् कभी धर्मविरुद्ध बात नहीं कह सकते। वे हमारे धर्मकी परीक्षा लेनेके लिए ही ऐसी आज्ञा दे रहे हैं। यही भक्तका लक्षण है। भगवान् भी कभी ऐसी-वैसी बात कह दें तो भक्तको नहीं ग्रहण करना चाहिए।

एक महात्माने मुझे बचपनमें बताया था कि जो उपदेश अपने गुरुकी आज्ञाके विपरीत हो और अपने वैराग्यके विपरीत हो, वह उपदेश यदि ईश्वरके नामपर भी आवे तो उसे स्वीकार मत करना। यह समझना कि यह उपदेश ईश्वर नहीं कह रहा, बल्कि हमारी वासना कह रही है। वासनाकी आवाज और ईश्वरकी आवाजमें भेद करके उसको पहचान लेना चाहिए।

अब द्रौपदीकी महानता देखो। वह अश्वत्थामाको इस प्रकार बाँधकर लाया जाना सहन नहीं कर सकी। उसने कहा कि यह हमारा गुरुपुत्र है। इसकी माता इसीके कारण सती नहीं हुई। अपने बच्चोंके वियोगमें जैसा दुःख हमको हो रहा है, वैसा ही दुःख इसकी माताको भी इसके मरनेपर होगा और हमारे वंशको ब्रह्महत्याका दोष लगेगा। इसे छोड़ दो।

सूतजी कहते हैं कि द्रौपदीका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर तथा अन्य सभी उपस्थित नर-नारियोंने और स्वयं श्रीकृष्णने उसका समर्थन किया। इसका कारण द्रौपदीके वचनकी विशेषता थी। वचनमें क्या-क्या गुण होने चाहिए, उनको सूतजीके शब्दोंमें समझो—

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।
राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः॥ ४९

द्रौपदीके वचनमें धर्म है, न्याय है, करुणा है, निष्कपटता है और समता है। मनुष्य जब कभी बोले तो सोच ले कि जो वह बोल रहा है, उसमें ये गुण हैं या नहीं।

राजा युधिष्ठिर द्रौपदीके वचनोंसे प्रभावित होकर बोल पड़े कि बस, यही हमारे वंशके अनुरूप है। द्रौपदीने जो कहा है, बिल्कुल ठीक है। युधिष्ठिरके अतिरिक्त अन्य सब भी द्रौपदीके पक्षमें हो गये। परन्तु उग्रकर्मा, प्राणात्मा भीम बोले कि नहीं, नहीं, इसको तो मारना ही चाहिए। इसपर वाद-विवाद बढ़ गया और खींचातानी होने लगी। द्रौपदी कहे कि मैं नहीं मारने दूंगी, भीम कहे कि मैं तो मार ही डालूंगा। भीमसेनने सोचा कि मैं इसको पकड़कर मार डालूंगा और ये लोग ना-ना करते रहेंगे तो क्या होगा। इसी बीच भगवान् चतुर्भुज हो गये। उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया और दो हाथोंसे द्रौपदीको पकड़ लिया। वैसे तो भगवान् प्रायः द्विभुज रहते थे। परन्तु खास-खास अवसरोंपर चतुर्भुज हो जाते थे—

निशम्य भीमगदितं द्रौपाद्याश्च चतुर्भुजः। ५२

अब भगवान्ने अर्जुनकी ओर देखा और बोले—भाई, देखो मैंने कहा है कि ब्राह्मण यदि आततायी हो, नीच हो तब भी उसको नहीं मारना चाहिए और यह भी कहा है कि जो ब्राह्मण आततायी और नीच हो, उसको मार देना चाहिए। अब तुम कुछ ऐसा काम करो कि मेरे दोनों परस्पर विरोधी वचन बिल्कुल ठीक निकलें। अर्जुन भगवान्के भक्त हैं, वे तुरन्त उनके हृदयका अभिप्राय समझ गये। उन्होंने अश्वत्थामाके सिरपर जो मणि थी, उसको बालोंके साथ उखाड़ लिया और उसको छोड़ते हुए कहा कि निकल जाओ यहाँसे। इस प्रकार अश्वत्थामाका अपमान होनेसे ब्राह्मण-वध भी हो गया और नहीं भी हुआ। वह निस्तेज होकर जीवित रह गया और अर्जुन ब्रह्महत्यासे बच गये। किसी भद्र व्यक्तिका अपमान भी उसके लिए प्राणदण्डके समान ही है। किसीका बाल कटवा देना, धन छीन लेना और उसको घरसे निकाल देना वध सरीखा ही है। ब्राह्मणका दैहिक वध नहीं करना चाहिए। उसके शरीरमें जो वंशकी, रजोवीर्यकी पवित्रता आ रही है, उसकी रक्षा करनी चाहिए।

: ८ :

अब सब लोग युद्धमें मरे हुए स्वजनोंकी अन्त्येष्टि-क्रिया करनेमें लग गये। वे गङ्गाजीके तटपर गये। गङ्गाजीका जल भगवान्‌के चरण-कमलोंकी धूलिका स्पर्श पानेके कारण अत्यन्त पवित्र है। वहाँ भगवान्‌ने सबको समझाया-बुझाया और सान्त्वना दी। युधिष्ठिरका राज्य लौट आया। उन्होंने भगवान्‌की प्रेरणासे तीन अश्वमेध यज्ञ किये। अब जब भगवान् सबसे विदा लेकर द्वारिका जानेके लिए रथपर आरूढ़ हुए तो पाण्डवोंकी गर्भवती पुत्र-वधू उत्तरा भयविह्वल होकर दौड़ते हुए आयी और आर्त स्वरमें कहा—भगवन्! हमारी रक्षा करो। आपके अतिरिक्त हमारी रक्षा करने वाला कोई नहीं है क्योंकि इस संसारमें तो सब एक दूसरेकी मृत्युके कारण बन रहे हैं। यहाँ आप लोग उत्तराकी प्रार्थनाका आशय समझो। मनुष्य एक दूसरेकी मृत्युके कारण कैसे बनते हैं। वे खेतमें लगे हुए अन्नको काटकर लाते हैं, और इस प्रकार उनकी मृत्युके कारण बनते हैं। फिर वही अन्न खाते-खाते एक दिन वृद्धावस्था आती है, पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार पति-पत्नी, भाई-बन्धु जहाँ एक-दूसरेको सुख देते हैं, वहाँ मृत्युके भी कारण बनते हैं। इस संसारका स्वरूप ही ऐसा है कि जो अमृतका हेतु है, वही मृत्युका भी हेतु है। यहाँ तो मनुष्यके लिए ईश्वरके अतिरिक्त निर्भयताका कोई स्थान नहीं है।

भगवान्‌ने देखा कि लोहेका बाण उत्तराकी ओर आ रहा है और अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र है। ऐसा ब्रह्मास्त्र है कि यह लौटाया नहीं जा सकता। और इससे न केवल उत्तराका, अपितु समस्त पाण्डवोंका विनाश हो जायेगा। अब भगवान्‌ने अपने सुदर्शन-चक्रसे तो भक्तोंकी रक्षा की और स्वयं उत्तराके गर्भमें प्रवेश कर गये। देखो, भगवान्‌के रक्षा करनेकी भी एक मर्यादा है। उनके लिए तो सब बराबर हैं। वे किसकी रक्षा करें और किसकी न करें। एक हाथमें गदा और दूसरे हाथमें सुदर्शन-चक्र लेकर रक्षाके लिए तैयार होनेपर भी चुपचाप खड़े रहते हैं। क्यों खड़े रहते है? इसलिए खड़े रहते है कि—'रक्षापेक्षामपेक्षते।' यह अपेक्षा रखते हैं कि भक्त पुकारे और तब हम उसकी रक्षा करें। अन्यथा या तो सबकी रक्षा करें या तो किसीकी रक्षा न करें। तो मर्यादा यह हो गयी कि जो पुकारे, उसकी रक्षा करें। यहाँ राजा परीक्षित तो गर्भमें फंसे हुए थे। वे कैसे पुकारते? इसलिए उनकी माता उत्तराने पुकारा कि प्रभो हमारी रक्षा करो और भगवान् उसके गर्भमें घुस गये। गर्भमें प्रविष्ट होनेपर भगवान्‌ने सोचा कि परीक्षित तो पहलेसे गर्भमें है। इसलिए यह हमारा बड़ा भाई हो गया और मैं छोटा भाई हो गया। छोटे भाईका धर्म है बड़े भाईकी रक्षा करना, अतः मै भी वैसा ही करूँगा।

सन्तु नाम भुवनेषु देवता या तपोभिरतिदूरदर्शना ।
भाति गर्भशिशुरक्षणेऽप्यलं यत्कृपा निरलसा स मे गतिः ।।

इस दुनियामें देवी-देवता बहुत हैं, जो बड़ी-बड़ी तपस्या करने पर भी दर्शन नहीं देते। परन्तु एक देवता यह है, जो गर्भस्थ शिशुकी भी रक्षाके लिए जाग्रत् है। यद्यपि ब्रह्मास्त्रका कोई प्रतीकार नहीं है, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के लिए उसका प्रतीकार करना आश्चर्य-जनक नहीं है वे तो मायासे ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते हैं। इसलिए उनकी कृपासे परीक्षितकी रक्षा हो गयी।

यहाँ महाभारत और भागवतकी कथामें अन्तर है। महाभारतकी कथा ऐतिहासिक है, जो भिन्न-भिन्न कल्पोंमें हुई और भागवतकी कथाका उद्देश्य यह है कि उससे मनुष्यके मनमें भजनकी प्रेरणा मिले। भगवान् रक्षक हैं—इस बातपर जब विश्वास होता है तो मनमें भक्ति करनेकी इच्छाका उदय होता है। जब व्यासजी महाराज श्रीमद्भागवत लिखनेके लिए ध्यान करते हैं तो कोटि-कोटि कल्पोंके परीक्षित, कोटि-कोटि कल्पोंके शुकदेव और कोटि-कोटि कल्पोंकी भागवत-कथाएँ आकर उनकी बुद्धिमें उपस्थित होती हैं। फिर वे जिन लीलाओंको आवश्यक समझते हैं, उन्हें विभिन्न कल्पोंसे एकत्र करके लिखते हैं। परीक्षितने भागवत-श्रवण किया था वे मकानमें बन्द हो गये यह प्रश्न जब व्यासजीके सामने उपस्थित हुआ, तब उन्होंने भागवत सुननेवाले परीक्षितका चरित्र लिखा। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

अब जब भगवान् वहाँसे चलने लगे तो कुन्ती आकर उनकी स्तुति करने लगी। सर्वप्रथम उसने भगवान्‌को नमस्कार किया! नमस् अथवा नमस्कार, न तो भक्तिका पूर्णरूप है, न धर्मका पूर्ण रूप है और न ज्ञानका पूर्णरूप है। यह तो एकांगी है। परन्तु इसीको लेकर एक मजहब चल गया। नमस्‌का नमांसि बना और नमांसिका नमाज बना। बारम्बार सिर झुकाना, हमारे सनातन धर्मका ही एक अंग है। वह भी यहींसे गया है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।। मनुस्मृति २.२०

प्रेयर प्रार्थनाका ही पहला अक्षर है। 'प्रार्' ही प्रेयर है। जैनधर्ममें अहिंसाकी प्रधानता और बौद्धधर्ममें करुणाकी प्रधानता दोनों समग्र, सर्वाङ्गपूर्ण सनातन धर्मके एक-एक अंग हैं। अंग कोई भी हो उसे काटना नहीं चाहिए—'अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् (१८)। सबके बाहर-भीतर जो प्रभु है, उसको हम नमस्कार करते हैं। मायाका पर्दा ओढ़कर वही बैठा है—

खूब जाना है कि अनजाना बने बैठे हैं।
आप में 'आप' छिपे पर्दा ढके बैठे हैं।।

ऊपरसे नाम अलग-अलग, शक्ल अलग-अलग, रूप अलग-अलग, आभास अलग-अलग होता

है, किन्तु सबके भीतर एक ही शक्ति बैठी है और वही निपुण-नट-नृत्यकी तरह विभिन्न भाव-भंगिमाओंमें परिलक्षित हो रही है। परमहंस अमलात्मा मुनिगण भी भगवान्‌की भक्ति कर सकें, इसी लिए उनके ये सब रूप हैं।

तो कुन्तीने भगवान्‌को कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दगोपकुमार आदि नामोंसे सम्बोधित करके उनकी स्तुति की और बोली,जैसे तुमने अपनी माँकी सेवा की और उसको कंसके बन्धनसे छुड़ाया, वैसे ही हमको भी तो विषसे, अग्निसे, राक्षसोंसे, दुष्टोंकी सभासे, बनवाससे, महारथियोंके शस्त्रसे, अश्वत्थामाके अस्त्रसे बारम्बार त्राण प्रदान किया। प्रभो ! अब हमको विपत्तियों का डर नहीं रहा। हमारे पास विपत्ति आती है तो सम्पत्ति लेकर आती है—

विपदः सन्तु नः शश्वतत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ २५

यहाँ देखो, अर्जुन और उत्तराने संकटके समय भगवान्‌की स्तुति की, किन्तु कुन्ती सुखके समय स्तुति कर रही है और कहती है कि 'प्रभो, हमारे जीवनमें बार-बार विपत्ति आवे।' यह कैसी विलक्षण बात है। इस संसारमें कोई भी दुःख नहीं चाहता। दार्शनिक लोग तो सर्वसम्मत नियम बनाकर निरूपण करते हैं—

सुखं मे भूयात् दुःखं मे माभूदिति।

सब लोग सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। लेकिन भक्तकी चाह निराली है। उसका दृष्टिकोण दूसरा है। इसलिए वह कुन्तीके रूपमें कहता है कि हमारे ऊपर रोज-रोज विपत्ति आवे, क्षण-क्षणपर विपत्ति आवे, पद-पदपर विपत्ति आवे, क्योंकि जब-जब विपत्ति आती है; तब-तब उससे बचानेके लिए भगवान् आकर दर्शन देते हैं और जब भगवान् आकर दर्शन देते हैं तो सारी विपत्ति भूल जाती है, नष्ट हो जाती है। विपत्तिसे पहले तो क्लेश होता है; लेकिन बादमें जब भगवान् आते हैं और उनकी कृपा प्राप्त होती है तब जीवनमें एक नवीनता आजाती है। असलमें संसारी लोग कोई-न-कोई अभिमान करके बैठ जाते हैं। अभिमान माने एक घेरा, अपने हाथसे अपनेको कैद करनेका नाम अभिमान है। जैसे रेशमका कीड़ा रेशम बनाते-बनाते खुद उसमें कैद हो जाता है, इसी प्रकार हम कुलके, ऐश्वर्यके और ऊँचे पद आदिके अभिमानमें आबद्ध हो जाते हैं। शास्त्रकारोंने चार प्रकारकी बातोंको मद बढ़ानेवाला बताया है—एक तो कुलीनता, दूसरी हुकूमत, तीसरी विद्या, और चौथा धन।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्। २६

मनुष्यमें जब इन चारों चीजोंका मद आजाता है, तब उसको भगवान्‌का नाम नहीं भाता। वह नशेमें होता है। 'न शं यया'—जिससे कभी शान्ति नहीं मिल सकती उसका नाम नशा है। लोग नशा करते हैं शान्तिके लिए, किन्तु उन्हें नशासे मिलती हैं अशान्ति। विष शरीरको नष्ट

करता है और नशा बुद्धिको नष्ट करता है। जो मनुष्य भगवान्‌का नाम नहीं ले रहा है, समझ लो वह सामान्य जीवन व्यतीत नहीं कर रहा। जब उसका नशा उतर जाता है तब उसको भगवान्‌का नाम सूझता है।

तो अकिंचनके धन कौन हैं ? भगवान्। गुणोंकी वृत्ति उनमें नहीं पहुँचती। वे आत्माराम, शान्त कैवल्यपति हैं, उनकी ही एक लीला है कि प्राणी आपसमें लड़ते हैं। अगर संसारी लोग आपसमें लड़ें नहीं तो विवेकी पुरुष उधरसे निवृत्त होकर अपने आपमें कैसे बैठेंगे। संसारमें जब संघर्ष होगा, वैमनस्य होगा, द्वन्द्व होगा तभी विवेकी लोग हाथ जोड़ेंगे कि बाबा, इधर तो बहुत झगड़ा है। उस मुहल्लेमें हम कभी नहीं जायेंगे, जिसमें विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग आपसमें लड़ते हैं। आओ, आओ हम भीतर ही अपने हृदयकी कुटियामें मस्ती करेंगे। ईश्वर क्या करना चाहता है, इसको कोई नहीं जानता। लोग अपनी-अपनी बुद्धि उसके ऊपर थोपते रहते हैं और भगवान् अनेक प्रकारके रूप धारण करते रहते हैं।

कुन्ती कहती है, मुझे याद आती है वह बात, जब आपने बचपनमें ददिया सासके जमानेका मटका तोड़ दिया था। यशोदाने कहा—कन्हैया, तूने बड़ा भारी अपराध किया है। आज तो मैं तुझे रस्सीमें बाधूंगी। यह सुनकर आप भयभीत हो गये। आपकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। अंजन कपोल और छातीपर गिरने लगे। आँखें चौंधिया गयीं और आपका मुँह लटक गया। जब वह दृश्य हमारी स्मृति-पटलपर सामने आता है और मै यह अनुभव करती हूँ कि सर्वेश्वर भगवान् भी अपने भक्तके सामने कितना कातर हो जाता है तब मै मुग्ध हो जाती हूँ।

भगवन् ! आपने जन्म ग्रहण क्यों किया ? कोई कहते हैं यदुवंशकी कीर्तिके विस्तारके लिए, कोई कहते हैं देवकी-वसुदेवकी प्रार्थनासे, कोई कहते है पृथिवीका भार उतारनेके लिए और कोई कहते हैं कि अविद्या, कर्म और कामनासे उत्पन्न दुःखी लोगोंका दुःख दूर करनेके लिए आपने अवतार ग्रहण किया। यहाँ देखो, संसारके लोग दुःखी क्यों हो रहे हैं ? इसीलिए हो रहे हैं कि वे सबको जानते हैं, पर अपने-आपको, अपने भीतर रहनेवालेको नहीं जानते और उसको न जाननेके कारण बाहरके अनित्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए काम करते रहते हैं। फिर वे भीतर कैसे लौटें और सुखी कैसे हों, ऐसे ही लोगोंपर कृपा करके भगवान् ऐसी-ऐसी लीलाएँ करते हैं कि लोग उनकी याद करके, उनको सुनकर भीतर लौट आयें और सुखी हो जायँ। आपको जहाँ भी वक्ता मिले, आप भगवान्‌की लीलाकथा श्रवण अवश्य करें। अपने विद्वत्ताके अभिमानको उसमें बाधक न बनने दें। भगवान् अभिमानके घेरेमें कभी नहीं आते। मनुष्य देश, काल और वस्तुके अभिमानमें फँस जाता है। आप इस अभिमानको छोड़नेपर देखोगे कि आप जो आत्मा है, वह सिवाय परमात्माके दूसरी किसी भी वस्तुसे मिलने योग्य नहीं है। दुनियाकी चीजें तो बिल्कुल गन्दी हैं, इनसे आत्माका

सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

तो तुम्हें जहाँ भी अवसर मिले, भगवान्की लीलाका श्रवण करो और गान भी करो। इसमें शरमानेकी कोई बात नहीं है। उसमें स्वरालापकी कोई आवश्यकता नहीं है। सुनो और गाओ, गा न सको तो गुनगुनाओ ही। तीनोंसे भगवान्का स्मरण करो और परमानन्दमें मग्न हो जाओ। भगवान्की कथा ही भगवान्को लाती है, भगवान्की कथा ही भगवद्भक्तिको लाती है। भगवान्को शीघ्र-से-शीघ्र बुलानेकी यही पद्धति है।

कुन्तीने आगे कहा कि प्रभो, तुम जा रहे हो। तुम्हारे बिना हम लोगोंका अस्तित्व ही क्या है ? और यहाँकी पृथिवीकी शोभा ही क्या रह जायेगी। बस मैं यही चाहती हूँ—

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु। ४१

पाण्डवों और यदुवंशियोंमें हमारा जो स्नेहपाश दृढ़ हो गया है, उसको तुम काट दो। उनके प्रति मोहका जो फन्दा है, वह कट जाय। हमारी चित्तवृत्ति समुद्रमें गिरनेवाली गंगाजीकी तरह केवल आपमें गिरे। प्रभो ! हम आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं।

कुन्तीने जब ऐसी स्तुति की, तो भगवान् हँसने लगे। भगवान्की हँसीमें भी बड़ा रहस्य है !

'हासो जनोन्मादकरी च माया।' वे जब एकबार हँस देते हैं, तब मनुष्य क्या-से-क्या हो जाता है। उसके बाद भगवान् जानेको तैयार हुए तो युधिष्ठिरजीने रोक लिया। उनको यह मोह हुआ कि मैंने अपने सगे-सम्बन्धियोंको मारा है। मेरे द्वारा बालक, द्विज, सुहृद्, मित्र, पिता, भ्राता, गुरु सबके साथ द्रोह हुआ है। इसलिए नरकसे मेरी मुक्ति नहीं हो सकती। लोगोंका यह कहना है कि राजा धर्मकी रक्षाके लिए युद्ध करता है तो उसको हत्या नहीं लगती, ठीक हो सकता है, लेकिन इससे मेरे मनको सन्तोष नहीं होता। भले ही पापीको गाली देनेसे दोष नहीं लगे, पर अपने दिलमें गाली बसानेका दोष तो हुआ ही। माना कि जो लड़ाई करनेके लिए सामने आये थे, उनको मारनेका दोष नहीं हुआ, लेकिन उनकी स्त्रियाँ विधवा हो गयीं; उनके बच्चे अनाथ हो गये और उनके वंशका लोप हो गया, इसका पाप कैसे छूटेगा ? यदि कहो कि यज्ञ-यागसे छूट जायेगा तो क्या कीचड़-से-कीचड़ और शराब-से-शराब छूटती है। हत्याका दोष यज्ञमें एक और हत्या कर देनेसे दूर भी नहीं होता।

श्रीमद्भागवत भक्ति-भावनाका ग्रन्थ है और युधिष्ठिर धर्मराज होनेके साथ-साथ भक्तराज हैं। इसीलिए वे भगवान्के सामने ऐसे विचार प्रकट कर रहे हैं।

अब भीष्मपितामह जहाँ शरशय्यापर पड़े थे, वहाँ जानेकी तैयारी हुई। सब लोग रथोंपर चढ़कर चले। स्वयं भगवान् भी अर्जुनके साथ चले। जरा अपने भगवान्‌की झाँकी तो देखिये! ऐसा आपने कहाँ सुना है कि भगवान् सेवक और भक्त स्वामी! रथी अर्जुन और सारथि श्रीकृष्ण। कुछ ही समय पहले, युद्धके प्रारम्भमें अर्जुन कहते हैं—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। गीता १.२१

श्रीकृष्ण, दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो। भक्त आज्ञा दे रहा है और भगवान् उसका पालन कर रहे हैं। हुकुम देनेवाला नौकर और उसको मानकर काम करनेवाला मालिक! ऐसा ईश्वर केवल हमारे वैदिक धर्ममें, केवल हमारे सनातन धर्ममें है, जो अपने सेवकका रथ संचालन करता है और उसकी आज्ञाका पालन करता है।

तो सब लोग चले। बड़ी शोभा हुई! सबने पहुँचकर भीष्मको नमस्कार किया, श्रीकृष्णने भी नमस्कार किया। वहाँ वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, बादरायण-व्यास आदि बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी आ गये। भीष्मपितामहने मन-ही-मन सबकी पूजा की, श्रीकृष्णको तो अपने हृदयमें ही बैठा लिया। अब यहाँ जरा भीष्मपितामहका ध्यान करो। सब-के-सब बाण उनकी छातीमें लगे थे। पीठमें कोई भी बाण नहीं लगा था। उनके शरीरको छेदकर बाणोंकी जो नोंक पीठकी ओर निकली थी, उन्हींपर वे चित्त गिरे थे। सारे बाण धरतीपर गिरते समय बराबर-बराबर हो गये थे और उनकी शय्या-सी बन गयी थी, जिनपर भीष्मपितामहका शरीर अटका हुआ था। ऐसी अवस्थामें जब भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास आये तो भीष्मपितामह बोले कि प्रभो, तुम तो हृदयके भीतर आजाओ, अन्य सबको बाहर रहने दो! उन्होंने उनकी मानसिक पूजा की, उनकी आँखोंमें अनुरागके आँसू आने लगे। वे युधिष्ठिरको सम्बोधित करते हुए बोले कि तुम लोग जो क्लेशपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे हो, उसके लिए मुझे बहुत दुःख है। तुम्हारे लिए कुन्तीने कितने कष्ट सहे हैं। जहाँ युधिष्ठिर राजा हों, भीमसेन गदापाणि हों, अर्जुन गाण्डीवधारी हों और परामर्शदाता श्रीकृष्ण हों, वहाँ भी ऐसा दुःख आया, तो यह कालकी ही लीला है। कालके सामने किसीकी नहीं चलती। जैसा समय आया है, उसीको देखते हुए चलो। जो कालका मुकाबिला करनेमें लग जाता है, वह भगवान्‌का ध्यान नहीं कर सकता। इसलिए कालको अपने ढंगसे चलने दो, तुम अपने ढंगसे चलो—

तू तो राम भजो जग लड़वा दे।
हाथी चलता अपनी चाल से॥

कुतवा भुंकत वाको भुंकवा दे।
तू तो राम भजो जग लड़वा दे॥

श्रीकृष्णको देखो, साक्षात् नारायण हैं। इनको शिव-नारदादि पहचानते हैं। इनको तुम अपना ममेरा भाई समझते हो, इन्हें तुमने अपना दूत बनाया, सारथि बनाया और ये सब कुछ बन भी गये। बननेमें इनका लगता भी क्या है? जानते हैं कि इनको कोई कुछ भी बना दे, परन्तु ये हैं ज्यों-के-त्यों। ये सर्वात्मा हैं। समदर्शी हैं, निरहंकृति हैं। परन्तु इनकी कृपा तो देखो कि भक्त लोग इनका दर्शन चाहते हैं और ये ऐसे भगवान् हैं कि भक्तको दर्शन देनेके लिए चले आते हैं। इनकी महिमा ऐसी है कि इनमें मन लगाकर, इनके नामका संकीर्तन करते हुए यदि मनुष्य शरीर छोड़ दे तो वह कामना और कर्मसे मुक्त हो जाता है।

भीष्मपितामहने श्रीकृष्णको सम्बोधित करते हुए आगे कहा कि भगवन्! तुमने अपने भक्तोंसे बहुत प्रतीक्षा करवाई है। वैदिक मन्त्रोंमें आता है कि 'आशा प्रतीक्षे संगतम्' (कठोप० १.१.८) आशा और प्रतीक्षाका साथ है। आयेंगे या नहीं आयेंगे--यह मालूम न रहनेपर आशा रहती है कि शायद आजायेंगे, आनेकी सम्भावना है। लेकिन जब आनेकी बात बिल्कुल पक्की रहती है तब आशा नहीं, प्रतीक्षा रहती है और यह भावना बनती है कि अब आओ, अब आ जाओ।

तो, भीष्मपितामहने कहा कि 'तुमने भक्तोंसे बहुत प्रतीक्षा करवायी है, अब तुम भी थोड़ी प्रतीक्षा करो और यह देखो कि इन्तजारमें क्या मजा है! जानते हो कि तुम्हें किस चीजकी प्रतीक्षा करनी है? यह प्रतीक्षा करनी है कि जबतक हमारा शरीर छूट न जाय तबतक तुम हमारे सामने खड़े रहो। श्रीकृष्णने कहा कि अच्छी बात है, मैं खड़ा हो जाता हूँ। भीष्म बोले ऐसे ही नहीं, एक बातका और ध्यान रखना। मुखपर प्रसन्नता बनी रहे, उदासीनता न आने पावे, हँसते रहना, आँखोंमें अनुरागकी लाली भी रहे और मुखकमल खिला रहे। इस प्रकार तुम बाहर भी दीखो, और दीखते-ही-दीखते रहो। इसी अवस्थामें हमारी प्रतीक्षा करो।

इसके बाद भगवान्की प्रेरणासे युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे विविध धर्मोंकी जिज्ञासा की। साधारणतया धर्मके बारेमें लोगोंकी जो धारणा है, वह ठीक नहीं है। राजस्थानका एक आदमी चाहता है कि हम जैसा धर्म करते हैं, वैसा ही आसामका आदमी भी करे, उड़ीसाका आदमी भी करे, कश्मीरका आदमी भी करे। इसी आग्रहके फलस्वरूप झगड़े होते हैं। असलमें पुरुषके स्वभावके अनुसार धर्ममें भेद होता है। कोई रागी होता है, कोई वैरागी होता है। वर्णाश्रमके अनुसार भी भेद होता है। वैराग्य और रागकी उपाधिसे भेद होता है। प्रवृत्ति, निवृत्तिसे भी भेद होता है। इसीलिए युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे दान-धर्म, राज-धर्म, मोक्ष-धर्म स्त्री-धर्म, भगवद्धर्म आदिके

सम्बन्धमें संक्षेप तथा विस्तारसे प्रश्न पूछे। किसीको भी अपनी दृष्टि संकीर्ण नहीं बनानी चाहिए, वह तो बिल्कुल उदार होनी चाहिए। बड़ा विश्व है, बड़ा देश है, बड़ी मानवता है और हमारे धर्मशास्त्र उन सबके लिए हैं। कई लोग तो विद्वानोंको पैसे देकर उनके द्वारा धर्मशास्त्रोंमें-से प्रसंग निकलवाते हैं और कई लोग अपने मनोनुकूल अर्थ बदलवाते हैं। उनको यह ख्याल नहीं होता कि जिस प्रसंगको वे निकाल रहे हैं या अर्थ बदल रहे हैं, वह भविष्यमें काम आवेगा। जैसे परशुरामजी द्वारा क्षत्रियोंके वधका प्रसंग आज नहीं तो भविष्यमें उपयोगी सिद्ध हो सकता है। काट-छाँट करने वालोंको इस बातका ध्यान नहीं रहता कि लम्बे काल, लम्बे देश और लम्बी जातिमें कब कहाँ उस प्रसंगकी कैसी जरूरत पड़ सकती है। शास्त्रोंमें काट-छाँट करना, धर्मका अंग-भंग करने जैसा और धर्मको देखनेवाली आँखको फोड़ने जैसा ही है। शास्त्रोंका कोई भी अंश निकालने योग्य नहीं है। अधिकारी भेदसे, देश भेदसे, काल-भेदसे उनकी सबकी संगति लगती है और उपयोगिता है।

अब भीष्मपितामहके महाप्रस्थानका समय आगया। उन्होंने अपना मन समेटा और श्रीकृष्णमें लगाया। खुली आँखें, श्रीकृष्ण सामने और बाणबिद्ध शरीरमें भी न कोई थकान, न कोई पीड़ा और न कोई इन्द्रियोंकी भ्रान्ति। 'जन्यं विसृजन् जनार्दनम्' (३१) शरीरका परित्याग करते समय वे जनार्दनकी स्तुति करते हैं। यह जना माया है, अविद्या है। 'जनयति निखिलं जगत्, जनयति संसारम् इति जना, मायां जनामर्दयति इति जनार्दनः।' जो मायासे, अविद्यासे छुड़ा दे, जादूगर अपने जादूके खेलसे छुड़ा दे और ज्ञानी अज्ञानसे छुड़ा दे, उसका नाम जनार्दन।

भीष्म बोले कि महाराज, मैंने धर्म किया, यज्ञ किया, ब्रह्मचर्यका पालन किया, पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और इन सब साधनों द्वारा अपनी बुद्धिको वितृष्ण बनाया—'इति मतिरुपकल्पित वितृष्णा।' (३२)। अब मै अपनी बुद्धि आपके चरणोंमें अर्पित करता हूं। आप जब प्रकृतिसे विहार करते हैं तब यह सृष्टि चलती है। आपका शरीर कितना सुन्दर है। त्रिभुवनकमनीय, तमालवर्ण, सूर्यकी किरणोंके समान चमकते हुए वस्त्र और कपोलपर लटकी हुई मनोहारिणी अलकें। बस; इसी रूपपर हमारी प्रीति हो। हमको वह दृश्य याद आता है, जब युद्धभूमिमें घोड़ेकी टापोंसे उड़ी हुई धूल आपके बालोंपर पड़ी हुई थी। आपके मुखारविन्दपर पसीना हो रहा था। मै बाण मारे जा रहा था। आप खूनसे लथपथ हो रहे थे। आपका कवच छूट गया था। 'निशितशरैर्विभिद्यमान-त्वचि' (३४)। भगवान् मैं जानता था कि मेरे प्रहारोंका आपपर कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं हैं। आप तो यह दरसा रहे थे कि देखो भीष्म; मैं तुम्हारी भक्तिका, तुम्हारे प्रेमका कितना आदर करता हूँ। तुम मुझे बाण मार-मारकर मेरा खून बहा रहे हो और मैं तुम्हारे प्रेममें पागल हो रहा हूँ। आप ऐसे भगवान् हो, जो अपने भक्तके हाथका बाण भी बड़े प्यारसे अपने शरीरपर ग्रहण करते हो। ऐसी स्थितिमें आपसे कोई प्रेम नहीं करेगा तो और किससे करेगा?

अस प्रभु छाँड़ि भर्जाहि जे आना।
ते नर पसु बिनु पूंछ विषाना॥

आप कितने पक्षपाती हो, यह मैं जानता हूँ। आपने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ लेजाकर खड़ा कर दिया और वहाँ करने क्या लगे कि 'परसैनिकायुरक्षणा हृतवति' (३५) कौरव-सेनाके सैनिकोंकी आयुको अपनी आँखोंसे छीनने लगे। आपने अपनी पक्षपात परायणताकी घोषणा स्वयं अपने मुँहसे की है —

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता ४.११

असलमें भगवान् अपने भक्तोंका पक्षपात न करें तो भक्तिकी मर्यादा ही मिट जायेगी। फिर कोई भक्ति क्यों करेगा ? वे गाली देनेवाले और नाम लेनेवाले दोनोंसे एक ही व्यवहार करें तो उनका नाम क्यों लेगा ? भक्तको कुछ विशेषता तो मिलनी ही चाहिए। अर्जुन युद्धसे विमुख हो गया पर आपने आत्मज्ञानका उपदेश करके उसकी कुमतिको हर लिया। भक्तको हमेशा बड़ा करके रखना आपकी परम्परा है। आपने अपनी प्रतिज्ञा तो तोड़ दी, किन्तु मेरी प्रतिज्ञाको सत्य सिद्ध करनेके लिए रथका पहिया लेकर मुझे मारने दौड़ पड़े। लोगोंको दिख रहा था कि आप मुझे मारने जा रहे हैं। पर मैं समझ रहा था कि आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर तथा मेरी प्रतिज्ञाकी रक्षा करके मुझे उन्नति प्रदान कर रहे हैं। वढ़ावा दे रहे हैं। बस, हमको वही अर्जुनके रथपर बैठा हुआ, घोड़ोंकी बाग्डोर पकड़े हुए—

यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्। ३९

देखो तो सही, युद्धमें श्रीकृष्णने क्या लीला रची। अर्जुनके सारथि बनकर उसके रथके अगले भागपर बैठ गये और अपनी वह सारी सुन्दरता प्रकट कर दी, जो गोपियोंके सामने प्रकट की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कौरवोंके जितने भी सैनिक थे, वे सब श्रीकृष्णके भुवनमोहन सौन्दर्यसे मोहित हो गये और एकटक होकर उन्हींको देखने लगे। वे बाण तो फेंकते जायें पर उनका निशाना न लगे। उनके बाण कहीं-के-कहीं गिरे क्योंकि उनकी आँखें तो श्रीकृष्णपर लगी हुई थीं। इसका फल यह हुआ कि उन सब सैनिकोंको श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई। इसलिए यहाँ कहा गया है —'यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम् (३९) तात्पर्य यह है कि महाभारत-युद्धमें जितने भी सैनिक सम्मिलित हुए थे, वे सब श्रीकृष्णको देखते-देखते मरे और उनको उनके स्वरूपका साक्षात्कार हो गया।

यह कहते-कहते भीष्मपितामहने गोपियोंकी चर्चा कर दी। इससे यह समझना चाहिए कि गोपीरमण, राधारमण भगवान्, भीष्मपितामह-जैसे धर्मज्ञ पुरुषके लिए भी आराध्य थे।

ललितगतिविलास - वल्गुहास--
प्रणयनिरीक्षण - कल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥ ४०

भगवान् श्रीकृष्णकी मुस्कान, चितवन, चलन, हसन, बोलन आदिको देखकर गोपियाँ तन्मय हो गयीं। श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके राजसूयमें अग्रपूजा ग्रहण की ! जो भगवान् सबके शरीरमें बैठे हुए हैं उनसे अन्तमें अभेदकी स्फूर्ति हो जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि धृतराष्ट्र, विदुर, भीष्म, अर्जुन आदि भागवतमें जितने भी लोगोंके मरनेका वर्णन है, वे सब-के-सब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हुए। केवल श्रीकृष्णके बारेमें यह वर्णन है कि उनको भागवती गतिकी प्राप्ति हुई, अन्यथा शेष सबको अभेद गतिकी प्राप्ति होनेका वर्णन है। इसको अर्थवाद बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भागवतका तात्पर्य लोगोंको कहाँ पहुँचानेमें है—'अर्थवादोवपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णय' (तात्पर्यके निर्णयमें अर्थवाद सहायक होता है)।

श्रीमद्भागवतमें देखोगे तो पाओगे कि जो गति भीष्मको मिली, युधिष्ठिरको मिली, विदुरको मिली, उसी गतिका चिन्तन करते हुए संन्यासी महापुरुष भी शरीर छोड़ते हैं। भागवतका तात्पर्य सबको वहीं पहुँचाना है।

भीष्मपितामह आगे कहते हैं कि जितने भी शरीरधारी हैं, सबके हृदयमें एक अजन्मा बैठा हुआ है किन्तु वे अज्ञानवश उससे अपने आपको भिन्न कल्पित कर लेते हैं। जैसे सब आँखोंमें एक ही सूर्य होता है, वैसे ही परमात्माका हमने 'विधूतभेदमोहः' (४२) भेद-मोहसे बिनिर्मुक्त होकर दर्शन कर लिया है, साक्षात्कार कर लिया है और अपने आपसे, अपने आपमें लीन हो गये हैं।

यहाँ देखो, भीष्मपितामह—'सोऽन्तः उपारमत्' (४३) प्राणोंपर चढ़कर किसी लोकमें नहीं गये। अन्तः श्वासका तात्पर्य है कि उनको कोई अशरीर पुरुष आकर नहीं ले गया। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव प्रविलीयन्ते'—(बृहदा० ४.४.६) इस श्रुतिके अनुसार उनका सूक्ष्म शरीर कहीं गया नहीं, वहीं ज्यों-का-त्यों पञ्चभूतमें ही रह गया, उनकी उत्क्रान्ति नहीं हुई। उनके अन्दर गति-अगति नहीं हुई। हुआ यह कि भीष्म सबके देखते-देखते निष्कल ब्रह्ममें लीन हो गये

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले। ४४

उनपर फूलोंकी वर्षा होने लगी। उसके बाद उनका अन्त्येष्टि कर्म सम्पन्न हुआ। फिर वहाँ जितने भी महात्मा आये थे, सब-के-सब श्रीकृष्णको हृदयमें लेकर लौट गये। युधिष्ठिर हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने धृतराष्ट्र-गान्धारीको समझाया-बुझाया और अपना राज्य करने लगे।

❀

: १० :

युधिष्ठिरकी रुचि स्वभावसे ही भोगमें नहीं थी। असलमें राजा होनेका अधिकारी वही है, जिसके भीतर भोग-परायणता न हो! जो अपने भोगके लिए राज्य करता है, वह राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान्‌ने युधिष्ठिरको राजगद्दीपर बैठा दिया! उनको ज्ञान भी प्राप्त हो गया। वे धर्मपूर्वक प्रजाका शासन करने लगे। उनके राज्यमें समयपर वर्षा हो, पृथिवीसे अतिशय अन्न पैदा हो और गायोंके थनमें इतना दूध हो कि उनके चलते समय रास्ते भीग जायँ। नदी, समुद्र आदि सब-के-सब मर्यादित रहें। वृक्षोंमें खूब फल लगे। किसीको आधि-व्याधि नहीं हो।

श्रीकृष्ण कुछ महीनोंतक वहीं रहे और फिर जानेके लिए रथपर बैठे। सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती सब-के-सब उनको पहुँचानेके लिए आये। परन्तु श्रीकृष्णका विरह किसीको सहन नहीं हो रहा था। मनुष्यको एक बार सत्संग मिल जाता है, और दुःसंग छूट जाता है, तो दुःसंगमें क्या दुःख है और सत्संगमें क्या सुख है, इसका उसे अनुभव हो जाता है। उसके बाद सत्संग छोड़नेका मन बिल्कुल नहीं होता। यदि एकबार भी भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय और उनके चरणारविन्दोंका रस मिल जाये तब तो कहना ही क्या है? पाण्डव लोग तो प्रतिदिन भगवान्‌का दर्शन करें, स्पर्श करें, संलाप करें, साथ-साथ शयन करें, उनके आसनपर बैठें और उनके साथ भोजन करें। इसलिए जब भगवान् विदा होने लगे, तब उनकी आँखोंने पलक गिराना छोड़ दिया। वे जहाँ-के-तहाँ निश्चल हो गये। स्त्रियोंने अपने आँसू रोके कि कहीं विदाके समय असगुन न हो जाय! बाजे बजने लगे। अर्जुनने उनका छत्र ग्रहण कर लिया। उद्धव और सात्यकिने व्यजन ले लिये। फूलोंकी वर्षा होने लगी। ब्राह्मण लोग भगवान्‌को आशीर्वाद देने लगे।

श्रीकृष्ण जब हस्तिनापुरसे निकले तो वहाँकी स्त्रियाँ आपसमें, उनका ऐसा वर्णन करने लगीं कि उसको सुनकर वेद, श्रुतियोंका मन मोहित हो गया। वे कहने लगीं कि हाय रे, हमने निर्गुण ब्रह्म और धर्मका तो बहुत वर्णन किया, किन्तु यह जो सगुण, साकार, पीताम्बरधारी ब्रह्म है, इसका वर्णन नहीं किया! 'सर्वश्रुतिमनोहरः' (२०) वेदकी ऋचाएँ मुग्ध हो गयीं, उनका मन अपहृत हो गया और वे बोलीं—श्रीकृष्ण वही हैं, जो सृष्टिके पहले अकेले अपने आपमें रहते थे और सारी शक्तियाँ सोयी हुई थीं! उन्होंने ही अपनी मायासे यह सारी सृष्टि बनायी। बड़े-बड़े महात्मा लोग उन्हींको ढूँढ़ते हैं। वेदोंमें इन्हींकी महिमाका गान है। संसारमें जब अधर्मकी वृद्धि होती है तब ये रूप धारण करते हैं। यदुवंश धन्य है, द्वारिका धन्य है। जिनका इन्होंने पाणिग्रहण किया है, वे स्त्रियाँ धन्य हैं। उन्होंने बड़ा धर्म किया है, जो इनके अधरामृतका पान करती हैं। कौरववंशकी स्त्रियाँ कहती हैं कि बेचारी गोपियाँ तो इनमें अपना दिल लगाकर बेहोश हो गयीं, उनको तो वह नहीं मिला, जो द्वारिकाकी पत्नियोंको मिलता है। पत्नियाँ भी बहुत सारी हैं।

एक सज्जन पूछते थे कि भगवान्‌की इतनी सारी पत्नियाँ क्यों हैं? अरे, ग्रन्थोंमें पत्नियोंकी जो संख्या बतायी गयी है, वह तो बहुत कम है। संसारमें जितने भी कण हैं, जितने भी अणु हैं उन अणुओंमें जितनी शक्तियाँ हैं, जितनी वृत्तियाँ हैं उन सबके पतिकी पत्नियोंकी गिनती यदि सोलह हजार बतायी गयी है तो वह कम नहीं तो और क्या है? कहना तो यह चाहिए कि परमपति परमात्माकी पत्नियोंकी संख्या अवर्ण्य है, अनन्त है।

तो स्त्रियाँ आपसमें वार्तालाप कर रही हैं कि देखो, उनका स्त्रीत्व कितना पवित्र हो गया, जिनके घरमें स्वयं भगवान् बैठे रहे। भगवान्‌ने भी यह वार्तालाप सुना और अपनी दृष्टिसे उनका अभिनन्दन करते हुए, आगे बढ़े। यद्यपि भगवान् सर्वेश्वर हैं, सर्व शक्तिमान् हैं, लेकिन युधिष्ठिरके मनमें उनके प्रति इतना स्नेह है कि उन्होंने मार्गमें शत्रुओंके आक्रमणकी शंकासे यह आदेश दिया, 'श्रीकृष्णके साथ थोड़ी सेना भेज दी जाये'। यद्यपि सेना श्रीकृष्णकी रक्षा नहीं करती, परन्तु युधिष्ठिरका हृदय कैसे मानता! श्रीकृष्ण क्रमशः कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, मरुधन्व, सौवीर आदि देशोंमें होते हुए आनर्त देशमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपना शङ्ख बजाया।

❀

: ११ :

भगवान्‌के शंखकी ध्वनि सुनते ही सारी प्रजा दौड़कर आगयी। यहाँ भगवान्‌के हाथके शंखका बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है—

दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः। २

जैसे कमलके दो फूल हों और उनपर बैठकर हंस कुछ बोल रहा हो, वैसे ही भगवान्‌के दोनों कर-कमलोंके मध्य सफेद शंख, हंसके समान सुशोभित होकर ध्वनि कर रहा है। प्रजाने भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनके चरणोंकी वन्दना की। फिर उपस्थित समुदायने कहा कि 'बस, हमारे तो केवल आप ही हैं। आपके सिवाय हमारा किसीपर भरोसा नहीं है। आपसे ही हम सनाथ हैं।' यहाँ एक बात विशेष रूपसे आयी है और वह भी ध्यान देने योग्य है। लोग कह रहे हैं कि—

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद् रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥

प्रभो, जब कभी आप अपने प्रेमियोंसे मिलनेके लिए कुरुदेश अथवा मधुदेश अर्थात् मथुराकी ओर चले जाते हैं तो हम लोगोंके लिए एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोंके समान हो जाते हैं। जैसे सूर्यके बिना आँखकी दशा हो जाती है, वैसे ही हमारे सामने अन्धकार छा जाता है।

इस प्रकार प्रजाजनोंके उद्‌गार सुनते हुए और उनपर अनुग्रहकी वर्षा करते हुए भगवान् द्वारिका पहुँचे। उसका वर्णन देखो—

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः। १२

द्वारिकाको सब ऋतुओंमें सब विभव प्राप्त है। वहाँके वृक्ष हरे-हरे रहते हैं। लताएँ हरी-हरी रहती हैं। वहाँ बड़े सुन्दर-सुन्दर आश्रम हैं, उद्यान हैं, उपवन हैं, आराम हैं। बड़े-बड़े द्वार बने हुए हैं, तोरण लगे हुए हैं, चित्रध्वज फहरा रहे हैं। वहाँ बड़ी भारी सफाई है। बाजार अलग हैं। जगह-जगह चबूतरे बने हुए हैं। सभास्थल बने हुए हैं। चारों ओर सुगन्ध उड़ रही है। पूर्णकुम्भ लगे हुए हैं। श्रीकृष्णके आगमनका समाचार सुनकर सारी द्वारिकाके स्त्री-पुरुष बाहर निकल आये। अक्रूर, उग्रसेन, राम, प्रद्युम्न, साम्ब, जाम्बवती आदि सबके सब अगवानी करने आगये। ब्राह्मण मांगलिक पाठ कर रहे हैं। शंख-तुरही बज रही है, वेदोंके मन्त्रोंका उच्चारण हो रहा है। सबके हृदयोंमें बहुत-बहुत प्रेम है। भगवान्‌के स्वागतके लिए वारमुख्या (वाराङ्गनाएँ) भी आगयीं, नट-नर्तक-गन्धर्व आगये। यह मत समझना कि उस समय गान्धर्वविद्या अथवा मनोरंजनकी कला नहीं थी। उस समय भी लोग नाचते थे, गाते थे, बजाते थे, नाटक करते थे। संगीत-विद्या थी, सूत-मागध-बन्दी सब थे।

यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे ॥ २१
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२

भगवान्‌ने सबका सम्मान किया। किसीको देखकर सिर झुकाया, किसीको देखकर नमस्कार किया, किसीको हृदयसे लगा लिया, किसीका कर-स्पर्श किया, हाथ मिलाया, किसीकी ओर मुस्कुराकर देखा। किसीसे बात करनेका अवसर नहीं मिला। लेकिन जो अन्त्यज, चाण्डाल आदि भगवान्‌के लिए आये थे, उनसे तो उन्होंने प्रेमपूर्वक बात की और—'वरैश्चाभिमतैर्विभुः'—पूछा कि तुम्हें किस चीजकी जरूरत है? फिर उनको आश्वासन भी दिया।

इसके बाद भगवान् अपनी पुरीमें गये। वहाँकी सब स्त्रियाँ हरमपर चढ़ गयीं। यद्यपि द्वारिकावासी लोग रोज-रोज श्रीकृष्णको देखते हैं, लेकिन प्रेमकी महिमा यह है कि—'नवतृप्यन्ति हि दृशः' (२५) अपने प्यारेको देखकर आँख तृप्त नहीं होती। इसीलिए कवि विद्यापतिने कहा है कि—

जनम अवधि हम रूप निहारेनु, नयन न तिरपित भयेल।

संसारके लोग तो अच्छे से-अच्छे रूपको देखते-देखते बोर हो जाते हैं और कहते हैं कि हम कबतक तुमको निहारते रहें ? परन्तु श्रीकृष्णका रूप ऐसा है कि उनको देखकर आँखें तृप्त नहीं होतीं ? भक्तोंको क्षण-क्षणमें उनका रूप नया-नया लगता है क्योंकि वह अलौकिक है। उनके वक्षःस्थल पर लक्ष्मी हैं और बाहुओंमें लोकपालका निवास है।

अब पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण द्वारिकामें प्रवेश कर रहे हैं। उनपर फूलोंकी वर्षा हो रही है। उन्होंने सबसे पहले माता-पिताको प्रणाम किया। यहाँ देखो भगवान्का लोक-संग्रह। यह नहीं कि वे ईश्वर हैं तो माता-पिताको नमस्कार नहीं करेंगे। आजकलके लड़के चार अक्षर पढ़ जाते हैं और माता-पिताकी उपेक्षा करने लगते हैं। यह पाश्चात्त्य सभ्यताका दुष्प्रभाव है। पाश्चात्त्य संस्कृति पत्नी-प्रधान है, प्रेयसी-प्रधान है, भोग-प्रधान है। वहाँ व्याह करके पत्नी लाये और माता-पिताको छोड़कर अलग हो गये। किन्तु हमारे देशकी संस्कृति भोग-प्रधान, काम-प्रधान नहीं है, धर्म-प्रधान है। इसीलिए यहाँ 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' (तै० ३ प० १.११.२) की भावना है। जहाँ भोग मिले, उसीसे प्रेम करनेकी पद्धति हमारे देशमें नहीं है। यहाँ जिसने जन्म दिया, स्नेह दिया और पालन-पोषण किया, उससे प्रेम करनेका मतलब ईश्वरसे प्रेम करना है। हमारे देशमें माता-पिता ईश्वरके समान ही माने जाते हैं।

तो भगवान् श्रीकृष्ण अपने माता पिताके चरणोंमें गिर पड़े। माता-पिताने उनको अपने हृदयसे लगा लिया। स्नेहकी अधिकतासे माताके हृदयसे दूधकी धारा गिरने लगी। उनकी आत्मा प्रेमसे प्लावित हो गयी। नेत्रोंसे हर्षके आँसू गिरने लगे। माता-पितासे मिलनेके बाद श्रीकृष्ण पत्नियोंकी ओर गये। पत्नियाँ उनको देखकर आसनसे उठीं और उनके हृदयमें जो लज्जा-संकोच आदि थे, उन सबका निवारण हो गया। उनकी आँखोंसे आँखें मिल गयीं और फिर हृदयसे हृदय मिल गये। श्रीकृष्ण प्रतिदिन उनके पास रहते हैं लेकिन उनके चरण नित्य नूतन-नूतन प्रतीत होते हैं। उनकी महिमा ऐसी है कि स्वयं लक्ष्मीजी भी उनका त्याग नहीं कर सकतीं। भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ एक ओर बिना आयुध उठाये महाभारतका युद्ध समाप्त कर दिया, वहाँ दूसरी ओर वे स्त्रियोंके बीचमें रहकर स्त्रीरत्नकूटस्थ होकर प्राकृत पुरुषोंकी भाँति विहार कर रहे हैं। जैसे हृदयमें रहनेवाले साक्षी पुरुषके सामने वृत्तियाँ तरह-तरहकी क्रीड़ा करती रहती हैं, परन्तु वह साक्षी पुरुष तटस्थ

रहता है, कूटस्थ रहता है, असंग रहता है, वैसे ही पत्नियोंके मध्य श्रीकृष्णकी स्थिति है। क्या साक्षी पुरुष आजतक किसीसे बँधकर उसके साथ बह गया है ? अतः पहले अपने आत्माको समझो, तभी श्रीकृष्णको समझोगे। जो आत्माका स्वरूप है, वही श्रीकृष्णका स्वरूप है।

भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ ऐसी-ऐसी रूपवती थीं, उनका ऐसा निर्मल मधुर हास था, उनकी ऐसी मादक लज्जा थी, चितवन थी कि उससे घायल होकर कामदेवने अपना धनुष-बाण छोड़ दिया और वह बोला कि जब इस धरतीपर ऐसी-ऐसी श्रीमतियाँ हैं, तो मेरे लिए हाथमें धनुष-बाण रखना व्यर्थ है। परन्तु जिनको देखकर कामदेवकी यह दशा हुई, वही प्रेयसियाँ, श्रीमतियाँ श्रीकृष्णके मनमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकीं—

यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः। ३६

वे कितनी भी छेड़छाड़ करें, हाव-भाव दिखावें और अपनी ओर खींचनेकी कोशिश करें, लेकिन श्रीकृष्णके मनमें कभी किसी प्रकारका विकार उदय नहीं हुआ। मूढ़ हैं वे दुनियादार लोग जो उस असंग परमात्माको आसक्त मानते हैं। इसका कारण यही है कि वे श्रीकृष्णको अपने जैसा ही समझते हैं। अरे, यदि तुम विकारके वशमें हो जाते हो तो योगेश्वर श्रीकृष्ण भी विकारके वशमें हो सकते हैं। यह मान्यता तो तुम्हारी मूर्खताका परिचायक है—

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदाऽत्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥ ३८

भगवान् तो ऐसे हैं कि उनका आश्रय लेनेपर मनुष्यकी बुद्धि संसारमें नहीं फँसती। जब भक्तकी यह स्थिति हो जाती है तब स्वयं भगवान् प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिके विकारोंमें नहीं फँसे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? यही तो ईश्वरकी ईश्वरता है। और तो और, भगवान्की माया ऐसी है कि उनकी जो पत्नियाँ थीं, वे भी श्रीकृष्णको नहीं पहचानती थीं, यह समझती थीं कि ये तो बड़े स्त्रीलम्पट हैं—अनुव्रत हैं। एकान्तमें हमारे साथ कितना अनुनय-विनय करते हैं। उनकी स्थिति उस मति जैसी थी, जो अमत वस्तुको नहीं पहचानती। जो यह कहता है कि हमारी मतिने परमात्माको देख लिया, समझो कि वह ठीक नहीं कहता है।

अविज्ञातं विजानताम् (केन उप० २.३)

: १२ :

इसके बाद शौनकजी कहते हैं कि सूतजी, अश्वत्थामाके अस्त्रसे उत्तराका गर्भ तो मरते-मरते बच गया ! अब आप उस गर्भसे उत्पन्न परीक्षितका चरित्र सुनाइये । आपने यह बात तो बतायी कि पाण्डवोंका वंश कितना भक्त था । कुन्ती भी भक्त, द्रौपदी भी भक्त, सुभद्रा तो भगवान्‌की बहन ही थी । उत्तरा भी भक्त, भगवान्‌का भानजा अभिमन्यु भी भक्त और उसके पिता अर्जुन भी भक्त ! ऐसे भक्तवंशमें जन्म होनेके कारण परीक्षितकी पुरुष-शुद्धि थी । इसलिए वे श्रीमद्भागवत-श्रवणके विशुद्ध अधिकारी थे । असलमें यह प्रशंसा केवल परीक्षितकी है, कुन्ती, सुभद्रा, अर्जुन आदिकी नहीं है । शौनकजीका आशय यह है कि जिसकी रक्षा भगवान्‌ने गर्भमें की और जिसको गर्भमें ही भगवान्‌का दर्शन हुआ, उस महापुरुषका चरित्र हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं ।

इसपर सूतजी वर्णन करते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रजाकी रक्षा करते थे । भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवासे उनकी सब कामनाएँ निवृत्त हो गयी थीं । उनके पास सब कुछ था—बहुत बड़ा राज्य था, सम्पत्ति थी, पत्नी थी, भाई थे और धर्माचरण भी था, किन्तु क्या इनसे उनको प्रसन्नता मिलती थी, सुख मिलता था ? नहीं-नहीं, उनका मन तो भगवान्‌में लगा रहता था । यदि कोई आदमी भूखा-प्यासा हो, भोजनकी, पानीकी तलाशमें हो और उससे कहा जाय कि आओ, हम तुम्हारे सिरपर मुकुट बाँध दें, तुमको बढ़िया मखमली वस्त्र पहना दें, तुम इस भव्य भवनमें रहो और इस पलंगपर सो जाओ, तो क्या उस भूखे-प्यासे व्यक्तिको यह अच्छा लगेगा ?

उसी प्रकार युधिष्ठिर तो श्रीकृष्णके लिए भूखे थे, श्रीकृष्णके लिए प्यासे थे । इसलिए उनको उनका बड़ा-से-बड़ा राज्य और भाँति-भाँतिकी सुख-सम्पदायें सन्तोष देनेवाली नहीं थी ।

अब सूतजी परीक्षितका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब वे गर्भमें रह रहे थे, तब अकस्मात् उन्होंने देखा कि उनका शरीर ब्रह्मास्त्रके तेजसे जल रहा है । परन्तु साथ-ही-साथ अँगूठेके बराबर आकारवाला मुकुटमण्डित पीताम्बरधारी एक पुरुष भी दिखायी पड़ रहा है, जो चारों ओर गदा घुमा-घुमाकर उसकी रक्षा कर रहा है । परीक्षित यह देखने लगे कि गदा घुमानेवाला कौन है ? इसीसे उनका नाम परीक्षित पड़ा ।

परीक्षित शब्दकी इस नैरुक्त व्युत्पत्तिके अनुसार इनके सामने जो भी आता, उसको देखकर यह विचार करते कि जिसको मैंने गर्भमें देखा था, वही आया है क्या ? किसी भी मनुष्यको सामने

आया देखकर उनके मनमें इस बातका विचार नहीं होता कि यह हमारा दुश्मन है, दोस्त है या और कुछ है। वे तो यही सोचते कि कहीं वही प्रभु तो नहीं आगया है, जिसने गर्भमें हमारी रक्षा की थी। परीक्षित उसीका नाम है जिसे सामने आये व्यक्तिको देखकर एकबार भगवान्‌की याद आजाये और वह यह अनुभव करे कि इसके रूपमें कहीं भगवान् ही तो नहीं आये हैं।

तो भगवान्‌ने परीक्षितकी रक्षा की और समयपर पाण्डुवंशमें उनका जन्म हुआ। राजाको बड़ा आनन्द आया। जिस समय मनुष्यको सुख-आनन्द मिले, उस समय भी यदि उसकी मुट्ठी बँधी रहे तो समझना कि उसको कोई सुख, कोई आनन्द नहीं हुआ।

जब आनन्द आता है, तब मुट्ठी ढीली पड़ जाती है और कृपण भी उदार बन जाता है। एक गृहस्थ महात्मा थे। उनके घरमें पुत्र उत्पन्न हुआ तो वे घरकी सब चीजें लुटाने लगे। लोगोंने कहा कि अरे, बेटा हुआ है, उसके लिए कुछ तो रहने दो, सब काहेको बाँटते हो? उन्होंने उत्तर दिया कि मैं इस बच्चेका प्रारब्ध नहीं बाँट रहा हूँ। यह अपने साथ जो लेकर आया होगा, वहा इसके काम आयेगा। इसके भविष्यके लिए हम अपने हृदयको संकुचित क्यों करें!

तो राजा युधिष्ठिर परीक्षितके जन्मसे बड़े प्रसन्न हुए! उनके सब संस्कार हुए ही थे—गर्भाधान हुआ था, सीमन्तोन्नयन हुआ था, पुंसवन हुआ था और जात-कर्म हुआ था। गर्भाशयकी शुद्धिपीठशुद्धि है, आधार-शुद्धि है। उसको गर्भाधान-संस्कार कहते हैं, जिससे कि माताके पेटमें रहनेकी जगह शुद्ध हो जाये। पुंसवन-संस्कारसे वीर पुरुष पैदा होते हैं। सीमन्तोन्नय-संस्कारसे पतिका पत्नीके प्रति प्रेम प्रकट होता है। वह उसकी माँग सँवारता है, उसको सीमन्तोन्नयन करता है, जिससे पत्नीके मनमें यह आस्था होती है कि पति हमसे प्रेम करता है और उसकी इस आत्मतुष्टिसे बच्चेका पालन-पोषण होता है। फिर बच्चेके पैदा होनेपर उसका जातकर्म-संस्कार होता है। इन संस्कारोंसे बैजिक और गार्भिक अर्थात् पिताके वीर्य और माताके गर्भके दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है तथा बच्चे शुभ संस्कार-सम्पन्न होते हैं।

अब नामकरणके समय ब्राह्मणोंने कहा कि तुम्हारे नष्टप्राय कुलकी रक्षा करनेके लिए भगवान्‌ने यह बालक दिया है। इसलिए इसका नाम विष्णुरात होगा और यह भगवान्‌का बड़ा भारी भक्त होगा। इसपर युधिष्ठिर प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि महाराज! बेटा तो हो, परन्तु वह यदि अपने कुलके अनुरूप न चले तो कितने दुःखकी बात हो जाती है। जो वंशधर वंश ही डुबा दे, उनके होनेसे क्या फायदा? इसलिए आपलोग बताइये कि हमारे पूर्वज जैसे रहते थे, वैसे ही यह भी रहेगा कि नहीं?

ब्राह्मणोंने कहा कि महाराज, आप क्या पूछते हो? यह बालक इक्ष्वाकुके समान प्रजाका रक्षक होगा, दाशरथि रामके समान ब्रह्मण्य एवं सत्यसन्ध होगा, शिबिके समान दाता होगा, भरतके

समान यशस्वी होगा, कार्तवीर्य अर्जुनके समान धन्वी होगा, पावकके समान तेजस्वी होगा, समुद्रके समान गम्भीर होगा और इन्द्रके समान पराक्रमी होगा। ब्राह्मणोंने परीक्षितके गुणोंका गान करते हुए फिर कहा कि महापुरुषोंमें जो अलग-अलग सद्गुण होते हैं वे सब-के-सब गुण एक साथ परीक्षितमें आनेंग। इसका वंश भी चलेगा। जनमेजय आदि इसके पुत्र होंगे। यह कलियुगको भी अपने काबूमें कर लेगा। और अपने राज्यमें कालका प्रभाव व्याप्त नहीं होने देगा।

अब देखो परिस्थितियोंके अनुसार राजा होता है या राजाके अनुसार परिस्थितियाँ होती हैं? परिस्थितियाँ तो जड़ हैं और शासक चेतन है। इसलिए चेतनके अनुसार परिस्थितियाँ पैदा होती हैं, स्वयं परिस्थितियोंसे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। एक बुद्ध पैदा हो गये और वे लाखों-करोड़ोंको बौद्ध बनाकर छोड़ गये। एक ईसा हुए, एक मुहम्मद हुए, एक शंकराचार्य हुए। इनके समान दुनियामें दूसरा कौन पैदा हुआ। महापुरुषकी लीला ही अलग होती है। वह कालको अपने वशमें कर लेता है और धर्मकी स्थापना करता है'।

ब्राह्मणोंने अन्तमें कहा कि यह मृत्युका ज्ञान होनेपर डरेगा नहीं। गङ्गाजीके किनारे जाकर अनशनपर बैठेगा और महात्मा लोग आकर उपदेश करेंगे। इसका नाम होगा परीक्षित। क्योंकि इसने गर्भमें जो देखा था, उसीको लोगोंमें ढूँढेगा—

गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह। ३०

अब बड़ा विलक्षण प्रसङ्ग है! ऐसा प्रसङ्ग जल्दी मिलना मुश्किल है। हमारी भारतीय संस्कृतिमें तो मिलेगा, लेकिन दुनियामें अन्यत्र ऐसा प्रसङ्ग नहीं मिलेगा। राजा युधिष्ठिरके मनमें आया कि हम यज्ञ करें। किन्तु उनके पास यज्ञके लिए धन नहीं था। देखो, भारतवर्षका एकछत्र सम्रा् और उसके पास यज्ञ करनेके लिए अपना धन नहीं। जो धन था, वह प्रजासे कर और दण्डसे वसूल किया गया था। इसलिए युधिष्ठिरजीका यह कहना था कि यदि हम इस धनसे यज्ञ करगे तो वह प्रजाके द्वारा किया हुआ यज्ञ होगा। उसके फल-भोक्ता हम नहीं होंगे। उसके लिए तो हमारी अपनी सम्पत्ति होनी चाहिए। हम अपने धर्मके लिए प्रजाकी सम्पत्ति कैसे खर्च करें?

श्रीकृष्णने विचार किया कि युधिष्ठिरकी इच्छा पूरी होनी चाहिए। उन्होंने बताया कि उत्तर दिशाकी ओर धरतीमें धन गड़ा हुआ है और जो धन धरतीमें गड़ा हुआ होता है, वह राजाका होता है। युधिष्ठिरने श्रीकृष्ण की बात मान ली। वह धन लाया गया। उससे सामग्री एकत्र की गयी और राजा युधिष्ठिरका यज्ञ सम्पन्न हुआ। उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके आग्रहपर कई महीनोंतक वहाँ रहे और उनकी अनुमति लेकर पुनः द्वारिका लौटे।

❀

: १३ :

इधर विदुरजी जब तीर्थयात्रामें थे, तब उन्होंने महर्षि मैत्रेयसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें श्रवण किया। उन्हें जो कुछ जाननेकी इच्छा थीं, वह पूरी हो गयी थी। मनुष्यको जितना आवश्यक हो, उतना ही जानना चाहिए। पण्डितोंको शास्त्रार्थ करना होता है, तब वे दूसरोंको पराजित करनेके लिए अपनी बुद्धिमें अधिक परिग्रह करके रखते हैं। जैसे घरमें धनका आवश्यकतासे अधिक परिग्रह होता है, वैसे ही बुद्धिमें तर्क, कुतर्क, वितर्क, युक्तिका परिग्रह होता है। उसके कारण विक्षेप होता है, मन एकाग्र नहीं होता और भगवान्‌की ओर नहीं लगता।

विदुरजीने अपने अन्य सब प्रश्नोंको छोड़ दिया और केवल भगवान्‌के ध्यानमें लग गये। वैसे जितने भी प्रश्न हैं, उन सबका अन्त भगवान्‌के ज्ञानमें ही है। उस एकके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान हो जाता है—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मुण्डक उप० १.१.३

जब विदुरजी हस्तिनापुर लौटे, तब धृतराष्ट्र, गान्धारी, द्रौपदी आदि सबने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया, उनकी पूजा हुई—

राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम्। ६

विदुरजी अपने आसनपर विराजमान हुए और जब आराम कर चुके तब उनसे राजा युधिष्ठिरने बड़े विनयके साथ प्रश्न किया—विदुरजी, जैसे पक्षी अपने पंखोंकी छायामें अपने अण्डोंको सेता है, वैसे ही आपने अपनी पक्षच्छायासे हमारी सेवा की है और हमको विपत्तियोंसे बचाया है। यहाँ देखो, युधिष्ठिरकी कृतज्ञता! जिस मनुष्यके हृदयमें कृतज्ञता नहीं है, वह भगवान्‌की भक्ति नहीं कर सकता। कृतघ्न व्यक्ति न तो आँख देनेवालेके प्रति कृतज्ञ होगा, न दिल देनेवालेके प्रति कृतज्ञ होगा और न ज्ञान देनेवालेके प्रति कृतज्ञ होगा। क्योंकि उसके हृदयमें कृतज्ञता ही नहीं है। एक बात और, अगर भगवान्‌का दर्शन करना है तो एक बार पक्षी होना भी आवश्यक है।

अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। कठउप० १.१.२०

कठोपनिषद्‌में एक प्रसंग आया है जो ध्यान देने योग्य है। कोई-कोई कहते हैं कि मरनेके बाद आत्मा रहती है और कोई-कोई कहते हैं कि मरनेके बाद आत्मा नहीं रहती। इन दोनों पक्षोंके प्रसंगमें किसीने कहा है कि हम तो निष्पक्ष होकर रहेंगे। किन्तु निष्पक्ष होकर रहोगे तो भगवान्‌की ओर नहीं चल पाओगे। इसलिए पक्षपात लेकर चलो, ठीक वैसे ही, जैसे सिद्ध पक्षी काकभुशुण्डिजी

आदि चलते हैं। एक बार भगवान्‌के पक्षमें हो जाओ और जब भगवान् मिल जायँ तो अपने पक्षको काटकर फेंक देना, जिससे कि फिर उड़कर कहीं जाना न पड़े। जबतक भगवान् न मिलें तबतक तो पक्ष होना, भगवत्पक्ष होना परम आवश्यक है।

युधिष्ठिरने पूछा कि महाराज, आप कहाँ-कहाँ रहे हैं? आप जैसे भगवद्भक्त तो स्वयं तीर्थ होते हैं। वे तीर्थोंको तीर्थ बनानेके लिए ही विचरण करते हैं। आप द्वारिका भी गये होंगे, यदि नहीं गये होंगे तो वहाँके हमारे भाई-बन्धुओंके समाचार अवश्य प्राप्त किये होंगे? हमें सब कुछ बताइये?

इसपर विदुरजीने और सब-कुछ तो बता दिया, लेकिन यदुवंशके विनाशकी बात नहीं बतायी। क्यों नहीं बतायी? इसलिए नहीं बतायी कि वह दुःख देनेवाली थी। दुःखदायी समाचार यदि घण्टे-दो-घण्टे बाद भी मिलेगा तो सुननेवालेकी कोई हानि नहीं होगी। इसलिए तुम दुःख देनेमें निमित्त मत बनो? जब वह प्रसंग आवेगा तो सुननेवाला सुन लेगा। तुम उसके दुःखको पहले क्यों पहुँचाते हो? तुम्हें सन्देश ही ले जाना है तो कोई सुखदायी सन्देश ले जाओ, दुःखदायी सन्देश क्यों ले जाते हो? किसीको भी दुःखका समाचार जल्दी नहीं देना चाहिए। खूब सोच-समझकर जब आवश्यक हो तभी देना चाहिए। यह सज्जनोंकी परम्परा है।

विदुरजी थोड़े दिनोंतक हस्तिनापुरमें रहे! वे साक्षात् धर्म थे। माण्डव्य ऋषिके शापसे सौ वर्षके लिए शूद्र बन गये थे। इतने दिनोंतक यमराजके पदपर अर्यमा थे और वही पापियोंको दण्ड देते थे। यह कथा महाभारतमें आयी है।

युधिष्ठिरके यहाँ बड़ा आनन्द था। परन्तु जब मनुष्य घरमें आसक्त हो जाता है तब उसे कालका कुछ पता नहीं चलता। आपने देखा होगा, ब्याह-शादी और गाने-बजानेके कार्यक्रममें कब रात बीत गयी, इसका भान नहीं होता। लेकिन घर, गाँवसे कोई दुःख हो, मुर्देके पास बैठना पड़े तो मालूम पड़ता है कि रात बीत नहीं रही है। एक ही रात्रि दुःखी आदमीके लिए कल्पभरके बराबर और सुखी आदमीके लिए क्षणभरके बराबर है।

विदुरजी महात्मा थे, समयकी गति पहचानते थे। उन्होंने धृतराष्ट्रसे कहा कि राजन्! बड़ा भारी भय आनेवाला है और इसका कोई प्रतीकार नहीं है। अब काल सामने आगया है। जब अपना ही शरीर छूट जाता है तो सम्बन्धियोंकी तो बात ही क्या? तुम्हारे सभी सम्बन्धी चले गये। शरीरमें बुढ़ापा आगया। दूसरेके घरमें रह रहे हो, फिर भी तुमको जीनेकी आशा बनी हुई है। क्या तुम यह अनुभव नहीं करते कि घरके लोग कितने तिरस्कारसे तुमको रोटी देते हैं?

भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्। २२

जैसे कुत्तेको रोटीका टुकड़ा डाला जाता है, वैसे तुम्हारे पास भोजन आता है। जिनको

तुम्हारे बच्चोंने आगसे जलाया, जहर दिया, जिनकी पत्नीको दूषित करनेका प्रयास किया, जिनका खेत और धन लूट लिया, उन्हींके दिये हुए भोजनसे तुम अपना जीवन व्यतीत करते हो। फिर भी तुम्हारा यह शरीर अब रहनेवाला नहीं है, यह तो जा रहा है। अब तो शरीरको ऐसे ढंगसे छोड़ो कि यह सार्थक हो जाय। अगर लोगोंको रुलाकर शरीर छोड़ा तो क्या छोड़ा? ऐसे शरीर छोड़ो कि लोगोंको पता ही न लगे कि कब मर गया—

अविज्ञातगतिर्जह्यात्। २५

विदुरजी फिर कहते हैं कि मर जानेके बाद सगे-सम्बन्धियोंकी जरूरत नहीं होती। मृत शरीरका भण्डारा चाहे कुत्तोंको, चाहे कौओंको, चाहे वह पानीमें डूब जाय, आगमें जल जाय या मिट्टीमें मिल जाय, कोई अन्तर नहीं पड़ता। कैसे भी हो, जीवनकालमें मनुष्यको वैराग्य हो जाना चाहिए और भगवान्‌के साथ उसका मन जुड़ जाना चाहिए। इसलिए आओ हम लोग उत्तर-दिशामें चलें।

इस प्रकार विदुरजीके कहनेपर धृतराष्ट्रने अपना दृढ़ स्नेह-पाश काट दिया, गान्धारी भी उनके साथ हो गयी और तीनों हिमालयकी ओर निकल पड़े। हिमालय दण्डन्यास करनेवालोंको हर्ष प्रदान करता है—'हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षम्' (२९)। दण्डन्यासका अर्थ है कि हम किसीको सजा देनेके अधिकारी नहीं हैं। संन्यास लेते समय यह संकल्प ग्रहण किया जाता है कि संसारके सब प्राणी हमसे निर्भय हो जायँ। 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा प्रव्रज्यामाचरेत्।' यह दण्ड अपराधी प्राणियोंपर भी चलानेके लिए नहीं है। जिन लोगोंने दण्डके न्यासका संकल्प कर लिया है, उनके लिए सबसे अच्छी जगह हिमालय है।

इधर राजा युधिष्ठिरकी दिनचर्या यह थी कि वे अपना नित्य-कर्म सम्पन्न करके सन्ध्या-वन्दन करते थे, सूर्यको अर्घ्य देते थे, अग्निहोत्र करते थे, ब्राह्मणोंको नमस्कार करते थे, अन्नदान करते थे, और उसके बाद माता-पिता तथा गुरुजनोंको नमस्कार करने उनके पास जाते थे। जब वे धृतराष्ट्र और गान्धारीके यहाँ पहुँचे तो देखा कि उनका कहीं अता-पता नहीं है। उन्होंने संजयसे पूछा कि वे कहाँ गये? कहीं मेरे ऊपर नाराज होकर गंगाजीमें तो नहीं कूद पड़े? संजयको भी उनका पता नहीं था। उन्होंने कहा कि लगता है, वे हमें ठगकर कहीं चले गये हैं। इसी समय नारदजी वहाँ आगये। नारदजीकी सब जगह अप्रतिहत गति है। उनको कहीं कोई रोक नहीं सकता। वे भगवान्‌के संकल्प हैं, जहाँ जरूरत होती है, वहीं उपस्थित हो जाते हैं। युधिष्ठिरने उनकी पूजा की और पूछा कि हमारे गुरुजन कहाँ हैं?

नारदजी बोले कि अब तुम उनके लिए शोक आदि मत करो। तुमसे अपने लिए तो कुछ होता नहीं और तुम दूसरेके दुःखमें अपने मनको खराब कर रहे हो। सब ईश्वरके अधीन हैं और

उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। जैसे खिलाड़ी कभी दो खिलौनोंको जोड़ देता है और कभी अलग कर देता है, वैसे ही ईश्वर करते हैं। लेकिन यह तो खिलाड़ीकी इच्छा है, इसमें तुम्हारा क्या है ? संसार नित्य है तो भी चिन्ता मत करो, अनित्य है तो भी चिन्ता मत करो और नित्यानित्य है तो भी चिन्ता मत करो। अज्ञानके सिवाय चिन्ताका दूसरा कोई कारण नहीं है। इसलिए तुम अपनी विकलता छोड़ दो। यह मत सोचो कि तुम्हारे बिना उसका पालन-पोषण कैसे होगा।

वास्तवमें जो यह समझता है कि अगर हम अमुकको रोटी नहीं देंगे तो उसको खानेको कहाँ मिलेगा, वह बेवकूफ है। एकबार शिवाजीको अभिमान हो गया कि अकालके समय हम लोगोंको रोटी देते हैं। उनके सद्‌गुरु समर्थ रामदासने कहा कि 'शिवा, इधर आ हथौड़ा ले आ और पत्थर तोड़।' शिवाजीने पत्थर तोड़ा तो उसके भीतर एक कीड़ा निकला। उसके मुँहमें एक चावल निकला, वहाँ पानी भी था। समर्थ रामदासने कहा 'शिवा, बोल उस पत्थरके भीतर छेद बनाकर पानी किसने रखा ? कीड़ेके मुँहमें चावल किसने दिया।' शिवाजी समझ गये और बोले कि महाराज, हमारा अभिमान बिल्कुल व्यर्थ है।

मनुष्य अपनी चिन्ता तो करते नहीं, दूसरेकी चिन्तामें दिल, दिमागको खराब करते रहते हैं। भला यह पाञ्चभौतिक शरीर दूसरेकी रक्षा कैसे करेगा ? साँपके मुँहमें मेढ़क होता है और मेढ़क मक्खीको खा रहा होता है ! इसी तरह तुम कालके मुँहमें तो खुद ही पड़े हुए हो, अब दूसरेका क्या करोगे ? संसारकी यही रीति है कि यहाँ सब एक दूसरेको खाते-खिलाते चल रहे हैं।

नारदजी कहते हैं कि एक ही परमात्मा नाना रूपोंमें भास रहा है। अब वह कालके रूपमें आया है। तुम धृतराष्ट्रकी चिन्ता मत करो। वे गान्धारीके साथ हिमालयकी दक्षिण-दिशामें जहाँ सप्तसरोवर है चले गये हैं और वहाँ हवनादि करके शान्त बैठे हुए हैं। भगवान्‌के भजनसे उनका हृदय शुद्ध हो गया है।

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥ ५४
ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ॥ ५५

नारदजीने आगे कहा, धृतराष्ट्रजी नेति नेतिके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चका निषेध करके और आत्माको ब्रह्मसे एकाकार करके बैठे हुए हैं। उन्होंने 'संन्यस्ताखिलकर्मणः' अखिलकर्मका संन्यास-कर लिया है। अब उनका शरीर छूट जायेगा, गान्धारी उनके साथ सती हो जायेगी और विदुरजी भी चले जायेंगे। ऐसा कहकर नारदजी चले गये।

❦

: १४ :

युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका समाचार जाननेके लिए अर्जुनको द्वारिका भेज दिया था। कई महीने हो गये, अर्जुन लौटकर नहीं आये।

युधिष्ठिरने देखा कि संसारकी गति बड़ी विलक्षण हो गयी है। गर्मीमें गर्मी नहीं पड़ती, सर्दीमें सर्दी नहीं पड़ती, बरसातमें वर्षा नहीं होती और लोग अपनी जीविका पापसे चलाने लगे हैं। यह सब भगवान्‌के विमुख हो जानेकी पहचान है। 'पापीयसीं नृणां वार्ताम्' (३) लोग धर्म और ईश्वरके नामका उपयोग भी अपने धनकी रक्षाके लिए करते हैं। वे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए धर्म नहीं करते, दूसरोंको दबानेके लिए धर्म करते हैं। बड़ा भारी उपद्रव हो रहा है। लोगोंके मनमें क्रोध, लोभ और असत्य घर कर गये हैं। मित्रतामें शठता और भाई-बन्धुओंमें झगड़े होने लगे हैं। चारो ओर अधर्म ही अधर्म प्रकट हो रहा है।

युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा कि महीनों हो गये, अर्जुन लौटकर नहीं आये। क्या वह समय आगया, जब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी लीला संवरण करेंगे? उन्हींकी कृपासे तो हमको राज्य मिला था। बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं। अपशकुन हो रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें कई स्थानोंपर अपशकुनका

वर्णन आता है। अपशकुन शरीरमें भी होते हैं। जैसे आकाशमें, धरतीमें स्फुरण होते हैं वैसे ही शरीरमें भी होते हैं। युधिष्ठिरने उन अपशकुनोंका वर्णन किया और कहा कि मालूम होता है, हमारे ऊपर कोई बहुत बड़ी विपत्ति आनेवाली है। यहाँ देखो, अपशकुन विपत्ति देते नहीं हैं। यह तो ईश्वरकी कृपा है, जो अपशकुनों द्वारा हमें सावधान करते रहते हैं। अपशकुन होनेपर नाराज नहीं होना चाहिए। सावधान हो जाना चाहिए। यदि तुम घरमें-से निकलो और गीदड़ हुआँ-हुआँ करता सामनेसे आजाय तो उसको मारनेके लिए मत दौड़ो। यह सोचो कि ईश्वरने कोई सूचना भेजी है, जरा सावधान होना चाहिए, क्योंकि वह भी ईश्वरका दूत है।

तो, युधिष्ठिरजी अमंगलकी बात सोच ही रहे थे कि अर्जुन आगये। उनका मुँह लटका हुआ था। आँखोंसे आँसू बह रहे थे। उनकी ऐसी दशा कभी देखनेमें नहीं आयी थी। युधिष्ठिरजीको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने एक-एकका नाम लेकर पूछा कि द्वारिकामें सब लोग सुखी तो हैं—पहले कुशल-प्रश्नका यही रीति-रिवाज था। कोई दूर देशमें रहता था और उसकी चिट्ठी आती थी तो उसमें गाँवभरके लोगोंके नाम ले-लेकर उनका कुशल-क्षेम पूछा हुआ होता था। युधिष्ठिरजी भी सारी द्वारिकाका नाम ले चुके। परन्तु यह पूछनेकी उनकी हिम्मत नहीं पड़ी कि श्रीकृष्ण कैसे हैं ? क्योंकि उनकी दृष्टिमें उन्हींके द्वारा तो सबके सब सुरक्षित हैं। फिर अर्जुनकी दशा देखकर बोले कि तुमको क्या हो गया है ? तुम्हारे मुखका तेज कहाँ गया ? तुम्हें कोई रोग तो नहीं हो गया है ? कहीं तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं हुआ है ?

न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम्। ४०

क्या किसीको तुमने वह वस्तु नहीं दी, जिसके लिए उसको आशा बँधायी थी ? क्या इसीसे तुम उदास हो गये हो ? क्या तुमसे कोई बुरा कार्य हो गया है ? क्या तुमको किसीने पराजित कर दिया है ? क्या तुमने जिन्हें खिलाना चाहिए, उनको खिलाये बिना खुद खा लिया है। अन्तमें युधिष्ठिरने हिम्मत करके वह प्रश्न पूछ ही लिया, जिसको वे टालते आ रहे थे। उन्होंने कहा कि अर्जुन, मुझे विश्वास है कि तुमसे कोई बुरा काम तो हो नहीं सकता। फिर क्या तुमको श्रीकृष्णका विरह हो गया है ? जल्दी बोलो।

❀

: १५ :

युधिष्ठिरने जब यह प्रश्न किया तब श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न अर्जुनने धीरे-धीरे अपने आँसू पोंछे और—

नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा।४

बाष्पगद्गद वाणीसे कहने लगे—महाराज, आपने जितने कारण बताये, वे सब तो नहीं किन्तु हमको हमारे मित्रने ठग लिया ! इसीसे हमारा तेज कम हो गया। अब तो मेरा यह शरीर प्राण-रहित मुर्देके समान है। उन्हींके कारण मैंने द्रुपदके घरमें राजाओंको हराया और मत्स्यका वेध किया। उन्हींकी शक्तिसे खाण्डव वनका दाह किया। उन्होंने ही मयके द्वारा हमारे लिए सभा बनवा दी। उन्हींके कारण हम लोगोंने दिग्विजय प्राप्त किया। उन्हींके बलसे हमने द्रौपदीके तिरस्कारका बदला लिया। उन्होंने ही दुर्वासाके संकटसे हमको बचाया।

इसकी विशेष कथा तो आप जानते ही होंगे। दुर्वासा ऋषि दुर्योधनकी प्रेरणासे दस हजार शिष्योंके साथ युधिष्ठिरके उस समय अतिथि हुए, जब वे वनमें थे और द्रौपदी भोजन कर चुकी थी। जब द्रौपदी भोजन कर लेती थी, तब कुछ भी शेष नहीं रह जाता था। उसने दुर्वासाके शापका संकट उपस्थित देखकर पुकारा—

कृष्ण कृष्ण महोबाहो देवकीनन्दनाव्यय। (वन पर्व २६३.८)

द्रौपदीकी पुकार सुनकर श्रीकृष्ण द्वारिकाका भोजन छोड़कर नंगे पाँव दौड़े आये, बोले कि द्रौपदी, भूख लगी है, कुछ खानेको तो दो और—'शाकान्नशिष्टमुपयुज्य'—बटलोहीमें लगा हुआ जो एक शाकका पत्ता था, उसको मुँहमें डालकर कहा कि 'अनेन त्रिलोकी तृप्यताम्'—इससे त्रिलोकी तृप्त हो जाये। ईश्वर हो तो ऐसा। जो एक शरीरको मैं समझे, उसका नाम जीव और जो सम्पूर्ण विश्वको अपने मैंके रूपमें देखे, उसका नाम ईश्वर। ईश्वर वह जिसके भीतर सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे दुर्वासा शिष्यों-सहित तृप्त हो गये और जहाँ स्नान, सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे, वहींसे भाग गये, भोजनके लिए नहीं आये।

अर्जुन कहते हैं कि श्रीकृष्णके तेजसे ही हमने शंकरजीको तृप्त कर दिया और उन्होंने हमको

अपना अस्त्र प्रदान किया। उन्हींकी कृपासे हम सशरीर स्वर्ग जाकर इन्द्रके आसनपर बैठे। उन्हींकी सहायतासे महाभारतके युद्धमें हमने कौरवोंको मारा और बड़े-बड़े महारथियोंको हरा दिया।

अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानामायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५

श्रीकृष्ण सारथि बनकर हमारे रथपर आगे बैठ गये और दूसरे पक्षके सैनिकोंके मन, बल, ओज और आयु सबको अपनी आँखोंके आकर्षणसे खींच लिया। हमने अपने बाणोंसे नहीं मारा, उन्होंने अपनी आँखोंसे शत्रुओंको मार दिया। उनकी कृपासे ही शत्रुओंके बाण हमको लगते नहीं थे। हमने उन श्रीकृष्णको अपना सारथि स्वीकार किया, जिनका लोग भजन करते हैं। उनका मुझे पार्थ! सखे! आदि कहकर सम्बोधित करना, याद आता है तो हमारा दिल फटने लगता है। मैं उनके साथ सोता था, बैठता था, डींग हाँकता था और भोजन करता था। मैं कहता था कि तुम तो बहुत सच्चे हो लेकिन जब तुमने मिट्टी खायी थी और मैयाने हाथमें छड़ी लेकर और डाँटकर पूछा था कि तुमने मिट्टी खायी है, तो तुमने कह दिया नहीं खायी। यह कहाँकी सत्यवादिता है तुम्हारी? लेकिन श्रीकृष्ण मेरी बातका बुरा नहीं मानते थे। जैसे मित्र मित्रकी बात सहता है वैसे ही सह लेते थे। वास्तवमें ईश्वर किसीका दोष नहीं देखता, यह उसका सहज स्वभाव है। आज श्रीकृष्णके बिना मैं शून्य हो गया हूँ। जब मैं द्वारिकासे उनकी पत्नियोंको साथ ला रहा था तो उनकी रक्षा नहीं कर सका। वही धनुष-बाण, वही रथ-घोड़े और मैं वही रथी। परन्तु श्रीकृष्णके बिना सब व्यर्थ हो गये। महाराज, आप जिनके बारेमें पूछ रहे हैं, वे तो सब-के-सब मर गये।

इस प्रकार वर्णन करते हुए जब अर्जुन व्याकुल हो गये तो उनको गीताका उपदेश याद आगया और श्रीकृष्णके चरणारविन्दका स्मरण भी हो गया। इससे उनके हृदयका राग-द्वेष निवृत्त हो गया। उनका शोक मिट गया, संशय मिट गया, प्रकृति लीन हो गयी और वे जन्म-मरणसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मसे एकाकार हो गये। भगवान्‌के परम भक्त अर्जुनकी यह गति हुई।

अब युधिष्ठिरजीने स्वर्गारोहण करनेका निर्णय किया। कुन्ती भी संसारसे उपराम हो गयी और अनन्यभक्तिसे अपने हृदयको श्रीकृष्ण-चरणोंमें समर्पित कर दिया। भगवान्‌ने जिस यदुवंश-शरीरसे पृथिवीका भार हरण किया था, उसका परित्याग वैसे ही कर दिया जैसे, 'कण्टकेनैव कण्टकम् (३४) एक काँटेसे दूसरा काँटा निकालकर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। जैसे नट नाना रूप धारण करता है, वैसे ही भगवान्‌की यह लीला है।

जब युधिष्ठिरजीने देखा कि देशमें कलियुग आगया और लोगोंके मनमें लोभ, कपट, हिंसा आदिका प्राबल्य हो गया तब उन्होंने अपने पौत्र परीक्षितको, पृथिवीपतिके रूपमें अभिषिक्त किया। वज्रनाभको मथुरामें शूरसेनोंका अधिपति बनाया। इसके बाद उन्होंने प्राजापत्य इष्टि करके अग्निका पान कर लिया। इसका तात्पर्य यह है कि वे जो बाहर हवन करते थे, उस अग्निका न्यास उन्होंने

अपने शरीरमें ही कर लिया। अब वे जो खाते-पीते हैं, वही हवन है। केवल भौतिक अग्निमें हवन करना ही हवन नहीं है, जठराग्निमें, प्राणाग्निमें हवन करना भी हवन है। उनके पास वस्त्र-वैभव जो कुछ भी था, वह सब फेंक दिया। निर्मम-निरहंकार होकर और सारे बन्धनोंको काटकर अपने-आपमें बैठ गये। उन्होंने वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें, अपानको मृत्युमें और मृत्युको पञ्चभूतमें विलीन कर दिया। इसके बाद पञ्चभूतको त्रिगुणमें, त्रिगुणको प्रकृतिमें हवन कर दिया। अन्तमें अपनेको भी अद्वितीय ब्रह्मसे एक कर दिया। परब्रह्म परमात्मासे अलग आत्मा नहीं है, आत्मासे अलग प्रकृति नहीं है, प्रकृतिसे अलग त्रिगुण नहीं है, त्रिगुणसे अलग पञ्चभूत नहीं है, पञ्चभूतसे अलग प्राण-अपान नहीं हैं, प्राण-अपानसे अलग मन नहीं है, मनसे अलग इन्द्रियाँ नहीं हैं और इन्द्रियोंसे अलग यह सृष्टि नहीं है। इस प्रकार युधिष्ठिरजी एक अद्वय ब्रह्म मैं हूँ ऐसा मानकर अपने स्वरूपमें बैठ गये। शरीरपर केवल चीर रह गया। उन्होंने आहार छोड़ दिया। मूक हो गये। उनके बाल बिखर गये, उन्मत्त होकर विचरण करने लगे। उनको कोई पहचाने ही नहीं। वे भी किसीकी ओर देखें नहीं। उत्तर दिशाकी ओर चले गये। उनको परब्रह्म परमात्माका ध्यान लग गया। दूसरे भाई भी चले गये। दूसरे भाइयोंने भगवान्‌के चरणारविन्दका ध्यान किया। उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, भगवान्‌में उनकी मति एकातम हो गयी और उन लोगोंको उस पदकी प्राप्ति हो गयी, जो संसारके विषयी लोगोंको नहीं प्राप्त होती।

उनको कोई पहचाने ही नहीं। वे भी किसीकी ओर देखें नहीं। उत्तर दिशाकी ओर चले गये। उनको परब्रह्म परमात्माका ध्यान लग गया। दूसरे भाई भी चले गये। दूसरे भाइयोंने भगवान्‌के चरणारविन्दका ध्यान किया। उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, भगवान्‌में उनकी मति एकान्त हो गयी और उन लोगोंको उस पद की प्राप्ति हो गयी, जो संसारके विषयी लोगोंको नहीं प्राप्त होती।

इधर विदुरजीने भी अपने शरीरका परित्याग कर दिया और अपने धाममें चले गये। द्रौपदीने देखा कि मेरी ओर तो कोई देखता ही नहीं है—

द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय पतीनामनपेक्षताम्। ५०

किसीको हमारी अपेक्षा नहीं है। असलमें संसारमें किसीको किसीकी अपेक्षा नहीं है। यह भ्रम ही होता है कि अमुकको हमारी बड़ी भारी जरूरत है। भला किसीके मरनेसे किसीका काम रुकता है? संसारमें सब चलता रहता है। लोग व्यर्थ ही समझते हैं कि हाय-हाय हमारे बिना यह काम कैसे होगा? द्रौपदीने कहा कि भगवान्‌के सिवाय अपना और कोई नहीं। अतः उसने बुद्धि भगवान्‌में लगा दी। यह जो पाण्डवोंके प्रयाणका प्रसंग है, इसको जो प्रेमके साथ श्रवण करता है, उसे भगवद्भक्तिकी प्राप्ति होती है और सिद्धि मिलती है।

: १६ :

इसके आगे वर्णन करते हैं कि परीक्षितमें वे सब गुण थे, जो ब्राह्मणोंने बताये थे। उत्तरकी बेटी इरावतीसे उनका ब्याह हुआ। जनमेजय उनके पुत्र हुए। उन्होंने तीन अश्वमेध गंगाजीके तटपर किये और दिग्विजयमें कलियुगको जीत लिया।

शौनकजीने पूछा कि सूतजी, यह बताइये कि परीक्षित कितने प्रभावशाली थे? उनके अन्दर तो लौकिक प्रभाव भी था, जिससे उन्होंने दिग्विजय किया और आधिदैविक प्रभाव भी था, जिससे उन्होंने कलियुगरूपी कालके एक अवयवको अपने वशमें कर लिया। यदि इसका सम्बन्ध कृष्ण-कथासे हो, अथवा भक्तोंकी कथासे हो, तब तो सुनाइये, अन्यथा हमारा मन दुनियादारीकी कहानी सुननेका नहीं है। क्योंकि समय व्यर्थ ही बीतता जा रहा है, क्षण-क्षण छीज रहा है। आओ, निश्चिन्त बैठकर यहाँ भगवान्‌की कथा सुनें और हरि-लीलामृतका पान करें। आधी आयु रातमें निद्रासे और आधी आयु दिनमें व्यर्थके कामोंमें बीत जाती है। इसलिए भगवान्‌की चर्चा द्वारा अपने चित्तको दुनियाकी दोस्ती-दुश्मनीसे, राग-द्वेषसे निवृत्त कर देना ही श्रेयस्कर है। भगवान्‌की कथा सुननेसे सब कुछ सम्भव हो जाता है।

सूतजीने कहा, राजा परीक्षितको पता चल गया कि हमारे राज्यमें कलियुगका प्रवेश हो गया है। वे श्याम तुरङ्गवाले रथपर चढ़कर सेनाके साथ दिग्विजयके लिए निकले। उन्होंने भिन्न-भिन्न देशोंमें जाकर दिग्विजय किया। वे जहाँ-जहाँ जायँ, वहाँ-वहाँ पाण्डवोंका यश और श्रीकृष्णकी महिमा सुनें, यह भी सुनें कि भगवान्‌ने गर्भमें मेरी रक्षा की थी। जब लोग उन्हें बताते कि यदुवंशियों और पाण्डवोंमें कितना प्रेम था तथा वे श्रीकृष्णसे भी कितना प्रेम करते थे, तब परीक्षितकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रहती और उनके हृदयमें इतना प्रेम उमड़ता कि सब कुछ लुटा देते। जब वे सुनते कि श्रीकृष्ण तो हमारे दादाके सारथि बने थे, सभाके सदस्य बने थे, दूत बने थे, वीरासनसे बैठकर पहरा दिया करते थे और मित्रता निभाई थी, इतना ही नहीं वे युधिष्ठिरके पीछे चलते थे, उनकी स्तुति करते थे और उनको प्रणाम करते थे, तब राजा परीक्षितका हृदय द्रवित हो जाता था तथा उनकी भक्ति भगवान्‌के चरणोंमें और बढ़ जाती थी।

इस प्रकार परीक्षित पाण्डवोंके आचरणका अनुसरण और श्रीकृष्ण-भक्तिमें तन्मय रहते हुए दिग्विजय करते जा रहे थे कि एक दिन उन्होंने धर्मको बैलका रूप धारण करके, एक पैरसे घूमते

देखा, उनको पृथिवी भी गायके रूपमें घूमती दिखायी पड़ी। धर्मको, सृष्टिको देखनेकी शक्ति सबमें नहीं होती। जिसका हृदय शुद्ध होता है और उसमें भगवान्‌की भक्ति होती है, वही अलौकिक वस्तुओंका साक्षात्कार कर सकता है और उनका संवाद सुन सकता है। परीक्षितने देखा कि धर्मके तो एक ही पाँव है और गायके शरीरपर कान्ति नहीं है, उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, मानो उसका बछड़ा बिछुड़ गया हो। धर्म पृथिवीसे पूछता है कि तुमको क्या दुःख है, जिससे तुम्हारा मुँह इतना उदास है? क्या तुम्हारे मनमें कोई चिन्ता है? क्या तुम्हारा कोई सम्बन्धी दूर चला गया है? तुम अपने लिए शोकग्रस्त हो या मेरे लिए अथवा यज्ञभाग न पानेवाले देवताओंके लिए? क्या आजकल लोग स्त्रियोंकी, बच्चोंकी रक्षा नहीं करते? क्या ब्राह्मणवंश दैवी भाषा संस्कृतका अध्ययन छोड़कर कुकर्ममें लग गया है, क्या राजकुल वेदाध्ययन करनेवालेकी वृत्तिका निर्वाह नहीं करता? क्या शासन नीचे गिर गया है? क्या लोगोंको खाना-पीना नहीं मिलता? क्या भगवान् अन्तर्धान हो गये हैं, इसके लिए शोक कर रही हो? बताओ माता! तुम्हारे शोकका कारण क्या है? वह सौभाग्य, वह सौन्दर्य कहाँ चला गया है?

पृथिवीमाता एक तो आधिभौतिक होती है, दूसरी आधिदैविक होती है और तीसरी आध्यात्मिक होती हैं। जहाँ देवी-देवताके रूपमें पृथिवीका वर्णन आता है, वह उसका आधिदैविक स्वरूप है। उसी पृथिवीमाताने उत्तर दिया कि धर्म, तुम जानते हो कि भगवान्‌में क्या-क्या गुण हैं? सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, तितिक्षा, समता, उपरामता, विद्या, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, प्रागल्भ्य, प्रश्रय, शील, साहस, ओज, भग, गाम्भीर्य, स्थैर्य, आस्तिक्य, कीर्ति, मान, निरहंकार आदि सद्‌गुण हमेशा भगवान्‌में ही रहते हैं। वही भगवान् हमको छोड़कर चले गये। कलियुगका शासन हो रहा है। इसलिए मैं अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ। शोक अपने लिए तो कर ही रही हूँ, तुम्हारे लिए भी कर रही हूँ और जो वर्णाश्रमका ह्रास हो रहा है, उसके लिए भी कर रही हूँ। लक्ष्मीजीको सब चाहते हैं। पर वे अपने निवासस्थान कमलवनको छोड़कर भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करती हैं और उन्हीं भगवान्‌के चरणचिह्न मेरे ऊपर पड़ते थे। मैं त्रिलोकीमें श्रेष्ठ हो गयी थी। उन्हीं भगवान्‌के विरहमें मैं व्याकुल हो रही हूँ। उनके चरणोंके चिह्नसे अभी भी मुझे रोमाञ्च हो रहा है।

इस प्रकार पृथिवी और धर्म आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि राजर्षि परीक्षित वहाँ पूर्ववाहिनी सरस्वतीके तटपर पहुँच गये।

❦

: १७ :

राजा परीक्षितने वहाँ जाकर एक विचित्र दृश्य देखा। एक बैल है, जो धर्मका प्रतीक है और एक गाय है, जो पृथिवीका प्रतीक है। तीसरा एक शूद्र है, जो हाथमें दण्ड लेकर राजा बन गया है और राजचिह्न धारण करके गायरूपी पृथिवी और बैलरूपी धर्मको डण्डेसे मार रहा है। पृथिवी और धर्म अर्थात् गाय और बैल दोनों ही क्षत-विक्षत हो रहे हैं। गायको तो वह पाँवसे भी मार रहा था और वह भूखी-प्यासी व्याकुल हो रही थी। राजा परीक्षितने जब यह दृश्य देखा तब उन्होंने तुरन्त अपने धनुषपर बाण चढ़ा लिया और बोले कि मैं राजा हूं, तुम इन निर्बलोंको सता रहे हो, लगता है कोई नट हो, राजा नहीं हो। क्या तुम श्रीकृष्णके परमधाम चले जानेके कारण इनके साथ अन्याय कर रहे हो? अथवा हे वृषभ, हे गोमाता, तुम दोनों कोई देवता हो, जो हमको दुःख देने आये हो? किन्तु आज एक पाण्डुवंशीके हाथमें धनुष-बाण है। उसके रहते यदि तुम्हारी आँखोंसे शोकके आँसू गिरते हैं तो यह हमारे लिए सह्य नहीं है। तुम दोनों निर्भय हो जाओ। जिस राजाके राज्यमें प्रजा दुष्टोंके द्वारा सतायी जाती है, उसकी कीर्ति, आयु, भग और गति नष्ट हो जाती है। यह राजाका परमधर्म है कि दुःखियोंके दुःखको दूर करे। हमारे राज्यमें यह कौन भूतद्रोही आगया है? मैं आज इसको दग्ध कर दूंगा। वृषभदेवता, किसने तुम्हारे पाँव तोड़कर तुम्हें

विरूप बना दिया है ? हम कृष्णभक्त हैं। हमारे राज्यमें ऐसा नहीं होना चाहिए। तुम बिल्कुल निरपराध हो, तुमको कष्ट हो; यह हमारे लिए कलङ्ककी बात है। हमारे राज्यमें जो निरपराधको सताता है, उसको मैं भयभीत करता हूँ और वह चाहे देवता ही क्यों न हो, उसकी बाँह अपने हाथसें काट देता हूँ।

धर्मने कहा कि राजन्, आप भगवान्के भक्त हैं, पाण्डव वंशमें पैदा हुए हैं, इसलिए आप इस प्रकारकी बात करें, यह ठीक है। परन्तु जीवनमें दुःख किस कारणसे आते हैं, उसको हम नहीं जानते। इस सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भी तरह-तरहकी बातें आती हैं—'वाक्यभेदविमोहिताः' (१८)—जो नास्तिक हैं अथवा अभेदवादी हैं, वे कहते हैं कि जब आत्माके सिवाय दूसरा कोई है नहीं तो दुःखका कारण कौन होगा ? एकके मतमें शरीर दुःखका कारण है तो दूसरेके मतमें आत्मदेव ही दुःखका हेतु हैं। दुःखका कारण कोई देवताको, कोई कर्मको और कोई स्वभावको बताता है। कइयोंका निश्चय है कि कार्य-कारण भाव तर्कका विषय नहीं है निर्देश्य नहीं है, अनिर्वचनीय है। ऐसी स्थितिमें राजन्, तुम स्वयं ही अपनी बुद्धिसे इसका विचार कर लो।

परीक्षित बोले कि मैं पहचान गया, तुम धर्म हो। यदि तुम झूठ बोलनेवाले अधर्म होते तो किसी-न-किसीको बता देते कि इसकी वजहसे हमको दुःख हुआ है। संसारमें अपनेको कर्ता समझनेवाले अज्ञानी लोग, दूसरोंके ऊपर कर्मका कर्तृत्व थोपते हुए कहते हैं कि इनकी वजहसे हमको दुःख हुआ। वे यह नहीं समझते कि जिस हृदयमें दुःखका उदय होता है, उसका उपादान भी वहीं पहलेसे मौजूद रहता है और तभी उसमें दुःखाकार वृत्तिका उदय होता है। दूसरेको दोष लगानेवालेको भी वही दोष होता है, जो दोष करनेवालेको होता है। अधर्मकर्ताको जो पाप लगता है, वही पाप चुगली करनेवालेको भी लगता है। लेकिन परमात्माकी गति तो किसीकी भी समझमें नहीं आती। मैं समझ गया कि तुम धर्म हो और तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य—ये तुम्हारे चार पाद हैं। अभिमानसे तपस्या भंग हो जाती है, आसक्तिसे पवित्रता मिट जाती है, मदसे दया समाप्त हो जाती है। अब केवल सत्यका एक पाद शेष है और उसको भी कलियुग मार डालना चाहता है। तुम्हारे साथ यह पृथिवी गायरूपमें इसलिए दुःखी हो रही है कि शूद्र हमारा भोग करेंगे ?

इस प्रकार प्रभावशाली राजा परीक्षितने धर्म तथा पृथिवीको सान्त्वना दी और हाथमें तलवार उठा ली ! देखो, कालका बेटा कलियुग अधर्मका बेटा भी है, अधर्मका बाप भी है, अधर्मका भाई भी है और अधर्मका सखा भी है। भागवतमें इन चारों पदोंका वर्णन है। परीक्षितने जो तलवार उठायी तो शूद्ररूपमें कलियुगने देखा कि अब ये तो हमको मारेंगे, इसलिए उसने जो बनावटी राज्य-चिह्न धारण कर रखे थे, उनको फेंककर राजाके चरणोंमें गिर पड़ा। राजा बड़े

शरणागतवत्सल थे। जो एक बार उनकी शरणमें आजाता, उसका दोष नहीं देखते थे। उन्होंने कहा —बस-बस, अब तुमको कोई भय नहीं है, लेकिन तुम हमारे राज्यमें-से निकल जाओ, क्योंकि तुम्हारे आनेपर अधर्म आता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य लोभी हो जाता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, दुष्टता करता है और उसमें दरिद्रता, छल, कपट, कलह आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। इसलिए तुम हमारे इस ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें बिल्कुल मत रहो। यह भारतवर्ष भगवान्‌की आराधना करनेका स्थान है। इसमें तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है।

यह सुनकर कलियुग थर-थर काँपने लगा और हाथ जोड़कर बोला—महाराज, आप जहाँ कहेंगे मैं वहाँ रहूँगा। लेकिन मुझे तो कहीं भी ऐसी कोई जगह नहीं दिखायी पड़ती, जहाँ आपका शासन न हो। इसलिए मैं कहाँ जाऊँ? कृपया आप मेरे लिए कोई स्थान तो नियत कर दीजिये। अब परीक्षित विचारमें पड़ गये। राजाका यह भी धर्म है कि यदि कोई उसके राज्यमें रहना चाहे तो उसे जगह मिले। किन्तु यदि वे ऐसे दुष्टको जगह देते हैं तो बड़ी भारी विपत्ति है। काफी सोच-विचारकर उन्होंने कहा कि अच्छा जहाँ जुआ हो, शराब हो, परस्त्री-गमन हो, हिंसा हो, वहाँ तुम रहना! तभीसे कलियुग जुएमें, शराबमें, व्यभिचारमें और हिंसामें रहता आ रहा है, ये चारों स्थान लड़ाईके केन्द्र हैं।

कलियुगने कहा—ये चारों चीजें आपके राज्यमें तो कहीं दिखायी नहीं पड़तीं! और मैं जहाँ रहनेका विचार करता हूँ, देखता हूँ कि आप धनुष-बाण लिये खड़े हैं। राजा बोले कि अच्छा जहाँ झूठ, मद, काम और निर्दयता दिखायी पड़े और जहाँ सोना हो, वहाँ रहना।

सूतजी कहते हैं कि ऋषियो, मनुष्य जो अपनी उन्नति चाहता हो, उसे इन पाँचों चीजोंसे बचना चाहिए। धर्म, राज्य, लोकनृत्य और गुरुत्व इनसे बचकर ही सुरक्षित रह सकता है। राजा परीक्षितने बैलरूप धर्मके टूटे हुए तीनों पाँव जोड़ दिये और गायरूपी पृथिवीको आश्वासन देकर सन्तुष्ट किया। उस समय ऐसा लगा कि मानो परीक्षित उसी जंगलमें बैठे-बैठे राज्य शासन चला रहे हैं। आप लोग भी यहाँ एकत्र होकर संवत्सरव्यापी सत्र चला रहे हैं, यह परीक्षितके राज्यमें ही है।

: १८ :

सूतजी महाराज आगे कहते हैं कि परीक्षित अपनी माताकी उदरमें अश्वत्थामाके अस्त्रसे तो जले नहीं क्योंकि उनके ऊपर भगवान्‌की कृपा है। ब्राह्मणके क्रोधसे भी उनको व्याकुलता नहीं हुई, क्योंकि उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें अपना मन अर्पित कर दिया और आसक्ति छोड़कर शुकदेवजीसे ज्ञान प्राप्त किया। जो भगवान्‌के भक्त होते हैं और उनके चरणाविन्दका स्मरण करते हैं, उनको किसी भी प्रकारका दुःख नहीं होता। अन्तमें उन्होंने गंगाजी में अपना शरीर छोड़ दिया। जबतक परीक्षित राजा रहे, पृथिवीपर कलियुगकी प्रवृत्ति नहीं हुई। असलमें कलियुगका कोई डर नहीं है। जो मूर्ख होते हैं, बालक होते हैं, प्रमादी होते हैं, उन्हींके ऊपर उसका प्रभाव पड़ता है। किन्तु जो भगवान्‌का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उनका कलियुग कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इसलिए भगवान्‌की कथा ही कथनीय है। इसीकी चर्चा करनी चाहिए।

ऋषियोंने परीक्षितोपाख्यान सुनकर प्रसन्नता प्रकट की और सूतजीको आशीर्वाद दिया—'सूत जीव समाः सौम्य' (११) सूतजी, तुम्हारी उम्र सैकड़ों बरसकी हो, शाश्वत हो! हम लोग तो मृत्युसे घिरे हुए हैं और तुम हमेशा श्रीकृष्णकथामृतका पान करते हो। हम जो कर्मकाण्ड करते हैं, इसका कोई आश्वासन नहीं है। यज्ञके धुएँसे हमारा अन्तःकरण भी धूमिल हो गया है—

'धूमधूमात्मनां भवान्' (१२)। ऐसी स्थितिमें यदि गोविन्दचरणामृतके पानका सौभाग्य मिल जाय, क्षणमात्रके लिए भी भगवान्‌की कथा सुननेका सुअवसर मिल जाय तो इसकी बराबरी स्वर्ग और मोक्ष नहीं कर सकते। नाना प्रकारके मनोरथों और भोगोंमें क्या रखा है—इनसे भला कौन तृप्त होगा। आप हमलोगोंको भगवान्‌की वह कथा सुनाओ, जिसको सुनकर परीक्षितका परम कल्याण हो गया।

सूतजी ने कहा कि बस, आज हमारा जन्म सफल हो गया। हमारी जाति तो ऊँची है नहीं। नीच कुल में पैदा हुए हैं। लेकिन उसका दुःख हमको बिल्कुल नहीं होता। हमारे लिए यह क्या कम सौभाग्यकी बात है कि आप जैसे महापुरुषोंके साथ बातचीत करनेका मौका मिला है। फिर जब भगवान्‌की चर्चा करनेको मिले तब तो कहना ही क्या है! स्वयं भगवती लक्ष्मी दूसरोंको छोड़कर भगवान्‌की आराधना करती हैं। भगवान्‌के चरणोंकी धोवन गंगाजीकी धारा, शंकरजीके सिरपर गिरकर उनको भी पवित्र करती है। मुकुन्दको छोड़कर भगवत्पदार्थ दूसरा क्या हो सकता हैं! यहाँ मुकुन्दका अर्थ देखो, जो मुक्तिका दान करे, उसका नाम मुकुन्द होता हैं—'मुकुन्दः=मुक्ति ददाति'। जो मुक्तिका अवदान करके, उसको काटकर प्रेमका दान करे, उसका भी नाम मुकुन्द है। 'मुखे कुन्दवत् हासो यस्य'—जिसके मुखपर हमेशा बत्तीसी खिली रहती है, जो परमानन्दमें मग्न रहते हैं, उनका नाम मुकुन्द है। तो, हमारे जो नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी हैं, इनके सिवाय दूसरा भगवत्पदार्थ और कोई नहीं हैं। इनसे प्रेम करके लोग पारमहंस्य आश्रममें पहुँच जाते हैं, जहाँ अहिंसा और शान्ति स्वधर्म है। आप लोगोंने मुझसे जो प्रश्न किया है, उसका वर्णन मैं अपनी जानकारीके अनुसार अवश्य करूँगा। जैसे चिड़िया आकाशमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उड़ती हैं, वैसे ही परमहंस परमात्माके बारेमें अपनी मति-गतिके अनुसार वर्णन करेंगे।

एक बार राजा परीक्षित शिकार खेलने वनमें गये। अब आगेकी बात देखो कि वनमें जानेपर राजा परीक्षितको भूख-प्यास लग आयी। वे आसपास जलाशय न देखकर ऋषिके आश्रममें गये। ऋषिजी अपने मन-बुद्धि-इन्द्रियको रोककर ब्रह्मानन्दमें निमग्न थे। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तथा सत्त्व-रज-तमको पार करके और विश्व-तैजस-प्राज्ञका भाव भी छोड़कर तुरीयावस्थामें बैठे हुए थे। उनकी जटाएँ बिखरी हुई थीं। परीक्षितने ऐसे ब्रह्म पुरुषके पास जाकर उनसे जलकी याचना की। किन्तु वहाँ राजाका स्वागत-सत्कार तो दूर रहा, कुछ भी नहीं मिला। अब उनको यह ख्याल आया कि हमारा अपमान हो गया! वह अपमान इसीलिए हुआ कि उन्होंने कलियुगको सोनेमें निवास दे दिया था। भगवान्‌की इच्छा हुई कि राजामें जो सम्पत्तिजन्य अहम् शेष रह गया है, उसकी भी निवृत्ति हो जाये। तो परीक्षितको अपने अपमानसे ऐसा क्रोध हुआ कि उन्होंने ऋषिके अंगमें एक

मरा हुआ साँप धनुषकी नोकसे उठाकर डाल दिया। राजाने ऋषिके बारेमें यह कल्पना कर ली कि यह समाधिस्थ नहीं है, ब्रह्म नहीं है, कोई दम्भी, पाखण्डी संसारी बैठा हुआ है, उन्होंने उसके ऊपर संसाररूप सर्पका अध्यारोप कर दिया।

ऋषिका पुत्र बड़ा तेजस्वी था, जब उसको यह बात मालूम हुई तो उसने कहा कि ये राजा तो कुत्तोंके समान हमारे द्वारपाल हैं। इनको घरमें घुसकर चरुपुरोडाश खा जानेका कोई अधिकार नहीं है। उसकी आँखें लाल हो गयों और उसने 'वाग्वज्रं विससर्ज ह' (३६) शाप दे दिया। फिर जब आश्रम लौटकर उसने पिताके गलेमें साँप देखा तो रोने लगा। बच्चेका रोना सुनकर ऋषिकी समाधि टूट गयी। भगवान्‌की लीला देखो! घरमें आये सम्राट्‌की प्रार्थना सुनाई नहीं पड़ी और उसने क्रोधवश गलेमें साँप पहना दिया। तब तो उनकी समाधि नहीं टूटी किन्तु बच्चेका रोना सुनकर समाधि टूट गयी! उन्होंने आँख खोली, साँपको फेंक दिया और पूछा कि क्यों रोता है? उसने कहा कि राजाने तुम्हारा तिरस्कार किया था। इसलिए मैंने उसको शाप दे दिया है कि आजके सातवें दिन उसको तक्षक सर्प डँस लेगा। ऋषि बोले कि नहीं, नहीं, ऐसा शाप राजाको कभी नहीं देना चाहिए। दुनियामें शासन नहीं रहेगा, राज्य नहीं रहेगा तो चोर-डाकू बढ़ जायेंगे। यदि सृष्टिमें शासन और उग्रदण्ड न हो तो दुष्ट लोग मनानेसे नहीं मानते। शासन नष्ट-भ्रष्ट होनेसे धर्मकी भी हानि होती है। तुमने अपने सेवकको क्रोधवश शाप देकर अच्छा नहीं किया। ऋषिने भगवान्‌से प्रार्थना की कि प्रभो, हमारे बालकके अपराधको क्षमा किया जाय। देखो, यह महात्माकी महिमा, उसका कोई तिरस्कार करे, अपमान करे अथवा उसको मार भी दे तो, वे उसका प्रतीकार नहीं करते। उनके ऊपर दूसरे लोग नाना प्रकारके द्वन्द्व लाकर डाल देते हैं परन्तु साधु पुरुषोंको न व्यथा होती है और न हर्ष होता है, क्योंकि आत्मा निर्गुण है। उसमें न विषय है, न इन्द्रिय है, न अन्तःकरण है। वह गुणाश्रय नहीं है—'अगुणाश्रयः' (५०) इसलिए दूसरेके द्वन्द्वोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

❁

१६

ऋषिको अपने बच्चेके शापसे बड़ी व्यथा हुई। इधर राजा परीक्षितको भी ध्यान आया कि हमसे तो बड़ी भारी गलती हो गयी—

'अहो मया नीचमनार्यवत्कृतम् (१)—मैंने बड़ा बुरा काम किया, जो एक निरपराध ब्राह्मणके गलेमें साँप डाल दिया। यद्यपि हमने मुर्दा साँप डाला था, तथापि उसका प्रायश्चित यही है कि उनके पुत्रकी आज्ञासे जिन्दा साँप भी हमारे पास आयेगा तो हम उसको स्वीकार करेंगे। हमारे ऊपर जल्दी-से-जल्दी बहुत बड़ा दुःख आये, जिससे कि हम फिर कभी ऐसा अपराध न करें। हमारे कोष आदिका भले नाश हो जाये, किन्तु हम किसीकी बुराई न चाहें। ऐसी ही मनःस्थितिमें जब उनके पास ऋषिपुत्रके शापका समाचार पहुँचा तो उन्होंने उसे भगवान्‌की कृपा समझा। भगवान्‌की ऐसी कृपाको कोई-कोई ही पहचानते हैं। राजाने विचार किया कि राज्य तो बहुत दिनोंतक कर चुके। अब राज्य छोड़कर थोड़ा वैराग्य करेंगे, भगवत्कथा-श्रवण करेंगे। वैसे तो वे पहलेसे ही समझ चुके थे कि लोक-परलोकका वैभव और भोग चाहने योग्य नहीं है, अब उसका स्वरूपतया त्याग करके आमरण अनशन व्रत लेकर भगवान् श्रीकृष्णके चरण कमलोंकी सेवाके लिए गंगातटपर बैठ गये—

कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम्। ५

अब यह समाचार सृष्टिमें सर्वत्र फैल गया। महात्मा लोग वहाँ तीर्थ-यात्रा करनेके लिए

आने लगे। असलमें महात्मा लोग तीर्थयात्रा नहीं करते, जब वे तीर्थमें जाते हैं तब तीर्थ तीर्थ हो जाता है—

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हिं तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।

तो, जहाँ राजा परीक्षित बैठे थे, वहाँ अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, गाधिसुत, राम, उतथ्य, इद्रप्रमद, इध्मबाहु, मेधातिथि, देवल, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व आदि बड़े-बड़े देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि अपने-अपने गोत्रीय एवं वंशजोंकी परम्पराके साथ आये। राजाने सबको प्रणाम किया और कहा कि देखो, महात्माओंका हमारे ऊपर कितना अनुग्रह है। जिसको ब्राह्मण बालकने शाप दे दिया है, उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ये लोग आये हैं। किन्तु शाप तो हमारे वैराग्यके लिए हुआ है, क्योंकि यदि हम संसारमें आसक्त हो जाते तो बड़ी भारी भूल होती। इसलिए महात्मागण; आइये, हमारे ऊपर कृपा कीजिये, गंगादेवी भी हमारे अनुकूल हो जायें। अब हमको न तक्षकका डर है और न मृत्युका भय है। जब उसकी मौज हो, आवे। तक्षक हमको काट जाय और हम मर जायें। आप लोग तो कृपा करके भगवत्कथाका गान करें। इसमें समाधि आदि लगानेकी जरूरत नहीं है। यदि भगवत्कथा सुनते-सुनते शरीर छूट जायेगा तो जन्म और मुक्तिकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। हमारी तो यही अभिलाषा है कि कर्मवश जब-जब हमारा जन्म हो, भगवान्‌के चरणोंमें हमारा अनुराग बना रहे, महात्माओं और भक्तोंका सत्संग मिलता रहे।

इसके बाद राजा परीक्षितने कुशा बिछायी और उत्तर मुखसे गंगाजीके दक्षिण किनारेपर बैठ गये। राज्यका भार तो उन्होंने पहले ही पुत्रोंको दे दिया था। उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। महात्मा लोग उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि आप जो कुछ कर रहे हैं, यह पाण्डव-वंशकी परम्पराके बिल्कुल अनुरूप है। आपके पूर्वजोंने तो श्रीकृष्णके लिए राज्य छोड़ दिया है। हम लोग तबतक यहाँ बैठे रहेंगे जबतक आप परलोकको प्राप्त करेंगे। ऋषियोंके ये वचन बड़े ही मधुर, गम्भीर और सत्य एवं समतासे युक्त थे—'समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम्।' (२२)

अब परीक्षितने महात्माओंका अभिनन्दन करते हुए उनसे प्रार्थना की कि आप सब लोग वेदोंके समान मूर्तिमान् होकर यहाँ आये हैं। आपका कोई प्रयोजन तो है नहीं, आप तो हमेशा दूसरोंकी भलाई चाहते हैं। हम आपसे अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें प्रश्न करना चाहते हैं। कृपया यह बताइये कि जो मनुष्य मरणासन्न है उसको क्या करना चाहिए? उसी समय श्रीशुकदेवजी वहाँ प्रकट हो गये। यह वर्णन आया है कि भगवान् तो केवल तीस गुणोंसे युक्त हैं, किन्तु श्रीशुकदेवजी अड़तीस गुणोंसे अलंकृत हैं। यह भी कहा गया है कि गोविन्दसे गुरु बड़ा होता है। कूर्मपुराणमें

वर्णन किया है कि स्वयं शंकर भगवान् ही परीक्षितका कल्याण करनेके लिए शुकदेवके रूपमें प्रकट हुए। यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार भगवान् गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षितकी रक्षाके लिए प्रकट हुए, उसी प्रकार यहाँ ब्राह्मणके शापरूपी ब्रह्मास्त्रसे रक्षा करनेके लिए भी स्वयं भगवान् ही शुकदेवके रूपमें प्रकट हुए। देखो,—'तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रः'—(२५) पर जरा-सा ध्यान दो। इसका पदच्छेद इस प्रकार है—'तत्र भगवान् व्यासपुत्रः अभवत्'—जिसका अर्थ हुआ कि भगवान् स्वयं व्यास-पुत्र बन करके आगये। शुकदेवजी तो धरतीपर घूमते ही रहते हैं। अवधूत वेशमें रहते हैं। कोई वस्त्र आदि धारण नहीं करते। उनका भगवान्-जैसा ही श्यामवर्ण है। बड़ा सुन्दर, बड़ा आकर्षक शरीर! उनको देखते ही स्त्री, पुरुष और बालक मुग्ध हो जाते हैं। राजा परीक्षितने उनका स्वागत किया और वे सबसे बड़े आसनपर बैठे। राजा उनके चरणोंमें आये, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और मधुर वाणीसे बोलने लगे कि आज हमारा जीवन धन्य हो गया, क्योंकि आप-जैसे सन्त हमारा कल्याण करनेके लिए पधारे हुए हैं। मैं तो एक अधम क्षत्रिय हूँ, परन्तु मेरा सौभाग्य है कि आप हमारे अतिथि बने। आपके तो स्मरणमात्रसे ही लोगोंका कल्याण हो जाता है। फिर आपका दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन आदि मिले तब तो क्या कहना! आपके सान्निध्यसे ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। आज हमारे ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए हैं। इसमें हमारा तो कोई श्रेय नहीं है, लेकिन वे हमारे बाप-दादाओंको बहुत प्यार करते थे, इसलिए उन्हींके नाते वे आपके रूपमें यहाँ पधारे हैं। नहीं तो आप कहाँ मिलते? आपका दर्शन पाकर हम धन्य हैं और आपके श्रीमुखसे यह जानना चाहते हैं कि मनुष्यको मृत्युकी अवस्था प्राप्त होनेपर क्या करना चाहिए? उस समय वह क्या श्रवण करे और क्या जप करे?

देखो, यहाँ म्रियमाण तो सब होते हैं। जो पैदा होता है, वह म्रियमाण होता है और वह क्षण-क्षणमें भी म्रियमाण होता रहता है। तो, परीक्षितजीने पूछा कि म्रियमाणावस्थामें क्या सुनना चाहिए, क्या जप करना चाहिए, क्या कर्म करना चाहिए, क्या स्मरण करना चाहिए, क्या भजन करना चाहिए और इसके विपरीत क्या होता है?

इस प्रकार मधुरवाणीसे राजा परीक्षितके प्रश्न करनेपर धर्मज्ञ भगवान् बादरायणने उत्तर देना प्रारम्भ किया।

❀

भागवत-दर्शन

 श्रीमद्भागवत महापुराण

१

द्वितीय स्कन्ध

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति •
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट
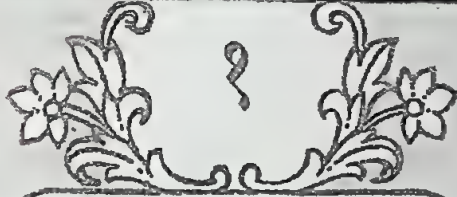
प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

द्वितीय स्कन्ध

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें अधिकार निरूपण किया गया है—श्रोता कैसा होना चाहिए, और वक्ता कैसा होना चाहिए ? यह दूसरा स्कन्ध साधन-प्रधान स्कन्ध है। इसमें केवल दस अध्याय हैं और उन दस अध्यायोंमें परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताये गये हैं। उन साधनोंमें भी मुख्य रूपसे श्रवणको ही परमात्माकी प्राप्तिका साधन बताया गया है। दुनियादार लोग इस बातको जल्दी नहीं समझ पाते कि नाक, जीभ, आँख, कान, किसी भी इन्द्रियके द्वारा पूर्ण वस्तुका ग्रहण नहीं किया जा सकता। आँख केवल रूप देखती है। नाक केवल गन्ध सूँघती है और त्वचा केवल स्पर्श करती है। फिर ये पूर्णताका ग्रहण कैसे करेंगी ? ये तो एक दूसरेके विषयको भी ग्रहण नहीं कर पातीं, यहाँ तक कि अपने ही विषयको पूर्णरूपसे ग्रहण नहीं कर सकतीं। इसलिए यह आशा रखना कि ये परिपूर्णतम परमात्माका साक्षात्कार करा देंगी, बिल्कुल असम्भव है। इन्द्रियातीत वस्तु किसी एक इन्द्रियके द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती। अनुमान तो इसी प्रत्यक्षका छोटा भाई है। इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है उसीका हम अनुमान कर सकते हैं—'तत् पूर्वकमनुमानं त्रिविधम्' (न्याय सू० १.१.५)। तत्पूर्वकका अर्थ है—प्रत्यक्षपूर्वक। पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीनों प्रकारके अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होते हैं। परमात्माकी पूर्णताका उपमान तो दुनियामें कहीं मिल नहीं सकता। अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये दोनों अनुमानके ही अवान्तर भेद हैं। ईश्वर कोई ऐतिहासिक या भौगोलिक वस्तु नहीं कि हम उसे किसी काल अथवा किसी देशमें देख-समझ सकें; ईश्वर तो ऐसी वस्तु है जिसको इन्द्रियाँ हमारे भीतर प्रकट नहीं कर सकतीं। उसके बारेमें जब हम श्रवण करेंगे, तभी हमारे हृदयमें प्रकट होगा।

वैसे इन्द्रियातीत वस्तुपर श्रद्धाकी भी आवश्यकता पड़ती है। पहले श्रद्धा करो।

श्रद्धावितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्।

(माध्यन्दिनशतपथ)

श्रद्धाकी पूजा लेकर परमात्माके मार्गमें चलो। साक्षात्कार हो जानेपर श्रद्धा करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

किन्तु जैसा कि पहले बताया गया, परमात्माकी प्राप्तिमें मुख्य साधन श्रद्धा ही है इसलिए 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः (बृहदारण्यक २.४.५) श्रवण करो। यह भी सत्य है कि सुनते तो सब लोग हैं किन्तु सुनकर सबको ग्रहण नहीं होता। इसलिए ऐसा मालूम पड़ता है कि श्रवणके पहले कुछ और होना चाहिए। यह होना चाहिए कि जिस वस्तुको हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसका यथाशक्ति ध्यान करें तथा हमारा हृदय निर्मल हो। ध्यानके ही ये दो विभाग हैं। जब हम ध्यान

करें तब हमारी मनोवृत्ति ध्येयकी ओर प्रवाहित हो और हमारे हृदयमें कोई दूसरी चीज न हो। इसीको निर्मलता अथवा हृत्प्रसाद बोलते हैं। निर्मलता माने हृदयकी प्रसन्नता और मनन माने परमात्माके बारेमें चिन्तन। ये दोनों बातें ध्यानसे होती हैं और जब हृदयमें निर्मलता तथा चिन्तनका अवतरण होता है तब श्रवण तत्काल फलप्रद हो जाता है। प्रतिबन्ध और संशय-विपर्ययसे रहित श्रवण अपना सारा काम कर देता है। संशयसे बचनेके लिए भावरूप श्रद्धा और विचाररूप मनन है तथा विपर्ययसे बचनेके लिए भावरूप आत्माकार वृत्तिका प्रवाह और बोध है।

श्रीशुकदेवजी महाराजने इन्हीं प्रसंगोंका विवेचन दूसरे स्कन्धमें किया है। दस अध्यायोंमें-से पहलेके दो अध्यायोंमें ध्यान और बादके दो अध्यायोंमें हृत्प्रसाद तथा वक्ता-श्रोताकी श्रद्धाका वर्णन है। शेष छह अध्यायोंमें मननका वर्णन है। इन छह अध्यायोंके तीन अध्यायोंमें उत्पत्तिके द्वारा वर्णन है और तीन अध्यायोंमें उपपत्तिके द्वारा वर्णन है। उत्पत्ति अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्ति और उपपत्ति माने युक्ति। उत्पत्तिमें अनित्य वस्तुका जनन होता है, जो नित्य परिच्छिन्न वस्तु होती है उसमें संयोग होता है और नित्य अपरिच्छिन्न वस्तु प्रकट होती है। उत्पत्ति तीन प्रकारकी है–(१) एक तो जगत्के पदार्थ पैदा होते हैं, (२) दूसरे जीव आदि पदार्थोंका संयोग होता है और तीसरे (३) समय-समयपर ईश्वरका आविर्भाव होता है। तो ईश्वरका आविर्भाव जीवका देहादिसे संयोग और देहादि जड़ वस्तुओंका जन्म इन तीनोंके बारेमें विचार करना चाहिए। उपपत्ति अर्थात् युक्ति भी तीन प्रकारकी होती है। इन तीनोंके द्वारा भी विचार करनेका फल यह निकलेगा कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वं जिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

जो वस्तु अन्वय-व्यतिरेकसे सर्वत्र सर्वदा परिपूर्ण है उसीसे सब वस्तुएँ भासती हैं। उसके बिना कोई वस्तु भास नहीं सकती और किसी भी वस्तुके न भासनेपर भी वह भासती है। अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे सर्व देशमें, सर्व कालमें, सर्व रूपमें आत्मवस्तुका, परमात्मवस्तुका जो ज्ञान है, वह ज्ञान ही साधनका फल है।

इस प्रकार दूसरे स्कन्धके दस अध्यायोंमें ध्यान, श्रद्धा, श्रवण, और मनन आदिका निरूपण करके यह बताया गया है कि इन साधनोंके द्वारा मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। आगेके स्कन्धोंमें सर्ग-विसर्गका वर्णन आयेगा। इसलिए उसके पहले श्रीशुकदेवजी महाराजने अधिकार और साधन इन दोनोंका निर्णय कर दिया। अब अध्यायोंके क्रमसे इन विषयोंपर विचार करो।

❦

: १ :

श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितसे कहा कि तुम सचमुच राजा हो, नृप हो। जो प्रजाका रक्षण करे उसका नाम राजा है। नॄन् पाति इति नृपः—जो जनताका रक्षक हो उसका नाम नृप है। तुम्हारा प्रश्न लोकहितकारी है, श्रेष्ठ है। दुनियाके लोगोंको इस प्रश्नका वरण करना चाहिए। यह प्रश्न भी ईश्वर-रूप है। गायत्री मन्त्रके 'वरेण्यम्' शब्दका जो अर्थ है वह अर्थ यहाँ मूलमें पड़े हुए 'वरीयान्' (श्लोक १) शब्दका भी है। अत; यह प्रश्न भी वरेण्य है, सुनने योग्य वस्तुओंमें श्रेष्ठ है। महात्मा लोग ऐसे प्रश्नका आदर करते हैं। जो लोग अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनके सामने हजारों प्रश्न हैं और हजारों सुननेकी चीजें हैं। उनकी रात निद्रा अथवा मैथुनमें बीत जाती है और दिन धन कमाने या कुटुम्बके भरण-पोषणमें बीत जाता है। मनुष्यके साथ पलटन लगी है। यह देह है, यह बेटा है, यह बेटी है, आदि-आदि। इसमें मनुष्य इतना रम जाता है कि अपनी मौतको भी नहीं देखता और भूल जाता है कि इस शरीरके साथ मृत्यु लगी है। मैंने यह देखा है कि जो आज रातको मरनेवाले हैं उनको सायंकालतक अपने मरनेका ख्याल नहीं होता। बम्बई हास्पिटलमें कभी-कभी मरणासन्न रोगियोंको दिखानेके लिए उनके सम्बन्धी लोग मुझे ले जाते हैं। रोगी मुझे देखकर कहता है कि महाराज, मै जरूर अच्छा हो जाऊँगा। आपका आशीर्वाद चाहिए। दूसरे दिन सबेरे खबर आती है कि वह तो चल बसा।

असलमें आत्मा अजर है, अमर है। वह कभी मरता नहीं है। अहं-पदका मुख्यार्थ आत्मा है और वह 'अहम्' देहमें हो गया है। आत्माकी अमरता देहमें आरोपित हो जानेके कारण ही लोगोंको अपनी मृत्यु भासती नहीं। जब देहको अपनेसे अलग कर लोगे तब मालूम पड़ेगा कि देह तो मरनेवाला है, जानेवाला है। इस देहसे अपनेको एक कर लेनेके कारण ही लोग सोचने लगते हैं कि हम अजर हैं, अमर हैं। परन्तु देहके पीछे तो मृत्यु लगी हुई है। क्षण-क्षण बीत रहा है, क्षीण हो रहा है। इसलिए सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिका श्रवण करना चाहिए। वे कानके रास्तेसे ही भीतर आते हैं। श्रवणके साथ-साथ उनका कीर्तन भी करना चाहिए और श्रवण-कीर्तनके द्वारा उनका स्मरण करना चाहिए। सांख्य, धर्म, योगनिष्ठा—इनके द्वारा यही लाभ निश्चित हुआ है कि जीवनकी अन्तिम घड़ीमें कम-से-कम नारायणका स्मरण हो जाय। बड़े-बड़े महापुरुष जो निर्गुण ब्रह्ममें स्थित हैं, विधि-निषेधसे परे पहुँच गये हैं और जिनको कोई नहीं कह सकता कि यह करो यह मत करो, वे भी भगवान्‌के गुणानुकथनमें लगे रहते हैं। जो स्वयं निर्गुण हो जाता है, उसको भी भगवान्‌का गुणानुवाद अच्छा लगता है। यह भी एक पद्धति है। योगी और सांख्यवादी लोग कहते हैं कि गुण तो सब प्रकृतिके हैं, आत्मा निर्गुण है। महात्मा लोग कहते हैं कि आत्मा तो निर्गुण है और गुण सब मायापति परमेश्वरके हैं। यह बात इतनी ऊँची है कि नये वेदान्तियोंकी समझमें जल्दी नहीं

आती। पुराना वेदान्ती हो जानेपर अवश्य समझमें आती है। गुण सब-के-सब भगवान्‌के हैं और आत्मा निर्मल है।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥ ८

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि श्रीमद्भागवत साक्षात् वेद है, मैंने इसको द्वापरके अन्तमें अपने पिता द्वैपायनसे श्रवण किया है। यहाँ द्वापरादौ शब्दका अर्थ द्वापरान्त है। मूलमें है तो आदि परन्तु अर्थ होता है अन्त। बहुव्रीहि समासके सामर्थ्यसे ऐसा अर्थ होता है। द्वापर है आदिमें जिसके वह द्वापरादि अर्थात् कलियुग। देखो परीक्षित, मेरी निष्ठा निर्गुणमें है। परन्तु श्रीकृष्णकी लीला ऐसी मधुर है कि उसने मेरे मनको खींच लिया। देखो, महात्मा लोग यह कहनेमें संकोच नहीं करते कि हाय हाय, हमारा मन आत्मनिष्ठा छोड़कर भगवान्‌में चला गया। ऐसा संकोच तो वही करते हैं जो आत्मनिष्ठ नहीं होते। यदि आत्मनिष्ठ होते तो उनके त्यागे हुए सुखको भगवान् ले जाते और उनका क्या बिगड़ता? जिस सुखको उन्होंने देहमें छोड़ दिया उस सुखको भगवान् उठाकर ले गये। कोई घरमें-से कूड़ा निकालकर बाहर फेंक दे और किसान उसे ले जाकर अपने खेतमें डाल ले तो इसमें कूड़ा फेंकनेवालेका क्या बिगड़ा? यदि किसीके छोड़े हुए सुखको भगवान् पकड़ लेते हैं और उसे डर लगता है कि हाय रे, हमारा सुख तो मर गया तो वह आत्मनिष्ठ कैसा? यदि कोई मनको अपना मानता हो तो वह आत्मनिष्ठ नहीं है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, अब मैं तुमको उस प्रश्नका उत्तर दूंगा जो तुमने पूछा है, क्योंकि तुम भगवान्‌के भक्त हो। जो इस बातपर श्रद्धा करेगा, उसकी बुद्धि मुकुन्द भगवान्‌के प्रति सती हो जायेगी। जैसे एक पतिव्रता स्त्री अपने पतिके प्रति सती होती है और उसके साथ मर भी जाती है, वैसे ही हमारी मति मुकुन्दके प्रति ऐसी सती हो जाय कि वह अपने आपको दग्ध कर दे। जैसे सती चितापर आरूढ़ होकर दग्ध हो जाती है वैसे ही हमारी बुद्धि परमात्मामें प्रविष्ट होकर यह कहती हुई कि प्रभो, मैं मरती हूँ तू जीता रह सती हो जाती है—'मैं मर जाऊँ तू, प्रभु जीवे।'

तो चाहे कोई वैरागी हो, चाहे इच्छा पूर्ति करना चाहता हो और चाहे तत्त्वज्ञानी—सबके लिए भगवान्‌का अनुकीर्तन श्रेष्ठ है। अनुकीर्तन शब्दका एक अभिप्राय यह है कि महात्मा लोग जैसा कीर्तन करते आये हैं, वैसा कीर्तन करना चाहिए। यदि हम अपनी नयी-नयी कविता और नया-नया कीर्तन निकालेंगे तो भगवान् भूल जायेंगे, अहंकार प्रवेश कर जायेगा। इसलिए—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

कीर्तन नहीं अनुकीर्तन करो। इसका तात्पर्य यह है कि अहम्‌की वृद्धि न होने पाये। यह

ध्यान रक्खो कि भगवत्सम्बन्धी विषय हमारे हृदयमें बढ़ें। बेवकूफीमें तो बहुत सारा समय बीत जाता है। अब दो घड़ी इसमें समय बिताओ। एक महात्मा बोलते थे कि दो घड़ी जीओ पर चमक-कर जीओ। दो घड़ी जीओ पर स्वच्छ कार्य करके, सात्त्विक काम करके जिन्दगी व्यतीत करो। बहुत दिनोंतक मलिनतापूर्वक जीनेमें कोई लाभ नहीं। राजा खट्वाङ्गने दो घड़ीमें सबकुछ छोड़कर भगवान्‌को प्राप्त कर लिया। परीक्षित, तुम यह मत समझो कि तुम्हारी आयु अब थोड़ी रह गयी है। मरनेके समय जो कुछ करना चाहिए, वह सब कर लो। मूर्ख लोगोंको यह पता नहीं चलता कि मरनेके बाद क्या होता है लेकिन जो जानकार लोग हैं उनको तो पता रहता ही है। इसलिए निर्भय हो जाओ। मृत्युके बाद कोई दुर्गति होगी, यह ख्याल बिल्कुल छोड़ दो। यही निर्भय होनेका अर्थ है। यहाँ इस देहके जो लग्गू-भग्गू अथवा पिछलग्गू लोग हैं उनके साथ आसक्ति मत रखो। उनकी स्पृहा छोड़ दो। यह दुनिया तो ऐसे ही चलती रहती है। किसीके मरनेसे किसीका कोई काम बन्द नहीं हुआ। पृथु-सरीखे बड़े-बड़े महाराजा मर गये, बड़े-बड़े महापुरुष मर गये, लेकिन सृष्टि ज्यों-की-त्यों चलती ही रही। इसलिए मृत्युकी चिन्ता छोड़ो, घरसे निकल पड़ो। पुण्य-तीर्थमें स्नान करो और मनसे प्रणवका अभ्यास करो।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्। १७

अन्तकालमें परमात्माका नाम लेनेके लिए पहले विषयोंसे इन्द्रियोंको खींच लेना चाहिए फिर बुद्धिको अपना सारथि बनाकर मनको भगवान्‌में लगाना चाहिए। यदि मन भगवान्‌के एक अंगमें भी लग जाय तो उसको निर्विषय बनानेका प्रयास करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कोई दूसरी वस्तु न आने पाये, वह किसी औरकी याद न करे। ऐसा करनेसे मनको प्रसन्नता प्राप्त होती है। हमारा मन या तो मूढ़ अवस्थामें रहता है या फिर विक्षिप्त अवस्थामें रहता है। इसको धारणा करके भगवान्‌में लगा दो। भगवान्‌में लगानेसे मनमें भक्ति आजाती है।

इस प्रकार श्रीशुकदेवजीने थोड़ेमें कह दिया। महात्माओंकी यह रीति हमेशासे रही है कि वे पहले किसी बातको थोड़ेमें कह देते हैं, फिर जब देखते हैं कि जिज्ञासु इसके बारेमें और जानना चाहता है और इसकी बुद्धि इसमें लग रही है तब उसके बारेमें और बोलते हैं। अब जब राजाने पूछा कि महाराज, धारणा कैसी करनी चाहिए और धारणासे मनोमलकी निवृत्ति कैसे होती है, तब श्रीशुकदेवजी महाराज इसका उत्तर देते हैं।

देखो राजा, पहले तो आसन द्वारा शरीरमें स्थिरता लानी चाहिए, शरीर काबूमें हो और श्वासपर विजय प्राप्त कर ले, फिर किसीके प्रति आसक्ति न रहे। आजकल कई लोग सोचते हैं कि हम बढ़िया कुटिया बना लेंगे तब उसमें बैठकर भजन करेंगे। अरे बाबा! कुटियामें आसक्ति तो पहलेसे ही हो गयी, भजन कहाँसे करोगे? बोले—अच्छा पहले पेंशनकी व्यवस्था तो कर लें उसके बाद भजन करेंगे। नहीं, जब पहले ही तुम्हारे भीतर अपनी कमाई, अपने रुपयोंका भाव आगया

तब ईश्वरपर विश्वास कहाँसे रहा। इसलिए किसी भी प्रकारकी आसक्ति बिल्कुल नहीं होनी चाहिए। इन्द्रियोंकी माँग भी काबूमें होनी चाहिए। यह नहीं कि हम यही खायेंगे, यही पीयेंगे और यहीं रहेंगे। एक बार श्री उड़िया बाबाजीसे किसीने कहा कि महाराज, अमुक साधु रोज सेरभर दूध न प्रीये तो उसका पेट साफ नहीं होता। बाबाने कहा कि तब तो वह किसी सेठका जेबी साधु बनेगा जिससे कि सेठकी सहायतासे उसके लिए प्रतिदिन सेरभर दूधकी व्यवस्था हो जाय।

तो जब हमारी इन्द्रियाँ किसी खास शय्याके बिना, खास भोजनके बिना, खास वस्त्रके बिना, खास आदमीके बिना नहीं रह पातीं तब समझ लो कि उनमें बड़ी भारी आसक्ति है। उस आसक्तिसे बचनेके लिए मनको भगवान्‌के स्थूल रूपमें लगाना चाहिए। देखो, यह विश्व भगवान्‌का स्थूल शरीर है। उसीमें यह सारा विश्व दीख रहा है। इसमें जो चींटी हैं, ततैया हैं, बिच्छू हैं, साँप हैं, वह भी भगवान्‌के शरीरमें ही हैं। फिर जो बड़े-बड़े महापुरुष हैं, देवता हैं, ब्रह्मा, विष्णु-महेश हैं उनका तो कहना ही क्या! वे तो विश्वरूप भगवान् ही हैं। 'अत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत् (२४)। यहाँ जो कुछ हुआ, जो कुछ होगा और जो कुछ है वह सब परम्पराका शरीर है। देखो, गुरुनानकका पहला वचन याद करो, वे कहते हैं—'आदि सचु जुगादि सचु नानक है भी सचु होसि भी सचु'। अर्थात् सब सच-ही-सच, परमात्मा ही परमात्मा है।

श्रीशुकदेवजी महाराज धारणाकी विधि बताते हुए आगे कहते हैं, परीक्षित! ऐसा विचार करना चाहिए कि सात आवरण युक्त पृथिवी आदि ग्रह भगवान्‌के ही शरीर हैं। भगवान्‌का पाद-मूल पाताल है, पंजा और एड़ी रसातल है, टखना महातल है, जंघा तलातल है तथा जानु सुतल-अतल हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्चका भगवान्‌के विराट् शरीरमें न्यास कर देना चाहिए वैसे ही जैसे अपने शरीरमें न्यास करते हुए कहते हैं—हे देवता, तुम हमारे हृदयमें बैठो। हे ऋषि, तुम हमारे सिरमें बैठो। हे छन्द, तुम हमारे मुँहमें बैठो। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चका भगवान्‌के विराट् विग्रहमें न्यास करते हुए यह धारणा करनी चाहिए कि सम्पूर्ण नदी, वृक्ष, पर्वत, मेघ, महत्तत्त्व, प्राणीमात्र और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन सबका भगवान्‌के विराट देहमें ही सन्निवेश है। यह विचार सदा सर्वदा करना चाहिए कि सम्पूर्ण विश्वके ब्राह्मण ईश्वरका शरीर ही हैं और उनके रूपमें ईश्वर ही दिखाई पड़ता है। ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं। सबकी धीमें, वृत्तिमें, मनोवृत्तिमें आत्मा वही है। जैसे स्वप्नमें हजारों आदमी हैं और उनको देखनेवाला एक है, वैसे ही सबमें, सब समय, सर्वत्र एक परमात्मा सच्चिदानन्दघन भरा हुआ है। किसी भी छोटी चीजमें कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यदि तुम छोटी चीजमें फँस जाओगे तो कुछ छोटे हो जाओगे और तुम्हारा आत्मपात हो जायेगा।

ॐ

: २ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने इसी तरह ध्यान किया था। परमात्माके स्वरूपमें यह ब्रह्माजीकी स्मृति जो प्रलयकालमें सो गयी थी जागृत हो गयी। फिर उन्होंने अमोघ दृष्टि होकर इस सृष्टिका निर्माण किया। पञ्चभूतोंका निर्माण करनेवाला तो हिरण्यगर्भ है किन्तु पञ्चभूतोंके भीतर जो छोटे-छोटे ब्रह्माण्ड होते हैं उनमें बैठकर प्राणियोंके शरीरका निर्माण करनेवाला मनुष्य, पशु, पक्षी आदिको बनानेवाला ब्रह्मा होता है। पञ्चभूत हिरण्यगर्भमें-से निकलते हैं और हिरण्यगर्भ ईश्वरमें-से निकलता है। ईश्वर मायासे परमपुरुषमें—परब्रह्ममें मालूम पड़ता है। मनुष्यकी बुद्धि दुनियाकी बातें सुन-सुनकर इधर-उधर भटकती है। किन्तु उसको कोई भी दूसरी चीज नहीं मिलती, इसलिए ज्यादा नामोंके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। परोक्ष-अपरोक्षके सम्बन्धमें मनुष्य जितना अधिक शब्दोंका प्रयोग करता है, जैसे—यह भी एक चीज है, वह भी एक चीज है आदि, उतना ही वह भटक जाता है। इसलिए जितना प्रयोजन हो उतने ही शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए। यदि कोई वस्तु सुगमतासे सुलभ हो तो उसके लिए कठिन तपस्या करनेकी जरूरत नहीं। नींद अगर धरतीपर आजाय तो पलंग इकट्ठा करनेकी जरूरत नहीं, हाथसे तकियाका काम चल जाय तो तकिया बनानेकी जरूरत नहीं, अञ्जलिसे पानी पी लिया जाय तो बहुत सारे बर्तन रखनेकी जरूरत नहीं, नंगे रहने या वल्कल पहननेसे काम चल जाय तो बढ़िया-बढ़िया कपड़ा इकट्ठा करनेकी जरूरत नहीं। ये बातें साधकोंके लिए हैं, उनको इनपर ध्यान देना चाहिए। जो लोग संसारमें लगे हुए हैं उनको नंगा बनाने या कौपीन पहनानेका विधान नहीं है। जो अर्थ चाहते हैं वे अर्थ कमायें, जो भोग चाहते हैं वे भोग भोगें। जो धर्म चाहते हैं वे धर्म करें। अपने-अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिए। लेकिन जो परमार्थ चाहते हैं उनको तो संसारका परित्याग करके इस मार्गपर चलना ही पड़ेगा। क्या मार्गमें पहननेके लिए चीर नहीं मिलते ? क्या वृक्ष भिक्षा नहीं देते ? क्या नदियों और सरोवरोंसे पीनेका पानी नहीं मिलता ? क्या वे सूख गये हैं ? क्या रहनेके लिए गुफाएँ नहीं मिलतीं ? अच्छा; मान लो कि ये सब नहीं मिलते, परन्तु क्या भगवान् भी शरणागतकी रक्षा नहीं करते ? यदि करते हैं तो जो धनके मदमें मतवाले हैं, ब्लैक मार्केट या चोरी-बेईमानी करते हैं, दूसरोंका अधिकार छीनकर सत्ता हथिया लेते हैं और समाजमें धर्मालङ्कार, धर्मधुरीण, धर्मधुरन्धर कहलाते हैं उन दुर्मदान्धोंकी सेवा विद्वान् लोग क्यों करते हैं ? 'कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्', उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। देखो, अपना इष्ट परमात्मा तो अपने हृदयमें ही है। उसको छोड़कर दुनियाकी चिन्ता करना और वैतरणी नदीमें उलट-पलट करनेवालोंकी ओर ध्यान देना—यह साधकका काम नहीं है। अरे बाबा, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् तो अपने हृदयाकाशमें ही

रहते हैं। और बहुत बड़े भी नहीं, केवल अँगूठेके बराबर हैं; इसलिए उनका ध्यान करो। 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् (८)।

देखो अंगुष्ठ मात्र आकृतिवाले भगवान्‌की कथा पुराणोंमें आयी है। एक बार सनातनधर्मी दो आचार्य मिले; एकने कहा कि परमात्मा विभु हैं, व्यापक हैं और दूसरेने कहा कि परमात्मा तो अँगूठेके बराबर हैं। उपनिषद्‌में लिखा है कि :

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। (क० २.१.१२)

इसपर पहले आचार्यने कहा कि हाँ अंगूठेके बराबर तो लिखा है लेकिन तुम तो अणुके बराबर बोलते हो। जब कि हम विभु बोलते हैं। दूसरे आचार्यने उत्तर दिया कि हृदयका आकार अंगूठेके बराबर है और वह हृदयमें रहता है। इसलिए उसे अंगुष्ठमात्र बोलते हैं। पहले आचार्यने कहा कि हम भी जब विभु कहते हैं तब परमात्मा तो विभु ही है—आत्मा तो विभु ही है, परन्तु उसका आकार हृदयका ही है। इसके बाद दोनों आचार्योंमें सहमति हो गयी।

तो हृदयकी उपाधिसे परमात्मा अँगूठेके बराबर मालूम पड़ता है और वह आकार ध्यान करनेके लिए है। ऐसा ध्यान करना चाहिए कि परमात्मा मुस्करा रहा है। उसके मुखपर प्रसन्नता है, कमलकी तरह उसकी आँखें खिली हुई हैं। वह पीला-पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं और उनके आभूषण बड़े सुन्दर हैं। वे हमारे खिले हुए हृदय-कमलपर विराजित हैं। उनके वक्षःस्थलपर लक्ष्मी हैं तथा गलेमें कौस्तुभ है। जब आप ध्यान करना चाहेंगे तब आपको उनके अंगों और आभूषणोंके बारेमें अलग-अलग जानकारी मिलेगी। जैसे वक्षःस्थलपर जो लक्ष्मीका चिह्न है; वह कैसा है? गलेमें जो कौस्तुभ मणि है उसमें छेद है कि नहीं, डोरी है कि नहीं और उसका रंग रूप क्या है? इस प्रकार जब आप बारीकीसे भगवान्‌का ध्यान करेंगे तब आपका मन एकाग्र हो जायेगा।

आपको पहले सुनाया जा चुका है कि अगर आप अपने मनमें भगवान्‌को हँसते हुए देखेंगे तो आप भी विहँस उठेंगे। आजकलके बाबू लोग यह कह सकते हैं कि भगवान् हमारे हृदयमें कहाँ हैं, यह तो हमारा मन ही है जो भगवान् बना है और वही हँस भी रहा है। लेकिन आप सोचें कि आपके जीवनमें बिना किसी भोगके मन-ही-मन हँसनेका, मुस्करानेका अवसर मिलता है? यदि मिलता है तो यह क्या कोई ध्यानकी साधारण अवस्था है। यह तो आनन्दानुगत समाधिके बराबर है। जब आपके मनमें श्यामसुन्दर मुस्कुराते हैं, रामभद्र निर्मल दृष्टिसे, प्रसन्न दृष्टिसे आपकी ओर देखते हैं तब देखिये आपके हृदयकी क्या अवस्था होती है। यही मान लें कि यह आपका अपना मन ही है। तो भी मनकी मुस्कान क्या जीवनमें कम महत्त्व रखती है, कोई छोटी-मोटी वस्तु है। अगर इसी तरह मन मुस्कुराता रहे तो संसारके दुःख दूर हो जाते हैं। परन्तु यहाँ तो आनन्द-सिन्धु परमेश्वरकी बात है। यदि जीवनको आनन्दमय बनाना हो तो भगवान्‌के चरणसे लेकर हस्तपर्यन्त एक-एक

अंगका ध्यान करना चाहिए। जबतक भक्ति पूरी न हो जाय तबतक भगवान्का ध्यान जरूर करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं यदि यति इस लोकको छोड़ना चाहे तो वह अपने मनको देश-कालमें आसक्त न करे। आसनपर बैठकर अपने मनके साथ प्राणको काबूमें करे और फिर मनको बुद्धिसे क्षेत्रज्ञमें नियमित करके क्षेत्रज्ञको शुद्ध आत्मामें नियमित करे। इसके बाद 'शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' ऐसा निश्चय करके शान्ति प्राप्त कर ले और कर्तव्यसे बिल्कुल ऊपर हो जाय। वहाँ इन सत्त्वादि गुणोंका और काल, देश आदिका कोई प्रभाव नहीं। वहाँ न महत्तत्त्व है और न प्रकृति है। उस परमपदको वैष्णवपद कहते हैं—'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् (१८)।

देखिये, यहाँ एक बात ऐसी कही हुई है जिसपर वैष्णवों और वेदान्तियों दोनोंको ध्यान देना चाहिए। यह वैष्णव परमपद है, ठीक है, बहुत खुशीकी बात है। किन्तु—'यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षव:' नेति-नेति करके अनात्माका निषेध करके भी तो इसीकी प्राप्ति होती है। नेति-नेतिके द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है वह वैष्णव पद ही है। यह वैष्णव पद, परमपद बड़ा व्यापक है। इसलिए बादके चक्करमें मत पड़ो और अपने-अपने मनसे दुराग्रहोंको दूर करके बड़े प्रेमसे भगवान्के चरणारविन्दोंका ध्यान करो तथा विज्ञानदृष्टि बन जाओ। इस प्रकार साधना करनेसे हृदय शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी वासनाएँ मिट जाती हैं।

अब ब्रह्मनिष्ठ यतिको देह-त्याग कैसे करना चाहिए इसका उपाय बताते हैं। कहते हैं कि पहले स्थिर आसनमें बैठकर एड़ीसे गुदास्थानको दबाये और फिर नाभि आदिके छह चक्रों अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र, इनके क्रमसे प्राणवायुको ऊपर ले जाकर ब्रह्मरन्ध्रके भेदन द्वारा देहका परित्याग करे इससे सद्यो मुक्ति हो जाती है।

इसके बाद क्रममुक्ति बताते हुए कहते हैं कि योगीके मनमें यह इच्छा हो सकती है कि मुक्त तो होना ही है, जरा ब्रह्मलोककी सैर भी कर लें। महात्मा लोग भी ऐसा करते हैं कि यह शरीर तो छूटना ही है, चलो गंगा-किनारे वहाँ गंगोत्तरीसे गंगासागरतक एक बार हो आयें। यदि ऐसी इच्छा योगीकी हो तब उसे अपने मन और इन्द्रियोंके साथ ही शरीरसे तत्तत् लोक घूमनेके लिए जाना चाहिए। योगी लोग जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। वे सुषुम्नानाड़ीसे ब्रह्मलोक पथके द्वारा पहले अग्निलोकमें जाते हैं, फिर शिशुमारचक्रमें जाते हैं। उसके बाद महर्लोकमें जाते हैं। वहाँ देखते हैं कि यह सारी सृष्टि सङ्कर्षणके मुखानलसे दग्ध हो रही है। वहाँसे चलकर ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्मलोकमें न शोक है, न बुढ़ापा है। न मृत्यु है, न आर्ति है और न उद्वेग है। किन्तु एक दुःख वहाँ भी है, वह यह है कि कभी-कभी ब्रह्मलोकसे विमान द्वारा धरतीपर झाँकते हैं तो यहाँका दुःख देखकर उन दयालु महात्माओंको बड़ा दुःख होता है।

यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् । २७

ब्रह्मलोकके निवासी जब यह देखते हैं कि संसारके लोग केवल नासमझीसे अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं तब उनके चित्तमें ऐसा क्षोभ होता है, ऐसी पीड़ा होती है, जैसे उनको कोई कोड़ा लगा रहा हो। जब कोई नासमझ बच्चा किसी आदमीके बनाये हुए पुतलेको भूत समझकर, चोर समझकर या डाकू समझकर दुःखी होता है, रोता है, चिल्लाता है, तो जैसे समझदार आदमीको यह कष्ट होता है कि यहाँ न भूत है, न प्रेत है, न चोर है, न डाकू है फिर भी यह बच्चा एक कठपुतलीको देखकर इतना भयभीत हो रहा है, वैसे ही ब्रह्मलोकके लोग संसारी लोगोंको देखकर दुःखी होते हैं, असलमें परमात्माके बीचमें रहकर भी मनुष्य परमात्माको नहीं पहचानता। संसार और परमात्मामें अगर कोई फर्क है तो इतना ही है कि हम संसारको पहचाननेका दावा करते हैं पर परमात्माको नहीं पहचानते। यदि परमात्माको पहचान लेते हैं तो संसार संसार नहीं परमात्मा ही है। जैसे महात्मा लोग जब यह देखते हैं कि संसारके प्राणी बेवकूफ बच्चोंकी तरह दुःखी हो रहे हैं तब उनको ब्रह्मलोकमें भी व्याकुलता हो जाती है और वे कहते हैं कि यहाँ आकर हमसे एक बड़ी भारी गलती हो गयी। यहाँ देखो, यही बात दूसरी रीतिसे भी बोलते हैं। एक ही बात कभी शास्त्रीय रीतिसे और कभी लौकिक रीतिसे भी कही जा सकती है। शबर स्वामीका कहना है कि जो बात लौकिक रीतिसे निकल आती है उसके लिए अलौकिक रीतिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। जब ब्रह्मलोकगामी महात्माओंको वहाँ दुःख हुआ तब उन्होंने सोचा हमने कहा था कि परमानन्द धरतीमें नहीं, बहुत ऊपर है, दूर है। परमेश्वर आज नहीं है तो उसके मिलनेमें बहुत देर है। यह भी कहा कि ऐसा करो-वैसा करो तब परमात्मा मिलेगा। इससे हम लोग तो यहाँ चले आये लेकिन लोगोंकी तकलीफ दूर नहीं हुई। ऐसा सोचनेके बाद उनके मनमें विचार आया—

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयस्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ॥ २८

हमारा यह ब्रह्मलोक किसी कामका नहीं। यहाँ हमारा जो दिव्य शरीर है उसमें बुढ़ापा नहीं, शोक नहीं, मृत्यु नहीं तो क्या हुआ ! किसीने जब यह पूछा कि महात्माओ, आप लोग आखिर क्या चाहते हो तो वे बोले हम यह चाहते हैं कि जहाँ संसारके लोग हैं वहीं परमात्मा है—यह बात सबको मालूम पड़नी चाहिए। यह कहकर वे ब्रह्मलोकसे झट कूद पड़े और फिर 'विशेषं प्रतिपद्य'— मैं पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ, मैं आकाश हूँ, यह कहते हुए उन्होंने अपनी-अपनी इन्द्रियोंसे अपने-अपने गुणोंको अपने अन्दर खींच लिया और कहा कि देखो यह सब-का-सब परमात्मा है। इससे यह हुआ कि उन्होंने परमात्माको जो सातवें आसमानमें भेज दिया था, अन्तर्देशकी गुफा में बन्द कर दिया था, वह सब मिट गया। वास्तवमें मिट्टी, पानी, आग, वायु, आकाश सब

परमात्माके रूप हैं, सब आनन्दमय परमात्मा है। सृष्टिमें कहीं भी परमात्मा की आसक्ति नहीं होती।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति ये ही दो गतियाँ हैं। जिनका वर्णन मैंने किया। ये बातें ब्रह्माको भगवान्ने बतायी थीं। अब तुम सुनो संक्षेपमें उस मार्गकी बात, जिससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है।

नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह। ३३

जिससे भगवान् वासुदेवके प्रति भक्तियोग हो जाय वही सबसे बढ़िया मार्ग है। भगवान् वासुदेव हमारे हृदयमें बैठ गये हैं इसलिए—'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' (४.३.२३) हमारे शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरणमें जैसी अनुभूति होती है, वही सर्वोत्तम है। ब्रह्माजी महाराजने तीन बार वेदोंका स्वाध्याय किया, अन्वीक्षण किया और इसी निश्चयपर पहुँचे कि जिस साधनसे परमात्मामें रति हो वही श्रेष्ठ है। स्त्री-पुरुषकी रति दूसरी चीज है, कर्मकी रति दूसरी चीज है और श्रीहरिकी रति दूसरी चीज है। 'रतिरात्मन् यतो भवेत्' (३४)—बस, हमारी रति केवल परमात्मामें हो। देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं।

सीताराम चरण रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

बस, साधकको यही तो जाँच करनी है कि हमारी रति कहाँ है? हम रमते कहाँ हैं? हमारी प्रीति कहाँ है? हमारा रस कहाँ रखा है? जब वह सावधान रहेगा और यह देखेगा कि अरे! हमारा रस, हमारा परमात्मा तो हमारे हृदयमें ही बैठा हुआ है तब परमानन्द ही परमानन्द है। देखो, सबके हृदयमें परमात्मा है। यह कैसे मालूम पड़ता है? अपने आत्मासे मालूम पड़ता है। दृश्यादि तो अनात्मा है किन्तु जो द्रष्टा है वह आत्मा असंग चैतन्य है। वही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न परमात्माका लक्षण है; इसीसे परमात्माका ज्ञान-ध्यान हो जाता है। इसलिए राजा परीक्षित, साधनका निर्णय बस यही है कि सर्वत्र, सर्वदा, सर्वात्मना, सब जगह, सब कालमें और समस्त मनसे—'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्' (३६) भगवान्का ही कानसे श्रवण करो, वाणीसे कीर्तन करो और मनसे स्मरण करो। इससे त्वचा, आँख, नाक और स्वाद लेनेवाली जीभ—इन चारोंका तो हो जायेगा तिरस्कार तथा वाणी द्वारा नाम, कान द्वारा श्रवण एवं मन द्वारा स्मरण—इन तीनोंमें हो जायेगी निष्ठा। बस, यही मनुष्यके लिए सबसे बड़ा साधन है। असलमें भगवान् और आत्मा दो चीजें नहीं हैं। जो आत्मा है वही भगवान् है और जो भगवान् है वही आत्मा है। सन्त लोग कथामृतको कानके प्यालेमें डाल देते हैं और उसको प्रेमसे पीते हैं। फलस्वरूप उनके हृदयोंमें विषयोंका, वासनाओंका जो विष रहता है वह दूर हो जाता है। तथा उनको भगवान्के चरणारविन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

: ३ :

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराज बताते हैं कि मरनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिए। बाबा, मरनेवाले तो सब हैं। इसलिए सबको सब समय उनका ज्ञान होना चाहिए। मनुष्य एक-एक कामनासे एक-एक देवताका भजन करता है। यह विधान है कि यदि ब्रह्मतेजकी कामना हो तो ब्रह्मणस्पतिका भजन करे और इन्द्रिय-पाटवकी कामना हो तो इन्द्रका भजन करे। किन्तु किसी एक कामनाकी पूर्तिके लिए भगवान्‌का भजन करना ठीक नहीं। वैसे चाहो तो भगवद्भजन द्वारा कामनापूर्ति हो जायेगी। लेकिन हाथीसे हल जुतवाना कोई अच्छी बात नहीं। परमेश्वरका ध्यान करना और उससे विषयभोग प्राप्त करनेकी इच्छा करना श्रेयस्कर नहीं है। परमात्मामें तो सब चीजें अपने आप ही हैं। चाहे उनकी बाँसुरी सुनलो, चाहे उनके हृदयसे चिपक जाओ और चाहे उनकी सुन्दरता देख लो, चाहे सूँघ लो, चाहे चख लो और चाहे चाट लो तुम दुनियामें जो-जो चाहते हो वह सब परमात्मामें मिल जाता है। इसलिए परमात्माकी आराधना करनेपर अलग-अलग देवताओंकी आराधना करनेकी जरूरत नहीं रहती; केवल परमात्माकी आराधनासे ही सब वस्तुओंकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए कोई चाहे निष्काम हो, चाहे सर्वकाम हो, चाहे मोक्षकाम हो, उसको तीव्र भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। जो भगवान्‌की आराधना करना चाहता है उसके लिए इतना ही सर्वोत्तम निःश्रेयस फल है कि वह भगवद्‌भक्तोंका संग करे। उसके लिए पहली बात यही है, जो देवताकी पूजासे भी अधिक है। जब कोई सत्संग अथवा कथा छोड़कर कहता है कि हम जरा दण्डकारण्य हो आयें, नासिककी यात्रा कर आयें, तब यह बात सिद्ध होती है कि उसको कथा, सत्संगमें रस नहीं आता है। इसको रस आखिर है कहाँ? भागवतका संग, भक्तका संग सबसे बड़ा साधन है, क्योंकि भक्तके संगसे ही भगवान्‌के प्रति प्रेम मिलता है। जैसे आपको धन चाहिए तो वह आपको धनीसे ही मिलेगा, भिखारीसे नहीं मिलेगा। इसीप्रकार आपको भक्ति चाहिए तो वह भक्तसे ही मिलेगी। भगवान् तो खुद ही भक्ति पानेके लिए इधर-उधर घूमते

रहते हैं। इसलिए भगवान्‌से भक्ति मत माँगो, भक्तसे भक्ति माँगो, फिर देखो वह अपने आप मिल जायेगी, क्योंकि भक्त भक्तिका धनी है और भगवान् भक्तिका भिखारी है। वह तो भक्तिका प्रेमी है, लोगोंकी भक्ति लेनेके लिए व्याकुल रहता है। भगवान्‌के भक्तोंके संगसे ही भगवान्‌में भाव होता है। यह हरिकथा कैसी है ? कभी-कभी माँ आनन्दमयी बोलती हैं कि हरिकथा कथा और सब वृथा व्यथा। क्या कभी दुनियामें सबलोग सुखी हुए हैं? भगवान्‌ने सुखी बनाया ही नहीं इस दुनियाको। शायद उन्होंने सोचा होगा कि अगर दुनियावालोंको हम सुखी बना देंगे तो उनको कभी वैराग्य नहीं होगा और वे हमारी ओर नहीं आयेंगे, हमको कोई पूछेगा ही नहीं। इसलिए उन्होंने दुःख डाल दिया इस दुनियामें। यहाँ कोई ऐसा पैदा नहीं हुआ जो अमर ही अमर हो ! ब्रह्मा मरते हैं। पुराणोंमें, योगवासिष्ठमें, विष्णुकी आयु लिखी हुई है। शिवकी आयु लिखी हुई है। गिनती करके लिखा हुआ है कि ब्रह्माकी आयु विष्गुका एक क्षण है और विष्गुकी आयु शिवका एक क्षण है। उसके हिसाबसे विष्गु और शिव सौ-सौ वर्षके हैं। शिव निराकार और परमेश्वरके संकल्प हैं। वह संकल्प परब्रह्म परमात्मामें कल्पित है। अतः—'हरि कथा-कथा और सब वृथा व्यथा।'

इस उक्तिसे ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है कि उसमें समाधि और विक्षेपका भेद ही नहीं रहता। ऐसी प्रसन्नता प्राप्त होती है कि किसीसे आसक्ति ही नहीं होती। वह भक्ति मिल जाती है जिससे तुम अनन्त अद्वयसे एक हो जाते हो। ऐसा कौन समझदार पुरुष है जो भगवान्‌की कथाके प्रति प्रीति नहीं करेगा। 'को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्।' बुद्धि निरावरण हो जानेपर तो कौन ऐसा पुरुष है जो हरिकथामें रति नहीं करेगा ! यह महावाक्य तो एक प्रकारकी चुनौती है, ललकार है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।' जीवन्मुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष ध्यानको छोड़कर भगवान्‌के चरित्रका श्रवण करते हैं। वास्तवमें जो व्याकुल हैं विक्षिप्त हैं, उनकी बात तो अलग है। परन्तु प्रसन्नहृदय पुरुषोंको हरि कथामें रति हुए विना रह नहीं सकती।

अब शौनकजीने सूतजीसे कहा कि महाराज परीक्षितने जो पूछा था वही हम सब भी सुनना चाहते हैं। परीक्षित परमभक्त हैं। जो बचपनमें खेलते समय श्रीकृष्णकी लीलासे ही खेला करते थे। शुकदेवजी महाराज भी एक तो व्यासके बेटे हैं, दूसरे वासुदेव-परायण हैं और तीसरे साक्षात् भगवान्-हैं। ये दोनों सन्त हैं। जब दो सन्त इकट्ठे होते हैं तो परस्पर भगवान्‌की रसमयी चर्चा ही करते हैं, राग-द्वेषकी चर्चा कभी नहीं करते। देखो, इस प्रसंगमें मैं अपने हृदयकी बात आपको बड़ी गम्भीरतासे सुनाना चाहता हूँ। आप यह बराबर ध्यानमें रखिये कि आप कभी कुसंगमें न पड़ें। आपको यह पहचानना चाहिए कि आपके हृदयमें कौन क्या डाल रहा है। कोई संशय तो नहीं डाल रहा है, अश्रद्धा तो नहीं डाल रहा है, वासना तो नहीं डाल रहा है और दुखदायी चीज तो नहीं दे

रहा है। यदि कोई आपके कपड़ोंमें आग लगाये तो आप बरदास्त करेंगे ? लेकिन कोई आपके दिलमें आग लगा देता है तो आप उसे क्यों पसन्द करते हैं ? जो आपके दिलमें द्वेष पैदा करता है, आग लगाता है, उससे कम-से-कम सावधान तो रहना ही चाहिए।

आइये, भगवान्‌की कथा सुनिये। लोग रोज कहते हैं कि सूर्योदय हुआ, सूर्यास्त हुआ। लेकिन यह नहीं देखते कि हमारी आयु घट रही है। इसलिए अपनी आयुको भगवान्‌की कथामें जोड़ दो। क्या पेड़ नहीं जिन्दा रहते ? क्या लोहारकी धौंकनी साँस नहीं लेती ? वह मनुष्य कुत्तेके समान, गुबरौलेके समान, ऊँटके समान और गधेके समान अपना जीवन व्यतीत कर रहा है, जिसके कानोंमें भगवान्‌की कथा नहीं पड़ती। भगवत्-कथासे वंचित होकर अपने जीवनका नाश करता है। शौनकजी, भगवत्-कथाके श्रवणमें श्रोताकी श्रद्धा होनी चाहिए। जिस मनुष्यके कर्णपुट भगवान् उरुक्रमके विक्रमका श्रवण नहीं करते उनके कान बिलके समान हैं जिनमें साँप रह रहे हैं। 'बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य' (२०)। सन्त तुलसीदासजीने भी यही कहा—'जिह्वा साँपिनि वदन बिल जे न जपहिं हरिनाम।' वह जीभ-जीभ नहीं मेंढकी है जो टर्र-टर्र तो करती है, लेकिन भगवान्‌के गुणानुवादका गान नहीं करती। वह सिर भारमात्र है जो भगवान्‌के सामने कभी झुकता नहीं। वे हाथ जो चाहे कितने भी आभूषण धारण किये हों किन्तु यदि भगवान्‌की सेवा-पूजा नहीं करते तो मुर्देके हाथ हैं। वे आँखे मोरपंखकी आँखोंके समान व्यर्थ हैं जो भगवान्‌की मूर्ति और भगवत्परायण सन्तोंको नहीं देखतीं। वे पाँव पेड़के समान हैं जो भगवान्‌के धाममें नहीं जाते और वह तो जिन्दा ही मुर्दा है जो भगवान्‌के चरणोंकी रजको, भक्तोंके पाँवोंकी धूलिको नहीं चाहता। जिसको कभी तुलसीके गन्धका भावपूर्ण आघ्राण नहीं हुआ, उसकी नाक बिल्कुल व्यर्थ है।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ २४

वह हृदय नहीं, फौलादका, लोहेका, पत्थरका टुकड़ा है—जो भगवान्‌के कथाका श्रवण और नामोच्चारणसे द्रवित नहीं हो जाता ! अरे बाबा, पिघल तो पत्थर भी जाता है लेकिन तुम्हारा दिल कैसा है जो द्रवित नहीं होता, आँख कैसी है जिसमें आँसू नहीं आते और शरीर कैसा है जो रोमांचित नहीं होता है। शौनकने फिर कहा कि आप हमें सुनाइये भगवान्‌की वही कथा जो आत्मविद्याविद श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितको सुनायी थी।

: ४ :

सूतजी कहते हैं कि शुकदेवजी महाराजके वचन श्रवण करके राजा परीक्षितने अपनी मतिको सती बना लिया। देखो सती शब्दका प्रयोग बार-बार आता है। उसके सन्दर्भमें आप जरा अपने जीवनकी ओर ध्यान दें। स्त्री अपने सतीपनेका बहुत अभिमान करती है। ठीक है करना भी चाहिए, क्योंकि वह उसका धर्म है। सत्‌से एक होनेके लिए निष्ठाका होना जरूरी है, क्योंकि सत् तो अपना स्वरूप ही है, केवल निष्ठाकी ही कमी है। पुरुष कह सकते हैं कि स्त्री तो सती होती है। हम सती कैसे हों। बाबा, तुम सती मत बनो परन्तु अपनी बुद्धिको तो सती बनाओ। यदि कहो कि अपनी बुद्धिको सती कैसे बनायें? तो ऐसे समझो कि हमारे भोग्य, भोक्ता सब कुछ भगवान् ही हैं। हम न दूसरेका भोग करेंगे और न ही दूसरेके भोग्य बनेंगे। यदि आप अपने जीवनमें यह निर्णय कर लो तो आपकी बुद्धि भगवान्‌के प्रति सती हो जायगी। इस सम्बन्धमें श्री-यामुनाचार्यजी महाराजका वचन है—'कृपयैवमनन्यभोग्यताम् भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे।' हमें भक्ति दो फिर कहते हैं कि—'अनन्यभोग्यताम्'—हमको ऐसा बनाओ कि दूसरा कोई हमारी प्रीतिका भोग न करे। हमारी प्रीतिका भोग करे तो केवल भगवान् ही करें। हम उसीके भोग बनें दूसरेके भोग न बनें।

सूतजी कहते हैं कि परीक्षितने अपनी बुद्धिको सती बनाया और अपने राज्यके प्रति उनकी

जो परम्परागत तथा नित्य-नैमित्तिक अभ्यासके कारण ममता थी उसका उन्होंने एक क्षणमें ही त्याग कर दिया। उन महामनस्वीको अपनी मृत्युका निश्चित समय ज्ञात हो गया था। इसलिए उन्होंने धर्म, अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त कर्मोंका संन्यास कर दिया। संन्यास दो तरहका होता है एक दण्डात्मक और दूसरा त्यागात्मक। दण्डात्मक संन्यास विधिपूर्वक होता है, जो केवल ब्राह्मणोंका होता है। परीक्षितका संन्यास तो त्यागात्मक संन्यास था। त्यागात्मक माने कुछ छोड़ देनेवाले संन्यासमें सबका अधिकार है। हम अपनी घड़ी उठाकर फेंक दें तो इसमें हमारे अधिकारका कोई प्रश्न ही नहीं, लेकिन यहाँसे हम इस लाउडस्पीकरको उठाकर ले जाना चाहें तब अधिकारका प्रश्न उठता है। लेनेमें अधिकार होता है, छोड़नेमें अधिकारका प्रश्न नहीं होता। जो लोग विधिपूर्वक यज्ञोपवीत आदि धारण करते हैं उनको विधिपूर्वक ही संन्यास लेना पड़ता है, जैसे (कोर्ट मैरेज) अदालती शादी होनेपर उसके कानूनके अनुसार ही तलाक देना पड़ता है। वैसे ही जब विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण करते हैं तब विधिपूर्वक हवन आदि करके ही उसके त्यागका अधिकार प्राप्त होता है। परीक्षितने त्यागात्मक संन्यास लेते समय न तो गेरुवा कपड़ा पहना और न ही दण्ड ग्रहण किया। उन्होंने त्रैवर्गिक संन्यास कर दिया कि न तो यज्ञ करेंगे, न धन कमायेंगे और न भोग ही भोगेंगे। मैं और मेरा जो कुछ है बस, भगवान् ही है। भगवान्‌के सिवाय मैं और मेरा कोई नहीं।

तो राजा परीक्षितने कहा कि मुनिवर आप भगवान्‌की कथा ज्यों-ज्यों सुनाते जा रहे हैं त्यों-त्यों हमारा अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है। मैं यह सुनना चाहता हूँ कि भगवान् यह सृष्टि कैसे बनाते हैं? कैसे पालते हैं? किस शक्तिसे खेलते-खेलाते हैं? भगवान्‌की लीला जल्दी समझमें नहीं आती, केवल आपही उसको हमें ठीक-ठीक समझा सकते हैं।

इस प्रकार राजा परीक्षितका भगवत्कथा-श्रवणके प्रति प्रेमपूर्ण आग्रह देखकर श्रीशुकदेवजी महाराजने भगवान्‌का स्मरण करके पहले मङ्गलाचरण किया। मंगल उसको कहते हैं जिसमें आदमी अपने काममें आगे बढ़े, जिससे प्रगति हो—उसका नाम मङ्गल है। कल्याण कहते हैं फलको, जिससे सुख मिले। जो सुखात्मक हो, वह कल्याण है। श्रीमद्भागवतमें दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है। 'नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।'

तो श्रीशुकदेवजी महाराजने पहले मङ्गलाचरण किया। हमारी परम्परा भी है—मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते (महाभाष्य १.१.१)। श्रीशुकदेवजीने सबसे पहले कहा कि उस परम पुरुषको बार-बार नमस्कार है। 'नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे (१२)।' जो पुरुष है, छोटा बनकर बैठा है अथवा जो पुरुषमें रहकर भी पुरुषके समान छोटा नहीं अनन्त है, वह सृष्टि, स्थिति, प्रलयकी लीला मनुष्यके भीतर ही रहकर करता है। सन्तके दुःखको दूर करता है तथा

असन्तको भी मुक्तिदान करता है और यह सब करता है परमहंसाश्रममें रहकर। देखो : संन्यास एक आश्रम है। यह पन्थ नहीं, मजहब नहीं, यह तो श्रौत-स्मार्त आश्रम विशेष है। इसमें रहकर जो परमात्माको ढूंढ़ रहे हैं उनको परमात्मा अपने आपको दे देता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, उसको परमात्मा नहीं मिलता। परमात्मा तो स्व-स्वरूपमें अपने ही 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधस' से रमण करता रहता है 'स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः' (१४)। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इस राधस्का शक्तिके रूपमें उल्लेख किया है।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥ १५

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भगवान्का कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण, पूजन लोगोंके सारे पाप-तापको तत्काल नष्ट कर देता है। 'सद्यो विधुनोति।' देखो, हमारे पास ईसाई भी आते है, मुसलमान भी आते हैं, सिक्ख भी आते हैं पारसी भी आते हैं। वे कहते हैं कि यह कैसा हिन्दूधर्म है कि अमुकको देख लिया तो पाप लग गया और अमुकको छू लिया तो पाप लग गया। मैं कहता हूँ कि अमुकका कहना ठीक है, ऐसा होना नहीं चाहिए। पर यह भी तो देखो कि हिन्दूधर्ममें पाप मिटानेकी युक्ति कैसी बढ़िया है! जरा सूर्यकी ओर देख लिया तो पाप मिट गया, जरा कान छू लिया तो पाप मिट गया। और भगवान्का तो स्मरणमात्र करनेसे, केवल नाम लेनेसे ही पाप मिट जाता है। 'सुभद्रश्रवसे नमो नमः'—श्रुतिका कथन है कि कानसे भद्र श्रवण करो। बोले—यहाँ तो सुभद्रश्रवस् है। भद्रसे भी एक नम्बर ऊपर है। बड़े-बड़े महापुरुष जब भगवान्के चरणोंमें पहुँचते हैं तब उनको ब्रह्मगतिकी प्राप्ति होती है। तपस्वी, दानी, मनस्वी, यशस्वी आदि भगवान्के प्रति अर्पित होकर ही तपस्या आदिका फल प्राप्त करते हैं। एक और भी विलक्षण बात है! भगवान् धर्मात्माको तार देते हैं, पुण्यात्माको तार देते हैं। किन्तु यहाँ तारनेवालेकी विशेषता नहीं रही, तरनेवालेकी विशेषता हो गयी। इसीलिए भक्त लोग कभी-कभी भगवान्को ललकारते हैं।

अपने कर्म से उतरेंगे पार।
तो पै हम करतार, करतार तुम काहे के ?

इसलिए हमारे भगवान् बड़ों-बड़ोंको ही तारते हों सो बात नहीं।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ १८

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुल्कस (कसाई) पुलिन्द (भील) आभीर, कङ्क, यवन, खस ये भी जब भक्तकी शरणमें आते हैं, तो पवित्र हो जाते हैं। उनको भगवान्की शरणमें जानेमें बाधा पड़ती है। वे बेचारे कैसे समझें कि भगवान् क्या हैं? इसलिए—'यदुपाश्रया-

श्रया:'—यदुपति भगवान् श्रीकृष्णके शरणागत भक्तोंकी शरणमें, भागवतोंके आश्रयमें आजानेसे उनका कल्याण हो जाता है। भक्त लोग इनका कल्याण करनेके लिए ही तो प्रकट होते हैं। भगवान् सबके आत्मा हैं। शङ्करादि भी उन्हींके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं। यही श्रीपति, यज्ञपति, प्रजापति, धरापति हैं। जब भगवान्के चरणारविन्दके ध्यानसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है और जब आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है तब भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो जाता है। बोलनेमें चाहे कैसे बोलो कोई फर्क नहीं पड़ता। एक भक्त नाराज होकर बोले कि आप तो आत्मतत्त्व बोलते हो। अच्छा भाई, भगवत्तत्त्व बोल देते हैं, फिर बोले कि दोनों क्यों बोलते हो? केवल भगवत्तत्त्व बोलो। अब उनको कौन समझावे कि असलमें जो आत्मतत्त्व है वही भगवत्तत्त्व है। और जो भगवत्तत्त्व है वही आत्मतत्त्व है। त्वं-पदार्थकी दृष्टिमें आत्मतत्त्व है और तत्-पदार्थकी दृष्टिमें भगवत्तत्त्व है। तत्त्वदृष्टिसे दोनों एक हैं, चाहे जैसे बोलो। हमारे यहाँ परिष्कारात्मक शास्त्रार्थ हुआ करते हैं। उनसे बुद्धिका परिष्कार होता है। किन्तु जहाँ वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान हो गया वहाँ परिष्कार करनेकी कोई जरूरत नहीं रहती। परिष्कार पढ़नेमें ही सारी जिन्दगा नहीं बिता देनी चाहिए। व्युत्पत्तिवाद ही सर्वोत्कृष्ट नहीं, कुछ और भी है। बुद्धि-परिष्कारके बाद भी होता क्या है? मैं जान-बूझकर ही आपका ध्यान इस ओर खींच रहा हूँ क्योंकि बहुत बढ़िया बात है। जिसको परमेश्वरका ज्ञान हो जाता है, अनुभव हो जाता है वह क्या करता है? 'वदन्ति चैतत् कवयो यथा' (२१)। परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर श्रोताकी जैसी रुचि होती है वैसे ही वह कहने लग जाता है। यह खम्भा ही ब्रह्म है, यह स्त्री ही ब्रह्म है, यह पुरुष ही ब्रह्म है। ये सब ब्रह्मज्ञानियोंके ही वचन हैं। उनके मुँहसे जो-जो निकलता है वही परमात्माका वर्णन हो जाता है। उनके लिए सारी धरती काशी हो जाती है। आप काशीमें हैं तो धन्य हैं, पर तत्त्वज्ञोंके लिए कोई धरती ऐसी नहीं जो काशी न हो। उनके लिए सारा जल गङ्गाजल हो जाता है। यह एक ऐसी वृत्ति होती है जो चाहे जैसा वर्णन करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्माजी यह भूल गये थे कि उनको परमात्माने ही ज्ञान दिया। परमात्माने ही इस सारी सृष्टिका निर्माण किया है। वे आवें और हमारी वाणीपर बैठ जायँ। 'सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे' (२३)—भगवान् हमारी वाणीके अलंकार बन जायँ। हमारी वाणीसे केवल भगवच्चर्चा ही हो। तो परीक्षित! यही बात नारायणने ब्रह्माको, ब्रह्माने नारदको, नारदने व्यासजीको और व्यासजीने मुझको बतायी है तथा यही बात मैं तुमको बता रहा हूँ।

: ५ :

एक दिनकी बात है। नारदजीने अपने पिता ब्रह्माजीसे कहा कि आप हमें वह बात बताइये, जिससे हम अपने आपको जान जायँ। यह विश्व किसमें रह रहा है? किसमें पैदा हुआ? किसमें लीन होता है, और किसके अधीन है? आपके लिए तो यह विश्व करामलकवत् है। वह कौन-सी वस्तु है जिसको जानकर एवं जिसके आधारपर रहकर आप इस सृष्टिको बनाते हैं और थकते नहीं। हम देखते हैं कि आपको भी कभी-कभी तपस्या करनी पड़ती है। इससे हमारे मनमें ख्याल आता है कि आपसे भी परे कोई है जिसके लिए आपको तपस्या करनी पड़ती है।

देखो; असलमें अपनेसे अतिरिक्त यदि और कोई चीज हो तो उससे मनुष्य ऊब जायेगा। जब ज्ञात हो कि अपना इष्ट ही अनेक रूप धारण करके दीख रहा है, वही नाटक कर रहा है और वह नाटकके सब पात्रोंके रूपमें सामने आ रहा है तब तो आनन्द ही आनन्द है! जिसने यह पहचान लिया कि तुम्हीं हमारे प्यारे हो, 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी (श्वेताश्व० उप० ४.३)'—तुम्ही कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो, तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, उसको कोई भ्रम या भेद-भाव नहीं हो सकता।

ब्रह्माजीने कहा कि बेटा! नारद, तुम जानते तो सब हो क्योंकि आखिर तुम हमारे बेटे हो! परन्तु तुम्हारे मनमें लोगोंके प्रति यह करुणा आगयी कि लोग परमात्माको समझें इसलिए तुम यह

श्रया:'—यदुपति भगवान् श्रीकृष्णके शरणागत भक्तोंकी शरणमें, भागवतोंके आश्रयमें आजानेसे उनका कल्याण हो जाता है। भक्त लोग इनका कल्याण करनेके लिए ही तो प्रकट होते हैं। भगवान् सबके आत्मा हैं। शङ्करादि भी उन्हींके सम्बन्धमें सोचते रहते हैं। यही श्रीपति, यज्ञपति, प्रजापति, धरापति हैं। जब भगवान्के चरणारविन्दके ध्यानसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है और जब आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है तब भगवत्तत्त्वका ज्ञान हो जाता है। बोलनेमें चाहे कैसे बोलो कोई फर्क नहीं पड़ता। एक भक्त नाराज होकर बोले कि आप तो आत्मतत्त्व बोलते हो। अच्छा भाई, भगवत्तत्त्व बोल देते हैं, फिर बोले कि दोनों क्यों बोलते हो? केवल भगवत्तत्त्व बोलो। अब उनको कौन समझावे कि असलमें जो आत्मतत्त्व है वही भगवत्तत्त्व है। और जो भगवत्तत्त्व है वही आत्मतत्त्व है। त्वं-पदार्थकी दृष्टिमें आत्मतत्त्व है और तत्-पदार्थकी दृष्टिमें भगवत्तत्त्व है। तत्त्वदृष्टिसे दोनों एक हैं, चाहे जैसे बोलो। हमारे यहाँ परिष्कारात्मक शास्त्रार्थ हुआ करते हैं। उनसे बुद्धिका परिष्कार होता है। किन्तु जहाँ वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान हो गया वहाँ परिष्कार करनेकी कोई जरूरत नहीं रहती। परिष्कार पढ़नेमें ही सारी जिन्दगी नहीं बिता देनी चाहिए। व्युत्पत्तिवाद ही सर्वोत्कृष्ट नहीं, कुछ और भी है। बुद्धि-परिष्कारके बाद भी होता क्या है? मैं जान-बूझकर ही आपका ध्यान इस ओर खींच रहा हूं क्योंकि बहुत बढ़िया बात है। जिसको परमेश्वरका ज्ञान हो जाता है, अनुभव हो जाता है वह क्या करता है? 'वदन्ति चैतत् कवयो यथा' (२१)। परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर श्रोताकी जैसी रुचि होती है वैसे ही वह कहने लग जाता है। यह खम्भा ही ब्रह्म है, यह स्त्री ही ब्रह्म है, यह पुरुष ही ब्रह्म है। ये सब ब्रह्मज्ञानियोंके ही वचन हैं। उनके मुँहसे जो-जो निकलता है वही परमात्माका वर्णन हो जाता है। उनके लिए सारी धरती काशी हो जाती है। आप काशीमें हैं तो धन्य हैं, पर तत्त्वज्ञोंके लिए कोई धरती ऐसी नहीं जो काशी न हो। उनके लिए सारा जल गङ्गाजल हो जाता है। यह एक ऐसी वृत्ति होती है जो चाहे जैसा वर्णन करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्माजी यह भूल गये थे कि उनको परमात्माने ही ज्ञान दिया। परमात्माने ही इस सारी सृष्टिका निर्माण किया है। वे आवें और हमारी वाणीपर बैठ जायँ। 'सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे' (२३)—भगवान् हमारी वाणीके अलंकार बन जायँ। हमारी वाणीसे केवल भगवच्चर्चा ही हो। तो परीक्षित! यही बात नारायणने ब्रह्माको, ब्रह्माने नारदको, नारदने व्यासजीको और व्यासजीने मुझको बतायी है तथा यही बात मैं तुमको बता रहा हूँ।

: ५ :

एक दिनकी बात है। नारदजीने अपने पिता ब्रह्माजीसे कहा कि आप हमें वह बात बताइये, जिससे हम अपने आपको जान जायँ। यह विश्व किसमें रह रहा है? किसमें पैदा हुआ? किसमें लीन होता है, और किसके अधीन है? आपके लिए तो यह विश्व करामलकवत् है। वह कौन-सी वस्तु है जिसको जानकर एवं जिसके आधारपर रहकर आप इस सृष्टिको बनाते हैं और थकते नहीं। हम देखते हैं कि आपको भी कभी-कभी तपस्या करनी पड़ती है। इससे हमारे मनमें ख्याल आता है कि आपसे भी परे कोई है जिसके लिए आपको तपस्या करनी पड़ती है।

देखो; असलमें अपनेसे अतिरिक्त यदि और कोई चीज हो तो उससे मनुष्य ऊब जायेगा। जब ज्ञात हो कि अपना इष्ट ही अनेक रूप धारण करके दीख रहा है; वही नाटक कर रहा है और वह नाटकके सब पात्रोंके रूपमें सामने आ रहा है तब तो आनन्द ही आनन्द है! जिसने यह पहचान लिया कि तुम्हीं हमारे प्यारे हो, 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी (श्वेताश्व० उप० ४.३)'—तुम्ही कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो, तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, उसको कोई भ्रम या भेद-भाव नहीं हो सकता।

ब्रह्माजीने कहा कि बेटा! नारद, तुम जानते तो सब हो क्योंकि आखिर तुम हमारे बेटे हो! परन्तु तुम्हारे मनमें लोगोंके प्रति यह करुणा आगयी कि लोग परमात्माको समझें इसलिए तुम यह

प्रश्न कर रहे हो। तुम जो मुझको ही सबसे परे समझते हो, यह भी झूठ नहीं, क्योंकि मुझसे जो परे है उसको न जाननेके कारण ही ऐसी बात होती है। जिस वस्तुके बारेमें कहा जाय कि यह इतना ही है, इतने ही देशमें है, इतने ही कालमें है, इसी रूपमें है, जहाँ एतावत्त्वं आजाय, वहाँ नारायण परमात्माका पूरा प्रकाश नहीं हो सकता। इसलिए परमेश्वरको घेरेमें मत डालो, क्योंकि मैं उन्हींके प्रकाशसे सबको प्रकाशित करता हूँ। माया उनके सामने नहीं जाती। परमात्माके सिवाय द्रश्य कर्म, काल कुछ नहीं हैं, वेद-शास्त्र नारायणका ही प्रतिपादन करते हैं। सारे देवता नारायणके अंगसे ही पैदा होते हैं। सारी गतियाँ नारायणमें हैं। वही हमारे-तुम्हारे सबके स्वामी हैं। वे हैं तो एक ही पर जब नाना होना चाहते हैं तब काल आदि पदार्थोंको स्वीकार कर लेते हैं। कालसे गुणोंका व्यतिक्रम होता है। स्वभावसे परिणाम होता है और कर्मसे जन्म होता है। पुरुषसे अधिष्ठित होकर ही ये सब-के-सब अपना काम करते हैं। महत्तत्त्वसे तमः प्रधान अहं होता है, जिसको बुद्धिमान् लोग अहंकार कहते हैं। वह तीन रूपोंमें हो जाता है—द्रव्यशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। यह हड्डी माँसवाला शरीर द्रव्य है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह घट है, वह पट है—यह ज्ञान है, और मैंने यह किया, वह किया—यह क्रिया है। अहं ज्ञानशक्तिमें सात्त्विक है, क्रिया शक्तिमें राजस है और द्रव्य-शक्तिमें तामस है। इस तामस अहंकारसे शब्द गुणवाले आकाशकी उत्पत्ति होती है। आकाशसे स्पर्शवान वायुकी उत्पत्ति होती है। वायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति होती है। तेजसे रसात्मक जलकी उत्पत्ति होती है। और जलसे गन्धवती पृथिवीकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार सात्त्विक अहंकारसे, मन, आदि होते हैं। राजस अहंकारसे दस इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। ब्रह्माण्ड-रूप अण्डा हजारों वर्षतक निर्जीव पड़ा रहनेके बाद जब भगवान् द्वारा जीवित होता है तब उससे सहस्र ऊरु, सहस्राङ्घ्रि, सहस्रबाहु, सहस्रनेत्र, सहस्रमुख, सहस्र शिरवाला विराट् पुरुष प्रकट होता है। उसीके एक-एक अङ्गमें चौदह लोकोंकी कल्पना होती है। उसीके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य, पादसे शूद्र आदिकी उत्पत्ति होती है। उसीके पाँवसे भूर्लोक, नाभिसे भुवर्लोक और हृदयसे स्वर्लोक आदि लोकोंकी कल्पना होती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जगत्के मूलमें परमात्मा है। यह सृष्टि केवल रूपाभास आदिके रूपमें दिखाई पड़ रही है अथवा उससे पैदा होती है या उसमें कल्पित होती है। इन वर्णनोंसे कोई प्रयोजन नहीं, इसको लेकर वाद-विवाद करनेकी जरूरत नहीं। ग्रहण योग्य बात यही है कि ये सब परमेश्वरके शरीरमें हैं और ऐसा समझकर उस परमेश्वरका ध्यान करना चाहिए।

ब्रह्मा जी कहते हैं कि नारद ! विराट्-रूप भगवान्का मुख वाणी और उसके अधिष्ठाता देवता बह्निका उत्पत्ति-स्थान है। उनकी सात धातुओंसे गायत्री आदि सप्त छन्द उत्पन्न हुए हैं। उनकी जिह्वा हव्य, कव्य, अमृतमय अन्न और सब रसोंका आधार है। सारे प्राण और वायु उनकी नासिकामें रहते है। अश्विनीकुमार, सम्पूर्ण ओषधियों और मोद-प्रमोद उनके घ्राणमें रहते हैं। रूप, तेज, चक्षु, सूर्य —ये सब उनकी आँखोंमें रहते हैं। दिशाएँ और तीर्थ आदि उनके कानोंमें रहते हैं। उनका शरीर संसारकी सभी वस्तुओंके सारभाग और भाग्यका स्थान है। उनके रोम सभी उद्भिज्ज पदार्थों अर्थात् वृक्षादिके आवास हैं। उनके केशोंमें मेघोंका निवास है। उनके श्मश्रु, नख आदिमें विद्युत् आदि रहते हैं। संसारमें जितने भी प्रकारके भोग-विलास और वस्तु-विज्ञान आदि हैं वे सब उनके शरीरमें निवास करते हैं। यहाँतक कि संसारमें जितने भी पशु, पक्षी, ग्रह, नक्षत्र आदि हैं उन सबका निवास उसी विराट् भगवान्के विग्रहमें हैं। वह परमात्मा सारे विश्वको घेरकर, व्याप्त करके बैठा हुआ है। उसकी स्थिति सूर्यमण्डलके बाहर भी है और भीतर भी है। वही विराट् देहको भी प्रकाशित करता है। उसकी महिमा दुरत्यय है। सम्पूर्ण लोक परमात्माके चरणोंमें निवास करते हैं। उनमें जन, तप और सत्य इन तीन लोकोंमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी निवास करते हैं। ये लोक त्रिलोकीके बाहर हैं। परन्तु गृहस्थोंका लोक त्रिलोकके भीतर है।

ब्रह्माजी कहते हैं कि हे नारद ! उस परमात्मासे ही सारे ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं। उसीसे ही ये सारे ब्रह्माण्ड पैदा होते हैं। उसीसे उसकी पूजा होती है। जब मैं पैदा हुआ तब मैंने देखा कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। फिर मैं उसका यजन, उसकी आराधना कैसे करता ? इसलिए मैंने उसीके अंगसे यज्ञके सब संभार इकट्ठे किये। उसीमें पशु हैं, कुश हैं, यज्ञ-भूमि है, पात्र हैं, गृही हैं, घृतादि रस हैं, स्वर्णादि हैं, मिट्टी है, जल है। इसलिए मैंने एक ही परमात्मामें दक्षिणा, व्रतादि, देवता आदिके नाम अलग-अलग रख दिये। एक ही परमात्माके सब मन्त्र हैं, वही दक्षिणा है, वही व्रत है, वही देवता हैं, उसीके ऊपर चढ़ाते हैं। संकल्प, तन्त्र, मन्त्र, गति, मति, श्रद्धा, प्रायश्चित, समर्पण—इन सबके रूपमें एक ही परमेश्वर है।

आपे पीवे आपु अमृत घट आपे पीवनहारी।
आपे ढूंढे आपु ढूंढावे आपे ढूंढनहारी॥
आपुन खेल आप करि देखे, खेल संकोचे तब नानकु एकै।

एक परमात्माका ही सारा विस्तार है। एकमें ही सबका समन्वय है। जैसे गंगाजीका जल हाथमें लेकर फिर गङ्गाजीको चढ़ाते हैं। वैसे ही ईश्वरकी वस्तु ईश्वरको ही चढ़ाकर उसकी पूजा की जाती है।

ब्रह्माजी कहते हैं कि नारद ! मेरे द्वारा परमात्माका यजन सम्पन्न हो जानेके बाद तुम्हारे

बड़े भाई प्रजापतियोंने अन्तर्यामीरूपी परमात्माकी आराधना की। फिर मनु, ऋषि, देवता आदि सबने परमात्माकी आराधना की। यह सम्पूर्ण कार्य-कारणरूप विश्वसृष्टि भगवान् नारायणकी है और उन्हींमें है। इसलिए अपने चित्तमें विक्षेप कभी नहीं लाना। मेरे साथ-साथ विष्णु और महेश आदि भी सब-के-सब उन्हींके अधीन हैं, उनसे पृथक् कुछ भी नहीं है। 'नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम्' (३२)।

देखो, दूसरे मजहबोंके जो लोग हैं उनको यह सुनकर आश्चर्य होता है कि हमारा ईश्वर ऐसा है। संसारके लोग अमृत और सत्को ही ईश्वर मानते हैं और असत्को ईश्वर नहीं मानते। परन्तु हमारा भगवान् छाती ठोंककर बोलता है—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन (गीता ९.१९) अर्थात् अमृत भी मैं ही हूँ, मृत्यु भी मैं ही हूँ, सत् भी मैं ही हूँ, असत् भी मैं ही हूँ। अब ऐसा भगवान् आपको कहाँ मिलेगा जो हर अवस्थामें आपको सन्तुष्ट कर दे।

ब्रह्माजी कहते हैं कि नारद, मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती। मेरा मन कभी गलत जगह पर नहीं जाता। मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्गमें प्रवृत्त नहीं होतीं। इसका कारण यही है कि 'यन्ने हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः (३३) मैंने अपने औत्कण्ठ्यवान् हृदयसे भगवान्को धारण किया है। अब तो मैं समाम्नायमय, तपोमय प्रजापति हूँ परन्तु जब पहले-पहले भगवान्को ढूँढने लगा तो मुझे अपनी उत्पत्तिका ही पता नहीं चला। असलमें उस परमात्माकी गतिको मैं, तुम लोग, यहाँतक कि शंकर आदि भी नहीं जानते। हम लोग केवल उनके अवतार-कर्मका गान करते हैं परन्तु तत्त्वतः उनको नहीं जानते। मतलब यह कि उनका स्वरूप साक्षीका भी विषय नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं साक्षी हैं। फिर मन और इन्द्रियोंका तो कहना ही क्या ? इसलिए हमलोग उनके अवतार-कर्मका तटस्थ लक्षणके द्वारा ही निरूपण करते हैं। देखो, जिसमें यह सृष्टि उत्पन्न होती है और विलीन होती है उसका नाम परमात्मा है। उसको हम नमस्कार करते हैं। वह प्रभु सारी सृष्टिको बनाता है। जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब परमात्माका साक्षात्कार होता है। काल, स्वभाव आदि परमेश्वरकी शक्ति हैं। और महत्तत्त्व; पञ्चभूत और अहंकार उनके कार्य हैं। मेरे साथ-साथ शंकर और विष्णु भी भगवान्के गुणावतार हैं। दक्ष आदि समेत तुम लोग, स्वर्लोक, नृलोक, पाताललोक, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, सूर्य, नाग, ऋषि, पितर, दैत्य, दानव, भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, पक्षी, जो कुछ भी हैं और इनके जो स्वामी हैं वे सब परमात्माके स्वरूप ही हैं। ऐश्वर्य, तेज, ओज, इन्द्रिय, मनकी शक्ति, बल, क्षमा, श्री, ह्री, सम्पत्ति, बुद्धि, जो कुछ है, वह सब भगवान्की विभूति है। अब मैं क्रमसे उनके अवतारोंका वर्णन करता हूँ और यह बताता हूँ कि अनित्यका तो जन्म होता है और नित्यका, जीवका समागम होता है। तुम सावधान होकर रसास्वादन करो।

❀

: ७ :

अब ब्रह्माजी भगवान्‌का अवतार कैसे होता है, यह बताते हैं—

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौड़ीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ॥ १

किसी तत्त्वका आकृतिमें आग्रह नहीं होता। यदि सोनेका सूअर बना दें अथवा हाथी बना दें तो इसमें सोनेको कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि वह जानता है कि मैं तो सोना ही रहूँगा—चाहे कोई मुझे हाथी बनाकर देखे, चाहे वराह बनाकर देखे। इसी प्रकार आकृतिके सम्बन्धमें मिट्टीको भी आग्रह नहीं है, पानीको भी आग्रह नहीं है तेजोरूप अग्निको भी आग्रह नहीं है और वायुको भी आग्रह नहीं है। हमारा परमात्मा कोई मनका भाव नहीं, ठोस वस्तु है। इसलिए उसका कोई नाम हो, उसकी कोई आकृति हो अथवा किसी प्रकारका आभास हो, वह ज्यों-का-त्यों है।

देखो, आपको पहले सुनाया जा चुका है कि चार्वाक-मतमें तो चेतन तत्त्व ही नहीं, जड़ तत्त्व है और चेतन उसका विमर्श है। वहाँ अवतारका कोई प्रसंग ही नहीं। इसी प्रकार जैन-मतमें तत्पदार्थरूप परमात्मा नहीं, केवल त्वं-पदार्थरूप जीव है। इसलिए उनके यहाँ भी अवतारका

कोई प्रश्न नहीं। वहाँ तो जीव अपनेको शुद्ध करके तीर्थङ्कर, वीतराग, महापुरुष-पदवीपर पहुँचता है। बौद्ध-मतमें भी तत्पदार्थरूप परमेश्वर नहीं तो अवतार कहाँसे होगा ? मुसलमान, ईसाई और आर्यसमाजीके यहाँ ईश्वर तो है परन्तु वह निराकारतामें ऐसा फँस गया है कि उसमें साकार होनेका सामर्थ्य ही नहीं रहा। फिर वह अवतार कहाँसे लेगा ? परन्तु जिनका परमेश्वर सब है वह सब रूपमें प्रकट हो सकता है। क्योंकि उसके अतिरिक्त तो दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। आगे चलकर भगवान्‌के सब अवतारोंका वर्णन विस्तारपूर्वक आयेगा। उनमें पहला अवतार वराहावतार है जिसको भगवान्‌ने पृथिवीका उद्धार करनेके लिए धारण किया। यदि आप लोकमें अनुसन्धान करें तो पायेंगे कि मिट्टीका सबसे बड़ा प्रेमी कोई है तो वह वराह है, सूअर है। हर समय उसका मुँह धरतीमें रहता है। बरसातके दिनोंमें छोटे-छोटे गड्ढे पानीसे भरे होते हैं। जब शरद् ऋतु आती है तो सूअर उन गड्ढोंको ऐसा कर देता है कि उनकी मिट्टी ऊपर आजाती है और पानी नीचे रह जाता है। हम उस मिट्टीको कभी-कभी सूखी समझकर उसके ऊपर पाँव रखते हैं और पानीमें चले जाते हैं। पानीको हींढ़-हींढ़कर उसके भीतरकी माटीको ऊपर कर देना यह सूअरका काम है। एक बात और है जिसका जिससे प्रेम होता है उसको उसकी गन्दगी नहीं मालूम पड़ती। इसलिए सूअर पृथिवीके सबसे गन्दे भागको भी अपना भोग्य बनाता है। यह पृथिवीके प्रति उसकी प्रीतिका परिचायक है। जब पृथिवीका उद्धार करनेके लिए भगवान् अवतार लेते हैं तब पृथिवीके प्रियतम पति होते हैं। इसलिए उन्होंने हिरण्याक्षको मार दिया। इसके बाद भगवान्‌ने यज्ञके रूपमें 'हरि' अवतार ग्रहण किया। उनको स्वायंभुव मनुने हरि कहा। अवतार कई तरहके होते हैं। एक तो क्रिया-प्रधान होता है, दूसरा विवेकप्रधान होता है, तीसरा धर्मप्रधान होता है। और चौथा ज्ञानप्रधान होता है। देवहूति और कर्दमसे भगवान्‌ने कपिलावतार ग्रहण किया और गुणसङ्गपङ्कका विघूर्णन किया। अत्रिसे दत्तात्रेय होकर आये और उन्होंने योग-समाधि ली। सनत्कुमार भी उन्हींके अवतार हैं। नर-नारायण भी प्रभुके ही अवतार हैं जो तपस्याकी स्थापना करनेवाले हैं। यहाँ नारायणकी महिमा बतायी गयी है। बड़े लोग अपनी रोष-दृष्टिसे कामको भस्म कर देते हैं। परन्तु रोष-दृष्टि उनके भीतर आजाती है और उन्हींको जलाने लगती है। वे उस रोषको नहीं जला सकते। परन्तु नारायण ऐसे हैं कि उनके अन्दर प्रवेश करनेमें रोषको भी, क्रोधको भी, भय लगता है। फिर उनके मनमें काम कैसे आयेगा ? ध्रुवके लिए भी भगवान्‌ने अवतार ग्रहण किया। उनका पृथु अवतार भी हुआ और वह महा ऐश्वर्यशाली किन्तु एक नम्बरके पापी राजा बेनके शरीरका मन्थन करनेपर हुआ ? कहते हैं कि जब बेन निकलता था तो लोग डरके मारे चिल्लाने लगते थे कि वेन आया, वेन आया। मनुस्मृतिमें वेनका उल्लेख सबसे बड़े पापिष्ठके रूपमें किया गया है।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति । ६६

परन्तु जब ऋषियोंकी प्रार्थनापर वेनके शरीरका मन्थन किया गया तब उसमें-से निकला कौन ? पृथुरूप परमेश्वर । इसलिए आपलोग सावधान रहना और पापीसे पापीको भी ऐसा मत समझ लेना कि उसके भीतर ईश्वर नहीं रहता ।

फिर पृथिवीका दोहन किया गया तो ऋषभदेवके रूपमें भगवान्‌का अवतार हुआ । ये ऋषभदेव समदर्शी हैं, परमहंस धर्मके उपदेष्टा हैं तथा स्वस्थ, प्रशान्त अन्तःकरण हैं ।

इसके बाद भगवान्‌का हयग्रीव अवतार हुआ जिसने वेदोंकी रक्षा की । जलमें भगवान्‌का मत्स्यावतार हुआ । उनका अभिप्राय तरह-तरहसे बताया जाता है । कथा तो सबकी मूल पुराणमें आने ही वाली है । भगवान् कछुआ बनकर पानीमें बैठ गये और समुद्र-मन्थनके समय उन्होंने आधारशक्ति बनकर मन्दराचलके द्वारा अपनी पीठ खुजलानेका आनन्द लिया । उसमें-से अमृत प्रकट हुआ । यह भी ध्यानमें रखना कि जहाँ विष होता है वहीं अमृत मिलता है । आपके मनमें जहाँ काम-क्रोध आते हैं वहीं भक्ति-ज्ञान भी होते हैं । जिसको लोग खम्भा कहते हैं उसमें-से नृसिंह भगवान् निकल आये और उन्होंने हिरण्यकशिपुको मार दिया । हिरण्य माने सोना । 'हितं रमणं च भवतीति हिरण्यम्' (निरुक्त २.१०) हिरण्यको हिरण्य इसलिए कहते हैं कि वह लोगोंके लिए हितकारी और रमणीय होता है। 'हर्य्यते जनात् जनं प्रति'—इसमें हर्य धातु है, जिसका अर्थ है कि यह द्रव्य इसके घर-उसके घर दौड़ता रहता है । इसी द्रव्यपर जिसकी आँख लग गयी उसका नाम हुआ हिरण्याक्ष । उस हिरण्याक्षको न ईश्वर दीखे, न धर्म दीखे और न आत्मा दीखे, उसका संहार किया वराह भगवान्‌ने, जिनकी कथा पहले आ चुकी है । हिरण्याक्षका भाई था हिरण्यकशिपु, जिसका अर्थ है भोगी, उसको भगवान् नृसिंहने मारा । कशिपु माने—शय्या, चादर, सिरहाना । बड़ा भारी भोगी था वह ।

जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया तब भगवान्‌ने वहाँ एक अपूर्व अवतार जलावतार लिया । पृथिवीपर तो बहुत-से अवतार होते हैं, लेकिन वहाँ भगवान् सीधे ही पानीमें उतर पड़े और ग्राहके मुँहसे गजेन्द्रको छुड़ा लिया । उन्होंने बलिके लिए वामनावतार ग्रहण किया और बता दिया कि माँगनेवाला चाहे भगवान् ही क्यों न हो उसे छोटा होना पड़ता है ! यह भी बता दिया कि जब बलि यज्ञ कर रहे हैं, धर्म कर रहे हैं तो उनको मारकर नहीं जीता जा सकता । धर्मात्माको मारना नहीं होता, धर्मात्मासे माँगना पड़ता है ! बलिको भगवान्‌ने इन्द्रका पद तो नहीं दिया इसलिए कि इन्द्र छोटे हो जायेंगे, उनका महत्त्व घट जायेगा । परन्तु भगवान्‌ने अपने आपको बलिका पहरेदार बना दिया । यदि कोई कहता है कि भगवान्‌ने इन्द्रका पक्षपात किया तो ठीक नहीं है क्योंकि भगवान्‌ने इन्द्रका पक्षपात न करके बलिका पक्षपात किया है । भगवान् अनेक राजाओंके रूपमें

प्रकट होते हैं और राजवंशको चलाते हैं। वही धन्वन्तरि होकर रोगका निवारण करते हैं। भगवान्‌का यही रूप हमारे सामने है कि कहीं तपस्याकी रक्षा कर रहे हैं, कहीं ज्ञानकी रक्षा कर रहे हैं और कहीं धर्मकी रक्षा कर रहे हैं। धर्मकी रक्षा करनेवाले लोग ज्ञानकी रक्षा करनेवालेको ज्यादा महत्त्व नहीं देते और ज्ञानकी रक्षा करनेवाले धर्मकी रक्षा करनेवालेको ज्यादा महत्त्व नहीं देते। यह तो पार्टीबन्दीकी बात हो गयी। असलमें सब ईश्वरके ही रूप हैं। वही धर्मकी, ज्ञानकी, प्रेमकी, भक्तिकी, तपस्याकी, सबकी रक्षा कर रहे हैं। वे ही परशुराम होकर उद्दण्ड और पापाचारी क्षत्रियोंका संहार करते हैं।

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्य स्त्रिः सप्तकृत्व उरुधार रपश्वधेन ॥ २२

जब क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों परस्पर मिलकर काम करते हैं तब सफलता मिलती है। क्षत्रिय-शक्तिके बिना धर्म-शक्तिकी वृद्धि नहीं होती और धर्म-शक्तिके बिना क्षत्रिय-शक्तिकी वृद्धि नहीं होती। दोनोंको समन्वित होकर काम करना चाहिए। अपनी नेतागिरीके लिए धर्मकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और धर्मके लिए प्रशासनकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। दोनोंका साथ रहना आवश्यक है, अनिवार्य है। इसके बाद भगवान्‌ने इक्ष्वाकु-वंशमें रामावतार ग्रहण किया, जिसका विशेष वर्णन आगे आनेवाला है। भगवान् रामने पिताकी आज्ञा पालन करते हुए पत्नी और भाईके साथ चौदह वर्षोंतक बनवास किया, वहाँ दसकन्धरने उनका विरोध किया तो मारा गया, भगवान् रामने ऐसी-ऐसी लीलाएँ कीं जो आदर्श हैं। उसके बाद भगवान् बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए। 'सितकृष्णकेशः (२६)। कथा आती है कि जब ब्रह्मा आदि देवता नारायणके पास गये तो उनको धरतीपर धर्मकी हानिका समाचार सुनकर क्रोध आया। उन्होंने अपना बाल ही नोच लिया। नारायण तो बड़े पुराने हैं—पुराण पुरुष हैं। नोचनेपर एक काला एक सफेद दो बाल निकल आये। सफेद बाल बलराम हो गया और काला बाल कृष्ण हो गया। एक आचार्य बोले कि राम-कृष्ण तो नारायणसे भी परे हैं। आप उन्हें उनका केश बताते हैं? लेकिन इसका अर्थ यह है कि जब नारायणके बालमें पृथिवीका भार दूर करनेकी शक्ति है तब उनकी अनन्त शक्तिका वर्णन कौन कर सकता है? पण्डित लोग तो इसका अर्थ ही बदल देते हैं। 'सितकृष्णकेशः'—सितका अर्थ है बद्ध, अर्थात् उन्होंने अपने काले बालोंको लपेटकर बाँध लिया जैसे कि उन्हें अभी दुश्मनोंसे लड़ना हो। कृष्णावतारमें भगवान्‌ने बड़े-बड़े अद्भुत कर्म किये जिनसे उनकी महिमा प्रकट हुई। इनके द्वारा जो-जो लीलाएँ हुईं उन सबका वर्णन आगे आनेवाला है। पूतनाका उद्धार, शकटासुरका उद्धार, यमलार्जुनका उद्धार, कालिय नागका उद्धार, दावाग्नि-पान, उलूखल बन्धन, मुँहमें सृष्टि-प्रदर्शन, वरुण-पाशसे नन्दबाबाकी मुक्ति, व्रजवासियोंकी वैकुण्ठ-यात्रा, गोवर्धन-धारण और

इन्द्रमद-मर्दन आदि लीलाएँ ऐसी हैं जो भगवान्‌की महिमा प्रकट करती हैं। भगवान्‌ने व्रज-वासियोंसे कहा कि तुम अपने व्रजकी मिट्टीकी महिमा नहीं जानते। इसके इधर-उधर पड़े हुए पत्थरके एक टुकड़ेकी पूजा भी इन्द्रकी पूजासे श्रेष्ठ है। छोड़ो इन्द्रकी पूजा और करो हमारे व्रजकी पूजा। ऐसा करके भगवान्‌ने भूमिकी असाधारण महिमा दिखाई। भगवान्‌ने रासलीला की, बड़े-बड़े असुरोंको मारा और महाभारत-युद्धमें भीमसेन, अर्जुन आदिके द्वारा कौरवोंका नाश किया। भगवान् कृष्णने अपने चरित्रसे यह सिद्ध किया है कि उनसे बढ़कर दूसरा कोई आचार्य इस पृथिवीपर नहीं हुआ। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि श्रीकृष्ण अखिल कलाके गुरु हैं। उन्होंने देखा कि कलियुगमें लोग सालेकी सलाह मानेंगे तो वे खुद अर्जुनके साले बन गये और गीताका उपदेश कर दिया। तंजौरमें एक बड़ा भारी पुस्तकालय है जिसमें मैंने एक चौर-पुराण देखा था। बहुत कौतूहल हुआ कि इस चौर-पुराणका कर्ता-धर्ता कौन है। उसमें पहले ही यह लिखा देखा कि श्यामसुन्दर कदम्ब वृक्षके नीचे एक चट्टानपर अपने दोनों पाँव नीचे लटकाये बैठे हैं। जब ग्वाल-बाल बोले कि अमुक-अमुक ग्वालिनोंके घरमें चोरी करनी है तो उनको समझाने लगे कि पाँव ऐसे रखना, आँखसे ऐसे देखना और भागनेकी सुविधा देख लेना। इस प्रकार उस चौर-पुराणमें सारे उपदेश श्रीकृष्णने किये हैं।

इसके बाद भगवान्‌ने व्यास-रूपमें अवतार ग्रहण किया और जब देखा कि आगे चलकर नास्तिक लोगोंका आचार्य कहीं दूसरा न बन जाये तो खुद ही बुद्ध बनकर आगये—'बहु भाष्यत औपधर्म्यम्' (३७) जब लोग भगवत्-कथा नहीं सुनेंगे तब आखिरमें कल्कि होकर उनपर शासन करेंगे। इस तरह समय-समयपर भगवान् अनेकानेक रूप धारण करते हैं। उनकी महिमाका गान कोई कर नहीं सकता। जिसपर भगवान् दया करते हैं, वही उनकी मायाके परे जा सकता है। उनकी मायाके पार जानेका अर्थ है मैं और मेरेपनसे छुटकारा। 'नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगाल भक्ष्ये' (४२) भगवान् जिसपर कृपा करते हैं वह समझता है कि इस शरीरको एक दिन कुत्ते खा जायेंगे, गीदड़ खा जायेंगे। इसलिए वह इसको मैं और मेरा नहीं समझता।

ब्रह्माजी कहते हैं कि नारद भगवान्‌की मायाको मैं समझता हूँ; भगवान् शंकर समझते हैं, और तुम लोग हमारे पुत्र हो समझते हो। इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, विदेह, गाधि भी कुछ-कुछ समझते हैं। सौभरि, उत्तङ्क, शिवि भी थोड़ा-थोड़ा जानते हैं। जो जानते हैं वे मायासे पार हो जाते हैं। बात यह है कि समझनेको तो सब समझ सकते हैं, कोई रुकावट नहीं है। 'स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पाप जीवाः' (४६)—पापीसे पापी हूण हों, शबर हो, यहाँतक कि पशु-पक्षी भी क्यों न हो! लेकिन वे तभी समझ सकते हैं जब उनको भक्तका सङ्ग मिल जाये। भक्तके सङ्गमें यह सामर्थ्य है

कि उससे, जो परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है, जिसका शब्दके द्वारा, वाणीके द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, उसकी प्राप्ति हो जाती है।

देखो, एक आदमीको प्यास लगी है। वह खन्ती लेकर कुआँ खोद रहा है कि पानी मिले और मैं पीऊँ। इतनेमें उसको बिना खोदे पानी मिल जाये तो वह क्या कुआँ खोदेगा? वह तो खन्ती फेंककर पानी पीने लगेगा। इसी प्रकार जितने भी साधन भजन हैं वे खन्तीकी तरह हैं और परमानन्द परम सुखकी प्राप्तिके लिए है। जब वही मिल गया तो खन्ती लेकर धरती खोदनेकी क्या जरूरत है? उसकी उपलब्धि ही परम-परम कल्याण है। बेटा नारद, थोड़ेमें सुन लो–'समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्' (५०)। जहाँ तुम फँसे हो उससे पहले विवेक करके परमात्माको जानलो फिर उसके सिवाय और कुछ नहीं रहेगा। लोगोंके हृदयमें एक सङ्कल्प होना चाहिए। बिना सङ्कल्पके कोई काम पूरा नहीं होता। धर्मशास्त्रमें यह आज्ञा दी गयी है। सन्ध्या-वन्दनमें भी सङ्कल्प करते हैं। कई एक ही सङ्कल्पसे काम चलाते हैं; कई-रोज रोज सङ्कल्प करते हैं। यज्ञ-यागादिमें सङ्कल्प, व्रतमें सङ्कल्प, जपमें सङ्कल्प, तपमें सङ्कल्प, क्योंकि सङ्कल्पके बिना उसका फल नहीं मिलता। सङ्कल्प अवश्य चाहिए। तो क्या सङ्कल्प करें?

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥ ५२

यह श्रीमद्भावत महापुराणका सङ्कल्प है कि लोगोंके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आये। वे धनकी भक्ति, भोगकी भक्ति, कर्मकी भक्ति छोड़कर भगवान्‌की भक्तिमें लगें। परमात्मा सर्वात्मा और सर्वाधार है। कहीं सर्वव्यापी परमात्माको हिन्दू, मुसलमान, ईसाई-ईश्वर मत बना देना, भारतीय ईश्वर अथवा अभारतीय ईश्वर न कर देना। आजकल लोगोंका राष्ट्रीय ईश्वर होता है, प्रान्तीय ईश्वर होता है। जो ब्रह्माण्डकी गेंद लेकर खेलता है, एक ब्रह्माण्डसे दूसरे ब्रह्माण्डको टकराता है, मिटाता है और बनाता, है उसको आजकलके लोग प्रान्तीय ईश्वर, राष्ट्रीय ईश्वर बना देते हैं। नहीं-नहीं, सर्वात्मा और अखिलाधार भगवान्‌में भक्ति होनी चाहिए। नारद! एक बात और है, वह यह कि यदि तुम भगवान्‌की मायाका वर्णन करोगे तो भगवान्‌की मायामें मुग्ध नहीं होगे।

❀

: ८ :

राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजी महाराजसे पूछा—भगवन्, इसके बाद नारदजीने क्या किया ? कृपया आप मुझे बतायें जिससे कि मैं भी अपना असङ्ग मन भगवान्में लगाकर अपने शरीरका परित्याग करूँ।

यहाँ देखो, राजा परीक्षित श्रवणमें अपनी कितनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। ऋग्वेदमें एक सूक्त है जिसका नाम ही श्रद्धा-सूक्त है (१०. १५१)। इन्द्रियातीत वस्तुके मार्गपर यदि श्रद्धा नहीं होगी तो उसके लिए प्रयत्न भी नहीं होगा। हम मान लेते हैं कि ध्येयकी प्राप्ति हो जानेके बाद श्रद्धा रहे, चाहे न रहे। जब साक्षात्कार हो गया तब हाथ कङ्गनको आरसी क्या ? जबतक प्राप्ति नहीं हुई तबतक अतीन्द्रिय पदार्थपर श्रद्धा नहीं होगी तो श्रद्धाके बिना उसके मार्गमें कैसे चलेंगे ? लोग श्रद्धाको ही काट देते हैं। ऋग्वेदके श्रद्धा-सूक्तमें कहा गया है कि—'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि' (१०.१५१.५)—श्रद्धा करो, श्रद्धा करो। मतलब यह कि भगवान्की लीला-कथा श्रद्धासे सुनो, इसको गुनगुनाओ। फलस्वरूप भगवान् थोड़े दिनोंमें आकर तुम्हारे हृदयमें प्रकट होंगे। भगवान्ने हृदयमें प्रविष्ट होनेके लिए अपना रास्ता बना लिया है।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्। ५

एक मित्र अपने मित्रके घर गया। उसका दरवाजा भीतरसे बन्द था। मित्रने पुकारा, खटखटाया, कोई नहीं आया, उसने सोचा कि जब दरवाजा भीतरसे बन्द है तो हो सकता है कि

घरमें चोर घुसे हों अथवा मित्र ही बेहोश पड़ा हो; नहीं तो वह अवश्य खोलता। कहीं कोई सङ्कट जरूर है। इधर-उधर देखा किवाड़ बन्द ही था। फिर देखा कि ऊपरकी खिड़की खुली है। वह ऊपर चढ़ गया और खुली खिड़कीके रास्ते भीतर घुस गया। भीतर गया तो मित्र बीमार और बेहोश मिला। उसने तुरन्त दवा-पानी देकर, पानी छिड़ककर मित्रको होशमें किया, सफाई की, स्वस्थ करके कुछ खिलाया-पिलाया। मित्र उठा और वह भी मित्रके साथ काम करने लगा। इसी प्रकार भगवान् आते हैं अपने जीवरूप मित्रके घरमें और जब देखते हैं कि इसने सब दरवाजे अपने बन्द कर लिये हैं तो कानके रास्ते भीतर घुस जाते हैं—'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'। कानमें रन्ध्र हैं, छिद्र हैं इसीमें-से राग-द्वेष भी घुसते हैं। राग-द्वेष कुछ तो भीतर रहते हैं और कुछ बाहरसे आजाते हैं। दुनियामें हम न जाने कितने लोगोंको व्यभिचारी समझते हैं। लेकिन आप जरा अपने जीवनकी गलत दिशापर ध्यान देकर देखो—आपने अधिकांश लोगोंके बारेमें सुना होगा कि व्यभिचारी हैं। देखा नहीं होगा। फिर बिना देखे किसीको व्यभिचारी समझकर उसके प्रति द्वेष या घृणा आपके हृदयमें कहाँसे आयी? कानके रास्ते आयी। खैर, राग-द्वेषके तो संस्कार भी होते हैं, वासना भी होती है परन्तु अतीन्द्रिय परमात्माका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ। अगर अनुभव हो गया होता तो उसका संस्कार रहता। पर अनुभवके बाद तो जन्म नहीं ही होता। संस्कार कहाँसे रहेगा? उसको तो हृदयमें घुसाना पड़ेगा।

'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्' (५) जहाँ काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, जाकर बैठे हैं वहाँ भगवदाकार वृत्तिको कानसे, श्रवणसे प्रविष्ट करो। भगवान् कानके रास्तेसे घुसकर भावरूपी कमलपर बैठ जाता है। वहाँकी गन्दगीको धो देता है, जैसे शरद्-ऋतुके आनेपर जल प्रसन्न हो जाता है, निर्मल हो जाता है, वैसे ही भगवान्के आनेसे हृदय निर्मल हो जाता है। अच्छाजी, जब भगवान् हृदयमें आजाते हैं तब हृदय धुल जाता है, यह हम मानते हैं परन्तु उसकी क्या पहचान है? यही पहचान है कि फिर भगवान्को छोड़नेका मन नहीं होता।

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति। ५

यदि अपने घरमें सफाई हो तो मनुष्य दूसरेके गन्दे घरमें जाकर क्यों बैठे? जो स्त्रियाँ दिनभर दुकानोंपर घूमती फिरती हैं उनके लिए या तो दूकानपर ज्यादा आकर्षण होगा या घरमें बहुत ऊब होगी, उद्विग्नता होगी तभी तो वे घरके बाहर जाती हैं। घर-घर घूमनेका अर्थ आखिर क्या है? यही है कि अपना घर पसन्द नहीं है, इसलिए उसे शुद्ध करो। जिसका हृदय शुद्ध है वह परमात्माको प्राप्त करके आनन्दसे बैठता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई राही जिन्दगी भर चलनेके बाद जब अपने घर पहुँच जाता है तो शान्तिसे बैठ जाता है और यह अनुभव करता है कि अब हमको कहीं बाहर जानेकी जरूरत नहीं।

जब राजा परीक्षितने यह पूछा कि निर्गुण, निराकार, परमात्मामें सृष्टि कैसे हुई, तब उन्होंने श्रवणपर श्रद्धा प्रकट करते हुए इस प्रश्नका और भी विस्तार कर दिया। ब्रह्मा भगवान्‌से कैसे पैदा हुआ ? भगवान् अपनी मायाको छोड़कर कैसे रहता है ? उसके शरीरमें लोकोंकी, अवयवोंकी कल्पना कैसे हुई ? कालमान क्या है ? पितृ आयुमान क्या है ? कालगति क्या है ? आदि-आदि। इन प्रश्नोंसे यहाँ प्रकट होता है कि विश्वमें कैसे-कैसे रहस्य हैं ? कई लोग समझते हैं कि हम दूरबीनसे, अणुवीक्षण-यन्त्रसे सब देख लेते हैं। सब तो क्या इन मशीनोंसे देखनेवाली आँखका ही ठीक-ठीक पता नहीं चलता। अगर वैज्ञानिकोंके सामने कोयल और कौआ दोनोंके अण्डोंका पानी शीशियोंमें भरकर रख दिया जाय और कहा जाय कि आप बताओ मीठी आवाज किसमें है ? काँव-काँव किसमें है और कुहू-कुहू किसमें है ? क्या वे बता सकते हैं ? मैं समझता हूँ कि यह किसी भी वैज्ञानिकको नहीं मालूम है। इसी तरह सृष्टिके इतने रहस्य हैं कि उनकी जानकारीका दावा करनेवाले बिलकुल झूठे हैं। 'भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्र (१५)—ये सब ब्रह्माण्ड प्रमाण, भगवदवतार, वर्णाश्रम-धर्म, साधारण धर्म, तत्त्वोंका परिसंख्यान, लक्षण, हेतुलक्षण, पुरुषाराधनविधि, आध्यात्मिक योग—इन सब ज्ञातव्य विषयोंकी बड़ी भारी सूची बना दी राजा परीक्षितने। और फिर कहा कि महाराज, जो मैं पूछता हूँ वह तो बताइये ही, किन्तु जो पूछनेसे छूट गया वह भी बताइये क्योंकि आप तो सब कुछ जानते हैं। यदि आप यह कहें कि तुम तो खाते-पीते नहीं, जल्दी मर जाओगे फिर सुनोगे कैसे ? तो मैं खाना-पीना छोड़नेसे मरनेवाला नहीं। मैं तो अच्युत-पीयूषका पान कर रहा हूँ। मैं मरूँगा भी तो ब्राह्मणने मुझे जो शाप दे दिया है; उसकी रक्षाके लिए मरूँगा, ब्रह्मशापको सफल करनेके लिये मरूँगा। उससे भगवान्‌की महिमा ही बढ़ेगी, मेरे मरनेका और कोई कारण नहीं हो सकता।

इस प्रकार परीक्षितके प्रश्न करनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने श्रीमद्भागवत महापुराण सुनाया। यह साक्षात् वेद ही है और जो वेद है वही भागवत है। इसमें विशेष बात यह है कि श्रीशुकदेवजी महाराज-जैसे महात्मा, वक्ताके मुखका पुण्य भी लगा हुआ है। वेद तो कभी किसी वक्ताके मुँहसे नहीं निकला। वेद अनादि-निधन अपौरुषेय वाणी है। परन्तु इस भागवतमें भगवान्‌का, ब्रह्माका, नारदका मुखामृत भी सन्निविष्ट हो गया है। इसके साथ हमारा और हमारे पूर्वजोंका गौरव भी जुड़ गया।

❦

: ६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि आत्मा तो परम अनुभवस्वरूप परमात्मा ही है। उसका मैं, मेराके साथ किसी भी तरहका सम्बन्ध नहीं है, जैसे कोई स्वप्नमें देखता है कि प्रयागका कुम्भ है, मैं गंगास्नान करने जा रहा हूँ। वहाँ लाखों आदमी त्रिवेणी स्नानके लिए खड़े हैं। परन्तु स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें केवल एक व्यक्ति बनकर त्रिवेणी स्नान करने जा रहा है। उसके साथ स्वप्न देखनेवालेका क्या-क्या सम्बन्ध है? वहाँ तो केवल निद्रादोष ही सम्बन्धका हेतु है। जैसे सपनेमें देखे जानेवाले पदार्थोंके साथ सपना देखनेवालेका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह केवल निद्रादोष ही होता है। वैसे ही देहादिमें 'मैं' और 'मेरा' अतीत अनुभव-स्वरूप आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं, केवल माया या अविद्याका दोष है। विविध रूपवाली मायाके कारण ही वह विविध रूपवाला मालूम पड़ता है। इसलिए अहंकार छोड़कर तत्पदार्थका अनुसन्धान करो, भक्ति करो। जब भक्ति करोगे तब परमात्माके स्वरूपका तुमको अनुभव होगा।

देखो, जब हम कहते हैं कि भगवान्‌की नाभिमें-से एक कमल पैदा हुआ। कमलमें-से ब्रह्मा पैदा हुए और ब्रह्मा सृष्टि बनाने लगे तो उस नाभिवाले नारायणका आकार कितना बड़ा होगा, उनकी शकल-सूरत क्या होगी? यह बात दूसरी है कि हम विश्वरूप दर्शनके प्रसङ्गमें नाभिको नभ कहते हैं। 'नभ एव नाभिः'—वेदान्तकी भाषामें कहें तो वह नाभि-कमल आकाशमें खिला एक कुसुम है

तो नाभिमें पैदा हुआ कमल, कमलपर पैदा हो गये ब्रह्मा, ब्रह्माको कुछ पता नहीं कि सृष्टि कैसे बनायें। जब वे चिन्ता करने लगे तब उनको आकाशवाणी द्वारा 'त' और 'प' ये दो अक्षर सुनाई पड़े—'स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशम् (६) जितने व्यञ्जन हैं उनमें 'क' से सोलहवाँ अक्षर 'त' है और इक्कीसवाँ अक्षर 'प' है। यह तप ही तपोधन महापुरुषोंका परम धन है। अब ब्रह्माजी यह ढूँढ़ने लगे कि इन दो अक्षरों 'त' और 'प' का उच्चारण किसने किया ? उन्होंने चारों तरफ देखा; परन्तु कुछ भी पता नहीं चला। उसके बाद भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके ब्रह्माको अपने लोकका दर्शन कराया। इस प्रसङ्गका वर्णन दूसरी जगह भी आता है। वहाँ ब्रह्माजीको न तो कमल-नालके अन्तमें नारायण मिले और न उसके भीतर मिले। लेकिन जब भगवान्‌की कृपा हुई तो जहाँ ब्रह्माजी थे वहीं उनको नारायणका दर्शन होने लगा।

जब ब्रह्माजीको भगवद्धामके दर्शन हुए तो उन्होंने देखा कि वहाँ न तो रजस्, न तमस् है, न सत्त्व है, न उनका मिश्रण है। न माया है और न काल-विक्रम है। वहाँ तो सब-के-सब श्याम, उज्ज्वल शतपत्र-लोचन, पीताम्बरधारी बड़े ही दिव्य चतुर्भुज महात्मा लोग रहते हैं। श्री रूपिणी होकर भगवान्‌की सेवा करती हैं। ब्रह्माजीने भगवान्‌के पार्षदोंका भी दर्शन किया और देखा कि वहाँ भगवान्‌को दूसरा कोई काम नहीं, बस वे अपने सेवककी ओर प्रसन्न मुद्रासे देखते रहते हैं। उनकी आँखोंकी चितवनसे एक प्रकारका आसव बरसता रहता है, जिसको पी-पीकर भक्तलोग नीरोग और मस्त रहा करते हैं। 'दृगासवं प्रसन्नहासारुणलोचनाननम्' (१५)। किरीटी, कुण्डली, चतुर्भुज और पीताम्बरधारी महाराजके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजी विराजमान हैं। एकबार लक्ष्मीजी भगवान्‌की रोमराजिमें छिप गयीं, जिससे कि लोगोंकी नजर हमको न लगे और लोग इनको ही देखें। परन्तु भगवान्‌ने कहा कि ऐसा नहीं होगा, आओ तुम हमारी छातीपर ही रहो, लोग तुम्हींको देखेंगे और चले जायेंगे। लक्ष्मीजी गुरुरूप हैं इनका दर्शन हो जाय तो भगवान्‌का दर्शन हो जाता है। यही लक्ष्म है, चिह्न है, भगवान्‌की पहचान है। ब्रह्माजीने देखा कि बड़े-बड़े भक्त और बड़ी-बड़ी शक्तियाँ भगवान्‌की स्तुति कर रही हैं। उनको दर्शन करके बड़ा भारी आनन्द हुआ, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और आँखोंमें प्रेमाश्रु उमड़ पड़े। देखो, आनन्द हो और किसी प्रकार प्रकट न हो तो वह आनन्द छोटा होता है। जब बड़ा आनन्द होगा तो वह किसी-न-किसी तरह प्रकट हो ही जायेगा। ब्रह्माजीने आनन्दमग्न होकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और भगवान्‌की कृपासे उनको वह ज्ञान प्राप्त हो गया जो बड़े-बड़े परमहंसोंको प्राप्त होता है। ब्रह्माजीको देखते ही भगवान्‌को ख्याल हुआ कि ये हमारे पुत्र भी हैं और शिष्य भी हैं। इसलिए अब इनको सृष्टि बनानेकी विधि बतानी चाहिए। भगवान् पहले तो मुस्कुराये और उन्होंने प्रसन्न मनसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया। 'प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन्' (१८) नारायणने ब्रह्मासे हाथ

मिलाया। ब्रह्माजीने कहा वाह-वाह !

देखो, इस प्रसंगमें हम आपको एक रोचक बात सुनाते हैं। हमने जिस गाँवमें जन्म लिया वह काशीके पास ही है। वहाँ एक ठाकुर साहब रहते थे। उन्होंने पञ्चम जार्जके भारत-आगमनके समय उनसे हाथ मिलाया था। हम लोगोंको उस समयकी कुछ स्मृति नहीं। वे बुढ़ापेमें नीमके पेड़के नीचे खाट बिछाकर हुक्का पीते और बड़े गर्वसे कहते कि हमारे बराबर और कौन है, सम्राट् पञ्चम जार्जने हमसे हाथ मिलाया था ! वे जिन्दगी-भर ऐसा कहते रहे। उनको अपने जीवनमें पञ्चम जार्जसे बढ़कर कोई स्वामी दिखायी नहीं पड़ा। किन्तु महात्मा उड़िया बाबाजी महाराज कहते थे कि रोज ईश्वरसे एक मिनट हाथ मिला लिया करो और दिनभर मस्त रहो। जरा उनसे दो-दो बातें कर लो, आँख मिला लो। बाबा कहते थे, जो एक क्षण भी भगवान्‌से मिल गया उसको दिन भर मस्ती रहेगी।

यहाँ तो साक्षात् सर्वशक्तिशाली भगवान्‌ने ब्रह्मासे हाथ मिलाया और बोले कि ब्रह्माजी तुमको मालूम नहीं; तुम्हारे पेटमें वेद छिपा है—तुम वेदगर्भ हो और सृष्टि बनाना चाहते हो। जो चाहो मुझसे माँग लो, क्योंकि संसारमें जितने भी कल्याण हैं, उन सबकी सीमा मेरा दर्शन है—

ब्रह्मञ्छ्रेयः परिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः। २०

यदि किसी नरने नारायणको पहचान लिया तो उसका जीवन सफल हो गया। सबके दिलमें जो एक है उसको पहचानो, उसे देख लो—'नरस्य हृदयं नारं। नारम् अयनं यस्य।' नरके दिलका नाम है नार, उसे नाल भी बोल सकते हैं। जो-जो उस नारमें, दिलमें रहता है उसका नाम है नारायण। निःसन्देह भगवान् हमारे हृदयमें ही रहता है। उसको पहचान लो, इससे बड़ा और कोई कल्याण नहीं। देखो ब्रह्माजी तुम्हें मेरे लोकका दर्शन हुआ। मैंने ही पहले 'त' और 'प' कहकर तुमको तप करनेके लिए कहा था ? मै भी तपसे ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार करता हूं।

ब्रह्माजीने कहा, भगवन् ! आप तो हमारे हृदयकी सब बातें जानते हैं। मैं जो चाहता हूं वह आप पूरा कर दीजिये। पहली बात मैं यह जानना चाहता हूं कि आपका सगुण और निर्गुण रूप क्या है। आप तो अरूप हैं। देखो, यह जो निर्गुण-निर्गुण बोलते हैं वह सगुण और असली रूपके बीचमें है। सगुणका निषेध करनेपर निर्गुण है। परमात्माके असली रूपमें सगुण-निर्गुणका कोई भेद नहीं। सगुण कहो तो वही है, निर्गुण कहो तो वही है। किन्तु दोनों उसको कह नहीं सकते। क्योंकि वह दोनोंसे ही विलक्षण है। दोनों वही है। असली सृष्टि और गुणमयी सृष्टि (प्राकृत गुण)—इन दोनोंके बीचमें बैठनेके लिए निर्गुण कहा जाता है। निर्गुण माने गुणका निषेध है। तो क्या निषेध ही परमात्मा है। नहीं, निषेध ही परमात्मा नहीं है। वह तो अननुगत

और अव्यावृत्त है—'अव्यावृत्तम् अननुगतम्।' सुरेश्वराचार्यजीने कहा कि परमात्माका जो असली रूप है, वह किसीसे व्यावृत्त भी नहीं और किसीमें अनुगत भी नहीं। मिट्टी जो है वह घड़ेसे व्यावृत्त है, परन्तु घड़ेमें अनुगत है। जो कारण होता है वह कार्यमें अनुगत होता है और कार्यसे व्यावृत्त होता है। परन्तु यह परमात्मा न अनुगत है, और न व्यावृत्त है—न घुसा हुआ है और न परे है। परे भी वही है, घुसा हुआ भी वही है। परमात्माका स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है।

ब्रह्माजीने कहा, वास्तवमें आप अरूप हैं, सगुण और निर्गुण दोनों आपके रूप हैं अर्थात् आपके निरूपणमें उपयोगी हैं। आपका सगुणतासे भी निरूपण होता है और निर्गुणतासे भी निरूपण होता है। सगुण और निर्गुण तो निरूपणकी प्रक्रियाएँ हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलयकी उपाधिसे सगुणत्वेन निरूपण करते हैं और निषेधत्वेन निर्गुण रूपसे निरूपण करते हैं। परन्तु जहाँ निरूपण ही नहीं, वहाँ कहाँ सगुण और कहाँ निर्गुण? वहाँ तो देखें—

१. शब्दो न यत्र पुरुस्कारकवान् क्रियार्थः।

२. यस्यामातं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ (केन उप० २.३)

३. अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। (कठ उप० १.२.१४)

परमात्मा तो अरूप है। सगुण, निर्गुण तो उसके निरूपणके प्रकार हैं। अब आप हमें यह बताइये कि हम आपके खेलको समझ जायें, हर बातमें आपकी लीलाको पहचानें, आपकी आज्ञाका पालन करें और आपकी बनायी हुई सृष्टिमें कहीं फँसें नहीं। आपने तो हमारे साथ सखाका-सा व्यवहार किया है। क्योंकि सखा ही सखासे हाथ मिलाता है।

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः। २९

सखा समान ख्यातिवालोंको कहते हैं—एक नाम अगर दो आदमियोंका हो तो वे दनों एक दूसरेके बारेमें यह कहकर कि ये मेरे नामराशि हैं, परस्पर मित्रता जोड़ते हैं। आप यह समझो कि सब नाम परमात्माके हैं और परमात्मा ही सब नामवाले हैं, इसलिए परमात्मा हमारे नामराशि हैं। क्या परमात्मा अखण्ड नहीं? क्या परमात्मा आनन्द नहीं? क्या परमात्मा सीता नहीं? क्या परमात्मा राम नहीं? क्या परमात्मा माँ नहीं? नामराशि होनेसे परमात्मा सखा हो गये।

ब्रह्माजीने कहा कि अब ऐसा बतायें कि हम कभी व्याकुल न हों, हमको कभी अभिमान न हो। देखो—मनुष्यको कभी-कभी जरा-सी सफलता प्राप्त हो जाती है तो उसका मद हो जाता है। मदकी पहिचान यही है कि आदमी बकवास करने लगता है। इसलिए ब्रह्माने कहा कि—

मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः। २९

भगवान्ने कहा कि, अच्छा ब्रह्मा! देखो, हम तुमको ज्ञान और विज्ञान दोनों देते हैं। यह परम गोपनीय है, गुह्य है, रहस्यशील है। मैं बोलता जाता हूँ और तुम उसको ग्रहण करते जाओ।

यह मत समझो कि सुननेके बाद जाकर अभ्यास करना पड़ेगा और तब वह ग्रहण होगा। जहाँ ऐसी बात है वहाँ समझो कि उपदेशमें ही कमी है। वह उपदेश उपदेश नहीं, जहाँ नाम बतानेपर भी वस्तुका साक्षात्कार नहीं होता। देखो, समझो ब्रह्मा, हम तुमको परमात्माका नाम बताते हैं जिस परमात्माकी चर्चा हम कर रहे हैं, वह परमात्मा यहाँ है कि नहीं ? इसी समय है या नहीं और इन्हीं वस्तुओंमें है या नहीं ? आप उसको क्यों नहीं पहचानते ? 'गृहाण गदितं मया' (३०)—मैं उसका वर्णन करता हूँ—वह यही है, इसी समय है और इन्हीं रूपोंमें है।

जैसा वह है वैसा ही तत्त्व-विज्ञान तुमको हो जाये—यह मेरा अनुग्रह है। जैसे माण्डूक्योपनिषद्वाला ब्रह्म चतुष्पाद है। 'अयमात्मा चतुष्पाद्' (२) अथवा 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' ऋग्वेद (१०.९०.३) वैसे ही उसकी चार-चार अवस्थाएँ हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, और तुरीय। वेदान्तमें चार-चारकी महिमा ज्यादा है। आप देख लें— ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं, एक एक अध्यायमें चार-चार पाद हैं। उनके निरूपणकी पद्धति भी चार-चार होती है। यहाँ श्रीमद्भागवतमें भी चार श्लोकोंमें परमात्माका निरूपण किया गया है। इसलिए उसे चतुःश्लोकी भागवत बोलते हैं। चार मुखवाले ब्रह्मा भी होते हैं। चार वेद भी होते हैं। श्रीमद्भागवतमें चार वेद हैं, ऐसा समझो। इसमें चार तत्त्वोंका वर्णन है। एक तो परमात्मतत्त्व–ब्रह्मतत्त्वका वर्णन है। दूसरे मायातत्त्वका वर्णन है। तीसरे जगत्-तत्त्वका वर्णन है और चौथे आत्मतत्त्वका वर्णन है। इन चार वस्तुओंका वर्णन चार श्लोकोंमें है। पहले श्लोकमें यह वर्णन करते हैं कि—'अहमेव आसम् आसमेव' (३२)—मैं ही था और केवल था ही था। काल विवक्षित नहीं, क्योंकि काल परमात्माके साथ नहीं जाता। मैं ही हूँ—इसका अर्थ है मैं ही हूँ और हूँ ही हूँ। माने क्रिया, प्राण आदि कुछ भी नहीं। यहाँ दो 'एव' हैं, उनपर ध्यान देना। एक 'एव' तो कहता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें। दूसरा 'एव' कहता है कि कोई कर्ता-धर्ता हुआ नहीं था, केवल था ही था, सत्तामात्र थी। अद्वितीयता बतानेके लिए अहम् आसम्–अहमेवासम्। निष्क्रिय सत्तामात्र बतानेके लिए दूसरा एव है। 'अहमेवास मेवाग्रे'—काल-वासना-युक्त शिष्यके प्रति अग्रे पद है और 'आसम्' क्रियापदका प्रयोग है। अहमे-'वासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्' (३२) और दूसरी कोई सद्, असद् वस्तु नहीं थी। इस सृष्टिके पीछे भी मैं ही मैं हूँ, यह सृष्टि भी मैं ही मैं हूँ। जो शेष रह जाता है, वह भी मैं ही मैं हूँ। मतलब यह कि परमात्माका स्वरूप अद्वितीय है। एक बहुत बड़ी विलक्षण बात यह है कि यदि परमात्मा हमसे अलग होता तो परमात्माकी दो गतियाँ हो जायेंगी या तो वह कल्पित हो जायेगा या दृश्य हो जायेगा। इसीलिए अपनेसे अभिन्न रूपमें ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है। अपने आप रूपमें होगा तो चैतन्य होगा और अकल्पित होगा। अपना आत्मा अकल्पित और चैतन्य होता है। परमात्माका यदि अन्य रूपमें साक्षात्कार होगा तो वह परोक्ष होगा तथा कल्पित होगा और प्रत्यक्ष

होगा तो दृश्य होगा। इसलिए प्रत्यक् चैतन्याभेदसे ही परमात्माका साक्षात्कार होगा, अन्य होनेपर जड़ होगा या कल्पित होगा और स्व होनेपर चैतन्य होगा, अकल्पित होगा। यह वेदान्त-शास्त्रका गूढ़ रहस्य है! इसीलिए अहम् पदसे उसका वर्णन करते हैं—'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।' 'अहमेवासम्'से मन्त्र प्रारम्भ हुआ और अहम्से ही अन्त हुआ। यह अहंसे सम्पुटित परमात्माका निरूपण करनेवाला मन्त्र है।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि। ३३

अब मायाका वर्णन करते हैं। जो चीज हो नहीं और मालूम पड़े, वह माया है, जादूका खेल है। वस्तु हो और मालूम न पड़े, वह भी माया है। यह दृश्य-प्रपञ्च है नहीं और मालूम पड़ता है इसलिए माया है, अपना आपा है—परन्तु जैसा है, वैसा नहीं मालूम पड़ता, इसलिए इसका नाम भी माया है। जैसे आकाशमें राहु है, पर मालूम नहीं पड़ता यह माया है। जैसे आकाशमें दो चन्द्रमा हैं नहीं, परन्तु मालूम पड़ते हैं—इसका नाम माया है। 'यथाऽऽभासो यथा तमः' (३३) यह मायातत्त्व है। मायातत्त्व वह है जो 'है'को छिपा दे और 'है नहीं'को जाहिर कर दे।

अब जगत्-तत्त्वका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जगत्में कार्य-कारण-भाव देखनेमें आता है। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी और पृथिवीमें सब भूत। अच्छा, यह बताओ कि जो घड़ा बनता है वह बन जानेपर उसमें मिट्टी घुसती है या मिट्टी पहलेसे ही रहती है? घड़ा बननेपर मिट्टी नहीं घुसती, मिट्टी तो पहलेसे ही है। अच्छा, घड़ा फूट जानेपर मिट्टी उसमें-से निकल जाती है? निकलती नहीं, मिट्टी तो ज्यों-की-त्यों है। इसी तरह यह सम्पूर्ण जगत् कार्य-कारण भावसे व्याप्त है। सारा जगत् परमात्मामें है और परमात्मा जगत्में है तथा न परमात्मा जगत्में और न जगत् परमात्मामें, क्योंकि दो वस्तुएँ हैं ही नहीं।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाऽहम् तेष्ववस्थितः।' (९.४) गीतामें भगवान्ने कहा है कि सब प्राणी मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं। आगे कहते हैं कि वे भूत मुझमें नहीं—'न च मत्स्थानि भूतानि' ९.५। गुरुमुखसे गीता पढ़े बिना प्रतीत होता है कि कोई पागल बोल रहा है। एक बार कहता है कि मुझमें सब है और फिर बोलता है कि मुझमें कुछ नहीं। परमात्म-तत्त्वकी दृष्टिसे यह जगत् कैसा है? न घड़ा मिट्टीमें घुसता है और न मिट्टी घड़ेमें घुसती है। अप्रविष्ट होकर ही प्रविष्टवत् प्रतीत होता है, यह इसकी स्थिति है।

अब आत्मतत्त्वका वर्णन करते हुए कहते हैं 'आत्मनः तत्त्वजिज्ञासुना' (३५)—जो आत्मतत्त्व जानना चाहता है, उसके लिए इतना ही जान लेना काफी है कि वह अन्वय और व्यतिरेककी युक्तिसे जाना जाता है। युक्ति यह है—जब घड़ा नहीं बना था तब भी माटी थी और जब बनाया गया तब भी माटी है। उसमें पानी भरा गया तब भी माटी और वह फूट गया तब भी माटी है। घड़ेमें सर्व दशामें मिट्टीका अन्वय है। मिट्टीके होनेपर ही घड़ा होता है और घड़ा न रहनेपर भी घटसे मृत्तिका

व्यतिरिक्त है। यह अन्वय-व्यतिरेक हमारा है। नैयायिकोंका अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। किसीके मनमें शंका हो जाये तो उसके लिए स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ अनुवृत्तिके लिए अन्वय शब्द है। पञ्चदशीमें आया है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, सबमें जो दृक्तत्त्व है—जो संविद् है, वह अनुवृत्त है, अन्वित है और सभी अवस्थाओंसे संविद् व्यावृत्त है, वैसे ही आत्मवस्तुकी अन्वय और व्यावृत्तिकी युक्तिसे सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तुमें प्रतीति होती है और उसके न रहनेपर भी उससे व्यावृत्त होकर यह आत्मदेव ज्यों-का-त्यों रहता है।

भगवान्‌ने कहा कि ब्रह्माजी, तुम हमारे इस सिद्धान्तमें 'श्रीगोविन्दाय नमो नमः' रूपसे आनन्दपूर्वक बैठ जाओ और फिर 'परमेण समाधिना' (३६) इसपर निष्ठावान् हो जाओ। इसका अर्थ यह है कि एक ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया, एक ऐसी आस्था हो गयी, एक ऐसी अनुभूति हो गयी कि चाहे संकल्प हो-चाहे विकल्प, चाहे भेदकी प्रतीति हो-चाहे अभेदकी, चाहे कोई अच्छा मालूम पड़े-चाहे बुरा, लेकिन तुम अपना काम करते जाओ, मोहका कोई हेतु नहीं, सब परमात्मा है।

इतना कहनेके बाद परमात्माने अपना स्वरूप छिपा लिया। ब्रह्माने उनको नमस्कार किया और उसके बाद पहले जैसी सृष्टि थी वैसी सृष्टि बनाने लगे। नारदजीने भी ब्रह्माको प्रसन्न करके उनसे यही तथ्य प्राप्त किया। ब्रह्माने भी प्रसन्न होकर अपने पुत्र-शिष्य-सेवकको यह बात बतायी। इन चार श्लोकोंमें जो बात बतायी गयी है, वही सारे श्रीमद्भागवतमें है। नारदजीने व्यासजीको इसीका उपदेश किया था। शुकदेवजी कहते हैं कि व्यासजीने इसीका उपदेश हमको किया। एक बात और ध्यान देनेकी है कि यदि भौतिक वस्तुका विज्ञान प्राप्त करना हो तो जो सबसे बादका ज्ञान है वही श्रेष्ठ माना जाता है। परमेश्वरका स्थिर तत्त्व है परमार्थ। वह कभी बदलता नहीं, कभी होता बिगड़ता नहीं और कभी नया बनता नहीं। आदि अवस्थामें उसकी जो अनुभूति है, वही सर्वश्रेष्ठ अनुभूति है। ईश्वर-विषयक ज्ञान गुरु-परम्परासे प्राप्त होता है और भौतिक वस्तु-विषयक ज्ञान खोजसे प्राप्त होता है। इन सब बातोंको श्रीशुकदेवजीने बिना किसी संकोचके बताया। आजकल तो लोगोंको अपने गुरुओंका नाम बतानेमें ही डर लगता है। यह बतानेमें लोग संकोच करते हैं कि हमने उनसे पढ़ा है, सीखा है। वे तो कहते हैं कि हमने जन्मसे ही सीखा है। जो यह कहते हैं कि हम जन्मसे ही सिद्ध होकर आये हैं, बिना गुरुपरम्पराके ही हमने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो कहना पड़ेगा कि वे नित्यमुक्त हैं, कारक पुरुष हैं, उनको अपवादके रूपमें छोड़ देना चाहिए। जो भगवान्‌के अवतार हैं, वे तो सर्वज्ञ हैं ही, उनको भी हम छोड़ दें, लेकिन अन्य लोगोंको बिना सीखे यह ज्ञान प्राप्त होनेवाला नहीं। इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि हमने व्यासजीसे सीखा, व्यासजी कहते हैं कि हमने ब्रह्माजीसे सीखा और ब्रह्माजी कहते हैं कि हमने नारायणजीसे सीखा। इस प्रकार यह ज्ञान सम्प्रदाय-परम्परासे प्राप्त होता है।

: १० :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, वही दुर्लभ ज्ञान मैं तुमको बताता हूं। भागवत-शास्त्रमें दस विषयोंका वर्णन है—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें दशम जो आश्रय तत्त्व है, उसका अर्थ है अधिष्ठान। अद्वैतवेदान्तमें जिस वस्तुको अधिष्ठान बोलते हैं भागवतमें उसीको आश्रय कहा गया है। उस अधिष्ठान वस्तुके स्वरूपका परिशोधन करनेके लिए नौ लक्षण हैं और आश्रय शोधनका फल है। वैष्णवोंने कहा कि यदि हम नौ लक्षणोंका विचार करेंगे तो भगवान्के आश्रयमें हो जायेंगे, उनकी शरण ग्रहण कर लेंगे। वेदान्तियोंने कहा कि आश्रयका अनुभव होनेके लिए इनका वर्णन है। यह जो इन्द्रियोंका, मनका, तत्त्वोंका, पञ्चतन्मात्राओंका जन्म होता है उसको बोलते हैं सर्ग। जो प्राणियोंकी सृष्टि होती है, इसको बोलते हैं विसर्ग। भगवान् सृष्टिको किस तरह रखे हुए हैं और भूगोल-खगोल किस प्रकार स्थित हैं—इसको बोलते हैं स्थिति। जब प्राणी अपने पाप-तापसे दुःखी होने लगते हैं तो जैसे माली सूखते हुए पौधोंको सींच देता है वैसे ही भगवान् उन प्राणियोंपर कृपा करते हैं, उनके पास सद्ग्रन्थ भेज देते हैं, किसी सन्तको अपना सन्देश देकर भेज देते हैं। कभी-कभी खुद ही आकर, अवतार लेकर देखभाल कर लेते हैं। भगवान् अपने नामसे पोषण करते हैं, रूपसे पोषण करते हैं, उपासनासे पोषण करते हैं। मन्वन्तरोंमें सद्धर्मकी स्थापना कैसे होती है, यह बताते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं – ऊति कर्मवासना है। भगवान् और भगवान्के अनुयायियोंका चरित्र ईशानुकथा

है। भगवान्‌का अपनी शक्तियोंके साथ शयन निरोध है। मुक्तिकी जो परिभाषा भागवतमें दी हुई है, वह नोट करने लायक है। बताया गया है कि जो तुम अपनेको देहादि-रूप समझ रहे हो, तुम्हारे देहमें, अन्तःकरणमें अहंभाव हो रहा है, उसको छोड़कर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें बैठ जाना ही मुक्ति है। आभास और निरोध है—क्रमशः दुनियाका मालूम पड़ना और न मालूम पड़ना। जैसे जाग्रदवस्थामें किसी वस्तुका मालूम पड़ना और सुषुप्ति-अवस्थामें न मालूम पड़ना। जिससे मालूम पड़ना और न मालूम पड़ना; इन दोनोंका अलगाव भासता है, उसका नाम है आश्रय। उसीका नाम परब्रह्म परमात्मा है, वही आध्यात्मिक पुरुष है, वही आधिदैविक पुरुष है, हिरण्यगर्भ भी वही है और दोनोंको अलग-अलग करनेवाला भी वही है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनोंमें चैतन्य एक है। एकके बिना दूसरी वस्तु नहीं मिल सकती। परन्तु इन तीनोंका जो ज्ञाता है वही अधिष्ठानका स्वरूप है। वही पुरुष जब अण्डभेदन करके प्रकट होता है, तब पहले जलकी सृष्टि करता है और वही नारायण नामको प्राप्त होता है। उसीके अनुग्रहसे सब होते हैं, उनके न चाहने पर कुछ नहीं रहता। वही विराट् शरीरको विभक्त करता है, उसीको चेष्टासे ये सारी-की-सारी शक्तियाँ पैदा होती हैं। इन्द्रिय, प्राण, प्राणसे भूख-प्यास, तालु, जिह्वा, रस आदिसे कैसे शरीरमें इनकी उत्पत्ति होती है? किसको अधिष्ठान बनाकर कौन रहते हैं? कौन देवता होता है? इस प्रसंगमें सब बातें संक्षेपसे थोड़ी-थोड़ी कह दी गयीं। उसके बाद इसका विस्तार आता है।

भगवान् कहते हैं कि चाहे अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता हो, चाहे अन्तःकरणाभावावच्छिन्न परमात्मा हो, चाहे अवच्छिन्नानवच्छिन्न ऐक्यका बोध हो, चाहे अन्तःकरण हो, चाहे इन्द्रिय हो, शरीर हो, जो भी कुछ हो, वह सब 'मैं' हूँ। सृष्टिके पहले भी मैं, बादमें भी मैं, मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। मुझसे ही यह सारी-की-सारी सृष्टि प्रकट हुई है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन सारे आवरणोंके साथ कारण-सृष्टि भी मेरा ही स्वरूप है और कार्य-सृष्टि भी मेरा ही स्वरूप है। इसके बाद कोई वेदान्ती और क्या बोलेगा?

अमुनी भगवद्रूपे माया ते अनुवर्णिते।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः॥ ३५

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि जितने भी कार्य-कारणात्मक दृश्य प्रपञ्च हैं, सब भगवान्‌के रूप हैं। ये मायासृष्ट अथवा अविद्यासृष्ट रूप हैं। जीवात्माकी ओरसे जिसको अविद्या कहते हैं, परमात्माकी ओर उसको माया बोलते हैं। परन्तु जीव अविद्यासे मोहित रहता है और परमात्मा अपनी मायासे कभी मोहित नहीं होता। तो जितना भी कार्य-कारण है, सब मायाकी सृष्टि है। वाच्य-वाचकरूपमें वही परमात्मा स्थित है। प्रजापति, मनु, किन्नर, अप्सरा, कूष्माण्ड ये जितने भी हैं और जो परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, टकराते हैं, सब परमात्माके स्वरूपमें ही प्रतीत होते हैं।

परमात्मा ही कालाग्नि रुद्रका रूप धारण करके उपसंहार कर लेता है। देखो, यहाँ भगवान्‌का वर्णन 'इत्थं भाव'से किया गया—यह भी भगवान्, वह भी भगवान्—'इत्थं भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः' (४४) लेकिन गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

इदमित्थं कही जाय न सोई।

उसके लिए इदं इत्थं शब्दोंका प्रयोग नहीं होता।

'नेत्थं भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः' (४४) -इसलिए विद्वानोंको केवल इत्थं भावसे ही नहीं देखना चाहिए। यह नहीं समझना कि परमात्मामें कोई जन्म है या कोई कर्म है। कई लोग कहते हैं कि प्रकृति कर्ता है, माया कर्ता है, अज्ञान कर्ता है, चित्त कर्ता है, परमाणु कर्ता है, कर्म कर्ता है -इस प्रकार हजारों तरहकी बात लोग करते हैं। उन सबको काटकर परमात्मामें कर्तापनको आरोपित किया जाता है; कर्तृत्वका प्रतिपादन किया जाता है। नहीं तो सब लोग कहने लग जायें कि सृष्टि हमने ही बनायी थी। ऐसे कई लोग निकल आते हैं जो कहते हैं कि हमने ही पहले ब्रह्माको बनाया था। इसलिए परमात्माके सिवाय ब्रह्माको बनानेवाला और कोई नहीं है—ऐसा कहा जाता है, अन्यथा न तो कुछ बननेवाला है और न कुछ बनानेवाला है, यह तो मायाका आरोप है—

कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययारोपितं हि तत्। ४५

इस प्रकार श्रीशुकदेवजी महाराजने ब्राह्मकल्पका वर्णन किया जो प्राकृत और वैकृत सृष्टिका प्रकार है। कालके स्थूल-सूक्ष्मरूप, कल्प-लक्षण, पाद्मकल्प—इन सबका वर्णन तीसरे स्कन्धमें करेंगे। शौनकजी कहते हैं, विदुरजी अपने दुस्त्यज बन्धु-बान्धवोंका परित्याग करके तीर्थोंमें भ्रमण करते थे यह आपने कहा और विदुर मैत्रेयका संवाद भी सुना। अब विदुरने किस निमित्तसे बन्धु-त्याग किया था और मैत्रेयजीके साथ उनका क्या सत्सङ्ग हुआ—यह कथा भी आप कृपा करके सुनाइये। इस प्रकार शौनकादिकोंका प्रश्न सुनकर सूतजी महाराज कहते हैं कि इसी प्रश्नके उत्तरमें राजा परीक्षितको श्रीशुकदेवजी महाराजने जो सुनाया, वह अब हम अगले प्रसंगमें वर्णन करते हैं।

❀

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

१

तृतीय स्कन्ध

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ·

सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट
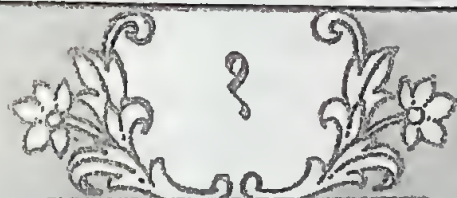
प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

तृतीय स्कन्ध

: १ :

एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल ।
क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ।। १
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ।। २

श्रीमद्भागवत कल्पवृक्ष है। जैसे वृक्षमें कन्धे होते हैं और उनमें मोटी-मोटी डालियाँ होती हैं वैसे इसमें बारह स्कन्ध हैं। इस तृतीय स्कन्धसे सर्ग-विसर्ग आदि नौ लक्षणोंके द्वारा दशम जो परमब्रह्म परमात्मा है, उसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। सर्ग शब्दका अर्थ होता है सर्जन, सृष्टि—'सर्जनम् सर्गः'। सृष्टि दो प्रकारकी होती है—एक तत्त्वक्रमसे होती है, दूसरी कर्मानुसार होती है। व्यक्तियोंकी आकृति, जाति, आयु और उनका विविध योनियोंमें जन्म—इन सबमें भगवान्का हाथ होना जरूरी है। सृष्टिकी अचिन्त्य रचना परमात्माके बिना सिद्ध नहीं होती। इसमें ऐसे-ऐसे रहस्य भरे हुए हैं कि उनको जाननेके लिए सर्ग-विसर्ग और स्थानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझना अनिवार्य है। यह समझनेकी प्रक्रिया है।

अब शौनक-सूत-संवादके अनुसार श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजा परीक्षित! तुमने जैसा प्रश्न किया है, ऐसा ही प्रश्न मैत्रेयजीसे विदुरजीने किया था। विदुर अपना घर छोड़कर जंगलमें चले गये थे। गृह ही तो घर है। गृह शब्दमें-से 'ऋ' को उठाकर 'ह' के बाद रख दो तो 'ग' और 'ह' मिलकर 'घ' हो जायेगा। अब प्रश्न यह है कि विदुरजीने आखिर अपना घर छोड़ा क्यों? क्या समझते हो कि उनकी टूटी-फूटी झोपड़ी रही होगी, घरमें खाने-पीनेको नहीं रहा होगा, जिससे वे उस घरको छोड़कर चले गये होंगे? नहीं, उनके घरमें तो बड़ी भारी ऋद्धि-सिद्धि, सम्पत्ति भरी हुई थी। भक्तमालमें जैसा वर्णन आता है कि विदुरजीके घरमें बड़ी गरीबी थी, ऐसा वर्णन महाभारतमें नहीं है। महाभारतमें तो जैसा वर्णन दुर्योधनके महलका है, वैसा ही विदुरजीके महलका भी है। उसके अनुसार विदुरजी धृतराष्ट्रके समान ही बहुत सम्पन्न थे। तो 'त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्'—विदुरजीका त्याग बेबसीका त्याग नहीं था, वैराग्यपूर्वक था। असलमें विदुरजीके घरमें दुर्योधनके घरकी अपेक्षा भी एक विशेष बात थी—

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ।। २

अखिलेश्वर भगवान् पाण्डववंशके सलाहकार थे, मन्त्रदाता थे। जब वे पाण्डव-दूत बनकर हस्तिनापुर गये थे, तब उन्होंने वहाँ दुर्योधनका आमन्त्रण स्वीकार करके उसके घर अन्न-जल

ग्रहण नहीं किया, किन्तु विदुरजीके घर बिना बुलाये ही चले गये। इसलिए चले गये कि वे विदुर-जीके घरको अपना घर समझते थे। साधारण घरको छोड़ देना कोई कठिन काम नहीं, परन्तु जिस घरको भगवान् अपना घर समझते हों और जिसमें पदार्पण करके भगवान्‌ने भोजन किया हो, उस पवित्र प्रेम-संस्मरण घरको छोड़कर निकल जाना बहुत बड़ी बात है। इसलिए विदुरजीने घर छोड़कर बहुत बड़ा त्याग किया। बात यह है कि मनुष्य घरके लिए नहीं होता, वह तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिए, भगवान्‌का भजन स्मरण करनेके लिए होता है। वर्षा, सर्दी, गर्मी, आदिसे सुरक्षित रहकर घरमें भजन करे, तब तो उसकी चरितार्थता है। परन्तु यदि घरके सजाने-सँवारनेमें ही सारी जिन्दगी बीत जाये और भगवान् ही छूट जायें तो वह घर बन्धन है, नरक है। पहले महात्मा लोग घर इसलिए बनाते थे कि वहीं रहकर भजन करें। घर भगवान्‌के भजनके लिए होता है, विषय-भोगके लिए नहीं होता। विषय-भोगके केन्द्र घरको छोड़ना जरूर कठिन है।

राजा परीक्षितने प्रश्न किया कि महात्मा विदुर और मैत्रेय दोनों कहाँ मिले? उनमें कोई साधारण बातचीत तो हुई न होगी—'न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः' (४)। साधु लोग इकट्ठे होते हैं तो कोई धन-दौलतकी बात नहीं करते। वे आकृतिकी, रूपकी, आभासकी चर्चा नहीं करते, तत्त्वकी, ईश्वरकी, चर्चा करते हैं। वे कड़ा-कंगनकी चर्चा न करके उसके भीतरका सोना क्या होता है, उसकी चर्चा करते हैं। उनका इससे कोई मतलब नहीं होता कि इस जगत्‌में क्या-क्या है, कैसा-कैसा है। उनका ज्ञातव्य और वर्ण्य विषय तो यह होता है कि यह जगत् किस धातुसे बना है? यही महात्माओंकी विशेषता है। उनकी बुद्धि तत्त्वग्राहिणी होती है—आकृति, रूप और आभासको ग्रहण करनेवाली बुद्धि नहीं होती।

इस प्रकारका प्रश्न सुनकर श्रीशुकदेवजी महाराज बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले कि परीक्षित, सुनो! यह उस समयकी बात है जब अन्धे धृतराष्ट्रने दुनियाको पकड़ लिया था। धृतराष्ट्र तेरा-तेराको मेरा बनानेवाला होता है। मेरा-मेरा करके फँसे हुए लोग यह देखते हुए भी कि उनका बेटा बहुत ही दुष्ट है, उसीका पक्ष लेते हैं। आजकल आप देखते हैं कि पार्टीबन्दियोंमें क्या होता है? अपनी पार्टीका कोई कितना भी बेईमान हो, वह दूधका धुला होता है और दूसरेकी पार्टीका कितना भी अच्छा हो, वह बेईमान माना जाता है। दलबन्दीमें सबसे बड़ा पाप यही होता है। इसी पापके कारण दल टूटते हैं। क्योंकि अपने दलके पापीका भी आदर होता है और दूसरे दलके भलेमानुषका भी अनादर होता है। दुर्योधनने पाण्डव-सरीखे धर्मात्माओंको लाक्षा-भवनमें बन्द करके जलवानेकी और भरी सभामें द्रौपदीके बाल पकड़कर नंगा करनेकी कुचेष्टा की, किन्तु धृतराष्ट्रने शक्तिसम्पन्न होनेपर भी अपने अत्याचारी पुत्रों और उनके साथियोंका निवारण नहीं किया। उन्होंने जूएरूप अधर्मसे पाण्डवोंको जीत लिया और उन्हें वनवास दे दिया। समय पूरा होनेपर पाण्डव लौटकर आये

फिर भी उनका हिस्सा नहीं दिया गया। यहाँतक कि श्रीकृष्ण राजदूत बनकर गये और उन्होंने भी धृतराष्ट्रको समझाया, परन्तु उन्होंने श्रीकृष्णकी बात भी नहीं सुनी। ऐसे लोगोंको अशान्ति तो होती ही है।

जब धृतराष्ट्रको रात्रिमें नींद नहीं आयी, तब उन्होंने विदुरको बुलाया। विदुरने जो उपदेश दिया, वह विदुर-नीतिके नामसे प्रसिद्ध है। उन्होंने साफ-साफ सलाह दी कि धर्मात्मा पुरुष आधा इधर और आधा उधरकी बात नहीं करता। देहमें मैं—ममताके कारण ही यह होता है। आप इससे बचिये और युधिष्ठिरका हक उसको अवश्य दे दीजिये। श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना समझा है। जिन दुर्योधन आदिको आप अपना पुत्र समझते हैं, वे आपके तथा श्रीकृष्णके दुश्मन हैं। आप इनका परित्याग कर दें। जिस समय विदुरजी धृतराष्ट्रको ऐसी सलाह दे रहे थे, उसी समय दुर्योधन, शकुनि, कर्ण आदि आपसमें मिले और बोले कि इस शूद्र और दासीपुत्र विदुरको किसने यहाँ बुलाया है, इसको घरसे बाहर निकाल दो। दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन, सब गाली देते रहे, धृतराष्ट्र सब सुनते रहे, परन्तु उनके मुँहसे एक भी ऐसा शब्द नहीं निकला, जिससे कि वे चुप हो जाते। विदुरजीने अपना धनुष उनके दरवाजेपर रख दिया और स्वयं वहाँसे उठकर चले गये। धनुष रख देनेका अभिप्राय यह है कि पाण्डवोंके पक्षमें मिलकर आपसे युद्ध नहीं करेंगे। आप यह मत समझना कि हम आपकी पार्टीसे बाहर जा रहे हैं, हम दलबदलू नहीं हैं, इधरसे निकलकर उधरसे नहीं लड़ेंगे।

वहाँसे निकलकर विदुरजी तीर्थयात्रापर चले गये और भ्रमण करने लगे। तीर्थोंकी विलक्षणता यही है कि उनमें जानेपर भगवान्‌का स्मरण होता है। किसी शहरमें जाओ तो वहाँ लोग कहेंगे कि यहाँ अमुक सेठकी कोठी है और तुम्हें सेठकी याद आजायेगी। लेकिन तीर्थमें जानेपर बोलेंगे कि यहाँ भगवान्‌ने माखन चोरी की, यहाँ कालिय-मर्दन किया, रासलीला की, एक-एक स्थान देखकर भगवान्‌की याद आयेगी। गङ्गाजी और हिमालय तो दिखाई पड़ते ही भगवान्‌का स्मरण कराते हैं। एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि काल भगवान्‌का स्मरण कराते हैं और स्थान भगवान्‌का स्मरण कराते हैं। देव-प्रतिमाओं और भक्तोंकी निवासस्थलीका दर्शन करके हमारी ममताका निवारण होता है और भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन होने लगता है। यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। इसीलिए महात्मा लोग उन तीर्थोंमें जाते हैं जहाँ भगवान्‌की प्रतिमाएँ हैं, उनकी लीलाओंवाले पुण्य उपवन हैं, कुञ्ज हैं, पर्वत हैं, नदियाँ हैं। तीर्थ-सेवनके भी नियम हैं। वहाँ जाकर स्नान करना चाहिए, धरतीपर सोना चाहिए, संयमसे रहना चाहिए, तभी तीर्थका फल मनुष्यको मिलता है। शास्त्रोंमें कहा गया है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
दानं तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥

जिसके हाथ, पाँव, जीभ, मन, ये सब काबूमें रहते हैं, जो दान करता है, तप करता है; कीर्तन करता है और जिसकी कीर्ति उत्तम है, उसको तीर्थका फल प्राप्त होता है।

विदुरजीने अपनेको ऐसा बना लिया था कि वे किसीकी पहचानमें नहीं आते थे। ऐसे तिरस्कृत-से रहते थे, जैसे कोई शराबी रहता है। अवधूत शब्दका अर्थ संस्कृतमें तिरस्कृत होता है। जिसको तिरस्कारपूर्वक घरसे, गाँवसे बाहर निकाल दिया जाये, उसे चाहिए कि वह तीर्थमें रहे और खूब सहन करे। तिरस्कृत विदुरजीने भी इसी प्रकार सारे भारतवर्षमें विचरण किया, बड़े-बड़े व्रत किये और फिर वे प्रभास पहुँचे। इस बीच महाभारतका युद्ध और युधिष्ठिरका राज्य हो गया था। विदुरजीने प्रभासमें सरस्वती-स्नान किया और मन्दिरोंमें जाकर श्रीकृष्णका दर्शन किया—'यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्ति (२३)।' फिर सौराष्ट्र, सौवीर, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थोंमें होते हुए यमुना जीके तटपर आये। वहाँ उनको उद्धवजी मिल गये। उद्धवजी भगवान्‌के खास सेवक, बड़ी शान्त वृत्तिवाले और बृहस्पतिसे विद्याप्राप्त महापुरुष हैं। दोनों हृदयसे लग गये और फिर एक दूसरेसे कुशल-मङ्गल पूछने लगे।

विदुरजीने पूछा—उद्धवजी, बलराम और कृष्ण पृथिवीका मङ्गल करके आनन्दसे तो हैं? वसुदेवजी भी अच्छे हैं? जैसे पिता अपनी पुत्रीको धन देता है, वैसे ही वसुदेवजी अपनी बहनको धन देते हैं? यह भी एक तारीफकी बात हुई। बाप तो बेटीको देता ही है, भाई लोग देना भूल जाते हैं। पहले यह रीति थी कि जिस प्रकार लड़केका हक, उसी प्रकार लड़कीका हक। अचल सम्पत्तिमें-से लड़कीको हिस्सा न देकर हमेशाके लिए बन्धान कर देते थे कि ब्याहमें देंगे, तीज-त्यौहारपर देंगे, पर्वपर देंगे, यज्ञोपवीतके समय देंगे। इस प्रकार उसका हक उसके घर पहुँच जाया करता था। इसमें कोई उदारता नहीं थी, यह उसका हक था। बादमें बापके मरनेके बाद बेटे देना बन्द कर देते थे। किन्तु वसुदेवजी स्वयं अपनी बहनोंका बहुत आदर करते थे। इसके बाद विदुरजीने प्रद्युम्न, उग्रसेन, साम्ब, सात्यकि, अक्रूर, देवकी, सबके बारेमें एक-एक करके प्रश्न पूछे। अनिरुद्ध, हृदीक, चारुदेष्ण, गद और कौरवोंका भी कुशल-मंगल पूछा। फिर पूछा कि युधिष्ठिर प्रेमके साथ प्रजाकी रक्षा करते हैं? भीमसेनकी क्या दशा है? अर्जुनका क्या हाल-चाल है? एक-एकका नाम लेकर विदुरजी किसीके लिए थोड़ा रो दें और किसीके लिए थोड़ा हँस दें। अन्तमें उन्होंने कहा कि कृष्णने पृथिवीका भार उतारनेके लिए ही जन्म ग्रहण किया है। अजन्माका जन्म दुष्टोंके नाशके लिए और अकर्ताका कर्म लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिए ही होता है। मित्र उद्धवजी! इस संसारमें श्रीकृष्णकी चर्चासे बढ़कर शान्ति देनेवाली वस्तु और कोई नहीं है। इसीलिए तुम उनकी कथा सुनाओ।

❀

: २ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार विदुरके पूछनेपर उद्धवका हृदय श्रीकृष्ण-स्मरणसे भर आया ! उद्धवजी जब पाँच बरसके थे, तभी भगवान्‌की पूजा करते रहते थे। माता कहती कि चलो बेटा प्रातराश—कलेऊ कर लो तो वे कहते कि नहीं, नहीं, अभी तो मैं भगवान्‌की पूजा कर रहा हूँ। अब तो उद्धवजी बूढ़े हो गये हैं। वे भगवान्‌की यादमें मगन हो गये—

पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन्। ३

पिछली साल जब नैमिषारण्यमें भागवत-प्रवचन हुआ था, तब श्रीहरिबाबाजी महाराज मौजूद थे। उन्होने माँसे कहा था काशीमें भी प्रवचन होना चाहिए। उसी समय इस प्रवचनका निर्णय हो गया था। हरिबाबाजीने कहा था कि हम सुनेंगे। इसलिए जब हम कथा कहने बैठते हैं तो बार-बार उनकी याद आती है। तीस-पैंतीस बरस हो गये उनको कथा सुनाते। सन् इकतालीस-बयालीसमें मैंने संन्यासका वेश ग्रहण किया था, उसको सत्ताईस वर्ष हो गये। संन्यास ग्रहणके सात वर्ष पहले सन् पैंतीसमें मैंने बाँधपर हरिबाबाको कथा सुनायी थी। अब सुनाने बैठते हैं तो कभी-कभी दाहिने दृष्टि जाती है और लगता है कि बाबा कहीं पहलेकी तरह कथा-श्रवण करने बैठे न हों ! कल माँने उनको देखा कि वे व्यासासनसे थोड़ी दूरीपर ज्योतिर्मयवपुसे हमारी ओर मुँह करके बैठे हैं और कथा सुन रहे हैं। हम तो उनकी याद ही करते हैं। माँने उनको अपनी दिव्य दृष्टिसे देख भी लिया। लोग कहते रहते हैं कि उनकी चर्चा सुनाओ। लेकिन क्या सुनावें ? जिनके साथ इतने दिन रहे, उनकी कथा-कहानी भी हृदयमें पीड़ा पहुँचाती है। जब हमारी यह हालत है, तब उद्धवजी का क्या कहना ! बचपनसे श्रीकृष्णके साथ रहते-रहते बूढ़े हो गये हैं। विदुरजीकी बात सुनकर दो घड़ीतक उनके मुखसे बात नहीं निकली। वे श्रीकृष्णस्मरणामृत-सिन्धुमें डूब गये। उनके हृदयमें भक्तियोगका उदय हुआ और उसीमें निमग्न हो गये। उनको बहुत आनन्द आया, शरीर पुलकावलि-मण्डित हो गया और नेत्रोंसे आँसू झरने लगे, पूर्णार्थ हो गये। 'शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः' (६)—फिर जैसे कोई भगवान्‌के धामसे वर्तमान व्यवहारमें आगया हो, वैसे ही उद्धवजी-आँखोंसे आँसू पोंछकर कहने लगे—श्रीकृष्ण साक्षात् सूर्य थे—'कृष्णद्युमणिनिम्लोचे' (७)। अब तो सूर्यास्त हो गया। सारे वंशको कालरूपी अजगर निगल गया। घरमें अब कोई शोभा-सौन्दर्य नहीं रहा। इसलिए हम उनका कुशल-मङ्गल क्या सुनायें ? सारी दुनियाँ अभागी है और यदुवंशी नितान्त अभागे हैं कि वे श्रीकृष्णके साथ रहकर भी उनको पहचान नहीं सके। उद्धवजीने कहा—एक दिन ऐसा था, जब आकाशका चन्द्रमा समुद्रमें डूबा हुआ था और मछलियाँ उसके साथ रहती थीं।

मछलियाँ समझती थीं कि यह भी कोई मछली ही है, हमलोगोंकी तरह ज्यादा चमकती है। परन्तु जब चन्द्रमा आकाशमें जाकर अमृत बरसाने लगा और समुद्र चन्द्रमाको देखकर उछलने लगा, तब मछलियोंने कहा कि हमसे बड़ी गलती हुई। इसी तरह यदुवंशी लोग उनको मनुष्य समझते रहे। उनकी ऐसी माया कि कोई उनको पहचान न सका। वे तो अपने शरीरके साथ-साथ सबकी आँखें भी ले गये। भगवान्‌ने अपनी योगमायाका बल दिखाने और मनुष्यलीला करनेके लिए ही श्रीविग्रह ग्रहण किया था। उस श्रीविग्रहका सौन्दर्य ऐसा था कि कभी-कभी भगवान् भी उसे देखकर स्वयं आश्चर्यचकित हो जाते थे—'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्' (१२)। क्यों न हो, भगवान्‌का स्वरूप सौभाग्य-सम्पत्तिका परम पद है, उनका प्रत्येक अङ्ग आभूषणको भी भूषित करनेवाला है। आभूषणोंसे भगवान्‌के अङ्ग आभूषित नहीं होते। वे तो स्वयं एक-सरीखे चमकते रहते हैं। बाजूबन्द, कंगन अथवा हार पहना देनेपर तो उनके द्वारा वहांकी शोभा छिप जाती है और जिन अङ्गोंपर आभूषण नहीं हैं, उनकी शोभा और-और प्रकाशित होने लगती है। आभूषण भी भगवान्‌की शोभासे ही प्रकाशित होते हैं। श्रीरूपगोस्वामीजी महाराजने लिखा है कि एक दिनकी बात है, भगवान् श्रीकृष्णने शीशेमें अपनी रूप-माधुरी देखी तो उनके मुँहसे निकला—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त ! प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥

अरे, यह कौन है ? शीशेमें कौन दीख रहा है ? इसे तो मैंने कभी नहीं देखा। फिर बोले कि आह, यदि मैं राधिका होता तो इसीसे विवाह करता। भगवान्‌का ऐसा सौन्दर्य है कि वे स्वयं उसको देखकर मोहित हो जाते हैं। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें जिन्होंने उसे देखा, उन्होंने कहा कि बस, विधाताकी सृष्टिमें उनके रचनाकौशलकी यह पराकाष्ठा है। उनके लीलावलोकसे, रासलीलासे मान प्राप्त करके व्रजाङ्गनाएँ उनको अपना सब कुछ देकर केवल कृष्णशेषा होकर रह गयीं। जब भगवान्‌के शान्त रूपोंको अशान्त रूप-तत्त्व बाधा पहुँचाने लगते हैं, तब भगवान् जन्मग्रहण करते हैं। यह भगवान्‌की एक करुणा ही है कि वे जन्मादिसे रहित होकर भी जन्मग्रहण करते हैं। अजन्माका जन्म लेना एक आश्चर्य ही तो है। लेकिन कितना भी आश्चर्यजनक हो, यह सत्य है कि अजन्मा कृष्णका जन्म वसुदेवके घरमें हुआ। फिर जब हमने देखा कि वह अजन्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न होकर भी शत्रुके भयसे व्रजसे बाहर भाग गया तथा इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी लीलाएँ उसने कीं, तो आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती। भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेव-देवकीके चरणोंमें गिर पड़े और बोले कि हे पिता, हे माता, हमने बहुत दिनोंतक तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा नहीं की, हम पितृ-ऋण, मातृ ऋणसे कैसे मुक्त होंगे ? आपलोग कृपा करके हमें इस ऋणसे मुक्त कर दीजिये। उनकी यह बात याद करके हमारा हृदय अत्यन्त व्यथित हो जाता है। उनको कौन भूल सकेगा ?

वे ऐसे हैं कि द्वेष करनेवालेके बारेमें कहते हैं कि द्वेष करता है तो क्या हुआ ? हमसे ही तो द्वेष करता है। इसका मन हममें ही लगा है। दुनियादारीमें अपना मन लगाकर हमें भूल जानेवालोंकी अपेक्षा तो यह अच्छा है। यदि कोई हमको गाली देता है तो क्या, याद तो करता है। देखो, गाली देनेसे भी भगवान् रीझ जाते हैं।

वैद्यनाथ भगवान्‌के लिङ्गके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि एक ग्वाला रोज जाकर उन्हें एक लाठी मार आता था। एक दिन वह नहीं गया तो उन्हें बहुत तकलीफ हुई और उन्होंने कहा कि हाय हाय, हमारा वह भक्त क्यों नहीं आया ? तो यह स्वभाव है भगवान्‌का। जो उनसे द्वेष करता है उसका भी वे कल्याण करते हैं।

उद्धवजी कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णके उदार स्वभावका हम स्मरण करते हैं तो उनका वियोग असह्य हो जाता है। वीरलोग जब महाभारत-युद्धके समय सारथि श्रीकृष्णको देखते थे तब उनके मुखारविन्दको आँखोंसे पीने लगते थे। उन्हें यह बात भूल जाती थी कि सामनेसे अर्जुनका अस्त्र आ रहा है, हम मर जायेंगे। उनको अपनी देहका भान छूट जाता था, मृत्युका डर मिट जाता था। वे श्रीकृष्णके मुखारविन्दको देखकर ठगे रह जाते थे। कभी होश सँभालकर प्रहार करते भी थे तो निशाना चूक जाते, क्योंकि देखते थे श्रीकृष्णकी ओर और प्रहार करते थे दूसरी ओर। इसी बीचमें अर्जुनका बाण आकर उन्हें भगवान्‌के धाममें भेज देता था। कोई श्रीकृष्णके समान भी नहीं, तो उनसे बड़ा कहाँसे होगा ? वे ही प्रभु जब उग्रसेनके सामने होते तो कहते कि हे स्वामी, हे देव ! हम आपके सेवक हैं, आप हमें आज्ञा दीजिये और फिर उनकी जो आज्ञा होती, उसका पालन करते। असलमें बड़प्पन छत्र-सिंहासनमें नहीं होता, बड़प्पनका निवास तो विनयमें, निरभिमानतामें और सद्‌गुणोंमें होता है। राजा लोग जो बड़े-बड़े हीरे-मोतियोंके सिंहासन बनवाकर बैठते हैं, उसमें कोई गौरव नहीं। उनकी वह कुरसिका (कुरसी) तो तकलीफ देनेवाली है।

विदुरजी, आपने पूतनाकी कथा तो सुनी ही होगी ! वह बकासुर—अघासुरकी बहन बकी मूर्तिमती अविद्या थी। जिनको अपनी पवित्रताका अभिमान होता, उनको भी वह उठाकर ले जाती थी। जो सीधे-सादे सरल और किसीसे राग-द्वेष नहीं करनेवाले बच्चोंको भी लग जाये और कष्ट दे, उसका नाम है पूतना। जन्मसे राक्षसी, खून पीनेवाली और अत्यन्त दम्भी पूतना मारनेकी नीयतसे अपने स्तनोंमें कालकूट लगाकर आयी और श्रीकृष्णको उसने अपना जहर पिला दिया। लेकिन श्रीकृष्णने कहा कि यह तो नयी चीज लेकर आयी है, ऐसी चीज लेकर तो हमारे सामने कोई नहीं आया। आज तो ऐसी चीज पीनेको मिली और उसमें ऐसा स्वाद आया कि अन्य किसी अवतारमें कभी नहीं आया। अरे, यह तो हमारी मैय्या है, इसे तो सद्‌गति मिलनी चाहिए—

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु यादव राइ॥

'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम' (२३)—ऐसा उदार हृदय, ऐसा सुशील, ऐसा दयालु सृष्टिमें और कौन मिलेगा, जिसकी शरणमें हम जायें। देखो, यहाँ मूलमें पूतनाके लिए 'धात्री' शब्दका प्रयोग है; किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने तो सीधे 'माता' शब्दका प्रयोग किया है—'मातुकी गति ताहि।' सोचो यदि उस राक्षसीको धात्रीकी या माताकी गति मिलती है तो व्रजकी गौओंको कौन-सी गति मिलेगी? व्रजकी उन स्त्रियोंको कौन-सी गति मिलेगी, जिन्होंने श्रीकृष्णको प्रेमसे दूध पिलाया। यशोदा मैयाका तो कहना ही क्या है! उनकी तो हम छाया भी नहीं छू सकते। सच पूछो तो यशोदा मैयाका माहात्म्य बतानेके लिए ही प्रतियोगिनी पूतनाकी लीला है, जिससे कि लोग यशोदा मैयाका गौरव समझें। जब जातिकी राक्षसी, कर्मसे लोक-बालघ्नी और मारनेकी नीयतसे स्तनमें विष लगाकर दूध पिलानेवालीको माताकी गति मिलती है तब माताको कौन-सी गति मिलेगी? बस यही समझ लो कि भगवान् अपना सारा बड़प्पन छोड़कर नन्हें-से शिशु बनकर अनन्त कालतक उस मैयाकी गोदमें रहेंगे और उसका दूध पीयेंगे। श्रीकृष्णके वशीकारके सिवाय माताको और क्या मिल सकता है। इसके अतिरिक्त माताको और चाहिए भी क्या?

उद्धवजी कहते हैं कि विदुरजी, मैं तो इन असुरोंको भी भगवान्‌का बड़ा भारी भक्त मानता हूँ, क्योंकि इनको मरते समय भगवान्‌के दर्शन हुए हैं। गरुड़पर सवार और हाथमें शङ्ख-चक्र-गदा लिये भगवान् इन असुरोंके सामने खड़े हुए और अपने हाथसे इनको मारा। क्या भक्तिके बिना ऐसा हो सकता है कि मृत्युके समय भगवान् सामने खड़े हों? भगवान्‌का दैत्योंको मारना और उनका दैत्य होना भी एक लीला ही है। भगवान्‌का यही स्वभाव है कि वे दैत्योंका भी कल्याण करते हैं। यदि कोई नन्हा-सा बच्चा हाथ उठाकर घूंसा तानकर अपने बापको मारनेके लिए दौड़े या उसकी मूंछ पकड़कर खींचे, तो क्या पिताका प्रेम उसपर नहीं उमड़ता? वह उसपर नाराज नहीं होता? यही व्यवहार भगवान् दैत्योंके साथ करते हैं।

देखिये विदुरजी, भगवान्‌ने अपने पैदा होनेकी जगह भी कैसी चुनी? पैदा होनेके लिए न तो वे पुष्कर गये, न अलकनन्दाके तटपर गये और न काशी गये, उन्होंने प्रकट होनेके लिए कंसका कारागार चुना, जहाँ उनके माता-पिता देवकी-वसुदेव हथकड़ियों, बेड़ियोंसे जकड़े थे और उनके सिर-पर कंसकी तलवार लटक रही थी, फिर भी भगवान् प्रकट हो गये और इस डरसे गोकुल चले गये कि कंस हमको मारेगा। यह भी भगवान्‌की लीला ही है। उसी समय अगर शङ्ख-चक्र-गदा लेकर भगवान् खड़े हो जाते तो क्या होता? न तो कंस कुछ कर पाता और न उसके पूर्वजन्मवाला रूप कालनेमि कुछ कर पाता। भगवान् इतने शक्तिशाली हैं कि वे उसी समय उन सबका संहार कर

देते, किन्तु उनको तो अभी अनेक लीलाएँ करनी थीं, इसलिए डरकर गोकुलमें चले गये और वहाँ छिपकर रहे। वहाँ चरवाहे बन गये, यमुनाके किनारे गायें चराने लगे। वे कोई ब्राह्मण विद्वान् नहीं बने, क्षत्रिय राजकुमार नहीं बने, ग्वाला बन गये। यमुना तटपर बड़े सुन्दर वन हैं, भौंरें गुँजार कर रहे हैं और गायें चर रही हैं। श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिकी बाललीलाएँ कर रहे हैं, कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, बड़ी सुन्दर चेष्टा करते हैं और मुग्ध होकर बाँसुरी बजा रहे हैं। लीलामें बाधक बनकर जो राक्षस आते हैं, उनको अपने लोकमें भेजते जाते हैं। उन्होंने कालिय नागका दमन किया, जिससे कि गायोंका खूब भला हो। देखो! भगवान् भी यज्ञ-यागादि करते हैं, क्योंकि उसमें वित्तका सद्व्यय है। 'वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः' (३२)। यह धन आदमीके सिरपर एक बड़ा भारी बोझ है। इसका सद्व्यय यही है कि व्यापक उद्देश्यसे, विश्वात्माकी तृप्तिके लिए, विश्वदेवताके लिए, इसको खर्च किया जाय। कभी-कभी देवता भी असुर हो जाते हैं। यह नहीं समझना कि देवता हमेशा देवता ही रहता है और उसका काम हमेशा देवताका ही काम होता है। जब साधु क्रोधवश गाली देने लगे तो समझना कि इसमें थोड़ी देरके लिए ही सही, दैत्य आगया है। इसी प्रकार इन्द्र दैत्य हो गया, असुर हो गया। जब उसको उसकी भेंट-पूजा नहीं मिली, यज्ञका भाग नहीं मिला, तब स्वार्थवश उसकी बुद्धि बिगड़ गयी और उसने प्रलयकालके बादलोंको आज्ञा दे दी कि जाओ 'पशून् नयत संक्षयम्' (१०.२५. ६) व्रजमें जितनी भी गायें हैं, बैल हैं, बकरियाँ हैं, भेड़ें हैं, भैंसें हैं, उन सबका नाश कर दो। भला उन पशुओंका क्या दोष था, उनके दूधका भोग इन्द्रको नहीं लगाया गया था, यही दोष था न! इस दोषके आधारपर यह कहना कि यदि इनका दूध हमारे भोगके काम नहीं आता तो इनका नाश कर दो, कहाँतक उचित था? क्रोधके कारण इन्द्रकी मति दुष्ट हो गयी। इसपर भगवान्‌ने यह निर्णय किया कि हमारी गायोंका विरोध करनेवाला इन्द्र देवता नहीं, दैत्य है और उसकी पूजा हमेशाके लिए ही बन्द कर दो। ऐसे दुष्ट इन्द्रकी पूजाके स्थानपर हमारे जो वन हैं, पहाड़ हैं, हमारे व्रजकी जो मिट्टी है, उसकी पूजा करो। सबसे बड़ा यज्ञ यही है कि धरतीके मनुष्योंको तृप्त करो। इसके बाद भगवान्‌ने क्या किया? 'गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता' (३३)—जब इन्द्र व्रजवासियोंका विनाश करनेके लिए मूसलाधार जल बरसाने लगा—तब भगवान्‌ने गोवर्धन उठाकर सबकी रक्षा की। फिर शरच्चन्द्रकी चाँदनीमें भगवान् गोपियोंके साथ विहार करने लगें। ये सब बातें याद आती हैं तो बड़ी वेदना होती है।

❦

: ३ :

उद्धवजी कहते हैं कि इसके बाद भगवान् मथुरा आगये, तो सबसे पहले किससे मिले ? न शाण्डिल्य मुनिके आश्रममें गये, न वसुदेव-देवकीके पास गये और न नाना-नानी या मामा-मामीके घर गये। वहाँ एक माली था, उसके घरमें घुस गये और उसको अपना कृपापात्र बनाया। उसके बाद सबसे पहले कुब्जाका उद्धार किया। उसके पाँव-पर-पाँव रखकर और ठुड्डीमें हाथ लगाकर उसको ऐसा सीधा किया कि वह परमसुन्दरी बन गयी। भगवान्की यह लीला कितनी उदार है—

केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई।

अब मथुरामें भगवान्के जो मामा कंस हैं, वे क्या हैं। जो सबकी हिंसा करे, उसका नाम है कंस। कंस माने काटनेवाला। जो देशमान, कालमान, वस्तुमान सबको काटकर अभिमान बना है, उसीका नाम कंस है। इसका यह मतलब नहीं कि इतिहासमें कोई कंस ही नहीं हुआ। इतिहासमें कंस हुआ है और भगवान्ने उसे मारा है। जो लोग आध्यात्मिक-आध्यात्मिक करके इतिहासका नाश करते हैं, उन लोगोंका कथन ठीक नहीं। इतिहास भी ठीक है। ऐतिहासिक कंस मामा बड़े ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे और चाहते थे कि असुरोंके द्वारा श्रीकृष्णको मरवा डालें। किन्तु भगवान् कभी मरते हैं ? वे असुरोंको मारकर ऐसे उछले कि मंचपर चढ़ गये। उनको अपने समीप देखकर कंसका हार्ट-फेल हो गया। देखो, भगवान्ने व्रजमें किसीपर हथियार नहीं चलाया। पूतनाको होंठसे चूस लिया, शकटासुरको पाँवसे उलट दिया, तृणावर्तका हाथसे गला घोंट दिया, अघासुरके पेटमें घुस गये और बकासुरको चीर दिया। मामाजीपर तो हाथ भी नहीं उठाया। उनको पास देखते ही डरके मारे कंसकी धड़कन बढ़ गयी और निष्प्राण होकर गिर पड़ा। उसके बाद गुरुगृह जाकर भगवान्ने पढ़नेकी लीला की। फिर रुक्मिणी तथा अन्य सात पटरानियोंसे विवाह किया। भौमासुरके यहाँ जो राजकन्याएँ थीं, उनके साथ भी किसी एक मुहूर्तमें विवाह कर लिया—

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥ ८

भगवान्‌की ऐसी लीला है कि वे एक साथ लाखों-करोड़ोंके हृदयमें प्रकट हो जायें, उनके साथ नाच लें, क्रीड़ा कर लें। उनकी बड़ी भारी सन्तान-परम्परा चली। उन्होंने कालयवन, मागध, शाल्व आदि राक्षसोंको मारा। कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाको भस्म किया। अब उनके ध्यानमें आया कि यदि ये यदुवंशी जीवित रहेंगे तो अनर्थ करेंगे। उन्होंने उनके वधके लिए उनमें फूट डाल दी। उधर युधिष्ठिरको राजा बना दिया, परीक्षितकी रक्षा की और वहाँ यज्ञ-यागादि करवाये। विदुरजी! आपसे श्रीकृष्णकी चर्चा क्या करें? उनका स्नेहपूर्ण स्मित-चितवन, उनकी अमृतवर्षिणी वाणी, उनका अनवद्य चरित्र सब कुछ अविस्मरणीय है। 'चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना' (२०)—नारायण भगवान्‌के वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजी बैठी रहती हैं। इसमें भी स्त्रीका एक स्वभाव है कि हमारे पतिदेव बहुत सुन्दर हैं, कोई दूसरा आकर उनकी छातीसे न लग जाये, इसलिए हर समय उनकी छातीसे ही सटे बैठे रहो। श्रीकृष्ण भी 'श्रीनिकेतेन चात्मना' थे। उनका अंग-अंग श्रीनिकेतन था। उनके रोम-रोमपर, एक-एक छिद्रपर, एक-एक कणपर लक्ष्मीजी बैठी रहती थीं, इसलिए कि बाबा! इनका तो एक-एक अंग ऐसा है कि कोई-न-कोई चिपक जायगा। ऐसे उन्होंने लोक-परलोक सब बनाया। उन्होंने सबको बड़ा आनन्द दिया। वे बहुत वर्षोंतक धरतीपर रहे। यह नहीं समझना कि भागवत आदि ग्रन्थ भगवान्‌का पक्षपात करते हैं, वे तो कहते हैं कि—'गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत' (२२)—भगवान् श्रीकृष्णको अपनी गृहस्थीसे वैराग्य हुआ। उनके सोलह हजार महल बने हुए थे। इतनी पत्नियाँ, इतने पुत्र थे, इतना प्रभाव था, फिर भी उनको घर-गृहस्थीसे वैराग्य हो गया।

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान्।
को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः॥ २३

जब भगवान्‌को वैराग्य हो गया तो उनके भक्तको सोचना चाहिए कि हमारे हाथमें तो कुछ है ही नहीं, हम तो भाग्यके खिलौने हैं। हमारे भोग भी भाग्यके अधीन हैं। इसलिए हम उनमें फसेंगे तो हमारी क्या गति होगी?

विदुरजी, भगवान्‌की इच्छा जानकर ब्राह्मणोंने यह शाप दे दिया कि यदुकुलका नाश हो जाय। इसके कुछ दिन बाद सभी यदुवंशी प्रभासक्षेत्रमें गये, वहाँ दान आदि किया और देवताओंको प्रणाम किया।

: ४ :

'अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।' (१)—अब यदुवंशियोंने भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त करके भोजन प्रारम्भ किया। भगवान्‌ने उन्हें केवल भोजन करनेकी आज्ञा दी—'तदनुज्ञाता भुक्त्वा।' किन्तु वे अपने मनके फन्देमें फँसकर वारुणी पीने लगे—'पीत्वा च वारुणीम्'। वारुणी बुद्धिकी दुश्मन है। उससे प्रारम्भमें उत्तेजना होती है ,और बादमें शिथिलता आजाती है। काम, क्रोधमें भी यही दोष है। प्रभास-क्षेत्रमें मदिरा-पान करनेसे यादवोंका ज्ञान विभ्रष्ट हो गया और वे 'दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः' (१)—दुर्वचनोंसे एक-दूसरेको दुःख पहुँचाने लगे। देखो, कलियुग किसका बेटा है? 'दुरुक्तो कलिमाधत्ते' कलियुगकी माँका नाम है—दुरुक्ति। दुरुक्ति माने दुर्वचन। जब लोग गाली-गलौज करने लगते हैं तब उसमें-से कलिकी उत्पत्ति होती है। यादवोंने आपसमें ऐसा मर्मस्पर्शी भाषण किया कि उन सबका चित्त विषम हो गया। जैसे बाँसके जंगलमें एक दूसरेसे टकरानेपर आग लग जाती है, वैसे ही यादवोंके हृदयमें आग लग गयी। भगवान् अपनी मायाकी विचित्र गति देखकर एक अश्वत्थवृक्षके नीचे बैठ गये। अश्वत्थवृक्ष क्या है? गीतामें कहा गया है कि 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'। (१५.१)—संसार-वृक्षकी जड़में जाकर ऊर्ध्वमूल परमात्मा अपने स्वरूपमें बैठ गये।

उद्धवजी कहते हैं कि विदुरजी, भगवान् श्रीकृष्ण मुझको पहले ही ज्ञान देकर बदरीनाथ जानेके लिए बोल चुके थे। मैं उनका यह आशय समझ गया था कि अब वे अपने कुलका संहार करनेवाले हैं। फिर भी मैं उनका वियोग न सह सकनेके कारण उनके पीछे-पीछे चला गया। वहाँ देखा कि श्यामावदात चतुर्भुज पीताम्बरधारी अरुणलोचन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी बायीं जाँघपर अपना दाहिना पाँव रखकर बैठे हुए हैं। उसी समय मैत्रेयजी भी आगये। मैत्रेयजीके सामने ही भगवान्‌ने मुझसे कहा कि उद्धव, मैं तुम्हारे मनकी बात जानता हूँ। तुम ज्ञान चाहते हो, तो देखो यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है। मैंने जो ज्ञान ब्रह्माको दिया था और जिस ज्ञानको भागवत कहते हैं

वही ज्ञान मैं तुमको देता हूँ। इस प्रकार जब भगवान् बहुत ही आदरपूर्वक वचन बोले, तब मैंने उनसे निवेदन किया कि प्रभो आपके चरणोंकी सेवा करनेवालेके लिए इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आप अजन्मा होते हुए भी जन्म लेते हैं, कालात्मा होते हुए भी शत्रु-भयसे पलायन करते हैं और आत्माराम होते हुए भी स्त्रियोंके साथ गृहस्थाश्रममें रहते हैं। आपकी लीला देखकर बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि चकरा जाती है। जब आप कभी-कभी मुझे बुलाकर सलाह लेते हैं तो मैं मुग्ध हो जाता हूं। अब आप यदि मुझे तत्त्वज्ञानका अधिकारी समझते हों तो बताइये कि मैं संसार और उसके दुःखसे कैसे पार जाऊँ? इसके बाद कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। विदुरजी, इस समय मैं उनके वियोगसे व्याकुल होकर यहाँ आया हूं। पहले मुझे उनके दर्शनोंसे आनन्द हुआ था, किन्तु अब मुझे उनका वियोग दुःख दे रहा है। अब मैं बदरी-मण्डलकी ओर जा रहा हूँ, जहाँ नर-नारायण तपस्या करते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, उद्धवजीके द्वारा यह सब सुनकर विदुरजीको सुहृदोंके वियोगका बड़ा भारी दुःख हुआ। परन्तु उन्होंने उस दुःखको अपने ज्ञानसे शान्त किया और फिर बोले कि उद्धवजी, जो ज्ञान तुमको श्रीकृष्णने बताया है, वह यदि हमारे योग्य हो तो हमें भी बताओ। उद्धवजीने कहा कि विदुरजी, जाते समय भगवान्ने आपको याद किया और कहा कि आप मैत्रेयजीसे इस ज्ञानको प्राप्त करेंगे। इसलिए आप मैत्रेयजीके पास चले जाइये। वे भगवान् श्रीकृष्णका बताया हुआ ज्ञान आपको प्रदान करेंगे। उसके बाद उद्धवजीने वह रात यमुना-पुलिन-पर बितायी और दूसरे दिन बदरीवन चले गये।

अब राजा परीक्षितने यह प्रश्न किया कि महाराज, सम्पूर्ण यदुवंशियोंका संहार हो जानेके बाद जब त्रिगुणमयी मायाके अधिपति श्रीहरिने भी अपने आकारका परित्याग कर दिया—'हरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः' (२८)। तब उद्धवजी कैसे बचे रह गये? यह तो बहुत ही आश्चर्यकी बात है। कृपया इसपर प्रकाश डालिये।

श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा कि परीक्षित, साक्षात् काल ही ब्रह्मशाप बनकर आया था। भगवान्ने अपने कुलका संहार करते समय यह सोचा कि यदि मैं अपनी लीला-संवरण कर लूंगा तो मेरा ज्ञान कहाँ जायेगा? यहाँ देखो, जैसे गृहस्थोंमें वंश-परम्परा चलती है, वैसे ही महात्माओंमें ज्ञान-परम्परा चलती है। भगवान्ने स्वधाम-गमनके पूर्व यह विचार किया कि मेरे ज्ञानके उत्तरा-धिकारी उद्धवजी रहेंगे, क्योंकि वे मुझसे जरा भी कम नहीं हैं—'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो (३१)—जब किसीने यह पूछा कि आपमें और उद्धवजीमें ऐसी क्या समता है तब भगवान्ने उत्तर दिया कि 'यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः' (३१)—उद्धवको संसारके विषयोंने कभी अपने नीचे दबाया नहीं, रौंदा नहीं।

किसी भी विषयने उद्धवकी इन्द्रियोंको खींचकर कुपथगामी नहीं बनाया। इसलिए उद्धव ईश्वर हैं, प्रभु हैं और ज्ञानके अधिकारी हैं।

वैसे सम्प्रदाय-परम्परामें यह माना जाता है कि जैसे मन्दिरमें मुख्य मूर्तिके साथ-साथ किसी अवसर विशेषपर जुलूस निकालनेके लिए उत्सवमूर्ति रहती है, वैसे ही उद्धवजी भगवान्‌की उत्सव-मूर्ति हैं। इसीसे श्रीकृष्ण व्रजमें स्वयं नहीं लौटे, उद्धवको भेज दिया, क्योंकि उत्सवमूर्तिके जानेसे भी काम चल जाता है। उद्धव शब्दका अर्थ है हवन आदिके द्वारा प्राप्त होनेवाले पुण्यफलकी अपेक्षा उत्कृष्ट फल। 'उत्कृष्टः हवात् हवनात्—हवनादि' यज्ञ-यागादिरूप जो धर्म हैं, उनसे भी यह उत्कृष्ट हैं। अथवा उत् कहते हैं परमात्माको, सत्यको और 'धव' कहते हैं स्वामीको। 'उत् उत्कृष्टः परमात्मा श्रीकृष्णः धवो यस्य स उद्धवः' अर्थात् श्रीकृष्ण जिसके स्वामी परमेश्वर हैं, जो एकमात्र परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानता है, वह उद्धव है।

तो, श्रीकृष्णके संकल्पके अनुसार लोगोंको ज्ञानदान करनेके लिए उद्धवजी रह गये और उनकी आज्ञासे बदरीनाथ जाकर अपना काम करने लगे।

विदुरजीने भी कहा है कि यदि परमात्मा श्रीकृष्ण चाहते तो अपने श्रीविग्रहको हमेशाके लिए मर्त्यलोकमें ही रख लेते। उनको ऐसी क्या जरूरत पड़ी कि उन्होंने अपने श्रीविग्रहका संवरण किया ? वे क्यों गोलोकमें गये या ब्रह्मरूपमें स्थित हो गये ? इसका उत्तर विदुरजीको यह मिला है कि 'मर्त्ये न किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्' जो स्वरूपमें स्थित पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं, उनको यह दिखानेके लिए कि आकारका, रूपका, आभासका, कोई महत्त्व नहीं—श्रीकृष्णने अपने श्रीविग्रहका परित्याग किया। मरनेवाली चीजको यदि श्रीकृष्ण रख लें तो दूसरे ज्ञानी भी कहते कि श्रीकृष्णके समान हम भी अपने शरीरको रखेंगे। तब सबलोग अपने-अपने शरीरके प्रति मोही हो जाते और उससे किसीको भी वैराग्य नहीं होता। इसलिए श्रीकृष्णने कहा कि ज्ञानियो, हम अपना शरीर नहीं रखते, तुम भी अपना शरीर बनाये रखनेका मोह मत करना। जब ब्रह्माका शरीर भी एक दिन गिर जाता है तब ब्रह्माकी बनायी हुई सृष्टिमें किसका शरीर रहेगा ? अतः भगवान्‌का देह-त्याग धीरोंके लिए भी धैर्यवर्धक है।

अब जब विदुरजीको उद्धवजी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णने लीला संवरण करते समय उनकी याद की थी, तब वे 'कृष्णेन मनसेक्षितम्' (३५)—प्रेम-विह्वल होकर रोने लगे और वहाँसे चलकर गंगाजीके तटपर आगये; जहाँ मैत्रेय ऋषि रहते थे।

❀

: ५ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मैत्रेय मुनि हरिद्वार-क्षेत्रमें विराजमान थे। इस हरिद्वार शब्दको लेकर शास्त्रार्थ हो गया कि यह हरिद्वार है या हरद्वार है। शैवों और वैष्णवोंने आपसमें शास्त्रार्थ कर लिया। एक बोले बदरीनाथ जानेका द्वार है, इसलिए हरिद्वार है। दूसरे बोले—नहीं, केदारनाथ जानेका द्वार है, इसलिए हरद्वार है। अब मान लो कि यह मुकदमा किसी अंग्रेजकी अदालतमें चला जाये, तो वह क्या फैसला करेगा? कहेगा कि यह हरिद्वार हरद्वार नहीं, हडद्वार है, जहाँ जाकर लोग हाड़ डालते हैं, हड्डियाँ डालते हैं। यह हँसीकी बात नहीं है। वृन्दावनमें एक मुकदमा इस बातपर लड़ा गया था कि श्रीकृष्णका मुकुट बायीं ओर झुकना चाहिए या दाहिनी ओर? वल्लभ सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदायके कट्टर लोग आपसमें लड़ गये, मुकदमा चला। जजने फैसला दिया कि न दाहिने और न बाँयें, बिल्कुल सीधा रखा करो। जब परमार्थकी बात अदालतमें जायेगी तो उसका यही नतीजा निकलेगा। इसलिए यहाँ भागवतमें न तो हरद्वार कहा गया और न हरिद्वार। दोनोंसे बचकर 'द्वारि द्युनद्याः'—गंगाद्वार कह दिया गया। मतलब यह कि गंगाजी जहाँ धरतीपर—समभूमिपर उतरती हैं, उसका यह द्वार है।

तो वहाँ जाकर विदुरने मैत्रेय ऋषिके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे प्रश्न किया कि 'सुखाय कर्माणि करोति लोकः' (२)—संसारके लोग अपने-अपने सुखके लिए जीवनभर कर्म करते हैं, परन्तु उससे न तो उन्हें सुख मिलता है और न उनका दुःख दूर होता है। अतः इस विषयमें क्या करना चाहिए, बताइये।

देखो, इस प्रश्नका उत्तर मैत्रेयजी देंगे, वह तो देंगे ही, हम इसपर विचार करें तो पाते हैं कि मनुष्यको सुख-दुःख जिस मसालेसे होता है, उस मसालेमें परिवर्तन करनेपर ही दुःख मिटेगा और सुखकी उत्पत्ति होगी। हम परिश्रमकी आगमें तपते भी रहें और कहें कि हमें ठण्ढक मिले तो कहाँसे मिलेगी? बल्कि और भी ज्यादा-से-ज्यादा दुःख मिलेगा। संसारमें मनुष्य एक तो मायाके कारण भगवान्‌से विमुख हो गये हैं और दूसरे अधर्ममें उनकी रुचि हो गयी है। अधर्ममें रुचि होनेपर दुःख होना अवश्यम्भावी है। मनुष्य जब दुःखी होता है तब घबराता है, लेकिन उसे घबराना तो तब चाहिए जब वह दुःखजनक कर्म करता है। चोरी करते समय तो मनुष्य घबराता नहीं, जब सजा मिलती है तब घबराता है। इसलिए दुःखसे बचनेका उपाय दुःखजनक कर्मोंका परित्याग है।

श्रीविदुरजी कहते हैं कि मुनिवर मैत्रेयजी! दुःखी लोगोंपर कृपा करनेके लिए ही आप जैसे जनार्दन भगवान्‌के दूत अथवा पार्षद इस धरतीपर विचरण किया करते हैं। आप कृपा करके हमको यह बतायें कि वह कौन-सा मार्ग है, जिससे हमारा हृदय भक्तिपूत हो जाय और भगवान् उसमें आकर बैठ जायँ? आप हमको तत्त्वाधिगम-सहित पुराण-ज्ञान प्रदान करनेकी कृपा करें। भगवान् अवतार लेकर क्या-क्या लीलाएँ करते हैं? कैसे योगमायाके साथ शयन करते हैं? कैसे उपसंहार करके मत्स्य आदि रूपसे क्रीड़ा करते हैं? कैसे लोक-परलोककी सृष्टि करते हैं? मैंने व्यास आदिके मुखसे बहुत कुछ सुना है और बहुत व्रत किये हैं। तृप्ति भी हो गयी है। परन्तु 'तेषामृते कृष्णकथा-मृतौघात्' (१०) – भगवान् श्रीकृष्णकी नित्य-नूतन, रसमयी; मधुमयी, लास्यमयी कथासे तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इससे तो अमृतकी तरंग-पर-तरंग प्रवाहित होती रहती है।

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति॥ ११

भगवान्‌के अभिधानसे, नामसे, चरित्रसे, कीर्तनसे भला किसको तृप्ति हो सकती है? बड़े-बड़े सत्संग होते हैं तथा आप-सरीखे महात्मा लोग उसका गान करते हैं और जब वह मनुष्योंके कर्ण-रन्ध्रोंमें प्रवेश करता है तब उनकी संसारासक्तिको काट देता है। यहाँ देखो, भगवद्‌गुणानुवादकी महिमा! सृष्टिका यह नियम है कि धर्मका फल कर्ताको मिलता है। जैसे मैं यहाँ आपको भागवत सुना रहा हूँ; तो कर्म हो रहा है या नहीं? जिह्वा वाक् भी तो कर्मेन्द्रिय है। कान कर्मेन्द्रिय नहीं,

ज्ञानेन्द्रिय है। इसलिए भागवत सुनानेका फल केवल वक्ताको ही मिलना चाहिए, परन्तु ऐसी बात नहीं। फल श्रोताको मिलता है। हरड़ लगे न फिटकरी रंग चोखा आये—इस कहावतके अनुसार श्रोताको न पैसा देना पड़े, न व्रत करना पड़े, और न कोई दान-धर्म करना पड़े और बिना प्रयासके ही बात घुसती हजारों श्रोताओंके कानोंमें। क्योंकि कानका छेद तो खुला हुआ ही होता है, उसमें यह भगवत्कथा घुस जाती है और देह-गेहमें बैठी हुई प्रीतिसे मनुष्यके मनमें वैराग्य उत्पन्न करा देती है।

भगवान् व्यासजीने महाभारतकी रचना करके भगवद्गुणानुवाद किया है। उसके बीच-बीचमें लौकिक कथाएँ कह-कहकर अन्तमें भगवत्कथाकी ओर ही लोगोंकी बुद्धि खींची गयी है। देखो संस्कृत भाषामें सदानन्द यतिका लिखा एक 'महाभारत-तात्पर्य-प्रकाश' नामक ग्रन्थ है। उसमें आदि-पर्वसे लेकर अन्तिमपर्वतक यह बात बतायी गयी है कि प्रत्येक कथाका अभिप्राय भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें है—श्रीकृष्णके महत्त्वमें है। श्रीकृष्णमें ही सम्पूर्ण कथाका तात्पर्य है। लेखकने उसमें ऐसी युक्तियाँ देकर अपना पक्ष सिद्ध किया है कि लोग उसकी प्रतिभा देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

तो महाभारतका तात्पर्य भी भगवान् और भगवान्‌की भक्तिमें ही है। जब मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌की कथामें जाती है, तब उनको दूसरे विषयोंसे वैराग्य हो जाता है और भगवान्‌के चरणार-विन्दकी स्मृतिमें आनन्दका अनुभव होनेपर सारे दुःख मिट जाते हैं। जो लोग भगवान्‌की कथाके श्रवणसे विमुख हैं, उनके बारेमें कहना पड़ेगा कि उनका पाप उनके कानके छेदमें डेरा डालकर बैठा हुआ है और उसीके कारण वे कथा-श्रवण नहीं करते। ऐसे लोगोंकी आयु निरन्तर क्षीण हो रही है, वे व्यर्थ बोलते हैं, व्यर्थ चलते हैं और व्यर्थकी बातें अपने दिमागमें भरते रहते हैं। उनका जीवन बिल्कुल व्यर्थ हुआ जा रहा है।

विदुरजीने कहा कि आप तो हमको भगवत्कथा ही सुनाइये। 'हरेः कथामेव कथासु सारम्' (१५) —जितनी भी कथाएँ हैं उनमें भगवान्‌की कथा ही सार है।

मैत्रेयजीने कहा कि विदुर, तुम सचमुच साधु हो। केवल अपने लिए प्रश्न नहीं करते, सबके लिए करते हो। तुम साधु हो, तुम्हारा प्रश्न साधु है और तुम साधु लोगोंपर अनुग्रह कर रहे हो। 'साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता' (१८)— अर्थात् तुम्हारा अनुग्रह भी साधु, तुम भी साधु और तुम्हारा प्रश्न भी साधु। यहाँ एक अर्द्धालीमें साधु शब्दका प्रयोग तीन बार हुआ है। असलमें तुम अपने प्यारे श्रीकृष्णकी कीर्तिका विस्तार करना चाहते हो। तुम्हारे लिए यह कुछ आश्चर्य नहीं। व्यासजीने स्वयं अपने हाथसे लिख-लिखकर, पुराण बना-बनाकर श्रीकृष्णकी कीर्तिका विस्तार किया। तुम उन्हींके वीर्यसे पैदा हुए हो। इसलिए बेटेके रूपमें बापका काम कर रहे हो। तुम तो साक्षात् धर्म हो। बारह महाभागवतोंमें-से एक तुम हो। माण्डव्यके शापसे तुम यहाँ विदुरके

रूपमें प्रकट हुए हो। तुमसे तो भगवान् बहुत प्यार करते हैं। वे जाते समय मुझसे कह गये कि जब विदुर आयें तब उनको हमारे ज्ञानका उपदेश करना। इसलिए अब मैं तुमको भगवान्‌की लीला सुनाता हूँ।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि प्रत्येक लीलाके प्रारम्भमें एक परमात्मा ही ज्ञानस्वरूप होता है। उसी ज्ञानस्वरूपका विलास यह दृश्य-प्रपञ्च है। जड़से ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि जड़से ज्ञानकी उत्पत्ति हुई तो ज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्व जड़ नामकी कोई चीज थी—यह सिद्ध नहीं होगा। बिना ज्ञानके, 'यह जड़ है'—कैसे सिद्ध होगा? ज्ञानसे ही तो जड़ सिद्ध होता है। हमारे वैदिक लोग बड़ी बढ़िया बात कहते हैं। साधारण गाँवके लोग सुनें तो आश्चर्यचकित हो जायें। ज्ञानको ईश्वरने बनाया कि नहीं बनाया? यदि कहें कि ज्ञानको ईश्वरने बनाया तो ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वरमें ज्ञान था कि नहीं? यदि नहीं तो ईश्वर अज्ञानी हो जायेगा। इसलिए ज्ञान ईश्वरने बनाया नहीं; ज्ञान ईश्वरका स्वरूप ही है। ज्ञान चैतन्य है—उसकी सृष्टि ईश्वर नहीं करता। चैतन्यके बिना ईश्वरकी सिद्धि कहाँसे होगी? अज्ञानसे ईश्वरने ज्ञान बनाया, यह बात भी बिना ज्ञानके नहीं मालूम पड़ सकती। इसीसे वैदिक लोग ज्ञानको अपौरुषेय बोलते हैं। अपौरुषेय माने ईश्वरका बनाया हुआ भी नहीं और पुरुषकर्तृक भी नहीं है। यह तो अनादि है, अनन्त है, स्वतःसिद्ध है और जो इस सिद्धान्तको नहीं मानते वे वेदकी अपौरुषेयताको भी नहीं समझ सकते। यही वेद और कुरान-बाइबिलका फर्क है। इसको महापुरुष लोग जानते हैं। कुरान-बाइबिल ईश्वरकी बनायी हुई हो सकती हैं, परन्तु वेद ईश्वरका बनाया हुआ नहीं हो सकता। ईश्वरका जो स्वरूपभूत ज्ञान है, उसीका नाम वेद है। वह ज्ञान है और भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंसे रहित है। इसलिए पहली बात यह कहनी पड़ेगी कि सृष्टिके प्रारम्भमें केवल भगवान् ही थे—'भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः' (२३)।

सृष्टिमें जितने जीवात्मा मालूम पड़ते हैं, ये सब अनेक नहीं; एक होते हैं। असलमें इन सब आत्माओंका आत्मा एक ही है और उसका नाम भगवान् है। पहले वही था। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं थी। उसको दूसरा कोई दृश्य दिखाई नहीं पड़ा और ऐसा लगा कि हाय-हाय जब दूसरा कुछ दीखता ही नहीं, तब मैं क्या हूँ? उसने सद्-असदात्मिका मायाकी सृष्टि करके उसमें अपने चिदंशका—चिदाभासका आधान किया, जिससे महत्-तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। उसको जड़ताकी प्रधानतासे महत्-तत्त्व, चेतनाकी प्रधानतासे हिरण्यगर्भ, बीचकी प्रधानतासे माया और चैतन्यकी प्रधानतासे ईश्वर बोलते हैं तथा बीज-लेश-कलंक-पलंकसे रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त चैतन्यको ब्रह्म बोलते हैं, जहाँ दूसरी कोई चीज ही नहीं। यह भी सर्गका ही वर्णन है। बिना ज्ञानके जड़की सिद्धि नहीं होती। इसलिए अनुभूतिके प्रकरणमें सर्वोपरि ज्ञानका ही महत्त्व है, आत्माका महत्त्व है।

यान्त्रिक परीक्षामें सर्वोपरि जड़ताका महत्त्व है। मशीनसे होनेवाली जाँचमें अपने आपको नहीं देखते, दूसरेको देखते हैं। महत्तत्त्वसे तीन तरहके अहंकार हुए, फिर मन हुआ और फिर कर्मेन्द्रियाँ हुईं। तामस अहंकारसे सूक्ष्म भूत हुए। काल-मायांश-योगसे आकाश हुआ, आकाशसे वायु हुआ और वायुसे अग्निकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इन सबके प्राकट्यकी प्रक्रिया है।

मैं युवावस्थामें एक महात्माके पास जाता था, जो काशीसे बारह-चौदह मीलकी दूरीपर गंगाजीके किनारे मोकलपुर नामक गाँवमें कच्चा बाबाके पास रहते थे। वे समझाते हुए कहते कि तुम जो शान्त बैठे हुए हो यह शान्त आकाश है, दौड़ने लगे तो वायु है उससे पैदा हुई गर्मी अग्नि है, गर्मीसे जो पसीना हुआ सो जल है और शरीरपर जमा हुआ पसीना मिट्टी है—'आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' (तै० उप० २.१.१)। यह शास्त्रोंका अर्थ समझनेकी प्रक्रिया है। पदके साथ पदार्थका भी साक्षात्कार होता है। जहाँ अर्थका साक्षात्कार ही नहीं हुआ, वहाँ तो संशय-ही-संशय रह गया। जहाँ अर्थके साक्षात्कारका अभाव है, वहाँ केवल कलश-कुम्भ-घट आदि पर्यायवाची शब्दोंकी स्मृतिसे कोई काम बननेवाला नहीं है। जहाँ तत्-तत् पदके तत्-तत् पदार्थका, औत्पत्तिक सम्बन्धका, पद और अर्थके स्फुरणका साक्षात्कार नहीं होगा वहाँ पदार्थ कहाँसे मालूम पड़ेगा?

अब ये सब तत्त्व मिलकर एक तो हुए, परन्तु इससे ब्रह्माण्डकी रचना नहीं हो सकती थी। इसलिए उन्होंने ईश्वरकी स्तुति की 'नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्' (३८)। हे प्रभो! हम आपके चरणारविन्दकी वन्दना करते हैं। जो आपकी शरणमें आता है, उसका ताप मिटानेके लिए आपके चरण छातेका काम देते हैं। आपके चरणारविन्दकी छत्रछायामें सारे दुःख एक क्षणमें दूर हो जाते हैं। 'यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति' (३८)—जहाँ परमात्माके चरणोंमें गये कि वहीं शान्ति मिली। बड़े-बड़े ऋषि एकान्त देशमें इसको ढूँढ़ा करते हैं और प्रभुके चरणोंकी शरण लेते हैं। भक्तजन भगवान्के चरणारविन्दका ध्यान करके ज्ञानसे धीर हो जाते हैं।

यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या संमृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्॥ ४१

श्रद्धाके साथ श्रुतवती भक्तिका अवधान करो, मनमानी भक्ति नहीं। वेदशास्त्र-पुराणके अनुसार जो भक्ति है, वह भक्ति श्रुतवती है। शास्त्र-विरुद्ध भक्ति केवल उत्पातका कारण बनती है। उससे बहुत उपद्रव होते हैं, अभिमान आजाता है। भक्ति ऐसी होनी चाहिए जो श्रुतवती हो, वेदशास्त्र-पुराणके अनुसार हो। उसीसे हृदयका सम्मार्जन होता है, भगवान्का ध्यान होता है।

एक बात आप ध्यानमें रखें कि ज्ञान दो तरहका होता है—निर्बल और सबल। पापी लोग जब सभामें आकर बैठ जाते हैं और ज्ञानकी बात करने लगते हैं तो वह ज्ञान, ज्ञान होते हुए भी निर्बल होता है। ज्ञानका बल है-वैराग्य। जब वैराग्य होता है तब उसमें सब छोड़नेका सामर्थ्य होता है और परमात्माके पदकी प्राप्ति होती है। 'तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम्'—पीठाचार्य तो बहुत बनते हैं, परन्तु जो भगवान्‌के चरणकमल-पीठका आश्रय लेते हैं, वही उसके अधिकारी हैं।

प्रभो! हम आपके चरणोंकी शरण ग्रहण करते हैं। आप अन्तर्यामी रूपसे हमारे शरीरमें हैं, पर उसका मिलना बड़ा मुश्किल है। जो लोग इन्द्रियोंके वशमें हैं वे इसका दर्शन नहीं कर सकते। किन्तु आपके कथामृतका पान करनेवाले अपने हृदयको शुद्ध करके उस आत्मज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं, जिससे आपके परमधामकी प्राप्ति होती है—

पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥ ४५

ज्ञानका सार है—वैराग्य। वैराग्यके बिना असंगता नहीं आयेगी और दुःख नहीं मिटेगा। यदि कोई कहे कि समाधि लगानेसे दुःख मिट जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब समाधि टूटेगी तो फिर दुःख सिरपर सवार हो जायेगा। लेकिन यदि असंगता आजाय तो चाहे समाधि हो, चाहे दुःख हो, चाहे सर्दी हो, चाहे गर्मी हो दुःखका आत्यन्तिक निवारण हो जायगा। असलमें वैराग्य ही—असंगता ही ज्ञानका सार है। कई लोग समाधिके द्वारा अपनी बलिष्ठ प्रकृतिपर विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु उनको फिर संसारमें आना पड़ता है। लेकिन यदि हृदयमें भगवद्-भक्ति आजाय तो उसमें दुःख भी सुख हो जाता है! कोई चाँटा मार दे तो ऐसा लगेगा कि यह हमारा दुश्मन है, लेकिन बादमें मालूम हो जाय कि यह तो हमारा दोस्त है, इसने हँसी-हँसीमें मारा है तो वह दुःख मिट जाता है। असलमें दुनियाके लोग मारनेवालेको पहचानते नहीं, इसीलिए दुःखी होते हैं। यदि वे पहचान जाएँ कि इस दुःखके पीछे कौन है तो उनको कोई दुःख होनेवाला नहीं।

सो, हम हमेशा आपकी पूजा करते रहें। हमारे आदि तो आप ही हैं। आप ही हमारे पूर्वज हैं। आपसे ही हम लोगोंका वंश चला है। अब प्रभो! जिस कार्यके लिए हमारी उत्पत्ति हुई है, उसे करनेकी शक्ति हमें दीजिये।

: ६ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि इस प्रकार महद् आदि तत्त्व अलग-अलग भगवान्की स्तुति करने लगे। फिर भी जब वे सृष्टि-रचनाका काम प्रारम्भ न कर सके, तब भगवान्ने स्वयं उनके अन्दर प्रवेश किया और उनको एकमें मिला दिया, जिससे विराट् शरीरका जन्म हुआ। बहुत कालतक विराट् जलके भीतर अण्डकोशमें रहा। फिर भगवान्ने उसमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीन विभाग किये और दस प्राणोंके रूपमें प्रवेश किया। इसके बाद भगवान्ने अपने मनमें संकल्प किया कि सब लोग अपना-अपना काम करें। उन्होंने सबके लिए स्थान आदिका निर्माण कर दिया। सबसे पहले मुख निर्मित हुआ—जिसमें अग्नि देवताके रूपमें, वाक् इन्द्रियके रूपमें और वक्तव्य विषयके रूपमें प्रविष्ट हो गया; जिसके द्वारा जीव शब्दोच्चारण करता है। इसके बाद तालु बना, जिसमें वरुण देवता, जिह्वा इन्द्रिय एवं रस विषयका प्रवेश हुआ जिससे जीभको स्वादका ज्ञान होता है। उसके बाद नासिका बनी, जिसमें अश्विनीकुमार देवता, घ्राण इन्द्रिय एवं गन्ध विषयका समावेश हुआ, जिससे गन्ध सूँघा जाता है। इसके बाद आँखें बनीं, जिनमें नेत्रेन्द्रिय सहित सूर्य देवता प्रविष्ट हुए, जिनसे विषयोंका ज्ञान होता है। इस प्रकार शरीरमें जितनी भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन सबकी उत्पत्ति हुई। उनमें उनके देवता और विषय आकर बैठ गये और वे सब-के-सब चित्शक्तिके अनुग्रहसे अपना-अपना काम करने लगे। ऊपरके सातों लोक, नीचेके सातों लोक, चारों वर्ण और चारों

आश्रम सब-के-सब परमात्माके श्रीविग्रहसे प्रकट हुए, जो अपने-अपने धर्मका पालन करके अपने पिताकी, स्वामीकी सेवा करते हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार ईश्वर ही सम्पूर्ण जीव-जगत्का पिता है। उसने सबको पैदा किया है, इसलिए सबका पिता है और वही सर्वशक्तिमान् होनेसे सबका संरक्षण करता है, इसलिए स्वामी है। वही सबका गुरु है, सबका प्रियतम है। वही आनन्दरूप होनेसे प्रियतम है, चिद्रूप होनेसे गुरु है और सद्रूप होनेसे माँ-बाप है। ईश्वरके बारेमें आप यह बात बराबर ध्यानमें रखें कि वह बिल्कुल एक है, अद्वय है।

जो अपने गुरु, माता-पिता, स्वामी और प्रियतमसे प्रेम न करे, भक्ति न करे, उसका अधःपतन हो जाता है। मनुष्योंको अपने धर्मके द्वारा परमेश्वरकी ही आराधना करनी चाहिए। सब लोग अपने-अपने दरवाजेके सामने झाड़ू लगायें तो गाँव साफ रहेगा और अपने दरवाजेका कूड़ा दूसरेके दरवाजेपर फेंकेंगे तो गाँवकी सफाई नहीं होगी। अपना दरवाजा साफ करनेके साथ-साथ गाँवकी सफाईका भी ध्यान रखना—यही सर्वात्माका ध्यान है। सबमें एक परमात्माका दर्शन करना ही आराधना है।

मैत्रेयजी कहते हैं कि इसका वर्णन कौन कर सकता है? फिर भी मैं यथामति और यथाधीत वर्णन करता हूँ। 'कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं, गिरमन्याभिधासतीम्' (३६)—विदुरजी, यह हमारी जीभ दुनियाकी चीजोंका नाम लेते-लेते कुलटा हो गयी है। इसको शुद्ध करनेके लिए ही हम भगवद्गुणानुवादका वर्णन करते हैं, जिससे कि यह पवित्र हो जाय।

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम्॥ ३७

मनुष्यको जो जीभ मिली है, वाणी मिली है, इसका एकमात्र लाभ यही है कि इससे सुश्लोक-मौलि भगवान्का गुणानुवाद हो। कान मिलनेका एकमात्र लाभ यही है कि जब महात्मा लोग भगवान्के गुणानुवादका वर्णन करें, तब हम उस अमृतको अपने कानोंके प्यालेमें भर-भरकर पीते जायँ, पीते जायँ। भगवान्की माया बड़ी मोहिनी है। इसको जब ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते तो दूसरे क्या जानेंगे? हमारी तो यह वाणी भी मनके साथ जाकर लौट आती है। जिनका पार पानेमें रुद्रादि देवता समर्थ नहीं हैं, हम उन श्रीभगवान्को नमस्कार करते हैं।

❀

: ७ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि मैत्रेयजीकी बात सुनकर विदुरजी बहुत ही प्रसन्न हुए— 'प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत' (१)। कभी-कभी श्रोता ऐसी बात कह देता है, जिससे वक्ताको बड़ा आनन्द आता है कि मैंने जितनी बात कही उससे ज्यादा इसने समझ ली। विदुरजीने कहा कि महाराज, परमात्मा तो चिन्मात्र है और चिन्मात्र साक्षी होता है, विकारी नहीं होता। जो विकारी होता है वह साक्षी नहीं होता। जो ज्ञानमात्र आत्मा है, परमात्मा है, वह तो निर्विकार है। वही परमात्माका स्वरूप है। वह निर्गुण है, उसमें न विषय है, न इन्द्रिय है, न वृत्ति है, न अन्तःकरण है और न त्रिगुणमयी प्रकृति है। फिर वह सारी दुनियाको कैसे बनाता है? यदि कहें कि खेल-खेलमें बनाता है तो खेलनेका काम बच्चा करता है। गम्भीर परमात्मा कैसे खिलाड़ी होगा? क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः' (३)—आखिर यह खेलना भी एक प्रकारका काम ही तो है। 'स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः' (३)। जो परमात्मा स्वतः तृप्त है और दूसरेसे बिलकुल निवृत्त है, उसमें खेलनेकी इच्छा भी कहाँसे आयेगी?

असलमें कभी-कभी अध्याससे दो चीजोंको एक चीज मान लिया जाता है। जैसे 'देहोऽहम्'—

'मैं देह हूँ'—यह अध्यास है और 'ब्रह्मैवेदं विश्वं वरिष्ठम्'–ब्रह्म और विश्व एक है–यह बाधसामानाधिकरण्य है। यह विश्व बाधित है और परमात्मा सत्य है। 'एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा' (छान्दोग्य ७.२६.२)—यह कार्य-कारणादि-सामानाधिकरण्य है। कहीं-कहीं विशेषण-विशेष्यसे सामानाधिकरण्य होता है। परमात्मामें यह विश्वसृष्टि कहाँसे आयी? मायाके सिवाय देश-काल-अवस्थासे स्वयं परमात्मामें सृष्टि है। यदि दूसरेसे परमात्मामें सृष्टि है तो देशसे है, कालसे है, अवस्थासे है। जिसके बोधका कभी लोप नहीं होता, उसमें माया कहाँसे आयेगी, अविद्या कहाँसे आयेगी? एक ही परमात्मा जब सबमें है तो कहीं सुख, कहीं दु ख कैसे हो गया?

एतस्मिन्मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे।
तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥ ७

दुःख इस बातका नहीं कि रुपया चला गया या रिश्तेदार मर गया; दुःख इस बातका है कि हमारे मनमें स्पष्टरूपसे परमात्माका दर्शन नहीं हो रहा है और हमारी बुद्धि परमात्माको समझ नहीं रही है। कृपा करके हमारे प्रश्नका समाधान कीजिये।

अब मैत्रेयजी महाराज बोले—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥
यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः, स्वशिरश्छेदनादिकः ॥
यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः ॥ ९-११

विदुरजी, माया इसीका नाम है कि जो युक्तिसे तो सिद्ध न हो और देखनेमें साफ आये। जादूगर जादूका खेल खेलता है तब यही उसकी विचित्रता है कि आँखसे तो वह खेल दिखाई पड़ता है, लेकिन जब बुद्धिसे सोचते हैं तो कुछ सिद्ध नहीं होता। माया अनिर्वचनीय है, परन्तु आवरण करती है। वह युक्तिसे सिद्ध होनेवाली नहीं, किन्तु ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है। ईश्वर तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, उसमें कार्पण्य कहाँ, बन्धन कहाँ? बिना कार्पण्यके, बिना बन्धनके, जो कार्पण्य और बन्धनकी प्रतीति हो रही है, इसीका नाम माया है। जैसे सपनेमें कभी दीखे कि हमारा सिर कट गया। अरे, यदि तुम्हारा सिर कट गया होता, तुम मर गये होते तो देखते कहाँसे? तुम हो, इसीलिए तो देख रहे हो। युक्तिसे तो सिर कटना सिद्ध नहीं होता, पर सिर कटना दीख रहा है, यही निद्रादोषसे सपनेमें दीखनेवाली माया है। जैसे हिलता है जल और काँपता हुआ मालूम पड़ता

है चन्द्रमा। इसी प्रकार जो प्रतीतिमें कम्पन दीखता है वह अपने आत्मामें आरोपित हो जाता है। इसको दूर करनेके लिए एक क्रम है, एक प्रक्रिया है, एक सम्प्रदाय है। मनमाने ढंगसे यह दूर नहीं होता, बल्कि उससे तो अहंकार बढ़ता है। जब भगवान्‌की कृपासे निवृत्ति-धर्ममें रुचि होती हैं, तब इसका लोप हो जाता है। जब सारी इन्द्रियाँ जाकर अपने आधार प्रकाशकमें स्थित हो जाती हैं तब सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा॥ १४

दुनियादार लोग तो न जाने कितने क्लेश मानते हैं। परन्तु, हमारे योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन्हींको पाँच क्लेश कहा गया है। दूसरे शब्दोंमें इनको नासमझी, अभिमान, मुहब्बत, नफरत और अपनी मृत्युके डरसे डरना कहते हैं। इन क्लेशोंके निवारणका उपाय है भगवान् मुरारिके गुणानुवादका श्रवण। आपके दिलके भीतर जो नाना प्रकारकी वासनाएँ मुड़े हुए काँटेदार तारोंकी तरह मुर्राती रहती हैं, गड़ती रहती हैं, उनके दुश्मनका नाम है मुरारि। वे आपकी वासनाको सीधे एक दिशामें कर देनेवाले हैं। उनके गुणानुवादका आप श्रवण करें। भगवान्‌की कथा सम्पूर्ण क्लेशोंको मिटा देती है और यदि कथा-श्रवणके साथ-साथ भगवान्‌के चरणोंमें आपकी प्रीति हो जाय तो कहना ही क्या?

अब विदुरजीने मैत्रेयजीसे कहा कि महाराज, आपने तो एक ही चोटमें सारी शङ्का मिटा दी। अब मैं समझने लगा कि सृष्टि-प्रपञ्चका जो खेल है, यह सब बिना हुए ही हो रहा है। यह सारा-का-सारा खेल मायाका ही है—'आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः' (१६)।

वस्तुतः प्रतिमा तोड़कर मिट्टी नहीं पहचानी जाती। घड़ा रहते ही मिट्टी पहचानो, जेवरकी शक्ल-सूरत ज्यों-की-त्यों बनी रहे और सोनेको पहचान लो। इसी तरह यह प्रपञ्च ज्यों-का-त्यों भासता रहे और इसमें जो परमात्माका स्वरूप है, वह पहचानमें आजाये। इसीका नाम ज्ञान होता है। जब मालूम ही नहीं पड़ेगा, तब समाधि कैसे लगेगी? जब प्रलय हो जायेगा तब पहचानोगे? वह पहचानना किस कामका? वह पुरुषार्थ नहीं होगा। पुरुषार्थ तो तभी होगा जब अभी पहचान लोगे।

विदुरजीने कहा कि भगवन्, आपकी कृपासे मुझे यह निश्चय हो गया कि ये अनात्म-पदार्थ वस्तुतः हैं नहीं, केवल प्रतीत होते हैं। अब मैं आपके चरणोंकी सेवासे उस प्रतीतिको भी दूर भगा दूँगा। आपके इन श्रीचरणोंकी कृपासे नित्यसिद्ध भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणोंमें प्रेम होता है, आनन्दकी वृद्धि होती है और आवागमनकी यन्त्रणाका नाश होता है। भगवान्‌की भक्ति आनेपर सारे

दुःख मिट जाते हैं। परन्तु इस ओर मनुष्यका लगना बहुत कठिन है। असलमें जहाँ हरिकथा होती है वहीं जनार्दन भगवान् रहते हैं।

विदुरजी पुनः बोले—भगवन्, आपने बताया कि भगवान् विराट्-रूपसे प्रकट हो गये। उन्हींमें-से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड, ब्रह्माजी और ये सारे प्राणी आदि निकले। अब आप कृपा करके उनके वंश, वंशानुचरित आदि सबका वर्णन करें! भगवद्गुणानुसार—वर्णाश्रम ऋषियोंके जन्म, कर्म, वेदोंके विभाग, यज्ञोंके विस्तार, योग, ज्ञान और सांख्यके मार्ग, पाखण्ड-प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाली विषमता आदिका भी वर्णन करें।

इस प्रकार विदुरजीने न केवल अपने लिए, बल्कि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके लिए जितने भी उपयोगी प्रश्न हैं सब कर दिये और कहा कि इन सबका समाधान आप कर दीजिये, इससे जीवोंको अभयदान मिलेगा।

देखो, यह नहीं समझना चाहिए कि रोटीका सदावर्त, कपड़ेका सदावर्त अथवा द्रव्यका वितरण ही सबसे बड़ा दान होता है। सबसे बड़ा दान तो यह है कि मनुष्यके मनमें जो तरह-तरहके भय समाये हुए हैं, जिनके कारण मनुष्य पागल हो रहा है, उस भयको दूर कर दिया जाये।

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि॥ ४१

सारे वेदोंका अध्ययन, यज्ञ, तप, दान, ये सब मिलकर एक ओर और एक जीवको अभयदान दे देना दूसरी ओर, अन्य जितने भी पुण्य हैं वे सब एक साथ मिलकर भी अभयदानके पुण्यकी बराबरी नहीं कर सकते। इसीलिए गोपियोंने यह घोषित कर किया कि—'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः (१०.३१.९)।' जो भगवान्‌की लीला-कथाका दान करता है; वही सबसे बड़ा दाता है। उसके बराबर दूसरा कोई दाता नहीं। दूसरे दाताओंमें कोई भूख मिटानेवाला दाता है, कोई जाड़ा मिटानेवाला दाता है, कोई रोग मिटानेवाला दाता है; किन्तु भगवान्‌की रसीली कथाका दाता हृदयके भयको मिटानेवाला है। इसलिए उससे बढ़कर दूसरा कोई दाता नहीं है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, विदुरजीके प्रश्नोंसे मैत्रेयजी बहुत प्रसन्न हुए और मुस्कुराकर उत्तर देने लगे।

ॐ

: ८ :

मैत्रेयजी बोले—विदुर, तुम पूरुवंशमें प्रकट हुए हो, परम भक्त हो और भगवान्‌की कथाको नित्य नूतन बनाते हो। देखो, संसारके ये प्राणी आये थे अपने पुण्यका फल भोगनेके लिए, थोड़ा-सा सुख पानेके लिए, लेकिन उलटे वे तो ऐसे जालमें फँस गये, जिसका कहीं अन्त ही नहीं है। उन्हें तो और चाहिए, और चहिए, और चाहिएकी भूख बढ़ती जा रही है। ऐसे ही लोगोंके लिए मैं पुराणका वर्णन करता हूँ।

एक दिनकी बात है, तत्त्वज्ञानकी इच्छासे सनकादि ऋषि भगवान् संकर्षणके पास पहुँचे। देखो, हमारे अन्तःकरणमें जो अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ हैं, उन्हींके शुद्ध सात्त्विक और चैतन्य स्वरूपको सनकादि बोलते हैं। वे ब्रह्माके मानस पुत्र हैं। वे स्थूल शरीरधारी, पाञ्चभौतिक शरीरवाले नहीं हैं। ज़ब सनकादि पाताल-लोक गये तो उन्होंने वहाँ देखा कि भगवान् संकर्षणकी सबलोग पूजा कर रहे हैं और वे कृपा-दृष्टिसे सबको देख रहे हैं। नागकुमारियाँ उनकी सेवा कर रही है और बड़े-बड़े महात्मालोग उनकी स्तुति कर रहे हैं। सनकादिने भगवान्‌को प्रणाम किया और तत्त्वज्ञानकी जिज्ञासा निवेदित की। उसी समय भगवान् संकर्षणने निवृत्ति-धर्मप्रेमी सनत्कुमारसे इस भागवतका वर्णन किया फिर सनत्कुमारने सांख्यायनको, सांख्यायनने पराशरको और पराशरने बृहस्पतिको इसका उपदेश किया। पराशरने ही मुझे भी सुनाया और वही आज मैं तुमको सुनाता हूँ।

भगवान् माया-विनोदको छोड़कर शयन किये हुए हैं। उनकी आँखें अधखुली हैं। लक्ष्मीजी पाँव दबा रही हैं। सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो बीजभूत है, वह उनकी शय्या है। गलेमें कौस्तुभमणि है। चारों ओर दूधका समुद्र है। इसीसे सारी सृष्टिको दूध मिलता है। गायका दूध, भैंसका दूध, बकरीका दूध, पेड़का दूध, अँगूरका दूध, जौका दूध, गेहूँका दूध सब वहींसे आता है। जैसे बेतार-का-तार होता है, वैसे ही बिना नलके ही भगवान् दूध भेज देते हैं। बच्चा होनेके पहले ही माँके स्तनमें दूध आजाता है। यह प्रकृतिका नियम है। आपने प्रकृति देखी है? नहीं, आपने प्रकृति भी नहीं देखी। उसकी भी आप कल्पना ही करते हैं। यदि प्रकृति देखते तो ईश्वरको भी देख लेते, क्योंकि वह ईश्वरकी ओरसे ही आती है।

तो, भगवान्‌ने योगनिद्रामें बहुत दिनतक शयन करते-करते देखा कि उनके शरीरमें अनन्त

लोक लीन हैं। जब उनकी इच्छा लोक-निर्माणकी हुई तब उनकी नभ-सदृश नाभिके अवकाशमें-से एक कमल पैदा हुआ। कमल क्या है? असलमें यह जलका ही मल है। कमल सुखका कहो या जलका कहो, एक मल ही है। उससे जल प्रकाशित होने लगा। कमल जिनसे पैदा हुआ, उनका नाम विष्णु है। उसी कमलपर ब्रह्मा प्रकट हुए। वे भी भगवान्‌के ही एक रूप हैं। शयानरूप भी परमात्मा ही है, वह नाभि भी परमात्मा ही है, कमल भी परमात्मा ही है और ब्रह्मा भी परमात्मा ही है।

कमलमें लोकोंको देखनेके लिए ब्रह्माने चारों ओर देखा तो उनके चार मुख हो गये। पहले कोई वस्तु होती है तब उसके चार ओर होते हैं। पहले चार ओर हों और फिर वस्तु हो; सो नहीं। कालकी रचना भी—उसका भूत-भविष्य भी तब होता है जब वस्तु पहले पैदा हो लेती है। इसीसे काल, देश, वस्तुको कोई अलग-अलग नहीं कर सकता, तीनों एकमें ही होते हैं। अब ब्रह्माजी ढूँढने लगे कि कमल कहाँसे पैदा हुआ? क्या इसके नीचे कुछ है? वे कमलकी नाली अथवा नाड़ीमें-से भीतर घुस गये। उन्होंने सैकड़ों वर्ष ढूँढा, कुछ नहीं मिला। उसके बाद वे ऊपर लौट आये और कमलपर बैठकर समाधिस्थ हो गये। देखो, ऊपर-नीचे ढूँढनेसे परमेश्वर नहीं मिलता। एक मत ऐसा है जिसमें कहते हैं कि वैखरी वाणी, मध्यमा वाणी, पश्यन्ती वाणी और परावाणीके मूलाधारमें जाकर परमात्माके साथ एकताका अनुभव करो। एक मतके अनुसार मूलाधारसे स्वाधिष्ठानमें, फिर मणिपूरमें फिर अनाहतमें, विशुद्धमें, आज्ञामें और फिर सहस्रारमें ऊपर जाकर परमात्माको प्राप्त करो। अब यदि इनसे पूछिये कि परमात्मा ऊपर होता है कि नीचे? अरे, जैसे तुम्हारे गुरुने बता दिया है वैसे ही तुम ध्यान करो, उसीमें तुम्हारा मङ्गल है। परमात्माको ऊपर-नीचे मत करो। वह ऊपर भी रहता है, नीचे भी रहता है। यह ऊपर-नीचे तो उसके साक्षात्कारकी एक प्रक्रिया है।

जब ब्रह्माजीने ध्यान लगाया तो जो चीज सैकड़ों वर्षोंमें नहीं मिली थी, वह ध्यान लगाते ही हृदयमें मिल गयी। परमात्मा अगर किसीके सबसे निकट है तो अपने आपके है। अगर तुम अपने 'मैं'के पास पहुँच जाओ तो परमात्माका मिलना बिलकुल आसान हो जाय। ब्रह्माजीने देखा शेष-शय्यापर एक श्याम-वर्ण वनमाली; पीताम्बरधारी पुरुष शयन कर रहा है। तीनों लोक उसके शरीरमें हैं। वह भजन करनेवालेको सब कुछ दे रहा है, मुस्करा-मुस्कराकर अपने भक्तोंका सम्मान कर रहा है और वस्त्राभरणसे अभिभूषित है। इसप्रकार ब्रह्माजीको भगवान्‌का दर्शन हुआ और दर्शन होनेपर उनको लोक विसर्गकी दृष्टि हो गयी! उन्होंने देखा कि सब कुछ यहीं हैं। उन्होंने अपना मन भगवान्‌में लगाया और उनकी स्तुति करने लगे।

: ६ :

जब कोई बात मनमें आती है तो उसके साथ शब्द भी आजाता है। एक जगह ऐसी भी होती हैं, जहाँ मनमें वस्तु तो होती है परन्तु शब्द नहीं रहता। शब्दकी गति सगुण ब्रह्मके साक्षात्कार-पर्यन्त—सगुण ब्रह्मके स्वरूपतक ही है। स्तोत्र शब्द ब्रह्मका ही वाचक हैं। ब्रह्माजी भगवान्‌को पहचान गये और उनकी स्तुति करने लगे—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि॥ १

प्रभो, दीर्घकालकी उपासनाके वाद आज मैंने आपको देखा है। आप तो बिलकुल अद्वय हैं—एक हैं। मायाके गुण-क्षोभके कारण ही आप हमें अनेक रूपोंमें भासते हैं। आपका रूप उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही है। मैं आपकी जिस नाभिसे प्रकट हुआ हूं, वह सैकड़ों अवतारोंका हेतु है। आपके भेदरहित आनन्द-स्वरूपके सिवाय दूसरी किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है; इसलिए मैं आपकी शरण ग्रहण करता हू। आपके भुवन-मंगल रूपको जिसका दर्शन साधकोंको ध्यानमें होता हैं, हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।

देखो, कई लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान्‌के सगुण-साकार रूपका अनादर करते हैं। उनके लिए यहाँ बताया गया कि वे लोग कैसे होते हैं?

'नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः' (४)—पहली बात यह है कि जो भगवान्‌के साकाररूपका अनादर करते हैं, उनका सङ्ग बिगड़ गया है, वे दुष्टोंके संगमें पड़ गये हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसे लोगोंको नरकमें जाना है। यदि वे भगवान्‌के साकार रूपका अनादर नहीं करेंगे तो नरकमें कैसे जायेंगे? नरकका दरवाजा खोलनेके लिए ही वे साकार रूपका अनादर करते हैं।

'श्रुतिवातनीतम्' (५) श्रुतिकी, वेद-वेदान्तकी एक हवा चल रही है, जो आपके चरणकमलोंके कोषकी सुगन्धको फैला रही है। परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि वह सुगन्ध 'जिघ्रन्ति कर्णविवरैः' (५) नाकसे नहीं सूँघी जाती, कानसे सूँघी जाती है और फिर हृदयमें आजाती है, तब भक्तगण भगवान्के चरण-कमलोंको पकड़ लेते हैं। भगवान् कभी भक्तके हृदयको छोड़कर नहीं जाते क्योंकि वे भक्तिरूपी रस्सीसे बँध गये हैं। जबतक मनुष्य भगवान्के चरणारविन्दका वरण नहीं कर लेता तभीतक उसे धन, घर और सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले भय, शोक, स्पृहा, दीनता तथा लोभ आदि सताते हैं।। मैं, मेरा भी तभीतक है, दुःख भी तभीतक है--जबतक मनुष्य भगवान्के चरणोंकी शरणमें नहीं जाता। जो भगवान्के चरणारविन्दके प्रेमी भक्तोंका सत्सङ्ग नहीं करता, वह बराबर उनसे विमुख रहकर सृष्टिमें बुरे-बुरे काम करता रहता है।

भगवन्! भूख-प्यास आदि सबको लगे हुए हैं। सबके भीतर कफ, वात, पित्त, गर्मी-सर्दी और कामकी आग जल रही है। संसारकी यह दशा देखकर हमारा मन बहुत दुःखी है। जबतक मनुष्य भगवान्की चरणोंकी शरणमें नहीं जायेगा और उसकी भेद-बुद्धि शान्त नहीं होगी, तबतक उसको सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। लोगोंकी दशा तो देखिये! 'अह्न्या पृतार्तकरणा' (१०)—वे दिन भर तो अपनी इन्द्रियोंको काममें लगाये रहते हैं, 'यह करना है, वह करना है,' इस प्रकार व्यापारकी अधिकतासे उनकी इन्द्रियाँ श्रान्त रहती हैं। रातको सो जाते हैं। जब जागते हैं तब उनके मनमें नाना मनोरथ आते हैं। कभी-कभी ईश्वर एवं उनका भाग्य भी उनकी अर्थ-रचनाके विपरीत हो जाता है। औरोंकी बात तो छोड़िये, यदि ऋषि-मुनि भी भगवान् और उनके भक्तोंके विमुख हो जायें तो उन्हें संसारमें भटकना पड़ता है।

देखो, हमने देखा है और नाटकोंमें भी पढ़ते हैं कि जब राजा-महाराजा चलते हैं तब कई लोग उनके आगे-पीछे चलते हैं और यह कहते हुए कि महाराज, इधरसे पधारिये—उन्हें मार्ग दिखाते हैं। इसी तरह भगवान्को हमारे हृदयमें कौन ले आयेगा? श्रवण ले आयेगा। हमारा श्रवण ही भगवान्को रास्ता बताते हुए कहता है कि प्रभो! आप इधर पधारिये, इधर पधारिये! श्रवण कहता है कि प्रभो! जिस कानमें हम घुस रहे हैं, उसीमें आप भी आकर घुस जाइये!

'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति' (११)—इस संसारमें न जाने कितने रूप हैं, कितनी आकृतियाँ हैं, कितनी पोशाकें हैं। किन्तु भक्त जैसा कह देता है भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। सीधे-सादे भगवान्को न तो किसीसे ममता है और न कोई अभिमान है, न आग्रह है। भक्तने कहा कि टेढ़े बन जाओ तो टेढ़े बन गये, सीधे बन जाओ तो सीधे बन गये और उसी रूपमें आकर हृदयमें बैठ गये। यह सब क्यों? केवल अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए। मैंने सुना है कि कहीं-कहीं एक-एक दिनमें सौ-सौ मन चावलोंका भोग लग जाता है। अब बताओ, यदि सैकड़ों-हजारों मन

खाद्यान्नके छप्पनों भोग, छत्तीसों व्यञ्जन तैयार करके भगवान्‌के सामने रख दिये जायें तो क्या खुश हो जायेंगे और कहेंगे कि अबतक हम गरीब थे, भूखे थे, आज धनी हो गये, हमारा पेट भर गया ? कभी नहीं कहेंगे। भगवान् सकाम-भावसे भोग लगानेपर प्रसन्न नहीं होते। भगवान्‌को प्रसन्न करनेका एक ही तरीका है और वह है—'यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैकः' (१२)—सब प्राणियोंपर दया करो। जब दूसरेका दुःख देखकर तुम्हारा हृदय काँपने लगता है तब भगवान् समझते हैं कि तुम्हारा हृदय उनके सामने नाच रहा है। वे खुश हो जाते हैं। दयाका भाव दुष्ट पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता—'असदलभ्यया'। दयासे भगवान् क्यों प्रसन्न होते हैं ? इसलिए प्रसन्न होते हैं कि वह गरीब, रोगी, दुःखी, अशिक्षित इन सबके हृदयोंमें बैठे हुए हैं—'एको नानाजनेष्ववहितः' (१२) और जब वे देखते हैं कि तुम्हारी दया, तुम्हारा प्रेम उन प्राणियोंको प्राप्त हो रहा है तब वे उसे देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। सबके सुहृद् अन्तरात्मा वही हैं। भगवान्‌को समर्पण किये बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं होता। उनमें भेद तो कोई है ही नहीं। यह सृष्टि तो उनका लीला-रास है। जो अन्तकालमें विवश होकर भी भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हैं, उनके कोटि-कोटि जन्मके पाप तुरन्त भस्म हो जाते हैं। एक ही परमात्मा भुवन-द्रुमके रूपमें है; वही बीज है और वही संसार-वृक्षका विस्तार है। उसीमें सृष्टि-स्थिति-प्रलय सब कुछ है। उनको हमारा नमस्कार है ! ऐसे निरावृत प्रभु परमात्माकी हम शरण ग्रहण करते हैं।

ब्रह्माजी आगे कहते हैं कि भगवन्, संसारके लोग पाप करनेमें तो सुख मानते हैं और आपका भजन करना हो तो उसमें प्रमाद करते हैं। इसका फल यह होता है कि काल आकर उनकी आशाको काट देता है। वह काल भी आपका ही रूप है। मैं उसे प्रणाम करता हूँ। यद्यपि मैं सत्यलोकका स्वामी हूँ तथापि मुझे भी कालरूपसे डर लगता है कि अब हमारी मौत आनेवाली है; क्योंकि हमारी आयु दो परार्ध ही तो है। आप पशु, पक्षी, मनुष्यादि सबके रूपोंमें आते हैं। अविद्या कभी आपका स्पर्श नहीं करती। आप ही सबके सुहृद् एवं आत्मा हैं। आप हमारी दृष्टिको स्पर्श कर दीजिये। आप प्रणत-प्रिय हैं। आप नाना प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं। आपके नाभि-ह्रदसे मैं प्रकट हुआ हूँ। अब इस संसारका विचित्र रूप बनाऊँगा। इसमें मुझसे कहीं गलती न होने पाये। आप जरा मुस्कराकर प्रेमसे अपनी आँखें खोल दीजिये और मीठी-मीठी बात बोलकर हमारे हृदयके दुःखको शान्त कर दीजिये। यह सब आप अपनी करुणासे कीजिये।

इस प्रकार ब्रह्माजीने अपने मन और वाणीकी पहुँचतक स्तुति कर ली और फिर चुप हो गये। जहाँ मन-वाणी नहीं पहुँचती वहाँ कौन बोले ? वहाँ तो भगवान् ही बोलते हैं। बोलनेके प्रभावसे भगवान् नहीं बोलते, चुप होनेके प्रभावसे बोलते हैं। माया ही यही है। श्रीयामुनाचार्यजी महाराज एक स्थानपर भगवान्‌से कहते हैं कि यदि ब्रह्माजी अपने चारों मुखसे स्तुति करने लगें

और मैं भी स्तुति करने लगूँ तो आप पहले किसके ऊपर प्रसन्न होंगे ? ब्रह्माजीकी आयु तो लम्बी है, भक्ति बड़ी है और उनका ज्ञान भी बड़ा है। वे तो न जाने कबतक आपकी स्तुति करते रहेंगे। किन्तु मैं तो थोड़ा बोलनेके बाद ही थक जाऊँगा और आपके चरणोंमें गिर जाऊँगा। फिर आप मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। इस प्रकार आप मुझे पहले मिलेंगे और ब्रह्माजीको बादमें मिलेंगे। आलवन्दार स्तोत्रमें यह कहा गया है—'शक्त्यतिशयेन न तेऽनुकम्प्य'—किसीमें ज्यादा शक्ति है, इसलिए आपका उसके ऊपर कृपा नहीं करते अपितु 'स्तुतिकृतेन परिश्रमेण'—स्तुतिकृत परिश्रमसे ही आप सन्तुष्ट होते हैं।

तो भगवान्‌ने कहा कि देखो, ब्रह्मा ! तन्द्रा मत करना—'मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीम्' (२९)। तन्द्रा माने आलस्य। इसको जीवनमें कभी स्थान नहीं देना चाहिए। उद्यम करो। जो तुम चाहते हो, वह तो मैंने पहले ही कर दिया। अब तुम मेरे भरोसेपर तप और विद्याका आश्रय लो। फिर देखोगे कि सारे लोक तुम्हारे अन्दर सो रहे हैं। जैसे लकड़ीमें आग होती है, वैसे ही सबमें मैं बैठा हूँ। जबतक मनुष्य लकड़ीको देखता है, तबतक उसका दुःख दूर नहीं होता, पर जब वह लकड़ीमें छिपी हुई आगके रूपमें मुझे देखने लगता है तब उसका सब दुःख दूर हो जाता है। जब मनुष्य यह देखता है कि भौतिकताके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, उसका रूप तो परमात्मासे अभिन्न है, तब उसको स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और वह स्वराट् हो जाता है। ब्रह्मा, तुम खूब सृष्टि बनाओ, तुम्हें कोई अवसाद-विषाद नहीं होगा। तुममें रजोगुण भी नहीं आयेगा। तुमने आज हमको देख लिया। अब तुम समझ गये कि मै भूत, इन्द्रिय और गुण आदिसे युक्त नहीं हूँ। इसीलिए मैंने पहले तुमको अपना दर्शन नहीं दिया था। अब बादमें दर्शन देता हूँ। तपस्यामें तुम्हारी निष्ठा है। तुमने हमारी स्तुति की है। इस स्तोत्रका जो श्रवण-मनन और पठन-पाठन करेगा, उसपर मैं प्रसन्न हो जाऊँगा। यह समझ लो कि मेरी प्रसन्नता तत्त्वज्ञानियोंको भी अभीष्ट है। मैं सबका आत्मा हूँ। अपने आत्मासे तुम जैसे प्रेम करते हो, वैसे ही मुझसे प्रेम करो। यह सारी सृष्टि जो तुझमें और मुझमें सो रही है, उसको तुम देखोगे।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, इस प्रकार ब्रह्माजीको उपदेश देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

❀

: १० :

अब विदुरजीने पूछा कि मुनिवर, भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेके बाद ब्रह्माजीने कितनी दैहिक और कितनी मानसिक सृष्टि की ? इधर शौनकजीने सूतजीसे यही जिज्ञासा प्रकट की। मैत्रेयजी बोले—ब्रह्माजीने बड़ी भारी तपस्या की। जब ब्रह्माजीने बड़ी तपस्या की और जब उन्होंने देखा कि हवासे कमल कम्पित हो रहा है, जल भी हिल रहा है, तब वे तपस्या और विद्यासे युक्त होकर जलके साथ वायुको पी गये। फिर उनको यह ज्ञान हो गया कि किस प्रकार विश्व-सृष्टि करनी चाहिए। उन्होंने चौदह लोकोंकी कल्पना की। ये चौदह प्रकारके लोक ही जीवोंके निवास स्थान हैं।

अब विदुरजीके यह पूछनेपर कि भगवान्‌के कालका लक्षण क्या है ? मैत्रेयजी महाराजने कहा, काल अपनेमें तो निर्विशेष ही है। उसमें न रात है, न दिन है, न घण्टा है, न मिनट है, न उत्तरायण है, न दक्षिणायन है, न संवत्सर है, न युग है, न मन्वन्तर है और न कल्प है। ये

सब कालके अवयव नहीं, अपितु वस्तुओंमें होनेवाली क्रियाके आधारपर कालमें कल्पित हैं। असलमें काल—परमात्मामें अध्यस्त है और उस अध्यस्तमें लौकिक दृष्टिसे उसके अवयव कल्पित हैं। परमात्मासे अलग काल नहीं। जब हम दुनियाकी ओरसे देखते हैं तब परमात्मामें काल दीखता है। परमात्मामें गुणोंके परिणामसे ही काल है। ऐसे समझो कि कोई भी चीज, जब बदलती है तो उसमें नम्बर एक, नम्बर दो, नम्बर तीन आदि अवस्थाएँ हो जाती हैं। जैसे हमने 'घट' शब्दका उच्चारण किया तो प्रथम क्षणमें 'घ' औरदूसरे क्षण में 'ट' का उच्चारण हुआ। पर ये दो क्षण कहाँसे निकले ? 'घ' 'ट' दो अक्षर होनेसे निकले। असलमें काल अनन्त परब्रह्म परमात्माका स्वरूप ही है। परिवर्तनमें क्रमकी संविद् होती है; जो पहले था और पीछे है, उसीका नाम काल है। 'गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषः' (११) इसमें दिन-रात आदिका कोई भेद नहीं होता। उसीको निमित्त बनाकर पुरुषने विश्वरूपसे यह सृष्टि की। जैसे यह विश्व इस समय दीखता है, वैसे ही पहले भी था और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा। उसमें प्राकृत, वैकृत आदि सर्ग हैं। प्राकृत सर्ग छह प्रकारका और वैकृत सर्ग तीन प्रकारका है। इस प्राकृत और वैकृत दोनों सर्गोंके अतिरिक्त एक दशम सर्ग भी है। इन सर्गोंके वर्णनका तात्पर्य उसके द्वारा परमात्माको लखाना ही है।

पहला सर्ग महत् सर्ग है। यह क्या है ? मान लो हम इस काशीमें प्रगाढ़ सुषुप्तिमें सो रहे हैं। जब नींद टूटती है, तब मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्या समय है—यह मालूम पड़नेके पहले होश होता है। कभी-कभी तो मालूम ही नहीं पड़ता कि मै कहाँ हूँ ? वृन्दावनमें हूँ या बनारसमें हूँ—किसी स्थानका ज्ञान नहीं होता। मैं संन्यासी हूँ या और कुछ हूँ इसका भी पता नहीं चलता। ज्ञान नहीं होता। मैं संन्यासी हूँ या और कुछ हूँ इसका भी पता नहीं चलता। रात है या दिन है, इसका भी ज्ञान नहीं; पर होश होता है। देखो, वहाँ अहंकार नहीं है—न सात्त्विक अहंकार है, न राजस अहंकार है और न तामस अहंकार है, लेकिन चेतना है। महाप्रलय बीतनेके बाद बुद्धिमें, अहंकारका उदय होनेके पूर्व, जो प्रथम चेतनाका उदय होता है, उसीको महत् कहते हैं। चैतन्यकी दृष्टिसे वह हिरण्यगर्भ है और जड़की दृष्टिसे उसको महत्तत्त्व कहते हैं। ये जितने भी शास्त्रीय शब्द हैं, इनका एक अर्थ होता है और उसको हम अपने जीवनमें कहीं-न-कहीं देख सकते हैं। चाहे वह अर्थ समाधि हो, चाहे महाप्रलय हो और चाहे ईश्वर हो। जिस शब्दके अर्थका प्रत्यक्ष नहीं होगा, वह शब्द निरर्थक हो जायेगा। प्रत्येक प्रत्ययमें एक शब्द है और ज्ञान प्रत्येक शब्दका पीछा करता है। उसका साक्षात्कार कीजिये—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वाक्यपदीय. १.१२३

महत् सर्गके बाद 'मैं कौन हूँ'—यह अहंकार-सर्ग है। तत्पश्चात् महाभूतोंका शब्दाश्रय,

स्पर्शाश्रय, रूपाश्रय, रसाश्रय, गन्धाश्रय—यह तृतीय सर्ग है। तदनन्तर इन्द्रियोंका चतुर्थ सर्ग है। देवताओंका पञ्चम सर्ग है। पञ्चपर्वा अविद्या तमःका छठा सर्ग है। ये छह सर्ग प्राकृत हैं।

अब वैकारिक सर्गोंका वर्णन है। स्थावर वृक्षोंका सातवाँ सर्ग है। इसके छह भेद होते हैं—वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार (जिनमें छिलका ही सार हो, जैसे गिलोय) वीरुध और द्रुम। आठवाँ सर्ग पशु-पक्षियोंका सर्ग है। उसके अट्ठाईस प्रकार होते हैं। गाय, अजा, महिष, हरिण, शूकर, गवय, रुरु, मेष और ऊष्ट्र, ये दो-दो खुरके नौ पशु होते हैं। इनके खुर फटे हुए होते हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर, शरभ, चमरी—इन छह पशुओंके खुर फटे हुए नहीं होते। इनके दो-दो खुर नहीं होते, एक-एक खुर ही होते हैं। कुत्ता, सिआर, भेड़िया इत्यादि पञ्चनख होते हैं। कंक, गृध्र आदि पक्षी इसी आठवें सर्गमें होते हैं। मनुष्योंका सर्ग नवाँ है, स्त्री और पुरुष इनके भेद हैं। मनुष्य विषय-भोगसे ज्यादा प्रेम करते हैं और उसमें फँस जाते हैं। मनुष्यको मनुष्य इसलिए कहते हैं कि वे रिश्ते-नाते बना लेते हैं।

'मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः' (निरुक्त ३.७)—जैसे कपड़ेको सी देते हैं वैसे ही आदमी एक-दूसरेके साथ अपनेको सी देता है। सम्बन्ध बनाना रजोगुणका ही लक्षण है। वह रजोधिक है—'रजोऽधिकाः' (२५)। आप देखिये—नासिक के लिए तरह-तरहके इत्र बनाना मनुष्योंके सिवाय दूसरे किसीको आता है ? जिह्वाकी तृप्तिके लिए तरह-तरहके भोजनका आविष्कार और कौन करता है ? तस्वीर बना-बनाकर आँखसे देखना मनुष्यके सिवाय और किसीको आता है ? राग-रागिनी बनाना और उससे कानको तृप्त करना मनुष्यके सिवाय किसीको नहीं आता। इतना भोजन, इतना गन्ध, इतना रूप, इतना स्पर्श, इतना शब्द यहाँतक कि ईश्वरने जैसा नहीं बनाया वैसा भी बना लेना मनुष्यका ही काम है। खूब मेहनत किया, खूब बोले, बड़ा मजा आया—इस प्रकार मनुष्य दुःखमें भी सुख मान लेता है। कुमारोंका सर्ग दसवाँ सर्ग है। देवताओंका सर्ग केवल वैकृत ही होता है। ये आठ तरहके होते हैं—देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत-पिशाच, सिद्ध-चारण-विद्याधर और किन्नर आदि। इस प्रकार ये दस सर्ग ब्रह्मा ने बनाये।

❀

अब मन्वन्तरोंका वर्णन प्रारम्भ करनेके पहले मैत्रेयजी परमाणुओंकी व्याख्या करते हैं। ये परमाणु क्या है ? 'चरमः सद्विशेषणाम्' (१)—जो पदार्थ 'है' के रूपमें मालूम पड़ते हैं और जिनके आखिरी टुकड़ेका टुकड़ा नहीं हो सकता, उनको परमाणु कहते हैं वे अनेक होते हैं और असंयुक्त होते हैं। उनकी एकता भ्रम ही होता है। उसी परमाणुसे लेकर परम महान्‌तक सृष्टि चलती है। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कार्य परमाणुओंसे बनता है। इसीसे काल भी नापा जाता है। जितनी देरमें सूर्य एक परमाणुको पार करते हैं, उसी कालको परमाणु काल कहते हैं। दो परमाणुओंका एक अणु होता है और तीन अणुओंका एक त्रसरेणु होता है। वह जालार्कमें देखनेमें आता है और धरतीपर नहीं गिरता। तीन त्रसरेणुओंका त्रुटिकाल होता है। सौ त्रुटियोंका वेधकाल होता है। तीन वेधका लव होता है। तीन लवका निमेष होता है। तीन निमेषका एक क्षण होता है। पाँच क्षणोंकी एक काष्ठा होती है। इस प्रकार यह कालमान बताया गया है।

संवत्सरके भी अनेक भेद होते हैं। इन्हींके आधारपर सूर्यकी ग्रहोंकी गतिका विवरण किया जाता है। सबकी आयु अलग-अलग होती है। वीर पुरुष अपनी योगसिद्ध दृष्टिसे सारे विश्वको देखते हैं। महापुरुष अतीन्द्रिय पदार्थको, देश-काल-वस्तुके प्रकाशक अधिष्ठानको देखते हैं। केवल तर्क-वितर्कसे उनके वचनको काटा नहीं जा सकता।

आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुत - चेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥ (वाक्य प० १.३७)

महात्मा लोग भूत-भविष्यको ऐसे ही देखते हैं, जैसे सामनेकी कोई चीज देख रहे हों। क्योंकि उनके हृदयमें प्रकाश है, राग-द्वेषका उपद्रव नहीं है। इसलिए उस प्रभुकी आराधना करो, जो सबका द्रष्टा और स्रष्टा है। द्रष्टा और स्रष्टा दोनोंमें जो चैतन्य है, उसकी तरफ ध्यान देनेपर चार प्रकारके युग प्रतीत होते हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनका हिसाब देवताओंके बारह सहस्र वर्षसे बैठाया जाता है। इनका मान इस प्रकार है—कलियुगका दुगुना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना सत्ययुग। सत्ययुगमें धर्म चतुष्पाद रहता है। उसकी भी एक प्रक्रिया होती है। धर्मकी प्रक्रिया क्या है ? सत् माने 'है' और वह 'है' रहना चाहता है—मैं हूँ और मैं रहूँ, मैं जी रहा हूँ और मैं जीता रहूँ। इसमें-से धर्म यह निकलेगा कि दूसरेको भी जीने दें। वह भी रहे और जीये—यह धर्म होगा। अपने जीवनके लिए अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, स्थान चाहिए। इसलिए दूसरोंको भी अन्न देना, वस्त्र देना, स्थान देना धर्म है। जीनेमें जो-जो चीजें मददगार हैं—जैसे औषध आदि उन सबको देना धर्म है। आत्मा चित्स्वरूप है। मैं जानता हूँ और जानता रहूँ। दूसरे भी जानें और जानते रहें। उनकी ज्ञान-बुद्धिमें मदद करना, उनको विद्या पढ़ाना, सत्सङ्गकी सुविधा

देना, सत्संगालय बनाना, वाचनालय और पुस्तकालय खोलना, मतलब यह कि उनको सब प्रकारकी शिक्षा देना धर्म है। हम आनन्दमें अपनेको प्यार करते हैं और दूसरोंके प्यारे बना रहना चाहते हैं तो दूसरोंको भी प्रेम मिलना चाहिए, आनन्द मिलना चाहिए। सबके लिए मनोरञ्जन भी चाहिए—संगीत, वाद्य, नृत्य सब चाहिए। यह सब धर्मके अन्तर्गत आता है। अद्वयका अर्थ है कि जैसे हम अपनी प्रधानता चाहते हैं, वैसे ही दूसरोंकी प्रधानता बनी रहे। इसका भी ख्याल रखना चाहिए कि सब मेल-मिलापसे रहें। न आपसमें फूट पड़े और न हम दूसरोंमें फूट डालें। धर्म अद्वय, सच्चिदानन्दमें से ही निकलता है। महात्माओंने जीवन धारण करनेके लिए ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगके रूपमें कालका विभाजन किया है। ब्रह्माजीके एक दिनमें चतुर्दश मनु होते हैं और इकहत्तर चतुर्युगी एक मनुकी होती है। उसमें मनु, मनुपुत्र आदि होते हैं। सबमें भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं और सबकी रक्षा करते हैं। जब प्रलयका समय आता है तब ऋषिलोग महर्लोक आदिमें चले जाते हैं। समुद्र प्रलय करता है। इस बातका वर्णन इसलिए किया गया है कि इसपर लोगोंका ध्यान जल्दी नहीं जाता। ब्रह्माकी आयु उनके हिसाबसे सौ वर्षकी होनेपर भी उनको लगता है कि मैं अब मरा, अब मेरी आयु पूरी हुई। इस प्रकार वे भी इस कालके चक्करमें डरते ही रहते हैं। एक महात्माने हमको बताया कि ब्रह्माकी सभामें एक घड़ी लगी है जिसमें टिक्-टिक्-टिक् आवाज होती रहती है। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होनेका अर्थ है कि उनका दिन चौदह घण्टेका और रात चौदह घण्टेकी होती है। एक मन्वन्तर एक घण्टा है ब्रह्माका। चौदह मन्वन्तरमें चौदह इन्द्र बदल जाते हैं। एक-एक घण्टेकी आयु है इन्द्रकी। एक-एक घण्टेमें इकहत्तर चतुर्युगी चली जाती है। इससे यह समझ लें कि ब्रह्माका एक घण्टा इकहत्तर मिनटका होता है। उनके एक मिनटमें एक चतुर्युगी होती है और एक चतुर्युगी लगभग चौवालीस लाख वर्षके बराबरकी होती है। अब आप पता लगाइये कि हमारी आयु इस हिसाबसे कितनी हुई? ब्रह्माजीकी घड़ीका एक 'टिक्' हमारी एक चतुर्युगी अर्थात् चौवालीस लाख वर्षके लगभग है। फिर भी हमलोग अपनी उम्रका अभिमान करते हैं। बूढ़े लोग कहते हैं हमारी दाढ़ी धूपमें थोड़े ही सफेद हुई है? अरे, तुम्हारी उम्र कितने दिनकी है भाई? इस अनन्त कालमें तो अभिमान करनेकी कोई जगह ही नहीं है।

तो, पहले पाद्म कल्प हुआ, अब इस समय वाराह कल्प है। वाराह कल्प भी दो तरहका होता है, एक श्वेतवाराह कल्प, और दूसरा कृष्णवाराह। इस प्रकार अनन्तकालमें परमात्माकी नाभिमें-से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड पैदा होते और मिटते रहते हैं। ब्रह्माओंकी कोई गिनती नहीं है। अब बताओ परमात्माके इस काल-रूपमें तुम कहाँ आसक्ति करोगे? कहाँ अभिमान करोगे? एक क्षण भी तो तुम्हारे पास नहीं है। इसलिए अगर दुनियामें कहीं फँसोगे तो बड़े लाभसे वञ्चित रह जाओगे।

: १२ :

मैत्रेयजी अब वर्णन करते हैं सृष्टिका। ब्रह्माजी जब सृष्टि करनेके लिए बैठे तो उन्होंने पहले पञ्चपर्वा अविद्याकी ही सृष्टि की। उसका नाम हुआ अन्धतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तम। ये अज्ञानकी वृत्तियाँ हैं। इनको योगशास्त्रमें, अभिनिवेश, द्वेष, राग, अस्मिता और अविद्याके नामसे कहा गया है। जिस प्रकार पञ्चपर्वा अविद्या होती है, उसी प्रकार उसके निवारणके लिए पञ्चपर्वा विद्या भी होती है।

यह सृष्टि बहुत ही पापीयसी है, निर्माण करके ब्रह्माको प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने भगवान्‌का ध्यान किया। फिर सृष्टि-निर्माण करने लगे तो एक बार सनक-सनन्दन-सनातनरूप तराजूका पलड़ा नीचेकी ओर चला गया। उससे ऊबकर दूसरी बार सृष्टि बनाने लगे तो ऊँचेकी ओर चला गया। अब उनसे ब्रह्माने कहा कि बेटा, तुम लोग भी प्रजाकी सृष्टि करो। वे बोले कि हम लोग तो भगवान्‌का भजन करेंगे और मुक्तरूपमें रहेंगे। हमको सृष्टि नहीं चाहिए। जब बेटा बापकी बात न माने तो बापको अपमान मालूम पड़ेगा ही। उन्होंने क्रोधको पहलेसे ही बनाकर रख लिया था। वह उनको आगया। उनकी बनायी अविद्या-सृष्टि तो थी ही। ब्रह्माजीने सोचा कि हाय, हाय, अपने बेटोंपर कैसे क्रोध करें? इस प्रकार जब उन्होंने क्रोधको रोका तो उनकी भौंहोंके बीचमें-से एक नील-लोहित कुमार रुद्रकी सृष्टि हुई। उसने कहा कि हमारा नाम रखो। वे पैदा होते ही अपना हक माँगने लगे और कहा कि हमको राज्य दे दो और हमारा ब्याह करो। ब्रह्माजीने कहा कि अच्छा, तुम्हारा नाम रुद्र रहा, ये तुम्हारे स्थान हुए, ये तुम्हारी पत्नियाँ हुईं। इस प्रकार उनको सब दे दिया और कहा कि अब तुम प्रजाकी सृष्टि करो। वे प्रजाकी सृष्टि करने लगे। जो उत्पन्न हो, वही बच्चा पैदा करे। अनन्त प्रजा उत्पन्न हुई किन्तु वह सब दुष्ट हो गयी। ब्रह्माजीने पुत्रोंको बुलाकर कहा—तुमने सृष्टि तो पैदा की लेकिन इससे दुनिया जल जायेगी। अब तुम लोग सृष्टि पैदा मत करो, तप करो।

देखो, कभी ऐसा समय आता है जब कहा जाता है कि सृष्टि बढ़ाओ और कभी ऐसा समय आता है जब कहा जाता है अब सृष्टि बन्द करो। शास्त्रमें दोनों प्रकारके प्रसंग प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में यह बताया गया है कि सन्तान पैदा हो अथवा न हो, इसके लिए क्या-क्या करना चाहिए? इसका वर्णन वेदान्त-ग्रन्थोंमें भी मिलता है।

तो, रुद्र ब्रह्माजीकी बात मान गये। और यह समझकर कि बिना ईश्वराराधनके अपने इष्टकी प्राप्ति नहीं होती, तपस्या करनेके लिए इलावृत्त वनमें चले गये। जब फिर ब्रह्माजीने सृष्टिका ध्यान किया तब उनसे दस प्रजापति पैदा हुए—मरीचि अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, इत्यादि।

जैसे दस इन्द्रियाँ हैं वैसे ही दस आध्यात्मिक ऋषि हैं। ब्रह्माके उत्सङ्गसे नारद, अङ्गुष्ठसे दक्ष, प्राणसे वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई। देखो यह सुनकर सृष्टिको न जाननेवाले हँसते हैं। ब्रह्माजीके शरीरको अपने शरीर-जैसा मान लेते हैं और कहते हैं कि भला अंगूठेसे, गोदमें-से बेटा कैसे निकलकर आयेगा ? भाई, ब्रह्माजीका शरीर कोई हड्डी-मांस-चामका बना हुआ नहीं। वह तो दिव्य शरीर है—सूक्ष्म शरीर है। तुम तो ऐसे समझो कि जैसे स्वप्नमें अँगूठेसे अथवा गोदसे भी बच्चा निकल सकता है, उसी प्रकार ऋषि-महर्षि ब्रह्माके शरीरमें-से प्रकट हुए। उनके स्तनसे धर्म पैदा हुआ और पीठसे अधर्म पैदा हुआ। हम लोग धर्मसे तो प्रेम करते हैं और अधर्मसे द्वेष करते हैं। लेकिन ब्रह्माजी दैत्य और देवता दोनोंको सँभालकर रखते हैं। एक ओर पीठमें चोट लगती है, दूसरी ओर छातीमें चोट लगती है। दोनोंको ही सँभालकर रखना पड़ता है। तो, मृत्यु, काम, क्रोध, लोभ—ये सब ब्रह्माके शरीरसे पैदा हुए। उनकी छायासे कर्दमकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ब्रह्माके संकल्प और देहसे प्रजाकी सृष्टि हुई।

कहते हैं कि एक बार ब्रह्माके मनमें भी अधर्मका संकल्प आगया। यह कथा वेदोंमें भी आयी है। किसी भी कर्म करनेवालेको ज्ञानकी, विद्याकी आवश्यकता होती है। ब्रह्माजी भी सृष्टि बनानेका कर्म करेंगे तो उन्हें सरस्वतीकी आवश्यकता होगी ही। सरस्वतीके बिना वे काम नहीं कर सकते। किन्तु जब ब्रह्माजीके मनमें सरस्वतीके प्रति विकार आया तो उन्होंने वह शरीर छोड़ दिया और वह तमः (अन्धकार) हो गया।

इस प्रकार ब्रह्माके शरीरसे वेद, यज्ञ, उपवेद, धर्मके चार पाद, आश्रम, ये सब-के-सब प्रकट हुए। उन्होंने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके मुखोंसे तो क्रमशः—ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन चारों वेदोंकी रचना की, फिर आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, शिल्पवेद इन चारों उपवेदोंको बनाया। जो लोग यह कहते है कि वैदिक धर्ममें तो परलोक ही परलोककी बात मिलती है, वे लोग हमारे शास्त्रको कभी पढ़ते नहीं। गान्धर्ववेद और शिल्पवेद ये सब लौकिक शास्त्र ही तो हैं।

इतिहास, पुराण, एवं षोडशी, उक्थ आदि याग ब्रह्मासे प्रकट हुए। यज्ञ-दान-तपस्या-सत्य, ये धर्मके चार पाद, वानप्रस्थाश्रम इसी प्रकार सभी बालखिल्य, औदुम्बर, फेनप, कुटीचक और वैखानस वृत्तियों सहित चार आश्रम भी उन्हींसे उत्पन्न हुए। चार-चार भेद इन सभीमें होते हैं। ये सब तुरीय, प्राज्ञ, तैजस और विश्व इनके साथ मिलते जायेंगे।

हमारी सामाजिक व्यवस्था भी एक आध्यात्मिक ठोस आधारपर स्थित है। ऐसा नहीं कि जो मौज हो सो कर लो। संन्यासियोंके भी चार भेद हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और निष्क्रिय (परमहंस)। विद्याओंके भी चार-चार भेद हैं - आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति। चार व्याहृतियाँ भी चार मुखोंसे निकलीं। फिर ब्रह्मासे प्रणव उत्पन्न हुआ और वेदके जितने भी छन्द

हैं, जितने भी अक्षर हैं, स्वर हैं, वे सब पैदा हुए। अकारादि स्वर श, ष, स, ह, ये ऊष्मवर्ण और य, र, ल, व—की उत्पत्ति हुई।

परन्तु इतनेपर भी जब सृष्टि नहीं बढ़ी तो ब्रह्माजीके मनमें उसकी चिन्ता हुई। चिन्ता होनेपर उनका शरीर फट गया। चिन्तासे शरीर फटता ही है। शरीर फटनेपर दो रूपोंमें विभक्त हो गया—एक स्त्री और दूसरा पुरुष। जो सौर शक्ति-प्रधान हुआ वह पुरुष हो गया और जो चान्द्र-शक्ति—सोम-शक्ति प्रधान हुआ, वह स्त्री। पुरुषका धर्म त्याग-प्रधान होता है और स्त्रीका धर्म-प्रधान है। विधान-सभामें जाना हो तो वोट दोनोंको मिलेगा, लेकिन बच्चा पेटमें रखना हो तो समानाधिकार नहीं चलेगा। बच्चा स्त्रीके पेटमें ही जो सकता है, पुरुषके पेटमें नहीं। सोम-शक्ति और सौर-शक्तिका विभाग प्राकृतरूपसे बिलकुल अलग-अलग है। इन दोनोंसे मिथुन हुआ, जिससे पुरुष हुए स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नीके रूपमें स्त्री हुई, शतरूपा। उनसे ही मनुष्योंकी वंश-परम्परा बढ़ी। मनुने प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र पैदा किये तथा उनके आकूति, देवहूति, प्रसूति ये तीन कन्याएँ हुईं। उन्होंने आकूति रुचिको, देवहूति कर्दमको और प्रसूति दक्षको दे दी। उनकी सन्तानसे यह जगत् परिपूर्ण हुआ।

इस तीसरे स्कन्धमें प्रारम्भके उन्नीस अध्याय कर्म-प्रधान हैं, जिनमें यज्ञावतार वाराह प्रभुका वर्णन है। उसके बादके चौदह अध्याय, विवेक-प्रधान—ज्ञान-प्रधान हैं। जैसे मीमांसाके पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा ये दो विभाग हैं, इसी प्रकार तीसरे स्कन्धमें दो विभाग हैं। सृष्टि भी दो प्रकारकी है—एक तो बद्धकी सृष्टि और दूसरी मुक्तकी सृष्टि। कपिल, कर्दम और देवहूतिकी सृष्टि मुक्त सृष्टि है। ब्रह्माकी सृष्टिमें भी बद्ध सृष्टि और मुक्त सृष्टि है। एक बड़ा आश्चर्य यह है कि सृष्टि भगवान्‌की इच्छासे चलती है। इसमें मुक्तका भी जन्म हो जाता है और बद्धकी भी मुक्ति हो जाती है। जय-विजय आदि मुक्त हैं, किन्तु उनका जन्म हो गया और हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु बद्ध हैं, किन्तु उनकी मुक्ति हो गयी। भगवदिच्छासे सृष्टि चलती है, यह बतानेके लिए ही दो प्रकारके सर्गका वर्णन है। यदि भगवदिच्छाकी अधीनतासे बचना हो, तो भगवान्‌के संकल्पके पीछे जो भगवान् हैं, उनके साथ एक होना होगा। जबतक भगवान्‌से एक नहीं हो जायेंगे, तबतक उनकी इच्छाके अधीन रहना ही पड़ेगा। तीसरे स्कन्धकी यह बड़ी विलक्षण लीला है। इसमें गृहस्थ-धर्मका दोनों तरहसे वर्णन है। बद्धसृष्टिमें दिति कश्यपको कैसे परेशान करती है, उसका भी वर्णन है और मुक्तसृष्टिमें देवहूति कर्दमकी कैसी सेवा करती है, इसका भी वर्णन है।

श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितसे कहते हैं कि मुनिवर मैत्रेयजीसे भगवान्‌की कथा सुनकर विदुरजीने अत्यन्त आदर-भावसे प्रश्न किया। भगवत्कथामें आदर-बुद्धि होनी ही चाहिए। यदि श्रोताकी आदर-बुद्धि न हो, तो कथाको बैठनेके लिए आसन नहीं मिलता। इसलिए वह आती है, परन्तु चली भी जाती है। आदर-बुद्धि कथाका सिंहासन है—'वासुदेवकथादृतः' (१)।

विदुरजीने पूछा कि मुनिवर, स्वायम्भुव मनुने पत्नी प्राप्त करके फिर क्या किया? मैं बड़ी श्रद्धासे उनका चरित्र सुनना चाहता हूँ, क्योंकि वे भगवदाश्रित महानुभाव हैं—'विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ (३)। विद्वानोंने उसी विद्याकी महिमाका गान किया है, जिससे हृदयमें भगवान्‌के चरणारविन्द स्थित हों।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि विदुरजीके इस प्रश्नसे मैत्रेयजी बहुत प्रसन्न हुए उनके रोएँ खड़े हो गये और वे प्रसन्नतापूर्वक बोले–स्वायम्भुव मनु पत्नी प्राप्त होनेपर अपने पिता ब्रह्माजीके सामने गये और हाथ जोड़कर प्रणाम करके कहने लगे कि आप जन्मदाता और सृष्टिदाता दोनों ही दृष्टियोंसे पिता हैं। हम आपकी सन्तान हैं। आपकी सेवा कैसे करें? आप हमको ऐसी आज्ञा कीजिये, जिससे इस लोकमें भी हमारी उन्नति हो और परलोकमें भी हमारी सद्गति हो।

ब्रह्माजीने कहा कि बेटा, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुमने निष्कपट हृदयसे मेरे सामने आकर यह प्रश्न पूछा है और मेरी आज्ञा चाही है। तुमने मेरा शरीर मुझे अर्पित कर दिया है। बस, सन्तानका कर्त्तव्य इतना ही है कि वह अपनी शक्तिके अनुसार, प्रमाद और दोष-दृष्टि किये बिना, आदरके साथ, पिताके वचनको स्वीकार कर ले—

शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः।

अब बेटा, तुम्हारा एक कर्त्तव्य तो यह है कि तुम धर्मके अनुसार पृथिवीका शासन करो। दूसरा कर्त्तव्य यह है कि यज्ञोंसे परमात्माकी आराधना करो और तीसरा कर्त्तव्य यह है कि अपनी सन्तान-परम्पराको अविच्छिन्न रखो। बस, यह मेरी सबसे बड़ी सेवा है। भगवान् राजाके प्रति तभी प्रसन्न होते हैं, जब वह प्रजाका पालन ठीक-ठीक करता है—'भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति' (१२)। किन्तु जिस राजाके प्रति भगवान् प्रसन्न नहीं हुए, उसका जीवन व्यर्थ है, पार्थ नहीं हुआ, अपार्थ हो गया। पः=परमेश्वरः अर्थः=प्रयोजनं यस्य असौ पार्थः—परमेश्वर जिसके जीवनका प्रयोजन है, उसका नाम पार्थ और बाकी जो जीवन है, वह अपार्थ है, अपगतार्थ है। पृथापुत्र पार्थ दूसरा है और यह पार्थ अर्थात् परमेश्वरार्थ जीवन दूसरा है।

मनुजी बोले कि महाराज, आपकी आज्ञा सिर आँखोंपर है। पर हम प्रजाको बसायें कहाँ? धरती तो रसातलमें चली गयी है। इसपर ब्रह्माजीको चिन्ता हुई और वे सोचने लगे कि अब क्या

करना चाहिए ? अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि ईश्वर ही कल्याण करेगा।

इधर जिस समय ब्रह्माजीके मनमें चिन्ता हुई, उसी समय उनकी नासिकासे एक वराहतोक–छोटा-नन्हा अंगूठेके बराबर वराहका बच्चा निकल पड़ा। नाकसे निकलनेका अभिप्राय है कि गन्धको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय नासिका है और गन्धद्रव्य है पृथिवी। अतः उसका उद्धार करनेके लिए भगवान्का आविर्भाव नासिकासे ही होगा। इसलिए, पृथिवी-प्रेमी भगवान् वराह नासिकासे प्रकट हुए और थोड़ी देरमें हाथीके बराबर हो गये। ब्राह्मणोंने, विद्वानोंने, महापुरुषोंने उनके बारेमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क किये और कहा कि यह तो बड़ा भारी आश्चर्य है। थोड़ी देरमें वह स्थूल पाषाणके समान हो गया। लोगोंने कहा यह जरूर ईश्वर है। नहीं तो, ऐसा वाङ्मनसागोचर रूप तथा लीला और किसकी होती ? भगवान्ने गर्जना की और ब्राह्मणों, ऋषियोंको बहुत आनन्द दिया। सब लोगोंने यज्ञवराह भगवान्की स्तुति की।

देखिये, यह जो शक्ल-सूरत है, यह भगवान्की बहुत बड़ी कला है। शरीरके एक-एक अवयवमें भगवान्की कारीगरी दिखाई पड़ती है। यहाँ भगवान् यज्ञवराहके स्वरूपका दर्शन कीजिये। वे आकाशचारी हैं, उच्चपुच्छ हैं, अपने कन्धेके बालोंका विधूनन कर रहे हैं और उनके दाँत श्वेत हैं। वे यज्ञाङ्ग होनेपर भी पशुकी तरह धरतीको सूँघते हुए जलमें प्रविष्ट हो गये। क्योंकि पृथिवी जलमें डूबी हुई थी। पृथिवी जलमें ही डूब सकती है। पृथिवीकी उत्पत्ति जलसे होनेके कारण इसका लय भी जलमें ही हो सकता है। यह औपनिषद सिद्धान्त ही है। वराह भगवान्के समुद्रमें घुसनेपर यह ध्वनि होने लगी कि प्रभो, हमारी रक्षा करो। भगवान्ने रसातलमें जाकर पृथिवीको देखा और अपनी दाढ़से उसको उठाया। वहाँ हिरण्याक्ष हाथमें गदा लेकर आगया। वह असह्यविक्रम दैत्य था। उसको भगवान्ने खेल-खेलमें मार दिया और उसके खूनसे अपने थूथुनको--तुण्डको--रँगकर धरतीके साथ बाहर निकले। महात्माओंने उनकी स्तुति की—

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः। ३४

यह बहुत पवित्र स्तोत्र है। वैष्णव सम्प्रदायोंमें तो इस तरहके कई स्तोत्र हैं। इसका तात्पर्य है कि वराह भगवान् सबसे उत्कृष्ट हैं। उनके एक-एक रोमकूपमें बड़े-बड़े यज्ञ समाये हुए हैं। ये कोई साधारण शूकर नहीं। ये तो कारण-शूकर हैं। कारण शूकरका एक अर्थ है जगत्कारण शूकर, साक्षात् परमेश्वर और दूसरा अर्थ है कारणवश शूकर अर्थात् प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ही ये शूकर बने हुए हैं। शूकरका नाम शूकर क्यों हैं ? इसलिए है कि जब वह रास्ते चलता है तो सू-सूकी ध्वनि करता हुआ चलता है--'सू-सू करोति इति सूकरः' (सूकर=शूकर)। उसकी ध्वनिका अनुकरण करके ही उसका नाम सूकर रखा हुआ है।

महात्माओंने स्तुति करते हुए कहा—महाराज, आपके तो अंग-अंगमें वेद हैं, यज्ञकी सारी

सामग्री है। आपके रोएँ कुशा हैं। आपकी आँखोंमें घृत है, आपके चरणोंमें चातुर्होत्र है। इस प्रकार यज्ञके जितने अंग हैं, उनका वर्णन महात्माओंने वराहके रूपमें किया और प्रार्थना की कि महाराज, पृथिवीकी स्थापना कर दें। आपके सिवाय इस पृथिवीको धरतीपर लाकर रखनेवाला और कौन हो सकता है? यह तो आपकी ही माया है।

अब वाराह भगवान्‌के संसर्गसे जो जल ऊपर उछलने लगा, उससे जन, सत्य, तप, लोकोंके निवासी पवित्र हो गये। महात्माओंने कहा कि जो आपके इस रूपका आदर नहीं करता, उसकी बुद्धि भ्रष्ट है। असलमें महत्त्व आकृतिका नहीं, वस्तुका है। यह सोना है या पीतल, महत्त्व इस बातका है। उस सोनेका गधा बनाया गया है या घोड़ा बनाया गया है, इसका महत्त्व नहीं होता। इस तरह भगवान् तो भगवान् ही हैं, उनकी शक्ल-सूरत हमारी इन्द्रियोंसे कैसी भी क्यों न दीखे। एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण खेलकर, धूल-माटीमें लथपथ होकर मैयाके पास आये तो मैयाने यही कहा कि तू पिछले जन्ममें शूकर अवश्य था, तभी तो इस तरह धूल-माटीमें लोटता है—

पंकाभिषिक्तसकलावयवं निरीक्ष्य, दामोदरं वदति कोपवशाद् यशोदा।
त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे।

जब भगवान् श्रीकृष्ण यमुनामें बिहार करने लगते हैं और नहीं निकलते तब यशोदा मैया कहती है कि अरे, तू पूर्वजन्ममें मछली था क्या? जब श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंसे दाँव हार जानेपर उनको कन्धेपर लेकर प्रेमसे चलते हैं और मैयाके मना करनेपर भी नहीं उतारते तो मैया कहती है कि क्या तू पूर्वजन्ममें घोड़ा था? ये सब मैयाके वात्सल्य और भगवान्‌की विलक्षण लीलाकी बातें हैं, जिनका रसास्वादन भक्तजन करते हैं।

ब्रह्मवादी मुनियों द्वारा स्तुति करनेके उपरान्त वराह भगवान्‌ने खेल-खेलमें पृथिवीकी स्थापना कर दी और वे अन्तर्धान हो गये। यहाँ वराहचरित्रका उपसंहार कर दिया गया है। महात्माओंकी यह रीति है कि वे थोड़ेमें सूत्ररूपसे बहुत कुछ कह देते हैं, बातका विस्तार नहीं करते हैं। थोड़ी-सी बातको बहुत बढ़ाकर कहना साधारण मनुष्योंकी रीति है। संक्षेपमें कथन समाप्त कर देनेका नाम है समास-पद्धति। परन्तु जब श्रोताकी इच्छा किसी विषयको विस्तारमें सुननेकी होती है तब उसको व्यास-पद्धतिसे विस्तृत करके सुनाया जाता है।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, जो कोई भगवान्‌की इस कथाको प्रेमसे सुनता है तो उसका हृदय प्रसन्न हो जाता है। भगवान् उसपर प्रसन्न हो जाते हैं। यदि भगवान् प्रसन्न हो जायँ तो फिर संसारके विषयोंमें रखा ही क्या है? ऐसा समझो कि जो अपने जीवनके पुरुषार्थ--सारको समझनेवाला है, वह इस भगवत्कथा–सुधाका कर्णाञ्जलिसे पान करके ऐसी तृप्ति लाभ करता है कि उसको कभी इससे वैराग्य नहीं होता। भगवत्कथासे वैराग्य तो पशुको ही हो सकता है!

: १४ :

फिर विदुरजीके यह पूछनेपर कि जब वराह भगवान् अपनी दाढ़ोंपर पृथिवी रखकर जलमें-से निकल रहे थे, तब हिरण्याक्षसे उनका युद्ध कैसे हुआ ? मैत्रेयजी बोले—भगवान्‌की अवतार-कथा पाप-विनशिनी होती है, मौतके फन्देको बिलकुल काट देती है। यही कथा सुन-सुनकर ध्रुवजीने मौतके सिरपर पाँव रख दिया और ऊपर चले गये।

इसके बाद मैत्रेजीने विदुरको एक इतिहास सुनाया। इतिहासका अर्थ है कि यह घटना घटित हुई थी। 'इति' माने 'यह' 'ह' माने 'निश्चय', 'आस' माने 'था' अर्थात् यह घटना निश्चित रूपसे घटित हुई थी। परन्तु विरक्त लोग कभी-कभी इतिहासका दूसरा ही अर्थ करते हैं। वे कहते हैं 'इति' माने समाप्ति, जैसे—इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे। इति मृत्युका बोधक है और हास हँसीका बोधक है। इस तरह इतिहासका अर्थ हुआ 'मौत-की-हँसी'। मृत्युने जो इस संसारके साथ उपहास किया है, इस जगत्‌की हँसी उड़ाई है, उसीका नाम है इतिहास। कई लोग इतिहासको याद करके रोते हैं और कई लोग खुश होते हैं, परन्तु हैं सब मौतकी हँसी।

परन्तु यहाँ जो इतिहास है, वह कालातीत भगवान्‌का इतिहास है। इस प्रसंगमें पूर्वके एक मन्वन्वरकी कथा लाकर जोड़ दी गयी है। अन्यथा अभी तो यह प्रसंग है कि पृथिवी कहाँ है और उसपर जनता कैसे बसे ? ऐसी स्थितिमें हिरण्याक्षके मारे जानेकी संगति कैसे हो सकती है ? हिरण्याक्ष पैदा हुआ दितिसे। दिति कश्यपकी पत्नी थी। ये सब लोग अभी प्रस्तुत प्रसंगमें कहाँसे आगये ?

अवश्य ही यह पूर्वकल्पके मन्वन्तरकी कथा है। उसके अनुसार हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु पैदा होकर समुद्रमें जलविहार करते रह गये। प्रलयमें भी उनकी मृत्यु नहीं हुई, क्योंकि वे भगवदाराधनासे परिपुष्ट थे।

भागवतके विद्वानोंने इस प्रसंगका शङ्का-समाधान अच्छी तरह किया है। उन्होंने बताया है कि दिति-कश्यप कहाँ रहते थे, उनसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु कब पैदा हुए, आदि-आदि।

दिति कोई साधारण स्त्री नहीं, दक्षकी पुत्री है। एक दिन उसने मर्यादाका विचार किये

बिना सन्ध्या-समय अपने पति कश्यपसे सन्तान-प्राप्तिकी इच्छा की। इस सम्बन्धमें देश-कालका विचार करना चाहिए—एकादशी हो, पूर्णिमा हो, ग्रहण हो, सायंकाल-प्रातःकाल हो तो सयंमसे रहना चाहिए। इसका विचार किये बिना, असंयमसे जिस सन्तानकी उत्पत्ति होती है, वह उछृङ्खल होती है और धर्म तथा शास्त्रको नहीं मानती। दितिने धर्मके वश होकर नहीं, कामके वश होकर सन्तानकी इच्छा की। महर्षि कश्यप उस समय अग्निहोत्रमें बैठकर भगवान्‌की आराधना कर रहे थे और उसी अवस्थामें दितिने कहा कि एक तो मेरा मन कामसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा है और दूसरे मैं सौतोंकी सम्पत्तिसे जल रही हूँ। हे पति ! आपके रहते हुए हमारी यह दुर्दशा नहीं होनी चाहिए। हमने स्वयं प्रेमसे आपके साथ विवाह किया है। हमारे पिताने हमारी इच्छाके अनुसार हम सभी बहनोंसे बहुत ही स्नेहपूर्वक पूछा था कि हमलोग किससे विवाह करना चाहती हैं—'कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्' (१२)। और जब हम तेरह लड़कियोंने आपका नाम बता दिया तो उन्होंने हमारा विवाह आपके साथ कर दिया। इसलिए अब आपको हमारी इच्छा पूरी करनी चाहिए।

इस प्रकार जब पत्नी दितिने बहुत आग्रह किया तब कश्यपजी उसे समझाते हुए बोले कि प्रिये ! तुम्हारी इच्छा तो मुझे पूर्ण करनी चाहिए, क्योंकि पत्नीसे ही धर्म-अर्थ-कामकी सिद्धि होती है और पत्नीके सहारे ही मनुष्य दुःखसे पार जाता है। पत्नि के लिए बहुत ही सहायक है, वज्र है, कवच है। मनुष्य कामके वशमें होकर कहीं कुकर्म न कर बैठे, इसके लिए ही विवाह होता है। तुम तो हमारे शरीरका आधा भाग हो। तुम्हारे ऊपर भार डालकर हम बेफिक्र रहते हैं। तुम्हारे बलसे हम इन्द्रियोंरूपी बड़े-बड़े शत्रुओंपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं, जैसे कोई किलेमें बैठकर दस्युओं—डाकुओंपर विजय प्राप्त करता है—'दस्यून्दुर्गपतिर्यथा' (१९)। हम तुमसे कभी उऋण नहीं हो सकते। हम तुम्हारी कामना पूरी करनेके लिए भी तैयार हैं। परन्तु जरा दो घड़ी ठहर जाओ, क्योंकि यह समय बड़ा प्रतिकूल है। इसमें शंकर जी और उनके गण भयंकर वेषमें विचरण करते रहते हैं। उनके लिए कोई अपना-पराया नहीं। हम उन्हींकी इच्छाके अनुसार चलते हैं। बड़ा पवित्र चरित्र है शंकरजीका—

यस्यानवद्याचरितं मनिषिणो गृणन्त्यविद्यापटलंबिभित्सवः ॥ २६

जो मनीषी अविद्याके पर्देको फाड़ डालना चाहते हैं, वे शंकरजीके अनवद्य चरित्रकी स्तुति करते हैं। उनकी बराबरीका कोई नहीं। उनसे बड़ा कहाँसे होगा ? वे लोग अभागे हैं जो शंकरजीके चरित्रकी हँसी उड़ाते हैं—

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ॥ २७

जिन्होंने अपने शरीरको, जो कुत्तेका भोजन है, आत्मा समझकर सेवा की है और जो देहमें

अभिनिविष्ट हैं वे लोग ही शंकरजीकी निन्दा करते हैं—'अभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ।' (२७)। देखो, ब्रह्माजी भी शंकरजीकी मर्यादाका पालन करते हैं और विश्वके भी कारण हैं। माया भी उनकी आज्ञाकारिणी है। पिशाच-चर्या तो शंकरजीका एक खेल है।

कश्यपजीके इतना समझाने-बुझानेपर भी दितिके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने उनका दुपट्टा पकड़ लिया। कश्यपजीने दैवको नमस्कार किया और दितिकी इच्छा पूरी की। बादमें उन्होंने स्नान किया, फिर परब्रह्म परमात्माका ध्यान करने लगे। दितिको भी शर्म आयी और वह लजाकर कहने लगी—शंकरजी समस्त भूतोंके स्वामी हैं। वे मुझे क्षमा करें तथा हमारे इस गर्भका नाश न करें। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करती हूँ, वे प्रसन्न हो जायँ।

मैत्रेयजी कहते है कि दितिकी यह अवस्था देखकर कश्यपजी बोले—न तो तुमने अपने मनको रोका और न नियम तथा समयका ध्यान रखा। देखो, नियमका पालन करनेसे वासनाका निरोध होता है। जैसे, भोजनकी ही बात लो। समयपर भोजन करनेका नियम, अखाद्यका त्याग और खाद्यके भोजनका नियम, स्वच्छ और पवित्र स्थानपर बैठकर भोजन करनेका नियम। ये सब नियम हमारी वासनाओंको रोकनेमें मदद करते हैं। इसका दृष्ट लाभ भी बहुत है। किन्तु लोग इस दृष्टिसे विचार ही नहीं करते।

कश्यपजीने आगे कहा कि—तुमने मेरी आज्ञाका भी उल्लङ्घन किया है। बड़ोंकी आज्ञाका पालन करनेसे अहंकार झुक जाता है। देवताओंका आदर करनेसे हृदयमें श्रद्धा बनी रहती है। तुम्हारे पेटसे जो बच्चे पैदा होंगे, वे सारी दुनियाको रुलाकर छोड़ेंगे। ऐसे ढंगसे, ऐसे समयमें, जो बच्चे पैदा होंगे वे और क्या होंगे ? उनके अन्दर उच्छृङ्खलता जरूर आयेगी। वे निरपराध प्राणियोंको मारेंगे, दीनोंको सतायेंगे, स्त्रियोंको जेलमें डालेंगे और महात्माओंको अप्रसन्न करेंगे। फिर भगवान् अवतार लेकर उनका वध करेंगे।

दितिने कहा—यह तो बहुत खुशीकी बात है कि भगवान् हमारे बेटोंका बध करेंगे। महाराज, मैं इतना ही चाहती हूँ कि ब्राह्मणके हाथसे हमारे बेटे न मरें। क्योंकि ब्राह्मणके हाथसे जिनकी मृत्यु होती है, उसका कल्याण कभी नहीं होता—

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः॥ ४२

ब्रह्मशापसे ही परीक्षितकी भयंकर दुर्गति होनेवाली थी। जिस प्रकार अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे उनकी मृत्यु आयी थी, उसी प्रकार ब्राह्मणकुमारके ब्रह्म-शापास्त्रसे भी वैसी ही मृत्यु होनेवाली थी और उसमें सद्गतिकी कोई गुंजाइश नहीं थी। परन्तु यह तो भगवान्‌की कृपा थी कि पहले तो

उन्होंने अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे रक्षा की, फिर शुकदेवजीके रूपमें आकर ब्रह्मशापास्त्रसे रक्षा करनेवाला श्रीमद्भागवत सुनाया, जो अत्यन्त दुर्गतिककी रक्षा करनेमें भी समर्थ है।

कश्यपजीने कहा कि ठीक है, तुमको सद्विचारका उदय हो गया, पश्चात्ताप हो गया। तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति सत्कार है और मेरा भी आदर है। इसलिए तुम्हारे पुत्रोंमें-से एक पुत्रके चार पुत्रोंमें-से एक पुत्र ऐसा होगा, जिसकी कृपासे—जिसके सामर्थ्यसे तुम्हारे वंशका उद्धार हो जायेगा। लोग उसका आदर करेंगे, उसकी कृपासे सम्पूर्ण विश्वमें प्रसन्नता छा जायेगी, वह महाभागवत, महात्मा, 'महतां महिष्ठः' होगा और वह भगवान्‌की भक्ति करनेके लिए वनमें रहेगा।

देखो, यहाँ प्रह्लादकी याद आते ही कश्यपजी महाराज अपने पुत्रके पुत्रका बखान करने लगे। यहाँ इतनी प्रसन्नताकी आवश्यकता नहीं थी। पर जब मनुष्यको सत्पुरुषकी मीठी-मीठी याद आती है, उसका गुणानुवाद मुँहपर आता है तब जीभ उसको जल्दी छोड़ती ही नहीं। मनुष्य उसका गुणगान करनेमें विवश हो जाता है—

अलम्पटः शीलधरो गुणकारो हृष्टः परद्धर्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता नैदाधिकंतापमिवोडुराजः॥ ४८

कश्यपजी कहते हैं कि प्रह्लाद संसारकी किसी भी वस्तुके लिए लम्पट नहीं होंगे। हर समय उनके स्वभावमें शील बना रहेगा।

देखो, प्रह्लादका शीलाध्याय उनके चरित्रकी एक विशेष कथा है। उन्होंने स्वयं कहा है कि हम सत्य छोड़ सकते हैं, धर्म भी छोड़ सकते हैं, पर शील नहीं छोड़ेंगे। हमारे मन, वचन और कर्ममें शीलवत्ता बनी रहेगी। वे गुणोंके खजाने थे। दूसरेकी उन्नति और सम्पत्ति देखकर खुश होते थे और दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी होते थे। उनका कोई शत्रु नहीं था। वे सबका दुःख मिटाते थे, बाहर-भीतर सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करते थे।

दितिको कश्यपजीके मुखसे यह सब सुनकर बहुत आनन्द हुआ। बोली—अच्छा, हमारे पुत्रको भगवान् मारेंगे और हमारा पौत्र भगवान्‌का इतना बड़ा भक्त होगा! इसके बाद दिति महामना हो गयी, उदार हो गयी और दान करने लग गयी। किसीको खुशी हो और वह कुछ दे नहीं तो समझना चाहिए कि उसको खुशी आयी ही नहीं। 'खुशी' शब्दको आप उर्दूका न समझें। यह सुख शब्दका विपर्यास है। वर्ण-विपर्यय करके शब्दका निर्माण करना निरुक्तकी पद्धति है। इसलिए सुखसे खुश हो गया और सुखी ही खुशी।

❀

मैत्रेयजी कहते हैं कि जब हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दितिके पेटमें आये तब उनके तेजसे देवताओंके पेट फटने लगे। वे सब ब्रह्माजीके पास जाकर बोले—महाराज, यह क्या हो रहा है? सारी सृष्टिका नाश हो रहा है। आप सब बातोंको समझते हैं। हम आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं। आपकी आज्ञाका पालन सारी सृष्टि करती है। आप कृपा करके हमारा कल्याण कीजिये। आज दितिके गर्भसे सारी सृष्टि ही अन्धकारमयी हो रही है।

देवताओंकी बात सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले कि ये भी हमारी ही परम्परामें पैदा हुए हैं। अच्छी-बुरी सारी सृष्टि हमारी परम्परा है। हमारे मानस-पुत्र सनकादि एक बार बैकुण्ठलोकमें चले गये। बैकुण्ठलोकको सभी लोग नमस्कार करते हैं, अपने सिरपर रखते हैं। वहाँके निवासी सबसे ऊँचे हैं और सबके सब भगवान्‌के समान ही मूर्तिवाले होते हैं। उनको सारी सामग्री प्राप्त होती है और वे भगवान्‌की आराधना करते रहते हैं। भगवान् आँख, नाक, या जीभसे नहीं प्राप्त होते, शब्दगोचर हैं। कभी किसीके जीवनमें आते भी हैं तो गरुड़पर चढ़कर ही आते हैं। शब्दरूप गरुड़ है और इनपर आरूढ़ होकर भगवान् आते हैं। वे शब्दके ही विषय हैं अर्थात् शब्दका जप करो तो भगवान्‌का दर्शन होगा, कथाका श्रवण करो तो भगवान्‌का दर्शन होगा।

बैकुण्ठमें कल्पवृक्षोंका नैःश्रेयस वन है। वहाँके भँवरे भी भगवत्कथाका संगीत गाते हैं। चारों ओर सुन्दर-सुन्दर पुष्प और तुलसीकी गन्ध फैली हुई है। सब कुछ मणि-माणिक्यमय है। ऐसा मालूम पड़ता है कि लक्ष्मीजी स्फटिककी गीतमें विचरण करती हैं—स्फटिककी भीतमें प्रतिविम्बित होती हैं। ऐसा लगता है कि वे अपने अङ्ग-अङ्ग बैकुण्ठकी दीवारका सम्मार्जन कर रही हैं। पूजा करते समय सरोवरमें प्रतिविम्बित अपने मुखारविन्दको देखकर इसलिए बहुत प्रसन्न होती हैं कि भगवान्‌ने उसका चुम्बन किया है। जो लोग कामकी प्रधानतासे जीवन व्यतीत करते हैं, उनका उस लोकमें प्रवेश नहीं होता। जो मनुष्य-जातिमें आकर भगवान्‌की अराधना नहीं करते वे मायासे मोहित हो गये हैं। जो भगवान्‌की कथा प्रेमसे सुनते हैं और उनकी आँखोंमें आँसू आते हैं, शरीरमें रोमाञ्च होता है, वही वहाँ जाते हैं।

तो सनकादि उसी वैकुण्ठ लोकमें पहुँच गये। वहाँ जाकर बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने छह दरवाजे पार कर लिये। यह चिन्मय लोक है। वहाँ स्त्री-पुत्रादि रूप प्रथम कोश नहीं है। चार्वाक-वाला अन्नरसमय कोश भी वहाँ नहीं। वह अविद्यामय कोशसे भी विलक्षण है। उस लोकके दरवाजेपर दो केयूरी, कुण्डली, किरीटी देवता पहरा दे रहे थे। उनकी आँखोंमें कुछ लाली थी। उनका नाम था जय-विजय। ये महात्मालोग, सनकादि, उनसे बिना पूछे ही भगवान्‌के धाममें—महलमें प्रविष्ट हो गये। लोगोंने सनकादिकों-से कहा था कि वैसे भगवान् सर्वभूतान्तरात्मा हैं,

अन्तर्यामी हैं लेकिन छिपकर वैकुण्ठमें बैठे हैं। भगवान्ने व्याहके समय भी आँख नहीं खोली, ऐसा वर्णन मिलता है। समुद्र-मन्थनसे जब लक्ष्मीजी निकलीं तो उन्होंने अपने मनमें यह संकल्प किया कि जो हमको नहीं चाहता, उसीसे हम व्याह करेंगी। चाहनेवाले तो दुनियामें बहुत हैं। सब देवता, सब ऋषि, सब मुनि लक्ष्मीको चाहते हैं। उन्होंने देखा कि एक पुरुष समुद्रमें पीताम्बर ओढ़े हुए लेटा हुआ है। उनको आश्चर्य हुआ कि मैं स्वयंवर करने जा रही हूँ और यह लेटा हुआ है? वे पास गयीं तब भी भगवान्ने आँख नहीं खोली। बस, उन्होंने जयमाला पहना दी, जब जयमाला पहनाने-पर भी भगवान्की आँख नहीं खुली तो बैठकर पाँव दबाने लगीं। उन्होंने यह निर्णय किया कि यह विरक्त ही मेरा आराध्य हो सकता है।

अब लोगोंने कहा कि भगवान् तो सो गये शेषशय्यापर और लक्ष्मी दबाने लगीं पैर। इसलिए अब उनका दर्शन बड़ा दुर्लभ हो गया। इसपर सनकादिने कहा कि देखते हैं कि कैसे उनका दर्शन दुर्लभ होता है? हम उनको निकालकर न लाये तो हमारा नाम नहीं। फिर लोगोंने कहा अरे, मनकी जय करो तब भगवान्का दर्शन होगा। बिना जय-विजयके भगवान् कहाँसे मिलेंगे? किन्तु सनकादिकोंने कहा कि भगवान् तो वह होना चाहिए, जो सबका हो।

अब द्वारपाल जय-विजयने पाँच वर्षके बालकोंको घुसते देखकर उन्हें झट बेंतसे रोक दिया और कहा कि तुम लोग भीतर नहीं जा सकते। देखो, वृत्रासुरका बेंत यहाँ भी पहुँच गया। किन्तु ज्ञान भी चाहिए भगवान्की प्राप्तिके लिए। जय-विजयके रोकनेपर सनकादिकोंको आगया क्रोध। वे बोले कि यह तो समदर्शी लोगोंके रहनेकी जगह है। तुम लोगोंका स्वभाव विषम है। जो भगवान्को जान लेते हैं, उनकी भेद-वृत्ति मिट जाती है। तुम लोग भगवान्के पास रहते हो और इतना भेद करते हो? तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो। इसलिए तुमलोग उस लोकमें जाओ, जहाँ काम-क्रोध-लोभ रहते हैं। भगवान्के पास आनेवालोंको रोकनेके लिए तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिए।

इस प्रकार सनक-सनन्दनके मुखसे ऐसी बात निकल गयी, जो अवश्यम्भावी है। उनका ब्रह्मशाप अनिवारण है, उसकी कोई रोक नहीं है। जय-विजय अपने मालिकके इस स्वभावको जानते हैं कि वे उनकी बात नहीं रखेंगे, अपनी भी नहीं रखेंगे, इन महात्माओंकी ही रखेंगे।

एक बात और भी हो गयी थी। एक दिन लक्ष्मीजी आ रही थीं। जय-विजय दरवाजेपर खड़े थे। वे भगवान्के मुँह-लगे थे। उन्होंने कहा कि देवीजी जरा ठहरिये। लक्ष्मीजीने पूछा क्यों? जय-विजय बोले कि अभी स्वामी शयन कर रहे हैं, विश्राम कर रहे हैं, इसलिए आप बाहर ही रहियें, भीतर मत जाइये। इसपर लक्ष्मीजीको बहुत क्रोध आया। उन्होंने सोचा कि ये नौकर होकर मालकिनको रोकते हैं। इनको घरसे निकाल देना चाहिए, उन्होंने भगवान् विष्णुके पास जाकर

सब कुछ कहा। भगवान् विष्णुने उत्तर दिया कि देवी, चुप रहो, अगर तुम्हारी वजहसे हम इनको निकालेंगे तो लोग यही कहेंगे कि मैंने पत्नीकी बात मानकर अपने सेवकोंको, भक्तोंको संसारमें भेज दिया। हमारी बहुत बदनामी होगी, इसलिए जरा चुप रहो ! जब ये किसी सन्तका अपराध करेंगे तब इनको जरूर निकाल देंगे। फिर किसीको कोई शिकायत नहीं होगी और लोग कहेंगे कि देखो, भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं, कितने सन्तसेवी हैं। इस प्रकार एक ओर हमारा यश बढ़ेगा और तुम्हारे मनकी भी हो जायेगी। भक्तोंको भी बड़ा भारी आश्वासन मिलेगा।

इधर जय-विजय डरकर उन महात्माओंके चरणोंमें गिर गये और बोले कि महाराज, आपने जो दण्ड दिया वह उचित है। बस, एक कृपा कर दें कि हम चाहें किसी भी योनिमें जायँ, हमारी शक्ल-सूरत चाहे कुछ भी हो; लेकिन हमें भगवान्का स्मरण बना रहे, भगवान्की स्मृति न छूटे।

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। उन्हें पता लग गया कि उनके सेवकोंने महापुरुषोंका अपराध कर दिया। देखो, जिसका आदर स्वयं भगवान् करते हों, उसका तिरस्कार यदि कोई भक्त करता है तो वह भगवान्के मतके अनुसार चला या उनके मतके विपरीत चला ! यदि कोई भक्त यह समझता है कि भगवान् भोले-भाले है, सीधे-सादे हैं, मैं बड़ा चालाक हूँ, इसलिए अमुकका तिरस्कार करके छोड़ूँगा, तो समझो कि वह भक्त अभिमानमें आगया। ऐसा अभिमान भक्तमें नहीं आना चाहिए। भगवान्ने लक्ष्मीजीसे कहा कि देवी, चलो ! हमारे लोकके ये सेवक मृत्युलोकमें गिरेंगे तो हमारी क्या प्रतिष्ठा बढ़ेगी ? इसमें हम दोनोंकी बेइज्जती है। भगवान् लक्ष्मीजीके साथ तुरन्त आगये। उनके चेहरेपर कोई असर नहीं है। वे तो प्रसाद-वर्षा करनेके लिए उन्मुख हैं। अपने प्रेमपूर्ण कटाक्षसे सबको सुख दे रहे हैं। वे अपने सब वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं। उनका एक हाथ गरुड़के कन्धेपर और दूसरे हाथमें कमल है। शरीरपर पीताम्बर है, बड़े ही सुन्दर हैं। इस प्रसंगकी यह रचना बड़े-बड़े कवियोंको मात देनेवाली है—

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्॥ ३९
पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम्॥ ४०

श्री शुकदेवजी महाराजने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। श्रीशुकदेवजी ही क्यों, मैत्रेयजी कहो; सूतजी कहो, व्यासजी कहो, नारदजी कहो, अथवा ब्रह्माजी कहो—किसीको भी ले लो, बोलता अन्तर्यामी ही है। भीतर बैठा हुआ जो ईश्वर है, उसीको देखना चाहिए।

तो, कौस्तुभधारी भगवान् लक्ष्मीजीके साथ आये। वे अपने सौन्दर्यसे लक्ष्मीजीके शृङ्गारका भी तिरस्कार कर देते हैं। लक्ष्मीजी सोचती हैं कि मेरे समान सुन्दर और कोई नहीं है। किन्तु जब

भगवान्‌का सौन्दर्य प्रकट होता है तो क्या कहना !

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥ ४३

अरविन्दनयन भगवान्‌के पादारविन्दकिञ्जल्कसे मिश्रित तुलसी-मकरन्दकी वायु नासिका-विवरसे सनकादिकोंके भीतर प्रविष्ट हुई। यद्यपि वे अक्षर ब्रह्ममें निष्ठावाले थे, परन्तु भगवान्‌के श्री विग्रहकी सुगन्धसे उनके चित्तमें द्रवता आगयी और शरीरमें पुलकावलि छा गयी। वे भगवान्‌के सौन्दर्यको देखकर उन्हींके ध्यानमें मग्न हो गये। जिनको बड़े-बड़े योगी योगाभ्यासके द्वारा देखते हैं, नयनाभिराम भगवान्‌के मनुष्यवत् शरीर—पौंस्नं वपुः (४५)को देखकर सनकादि महात्मा आनन्दमें मग्न हो गये।

उन्होंने कहा कि महाराज, आप तो सबके हृदयमें छिपे रहते हैं, परन्तु आज हमारी आँखोंके सामने प्रकट हो गये हैं। आप जब कानके छेदोंसे हृदयकी गुहामें आते हैं तब आँखसे भी दिखायी देते हैं। देखो, भगवान्‌के प्रकट होनेकी प्रक्रिया। वे पहले कानके छेदसे हृदयमें आते हैं और जब हृदयमें भर जाते हैं तो आँखोंके रास्ते निकलकर दिखाई पड़ते हैं। जिसके कानमें ही नहीं आये, वह चाहे कितना भी कहे कि हम तो भीतर ही खोद-खोदकर निकालेंगे व्यर्थ है। भला, भगवान् खोदनेपर निकल सकते हैं। परन्तु जिसने पूर्वजन्ममें हृदयके भीतर भर लिया है, उसको अवश्य भीतर मिलेंगे। यदि वे पूर्वजन्ममें भीतर भरे हुए नहीं होंगे तो इस जन्ममें उनको कानके द्वारा भीतर ले जाकर हृदयमें बैठाना होगा और फिर वे आँखमें आयेंगे तथा दर्शन देंगे। जिसके पूर्वजन्मोंमें हृदयमें भीतर नहीं गये, वह चाहे जितना भी ध्यान लगाये, जितनी भी समाधि लगाये, जितना भी खोजे, यदि वे कानसे सुने हुए नहीं होंगे तो नहीं आयेंगे। हृदयमें भगवान्‌के आनेका मार्ग कान ही है। बड़े-बड़े वैराग्यवान् मुनि भी भक्तियोगके द्वारा अपने हृदयकी ग्रन्थिका भेदन करते हैं और मोक्षको दो कौड़ीका नहीं समझते—जब कि वह बहुत बड़ी वस्तु है। उनके लिए स्वर्ग क्या है? वे तो बस कथाके रसज्ञ हैं और उसीमें मग्न रहते हैं।

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते। ४८

सनकादिकोंने कहा कि महाराज, हमने अपराध तो जरूर किया है। उसके लिए हमको भले ही नरकमें जाना पड़े, किन्तु हम वहाँ भी सुखी रहेंगे। बस, केवल एक बात हम चाहते हैं। वह यह कि जैसे भ्रमर कमलमें रमता है वैसे ही हमारा चित्त आपके चरण-कमलमें रमण करे। हमारी वाणी आपके ही चरणारविन्दकी चर्चामें लगी रहे। हमारे कानोंके छेद आपके गुण-गण श्रवणसे ही परिपूर्ण हों। आपने हमें जो यह रूप दिखाया है, उससे हमें परमानन्दकी प्राप्ति हुई है।

❦

ब्रह्माजी कहते हैं कि इस प्रकार जब सनकादिकोंने स्तुति की तब भगवान् उनका अभिनन्दन करते हुए बोले कि, देखो महापुरुषो, ये जय और विजय हमारे पार्षद हैं। इन्होंने आपका जो तिरस्कार किया है, वह मेरा ही तिरस्कार है, क्योंकि मेरा तिरस्कार किये बिना कोई आप-जैसे सन्तोंका तिरस्कार कर ही नहीं सकता। आपके रूपमें मैं ही तो हूँ, इसलिए इन्होंने बड़ा भारी अतिक्रम किया है। उसके लिए आपने इनको जो दण्ड दिया वह हमको अभीष्ट है—परन्तु एक बात है। आपने जो दण्ड दिया उसके लिए मैं आपको मनाना चाहता हूँ। आप प्रसन्न हो जाइये, क्योंकि आप हमारे इष्टदेव हैं—

तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः। ४

अब आप यहाँ अवश्य ध्यान दें। भगवान्के इस कथनमें यह व्यङ्ग्य है कि ये पार्षद तो हमारे अपने हैं, इनका किया हुआ अपराध हमारा अपना अपराध है। परन्तु आपका तिरस्कार इनको नहीं करना चाहिए था। मतलब यह कि आप सनकादि पराये हैं और जय-विजय बिलकुल अपने हैं। इनका अपराध मैं आपसे क्षमा कराता हूँ। जब किसी स्वामीके सेवकका नाम लेकर यह कहा जाता है कि अमुकके सेवकने यह अपराध किया है तो सेवकको तो कोई जानता ही नहीं, स्वामीकी ही बदनामी होती है।

भगवान्ने कहा कि हमें ऐसी कीर्ति मिली है कि यदि चाण्डाल भी उसका श्रवण करे तो पवित्र हो जाये परन्तु यह कीर्ति तो आप लोगोंसे ही तो मिली है। ऐसी स्थितिमें यदि आपके विपरीत कोई आचरण करता है तो वह क्षमाके योग्य नहीं। और तो और—

'छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्' (६) यदि हमारा यह हाथ भी आपके विपरीत काम कर दे तो हम इसको काटकर फेंक देंगे।

इस प्रकार भगवान् जय-विजयको अपना हाथ बता रहे हैं और कह रहे हैं कि हमको आपके चरणोंकी कृपासे ही लक्ष्मी मिली हैं, जो हमें कभी नहीं छोड़ती, जिसके लिए लोग बड़े-बड़े नियमोंका पालन करते हैं। मैं अग्निके मुखसे भोजन नहीं करता, किन्तु ब्राह्मणके मुखसे करता हूँ।

'यद् ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं, तुष्टस्य' (८) हमें अग्निकी अपेक्षा ब्राह्मणका मुख अधिक पवित्र लगता है। कोई मुझे ब्राह्मणके मुखसे भोजन कराये तो मैं प्रति ग्रासपर तृप्त होता हूँ। यद्यपि हमारे चरणोंके जलसे दुनिया पवित्र होती है परन्तु हम तो ब्राह्मणोंकी चरणरजको ही अपने सिरपर धारण करते हैं।

यहाँ भगवान् सनकादिकोंको ही ब्राह्मण बता रहे हैं और कह रहे हैं कि आपका अपराध भला कौन कर सकता है? आप तो हमारे शरीर हैं। जो आपको मेरा रूप नहीं देखता, उसकी दुर्गति

होती है। किन्तु जो आप सब महात्माओंकी, ब्राह्मणोंकी भगवद्-बुद्धिसे पूजा करता है, वह मुझे वशमें कर लेता है। सबसे बड़े दुःखकी बात यही है कि हमारे सेवक होकर भी जय-विजय हमारे अभिप्रायको नहीं समझते और न यह देखते हैं कि मैं महात्माओंका ब्राह्मणोंका—कितना आदर करता हूँ—

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः। १२

देखो, कायदेकी बात यह थी कि जिसने शाप दिया, वही अनुग्रह करता, लेकिन यहाँ स्वयं भगवान् अनुग्रह कर रहे हैं और कहते हैं कि इन्होंने आपका जो अपराध किया है, उसका फल भोगकर थोड़े ही दिनोंमें ये मेरे पास आजायेंगे। ये हमारे सेवक हैं। इनको जो इतने दिनोंका वियोग होगा वह जल्दी समाप्त हो जायेगा, ऐसा होना चाहिए।

देखो, भगवान्‌की वाणी क्या है? सेवकका, भक्तका पक्षपात ही तो है। भक्तिमें वक्ता भी पक्षपाती होता है, वह अनिवर्चनीय कहकर सब नहीं छोड़ सकता। यदि वक्ता अनिर्वचनीय कहकर छोड़ दे तो लोगोंके हृदयमें भक्ति नहीं आयेगी। वह यह नहीं कह सकता कि सब बराबर हैं, सब सम हैं। समदर्शी होकर भक्त नहीं रह सकता। उसके लिए तो भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ होता है। शुकदेवजी पक्षी हैं, काकभुशुण्डिजो पक्षी हैं किन्तु भगवान् तो उनसे भी बड़े पक्षी हैं और दौड़-दौड़-कर अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। भक्त-पक्षपात ही भगवान्‌का स्वरूप है।

सनकादिकोंने भगवान्‌के द्वारा एक ऐसा रहस्य प्रकट कर दिया, जो जल्दी देखनेमें नहीं आता। वह रहस्य क्या है? यही है कि यदि भगवान्‌के सेवकसे सनत्कुमार-जैसे बड़े सन्तका अपमान हो हो जाये, वह भी उनके खास धाम बैकुण्ठमें तो भी भगवान् अपने भक्तको क्षमा कर देते हैं। बोले कि इनका तो तीन बार ही जन्म होगा, किन्तु मुझे इनके लिए चार बार जन्म लेना होगा। इन दोनों भाइयोंके लिए दो अवतार, फिर इनके अगले जन्म रावण-कुम्भकर्णके लिए तीसरा अवतार राम और शिशुपाल-दन्तवक्त्रके लिए चौथा अवतार कृष्ण। हिरण्याक्षके लिए वराह बनना होगा। हमारे भक्त यदि गलत काम करेंगे, गलत शक्ल-सूरतमें जायेंगे, तो हम भी गलत शक्ल-सूरतमें प्रकट होंगे। अपने भक्तके लिए हम एक कदम आगे ही रहेंगे। यदि हमारा भक्त उग्र हिरण्यकशिपु बनेगा तो हम भी उग्रतर नृसिंह बन जायेंगे।

अब जब सनकादिकोंने भगवान्‌की 'गुर्वर्थगह्वराम्—अगाधगम्भीराम्' (१४) अर्थात् अर्थपूर्ण, सारयुक्त, और गम्भीरवाणी सुनी तो उनकी समझमें नहीं आया कि भगवान् क्या करना चाहते हैं? वे हाथ जोड़कर बोले कि प्रभो, आप स्वामी होकर भी हमें कहते हैं कि तुम लोगोंने कृपा की—'यदध्यक्षः प्रभाषसे' (१६)। इसका क्या तात्पर्य है?

देखो, अध्यक्ष शब्दका अर्थ होता है सभापति, सभाध्यक्ष। दूसरा अर्थ होता है—अधी याने

बुद्धिरहित मूर्ख। अधीषु अक्षाणि यस्य स अध्यक्षः। जो सभामें बैठे हुए बहुत सारे बेवकूफोंपर नजर रख कि ये लोग गलत काम न करें, उसको अध्यक्ष कहते हैं। अध्यक्ष या अधीश्वरमें छोटी इ, बड़ी ई-का भी फर्क नहीं पड़ता। व्याकरणकी दृष्टिसे दोनोंमें एक ही सन्धि होती है।

सनकादि बोले कि भगवान् आप ब्राह्मणोंके भक्त हैं, इसलिए ब्राह्मणोंको अपना देवता बताते हैं। यह ठीक ही है, क्योंकि आपके अवतार धर्मकी रक्षाके लिए होते हैं। किन्तु आपके अनुग्रहसे तो योगी लोग मृत्युको तर जाते हैं फिर आपके ऊपर हम क्या अनुग्रह करेंगे? बड़े-बड़े अर्थी आपके चरण-रेणुको सिरपर धारण करते हैं। लक्ष्मी हमेशा आपकी सेवा करती है। किन्तु आप कहते हैं कि ब्राह्मणोंके चरण-रेणुसे हमको यह लक्ष्मीस्वरूपा सम्पत्ति प्राप्त हुई। असलमें आपका यह कथन लोक-संग्रहके लिए है कि सब लोग ब्राह्मणोंका, महात्माओंका, विद्वानोंका आदर करें। इसीलिए आप ऐसा कह रहे हैं। यदि आप ब्राह्मणोंकी रक्षा नहीं करेंगे, तो वेदमार्गका नाश हो जायेगा। आपके चरणोदकसे ही यह चराचर पालित है। किसीको नमस्कार करनेसे प्रभाव क्षीण नहीं होता। जो लोग किसीको नमस्कार करते देखकर कहते है कि हमको इतना बड़ा आदमी नमस्कार करता है, इसलिए यह छोटा है और हम बड़े हैं, यह ठीक नहीं है। वास्तवमें नमस्कार करनेवाला ही बड़ा है। उसके अन्दर विनयरूप सद्गुण है। वह निरहंकार है, जो अपनेको छोटा बनाकर दूसरेको नमस्कार करता है। जिसको नमस्कार किया जाता है, उसमें यदि यह अभिमान है कि हम बड़े हैं तो वह वास्तवमें छोटा है। निःसन्देह जिसमें अभिमान है, वह छोटा है, जिसमें विनय है, वह बड़ा है।

प्रभो, हम लोगोंने जय-विजयको जो दण्ड दिया है, उसका आपने अनुमोदन कर दिया—इससे आपका प्रभाव क्षीण नहीं होता। हम यह मानते हैं कि हमसे गलती हो गयी। हम बैकुण्ठमें आये और आपके पार्षदोंका दर्शन हुआ। किन्तु यहाँ हमने कामानुजको बुला लिया जब कि बुलाना चाहिए रामानुजको 'कामका छोटा भाई क्रोध है'—'कामात्क्रोधोभिजायते' (गीता २·६२) इसलिए क्रोधको कामानुज बोलते हैं। भागवतमें इस शब्दका प्रयोग है—'कामानुजेन सहसा।'

प्रभो, आप चाहे तो हमको ही दण्ड दे दें। आपका दिया हुआ दण्ड हम भोगनेके लिए तैयार हैं, क्योंकि हम अपने अपराधको स्वीकार करते हैं।

यहाँ देखो, सनकादि यह नहीं कहते कि यदि हमसे कोई अपराध हुआ तो क्षमा करें। असल में, ऐसी भाषा बोलनेवाले अपना अपराध कबूल नहीं करते। किन्तु सनकादि साफ-साफ कहते हैं कि हमसे अपराध हो गया है—'येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण' (२५)। हमने आपके निरपराध सेवक जय-विजयको शाप दे दिया। उनका तो यह कर्त्तव्य ही था कि वे द्वारपाल होनेके नाते यहाँकी मर्यादाके अनुसार काम करते। उन्होंने हमें रोककर अपने कर्त्तव्यका ही पालन किया। हमें चाहिए था कि हम भीतर जानेके पहले उनसे पूछते। परन्तु उनसे नहीं पूछा।

सनकादिकोंको बात सुनकर भगवान् बोले—मुनिगण आप लोग कोई विचार न करें। आपने मेरी प्रेरणासे ही इनको शाप दिया है। अब ये शीघ्र ही दैत्य होंगे और जल्दी ही मेरे पास लौट आयेंगे। वैकुण्ठकी दृष्टिसे एक चतुर्युगी, दस चतुर्युगी या एक मन्वन्तरकी कोई कीमत नहीं होती। ये वहाँ जायेंगे, हमपर क्रोध करेंगे और फिर हम इनका उद्धार करेंगे।

भगवान्‌ने धीरेसे सनकादिकोंके कानमें कह दिया कि महाराज, कभी-कभी हमारे मनमें विचार होता था कि हम लेटे रहते हैं, इसलिए हमारे हाथ-पाँव जरा अलसा रहे हैं। कोई लड़नेवाला मिले तो ठीक हो। अतः आपने इनको भेज दिया, बहुत अच्छा किया। अब हम इनके साथ दो-दो हाथ करके अपना व्यायाम कर लेंगे और फिर यहाँ लौट आयेंगे। आपके इस शापका निर्माण तो मैंने ही किया था—'शापो मयैव निर्मितस्तदवैत विप्राः' (२६)।

ब्रह्माजी देवताओंसे कहते हैं कि महात्मा लोग नयनानन्द-भाजन बैकुण्ठ तथा वैष्णवी लक्ष्मीका दर्शन करके उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँसे लौट गये। इधर भगवान्‌ने जय-विजय नामक अपने दोनों पार्षदोंसे कहा कि अब तुम लोग जाओ। वहाँ जाकर निर्भय रहना। तुम थोड़े ही दिनोंमें वैर-योगसे हमारे पास लौट आओगे। तुम्हें साधु-महात्माओंने जो शाप दिया है, उसका तुम लोग निस्तरण करोगे। यह कहकर भगवान् अपने धाममें चले गये और जय-विजय हतश्री, नष्ट-गर्व होकर बैकुण्ठसे गिर पड़े। उनको निकलते देख सारी सृष्टिमें हाय-हाय मच गयी !

ब्रह्माजीने आगे बताया कि देवताओ ! वही जय-विजय दितिके गर्भमें रह रहे हैं। इसीलिए तुम लोग चिन्ता मत करो। तुम तो इस बातका ध्यान रखो—

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥ ३७

जो सृष्टिके मूल कारण हैं और बड़े-बड़े योगेश्वर भी जिनकी योगमायाको नहीं समझ सकते, वे ही त्रिगुणमयी मायारूप नर्तकीको नचानेवाले भगवान् हमारा कल्याण करेंगे। इसके लिए अपनी अक्लको तकलीफ देनेकी कोई जरूरत नहीं क्योंकि हमारे विमर्श, हमारे ऊहापोह, अथवा हमारी उधेड़-बुनका कोई मतलब नहीं। हमारा कल्याण करनेवाले तो भगवान् हैं। जबतक उनके वरद-हस्तकी छत्र-छाया हमारे सिरपर है, हम आनन्दमें बैठे हैं, फिर चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है ?

देखो, एक कविने कितना सुन्दर कहा है—

चिन्ता करे बलाय हमारी, जगतीके जंजाल की।
बलिहारी बलिहारी बोलो, गिरधारी नन्दलाल की॥

: १७ :

मैत्रेयजीने कहा कि विदुरजी, ब्रह्माजीकी बातोंसे देवताओंको सन्तोष हो गया। उनको आगेकी कथा भी मालूम हो गयी कि भावी संकटसे भगवान् ही रक्षा करनेवाले हैं। अब सब देवता स्वयं चले गये।

इधर जब जय-विजय दितिके गर्भमें आये तो मर्त्यलोक, आकाश, तथा लोगोंके शरीरमें अपशकुन होने लगे। बारम्बार भूकम्प आये, दिशाओंमें आग लगे, केतुओंका उदय हो, बड़ी तेज वायु चले, लोग अपनेसे बड़ोंका तिरस्कार करें, गधे रेंकें, गायके थनोंसे दूधकी जगह खून निकले और स्त्रियाँ रुदन करें। बड़े बड़े उत्पात होने लगे।

देखो, जगत्में जब कोई अपशकुन होनेवाला होता है तो प्रकृति भी रोने लगती है। जब सन् इकतीसमें हमारे सामने भयंकर भूकम्प आया था, तब उसके आनेसे पहले ही पक्षी पेड़ोंसे उड़-उड़कर चिल्लाने लगे। गाय-बैल तथा दूसरे पशु रस्सी तोड़कर इधर-उधर भागने लगे। उन प्रकृति-प्रेमी पक्षियों और पशुओंको पहले ही मालूम पड़ गया कि भूकम्प आयेगा। प्रकृतिसे भावीकी सूचना किसी-न-किसी प्रकार आजाती है।

तो दितिके गर्भसे दो बालक पैदा हुए। बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु और छोटेका हिरण्याक्ष रखा गया। हिरण्यकशिपुने ब्रह्माके वरसे त्रिलोकीको वशमें कर लिया और हिरण्याक्ष हाथमें गदा लेकर त्रिलोकीमें घूमने लगा। उसके शौर्य-वीर्यको देखकर देवता लोग भाग जाते थे।

देखो, भगवान्का पार्षद दैत्य हो जाय तो भी वह देवताओंसे बड़ा ही रहता है। उसके सामने देवतालोग नहीं टिक सकते। हिरण्याक्षने देखा कि स्वर्गके देवता तो बिलकुल पौरुषहीन हैं। वह समुद्रमें गया। वहाँ उसने वरुणके दूतोंको खूब मारा। फिर वरुणपुरीमें जाकर वरुणको ललकारते हुए कहा कि तुम हमसे युद्ध करो। वरुणजी बुद्धिमान् थे। उन्होंने सोचा कि जैसे पत्थरसे टकराना नासमझी है, वैसे ही बलवान् शत्रुके साथ भिड़ जाना भी बेवकूफी है। कौटिल्य अर्थशास्त्रका सूत्र है कि 'बलवता संदधीत'—यदि शत्रु बलवान् हो तो उससे लड़ाई न छेड़कर सन्धि कर लेनी चाहिए। भले ही वह अपना बल बटोरता रहे, सेना बढ़ाता रहे और जब शक्तिशाली हो जाय तब लड़े; लेकिन अपनेसे बलवान्के साथ नहीं टकरावे।

हिरण्याक्षकी ललकार सुनकर बुद्धिमान् और वृद्ध वरुणने कहा कि हम तो संन्यासी हो चुके हैं। तुमसे क्या लड़ाई करें? तुम पुराण-पुरुषके पास जाओ। वही तुम्हें शान्त करनेके लिए पर्याप्त हैं। जब तुम उनके पास जाओगे तो उनसे लड़कर धरतीपर गिरोगे और कुत्तोंसे घिरकर मारे जाओगे।

: १८ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि वरुणकी बात हिरण्याक्षको अच्छी तो नहीं लगी लेकिन उसने सोचा कि जिसकी चर्चा वरुणने की है वह शायद मुझसे लड़ने योग्य होगा इसलिए चलकर उसको देखें तो सही।

अब नारदजी महाराज वहाँ पहुँच गये। वे ऐसे लोगोंको भी अपना चेला बनाते हैं। उनका मतलब यही रहता है कि वे जिसको दर्शन देते हैं, वह भगवान्‌का स्मरण करें एवं तदाकार हो जायँ। वह किस निमित्तसे स्मरण करता है—कामसे, क्रोधसे या लोभसे, इसपर ध्यान देनेकी जरूरत नहीं। वह किसी भी निमित्तसे भगवत्स्मरण करेगा, उसकी वृत्ति तो भगवदाकार होगी ही। वैष्णवजनोंमें यह प्रवृत्ति देखनेमें आती है कि उनकी शिष्य-परम्परा खूब बढ़े। उस प्रवृत्तिके मूलमें नारदजी ही हैं। वे चाहते हैं कि प्राणीमात्रका उद्धार हो जाय। नारदजीका व्रत लोकोद्धारका व्रत है।

तो, नारदजीने हिरण्याक्षको बता दिया कि तुम्हें जो भगवान् मिलेंगे, वे शङ्ख-चक्र-गदाधारी नहीं होगें। तुमसे मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी भगवान्‌का ध्यान नहीं होगा। जैसा पुजारी होता है, वैसा ही देवता चाहिए। तुम्हारे लिए भगवान् वराह-रूपमें प्रकट हो गये हैं और वे आजकल पृथिवीका उद्धार करनेके लिए पातालमें गये हुए हैं। जा तू उनके पास जा। हिरण्याक्ष चल पड़ा और चलते-चलते पातालमें प्रविष्ट हो गया। वहाँपर उसने देखाकि एक वराह अपनी दाढ़पर धरतीको उठाकर

ले जा रहा है और कहता है कि प्रिये ! तुम्हारा बहुत भारी अपमान हुआ, नीचे गिरना पड़ा। इस प्रकार बड़े प्यारसे धरतीको चुम्बन करते-से प्रतीत हो रहे थे, वराह भगवान्।

देखो, आजकल धरतीपर जितने शूकर होते हैं, वे भी पृथिवीका चुम्बन करते रहते हैं। खराब-से-खराब चीजको भी अपना भोग्य बनाते हैं। माटी और कीचड़से लथपथ रहते हैं। जैसे शालग्राम भगवान् तुलसीको अपने शरीरपर धारण किये रहते हैं वैसे ही शूकर पृथिवीके अंगको अपने शरीर-पर रखते है। यह लीला देखनेमें आती है।

हिरण्याक्षने देखा तो ललकारा कि अरे ओ शूकराकृते, अरे ओ सूअर, यह धरती तो हमारी है। इसे तो ब्रह्माजीने हमको दिया था। तू क्यों इसकी चोरी करके लिये जा रहा है ? यह कहते हुए हिरण्याक्ष बार-बार गदा घुमाये और लड़ाईके लिए ललकारे। लेकिन वराह भगवान्ने सोचा कि शत्रु चाहे जितना भी ललकारे, पहले अपने कामको मजबूत कर लेना चाहिए और उसके बाद उससे लड़ाई लड़नी चाहिए।—'स्वकार्यं साधयेद् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता'—बुद्धिमान्का काम है कि वह पहले अपना काम बनाये। अपने कामको बिगाड़ लेना मूर्खता है।

वराह भगवान्ने हिरण्याक्षकी कोई परवाह नहीं की। पहले पृथिवीको जलके बिलकुल ऊपर रख दिया। वह कहता रहा कि अरे, भागते हो ? पीठ दिखाते हो ? लेकिन भगवान् उसकी अनसुनी करते रहे। जब उन्होंने पृथिवीको जलपर रख लिया तब बोले कि ठीक है, हम पशु हैं, सूअर हैं, वनमें रहनेवाले हैं। तुम्हारी बातकी हम परवाह नहीं करते। अब तुमसे दुश्मनी हो गयी है। हम भागेंगे भी कहाँ ? आओ, दो-दो हाथ हो जायें।

इसप्रकार भगवान्ने लड़ाईके लिए ललकारा ! हिरण्याक्षने गदा मारी। भगवान्ने उसको बचा लिया, बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। इसी बीच वहाँ ब्रह्माजी आगये और बोले कि सन्ध्याकाल होने, रात आनेपर असुरोंका बल बढ़ जाता है। इसलिए आप इसको दिनमें ही मार डालें। यह कालरूप स्वयं चलकर आपके पास आगया है। अब आप इसको मार ही डालिये।

नीति कहती है कि अपने पास शक्ति हो तो शत्रुके विनाशमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि बचा रहेगा तो दुःख देगा। तुलसीदासजीने कहा है—'रिपु रुज पावक पाप एहि गनिय नहिं छोट करि।' इनको कभी छोटा नहीं गिनना चाहिए, समाप्त ही कर देना चाहिए।

☙

: १९ :

भगवान् तो स्वयं यह चाहते थे कि ब्रह्मा आवें और हिरण्याक्षको मारनेके लिए कहें। इसलिए जब ब्रह्माजीने वहाँ आकर उसको मार डालनेके लिए प्रेरित किया, तब उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् हँसे और जरा नजर टेढ़ी करके हिरण्याक्षकी ओर देखा। फिर भगवान्ने अपनी गदासे दैत्यपर प्रहार किया। दैत्यने भी भगवान्की गदापर अपनी गदा मारी। अब भगवान्के हाथसे गदा गिर पड़ी। चारों ओर हाय-हाय मच गयी। देवता लोग कहने लगे कि ऐसा तो कभी सृष्टिमें हुआ ही नहीं। यह अद्‌भुत हो गया। इसलिए यह बात कही गयी कि आप हिरण्याक्षको मामूली बात न समझें, वह तो भगवान्के हाथसे उनकी चिन्मयी गदाको भी गिरानेमें समर्थ था। कभी-कभी महाप्रलयका ऐसा समय आता है कि वेद-वाणी भी सुषुप्त हो जाती है, भगवान्की गदा क्या है? संस्कृतमें 'गद्' धातुसे गदा शब्द बना है, जिसका अर्थ मारनेवाला नहीं होता, बोलने-वाला होता है। भगवान्की गदा बोलती है और सबका अपवाद करके परमात्माका साक्षात्कार करवाती है। किन्तु हिरण्याक्षके प्रहारसे वह भी गिर गयी। बड़ा भारी आश्चर्य हुआ!

अब भगवान्ने सुदर्शन-चक्रका स्मरण किया। हिरण्याक्षने भगवान्पर फिर अपनी गदा चलायी। किन्तु भगवान्ने अपने बायें पाँवसे उसकी गदा गिरा दी। हिरण्याक्षने शूल आदिका प्रयोग किया, उसकी मायासे भगवान्के ऊपर पहाड़ आदिकी वर्षा होने लगी। किन्तु भगवान्ने अपने सुदर्शन-चक्रसे उसकी मायाका नाश कर दिया। जब उसकी सारी माया नष्ट हो गयी, तब भगवान्ने

कसकर उसको एक घूंसा मारा। ये असुर ऐसे हैं, जो भगवान्के अस्त्र-शस्त्रसे तो नहीं मरते, किन्तु घूंसेसे मर जाते हैं। भक्त लोग समझते हैं कि भगवान्के चक्रमें, गदामें ताकत होगी, उनके हाथ तो बड़े सुकुमार हैं। लेकिन ऐसा नहीं है, जो काम गदासे या चक्रसे नहीं होता, वे काम उनके हाथ कर लेते हैं।

तो भगवान्ने एक ऐसा धूसा मारा हिरण्याक्षकी कनपटीपर कि उसकी आँख निकल आयी और वह धरतीपर गिर गया। ब्रह्मा आदि आकर उसकी प्रशंसा करने लगे और बोले कि इसके सौभाग्यका वर्णन कौन करे, जिसको भगवान्ने स्वयं अपने हाथसे मारा है। वह तो एक-दो जन्मोंके बाद फिर पास जाने ही वाला है। फिर देवताओंने वराह भगवान्की स्तुति करते हुए कहा कि आप अखिल-यज्ञके तन्तु हैं, मूल कारण हैं। यह प्रसंग पहले आगया है कि यज्ञकी सारी सामग्री, समग्र यज्ञ; भगवान्के वराह-शरीरमें हैं। अब भगवान् वराह अन्तर्धान हो गये। वराहपुराणमें इस चरित्रको और भी बढ़ाया हुआ है। उसके अनुसार हिरण्याक्ष-वधके तुरन्त बाद भगवान् अन्तर्धान नहीं हुए। वे पृथिवीपर रहे और उन्होंने पृथिवीसे विवाह कर लिया। भगवान् वराहका एक नित्य लोक है—वराह-लोक। उसमें वे पृथिवी देवीके साथ विहार करते हैं।

यह कथा सुनकर विदुरको बहुत आनन्द हुआ। जब दूसरे भक्तोंकी कथा सुननेपर भी अत्यधिक आनन्दका अनुभव होता है तब साक्षात् परमेश्वरकी कथा सुननेको मिले तो कहना ही क्या है? भगवान् ऐसे भक्तवत्सल हैं कि जब गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ लिया और उसकी हथिनियाँ रोने-चिल्लाने लगीं तब उन्होंने वहाँ जाकर अपना ध्यान करनेवाले गजेन्द्रकी रक्षा की। भगवान् तो नाम लेनेमात्रसे, याद करनेमात्रसे और ध्यान करनेमात्रसे खुश हो जाते हैं। उनको खुश करनेमें कोई कठिनाई नहीं। इतने पर भी जो लोग भगवान्की सेवा नहीं करते, उनके सम्बन्धसे यही समझना पड़ेगा कि उनका जीवन साधुतासे रहित है।

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम्।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम्॥ ३८

यहाँ वराह-चरित्रका प्रसंग पूरा हुआ। जो लोग इस चरित्रका श्रवण करते हैं, उन्हें भगवान्की कृपा प्राप्त होती है, उनका आश्रय प्राप्त होता है।

यहाँ फलश्रुति इसलिए की गयी है कि सप्ताह-कथाके अनुष्ठानमें पहले दिनकी कथाका विश्राम यहीं होता है।

: २० :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी इस सृष्टि-परम्परापर एक बार फिर ध्यान दें। सारी सृष्टिके मूलमें परमेश्वर है। उसीसे प्रकृतिमें क्षोभ होकर महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। उससे फिर चौबीस तत्त्व होते हैं।

आपलोग देखो, यह तत्त्व-दृष्टि हमारी खास चीज है। आप यह बात समझ लें कि सृष्टिमें ईश्वरवादी तो और भी हैं, परन्तु वे तत्त्वकी दृष्टिसे ईश्वरका निरूपण नहीं करते। केवल अपने विश्वास और भावनाकी दृष्टिसे ईश्वरका निरूपण करते हैं परन्तु हमारे दर्शनशास्त्र-प्रधान वैदिक धर्ममें तत्त्वकी दृष्टिसे परमात्माका निरूपण किया गया है। अपने यहाँ कई भक्त लोग तत्त्व-निरूपणमें रुचि नहीं रखते, यह दूसरी बात है। तत्त्वोंसे अण्ड बना। अण्ड जलमें रहा। उसके भीतर ही अविद्या आदिकी सृष्टि हुई। फिर विराट्में ब्रह्मा हुए। ब्रह्मामें पहले छाया थी। उन्होंने अपने उस शरीरका त्याग कर दिया। वह रात्रि हो गयी। उसको यक्ष-राक्षसोंने ग्रहण कर लिया।

यहाँ देखो, ब्रह्माके शरीर-त्यागको साधारणतया लोग नहीं समझते। उसका कारण क्या है? यही है कि लोग अपने शरीरकी स्थूलताको ब्रह्मापर आरोपित कर देते हैं और यह समझने लगते हैं

कि ब्रह्माजीका भी शरीर ऐसा ही रहा होगा। ब्रह्माने एक शरीर छोड़ दिया और दूसरा शरीर ग्रहण किया, फिर दूसरा शरीर छोड़ दिया और तीसरा ग्रहण किया—ऐसा नहीं होता। ब्रह्मा तो सूक्ष्म समष्टिमें चैतन्य-रूपसे विराजमान हैं। उनका शरीर बिल्कुल भावात्मक होता है। इस संसारमें कामात्मक, क्रोधात्मक, लोभात्मक इत्यादि अनेक-अनेक प्रकारके जो भाव दिखायी देते हैं, वे सब सूक्ष्म समष्टिमें रहते हैं और उनका आविर्भाव हो जानेपर ब्रह्मा उनका परित्याग कर देते हैं। इस अध्यायमें ब्रह्माके भावात्मक शरीरके त्याग और ग्रहणकी कथाका वर्णन है।

ब्रह्माजीने जब अपने शरीरसे सृष्टि प्रारम्भ की तो सबसे पहले यक्ष-राक्षसोंकी सृष्टि हुई। वे सब भूखे-प्यासे होकर ब्रह्माजीके पास दौड़े गये। ब्रह्माजीने उनसे कहा कि तुम लोग मुझको तो खाओ-पीओ मत, मेरी रक्षा करो। इसके बाद ब्रह्माजीने अपनी प्रभासे देवताओंकी सृष्टि की। असुरोंकी सृष्टि ब्रह्माजीकी जाँघसे हुई। असुर भोगके लिए ही ब्रह्माजी-पर दौड़ पड़े। असुरका अर्थ क्या है ? 'असुषु रमन्ते'—जो इन्द्रियोंमें ही रम जाये, उसका नाम असुर है। सुर-विरोधी असुर है। ब्रह्माजी भगवान्‌की शरणमें गये। भगवान्‌ने आज्ञा कर दी कि यह शरीर भी छोड़ दो। इसी प्रकार ब्रह्माजीके शरीरके एक-एक अङ्गसे अनेकोंकी सृष्टि हुई।

जब ब्रह्माजीने एक शरीर छोड़ा तो उससे 'सायंतनी' सन्ध्या हुई। देखनेमें बहुत ही सुन्दरी स्त्री। लोग उसपर मुग्ध हो गये और बारम्बार उसकी प्रशंसा करने लगे। असुरोंने समझा कि यह कोई बहुत बढ़िया स्त्री है, इसलिए उसको ग्रहण कर लिया।

फिर ब्रह्माजीने गन्धर्व-अप्सराओंकी सृष्टि की और उस शरीरको भी छोड़ दिया। उसके बाद उन्होंने अपने आलस्यसे भूत-पिशाचोंकी सृष्टि की। उनको देखकर ब्रह्माजीने आँख बन्द कर ली। फिर ब्रह्माजीको जँभाई आयी और उन्होंने उस शरीरको भी छोड़ दिया।

इस तरह ब्रह्मा अपने भिन्न-भिन्न शरीरसे अनेक प्रकारकी सृष्टि करते हैं और उनके छोड़े हुए शरीरको अनेक लोग ग्रहण कर लेते हैं। ब्रह्माके केशसे अहि आदिकी उत्पत्ति हुई। कहनेका अभिप्राय यह है कि इस संसारमें जितनी भी सृष्टि देखनेमें आती है वह सब-की-सब यहाँतक कि बिच्छू, साँप, नाग आदि भी ब्रह्माके शरीरसे ही उत्पन्न होते हैं।

एक दिन ब्रह्माजी खुशीमें बड़े मस्त थे। आप यहाँ इस बातपर ध्यान दें। यह बात इसलिए कही गयी है कि जब मनुष्य उद्वेगकी दशामें कोई काम करता है तो उससे उद्विग्न करनेवाली वस्तु ही पैदा होती है। किन्तु जब वह शान्त, एकाग्र और स्वस्थ चित्तसे कोई काम करता है, तब वह अच्छी तरह पूरा भी होता है और उससे दूसरोंको लाभ भी होता है। ब्रह्माजी जब स्वस्थ और प्रसन्न मनसे बैठे हुए थे, तब यही सोच रहे थे कि मुझे जो करना चाहिए था, वह मैं कर रहा हूँ—

आत्मनं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः। ४९

ऐसी ही मन:स्थितिमें ब्रह्माजीने मनुकी सृष्टि की। स्वस्थ-प्रसन्न मनसे ही मनुकी सृष्टि होती है। मनु मननात्मक है; विचारात्मक है। उनकी पत्नी शतरूपा श्रद्धा है, सृष्टिमें सौ-रूप ग्रहण करती है। मनुष्यकी सृष्टि मनु और श्रद्धाके संयोगसे ही हुई है। मनुष्य केवल श्रद्धालु नहीं, विचारशील भी है। केवल विचारशील ही नहीं, श्रद्धालु भी है। यदि आप श्रद्धा न करें तो आपकी माता कौन है, यह आपको कैसे मालूम पड़ेगा? क्या आपने यह देखा है कि आप अपनी ही माताके पेटमें रहे हैं? श्रद्धा ही तो माताके वचनपर विश्वास कराती है। इसी तरह पिता आपका कौन है, यह आपको कैसे मालूम पड़ेगा? आपके पास विश्वासके सिवाय और कौन-सा प्रमाण है? तर्क-वितर्क करनेवालोंसे आप कह सकते हैं कि वे पहले अपने माता-पिताके बारेमें तो प्रमाण दें तब तर्क-वितर्ककी बात करें। अगर आप विश्वास न करें तो आप दूसरेकी बनायी रोटी खा सकते हैं? डाक्टरसे दवा ले सकते हैं? नाईसे बाल बनवा सकते हैं? कहीं आने-जानेका टिकट खरीद सकते हैं? अरे यह तो भाई निशिप्रपान्ध-परम्परा है। बिना श्रद्धा-विश्वासके मनुष्य जी नहीं सकता। उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए श्रद्धा और विश्वासके संयोगसे मनुष्यकी उत्पत्ति होती है।

ब्रह्माने मनुष्योंकी सृष्टि करके उन्हें अपना पौरुष शरीर प्रदान किया। मनुष्योंकी सृष्टि देखकर देवताओंने ब्रह्माकी बहुत प्रशंसा की। इस मनुष्य-शरीरमें ही यज्ञ-यागादि क्रियाएँ तथा नाना प्रकारके निर्माण और आविष्कारकी शक्ति प्रतिष्ठित है। मनुष्यको छोड़कर किसीको इत्र बनाना नहीं आता, चित्र बनाना नहीं आता, तरह-तरहके कोमल स्पर्शवाले कपड़े बनाना नहीं आता, भोजन बनाना नहीं आता, योजना बनानी नहीं आती, आदि। इनको या तो ब्रह्मा बनाये, प्रकृतिमें जो चतन है वह बनाये या फिर मनुष्य बनाये। दूसरे प्राणी नहीं बना सकते। इस प्रकार मनुष्यका जीवन लोक-परलोक दोनोंके लिए हितकारी है। देवताओंने कहा कि अब हम लोग एक साथ ही एक ढंगका अपना भोग बनायेंगे।

इसके बाद ब्रह्माजीने अपनी तपस्या, विद्या और योग-समाधिसे ऋषियोंकी सृष्टि की और उन सबको अपने देहका अंश दिया है।

: २१ :

विदुरजीके पूछनेपर मैत्रेयजी अब स्वायम्भुव मनुके वंशका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह बहुत पवित्र है। इस वंशमें स्त्री-पुरुषके संयोगसे सृष्टि हुई है। बाकी सृष्टि जो है, वह तो मानस है। मनुके दो पुत्र हुए, प्रियव्रत और उत्तानपाद। उन्होंने धर्मपूर्वक पृथिवीकी रक्षा की। मनुकी पुत्री थी देवहूति। देवहूतिका अर्थ है कि वह सम्पूर्ण देवताओंको अपने अन्दर बुला लेती है। देवोंकी आह्वान कारिणी होनेके कारण उसका नाम देवहूति है। वह बुद्धिरूप है।

ब्रह्माजीने कर्दमको आदेश दिया कि तुम प्रजाकी सृष्टि करो। कर्दम साक्षात् आत्मदेव हैं। उन्होंने कहा कि न तो हम ऐसे-वैसे ब्याह करेंगे और न ही बच्चा पैदा करेंगे। पहले हम तपस्या करेंगे और तपस्यासे जब शक्तिका संचय हो जायेगा तब ब्याह करेंगे। तभी बच्चे भी शक्तिशाली होंगे। अन्यथा मच्छरों और खटमलोंकी तरह बहुत-सारे बच्चे पैदा हो भी जायें तो उनसे मनुष्यको क्या लाभ हो सकता है?

कर्दमजीने बहुत कठोर तपस्या की। स्वयं भगवान् शाब्द ब्रह्मका शरीर धारण करके प्रकट हुए। शाब्दका अर्थ है शब्द-प्रतिपाद्य ब्रह्म।

देखो, हमारे एक वयोवृद्ध पण्डितजी न्याय, व्याकरण, और वेदान्तके आचार्य हैं। उन्होंने एक करोड़ पार्थिव-लिङ्गकी पूजा अपने हाथसे की है। बोले कि एक दिन जब मैं शंकरजीके मन्दिरमें षडक्षर मन्त्रका जप कर रहा था, मेरे मनमें आया कि मैंने व्याकरण, मीमांसा और वेदान्तमें शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध, औत्पत्तिक सम्बन्ध होनेकी बात पढ़ी है। यह भी पढ़ा है कि दोनोंमें अभेद है। किन्तु शिव-शिव करते-करते, पार्थिव-पूजा करते-करते, हमारी जिन्दगी बीत गयी, अभी-तक शिव-पदार्थका साक्षात्कार नहीं हुआ। क्या ये सब शास्त्र झूठे हैं ? यह शंका उत्पन्न होनेपर जब मुझे बहुत व्याकुलता हुई तब मन्दिरमें अपने गोरे-गोरे हाथमें त्रिशूल धारण किये जटाधारी शंकरजी शिव-लिङ्गके सामने साक्षात् प्रकट हो गये।

तो, शब्दमें साक्षात्कार करानेकी शक्ति है। जब हम भगवान्‌के नामका जप करते हैं तब वह वस्तु सामने आती है। शब्द हमारे हृदयको शुद्ध भी करता है और उसमें परमेश्वरका आधान भी करता है। इसलिए भगवान् 'शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः' (८)। शाब्द-ब्रह्म होकर कर्दमजीके सामने आये। वे बड़े ही निर्मल हैं, सूर्यके समान प्रकाशमान हैं और श्वेत कमलोंकी माला धारण किये हुए हैं। उनकी अलकें स्निग्ध नील हैं, उनके विग्रहपर पीताम्बर है। वे किरीटी, कुण्डली और शङ्ख-चक्र-गदाधारी हैं; गरुड़के कन्धेपर उनके पाँव हैं। उनको देखते ही कर्दमजीने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और कहा कि बस, आज हमारी आँखें सफल हो गयी। 'सांसिध्यमक्ष्णोस्तवदर्शनान्नः' (१२)—आपके दर्शनोंसे आज हमारे नेत्रोंको संसिद्धि मिल गयी, प्राप्त हो गयी। जो लोग कहते हैं कि नेत्रोंसे भगवान्‌के दर्शन नहीं होते, वे तो वैसे ही बोलते हैं—जैसे कोई कहे कि अंगूर खट्टे हैं। आपका दर्शन तो निश्चित रूपसे मिलता है। मायासे मारे हुए लोग अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए आपकी आराधना करते हैं। लेकिन कामनाएँ तो नरकमें भी मिल सकती हैं।

कर्दमजीने आगे कहा कि मै सचमुच कर्दम हूँ—कीचड़ हूँ। क्योंकि मैंने अपने-सरीखी एक पत्नीसे विवाह करनेके लिए आपकी आराधना की है। मैं एक कानी-कौड़ी प्राप्त करनेके लिए कल्प-वृक्षके नीचे आया हूँ! महाराज-दुनिया तो आपके वचनोंसे बँधी हुई है। मैंने आपकी पूजा करनेके लिए ही तपस्या की। अब विवाह भी मैं आपकी पूजा करनेके लिए ही करना चाहता हूँ। जो आपके चरणोंके आश्रयमें आजाते हैं उनको कामका भय नहीं होता। भक्तोंपर आपका काल-चक्र काम नहीं करता। आप ही सृष्टि-स्थिति-प्रलयके स्वामी हैं। आप हमपर कृपा करें, हम आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं!

अब भगवान् अपने वचनामृतसे कर्दमजीको सींचने लगे। उन्होंने उनकी ओर प्रेम और मुस्कानसे देखा और कहा कि कर्दमजी, तुम्हारे मनकी बात मै पहलेसे ही जानता हूँ।

असलमें, जब कोई बात मनमें आती है तो मैं पहलेसे ही उसको जानता हूँ। क्योंकि वह जहाँसे

मनमें आती है, उसके भी अन्तरङ्गमें मैं ही बैठा रहता हूँ। इसलिए तुमने जिस उद्देश्यसे तपस्या की है, उसको मैं जानता हूँ। मेरी पूजा कभी व्यर्थ नहीं होती। तुम्हारे जैसा व्यक्ति हमारी पूजा करे तब तो कहना ही क्या है? देखो, सप्तार्णव पृथिवीके एकछत्र सम्राट् स्वायम्भुव मनु, अपनी बेटी देवहूति और पत्नी शतरूपाके साथ तुम्हारे यहाँ आनेवाले हैं। उनकी बेटी अब विवाह-योग्य हो गयी है। 'वयःशीलगुणान्विता' (२७)। वह उम्र, शील और गुणोंसे समन्वित है। उसकी आँखें काली-काली हैं, वह पति चाह रही है—'मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो' (२७)। तुम उसके मुकाबिलेमें अपनेको खराब नहीं समझना। तुम उसके अनुरूप हो। असलमें वह तुम्हारा ही ध्यान करती रही है। तुम्हारी खूब सेवा करेगी, उससे बच्चे भी खूब होंगे। उसके साथ गृहस्थका सुख प्राप्त करके अन्तमें तुम मेरी आज्ञाके अनुसार संन्यास ग्रहण करोगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे।

'कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान्' (३१)—तुम संयमी बनोगे, जीवोंपर दया करोगे, सबको अभयदान करोगे और मुझको सबमें और सबमें मुझको देखोगे। मैं तुम्हारा बेटा बनूँगा और सांख्य-दर्शनका प्रणयन करूँगा।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। वे अन्तर्धान होते हैं—श्रीधर स्वामीने एक जगह ऐसी व्याख्या की है कि भगवान् अपने धाममें चले गये। उनका धाम कहाँ है? बोले—स्वधाम हृदयम्—जो भक्तका हृदय है, वही भगवान्‌का धाम है।

यहाँ मैत्रेयजी विदुरजीको बताते हैं कि—

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्॥ ३३

कर्दम ऋषिसे सम्भाषण करके इन्द्रियातीत भगवान् सरस्वती नदीसे घिरे बिन्दुसर-तीर्थसे अपने धामको चले गये। उनको कर्दमपर ऐसी करुणा आयी कि उनकी आँखसे दो बूँद आँसू गिर गये। सम्भवतः इसीलिए गुजरातमें सिद्धपुर 'बिन्दुसर' के नामसे प्रसिद्ध है। सिद्धपुर नाम इसलिए है कि यहाँ कर्दमजीको सिद्धि मिली थी।

कोई-कोई कहते हैं कि भगवान्‌के नेत्रोंसे जो अश्रुबिन्दु गिरे थे, वे कर्दमपर कृपा करके गिरे थे। कोई-कोई कहते हैं कि उस समय भगवान्‌के मनमें एक बात आयी। वह यह कि कर्दमने हमारे लिए तपस्या की और हम इसके पास आगये। आगये, तो मिले ही रहते। पर नहीं, अब ये विवाह करेंगे, लड़की पैदा करेंगे और उसके बाद संन्यास लेंगे, तब मैं मिलूँगा। इस प्रकार उनके और कर्दमके मिलनमें जो दूरी बन गयी उनके कारण भगवान्‌की आँखोंमें आँसू आगये और उन आँसुओंसे बिन्दुसरोवर पवित्र हो गया।

अब मनुजी महाराज पत्नी-पुत्रीके साथ स्वर्णरथपर आरूढ़ होकर वहाँ आगये। उन्होंने देखा कि कर्दमजी तो खूब हृष्ट-पुष्ट अवस्थामें बैठे हुए हैं। क्योंकि भगवान्की स्निग्ध अपांग दृष्टि उनपर पड़ी थी और उन्होंने भगवान्के वचन भी सुने थे। मनुजीने कर्दमजीके निकट पहुँचकर उनका दर्शन किया। कर्दमजीने मनुजीके अनुरूप मनुजीका आदर-सत्कार किया और उनको आसन-पर बैठाकर कहा—आप तो प्रजाकी रक्षाके लिए ही इधर-उधर विचरण करते हैं।

असलमें राजा और आचार्यका काम है कि वे एक जगह न रहें। शंकराचार्य भगवान्ने तो अपने मठाम्नायमें आदेश ही दे दिया है कि हमारे सम्प्रदायके आचार्यको एक जगह नहीं बैठना चाहिए।

आचार्यपर सारे देशमें घूमकर धर्मकी रक्षा करनेकी जिम्मेवारी है। इसी तरह राजाको भी अपने राज्यमें प्रजाका सुख-दुःख जाननेके लिए हमेशा घूमते रहना चाहिए।

कर्दमजी महाराज मनुजीसे कहते हैं कि 'नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते' (५०)। आपका यह चङ्क्रमण अर्थात् चहलकदमी या दौरा; सन्तोंकी रक्षा और दुष्टोंके नाशके लिए है। क्योंकि आपमें भगवान्की पालिका शक्ति है। सब देवताओंकी शक्ति राजामें रहती है। यदि आप विचरण न करें और दुष्टोंको दण्ड न दें तो पृथिवीपर दुष्टता बढ़ जायेगी और डाकू लोग भय नहीं मानेंगे। राजाको तो ऐसा उग्र दण्ड होना चाहिए कि उसके राज्यमें किसीको उच्छृंखल होनेकी हिम्मत न हो। यदि दण्डनीति शिथिल हो गयी तो वेदका, धर्मका नाश हो जायेगा। इसलिए आप विचरण करते हैं, यह बहुत बढ़िया बात है। इसीसे धर्मकी रक्षा और अधर्मका नाश होता है। फिर भी मैं आपसे यह कहता हूँ कि आप जिस प्रयोजनसे हमारे पास आये हैं, वह मुझे बताइये। 'निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा' (५६)। मैं निष्कपट हृदयसे आपकी बात मानूँगा।

देखो, कर्दमजीको मालूम था कि मनुजी क्या बात कहेंगे इसलिए उन्होंने उनसे ऐसा कहा।

❀

मनुजी बोले कि महाराज, ब्राह्मणका शरीर तो वेद, तपस्या और विद्याकी मूर्ति है। भगवान्ने आपकी रक्षाके लिए हमें क्षत्रिय बनाया है।

देखो, जैसे शरीरमें सिरकी रक्षाके लिए हाथ होता है, वैसे ही ब्राह्मणकी रक्षाके लिए क्षत्रिय होता है। शिरस्थानीय ब्राह्मण है और बाहुस्थानीय क्षत्रिय है। हृदय ब्राह्मण है और क्षत्रिय शरीर है। भगवान्ने जान-बूझकर ऐसी सृष्टि की है। महाभारतमें कहा गया है कि 'नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते'— बिना क्षत्रियके ब्राह्मणकी उन्नति नहीं होती। मनुष्यके जीवनमें बल भी चाहिए और प्रज्ञा भी चाहिए, दोनोंसे मनुष्यका विकास होता है। ये दोनों अन्योन्य भावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं। परमात्मा सबकी रक्षा करता है।

यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे सिरपर आप-सरीखे ब्राह्मण विद्वान् हैं। आपने मुझे शिक्षा दी, यह आपकी बड़ी कृपा है। बात यह है कि हमारी एक बेटी है। उसको हम साथ लेकर आये हैं। उसका नाम देवहूति है।

एक हँसीकी बात सुनो, बेटीको दुहिता कहते हैं। क्यों ? इसलिए कि ये माँ-बापकी सम्पत्ति-को धीरे-धीरे दुहकर मायकेसे ससुराल पहुँचा देती हैं। दुहनेवाली होनेके कारण ये दुहिता हैं।

मनुजीने कहा है कि कन्याके मनमें विवाहकी इच्छा है। यह वय, शील, गुणसे योग्य हो गयी है। सच्ची बात यह है कि इसने नारदसे आपके शील, गुण, विद्या और रूपके सम्बन्धमें बहुत कुछ सुना है। इसलिए इसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि यह आपके साथ ही विवाह करेगी— 'त्वय्यासीत्कृतनिश्चया' (१०)—आप इसको स्वीकार करें। मैं आपके घरमें अपनी लड़कीको लेकर आया हूँ, आप मना नहीं करना। निष्काम पुरुषके सामने भी कोई योग्य वस्तु आये तो उसको छोड़नेके बारेमें थोड़ा विचार करना चाहिए। आप तो स्वयं विवाह करना चाहते हैं। यह बात हमको मालूम है। यदि आप इसको छोड़कर दूसरी किसी लड़कीसे विवाह करेंगे तो आपका यश क्षीण हो जायेगा।

कर्दम ऋषिने कहा 'बाढम्-बाढम्'। इसका अर्थ है कि बढ़िया-बढ़िया। 'उद्वोढुकामोऽहम्'(१५) मैं निःसन्देह विवाह करना चाहता हूँ।

'उद्वोढुकामोऽहम्'—का अर्थ है कि हम इसका भार लेनेके लिए तैयार हैं—इससे विवाह करनेके लिए तैयार हैं। इसके साथ हमारा आदि वैवाहिक विधिसे विवाह सम्पन्न होना उचित ही है।

देखो, सृष्टिके प्रारम्भमें विवाहकी विधि नहीं थी। जब बहुत उपद्रव होने लगे, तब वैवाहिक

विधि चलायी गयी। वैसे तो वह अनादि है, परन्तु जब सृष्टि होती है, तो प्रारम्भमें मर्यादाकी स्थापना होती है।

कर्दमने कहा—महाराज, आपकी कन्या इतनी सुन्दर और गुणवती है कि इससे भला कौन विवाह नहीं करेगा ? यह एक दिन अपने महलकी छतपर गेंद खेल रही थी—'विक्रीडतीं कन्दुक-विह्वलाक्षीम्' (१७)। उस समय उसकी आँखें ऊपर-नीचे चंचल हो रही थीं। इसके सौन्दर्यको देखकर विश्वावसु गन्धर्व बेहोश हो गया और अपने वायुयानसे नीचे गिर पड़ा। वही आपकी सुकुमारी राजकुमारी हमारे साथ विवाह करना चाहती है तो मैं भी अवश्य इसके साथ विवाह करूँगा। लेकिन यह बात भी मैं आज ही बता देता हूँ कि जब हमारे सन्तान हो जायेगी तब मैं संन्यास ग्रहण कर लूँगा। क्योंकि हम वर्णाश्रमी हैं, वर्णाश्रमबाह्य नहीं हैं। 'धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान्' (१९) जिन परमात्मासे यह विश्व प्रकट हुआ है, उनका वचन ही हमारे लिए प्रमाण है।

इतना कहकर कर्दमजी मौन हो गये। उनका मन्द हास्ययुक्त मुखकमल देखकर देवहूतिका मन मुग्ध हो गया—'धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः' (२१)। कर्दमजी भी देवहूतिको देख रहे हैं। जैसे विवाहमें समितिकरण नामकी एक क्रिया होती है जिसमें वर-वधू दोनों आमने-सामने देखते हैं, वैसे ही दोनों एक दूसरेके प्रति लुभा रहे हैं। जैसे गुणगणाढ्य वर वैसी ही गुणगणाढ्या कन्या—दोनों तुल्य थे, उनका विवाह हो गया और मनु-शतरूपाको बड़ा आनन्द हुआ। लड़कीको छोड़नेमें सभीको दुःख होता है। इसलिए मनु-शतरूपाकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा गिरने लगी। उन्होंने धैर्य धारण किया और पुत्री देवहूतिको अपने जामाता कर्दमके पास छोड़कर वे अपनी राजधानी लौट गये। जहाँ वराह भगवान्ने पृथिवीका उद्धार करनेके बाद अपना शरीर एक बार झाड़ दिया था और उनके कुछ रोएँ गिर गये थे, वहीं बर्हिष्मती नामकी उनकी राजधानी थी। राजाको वह यज्ञका स्थान बहुत प्रिय था। राजा भगवान्के बड़े भक्त थे, उनका हृदय भगवान्के प्रेममें मग्न था। जब उनके सेवक भगवान्की कथा गा-गाकर सुनाते, तब वे नींद तोड़ते थे—'प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः' (३३)। इसीलिए भोगसे उनके योगमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ी। 'विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः' (३५)। वे भगवान्की कथा सुनते भी थे और कहते भी थे। भगवान्की लीला-कथाके संकीर्तनका अधिकार सबको होता है। धर्मोपदेश दूसरी चीज होती है और भगवान्की लीला-कथा दूसरी चीज होती है। उनका सारा मन्वन्तर भगवान्के ध्यानमें बीत गया। भगवान्का भक्त, हरिसंश्रयी होता है। उसके जीवनमें किसी भी प्रकारके क्लेश नहीं आते। स्वायम्भुव मनुने भृगु आदि महर्षियोंको धर्मका जो उपदेश किया, वही आज मनु-स्मृतिके नामसे विख्यात है।

❦

: २३ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, जब देवहूतिके माता-पिता लौट गये तब वह अपने पति कर्दमजीकी सेवामें लग गयी। पार्वतीजी शंकरजीकी सेवा करती हैं वैसे ही देवहूति कर्दमजीकी परिचर्या करने लगीं।

पतिमिङ्गितकोविदा, नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्। १

देखो, हमारे शास्त्र केवल संन्यासियोंके लिए ही नहीं होते। वे सभी आश्रमों और सभी वर्णोंके लिए होते हैं। वे स्त्रीके लिए भी हैं, पुरुषके लिए भी हैं, सच पूछो तो पृथिवीके सब मनुष्योंके लिए हैं।

श्रीमद्भागवतमें देवहूति और कर्दमजीके दाम्पत्य जीवनका जो वर्णन है, वह बताता है कि पत्नी-पतिको कैसे रहना चाहिए। 'इङ्गितकोविदा'—पत्नीको अपने पतिका अन्तर्यामी होना चाहिए। उसके पतिको कब क्या आवश्यकता पड़ेगी इसका ज्ञान होना चाहिए। वह ज्ञान भी पूछ-पूछकर नहीं, इङ्गितसे, इशारेसे प्राप्त करना चाहिए। यदि पत्नी पूछ-पूछकर काम करे तो उसमें उसका बुद्धि-कौशल नहीं माना जायेगा। पतिकी सेवाके लिए पत्नीमें क्या-क्या गुण होना चाहिए, यह इस श्लोकमें बताते हैं—

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥ २

'विश्रम्भण'—पत्नीको पतिपर विश्वास होना चाहिए। जब पति बाहरसे आनेपर बतायें कि वे कहाँसे आ रहे हैं तो उसपर विश्वास करना चाहिए। यदि पति-पत्नीमें परस्पर विश्वास न हो तो घरमें नरक आजायेगा। एक-दूसरेके विश्वाससे ही गृहस्थी चलती है। 'आत्मशौचेन'—इस प्रकार पवित्र रहना चाहिए कि कोई कलंक न लगने पावे। गौरवका भाव सदा बना रहना चाहिए।

तिरस्कार-अपमान नहीं करना चाहिए। 'दमेन'—अपनी इन्द्रियोंको, जीभको, आँखोंको काबूमें रखना चाहिए। हर समय भोगकी लालसा नहीं रखनी चाहिए। 'शुश्रूषया'—बराबर सेवा-परायण रहे। 'सौहृदेन'—सद्भाव रखें और 'वाचा मधुरया'—बोलनेमें यह नहीं समझे कि हम जो चाहें कह सकते हैं, हमारा आपसमें प्रेम है, इसलिए हमें बोलनेकी छुट्टी है। नहीं, तू-तड़ाककी बोली कभी अच्छी नहीं होती। झगड़ा वचनोंमें-से ही निकलता है। जब आदमी रूखा बोलने लगता है और सामनेवालेकी परवाह नहीं करता तब उसीमें-से दुर्भाव निकल आता है। इसलिए वाणी हमेशा ऐसी बोलनी चाहिए, जो मधुक्षरण करती हो। यदि आप इस बातके लिए सावधान हैं कि आपकी वाणीसे जो भी निकले, वह मीठा ही निकले तो आपको अपना दिल भी मीठा बनाना पड़ेगा। बाहरकी साधारण मधुर वाणी भी आपके हृदयको मधुर बना देती है। और आगे देखिये, मैत्रेयजी क्या कहते हैं—

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ ३

पत्नीको काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप, अभिमान छोड़ देना चाहिए। कभी किसी काममें 'यह' प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद और आलस्यमें थोड़ा अन्तर होता है। आलस्यमें काम तो याद रहता है, परन्तु मनुष्य उसे टाल देता है, समयपर नहीं करता। प्रमाद उसको कहते हैं कि समयपर याद न आये कि क्या काम करना है ? पत्नीको 'उद्यता नित्यं' – निरन्तर सेवाके लिए उद्यत रहना चाहिए। किसी भी समय कोई अतिथि आजाये तो उसको भोजन करानेके लिए तैयार रहना चाहिए।

इन सब गुणोंसे देवहूतिने कर्दमजीकी सेवा की। यद्यपि वह राजपुत्री थी और अत्यन्त प्यारमें पली थी। इधर कर्दमजीके पास न तो रहनेके लिए घर था, न सोनेके लिए चारपाई थी, न बिछानेके लिए बिस्तर था, न खाने-पीनेके लिए कोई बर्तन था। फिर भी देवहूतिपर उस अभावका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आजकल किसी श्रीमन्तकी लड़की गरीब घरमें दी जाय तो वह कोलाहल मचा देगी। लेकिन देवहूति जानती थी कि उसके पति कितने सामर्थ्यवान् हैं और कितने तेजस्वी हैं। 'तेजीयान्' का अर्थ तेज मिजाज भी होता है। जब आदमी दूसरोंके साथ रहता है तो सहनेकी आदत पड़ जाती है, लेकिन कर्दमजी तो अकेले ही रहते थे। इसलिए उनका मिजाज तेज होना स्वाभाविक ही था। फिर भी देवहूतिने उनको अपनी सेवाओंसे सन्तुष्ट कर लिया।

जब कर्दमजीने देखा कि देवहूति तो हमारी बहुत सेवा कर रही है तब उनके हृदयमें स्वयं दयाका उदय हुआ और वे बड़े प्रेमसे बोले कि देवि, मैं तुमपर प्रसन्न हो गया। तुमने अपने शरीरका अनादर करके मेरी सेवा की है इसलिए मुझे मेरी तपस्या, समाधि विद्या एवं आत्मयोगसे भगवान्का

जो अनुग्रह प्राप्त हुआ है, उसकी हिस्सेदार तुम हो जाओ। अब तुम सिद्ध हो गयी हो। जो चीज मनुष्योंको नहीं मिल सकती वह तुम ले लो।

कर्दमजीकी यह बात सुनकर देवहूतिको बहुत ही आनन्द हुआ। पत्नीके लिए इससे बढ़कर और क्या सुयोग हो सकता है कि उसका पति उसपर प्रसन्न हो जाये, वह भी कर्दमजी-जैसा पति। उसके लिए तो यही ईश्वरकी प्रसन्नता है। अब देवहूतिको थोड़ी लज्जा आयी, उसने कर्दमजीकी ओर प्रेमभरी चितवनसे देखा, वह मुस्कुरायी और प्रणयसे विह्वल होकर कहने लगी कि महाराज, जब आप मुझे पतिके रूपमें मिल गये तो अब क्या बाकी रहा ? बस, मैं यही चाहती हूँ कि जिस उद्देश्यसे आपके साथ विवाह हुआ है, वह भी पूरा होना चाहिए।

कर्दमजी अपनी पत्नीका आशय समझ गये और बोले कि पेड़के नीचे तो गृहस्थ-धर्मका पालन करना ठीक नहीं। चलो, एक ऐसा मकान बनाते हैं, जो पानीमें भी चले, धरतीपर भी चले और आकाशमें भी उड़े। उन्होंने 'कामग विमान' बनाया, जो किसी यन्त्रसे नहीं, मनकी इच्छासे चलता था। वह विमान क्या था—'सर्वकामदुघ' (१३) अर्थात् कामधेनु था जो अपने आप मनोनुकूल पदार्थ देता था। उसमें सारी सम्पत्ति थी, शृङ्गार-सामग्री थी, स्थान-स्थानपर पलंग बिछे हुए थे। उसमें उद्यान भी था, ऐसे-ऐसे पक्षी बने हुए थे कि उनको असली समझकर दूसरे पक्षी आजाते थे। विमानमें विहारका स्थान अलग, विश्रामका स्थान अलग, सोनेका स्थान अलग और प्रांगण अलग था। वह विमान सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला था अर्थात् उसमें गर्मी-सर्दी-वर्षा आदि-का प्रभाव नहीं पड़ता था। इस प्रकार उस विमानके जिन-जिन वैभवोंका वर्णन किया गया है कि उनकी कल्पना भी आजकलके वैज्ञानिक नहीं कर सकते।

परन्तु इतनेपर भी जब देवहूति कुछ बहुत प्रसन्न नहीं हुई तब कर्दमजी उसके मनकी बात समझ गये और उन्होंने तुरन्त शुक्ल-तीर्थका निर्माण किया, जिसमें कर्दमकी आज्ञासे देवहूतिने प्रवेश किया। वहाँसे बहुत सारी दासियाँ निकल आयीं और उन्होंने देवहूतिको स्नान कराया और वस्त्राभूषण धारण कराये। उसी समय कर्दमजी भी वहाँ आगये। उन्होंने भी दिव्य ह्रदमें स्नान किया। उनके सिरकी जटाएँ और मैल साफ हुई। दोनों दम्पति बहुत सुन्दर रूप धारण करके और सहस्रों विद्याधारियोंसे सेवित होकर उस विमानमें रहने लगे। वे अपने उस विमानसे कभी स्वर्गमें चले जायें, कभी वैश्रम्भक, सुरवन, नन्दन, पुष्पभद्रक, मानस, चैत्ररथ आदि लोकोंमें चले जायें।

'वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान् यथानिलः' (४१)—दुनियामें किसीके पास ऐसा विमान नहीं था, जो कर्दमजीके विमानकी बराबरी कर सके। कर्दमजीका वैभव शंका या आश्चर्यका विषय नहीं,

जिन लोगोंने भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लिया, उनके लिए संसारका कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है।

किं दुरापादन तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः॥ ४२

कर्दमजीको और देवहूतिको गृहस्थाश्रममें रहते बहुत सारे वर्ष बीत गये। समयका कुछ पता ही नहीं चला। उनके नौ पुत्रियाँ हुईं। एक दिन कर्दमजीने संन्यास लेनेका विचार प्रकट किया। देखो, भगवान्‌ने उनको कैसी सुन्दर गृहस्थी दे रखी थी, फिर भी उन्होंने संन्यास ग्रहण करनेका विचार किया। जीवनमें भोगके साथ वैराग्य और त्याग भी होना चाहिए। ऐसा नहीं समझना कि जब दुःख हो तभी वैराग्य ग्रहण करेंगे और त्याग करेंगे। नहीं, वैराग्य और त्याग भी जीवनका एक पहलू है। उसके बिना जीवन कभी पूर्ण नहीं होता। जब कर्दमजी संन्यास लेनेके लिए तैयार हुए तब देवहूतिका हृदय व्याकुल हो गया, मुँह लटक गया और वह धरतीको अपने नखोंसे कुरेदने लगी। किसी प्रकार आँसुओंको रोककर बोलीं, स्वामी! आपने जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, वह सब पूरी कीं। लेकिन मैं आपकी शरणागता हूँ, मुझे अभय दीजिये। हमारी ये जो लड़कियाँ है, इनका विवाह होना चाहिए और पुत्र होना चाहिए। यदि आप संन्यास ग्रहण कर लेंगे तो हमारा वह पुत्र ही हमारे पास रहकर हमारा शोक निवृत्त करेगा। हम लोगोंका जो समय अबतक बीता है यह भोगमें ही बीता है। मैंने आपको समझा नहीं, इसलिए मैंने आपसे इन्द्रियजन्य अनुराग किया। फिर भी मुझे संतोष है कि मैंने आप जैसे सत्पुरुषका संग किया है। इसलिए इस संगसे भी मुझे अभय पदकी प्राप्ति होनी चाहिए।

देखो, हिन्दीमें संग माने साथ होता है, किन्तु संस्कृतमें सङ्ग शब्दका अर्थ आसक्ति होता है। क्योंकि संस्कृतमें प्रत्येक वस्तुका मनःप्रधान वर्णन होता है, यह बात आप अपने ध्यानमें रखें। आप जिस शब्दको बाहर बोलते हैं, उसको भीतरसे भी समझ लें। तभी आपको उसका अर्थ ठीक-ठीक समझमें आयेगा।

देवहूतिने कहा कि यदि संसारमें दुष्टोंका संग किया जाये, तब तो वह बन्धनका कारण बनता है, किन्तु सत्पुरुषोंका संग करनेपर असंगता आती है। जिस कर्मसे धर्म न हो, वैराग्य न हो, भगवान्‌की सेवा न हो, वह कर्म बिलकुल व्यर्थ है। मैं तो मायामें ऐसी फँसी कि आप जैसे पतिको प्राप्त करके भी संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हुई।

: २४ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि जब मनुकी बेटी देवहूति वैराग्यकी बात करने लगी, तब बड़ी दया आयी महात्मा कर्दमको और वे बोले, हाँ-हाँ, भगवान्‌ने भी ऐसा ही कहा था कि मैं तुम्हारा बेटा बनूँगा। इसलिए वे तुम्हारे गर्भमें आनेवाले हैं। तुम पतिव्रता तो हो ही। अब संयम, नियम, तपस्या, द्रव्य, दान और श्रद्धाके द्वारा परमात्माकी आराधना करो। वे ही तुम्हारे पेटसे प्रकट होंगे और तुम्हारी हृदय-ग्रन्थिका छेदन भी करेंगे। पतिकी आज्ञा मानकर देवहूति भगवान्‌की आराधना करने लगी।

इधर भगवान् 'कार्दमं वीर्यमापन्नः' (६) पहले कर्दमके वीर्यमें और फिर देवहूतिके गर्भमें प्रविष्ट हुए। भगवान् पुरुषके द्वारा स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करते हैं, सीधे स्त्रीके गर्भमें नहीं आते। कभी ऐसा भी होता है कि खीरमें, चरुमें घुस जाते हैं। लेकिन ऐसा पुत्रेष्टि-यज्ञके प्रभावसे होता है। सामान्यतया जब भगवान् प्रकट होनेको होते हैं तो वे लकड़ीमें आगकी तरह वीर्यमें अवतरित हो जाते हैं।

भगवान्‌के आते ही देवताओंके यहाँ बाजे-बजने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं और सुमनोंकी वर्षा होने लगी। ब्रह्माजी कर्दमके पास आये और बोले कि बेटा, तुमने हमारी आज्ञाका खूब-खूब पालन किया और अपनेको पितृऋणसे उऋण कर लिया। पुत्रकी सबसे बड़ी सेवा यही है कि वह गौरवके साथ पिताकी आज्ञाका पालन करे। तुम्हारी बेटियोंसे जो सृष्टि बढ़ेगी, यह भी हमारी आज्ञाका पालन ही है। अब तुम अपने घरमें कपिलके रूपमें देहधारी होकर प्रकट होनेवाले

भगवान्‌की प्रतीक्षा करो। फिर ब्रह्माजीने देवहूतिसे कहा कि अरी देवहूति, तेरे गर्भमें साक्षात् कैटभार्दन मधुसूदन भगवान् पधारे हैं, और ये अवतार लेकर न केवल अविवेककी, बल्कि अविद्याकी गाँठको काटकर पृथिवीमें विचरण करेंगे।

यहाँ देखो, सांख्यकी प्रणाली दो तरहकी है—एक सेश्वर और दूसरी निरीश्वर। ईश्वर कृष्ण-वाला जो सांख्य है, वह दूसरी प्रणालीका निरीश्वरवादी सांख्य है। किन्तु हमारे भागवतमें जो कपिल हैं, ये तो साक्षात् भगवान्‌के अवतार हैं और अपने सांख्य-शास्त्रमें भगवान्‌के ध्यानकी पद्धति बताते हैं।

ब्रह्माजीके चले जानेके बाद कर्दमने अपनी सब लड़कियोंके विवाह कर दिये। उन्होंने कलाका विवाह मरीचिके साथ, अनसूयाका अत्रिके साथ, श्रद्धाका अङ्गिराके साथ, हविर्भूका पुलस्त्यके साथ, गतिका पुलहके साथ, क्रियाका क्रतुके साथ, ख्यातिका भृगुके साथ, अरुन्धतीका वसिष्ठके साथ और शान्तिका अथर्वा ऋषिके साथ विवाह कर दिया। विवाहके बाद सब ऋषि कर्दमजीकी आज्ञा लेकर अति आनन्दपूर्वक अपने-अपने आश्रमोंको चले गये।

जब कर्दमजीको पता लगा कि देवहूतिके गर्भसे भगवान्‌का जन्म हो गया, तो वे एकान्तमें भगवान्‌के पास गये—'विविक्त उपसङ्गम्य' (२६) क्योंकि भगवान्‌से बात करना हो तो भरी सभामें नहीं, एकान्तमें करनी चाहिए। मुसाफिरखाना या बसका अड्डा तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका स्थान नहीं है। इसलिए कर्दमजी एकान्तमें जाकर भगवान्‌से मिले। उन्होंने अपने बेटेको प्रणाम किया और कहा कि महाराज, हम तो अपने पापके फलस्वरूप नरकमें दुःख भोग रहे हैं। बड़े भाग्यसे आप-जैसे देवताओंका प्रसाद प्राप्त होता है। बड़े-बड़े महात्मा लोग शून्यागारमें जिसका दर्शन करना चाहते हैं, वही आप अपने तिरस्कारका ख्याल न करके हम ग्राम्योंके घरमें आगये।

यहाँ देखो, संस्कृतमें 'ग्राम्य' शब्द गाँवमें रहनेवालेके अर्थमें नहीं आता। यह बात इसलिए बतानेकी आवश्यकता पड़ गयी कि आजकल लोग अपने आप व्याकरण पढ़कर अर्थ लगाने लगते हैं। व्याकरण तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थ केवल काव्य-कोश पढ़नेसे अपना पूरा अर्थ नहीं देते, अधूरा देते हैं। ग्राम्य शब्दका वास्तविक अर्थ है इन्द्रियग्रामका निवासी। इसमें 'इन्द्रिय' पदका लोप हो गया है और केवल ग्राम शब्द रह गया है। जो इन्द्रियोंके अश्लील भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको ग्राम्य कहा जाता है। कर्दम तो विमानमें रहते थे, किसी ग्राममें नहीं रहते थे, ग्रामीण नहीं थे। इसलिए 'गृहेषु जातो ग्राम्याणाम्' (२९) का अर्थ है कि इन्द्रियभोगमें विषयभोगमें, लिप्त ग्राम्यके घर भगवान् प्रकट हुए।

कर्दमजी आगे कहते हैं कि भगवान् आपने हमारे पक्षका पोषण किया, हमारे मानका वर्द्धन किया, जो आप हमारे घरमें अवतीर्ण हुए। आपके भक्तोंको आपके जो रूप अच्छे लगते हैं, वही

रूप आप धारण कर लेते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् आपसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। आप तो ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और लक्ष्मीके परिपूर्ण स्वरूप हैं। स्वच्छन्द महान् परमात्मा हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अब आप यहाँ देखिये भगवान् अवतार लेकर कर्दमके बेटे बने हुए हैं। कर्दम उनसे बातचीत कर रहे हैं। भगवान् उनकी आँखोंके सामने हैं। लेकिन आप यह न समझ लें कि बस; ईश्वर इतना ही है। यदि ईश्वर इतना ही होता तो कर्दमजीको यह कहनेकी आवश्यकता नहीं थी कि महाराज, 'परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहम्' (३४)—मैं अब संन्यासी होना चाहता हूँ और 'चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः' (३४)—आपको अपने दिलमें रखकर, विशोक होकर पृथिवीमें विचरण करना चाहता हूँ। जिसके घरमें साक्षात् भगवान् बेटा बनकर आगया हो, वह यदि कहे कि मैं संन्यासी होकर पृथिवीमें विचरण करना चाहता हूँ तो सोचना चाहिए कि और भी कुछ है, जिससे संन्यासी होकर विचरण करनेकी अपेक्षा है।

अब भगवान्‌ने कर्दमको उत्तर दिया कि मैंने जैसा कहा था, वैसा ही अवतार ग्रहण किया है। 'मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके' (३५)। आत्मपथ बहुत दिनोंसे लुप्त-सा हो गया था, उसके प्रवर्त्तनके लिए ही मैंने यह शरीर ग्रहण किया है। तुम जहाँ मौज हो वहाँ जा सकते हो। संन्यास-ग्रहण द्वारा अपने कर्मोंको मुझे समर्पित करके मृत्युपर विजय प्राप्त करो और अमृतत्वके लिए मेरा भजन करो—'मां भज।' भगवान्‌ने आगे कहा—

मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥ ३९

मैं तुम्हारी आत्मा हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ, सर्वगुहाशय हूँ, एक अद्वय ब्रह्मज्योति हूँ। तुम अपने आत्मरूपसे मेरा दर्शन करो और विशोक होकर अभय पद प्राप्त करो। मैं यहाँ रहकर अपनी माताको अध्यात्मविद्याका उपदेश करूँगा और वह भयसे पार हो जायेगी।

मैत्रेयजी कहते हैं कि इस प्रकार कपिलजीका कथन सुनकर कर्दमजीने प्रसन्न मनसे उनकी परिक्रमा की और वनकी ओर चले गये—'दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह (४१)।

यहाँ देखो, भक्तकी विशेषता। वह भगवान्‌को छोड़कर भी रह लेता है। जब भगवान् रामचन्द्र सम्पूर्ण अयोध्याको लेकर साकेत जाने लगे तब हनुमान्‌जी उनके साथ नहीं गये। वे बोले कि मैं तो यहीं रहकर आपकी कथाका आनन्द लूँगा। जहाँ-जहाँ आपकी कथा होगी वहाँ-वहाँ रहूँगा। मुझे साकेत लोक जानेकी जरूरत नहीं है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र-भाष्यमें हनुमान्‌जीका वचन इस प्रकार है—

यावत्तव कथालोके विचरिष्यति पावनी ।
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ।। (२.१८ भाष्यमें उद्धृत)

कर्दमजी भी घरमें बैठे भगवान्को छोड़कर जंगलमें चले गये। वहाँ जाकर मौन एकाकी निःसङ्ग विचरण करने लगे। उनके पास न घर रह गया और न आग रह गयी। उन्होंने जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके भोगोंका परित्याग कर दिया। एक प्रदीप्तअन्तर्दृष्टि है, जिसमें किसी वस्तुसे, किसी व्यक्तिसे और किसी स्थानसे आसक्ति नहीं होती। इसीको संन्यास कहते हैं। प्रदीप्त अन्तर्दृष्टिका अर्थ यही है कि किसी चीजमें, किसी आदमीमें और किसी जगहमें प्रीति न हो—चाहे जहाँ, चाहे जिनके बीचमें रह लिया और चाहे जिस चीजसे गुजर-बसर कर ली जाय।

कर्दमजीका मन ब्रह्ममें लग गया। ब्रह्म तो सत्-असत्, अस्ति-नास्ति दोनोंसे परे है। अस्ति-वाले नास्तिवालोंसे बड़ा द्वेष करते हैं और नास्तिवाले अस्तिवालोंको बेवकूफ समझते हैं। परन्तु हमारे वैदिक साहित्यमें अस्ति-नास्ति दोनोंको माना गया है। पाणिनिने अस्ति-नास्ति दोनोंको सिद्ध किया, क्योंकि उनको दोनों शब्द बनाने थे। 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'—कठोपनिषद्का (१.१.२०) कथन है, जिसमें अस्ति-नास्ति दोनोंका वर्णन है। पुराण कहते हैं कि परमात्मा अस्ति-नास्ति दोनोंसे परे है। आपने गीतामें पढ़ा ही है 'न सत्तन्नासदुच्यते'—(१३.१२) न उसको सत् कहते हैं और न असत् कहते हैं। वह वाणीका तो विषय ही नहीं है। वह सम्पूर्ण गुणोंका प्रकाशक है, स्वयं निर्गुण है और अनन्य भक्तिसे अनुभावित होता है।

तो, कर्दमजी महाराज निरहंकार, निर्द्वन्द्व, निर्मम, समदर्शी स्वदृक्-प्रत्यय समुद्रके समान शान्त हो गये। उनको सर्वज्ञ भगवान् वासुदेवका परम भक्तिभावसे साक्षात्कार हो गया। उनके बन्धन कट गये। कर्दमका स्वयंका अनुभव क्या था, उसका वर्णन सुनिये—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ।। ४६
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ।। ४७

कर्दमजीका अनुभव यह है कि आत्मरूप जो भगवान् हैं और भगवद्रूप जो आत्मा है वह सबमें स्थित है। सम्पूर्ण भूत आत्मरूप भगवान्में स्थित हैं। इसप्रकार कर्दमजीको कहीं न राग है, न द्वेष है, वे समदृष्टि प्राप्त हैं। उन्होंने भगवद्भक्तियुक्त होकर भागवती गति प्राप्त की।

❦

: २५ :

शौनकजी महाराज वर्णन करते हैं कि कपिलदेव तत्त्वज्ञानके लिए ही प्रकट हुए थे। उनका चरित्र उनकी लीला सुनकर हमारे प्राण तृप्त नहीं होते। श्रवणकी भूख—प्यास और-और बढ़ती जाती है—'भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः' (२)। यह कितना विलक्षण है! असलमें कानके देवता परमेश्वर ही हैं। यदि कानसे परमात्माका चरित्र सुनकर तृप्त हो जाय तो समझो उसको रस नहीं मालूम। इसलिए तुलसीदासजी कहते हैं—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन नाहीं॥

भगवत्कथा तो क्षण-क्षणमें नवीन है। कई लोग कहते हैं कि यह तो वही भागवत-कथा है, जिसको मैंने दसों बार सुन लिया है। अब क्या सुनना? अरे बाबा, दस बार भागवत-कथा सुनकर यदि तुम ऊब गये हो तो समझ लो कि तुमने एक बार भी भागवत नहीं सुना। किसी भी अवतारमें भगवान् कोई लीला करते हैं तो अच्छी ही होती है।

अब कर्दमजी हो गये संन्यासी और माताको प्रसन्न करनेके लिए रह गये कपिल। वे 'आसी-नमकर्माणम् (६) जन्म-संन्यासी थे। अकर्माका अर्थ है कि कोई-कोई पहले यज्ञोपवीत आदि संस्कार विधिवत् ग्रहण करते हैं, उनके कर्त्तव्य पूरे करते हैं और फिर उसके बाद विधिपूर्वक यज्ञोपवीत आदिका परित्याग करके संन्यासी होते हैं। उन्होंने पहले कर्माधिकारको ग्रहण किया और फिर कर्माधिकारका परित्याग किया। परन्तु कपिलजीने तो कभी कर्माधिकार ग्रहण ही नहीं किया। क्योंकि इनको कोई ज्ञान पाना नहीं था, अन्तःकरण शुद्ध करना नहीं था, वे तो अपने ज्यों-के-त्यों रूपमें आये थे।

देवहूति कपिलजीके पास आयीं और बोलीं कि—'असदिन्द्रियतर्षणात् (७)। यहाँ 'तर्षणात्' 'तर्पणात्, दोनों तरहके पाठ मिलते हैं। लिखनेवालोंसे 'प'के भीतर एक लकीर आगयी तो तर्षण हो गया और नहीं लगी तो तर्पण हो गया। देवहूतिने कहा कि हमारी इन्द्रियाँ बड़ी दुष्ट हैं। इनसे बिलकुल ऊब गयी हूँ। इनकी कभी तुष्टि नहीं होती। इनको खुश करते-करते हम नरकमें पहुँच गये हैं। परन्तु ये कभी सन्तुष्ट होनेवाली नहीं है। इनकी जितनी ही तृप्ति करो, उतनी ही अतृप्त होती हैं। तुम अज्ञानान्धकारसे अन्धे हुओंके लिए सूर्यके रूपमें प्रकट हुए हो। इसलिए हमारा मोह दूर करो।

देखो, मोहका स्वरूप क्या है?

'योऽवग्रहोऽहं ममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया' (१०)—इस प्रपञ्चमें, देह और देहके सम्बन्धियोंमें

जो 'मैं और मेरा' है, उसीका नाम मोह है। बीती हुई बातकी याद करना शोक है, आनेवाली बातमें ज्यादा फँस जाना भय है और वर्त्तमानमें जो मैं-मेरा है, वह हमारे साथ चले, इसका नाम मोह है। यह मोह बुद्धिका उलटा है। 'मुह्-वैचित्त्ये'—मुह धातुका अर्थ है विचित्तता। यह मै, मेरा चित्तकी विपरीतता है। या तो कहो कि सब प्रकृतिका है या फिर कहो कि यह सब भगवान्‌का है; भगवान् है। या कहो कि कुछ नहीं, माया है, प्रतीतिमात्र है। लेकिन तुम न तो प्रकृतिको मानते हो, न ईश्वरको मानते हो, न प्रतीति मानते हो, न ब्रह्मरूप मानते हो, तो प्रश्न उठता है कि आखिर तुम्हारी निष्ठा किस सिद्धान्तमें है? तुम्हारी दृढ़ता किस सिद्धान्तमें है? संसार मिटानेकी जरूरत नहीं है, परन्तु इसमें जो बेवकूफीकी पकड़ है, उसको मिटानेकी जरूरत है।

कपिलजीने अपनी माताका विविक्त अभिप्राय समझकर उनका अभिनन्दन किया। कभी-कभी प्रश्नकर्ताको भी उत्साहित करना पड़ता है। सो मुस्कुराकर बोले—माता, हमारा सिद्धान्त यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहे, उसको आध्यात्मिक-योग करना चाहिए। आध्यात्मिक-योगका सीधा-सादा अर्थ यह है कि अपने देहके भीतर जो स्थूल-सूक्ष्म-कारण है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना। 'आत्मनि इति अध्यात्मम्'—जो शरीरके भीतर होता है वह अध्यात्म। जैसे 'अध्ययोध्यम्' का अर्थ 'अयोध्यामें' और 'अधिकाशि'का अर्थ 'काशीमें' होता है, इसी प्रकार अध्यात्म माने अपने शरीरमें अपनी इन्द्रियोंमें, अपने मनमें, अपनी आत्मामें, अपने भीतर, इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर क्या-क्या है, वह सब ठीक-ठीक अनुभव कर लेनेका, जान लेनेका नाम आध्यात्मिक योग है। यदि इसको कोई मनुष्य समझ जाये तो सुख और दुःखका जो चक्कर है वह कट जाये जैसे शरीरमें कभी रोग हो जाता है, कभी शोक हो जाता है तो हम दुबले हो जाते हैं, वैसे ही हमारा मन भी कभी हर्षसे फूल जाता है और कभी दुःखसे दुबला हो जाता है। वस्तुतः यह मनका रोग है। बाहरके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यदि इसके स्वरूपको ठीक-ठीक समझ लें तो आपका दुःख और सुख दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। जैसे आकाशके दो रूप होते हैं—एक तो रातमें अन्धेरा होनेपर, दूसरा दिनमें उजाला होनेपर, किन्तु न तो अन्धेरा आकाशका रूप है और न उजाला। उसमें कभी तूफान आजाता है और कभी शान्ति हो जाती है, लेकिन तूफान और शान्ति दोनोंसे ही आकाशका कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार हृदयाकाशका नाम है 'ख'। माने शरीरके भीतरका हृदयाकाश। उसका जो 'सु' रूप है—प्रसन्न, निर्मल और निर्वासन—उसका नाम है सुख और उसका जो दुष्ट रूप है—काम-क्रोधादि, उसका नाम है दुःख—'दुष्टं खं दुःखम्। सुष्ठु खं सुखम्।' इसके सिवाय दुःख-सुख और कहीं नहीं होता।

सो देखो, हम वह योग बताते हैं जिससे सुख-दुःखकी आत्यन्तिक उपरति हो जाती है। आदमी बँधता कैसे है और उसका मोक्ष कैसे होता है? मन ही मनुष्यको बाँध देता है और मन

ही छोड़ देता है। मुझे मेरे एक परम श्रद्धास्पद और अनुभवी महापुरुषने बताया था कि माया माने मन होता है। मनको ही माया बोलते हैं। मन ही सुख-दुःख और बन्ध-मोक्षकी सृष्टि करता है।

इसी तरह वाराणसीके एक अघोरी महात्मा गुलाबदासने मुझे बताया था कि मन्त्रका अर्थ मन्तर या: मन-अन्तर होता है। जिससे मन अन्तर्मुख हो जाये उसीका नाम 'मन्तर' है। ये सब महात्माओंकी बातें हैं जो बड़ी सारगर्भित होती हैं।

कपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिको अध्यात्म-योगका अर्थ समझाते हुए कह रहे हैं कि परमात्माको, सत्यको, यथार्थको अपने भीतर प्राप्त करना ही अध्यात्म-योग है। कोई आकाशको ढूंढ़नेके लिए हवाई जहाजसे ऊपर जाना चाहे या गड्ढा खोदकर धरतीमें प्रवेश करना चाहे ये दोनों बातें गलत हैं। आकाश जैसे ऊपर है, जैसे भीतर है, वैसे ही यहाँ भी है। परमात्मा भी जहाँ हमारे 'अहम्-अहम्'का स्फुरण होता है, वहीं रहता है। आत्मामें न बन्धन है, न मुक्ति है। मन विषयोंमें आसक्त हो गया तो बँध गया और विषयासक्तिसे रहित हो गया तो मुक्त है। हमारे मनमें ही बन्धन है, मनमें ही मुक्ति है। मनमें काम, क्रोध, लोभ कहाँसे आते हैं? 'अहंममाभिमानोत्थैः'—(१६) 'मैं' और 'मेरा' यही दोनों अहन्ता और ममता काम, क्रोध, लोभके माँ-बाप हैं, कारण हैं। मनमें-से मैं-मेरा निकल जाये तो न मनमें दुःख है, न सुख है—मन शुद्ध है, मन सम है। जब मन सम और शान्त हो जाता है तब आत्मदेव देखते हैं कि 'मैं' प्रकृतिसे परे है, निरन्तर है, स्वयंज्योति है, अखण्डित है। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त आत्मामें ही यह आत्मा अपनेको उदासीन और प्रकृतिको निस्तेज देखता है। परमात्माकी भक्तिके अतिरिक्त ब्रह्मसिद्धिके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ १९

संसारमें सबसे बड़ा पाश या फन्दा, जिसमें हम बँध जाते हैं, आसक्ति है। परन्तु यही आसक्ति जब महापुरुषसे कर ली जाती है तो मोक्षका दरवाजा खुल जाता है। 'सङ्गस्तु सर्वथा त्याज्यः'—संगका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए, परन्तु 'स चेत् त्यक्तुम् न शक्यते'—सारा संग छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए यदि आसक्ति करनी है तो सत्पुरुषके साथ करो। 'सतां सङ्गो हि भेषजम्'—संसारमें जो आसक्ति हो रही है, उसकी दवा सन्तके प्रति आसक्ति ही है। सन्त वही हैं, जो तितिक्षु हो—सहनशील हो, जिसके हृदयमें करुणाकी धारा बहती हो, सबके प्रति सौहार्द हो, किसीसे शत्रुता न हो, जो शान्त हो, साधु हो, सद्गुणोंका आभूषण धारण करता हो, भगवान्‌का अनन्य भक्त हो, भगवान्‌के लिए सब-कुछ छोड़नेको राजी हो, भगवत्कथाके श्रवण और कथनमें जिसकी रुचि हो, जिसका मन रहे भगवान्‌में और जिसके पासतक ताप न पहुँच सकें। ऐसे ही

सर्वसङ्गरहित साधुओंका संग मनुष्यको करना चाहिए।

अन्यथा मनुष्य जैसा संग करता है, वैसा ही रंग उसके ऊपर चढ़ जाता है। देखनेमें आता है कि बड़े-बड़े सदाचारी भी दुराचारी लोगोंके संगमें पड़कर दुराचारकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। संगदोष बहुत भयंकर विष है। उसको हरण करनेवाले हैं सन्त। 'सङ्गदोषहरा हिते। जैसे समुद्र-मन्थनसे निकले हुए विषको हरने, शिवने पी लिया, वैसे ही सत्संग कुसंगके दोषको हर लेता है। जहाँ-जहाँ सत्संग होता है, वहाँ-वहाँ भगवत्-चर्चा हृदय और कानके लिए रसायन-रूप होती है। उसका सेवन करनेसे अपवर्गवर्त्मा भगवान्में श्रद्धा होती है। महात्मा लोग यह अर्थ करते हैं कि अपवर्गके मार्गमें अर्थात् मोक्षके मार्गमें श्रद्धा होती है। कई लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि जिनके मार्गमें अपवर्ग पड़ता है, जो भगवान् मुक्तोपसृत्य हैं, उनमें श्रद्धा होती है। जीवन्मुक्त ब्रह्मपर भी जिनकी आराधना करते हैं, उनमें श्रद्धा-भक्ति होती है। पहले श्रद्धा आती है, फिर राग होता है और फिर भक्ति आती है, यही उसका क्रम है। भक्तिसे लोक-परलोकसे वैराग्य होता है। जहाँ देखो वहाँ भगवान्‌की कारीगरी दिखायी पड़ती है। सब कुछ भगवान्‌की कला ही है। इसलिए सकल शब्दका प्रयोग करते हैं, इसलिए भी 'सकल' बोलते हैं कि सब जगह कला-ही-कला है। भक्तिका मार्ग चित्तको वशमें करनेके लिए बहुत सीधा है। इसमें आसन, प्राणायाम करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती और मन वशमें हो जाता है। विषयोंका सेवन न करनेसे, वैराग्यपूर्वक ज्ञान होनेसे, योग, भक्तिसे अपना जो प्रत्यगात्मा है, उसका साक्षात्कार होता है। प्रत्यगात्मा उसे कहते हैं, जो आँखके पीछे बैठकर आँखमें-से झाँक रहा है। 'प्रतीपम् अञ्चति इति प्रत्यक्' अर्थात् जिस दिशामें विषय दिखाई पड़ रहे हैं, उससे उलटा। इसको ऐसे समझो कि आँखोंके सामने दिखाई पड़नेवाले विषयोंको जो आँखके पीछे बैठकर आँखके झरोखेमें-से देखता है, उसका नाम है प्रत्यक्। प्रत्यक् वह है जो मनके पीछे बैठकर, मनके झरोखेमें-से झाँकता है, अविद्याके पीछे बैठकर अविद्याको देखता रहता है और किसीके आगे न पड़कर सबके पीछे ही रहता है। वही प्रत्यक् है और उसीका साक्षात्कार होता है।

अब देवहूतिने कपिलजीसे पूछा कि महाराज, आपकी भक्ति कैसे करनी चाहिए, जिससे कि निर्वाण-पदकी प्राप्ति हो। देखो, निर्वाण शब्दका अर्थ है परम निवृत्ति, परम गति। गीतामें (२.७२) निर्वाण शब्दका प्रयोग है—'ब्रह्मनिर्वाणम्' कहते हैं कि मनुष्यके जीवनमें तीन प्रकारके बाण हैं—एक तो दुःख बाण है, दूसरा अज्ञान बाण है और तीसरा मृत्यु बाण है। ये तीनों सच्चिदानन्दके विरोधी हैं। आनन्दके विरोधमें दुःख बाण है, ज्ञानके विरोधमें अज्ञान बाण है और सत्ताके विरोधमें मृत्यु बाण है। ये तीनों बाण जिसमें-से निकल जायें, उसका नाम निर्वाण 'बाणेभ्यः निष्क्रान्तम्' जो वाणोंसे निष्क्रान्त हो, परे हो, उसको निर्वाण कहते हैं। (व-ब में अभेद मानकर)।

योगसे उस निर्वाण-पदकी प्राप्ति होती है। योग ऐसा चाहिए जो सीधे भगवान्‌को जाकर विषय करे। भगवान् है निर्वाण और योग है बाण।

'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्'—यह बात उपनिषद्‌में कही गयी है।

(मुण्डक २२.२४)

अन्तमें देवहूतिने पूछा कि प्रभो ! योगके कितने अङ्ग है, जिससे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है ? यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतासे समझ जाऊँ।

मैत्रेयजी कहते हैं कि माताका अभिप्राय समझकर कपिलदेवके हृदयमें बड़ा भारी स्नेह उमड़ा। उन्होंने विचार किया कि इस माताने मुझे अपने शरीरका साररूप दूध पिलाया है। अब मुझे भी अपने जीवनका सार उसको दे देना चाहिए। कपिलजीने माताको सांख्यका उपदेश किया। यहाँ सांख्यका एक विशेषण है—'भक्तिवितानयोगम् (३१)।' एक सांख्य ऐसा होता है, जिसको प्राप्त करके भक्तिमें अरुचि हो जाती है, क्योंकि वह 'मैं-मैं-मैं'की प्रधानतासे होता है। किन्तु जो सांख्य सत्य परमात्माकी प्रधानतासे होता है, उससे भक्ति बढ़ती है। भगवान् कपिल द्वारा उपदिष्ट सांख्य भक्ति-प्रधान सांख्य है।

अब भगवान् श्री कपिलदेव अपनी माताको भक्तिका एक लक्षण बताते हैं—

देवानां गुणालिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ ३२
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३

माता, हमारे शरीरमें कुछ द्योतनात्मक देवता निवास करते हैं। आँखमें सूर्य देवता है, कानमें दिशा देवता है और नासिकामें आश्विनीकुमार देवता हैं। ये सब संसारके विषयोंको प्रकाशित करते हैं—'देवानां गुणलिङ्गानाम्' (३२)। तुम पहली बात यह करो कि इन इन्द्रियोंको आनुश्रविक कर्ममें लगाओ। यही भक्तिकी सीढ़ी है। 'आनुश्रविक कर्म'का अर्थ यह है कि मनमाने काम मत करो। जो वेदमें करनेको कहा गया है, वही करो और जिसको मना किया गया है, उसको मत करो। विहित करो, निषिद्ध न करो। कई लोगोंने आनुश्रविकका अर्थ यह किया है कि अपने गुरु-सम्प्रदायमें जो आज्ञा की गयी है, वह करो और जिसका निषेध किया है, वह मत करो। क्योंकि जैसे वेदविहित प्रयोजनवत् कर्मको धर्म बोलते हैं, वैसे ही महापुरुषोपदिष्ट, अन्तःकरणशुद्धयर्थ या भगवत्प्राप्त्यर्थ कर्मको भी धर्म बोलते हैं। पाञ्चरात्र, आगम आदिको वेदोपदिष्ट होनेसे नहीं महापुरुषोपदिष्ट होनेसे प्रमाण माना जाता है।

कर्म वही करना चाहिए, जो श्रुति, शास्त्र और गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो। मन और

इन्द्रियोंकी वासनाके अनुसार कर्म नहीं करना चाहिए। श्रुति-शास्त्रानुमोदित और गुरूपदिष्ट कर्मसे ही मनमें एकाग्रता आती है, सत्यमें स्थिति होती है, वृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। ऐसा कोई निमित्त नहीं होना चाहिए कि हम भगवान्‌की भक्ति करेंगे तो हमको यह मिलेगा, वह मिलेगा। वृत्ति ऐसी होनी चाहिए, जो भगवान्‌को विषय करने लगे। यही भक्ति है और यह सिद्धि तथा मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। इसमें इतनी शक्ति है कि जिस प्रकार जठराग्नि खाये हुएको पचा देती है— वासना कोश, संस्कार कोश आदि, उनको भस्म कर देती है। कई भक्त तो ऐसे होते हैं कि वे भगवान्‌से एक होना भी नहीं चाहते—'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' (३४)। कहते हैं कि जबतक जीते हैं तबतक आओ खेल लें, मरनेके बाद जो होना होगा, सो होगा।

ऐसे भक्तोंमें तीन बातें होती हैं—एक तो उनकी भगवान्‌की चरणसेवामें प्रीति होती है, दूसरी वे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार काम करते हैं और तीसरी यह कि जब वे चार दीवानोंकी तरह मिलकर इकट्ठे होते हैं, तब भगवान्‌के चरित्रका आदर करते हैं—'स भाजयन्ते मम पौरुषाणि' (३४)। मैया, मैं ऐसे ही भक्तोंको अपने रुचिर रूपका दर्शन देता हूँ। उन्हींको मेरा प्रसन्न मुख और मेरी रतनारी आँखें दिखाई पड़ती हैं। उन्हींके सामने मेरे दिव्य रूप प्रकट होते हैं और मैं उनको वर देता हूँ। वे मेरे साथ बातचीत भी करते हैं। मैं अपने दर्शनीय अङ्गसे, उदार विलास-हाससे, चितवनसे एवं मीठी-मीठी वाणीसे उनके मन और प्राणोंको अपनी ओर खींच लेता हूँ। देखो, एक तो ऐसे लोग होते हैं जिनको अपना मन भगवान्‌की ओर खींचना पड़ता है और दूसरे ऐसे होते हैं, जिनका मन भगवान् स्वयं खींच लेते हैं। उनकी इच्छा न होनेपर भी उन्हें बड़ी सूक्ष्म गति प्राप्त होती है। वे भागवत-पदमें, वैकुण्ठादि धाममें जाकर ब्रह्मलोकका, हिरण्यगर्भका जो परमैश्वर्य है, उसका समास्वादन करते हैं। जो लोग सब कुछ छोड़कर, सबकी ओरसे मुँह मोड़कर और सबसे नाता तोड़कर मेरा भजन करते हैं, अनन्य भक्तिसे सब जगह मुझे देखते हैं, उन्हें मैं मृत्युसे पार कर देता हूँ। काल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। असलमें मेरी भक्तिके बिना तीव्र भयकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि भयभीत है—मेरे भयसे ही वायु चल रही है, सूर्य तप रहा है, मेघ बरस रहा है, अग्नि जल रही है और मृत्यु सबको मार रही है। मेरा भजन किये बिना किसीका कल्याण नहीं होता। ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्तियोग ही परमकल्याण-स्वरूप भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्तिका साधन है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ ४४

: २६ :

भगवान् कपिलदेवजीने आगे कहा कि माता, अब मैं तुमको तत्त्वका पृथक्-पृथक् लक्षण बताते हुए मोक्षप्रद ज्ञानका वर्णन करता हूं। आत्मदेव ही सबके आदि भी हैं और अनादि भी हैं। आत्मदेवके बिना दूसरी किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। जब ये अपनी उत्पत्तिपर विचार करते हैं तब स्वयं होकर ही अपनी उत्पत्ति सिद्ध करते हैं, इसलिए अनादि हैं। ये प्रत्यग्धामा हैं, स्वयंज्योति हैं, निर्गुण हैं, प्रकृतिसे परे हैं और इन्हींसे सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है। ये ही लीलासे प्राप्त दैवी प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। प्रकृतिदेवी भी ऐसी चतुर हैं, ऐसी निपुण हैं तथा इनके भीतर अनादिकालसे ऐसे बीज छिपे हुए हैं कि वे तो तरह-तरहकी प्रजाकी सृष्टि करती हैं और उनकी लीला देखकर ये पुरुष देवता अपने आपको भी भूल जाते हैं, यहाँतक कि प्रकृतिके द्वारा किये हुए कर्मको अध्यास-वश अपना किया हुआ कर्म स्वीकार कर लेते हैं—

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥ ६

इस प्रकार परका, दूसरेका जो ध्यान है, उससे पुरुष अपनेमें कर्तृत्वको मान लेता है। गीता पढ़नेवालोंको विदित ही है कि गुण तो कर्म करते हैं परन्तु आत्मदेव उसको अपने आपमें मान बैठते हैं।

एक सज्जन ट्रेनमें लम्बी यात्रा कर रहे थे। उनके डिब्बेमें कोई एक बहुत बड़ा बक्सा लाकर रख गया। ट्रेन मद्रास पहुँच गयी। बक्सा लेने कोई नहीं आया। इतनेमें टी. टी. आया और पूछा कि आपने इसका किराया दिया है? पहले तो वे पेशो-पेशमें पड़े फिर उन्होंने किराया देकर उसकी रसीद ले ली। जब वे बक्सा लेकर बाहर निकले तो पुलिसवालोंने घेर लिया और पूछा कि इसमें क्या है? खोलकर दिखाओ। जब बक्सा खोला गया तो उसमें निकला मुर्दा। अब वे बड़े संकटमें पड़े। पहले तो बताया कि बक्सा मेरा है और जब खोलनेपर मुर्दा निकला तो बोले कि नहीं-नहीं, मेरा नहीं है। अब वे पकड़े गये और उनपर मुकदमा चला।

इसी तरह जो प्रकृतिके द्वारा कर्म हो रहा है, उसपर मुग्ध होकर यह द्रष्टा, साक्षी, आत्मा उसको अपना स्वीकार कर लेता है। फिर सब उसके सिर पड़ने लगता है और उसको उसकी चपत खानी पड़ती है। इसलिए उससे बचनेका उपाय यही है कि—'नाऽहम् न मम'—न मैं हूँ और न मेरा है। जहाँ 'अहन्ता—ममता'से छूट गये, वहाँ सारा सम्बन्ध छूट गया। 'अहन्ता-ममता' ही संसारका बन्धन है, मायाकृत पारतन्त्र्य है। देह, इन्द्रिय और देवता-वर्गके कारणको प्रकृति कहते हैं तथा सुख-दुःखके, भोक्तापनके कारणको पुरुष कहते हैं।

अब देवहूतिके कहनेपर भगवान् कपिलदेव सबका लक्षण अलग-अलग बताते हैं। कहते हैं देखो, अपने शरीरमें जो हड्डी, मांस, चाम हैं ये मूढ़ हैं, जो क्रियाशीलता है, वह विक्षिप्त है और हमें जो मालूम पड़ता है, यही सत्त्व है। ज्ञान होना सत्त्व है, क्रिया होना रज है और हड्डी, मांस, चामका पुतला होना तम है। ये गुण नहीं, गुणके कार्य हैं, परन्तु ये जो तीन प्रकारके कार्य दिखाई पड़ते हैं, इनसे गुणोंका अनुमान होता है। वस्तुतः गुण किसीके अपरोक्ष नहीं होते, गुणोंका प्रत्यक्ष नहीं होता—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ (व्यासभाष्य ४.१३)

लोगोंने दुनियामें तीन तरहकी चीजें देखकर तीनोंकी तीन राशियाँ बना दीं और मान लिया तीनोंके तीन कारण होंगे और समय-समयपर वे एक-दूसरेसे मिल जाते होंगे। इसी कारण यह अनुमान-प्रधान निरूपण है। शास्त्रमें प्रधानके निरूपणको अनुमान ही बोलते हैं। इसी प्रकार प्रकृतिका लक्षण बनता है।

अब श्रीभगवान् कपिलदेव कहते हैं कि माता, त्रिगुणोंका जो महाप्रलयमें एकीकृत रूप है और सृष्टिकालमें जो विभक्त रूप है, यही प्रकृतिका रूप है, यही चौबीस तत्त्व इसके होते हैं, जिसको प्राधानिक गुण बोलते हैं। अब देखो, वे चौबीस तत्त्व कौन-कौन हैं? पृथिवी आदि पञ्चभूत हैं, गन्धादि पञ्चतन्मात्रा हैं, श्रोत्र आदि दस इन्द्रियाँ हैं और मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ये चार अन्तःकरण हैं, इन्हींको चौबीस तत्त्व बोलते हैं। इन्हींमें सगुण ब्रह्मका सन्निवेश है।

अब देखो, कोई-कोई कालको पच्चीसवाँ तत्त्व मानते हैं। कोई-कोई भगवान्के पराक्रमको ही काल मानते हैं और कोई-कोई ईश्वरकी चेष्टाको काल कहते हैं। इसप्रकार भगवान् ही काल हैं या भगवान्का प्रभाव काल है या भगवान्की चेष्टा काल है—इस बातको लेकर भागवतके व्याख्याताओंमें बड़ा भारी मतभेद है। असलमें कालकी सिद्धि व्यवहारमें ही होती है, परमार्थमें तो काल कहाँ है? भगवान्ने तो ऐसी लीला रची है कि वे भीतर आत्माके रूपमें और बाहर कालके रूपमें बैठे हुए हैं। अगर तुम बाहरकी वस्तुओंके साथ प्रेम करोगे तो वे तुम्हें कालके रूपमें तमाचा मारेंगे, कालके गालमें फँसना पड़ेगा, और यदि आत्मासे प्रेम करोगे तो इससे मुक्त हो जाओगे। परमात्मा, परम पुरुष मायामें चित्शक्तिका आधान करता है। कोई पूछे कि चिच्छक्ति क्या है तो हमलोग, वेदान्तका श्रवण-मनन करते हैं और जिन्हें ज्यादा उसका अभ्यास होता है, झट उसके लिए चिदाभासका प्रयोग कर देते हैं। वेदान्ती लोग, उससे बहुत परिचित होनेके कारण उस चित् शक्तिको, उस वीर्यको चिदाभास ही बोलते हैं। परमात्माकी चिच्छक्तिका आधान होनेपर प्रकृति महत्तत्त्वका प्रसव करती है और फिर वह अपने अन्दर सोता हुआ जो प्रलयकालिक तम है, उसको पी जाती है। यह महत्तत्त्व भगवत्-प्राप्तिका स्थान है। अधिभूत-रूपसे उसका नाम महान् है, अध्यात्म-रूपसे उसका नाम चित्त है और उपास्य-रूपसे उसका नाम वासुदेव है। स्वच्छता, निर्विकारता, शान्तता यह चित्तका लक्षण है। फिर उससे जब महत्तत्त्वमें विकृति होती है तब सात्त्विक, राजस, तामस—ये तीन प्रकारके अहंकार होते हैं। इन्हींसे सम्पूर्ण मन, भूत और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यह अहंकार ही भूतेन्द्रिय-मनोमय है। उसको उपास्य-रूपसे सङ्कर्षणके नामसे बोलते हैं। देवता, इन्द्रिय, भूत-रूपसे अहंकारका तीन प्रकारसे लक्षण किया जाता है। उसमें भी जब सात्त्विक अहंकारका विकार होता है तो संकल्प-विकल्पात्मक मनस्तत्त्व होता है। इस मनस्तत्त्वको ही इन्द्रियोंके ईश्वरके रूपमें उपास्य-रूपसे अनिरुद्ध कहते हैं। राजस अहंकारसे बुद्धितत्त्व होता है और बुद्धितत्त्वसे संशय, मिथ्याज्ञान, निश्चय, स्मृति आदिकी उत्पत्ति होती है। यह भागवतकी अपनी प्रणाली है कि वह राजस अहंकारसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मानता है। प्राणमें क्रिया-शक्ति है और बुद्धिमें विज्ञान-शक्ति है। तामस अहंकारसे ऐसा अहंकार बनता है, जिसकी मात्रा शब्द है। अर्थका वाचक होना, कोई आड़में-से बोलता हो, तब भी उसको पहचान लेना, स्थूल

होना, सूक्ष्म होना यह सब शब्दका लक्षण है। प्राणियोंको अवकाश देना, नाड़ियों आदिमें छिद्ररूपसे रहना, मन-प्राण आदिका आश्रय होना, यह सब आकाशका लक्षण है। इसी शब्दमात्र नभःसे वायुकी उत्पत्ति होती है। मृदु है कि कठिन है कि शीत है कि ऊष्ण है, यह स्पर्शसे ज्ञात होता है। वायुसे पेड़ोंकी शाखा हिलती है और गन्ध बाहरसे उड़कर नासिकामें जाता है।

इस प्रकार भगवान् कपिलदेव समस्त पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिका प्रसंग बताते हुए कहते हैं कि स्पर्शमात्र वायुसे रूपमात्र तेज होता है, रूपमात्र तेजसे रसमात्र जल होता है और रसमात्र जलसे गन्धमात्र पृथिवी होती है। इस पृथिवीमें भगवान्‌की मूर्ति बनती है और यह वस्तुको बिल्कुल साकार कर देती है। पञ्चभूतोंमें इन्द्रियाँ बनती हैं। जैसे आकाशकी प्रधानतासे कान है, वायुकी प्रधानतासे स्पर्श है, वैसे ही इन भूतोंकी गिनतीका भी एक विज्ञान होता है। पाँच-पाँचकी गणना है। आजकलके वैज्ञानिक तरह-तरहके यन्त्रोंसे खोज करते हैं। यदि यन्त्रोंकी गिनती न हो, तो पदार्थकी प्रधानतासे सब एक हो जायेगा या यन्त्रकी प्रधानतासे सब एक हो जायेगा। यान्त्रिक खोजकी प्रणाली दूसरी है और ईश्वरने हमारे पास जो उपलब्धिके साधन दिये हैं उनकी प्रणाली दूसरी है। जैसे जो कानसे सुनायी पड़ता है, वह शब्द है और उसका आश्रय आकाश है, त्वचासे मालूम पड़ता है स्पर्श, जिससे वायुकी सिद्धि हो गयी। आँखसे मालूम पड़ता है रूप, जिससे तेजकी सिद्धि हो गयी। रसनासे मालूम पड़ता है रस, जिससे जलकी सिद्धि हो गयी और नासिकासे मालूम पड़ता है गन्ध, जिससे पृथिवीकी सिद्धि हो गयी।

कहनेका अभिप्राय यह है कि हमारे शरीरमें ही भगवान्‌के बनाये हुए यन्त्र हैं। आप देखें कि आपको जो खट्टा-मीठा-चरपरा स्वाद मिलता है, वह आपकी जीभसे मिलता है या नहीं? अवश्यमेव जीभसे ही मिलता है। आप नाकसे खट्टा-मीठा-चरपरा आदिको नहीं जान सकते। इसी तरह वह आँखसे, कानसे, त्वचासे भी नहीं मालूम पड़ता। जीभमें ही एक ऐसी स्वाद ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है, जो रसको ग्रहण करती है। इसी रसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियका विषय रस और रसाश्रय जो द्रव्य है, उसको जल कहते हैं। इस प्रकार हमारी खोजकी पद्धति आध्यात्मिक है।

तो पाँच इन्द्रियाँ हैं, पाँच विषय हैं, पाँच प्राण हैं और पाँच अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं। उनमें असंगति तो कहीं है ही नहीं। यह दर्शन-शास्त्रका दृष्टिकोण है, आजकलके साइन्स अथवा विज्ञानका दृष्टिकोण नहीं।

अब बताते हैं कि जब ये सब मिलकर इस ब्रह्माण्डको बनाना चाहते हैं तब ब्रह्माण्ड नहीं

बनता। किन्तु जब सर्वसमर्थ सर्वान्तर्यामी ईश्वर इसमें प्रवेश करता है, तब यह विराट् पुरुष उत्थित होता है। कोई-कोई प्रश्न उठाते हैं कि इसमें इच्छाएं कहाँसे उदित हुईं ? जब मैं देखूं—यह इच्छा हुई तब आँख बनी, जब मैं सूंघूं– यह इच्छा हुई तब नाक बनी। जब मैं काम करूँ—यह इच्छा हुई तब हाथ बना। इसी तरह जब मैं खाऊँ—या बोलूं—यह इच्छा हुई तब मुंह बना। किन्तु ये इच्छाएँ कहाँसे हुईं ? इसका उत्तर है कि पूर्व-पूर्व सृष्टिकी जो इच्छाएँ थीं वे सोयी हुई थीं। प्रकृतिके जागरणके साथ ये भी जाग गयीं। इस प्रकार सामान्य इच्छाकी तरह विराट् पुरुषकी इच्छाका वर्णन किया गया है। किन्तु इन सबके प्रवेश करनेपर भी विराट् पुरुषका उत्थान नहीं हुआ। जब इसमें साक्षात् चैतन्यने, क्षेत्रज्ञने चित्तके साथ हृदयमें प्रवेश किया तब यह विराट् पुरुष उत्थित हुआ। शरीर द्वारा उत्थानको आपलोग इस प्रकार समझें कि हमलोगोंका यह हाथ, पाँव, सिर और पेटवाला जो शरीर है, वह एक सीकरमें रहता है या नहीं ? वीर्य तो पानी है। उसके एक बूंदमें सौ-सौ पुरुषोंके उत्पादनकी योग्यता होती है। उस पानीमें जो चेतन छिपा हुआ है, वही शरीरधारी जीव होकर आता है। संसारके समस्त वीर्यको एकमें मिला दो और सब चेतनोंको भी एकमें कर दो। अब देखो, उन सब चेतनोंको अहंके रूपमें जो धारण करनेवाला सर्वात्मा है, वह कहाँ रहता है ? वही तो पानीमें छिपा हुआ है। पानीमें छिपे हुए चेतनका नाम ही तो नारायण है—'नारं नीरं भुवनमुदकम्, नारम् अयनं यस्य स नारायणः।' जो सम्पूर्ण जगत्के जड़-चेतन, और चराचर व्यक्ति हैं, उनके समष्टिभूतको कारणवारिमें विद्यमान चेतनको ही नारायण कहते हैं।

तो, यह हमारा जो आध्यात्मिक विज्ञान है, उसकी पद्धतिसे जब आप इसको ढूंढ़ेंगे तब इसका पता चलेगा। जैसे सोता हुआ पुरुष जब उठता है तो उसकी सारी इन्द्रियाँ जग जाती हैं, काम करने लगती हैं; वैसे ही जब इस विश्व-विराट्में चैतन्य प्रवेश करता है तब वह अपना काम करने लगता है।

❀

: २७ :

श्री कपिलदेवजी आगे कहते हैं कि माता, यह जो चैतन्य आत्मा है, वह देहमें रहकर भी वास्तवमें असंग है, क्योंकि निर्विकार है। कोई बचपनमें कहे कि चैतन्य निर्विकार है तो जल्दी बात समझमें नहीं आती। यहाँ तो बूढ़े होनेपर भी बच्चे ही रहते हैं। अवस्थाकी कोई बात नहीं। विकारका अर्थ है कि दुनिया बदलती रहती है परन्तु देखनेवाला बदलनेवाली चीजके साथ नहीं बदलता। जाग्रत् बदलता है, सुषुप्ति बदलती है, किन्तु आत्मा एक ही रहती है। यह उसकी निर्विकारता हुई। अवस्थाओंमें विकार होता गया, उनके प्रकार और संस्कार अलग-अलग होते गये, परन्तु आत्मदेव एक हैं और बिलकुल निर्विकार रहते हैं। जैसे पानीमें प्रतिबिम्बित सूर्य पानीके हिलनेपर भी नहीं हिलता, वैसे ही इस शरीरमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु जब यह प्रकृतिके गुणोंको अपना गुण मानकर अपनेको कर्त्ता मान बैठता है कि यह करनेवाला मैं हूं, तब इसी आसक्तिके कारण प्रकृतिके जो आकार बनते हैं, वे सब इसमें आभासित होते हैं। वस्तुतः आकार-विकार-प्रकार-संस्कार प्रकृतिमें ही होते हैं, आत्मचैतन्यमें नहीं होते। वह तो सबका साक्षी है। उसमें आधि-व्याधि-समाधि-उपाधि कुछ भी नहीं है। वह तो इन सबसे निर्निर्मुक्त है। परन्तु उसमें ध्यानके कारण स्वप्नमें होनेवाली मृत्युके समान इनकी प्रतीति होती है।

[मैंने अनेक बार देखा कि मेरी मृत्यु हो गयी है। कभी-कभी ध्यानस्थ होनेपर और कभी-कभी स्वप्नमें। लोग मुझे श्मशान ले गये हैं, चितापर मेरा मृत शरीर रख दिया है, धू-धू करके चिताकी ज्वाला उठ रही है और मैं यह सब देख रहा हूं। उसी समय मेरे मनमें यह विचार भी

उदय हुआ कि जब मैं मर गया हूँ और मेरा शरीर जल रहा है तब यह सब देखनेवाला 'मैं' कौन हूँ ?]

तो, जैसे ध्यान या स्वप्नमें बहुत-से दृश्य दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही यह संसार दिखाई पड़ता है और अनर्थ भी वैसे ही होता है। यह सारा मनका खेल है। इसलिए इसको बुरे रास्तेमें मत जाने दो। हृदयमें भगवान्की भक्ति और बुद्धिमें संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न करके मनको अपने वशमें ले आओ। यम-नियमका पालन करो, श्रद्धाके साथ भगवान्की कथा सुनो और किसीके साथ वैर मत करो। सबमें समताकी दृष्टि रखो और कहीं भी आसक्ति मत करो। ब्रह्मचर्यपालन, मौन-धारण और निष्काम-भावसे कर्म-सम्पादन मनुष्यका परम धर्म है। मनुष्यको कुछ पानेके लिए ही धर्माचरण नहीं करना चाहिए।

एक बार वृन्दावनके प्रसिद्ध महात्मा हाथी बाबासे किसीने मेरे सामने पूछा कि महाराज, राम-राम कहनेसे क्या लाभ होता है, तो हाथी बाबाने उसे झिड़कते हुए कहा कि अरे तू राम-रामसे क्या फायदा उठाना चाहता है ? क्या बिना फायदेके कोई काम नहीं किया जाता ? क्या हमलोग इतने पतित-निकृष्ट हो गये कि यदि दुनियादारीका कोई लाभ न हो तो अच्छा काम ही न करें ?

अरे बाबा, दैनिक सन्ध्या-वन्दन लड्डू खानेके लिए नहीं किया जाता। उससे जो चित्त-शुद्धि और आत्म-बलकी वृद्धि होती है, वह क्या कम लाभ है ? कर्त्तव्यका पालन करनेसे ही हमारे धर्मको बल मिलता है। एक परिमित मात्रामें जो मिल जाये, उसमें सन्तुष्ट रहो। न अधिककी आकांक्षा करो और न कम पाकर विचलित होओ। आहार-विहार नियमित रखो। कई लोग, जो बिलकुल भोजन छोड़ देते हैं, उनको लाभके बजाय हानि ही होती है। उनकी गरमी बढ़ जाती है और उनको झूठे सपने आने लगते हैं। ऐसोंके सपनेमें जो देवता-दानव बोल जाते हैं, वह भी झूठा ही होता है। इसलिए नियमसे भोजन करना चाहिए, न ज्यादा खाना चाहिए, न कम खाना चाहिए। कम बोलना, एकान्तमें वास करना, शान्तिसे रहना, लोगोंके प्रति मैत्रीकी भावना रखना, दुःखीसे दयाका बर्ताव रखना, इन्द्रियोंका संयम रखना और अपना देह तथा देहके सम्बन्धियोंके प्रति मैं-मेरेका भाव न करना ही परम धर्म है।

यह काम ऐसा ही हो, इसके लिए दुराग्रह नहीं करना चाहिए। 'सानुबन्धे च देहेऽस्मिन् (९)' एक देह है और दूसरा देहकी पूँछ है; इसके साथ अनुबन्ध लगा हुआ है। पीछेसे जो बाँधी हुई चीज है, उसको अनुबन्ध अथवा पूँछ बोलते हैं। उसके बारेमें कोई आग्रह नहीं करना। प्रकृति पुरुषका विवेक करना, बुद्धिसे जरा अलग होकर, साक्षी होकर बैठना और दूसरेके दर्शनको छोड़ देना, अपने-आपको आभाससे बिलकुल मुक्त करके देखना, यही सच्चा जीवन-दर्शन है।

इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है। किसी आदमीने देखा कि उसके घरमें भीतपर

रोशनी पड़ रही है। उसने सोचा कि भीतपर रोशनी कहाँसे आयी? खोजकी तो मालूम हुआ कि सामने थालीमें पानी रखा हुआ है और उस पानीमें-से यह रोशनी आ रही है। किन्तु पानीमें रोशनी कहाँसे आयी? विचार किया तो देखा कि आकाशमें जो सूर्य है, उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है थालीके पानीमें और फिर उसमें-से रोशनी उछलकर पड़ती है भीतपर।

इसी तरह हमको यह दुनिया मालूम पड़ती है। इस दुनियाके पर्देपर वह रोशनी कहाँसे आती है, जिससे सब कुछ दिखाई पड़ता है? वह ज्ञान कहाँसे आता है जिससे सबका बोध होता है? वह रोशनी आती है हृदयकी, अन्तःकरणकी थालीमें और वहींसे छलककर संसारकी भीतपर पड़ती है। वह रोशनी कहाँसे आती है? ज्ञान कहाँसे आता है? अरे बस, बस, बस, वही तो परमात्मा है। तो, व्यवहारमें ज्ञान कहाँसे आया? अन्तःकरणसे। अन्तःकरणमें ज्ञान कहाँसे आया? परमात्मासे।

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः॥ १२

इसलिए परमात्माको अपने भीतर ही ढूँढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि परमात्मा कैसे काम कर रहा है? जैसे वह जाग्रत् अवस्थामें रहता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्थामें भी रहता है। जो घड़ेको देखता हैं, वही घड़ेके न होनेको भी देखता है। जो जाग्रत्के व्यवहारको देखता है, वही इसके अभावको, लयको सुषुप्तिमें भी देखता है। विचार करके देखोगे तो पाओगे कि तुम न तो जाग्रदवस्थामें फँसे हो और न स्वप्नमें, न सुषुप्तिमें। इसी तरह विचार करके अपने आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

अब देवहूतिने कहा कि महाराज, इस तरह तो प्रकृति और पुरुषका कभी विवेक ही नहीं होगा; क्योंकि दोनों एक दूसरेसे मिले हुए हैं। फिर कैवल्यकी प्राप्ति कैसे होगी? क्योंकि प्रकृतिमें पुरुष दीखता है और पुरुषमें प्रकृति दीखती हैं। यदि कदाचित् तत्त्वका विचार करनेपर यह भय दूर हो जाय तो प्रकृति भी बनी रहेगी और पुरुष भी बना रहेगा, फिर दोनों कभी मिल जायेंगे। क्योंकि जब निमित्त ज्यों-का-त्यों बना हुआ है तो उनका मेल हो सकता है।

यह विवेक करके कि हम असंग हैं, द्रष्टा हैं, साक्षी हैं, एक बार प्रकृतिसे अलग हो सकते हैं, किन्तु जब प्रकृति बनी रहेगी तो फिर क्या कभी प्रकृतिसे नहीं मिल जायेंगे? क्योंकि 'अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते' (२०)। जब निमित्त बना रहेगा तो फिर यह पुरुष फँस ही जायेगा।

भगवान् कपिलदेवने कहा कि माता, यह तो ठीक है। परन्तु पहले प्रकृतिसे जो सम्बन्ध

तोड़ा गया, उसको भली-भाँति अभ्यासपूर्वक तोड़ना चाहिए। उसके लिए निष्काम धर्मका पालन करना चाहिए, भगवान्‌के प्रति तीव्र भक्ति करनी चाहिए और उसके सम्बन्धमें सतत सावधान रहना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि वह भक्ति शास्त्रमें-से आयी हुई हो। अगर मनमाने ढंगसे कहींसे आयी होगी अथवा किसीने दी होगी और तुमने भी मनमानी रीतिसे ली होगी तो फिर वह भक्ति उसी तरह चली भी जायेगी। लेकिन यदि 'श्रुतसम्भृतया' (२१) अर्थात् वेद-शास्त्रने वह भक्ति तुम्हारे अन्दर डाली होगी तो वह टिक जायेगी। ज्ञान ऐसा होना चाहिए, जिससे वस्तुका बिलकुल साक्षात्कार हो जाये। वैराग्य भी ढुल-मुल नहीं, बलवान् होना चाहिए। योग ऐसा होना चाहिए, जिसमें तपस्या हो। समाधि ऐसी होनी चाहिए, जिसमें तीव्रता हो। पहले जरा प्रकृतिको भस्म कर लो। उसके बाद जब प्रकृति-पुरुषका विवेक होगा तो प्रकृतिका बिलकुल लोप हो जायेगा। यदि पहले साधन नहीं करोगे, अभ्यास नहीं करोगे और किसीने आकर कह दिया कि तुम तो प्रकृतिसे अलग हो तथा तुमने भी मान लिया कि हाँ, मैं अलग हूँ तो तुम्हारी वह मान्यता जल्दी काम नहीं देगी—

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥ २४

जब तुम अपनी महिमामें स्थित हो जाओगी तब यह प्रकृति तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँचायेगी। जिस तरह स्वप्न सोते हुए आदमीके लिए तो अनर्थकारी है, लेकिन जागनेवालेके लिए मोहका हेतु नहीं है, इसी प्रकार प्रकृति अज्ञानीके लिए अनर्थ है, आत्मारामके लिए अनर्थ नहीं है। जब मनुष्य जन्म-जन्मके संस्कारोंसे शुद्ध हो लेता है और उसको ज्ञान हो जाता है तब उसे भगवद्भक्तिकी प्राप्ति होती है, तत्त्वका अनुभव होता है। उसके सारे सन्देह कट जाते हैं। उसको अपुनरावर्ती गति प्राप्त होती है।

एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिए। योग करते समय सिद्धियाँ बहुत आती हैं और दुनियादार लोग सिद्धियोंको बहुत महत्त्व देते हैं। योग-दर्शनमें यह बात कही गयी है कि जब कोई देवता आकर न्योता दे कि आओ, आओ, हम तुमको यह सिद्धि देते हैं, यह वरदान देते हैं तो उससे आसक्ति नहीं करनी चाहिए और न अभिमान करना कि अब तो देवता लोग हमको हाथ जोड़ने लगे हैं। ऐसे सावधानी रखनेपर ही आगे बढ़ोगे, अन्यथा मायाके चक्करमें ही पड़े रह जाओगे। जहाँ परमात्माकी प्राप्ति होती है, वहाँ मृत्यु बिलकुल नहीं होती।

❀

: २८ :

भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि माता, अब मैं तुम्हें सबीज योगका लक्षण बताता हूं। सबीज योगका अर्थ यह है कि योगमें कोई सहारा रखना चाहिए। जैसे प्राणायामकी बात लो। प्राणायाम सूखा और गीला दो तरहका होता है। जो साँसका प्राणायाम करते हैं, वे सूखा प्राणायाम करते हैं और जो मन्त्रके साथ प्राणायाम करते हैं, वे गीला प्राणायाम करते हैं। गीला प्राणायाम करनेवालोंको मन्त्रका आलम्बन अर्थात् सहारा रहता है।

इसी तरह योग दो तरहका है—एक सबीज दूसरा निर्बीज। निर्बीज योग थोड़ा कठिन और सबीज योग थोड़ा सरल है। सबीज योगसे मन पहले प्रसन्न होता है और फिर अपने आप सन्मार्गमें चलने लगता है। सुगमता, शक्तिके अनुसार अपने धर्मका पालन करने और विधर्मसे निवृत्त होनेसे ही आती है। प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिले, उसीमें सन्तोष करना चाहिए। आत्मवेत्ताओंके चरणोंकी पूजा करनी चाहिए—'आत्मविच्चरणार्चनम्' (२)। आत्मवेत्ताओंके चरणका देवता बड़ा जागरूक देवता है। 'ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च' (३) इन्द्रिय-ग्राम द्वारा विषयोंके सेवनका जो अभ्यास है,

उसको छोड़ देना चाहिए और जिस धर्मसे मोक्ष प्राप्त होता है, उससे प्रीति करनी चाहिए। भोजनके सम्बन्धमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिए—एक तो उसकी मात्रा मर्यादित होनी चाहिए, अमात्र भोजन नहीं करना चाहिए। अमात्र केवल ब्रह्म ही होता है, संसारकी कोई अन्य वस्तु नहीं। ब्रह्मके सिवाय यदि कोई दूसरी वस्तु मात्राका उल्लंघन करेगी, तो वह मार डालेगी, स्वयं फट जायेगी अथवा फाड़ डालेगी। दूसरी बात भोजनमें यह होनी चाहिए कि वह मेध्य होनी चाहिए। मेध्य माने यज्ञीय। यह देख लें कि आप जो भोजन कर रहे हैं, उसका हवन कर सकते हैं या नहीं? भगवान्‌को उसका भोग लगा सकते हैं या नहीं? भोगमें भी विशेष करके वैष्णवोंकी जो रीति है उसका ध्यान रखना चाहिए। वैष्णव भोग्य बहुत पवित्र भोग्य है। उसमें पहले तुलसीदल डालते हैं। आप अपने भोजनमें तुलसीदल भले ही न डालें, लेकिन यह देख लें कि उसमें तुलसीदल पड़ सकता है या नहीं? अगर उसमें तुलसीदल पड़ सकता है तो वह पवित्र भोजन है। भोजनमें मात्रा और पवित्रता दोनों चाहिए।

भागवतमें दूसरी जगह लिखा है कि भोजन कैसा होना चाहिए—'पथ्यं पूतमनायस्तम्'—अर्थात् भोजन शरीरके लिए पथ्य हो, स्वभाव और जातिसे पवित्र हो और पकानेमें सुगम हो। उसको दो-तीन बार न पकाना पड़े एक बार चूल्हे या अँगीठीपर चढ़ा दिया और वह पक गया—उसको पकाना इतना सुगम हो कि उसे आगपर चढ़ाकर माला फेरते रहें भजन करते रहें। ऐसा भोजन नहीं होना चाहिए कि उसे तीन दिन पहले भिगोना पड़े, फिर पीसना पड़े और फिर पकाना पड़े। भोजन बासी भी नहीं होना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने भोजनमें तीन दोष बताये हैं—एक तो जाति-दोष नहीं होना चाहिए—जैसे मांसादि नहीं होना चाहिए। दूसरे उसमें आश्रय-दोष नहीं होना चाहिए अर्थात् उसका वर्तन, उसकी जगह और उसका बनानेवाला आदमी पवित्र होना चाहिए। तीसरे उसमें बाहरसे कोई अशुद्ध चीज नहीं मिलनी चाहिए। इसमें यह चौथी बात और जोड लें कि वह ईमानदारीकी कमाई होनी चाहिए। मान लें कि कोई चोरी करके भोजन ले आया और हमने उसको खा लिया। अब खानेके बाद हम भजन करने बैठेंगे तो क्या होगा? उस समय हमें भगवान्‌का ध्यान होगा या पुलिसका ध्यान होगा। इसी तरह मार-पीट करके लाये हुए भोजनसे भी हमें भगवान्‌की नहीं दुश्मनकी याद आयेगी। इस तरह भोजनकी भी एक प्रणाली है।

कपिलदेवजी आगे कहते हैं कि हमेशा एकान्त और पवित्र देशमें रहना चाहिए। किसीको सताना नहीं चाहिए। सच बोलना चाहिए, अन्यथा झूठको सच बनानेके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है। दूसरेका माल कभी न लें और अपने हककी कमाईपर ही निर्भर करें। 'यावदर्थ परिग्रहः' (४)। जितना प्रयोजन हो, उतनी ही वस्तु अपने पास रखनी चाहिए। ब्रह्मचर्य, तपस्या, पवित्रता,

स्वाध्याय, भगवत्पूजा, मौन, स्थिर आसन, प्राण-जय, इन्द्रियोंका प्रत्याहार, यह सब करते हुए भगवान्‌की लीलाओंके ध्यान द्वारा चित्तको समाहित करना चाहिए।

देखो, कहीं मन लग जाये तो घण्टोंतक साँसकी याद ही नहीं आती कि वह चलती है या नहीं? अभी मैंने साँसकी चर्चा की तब पता लगा कि हमारी साँस चल रही है। अभीतक हम इस ओरसे बिलकुल बेखबर थे। अपने मनको ऐसे ढंगसे लगाना चाहिए कि वह छोटी-मोटी चीजोंकी याद न करे। मनको धीरे-धीरे समझा-बुझाकर काबूमें करना चाहिए। जैसा कि पहले बताया, स्थान, समय और आसनकी भी बड़ी महिमा है। पवित्र देश हो, पवित्र काल हो और पवित्र आसन हो। गीतामें यह बात बतायी कि जमीन भी बराबर होनी चाहिए और जो उसपर आसन बिछायें वह भी सम ही होना चाहिए। शरीर भी सम होना चाहिए, साँस भी सम होनी चाहिए, फिर मनमें अपने आप ही समता आजाती है। आप गीताका वह श्लोक सुनिये—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ ६.१३

इसमें जो सम शब्द है वह समताका वाचक है। सीधे बैठकर, ऋजु-काय होकर, बिना जोर लगाये ध्यान करना चाहिए। जोर लगानेसे मनमें एकाग्रता नहीं आती।

इस प्रसंगमें हम आपको एक बहुत सरल-सी बात बताते हैं। आप अपनी आँखको दबाओ मत, ज्यों-की-त्यों रहने दो, इतना ही ख्याल करो कि आँखका तारा इधरसे उधर नहीं होता। बस इतनेसे ही आपका मन एकाग्र हो जायेगा। आप यह साधन आधा या एक मिनट यहीं बैठकर कर सकते हैं। फिर देखिये कि आपके मनकी चञ्चलता दूर होती है या नहीं? इस प्रकारकी युक्तियाँ योगियोंकी होती हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें एक युक्ति दी हुई है। जीभको तालूसे नीचे बैठा दो तब तो शब्दका उच्चारण होगा। किन्तु यदि जीभ न तालुसे लगे और न नीचे लगे। ऊपर-नीचेके दाँत भी परस्पर एक-दूसरेको न छूयें, ओठ सटे हों और जीभ किसीका भी स्पर्श न करती हो। इस तरह आप दो मिनट बैठकर देख लीजिये। शब्दोच्चारण नहीं होगा और शब्दोच्चारण नहीं होगा तो मनमें चञ्चलता नहीं आयेगी। बिना शब्दके मन चञ्चल नहीं होता—'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते (वाक्यपदीय १.१२३)।

जब हम भीतर ही भीतर किसी चीजका नाम लेते हैं तब मन वहाँ जाता है। अगर हम दूसरी किसी वस्तुका नाम लेना ही बन्द कर दें तो मन कहाँ जायेगा? मनमें शब्द न आये तो वह जहाँ-का-तहाँ रह जायेगा। शतपथ ब्राह्मणमें अरणि-मन्थनका दृष्टान्त देकर यह युक्ति समझायी हुई है। इसको अनुभवी महात्माओंसे समझा जा सकता है।

अब प्राणायामकी विशेषता देखो। उससे शरीरके जो त्रिदोष हैं—जैसे वातकी वृद्धि, कफकी वृद्धि—यह शान्त हो जाती है। दवाई बिलकुल नहीं करनी पड़ती। इसी तरह धारणासे अर्थात् एक जगह मन लगानेसे पापवासनाका उठना बन्द हो जाता है और ध्यान करनेसे विषय-संसर्ग नहीं होता।। इसलिए प्रत्याहारसे संसर्गजन्य दोषों और ध्यानसे अपने भीतर जो दीनता-हीनता आदिकी भावनाएँ हैं उनको बिलकुल मिटा देना चाहिए। यह सोचना कि हम अनधिकारी हैं, तुच्छ हैं, दीन हैं, हीन हैं, उचित नहीं है। क्या भगवान्‌की कृपामें इतनी शक्ति नहीं कि वह तुम्हारे सब पापों, तापों और हीन विचारोंको नष्ट कर दे ?

एकबार काशीमें विद्वानोंका शास्त्रार्थ हुआ था। एकने कहा कि जीव जब ईश्वरसे मिलेगा, तो उसमें जो काम-क्रोध आदि दोष हैं, उन्हें लेकर ही मिलेगा। उससे ईश्वर भी गन्दा हो जायेगा और ईश्वरमें भी जन्म-मरणकी प्राप्ति हो जायेगी। दूसरे विद्वान्‌ने कहा कि पहले आप जीवका ईश्वरसे मिलना स्वीकार तो करो, फिर ईश्वरके गुण प्रबल होगें तो वे रहेंगे और जीवके दुर्गुण प्रबल होंगे तो वे रह जायेंगे। यदि जीव ईश्वरसे मिल जाय तो उसके बाद उसकी गन्दगीका पता ही नहीं चलेगा। अरे, गंगाजीमें कितने पनाले मिलते हैं। फिर उन पनालोंका अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? इस बातको आप ध्यानमें रखिये कि यदि आपके पाप पहाड़के समान हैं तो भगवान्‌की कृपा वज्रके समान है, समुद्रके समान है। आपके पापोंका पहाड़ या तो भगवान्‌के कृपा-वज्रसे चूर-चूर हो जायेगा या उनके कृपा-सिन्धुमें डूब जायेगा। यदि आप समझते हो कि आपका पाप समुद्रके समान विशाल है तो फिर भगवान्‌की कृपा आकाशके समान अनन्त है, जिसमें उसकी कोई गिनती ही नहीं है। इसलिए भगवत्कृपाको देखते हुए अपने पाप-तापोंके लिए अपनेको अनधिकारी नहीं समझना चाहिए, अपितु भगवान्‌के मार्गमें रहना चाहिए। इस प्रकारके शास्त्रार्थमें एक पक्षसे पण्डित श्रीनीलमेघाचार्यजी महाराज बोल रहे थे और दूसरे पक्षसे पण्डित श्रीकमलाकान्तजी बोल रहे थे।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२

भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि निर्मल मनसे भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए—उनका प्रसन्न मुखकमल है, उनकी रतनारी आँखें हैं, उनका वर्ण नीलोत्पलदलके समान श्याम है और वे शङ्ख-चक्र-गदाधारी हैं। फहराता हुआ, बिजलीकी तरह चमकता हुआ उनका पीताम्बर है, उनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्स और कण्ठमें कौस्तुभ मणि हैं।

समुद्र-मन्थनके समय भगवान्‌ने सोचा कि कहीं दैत्य और देवता लोग यह संशय न करें कि इस मन्थनमें-से कुछ निकलेगा या नहीं निकलेगा। इसलिए भगवान्‌ने चुपकेसे अपने कण्ठमें-से मणिको निकाला और कहा कि तुम थोड़ी देरके लिए समुद्रमें चले जाओ, समुद्रमें डाल दिया, मन्थन हुआ तो

तब कौस्तुभमणि निकला—लाल-लाल, अनुरागकी मूर्ति, न उसमें कोई छेद है और न वह किसी तार या सूतमें बँधा हुआ। वह निकला और सीधे भगवान्के कण्ठमें आकर चिपक गया। अब भगवान्ने कहा कि देखो, देवताओ और दैत्यो ! ऐसी-ऐसी चीजें समुद्र-मन्थनमें-से निकलती हैं। इसलिए मथते चलो, मथते चलो, फिर देखना अमृत निकलेगा। इस तरह भगवान्ने लक्ष्मीजीसे कह दिया कि तुम जरा मन्दराचलके पीछे होकर सामने आओ। भगवान्की नित्यप्रिया लक्ष्मीजीने वैसा ही किया। अब देवताओंने कहा कि अरे लक्ष्मीजी जब समुद्र-मन्थनमें-से निकलीं तो अमृत भी जरूर निकलेगा और जोर-जोरसे मन्थन होने लगा। उधर भगवान् लक्ष्मीजीको तो स्वयं ले गये, क्योंकि अपनी वस्तुको कभी छोड़नेवाले नहीं हैं।

तो ध्यान करो भगवान्को इस मूर्त्तिका जिसपर कौस्तुभमणि और वनमाला सुशोभित है, अङ्ग-प्रत्यङ्गमें दिव्याभूषण अपना प्रकाश फैला रहे हैं। इस मूर्तिका रहस्य भागवतके बारहवें स्कन्धमें आता है। ये भगवान् रहते कहाँ है ? 'हृदयाम्भोजविष्टरम्' (१६)—हृदय कमल ही उनका आसन है। यहाँ देखो, 'बिस्तर' शब्द इसी 'विष्टर' शब्दसे बना हुआ है। विष्टर माने आसन, बैठनेकी जगह। विवाहमें बोलते हैं 'विष्टरो विष्टरो विष्टरः इति।' वही विष्टर बिस्तर बन गया। भगवान् बड़े ही दर्शनीय हैं, मन और नयनको लुभानेवाले हैं। यहाँ जो 'अपीच्य दर्शन (१७)'—शब्द है, यह भागवतका अपना है। इसका प्रयोग दूसरे शास्त्रोंमें बहुत कम मिलता है। वह भी कहीं ढूँढने पर ही मिलेगा अपीच्यदर्शन माने बहुत सुन्दर दर्शन। सब उनको नमस्कार करते हैं। उनकी किशोरावस्था है, वे भक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए कातर हैं। इस प्रकार भगवान्के पाँवसे लेकर सिर तक और सिरसे लेकर पाँव तक उनका ध्यान अपने हृदयमें करना चाहिए। जबतक उनमें मन लगे, तबतक लगाना चाहिए। विष्णु पुराणमें बताया गया है—'स्वाध्याद्योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्यायसे ध्यान करे और ध्यान करते-करते मन न लगे तो फिर स्वाध्याय करे। फिर स्वाध्यायमें मन न लगे तो फिर ध्यान करें। इस प्रकार अपना समय बिताना चाहिए।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते। ६.६.२

स्वाध्याय और योग इन दोनोंके द्वारा परमात्माका प्रकाश होता है—'जपश्रान्तश्चरेद् ध्यानं ध्यानश्रान्तश्चरेत् जपम्'।

हम लोग बाल्यावस्थामें स्वामी श्रीयोगानन्दजीके पास जाते थे, जो गंगा-किनारे सहेपुर नामक एक गाँवमें रहते थे। उन्होंने हमको यह बताया था कि जप करते-करते थक जायें तो ध्यान करे और जब दोनों करते-करते थक जाय तो आँख बन्द करके भीतर ही ऊहापोह करने लग जाये

इस प्रकार भगवान्के एक-एक अङ्गका ध्यान करना चाहिए। मान लो, भगवान्के

चरणारविन्दका ध्यान करना है। उस चरणारविन्दमें चिह्न हैं—वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल। वज्र है—भक्तके पाप-पहाड़को तोड़नेके लिए। अंकुश है—भक्तके मनरूप हाथीको वशमें करनेके लिए। ध्वजा है—भक्तका पालन-पोषण करनेके लिए और कमल है भक्तको अपना हृदय दान करनेके लिए।

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल ज्योत्स्नाभिराहत महद्धृदयान्धकारम्। २१

भगवान्‌के नख ऊँचे-ऊँचे हैं, लाल-लाल हैं, मण्डलाकृति है। उनकी रोशनीसे हृदयका अन्धेरा दूर हो जाता है।

यहाँ भगवान्‌का माहात्म्य देखो, उन्हींके चरणोंसे गंगाजी निकली हैं। वे भगवान्‌के चरणोंका धोवन हैं। शिवजीने उनको अपने सिरपर धारण किया और शिव हो गये। यह ध्यान करनेवालेके मनमें जो पाप है, उसके लिए वज्र है। इस प्रकार भगवान्‌के चरणारविन्दका ध्यान करना चाहिए। भगवान्‌के जो दोनों घुटने हैं। उनको लक्ष्मीजी अपने घुटनोंपर, जाँघपर रख लेती हैं, इधर-उधर कहीं जाने नहीं देतीं। लक्ष्मीजी एक ओर तो छातीपर बैठ गयीं, दूसरी ओर चरणोंमें बैठ गयीं। पत्नी ऐसी होनी चाहिए जो अपने पतिको बिलकुल छोड़े ही नहीं। वक्षःस्थलमें रहने-पर सन्तोष होता है कि दिन-रात छातीपर चढ़े रहनेमें क्या रखा है, इसलिए वे एक रूपसे पाँवमें भी बैठ जाती हैं। लक्ष्मीजी भगवान्‌के चिन्मात्र वक्षःस्थल और पाँव दोनों स्थानोंपर बैठकर यह संकेत देती हैं कि उनमें अपने प्रेम और सेवा दोनों हैं। वक्षःस्थलपर होना—आलिंगन है, प्रीति है और चरण दबाना सेवा है। लेकिन लक्ष्मीजीको भगवान्‌के चरण बनानेमें डर लगता है। उनको यह ख्याल था कि हमारे जैसा सुकुमार शरीर और किसीका नहीं। मैं मृदुलताकी अधिष्ठात्री देवी हूँ। परन्तु जब उन्होंने भगवान्‌के चरणारविन्दको अपनी गोदमें रखा और वे उनको हाथ से छूने लगीं तो डर गयीं कि कहीं हमारे हाथके स्पर्शसे रक्त न छलछला जाय। इसीलिए वे अपनी अङ्गुलियोंकी छायासे, उनकी चमकसे भगवान्‌के चरणारविन्दको संलालित करती हैं—'करपल्लवरोचिषा यत् संलालितम्' (२३)। लालित करती हैं, दुलार करती हैं, प्यार करती हैं, दबाती नहीं हैं। भक्तको भगवान्‌के ऐसे ही चरणारविन्दका ध्यान करना चाहिए, जिसमें सौरभ है, सौरस्य है, सौकुमार्य है।

अब भगवान्‌की जाँघकी सुन्दरता देखो, जो उनके पीताम्बरमें-से छन-छनकर निकलती हैं। वे गरुड़पर चढ़े हुए हैं। उनकी कांची, उनका नाभिह्रद, जिसमें-से ब्रह्माजीका आधारभूत कमल निकला था, उनके दोनों स्तन, सब-के-सब अंग ध्यान करने योग्य हैं—

व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य ध्यायेद् द्वयं विशदहारमयूखगौरम्।

इस प्रकार भगवान्‌का वक्षःस्थल—जो मन और नयनको आनन्द देनेवाला है, कण्ठ-जिसमें कौस्तुभमणि रहता है, ध्यानका विषय है। भगवान्‌का जो कौस्तुभमणि है, वह जीव ही है।

भागवतमें बताया गया है कि यह प्यारा-प्यारा जो जीव है, वह भगवान्‌का पार्षद है, भगवान्‌का भक्त है और चैत्यतत्त्व है, जो भगवान्‌के गलेमें लगा है—'चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे' (२८)।

और भगवान्‌के हाथका कंगन। एक बार भगवान्‌ने मन्दराचलको पकड़कर मन्थन किया था। उससे उनके हाथका कंगन थोड़ा घिस गया था। इसलिए वह नित्य चिन्मय कंगन भी घिसकर यह याद दिलाता रहता है कि भगवान् अपने भक्तोंपर कितनी कृपा करते हैं। फिर भगवान्‌की कौमोदकी गदा! वह विपक्षी वीरोंके रक्तसे रंजित होकर भक्तोंकी रक्षाके लिए उद्यत है। इसी तरह भगवान्‌का वदनारविन्द भक्तोंपर कृपा करनेके लिए है। उसपर जो नासिका है, और भगवान्‌के सिरमें जो काले-काले, महीन-महीन, घुँघराले-घुँघराले, चिकने-चिकने बाल हैं, उनको देखकर मन वहीं फँस जाता है। भगवान्‌के नेत्र, उनकी भौंहे, उनकी प्रेमपूर्ण चितवन, उनकी मुस्कान, उनका हास और अट्टहास ऐसा है जिससे हृदय अनुरक्त हो जाता है। यदि आप लोगोंमें-से कोई बड़े-से-बड़ा दुःख लेकर यहाँ आया हो तो वह एक क्षणके लिए अपनी आँख बन्द करें और देखें कि उसके भीतर बैठकर भगवान् बड़े प्रेमसे हँस रहे हैं। उनकी हँसीकी याद आते ही शोकाश्रु-सागर सूख जायेगा—'अवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागर-विशोषणमत्युदारम्' (३२)। भगवान् झेंपते नहीं, वे अति उदार हैं, इतने उदार हैं कि कभी-कभी अपनेको बेच भी देते हैं। उन्होंने खुद अपनी कीमत बना रखी है कि हमको इतना देदो और खरीद लो! है कोई मालिक दुनियामें?

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणाते स्वामात्मानं भक्तेभ्यः भक्तवत्सलः॥

यदि कोई भक्त लेनेवाला हो तो उससे कहते हैं कि नहीं-नहीं, तुम मुझे मुफ्तमें मत लेना, इससे तुम्हें मुफ्त लेनेकी आदत पड़ जायेगी, यह आदत बड़ी खराब है। इसलिए पहले कुछ दो, फिर हम तुम्हें अपने आपको दे देंगे।

यहाँ मुफ्तखोरीके बारेमें महात्माओंकी बात सुनिये। एकबार श्रीहरिबाबा श्रीअच्युत मुनिजीके पास गये और उनके सामने हाथ जोड़कर बोले कि महाराज, ऐसी कृपा करें कि मेरी वृत्ति टिक जाये। अच्युत मुनिजी खड़े हो गये और बोले कि अरे हरि, तू आलसी होना चाहता है? नहीं तो फिर क्यों माँगता है? मुफ्तमें लेनेकी आदत तो नहीं पड़नी चाहिए।

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि लाओ कुछ तो दो। क्या दें महाराज? अरे बाबा, एक तुलसीदल ही दे दो, एक चुल्लू पानी ही दे दो। इतनेसे ही हम अपनेको तुम्हारे हाथ हमेशाके लिए बेचनेको तैयार हैं।

तो भगवान्‌की जो टेढ़ी-मेढ़ी भौंहें हैं वह किसलिए हैं? महात्माओंको काम बहुत परेशान

करता है। उस कामको मोहित करनेके लिए ही भगवान्‌ने अपनी भौहोंको धनुषाकार टेढ़ा कर दिया है।

भगवान्‌की हँसी ध्यानका घर है। उनके होंठोंसे जो लाली निकलती है, उससे उनकी श्वेत दन्त-पंक्ति भी लाल हो जाती है। आओ, आओ अपने हृदयमें ही भगवान्‌का ध्यान करें, उसके लिए कहीं जानेकी जरूरत नहीं है। आर्द्र भक्तिसे, प्रेममयी भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में अर्पित कर दो और फिर किसी दूसरी चीजको मत देखो। भगवान्‌की भक्तिसे हृदय द्रवित होता है, शरीरमें रोमाञ्च होता है, आँखोंमें आँसू आते हैं, फिर धीरे-धीरे संसार छूट जाता है। पहले भगवान्‌का सहारा लेकर मन संसारकी ओरसे खिंच आया। अब धीरे-धीरे मन संसारकी ओरसे खिंच गया। फिर धीरे-धीरे मन आश्रय और विषय दोनोंको छोड़ देता है 'मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तम्' (३५)।

ऐसे मनमें क्या विशेषता आती है, इसके सम्बन्धमें तीन बातें बतायी हैं। एक तो संसारका विषय छूट गया, दूसरे जो आश्रय लिया था, वह भी छूट गया और तीसरे राग-द्वेष कहीं रहे नहीं। जैसे इंधन न रहनेपर आग बुझ जाती है अथवा बत्ती-तेल न रहनेपर दीपक बुझ जाता है, वैसे ही मन भी मुक्ताश्रय, निर्विषय और विरक्त होकर बुझ जाता है—'निर्वाणमृच्छति' (३५)—यहाँ निर्वाण शब्द बुझनेके—शान्तिके अर्थमें ही है।

दीपनिर्पाणगन्धं च स्वर्गवाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ।।

यहाँ 'दीपनिर्वाण गन्ध'में दीयेके बुझनेका ही अर्थ है जिसकी आयु कम हो जाती है, उसको दीयेके बुझने की गन्ध नहीं आती। बिजलीकी रोशनीके लिए यह बात नहीं है। जिनके घरमें घीका दीया जलता है, उनके लिए यह बात है। वह बड़ी भारी वस्तु है। लौकिक उन्नति दूसरी चीज है और धार्मिक-आध्यात्मिक उन्नति दूसरी चीज है। जब मनुष्यका मन बुझ जाता है तब उसमें अन्तर डालनेवाली कोई चीज नहीं रहती। मन ही बताता है कि यह अलग है और मैं अलग हूँ, तुम अलग हो और वे अलग हैं। इसलिए जब मन बुझ गया तब सारा भेद-भाव समाप्त हो गया।

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते। ३५

'प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः' (३५) यह मन ही भेद बनाता है। जितना भी भेद-भाव है, वह मनके आधारपर ही बनता है। 'न भेदः श्रुतिगोचर' भेद-धिक्कारकर्त्ताने कहा कि यह भेद कभी किसी श्रुतियुक्तिसे सिद्ध ही नहीं, यह तो केवल मनका खेल है।

मनकी निवृत्ति होनेपर पुरुष अपनी महिमामें बैठ जाता है। न सुख-दुःखका कर्त्ता रहता

है और न सुख-दुःखका भोक्ता रहता है। दोनोंको यह अनात्मामें डाल देता है और परमात्माकी जो काष्ठा है, ब्रह्मभाव है, उसकी उपलब्धि हो जाती है। देहपर दृष्टि नहीं रहती। व्यक्तित्वकी स्थापना करके महात्मा बननेके लिए ज्ञान नहीं है। महात्मा होनेके लिए तो वैराग्य है, भक्ति है और भी बहुत साधन हैं। परन्तु परमात्मा होनेके लिए एक ही साधन है और वह है तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति। उसके बिना कोई परमात्मा नहीं हो सकता। जो लोग व्यक्तित्वके उत्कर्षके लिए साधन करते हैं, उनका दृष्टिकोण अलग होता है और जो लोग व्यक्तित्वका उच्छेद करके परमात्मासे एक होनेके लिए साधन करते हैं, उनका दृष्टिकोण अलग होता है, यहाँ तो भला देहपर दृष्टि ही नहीं रहती। जैसे किसी मदिरा-मदान्ध या शराबके नशेमें चूर व्यक्तिके कन्धेसे कपड़ा गिर जानेपर उसको उसका पता नहीं चलता, वैसे ही जो परमात्मासे एक हो गया है, उसको शरीर है या नहीं, इसका पता नहीं चलता। शरीर तो प्रारब्धके अनुसार अपना काम करता रहता है। महात्माकी दृष्टि उसकी तरफ नहीं जाती। जैसे मनुष्य अपने पुत्र और धनसे अलग होता है, वैसे ही यह आत्मा शरीरसे बिलकुल अलग है। जिस तरह आग उल्मुकसे, लूकसे, चिनगारीसे और धुएँसे भी अलग है, उसी तरह आत्मदेव दुनियामें मालूम पड़नेवाली मैं-मेरी आदि सब चीजोंसे अलग हैं, भूत, इन्द्रिय, प्रकृति, जीव, इन सबसे अलग हैं आत्मदेव, क्योंकि ये द्रष्टा हैं—

आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः। ४१

गन्तव्यके पन्थ दूसरे होते हैं और गन्तव्यपर पहुँचनेके बाद जो दृष्टि होती है, वह दूसरी होती है। इस मण्डपमें आपलोगोंके सामने श्री आनन्दमयी विराजमान हैं। इनके सामने जब कोई अपने मतका प्रदिपादन करता है तब माँ क्या कहती हैं? यह कहती हैं कि पिताजी, तुम जहाँ बैठे हो, वहाँसे ऐसा ही दीखता है। ये जो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं, वे वहीं हैं जिनके फोटो हम अपने-अपने कैमरे द्वारा अमुक-अमुक कोणोंसे खींचे हुए हैं। कैमरेके कोणसे जो फोटो खींचे जाते हैं वे दूसरे होते हैं और सारे कोण मिटाकर जो फोटो होता है, वह बिलकुल निराला ही होता है।

द्रष्टा आत्मा ही भगवान् है, ब्रह्म है 'सबमें आत्मा और आत्मा सबमें', ऐसी अनन्य दृष्टि होनी चाहिए। जैसे एकही लकड़ी ज्योतिके भेदसे नाना मालूम पड़ती है, वैसे ही देहादिके भेदसे आत्मा नाना मालूम पड़ता है। विचारके द्वारा इसका बिलकुल तिरस्कार कर देना चाहिए।

: २६ :

देवहूतिने कहा कि महाराज, आपने सत्त्वादिके लक्षण तो बता दिये। अब आप मुझे भक्तियोगका मार्ग विस्तारपूर्वक बताइये, जिससे मनुष्यके मनमें वैराग्यका उदय हो जाये। दुनियाके लोग झूठी बातोंमें फँस गये हैं और सब के-सब घोर अन्धकारमें शयन कर रहे हैं किन्तु आप तो सबको योगका मार्ग बतानेके लिए ही पैदा हुए हैं।

भगवान् कपिलदेव बोले—

'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनी भाव्यते' (७)। देखो यहाँ 'भामिनी' शब्द प्रयुक्त है। कई लोग ऐसा बोलते हैं कि इसका प्रयोग शृङ्गार-रसमें होता है। किन्तु यहाँ माताके लिए ही इसका प्रयोग किया गया है।

तो भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि भक्तियोगमें सेवाके अनेक मार्ग होते हैं! किसीकी सेवा पाँव दबानेकी होती है, किसीकी सेवा झाड़ू लगानेकी होती है, किसीकी रोटी बनानेकी होती है और किसीकी सेवा संगीत सुनानेकी होती है। यदि वे आपसमें इस बातके लिए लड़ें कि जो हम करते हैं, वही तुम भी करो तो सब सेवक बेवकूफ निकलेंगे। यदि संगीत सुनानेवाला रोटी बनानेवालेको कहे कि हमारा प्रेम ज्यादा है, तुम्हारा प्रेम कम है। तुम क्या रोटी बनाते रहते हो? आओ, तुम भी इधर आकर गाना सुनाओ स्वामीजीको। इससे क्या होगा? स्वामीजी भूखे मरेंगे। इसलिए ऐसी सेवा नहीं होती। जो सेवाके योग्य, जिस सेवाका अधिकारी होता है, वह अपने स्वभावके अनुसार, उस सेवाको करता है।

जो लोग अधिकार-भेदसे दम्भ अथवा ईर्ष्या आदिके कारण भक्ति करते हैं वे तमोगुणी होते हैं। जो ऐश, ऐश्वर्यके लिए भक्ति करतें हैं, वे रजोगुणी होते हैं और जो पापक्षयके लिए भक्ति करते हैं एवं ईश्वरमें कर्मार्पण कर देते हैं, वे सात्त्विक होते हैं। इस तरह आप हिसाब लगायेंगे तो श्रवण-कीर्तन आदिके भेदसे इक्यासी प्रकारकी भक्ति होती है। धर्मके जितने भी भेद हैं, इन सबकी धर्म-शास्त्रोंमें गिनती हुई है। कौन धर्म इक्यासी तरहका होता है और कौन धर्म इकहत्तर तरहका होता है, इसका वर्णन किया हुआ है। आजकल लोग धर्मशास्त्रोंको पढ़ना तो दूर रहा, कोई प्रयोजन न होनेके कारण ध्यानसे उनको देखते भी नहीं हैं। ऐसे लोगोंको कुछ बतलाना भी

व्यर्थ है, किन्तु जिनकी धर्मके प्रति रुचि है, उनके लिए यह बात है कि राजस, तामस, सात्त्विक भेदसे श्रवणादि धर्म सत्ताइस प्रकारका हो जाता है। फिर आगे चलकर इसके और भी अनेक भेद हो जाते हैं। परन्तु इनमें जो निर्गुण भक्ति होती है, वह सबसे बढ़िया--सबसे उत्तम भक्ति होती है। उस भक्तिका क्या स्वरूप है, यह बताते हुए भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् । ११-१२

यहाँ निर्गुणका अर्थ समझना चाहिए, जो सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे रहित हैं।

'गुणेभ्यो निष्क्रान्तः निर्गुणो भक्तियोगः' का अर्थ है कि यह भक्तियोग गुणोंसे ऊपर है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह होता है गुणोंसे ही। भगवान्‌के गुणानुवादके श्रवणमात्रसे ही। इसमें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। न समाधि लगानी पड़ती है, न पूजा-उपासना करनी पड़ती है। केवल भगवान्‌का गुण सुना और मनकी गति भगवान्‌की ओर बहने लगी। किस भगवान्‌की ओर बहने लगी? बाहरके भगवान्‌की ओर नहीं,—'मयि सर्वगुहाशये' जो भगवान् अपने दिलमें ही बैठा है उसकी ओर।

देखो, किसीके घरमें भगवान् दर्शन देने आये। उसने कहा कि महाराज, आप बैठिये, मैं जरा मन्दिरमें पूजा करके आता हूँ। भगवान्‌ने कहा कि अरे, मन्दिरमें किसकी पूजा करोगे? मैं तो तुम्हारे घरमें आगया।

तो घर आये भगवान्‌की पूजा छोड़कर, कहीं बाहर पूजा करने नहीं जाना पड़ता। जब सच्ची भक्तिका उदय होता है, तब अपने हृदयमें ही भक्तिकी धारा बह-बहकर भगवच्चरणारविन्द-पर गिरने लगती है—'मनोगतिरविच्छिन्ना'। कैसे गिरती है? अविच्छिन्न गतिसे गिरती है। जैसे गङ्गाजीकी धारा समुद्रमें गिरती है, वैसे ही भगवद्‌गुणानुवादके श्रवणसे ही भक्तिका अवतरण होता है। मधुसूदन सरस्वतीने भी भक्तिका लक्षण प्रायः ऐसा ही किया है—

द्रुतस्य भगवद् - धर्माद् धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसोवृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ॥ १.३

हमारा हृदय द्रवित हो जाये, पिघल जाये, दुनियाकी ममता छूट जाये, कठोरता निवृत्त हो जाये और जैसे गङ्गाजीकी प्रत्येक तरङ्ग समुद्रकी ओर चलती है, वैसे ही हमारी प्रवृत्तिकी प्रत्येक तरङ्ग भगवान्‌को विषय करे—'यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ'। यह गुणातीत भक्ति है। इसमें दो बातें विशेष हैं—एक अहैतुकी और दूसरी अव्यवहिता। अहैतुकी शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो किसी दूसरेके कहनेसे, किसी अन्यसे प्रेरित होकर भक्ति न करना और दूसरा किसी प्रयोजनकी सिद्धिके

लिए भक्ति न करना। अहैतुक शब्दमें दोनों भाव हैं। किसी बाह्य प्रेरणासे भक्ति न हो और किसी प्रयोजनकी पूर्तिके लिए भी भक्ति न हो, तब उसको अहैतुकी भक्ति कहेंगे। अहैतुक माने हेतुरहित, कारण रहित। कारण शब्दके अर्थमें प्रेरणा और प्रयोजन दोनों हैं। अन्य प्रेरित नहीं और अन्य प्रयोजनसे नहीं। अव्यवहिताका अर्थ है व्यवधानरहित अर्थात् टूट-टूटकर, रुक-रुककर नहीं, बिलकुल लगातार, धाराप्रवाह।

एक दिन भगवान्‌ने कहा कि भक्तजी, जरा इधर आओ। हम तुम्हें अपने नगरमें ही रख लेते हैं या किसी ब्रह्माण्डका गवर्नर ही बना देते हैं। भक्त बोले कि नहीं महाराज, बहुत काम करना पड़ेगा। अच्छा तो हमारे पास ही आजाओ। भक्त बोले कि वह भी नहीं जँचता। अच्छा हम अपनी वेश-भूषा तुमको दे देते हैं। नहीं, वह भी नहीं जँचता। अच्छा, तो आओ, हमसे एक हो जाओ। नहीं, महाराज, वह भी नहीं जँचता, क्योंकि एक हो जानेसे कोई मजा नहीं आयेगा। तब तुम चाहते क्या हो? भक्तजी बोले कि हमको तो आपकी सेवा मिलनी चाहिए महाराज! न हम आपके नगरकी प्रजा होना चाहते हैं, न आप-जैसी वेशभूषा चाहते हैं, न कोई सुविधा या ब्रह्मा-शंकरका पद चाहते हैं। न आपकी छातीका आभूषण बनना चाहते हैं। न हम आपसे एक होना चाहते हैं। हम तो इतना ही चाहते हैं कि आपकी सेवा बनी रहे।

बस, सायुज्यादि मुक्तियोंका यही प्रकार है। सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि कोई भी मुक्ति भक्तको नहीं चाहिए। मुक्ति माने पेंशन और पेंशन नहीं चाहिए भक्तको। भक्तको तो सेवा चाहिए। यह कहना तो सकाम सेवा है कि महाराज, आपकी अनेक वर्षोंतक सेवा की, अब ऐसी व्यवस्था कर दें, जिससे शेष जीवनका निर्वाह बिना कुछ किये हो जाये। अहैतुक भक्ति-योगसे त्रिगुणोंका अतिक्रमण होता है।

अब निष्काम धर्मकी बात बताते हुए कहते हैं कि अपने धर्मका पालन करना सबसे महान् है। असलमें अपनी ओर, अपनी आत्माकी ओर लौटनेका नाम ही अध्यात्मयोग है। फिर लौटकर आत्माको जान लेने और उससे एक होनेका नाम भी अध्यात्मयोग है। इस प्रकार उसकी दो अवस्थाएँ हुईं—एक तो जहाँ फँसे हो, वहाँसे लौट आये और दूसरे लौटनेके बाद परमात्मासे एक होकर उसमें भरपूर हो जायें। यही अध्यात्मयोगकी स्थिति है। अध्यात्मयोगमें न राग है, न द्वेष है, न अपना है, न पराया है—सारा भेद मिट गया है। साधनावस्थामें यह बात ध्यानमें रखनी पड़ती है कि हमारे भीतर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो रही है या नहीं? पवित्र कर्म करना, किसीको दुःख नहीं पहुँचाना, भगवान्‌की मूर्तिका पूजन, दर्शन, स्पर्श आदि करना, जो प्राणी सामने आये, उन सबमें भगवान्‌की भावना करना, कहीं आसक्ति न करना और बड़ोंका सत्कार करना। मनुष्यको सबके भीतर एक ईश्वरकी भावना करनेका शिक्षण नहीं मिलता तो वह अभिमानी हो जाता है।

अपनेसे महान्का आदर करो, दीनोंपर कृपा करो और जो समान हैं उनसे मैत्री जोड़ो। यम-नियमका पालन करो, आध्यात्मिक विषयोंका श्रवण करो, नाम-संकीर्तन करो, सरलता बनाये रक्खो, श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करो और अभिमानका त्याग करो—इनसे मनुष्यका हृदय शुद्ध होता है। फिर तो केवल श्रवणमात्रसे हृदयमें भक्ति आजाती है। जैसे गन्ध हवाके रथपर चढ़कर पहले नाकमें आता है और फिर नाकसे हृदयमें पहुँच जाता है, वैसे ही चित्त जब योगके रथपर चढ़ता है तब निर्विकार आत्माके पास पहुँच जाता है।

भागवतकी बात विलक्षण है। इसमें भगवान् कहते हैं कि देखो भाई, सब प्राणियोंके आत्माके रूपमें मैं ही बैठा हुआ हूँ—इसलिए यदि तुम किसी प्राणीका तिरस्कार करके मेरी पूजा रचाओगे तो वह तुम्हारा ढोंग ही होगा—'कुरुतेऽर्चा विडंम्बनम्' (२१)। इसलिए समस्त प्राणियोंके हृदय-स्थित आत्माके रूपमें बैठे हुए मुझको छोड़कर जो मूर्खतासे पूजा करने जाता है, वह राखमें होम करता है। कर्मकाण्डके नियमानुसार प्रज्वलित अग्निमें होम करनेपर पुण्य होता है। किन्तु बुझी आगमें होम करनेपर पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंका आदर करके जब भगवान्की आराधना की जाती है तब भगवान्की आराधनाका फल मिलता है। दूसरोंका अनादर करके भगवान्की आराधना करनेपर आराधनाका फल मिथ्या हो जाता है। भगवान्की यह बात कितनी बढ़िया है कि दूसरोंके शरीरमें भी तो मैं ही बैठा हुआ हूँ किन्तु अभिमानी लोग उनको पराया समझते हैं और उनसे बैर जोड़ते हैं। ऐसे लोगोंके मनको शान्ति कहाँ मिलेगी ?

यहाँ भगवान् एक टिप्पणी और जोड़ देते हैं। कहते हैं कि यदि तुम किसीसे द्वेष करोगे—चाहे वह मच्छर हो, बिच्छू हो या साँप ही क्यों न हो तो तुम्हारा वह द्वेष रहेगा, तुम्हारे ही हृदयमें। मच्छर, बिच्छू, साँप या अन्य प्राणियोंके हृदयमें नहीं रहेगा। फिर जब तुम्हारे हृदयमें द्वेष बैठ गया तब तुमको शान्ति कहाँ मिलेगी ? हम जिससे बैर करते हैं, उसमें बैर नहीं रहता; हम बैर करनेवालोंके हृदयमें ही बैर रहता है। इसलिए जब हमारे हृदयमें द्वेष बैठ गया तो भक्ति-प्रेमका अमृत कहाँसे छलकेगा ?

इसलिए भगवान् कहते हैं कि हमें चाहे कोई सौ मनका भोग लगाये या हजार मनका भोग लगाये, चाहे करोड़ मनका भोग लगाये, उससे मैं प्रसन्न नहीं होता। एक बार जब श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज अपने भगवान्की पूजा-आराधनामें संलग्न थे, तब एक सज्जन दस हजार अशर्फियाँ लेकर आये और बाहर बैठ गये। वे गिन-गिनकर बीस-बीस अशर्फियोंके ढेर लगाने लगे। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज भगवान्की सेवा-पूजासे निवृत्त होकर बाहर निकले और बोले कि सेठजी, हमारे ये कन्हैया, हमारे ये बालकृष्ण, तुम्हारी यह सेवा स्वीकार नहीं करना चाहते। कहते हैं कि तुमने सेवार्पणके पहले जो इन अशर्फियोंको गिना है, उनकी आवाज, उनकी खनक बहुतोंने सुन ली है। इसलिए ये

अर्शफियाँ जूठी हो गयी हैं। अब मैं इन्हें स्वीकार नहीं करूँगा। यह कहकर श्रीवल्लभाचार्यजीने उन दस हजार अर्शफियोंको लौटा दिया। यह कथा चौरासी वैष्णवोंकी जो वार्ता हैं, उनमें आती है।

सेवाका कार्य बड़ा ही कठिन है। भगवान् ऐसे गरीब नहीं कि वे कोई वस्तु देनेसे सन्तुष्ट होंगे। उनको किसी क्रियाकी भी भूख नहीं। वे कहते हैं कि तुम जिसका तिरस्कार करते हो, उसमें मैं बैठा हुआ हूँ, इसलिए उसका तिरस्कार मेरा ही तिरस्कार है। एक जगह तो तुम मेरी पूजा करते हो और दूसरी जगह मेरा तिरस्कार करते हो। फिर मैं तुमपर कैसे प्रसन्न हो सकता हूँ?

अब भगवान् कपिल क्या कहते हैं, यह देखिये। कहते हैं कि मनुष्यको मूर्तिकी पूजा तभी-तक करनी चाहिए, जबतक वह अपने तथा सबके हृदयोंमें प्रतिष्ठित परमात्माका ज्ञान न प्राप्त कर लें—

अर्चादावर्चयेतावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥ २५

भगवान्‌का यह कथन मूर्ति-पूजाके निषेधके लिए नहीं है। यह तो मूर्ति-पूजाको परम गुणान्वित बनानेके लिए है। इसका तात्पर्य यह है कि सबका सम्मान भी करो और मूर्ति-पूजा भी करो। परन्तु जो लोग किसी बातका उल्टा अर्थ निकाल लेते हैं, उनकी बुद्धिको क्या कहा जाय?

अब भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि अपने और परायेके बीचमें अपना पेट मत रखो। यहाँ मूल संस्कृतमें उदर शब्द है। 'उदरभेदि भयं यतः स्यात्।' उपनिषद्‌में आया है—'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति (तैत्ति.उप. २.७.१)।

उदरका अर्थ है अगर तुम अपने और परायेके बीच स्वल्पमपि, थोड़ा भी फर्क करोगे तो तुम्हारी दृष्टिमें भेद आजायेगा। मौत तुमको मारेगी। इसलिए सबके भीतर भूतात्मा भगवान् बैठे हैं, सब चलते-फिरते भगवान्‌के मन्दिर हैं—'कृतालयम्' (२७)। मनुष्य जो मन्दिर बनाता है वह दूसरा है और भगवान्‌ने अपनी ओरसे जो मन्दिर बनाये हैं, वें दूसरे हैं। संसारके संपूर्ण प्राणी भगवान्‌के मन्दिर हैं। मोर भी भगवान्‌का एक मन्दिर है, कोयल भी भगवान्‌का एक मन्दिर है और गीरैया भी भगवान्‌का एक मन्दिर है। इस तरह सब भगवान्‌के मन्दिर हैं।

'अर्हयेद्दानमानाभ्याम्' (२७)—सबको यथाशक्ति कुछ-न-कुछ दो। यदि असमर्थता-वश कुछ दे न सको, कोई बात नहीं। केवल वस्तुसे ही पूजा नहीं होती। इसलिए सबका सत्कार करो। सत्कारकी क्रिया भी न हो सके तो सबके प्रति मैत्रीका भाव रखो। किसी-किसीको भाव बनानेमें भी तकलीफ होती है। ऐसी स्थितिमें सबको अभिन्न दृष्टिसे देखो। इसप्रकार बातें हुईं—पहली अभिन्नदृष्टि ज्ञान है, दूसरी मैत्री भाव है, तीसरी सत्कार क्रिया है और चौथी दान वस्तु है। इन

चारोंके द्वारा हमें समग्र प्रपञ्चकी पूजा करनी है। यह ईश्वरकी ही पूजा है। इसलिए भगवान्‌की पूजा करनी हो तो इसीप्रकार करनी चाहिए।

जब मनुष्य सबके भीतर परमात्माको देखता है, तब वह निर्भय होता है। वैसे प्राणियोंमें श्रेष्ठता-कनिष्ठताका क्रम भी है। जड़से चेतनावाले श्रेष्ठ हैं, उनमें ज्ञानेन्द्रिय वृत्तिवाले वृक्ष श्रेष्ठ हैं, उनमें मत्स्यादि श्रेष्ठ हैं, उनसे भँवरे आदि श्रेष्ठ हैं, उनसे सर्पादि श्रेष्ठ हैं, उससे कौआ आदि श्रेष्ठ हैं, उनसे बहुपाद श्रेष्ठ हैं, उनसे चतुष्पाद श्रेष्ठ हैं और चतुष्पादसे द्विपद मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें चातुर्वर्ण्य, चातुर्वर्ण्यमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं।

एक ब्राह्मण आये। उनसे किसीने पूछा कि आप वेद जानते हैं? ब्राह्मण बोले कि हाँ-हाँ, क्यों नहीं जानते? हम जानते हैं कि वेद चार हैं, हम चतुर्वेदविद् हैं—चारों वेदोंको जाननेवाले हैं, क्योंकि वेदोंकी गिनती हमको मालूम है।

लेकिन चारों वेदोंकी गिनती जान लेनेसे तो कोई वेद-विद् नहीं हो जाता। कई तथा कथित वेदज्ञ तो ऐसे होते हैं कि जन्मभर 'गणानां त्वा गणपतिम्' आदि मन्त्रोंका उच्चारण तो करते हैं, लेकिन उनका अर्थ उनको मालूम नहीं होता। इसीको 'चतुर्वेदविद्' न्याय बोलते हैं।

वस्तुतः जिसके हृदयमें ईश्वरकी भक्ति नहीं, उसका वेदमें कोई अधिकार नहीं हो सकता। ऋग्वेदके एक मन्त्रमें है—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं बृणोत्यलकं श्रृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्यपन्थाम्॥ १०.७१.६

इसका अर्थ है कि जिसने अपने सच्चे सखा परमात्माको छोड़ दिया, जिसने उससे मैत्रीका परित्याग कर दिया, उसका वेदकी वाणीमें कोई अधिकार नहीं, कोई भाग नहीं है।

वेदज्ञोंमें भी जो उनके अर्थको समझता है वह श्रेष्ठ है। अर्थ समझनेवालोंमें भी मीमांसक श्रेष्ठ है और मीमांसावालोंमें भी उत्तर मीमांसक अनासक्त एवं मुक्त-संग श्रेष्ठ है। मुक्तसंगोंसे भी भगवान्‌में अपना सर्वस्व समर्पित करनेवाले और उसे अपनेको अलग न रखनेवाले श्रेष्ठ हैं। उनसे श्रेष्ठ संसारमें और कोई नहीं।

देखो, सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर जीवकलाके रूपमें भगवान् ही प्रविष्ट हैं, इसलिए ऐसा समझकर सबको प्रणाम करना चाहिए—'मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्' (३४) सबके सामने सिर झुका दो, मनसे झुका दो, क्योंकि सबके भीतर भगवान् हैं। यदि तुम्हें अग्निकी पूजा करनी हो, ज्योतिकी पूजा करनी हो तो करोगे? एक जरा-सा दीपक जलायेंगे, एक जरा-सी लकड़ी जलायेंगे और उसमें अग्निकी पूजा कर लेंगे। क्योंकि छोटेसे दीपककी लौ और छोटी-सी लकड़ीकी आगमें भी वह महान् अग्नि ही है।

जैसे आगकी लौ होती है, वैसे ही परमात्माकी लौ समस्त प्राणियोंके हृदयमें जल रही है। वही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें भी आत्मा बनकर बैठा है। उसको प्रणाम करना साक्षात् परमात्माको ही प्रणाम करना है।

एक बात और है। लेकिन वह बात मुक्तिधाम काशीके लिए लागू नहीं होती, वैष्णव धाम, वृन्दावन और अयोध्याके लिए लागू होती है। वह बात क्या है? यह है कि प्रणाम मन-मनसे ही नहीं करना, शरीरसे भी साष्टांग दण्डवत् करना। यह बात भागवतमें भी आयी है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरान्॥ ११.२९.१६

यहाँ केवल मनसे प्रणाम करनेकी बात नहीं। धरतीपर लेटकर प्रणाम करो। किसको? केवल बड़े भारी महात्माको नहीं, बल्कि कुत्तेको भी, चाण्डालको भी, बैलको भी—गदहेको भी प्रणाम करो—यह समझकर कि इसके भीतर ईश्वर है। लेकिन जैसा कि अभी कहा, यह बात वृन्दावन और अयोध्या आदि वैष्णव तीर्थोंके लिए ही है। वहाँका यह गुप्त धन है कि सबमें परमेश्वरका दर्शन करके केवल मनसे ही नहीं, शरीरसे प्रणाम करे। काशीके लोगोंको तो मनसे ही प्रणाम करना चाहिए, क्योंकि यहाँ मुक्त लोगोंका निवास है, बड़े-बड़े लोग रहते हैं, फिर वे कैसे सबको दण्डवत् करेंगे?

इस प्रकार भगवान् कपिलदेवने भक्तियोगका वर्णन करके बताया कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है, समस्त देश, काल और वस्तुमें परमात्मा प्रविष्ट है। उनका न कोई प्यारा है, न कोई दुश्मन है, न कोई भाई-बन्धु है—वह सबमें एक-सरीखा रहता है और उसीकी शक्तिसे सृष्टिमें सारी क्रियाएँ होती हैं।

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति॥ (तै० उप० २.८.१)

इस श्रुतिका यहाँ बिलकुल अनुवाद करके रख दिया गया, कि परमात्माके भयसे ही पेड़ फलते हैं, लताएँ खिलती हैं, फूल-फल लगते हैं, नदियाँ बहती हैं, समुद्र स्थिर रहता है, अग्नि प्रज्वलित होती है आदि-आदि। यह सब भगवान्‌की महिमा है, जो इस सृष्टिके सब पदार्थ अपना-अपना काम स्वयं करते रहते हैं।

: ३० :

श्री कपिलदेवजी महाराजने आगे कहा कि माता, इतना होनेपर भी संसारके जीव भगवान्‌की इस महिमाको नहीं समझते। वे देखते हैं कि हवाके साथ बादल उड़ते जा रहे हैं लेकिन उनकी दृष्टि भगवान्‌की शक्तिपर नहीं जाती। मनुष्य अपने सुखके लिए कष्टसे किसी चीजको पकड़ता है और फिर वही चीज उसके हाथसे छिन जाती है। इस दुनियामें कुछ भी नहीं रहता? मनुष्य कहता है कि अमुक वस्तुसे हमको सुख होगा। लेकिन भगवान् कहते हैं कि देखो, सुख न तो मकानसे होगा, न बेटेसे होगा और न इस शरीरसे होगा, सुख केवल मुझसे होगा।

मनुष्य जिसके लिए शोक करता है, भगवान् उसे धुन देते है—'तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते' (२)। लोगोंको इस मरनेवाले शरीरके मरनेका ख्याल ही नहीं आता। मनुष्य जानते हैं कि आत्मा अजर है, अमर है; पर वे देहसे एक होकर देहको ही अजर-अमर मान लेते हैं। यह समझ लेते हैं कि हमारा पैसा हमसे कभी छिनेगा नहीं। लेकिन हमने पाँच-दस वर्षके भीतर ही कितनोंको कंगालसे करोड़पति और करोड़पतिसे कंगाल होते देखा है। जहाँ भी यह मनुष्य जाता है, वहाँ अपने 'मैं' को रख देता है और वहीं इसका मोह हो जाता है। यहाँ तक कि यह जीव जब नरकमें जाकर रहता है, तब वहाँ भी उसे इतना 'सुख' होता है कि इस शरीरको छोड़ना नहीं चाहता, वहाँ भी उसके पत्नी-पुत्रादि इकट्ठे हो जाते हैं और वह भार ढोते-ढोते जलता रहता है।

> आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया।
> रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ ८

यहाँ देखो, स्त्री जातिकी नहीं, कुल्टा स्त्रियोंकी निन्दा है। कहते हैं कि जो स्त्री अपने पतिकी नहीं हुई, वह दूसरे पुरुषसे एकान्तमें बड़ी मीठी-मीठी प्रेमकी बातें करती है। परन्तु क्या वह उसकी हो जायेगी? इसी तरह 'शिशूनां कलभाषिणाम्'—जो बच्चे बड़ी प्यारी तोतली बोली बोलते हैं, वे बड़े हो जायेंगे तो क्या मिठास उनके अन्दर रहेगा?

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९

ये गृहस्थ लोग ऐसे कूटधर्मी हो जाते हैं कि पत्नीकी बात मातासे नहीं कह सकते, माताकी बात पत्नीसे नहीं कह सकते, बेटेकी बात भाईसे नहीं कह सकते और समझते हैं कि हमें बड़ा भारी सुख मिला। लेकिन विचार करके तो देखो, कोई आदमी सिरपर बोझ लेकर चलनेके कारण बिलकुल थक गया है, उसका सिर दुःखने लगा है, वह पसीना-पसीना हो गया। सामने एक पेड़ देखकर उसने सिरका बोझ उतारा और कन्धेपर रख लिया, फिर पेड़की छायाके नीचे पहुँचकर बोला— अहा हा! बड़ा आराम मिला। लेकिन उससे पूछो कि उसे आराम मिला या जो ज्यादा दुःख था, वह थोड़ा कम हुआ? निश्चय ही उसे कोई सुख नहीं मिला, बल्कि जो अधिक दुःख था, वह कुछ कम हुआ। किन्तु दुःख कम होनेका मतलब सुख मिलना, नहीं होता।

'अर्थैरापादितैः' (१०)। लोग बड़ी हिंसा करके, दूसरोंकी जेब काट-काटकर, मीठी-मीठी बात करके, सत्कार करके झूठा बीजक दिखाकर, सौदा किये हुए मालकी जगह दूसरा रद्दी माल देकर इस प्रकारके पापादिसे, थोड़ा पैसा इकट्ठा करते हैं। इस अर्थ शब्दका अर्थ संसारी लोगोंने यही किया है कि जिसको लोग चाहें उसका नाम अर्थ है—'अर्थ्यते इति अर्थः'। लेकिन इसके बीचमें भी एक अर्थ है। पण्डित लोग इसकी व्युत्पत्ति ढूँढ लें—अर्थ शब्द 'ऋ' धातुसे बना हुआ है, जिसका अर्थ है कि जो चला जायेगा, उसका नाम अर्थ है। यह अर्थ ऐसा है कि, किसीके घर रहा नहीं, इसलिए तुम्हारे घर भी नहीं रहेगा। इसीसे तुम अपने देहका पालन-पोषण करते हो और यह तुमको नीचे उतारकर ले जाये गा। जब आदमीका रोजगार नहीं चलता, उससे कुटुम्बका भरण हो नहीं पाता, उद्यम उसके वृथा हो जाते हैं और जब वह मरनेके पास पहुँच जाता है तब उसकी पत्नी उसे नहीं पूछती। हमने अनेक पत्नियों, पतियों, माताओं, पिताओं, पुत्रों और भाइयोंको देखा है, जो एक-दूसरेके असमर्थ हो जानेपर यह कहते हैं कि भगवान् इन्हें धरतीपरसे उठा लें तभी अच्छा है। अब तो हम लोग इनकी सेवा करते-करते ऊब गये। जैसे किसान लोग बूढ़े बैलका आदर नहीं करते, वैसे ही बूढ़े आदमीका आदर ये संसारी और भोगी लोग नहीं करते। परन्तु इतनेपर भी मनुष्यको वैराग्य नहीं होता। जो बहुत सुन्दर था, उसकी चमड़ी सिकुड़ गयी। जिसके दाँत चमकते थे, वे टूट गये। मृत्यु उनके सामने खड़ी है। उनको लोग वैसे ही भोजन देते हैं, जैसे कुत्तेको देते हैं। शरीरमें रोग हो जाते हैं। उससे काम होता नहीं। जब साँस घर्र-घर्र बोलने लगती है तब लोग कहते हैं कि इनको तो अब कहीं तीर्थमें जाकर किसी आश्रममें रहना चाहिए। हमारे पास नौजवान दम्पती आते हैं और कहते हैं कि जब उनके बूढ़े लोग रातमें घरघराते हैं तब उन्हें नींद नहीं आती। इसलिए आप किसी तीर्थमें कोई बढ़िया आश्रम बता दें, जहाँ हम इनको भेज दें। वहाँ इनके खाने-

पीनेके लिए हम रुपये भेज दिया करेंगे। इस प्रकार जब बुढ़ापा आता है, तब मनुष्य अपने परिवार पर भार बन जाता है और उसके बुलानेपर भी कोई उसके पास नहीं आता। अन्तमें उसे मरना पड़ता है। यमदूत आकर उसके यातना देहको ले जाते हैं।

देखो, यह शरीर जितना दिखाई पड़ता है, उतना ही नहीं है। उसकी वासनामें जब अहम् मिल जाता है तब प्राणसे तो गति होती है और अन्तिम वासनाके अनुसार आकृति मिलती है। उसमें जीवात्माका अहम् हो जानेके कारण उसी रूपमें वह परिणामको प्राप्त हो जाता है। इसी तरह प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश। इन सबको लेकर जीवात्मा एक आकारसे दूसरे आकारको प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीरमें अहं किये हुए रह जाता है। यमराजके दूत उसीको लेकर जाते हैं, उसको बड़े-बड़े संकट भोगने पड़ते हैं।

कई लोग कहते हैं कि आगे क्या होता है, वह कौन जानता है? लेकिन जुआ खेलते समय ऐसे सोचते हैं कि शायद जीत जायँ और शायद न भी जीतें। जब ऐसी बात है कि हार भी हो सकती है तब उन्हें जुआ नहीं खेलना चाहिए। क्योंकि यदि वे हार जायेंगे तो उनकी बड़ी भारी हानि होगी। इसलिए विचारमें यह पक्ष हमेशा लेना चाहिए कि यदि हमको परलोकमें जाना पड़ा और वहाँ अपने पापोंका फल भोगना पड़ा तो हमारी क्या दशा होगी। यह सोचकर मनुष्यको पापसे बचना चाहिए। हम यह बात भी तो देखते हैं कि इस लोकमें कोई मनुष्य सुखी है तो कोई दुःखी है। यहाँ कोई स्वर्ग भोग रहे हैं तो कोई नरक भोग रहे हैं। हमारे परिचित एक करोड़पति सेठ हैं। उनसे खाया नहीं जाता, वे बीमार रहते हैं और जब कभी चोरी-चमारीमें पकड़े जाते हैं तब उन्हें जेलकी हवा भी खानी पड़ती है। फिर उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहता। लेकिन हम एक साधुको देखते हैं, जिसके पास न तो खानेके लिए रोटी है, न सोनेके लिए मकान है और न पहननेके लिए कपड़ा है। फिर भी जब वह सड़कपर निकलता है तो उसकी मस्ती देखकर तबीयत खुश हो जाती है। इसलिए इन चीजोंमें सुख नहीं है, यह तो लोगोंका मिथ्या भ्रम है। यहीं स्वर्ग देखनेमें आता है और यहीं नरक भी देखनेमें आता है। जो बेईमान हैं, वे नरकमें हैं, जो ईमानदार हैं, वे स्वर्गमें हैं। ऐसे लोग जैसे यहाँ रहते हैं, वैसे ही मरनेके बाद भी रहते हैं। जो अपना-पराया करके भयंकर पाप करते हैं, उनको नरकमें जाना पड़ता है। यह नरक भी भगवान्‌ने शोधनके लिए बनाया है। जैसे किसी चीजको गरम पानीमें डालकर या आगमें जलाकर शुद्ध करते हैं, वैसे भगवान् जीवको शुद्ध करते हैं और फिर शुद्ध होनेके बाद वह मनुष्य-योनिमें आकर गर्भमें प्रवेश करता है।

❀

: ३१ :

भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं कि जब मनुष्य माताके गर्भमें आता है तब पहले महीनेमें, दूसरे महीनेमें और तीसरे महीनेमें उसकी कैसी स्थिति होती है। धीरे-धीरे बढ़कर वह आठ-नौ महीनोंका होता है। गर्भमें वह बड़ा दुःख भोगता है। उसका सिर नीचे रहता है। वह बारम्बार मूर्च्छित होता है! फिर होशमें आजाता है। जब होश आता है तब उसको यह ख्याल आता है कि जिसने हमें इस गर्भमें डाला है, उसकी स्तुति करनी चाहिए। थोड़ी देरमें यह जीवात्मा ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है, मानों कोई ऋषि हो—'नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रि कृताञ्जलिः' (११)। उस समय वह सात धातुओंके बन्धनमें बँधा हुआ हाथ जोड़कर ऋषिके समान भगवान्की स्तुति करता है कि मैं उस भगवान्की शरण ग्रहण करता हूं, जिन्होंने मुझे इस समय गर्भमें होश दिया है। स्तुति करते हुए कहता है कि परमात्मा यहीं हैं। उनकी वन्दना करनेसे बन्धनकी निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रभुने मुझे ज्ञान दिया, वही मेरा कल्याण करे। मैं माताके गर्भमें अत्यन्त जल रहा हूं और अत्यन्त दुःखी हो रहा हूं। इसलिए प्रभुके चरणोंमें नमस्कार करता हूं। इस प्रकार वह स्तुति करता है और यह वायदा करता है कि जब मैं इस अन्धकूपसे बाहर निकल जाऊँगा तब भगवान्का भजन करूँगा।

देखिये, यह पुराणकी रीति है, जो आप सब लोगोंको यह याद दिलाता है कि आप माताके गर्भमें भगवान्के सामने प्रतिज्ञा करके आये हैं कि जब आपका जन्म होगा तब आप उनका भजन करेंगे। इसलिए आप यदि यहाँ वह प्रतिज्ञा तोड़ देंगे तो आपको बड़ा भारी अपराध लगेगा।

जीव जब गर्भसे बाहर निकल आता है, उसका जन्म हो जाता है, तब उसका गर्भमें जो ज्ञान था, वह चला जाता है और उसे बड़ा दुःख होता है! उसको लगती है भूख और वह रोने लगता है। माता-पिता समझते हैं कि उसके पेटमें कोई रोग हो गया है, थोड़ा नीमका काढ़ा पिला दो तो ठीक हो जायेगा। उसको काटता है खटमल, काटती है चींटी, काटता है मच्छर और जब वह

रोता है तो लोग समझते हैं कि झूठ-मूठ ही रो रहा है। इस तरह बेचारे मनुष्यको बचपनमें भी बहुत दुःख भोगना पड़ता है।

फिर जब वह जवान होता है और उसको उसके हमजोलियोंका साथ मिलता है तब उसकी क्या अवस्था होती है? संसारमें दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं—एक रसनेन्द्रिय और दूसरी जननेन्द्रिय, इनको शिश्नोदर भी बोलते हैं। इन इन्द्रियोंके वशमें आकर मनुष्य सत्य, पवित्रता, दया, मौन, सुबुद्धि, श्री, ह्री, शम, दम सब कुछ छोड़ देता है। फिर उसके पतनकी सीमा नहीं रहती। इसलिए यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता हो तो उसे विषय-भोगके जो खिलौने हैं, क्रीडामृग हैं—इनका कभी साथ नहीं करना चाहिए।

मनुष्यके जीवनमें जो यौन आकर्षण है, स्त्री-पुरुषकी परस्पर आसक्ति है, वह सबसे अधिक बन्धनका हेतु है। उसको किसी औरका संग करनेसे इतना बन्धन नहीं होता—'न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः' (३.५)—क्योंकि स्त्रीमें पुंस्त्व नहीं होता और पुरुषमें स्त्रीत्व नहीं होता। इसलिए दोनों एक-दूसरेको अपने साथ मिलाकर सुखी होनेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस अन्यासक्तिमें सर्वथा बन्धन हो जाता है। पुराणोंमें स्त्री-पुरुषकी आसक्तिको लेकर ऐसा-ऐसा वर्णन आता है कि उसे सुनकर लोग कभी-कभी अविश्वास भी करने लगते हैं। परन्तु दुनियामें जो अनर्थ देखनेको मिलते हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि पुराणकारोंने इस सम्बन्धमें बहुत कम लिखा है। जब ब्रह्माके मनमें भी अपनी पुत्रीके प्रति आकर्षण हो गया, तब उनकी सृष्टिमें ऐसा कौन है जिसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धी यौन--आकर्षण उदित न हो? इससे तो बस, एक नारायण ऋषि ही अछूते बचे हुए हैं।

देखो, यह माया बड़े-बड़े दिग्विजयी सम्राटोंको भी केवल अपनी भौहोंके इशारेसे पादाक्रान्त कर देती है। इसलिए जो इस मायासे पार जाना चाहे, उसको इसके चक्करमें नहीं आना चाहिए। जरा विचार तो करो, आप जिसको स्त्री देख रहे हैं, वह कौन है? यह पूर्वजन्ममें पुरुष थी, अपनी स्त्री-आसक्तिके कारण पुरुष ही स्त्री हो गया। इसी तरह अपनी पुरुष-आसक्तिके कारण स्त्री ही पुरुष हो गयी है। यह नहीं समझना कि स्त्री अथवा पुरुषके प्रति कोई अन्याय किया हुआ है। यह नहीं कि जो स्त्री है, वह हमेशा स्त्री ही हो और जो पुरुष है, वह हमेशा पुरुष ही हो। यह सनातन धर्मकी मान्यता नहीं है। सनातन धर्ममें स्त्री पुरुष हो जाती है और पुरुष स्त्री हो जाता है; क्योंकि आकृति सूक्ष्म शरीरमें होती है, जीवात्मामें नहीं होती। वासनाके अनुसार सूक्ष्म शरीर बदल जाता है। मनुष्य यदि इसमें फँसा तो इस चक्करसे कभी निकलनेवाला नहीं। माया ही पति बनकर आती है और माया ही स्त्री बनकर आती है। यह बात समझकर मनुष्यको उस मायारूपी शिकारीके शिकारसे बचना चाहिए।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि मनुष्य जब एक शरीरसे पाप-पुण्य कर्म करता है तो दूसरे शरीरसे उसका फल क्यों भोगता है? असलमें पाप-पुण्य केवल स्थूल शरीरसे नहीं होता, सूक्ष्म शरीरसे होता है। जो सूक्ष्म शरीर पाप-पुण्य करता है, वही सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीरमें ही नहीं दूसरे स्थूल शरीरमें भी जाकर उसका भोग करता है। यह सूक्ष्म शरीर, लिङ्ग शरीर जीवका हमेशा पीछा करता रहता है।

किन्तु जब निरोध हो जाता है अर्थात् स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध छूट जाता तब उसका नाम मरण होता है और जब आविर्भाव होता है तब उसका नाम जन्म होता है। यह मृत्यु और जन्मकी कितनी सुन्दर परिभाषा है—

तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः। ४४

और देखिये—

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा। ४५

जिन-जिन इन्द्रियोंसे संसारके विषयोंका ज्ञान होता है, उन-उन इन्द्रियोंमें जब अपने विषयको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती तब उनका पञ्चत्व हो जाता है। पञ्चत्व माने शरीरमें जो पाँच रूपसे बनी हुई चीजें हैं, वे सब पाँचपनेको प्राप्त हो जाती हैं। जैसे शरीरकी मिट्टी मिट्टीमें मिल गयी, पानी पानीमें मिल गया, आग आगमें मिल गयी, आकाश आकाशमें मिल गया और हवा हवामें मिल गयी। इसीका नाम पञ्चत्व है।

'अहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्य दर्शनम्' (४५)—किसी भी दृश्य वस्तुमें अहंभाव हो जाना कि यह मैं हूँ—इसीका नाम जन्म है। जब आँखोंमें द्रव्यके दर्शनकी योग्यता नहीं होती तब कहते हैं कि आँख चली गयी। इसका नाम मृत्यु है।

इसलिए मृत्युको कोई बहुत बड़ी बात नहीं समझना चाहिए। न तो भय करना चाहिए, न कार्पण्य करना चाहिए और न सम्भ्रम उत्पन्न होने देना चाहिए। यह जीव-शरीरका नाम नहीं। इस जीवके स्वरूपको समझकर व्यवहारमें अनासक्त रहना चाहिए, बुद्धिमें सम्यक् दर्शन होना चाहिए और योग—वैराग्य बना रहना चाहिए।

'मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम्'(४८)—यह जो माया—विरचित लोक है, इसमें अपने शरीरको डालकर विचरण करना चाहिए।

❀

: ३२ :

श्रीकपिलदेवजी कहते हैं कि जो संसारमें ही रहना चाहता है, जिसकी इसमें आसक्ति होती है, उसको यहाँ बार-बार आना-जाना पड़ता है। जो इससे मुक्त होना चाहता है, वह निष्काम भावसे अपना जीवन व्यतीत करके इससे छूट जाता है। एक चन्द्रद्वार होता है और दूसरा सूर्यद्वार होता है। वासनाका द्वार चन्द्रद्वार है और ज्ञानका द्वार सूर्यद्वार है। सूर्य प्रकाशका देवता है और चन्द्रमा प्रियता और वासनाका देवता है। इस बातको समझकर मनुष्यको वासनाके वशमें नहीं होना चाहिए। सबके हृदय-कमलपर आसन बनाकर बैठे हुए जो भगवान् हैं उनकी शरणमें जाना चाहिए।

श्रीकपिलदेवजीने अपनी माता देवहूतिको आगे समझाया कि 'अथ तं सर्वभूतानाम्' (११) अब सबका सार सुन लो। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय-कमलपर अपना मन्दिर बनाकर जो भगवान् बैठे हुए हैं और जिनके प्रभावका तुमने श्रवण किया है, उनकी शरणमें तुम भावसे जाओ। वही सबके आदि हैं। जो उनकी शरणमें जाता है, वह संसारसे छूट जाता है। इसके लिए अनेक प्रकारके

साधनोंका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जो लोग धर्म, अर्थ, काममें ही फँसे रह जाते हैं, वे भगवान्‌की कथा-सुधामें प्रेम नहीं करते—

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।
हित्वा शृण्वन्त्य सद्‌गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ।। १९

जैसे गुबरीलेको खानेके लिए शक्कर डाल दीजिये तो वह शक्कर नहीं खाता, मलिनता ढूँढ़कर उसके पास जाता है, वैसे ही संसारी लोगोंको भगवान्‌की कथा-सुधा तो परसी जाती है, लेकिन वे उसको पसन्द नहीं करते। ये तो अपने विषय-भोगमें रमे रहते हैं। ऐसे लोग बारम्बार आवागमनके चक्करमें पड़े रहते हैं। इसलिए माता, तुम सर्वात्मभावसे परमेष्ठी भगवान्‌का भजन करो। क्योंकि भगवान्‌के प्रति जो भक्तियोग होता है, उससे जीवनमें दो बातें आती हैं—एक वैराग्य और दूसरा ज्ञान—

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् । २३

एक प्रीति होती है, दूसरा प्रियतम होता है। जब हम भक्ति करते हैं तब एक अपने हृदयमें प्रीति होती है और दूसरा प्रियतम होता है। दोके विना भक्ति नहीं हो सकती। । जब भगवान्‌से प्रीति होगी तो दूसरेसे प्रीति छूट जायेगी और इसीका नाम होगा वैराग्य। फिर भक्तिके पेटमें जो प्रियतम बैठा हुआ है, उस भजनीयके स्वरूपका होगा प्रकाश और उसीका नाम होगा ज्ञान।

अब देखो, वह प्रियतम कैसा है? वह तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है। जब इस तरह मनमें, परमात्माका दर्शन होता है, तब 'यह प्रिय है, यह अप्रिय है' इस प्रकारका विचार नहीं होता और जो हेयोपादेयरहित पद है, उसका दर्शन होने लगता है। परमात्मा साक्षात् 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म' (२६) ही है। 'ज्ञानमात्रम्'का क्या अर्थ है? 'ज्ञानमेव इति ज्ञानमात्रम्' अर्थात् केवल ज्ञान है। 'ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद-रहितम्'—परब्रह्म परमात्मामें 'मैं जाननेवाला' और 'यह जाना जानेवाला' इस प्रकारका भेद नहीं है। एक ही भगवान् दृश्य और द्रष्टा आदिके रूपमें भास रहे हैं। सारे योगका अर्थ यही है। ये जो बहिर्मुख इन्द्रियाँ हैं, इन्होंने एक ही ब्रह्मको अनेक करके दिखा दिया है। एक गुलाबका फूल हाथमें ले लो तो नाक बतायेगी सुगन्ध है और आँख बतायेगी कि गुलाबी रंग, त्वचा बतायेगी कि सुकुमार है, जीभ बतायेगी कि कड़वा है और जब वह सूख जायेगा तब कान बतायेगा कि इसमें चिट्-चिट् आवाज है। लेकिन असलमें वह गुलाबका फूल एक ही है। इन्द्रियोंके कारण ही उसमें अनेकता भास रही है। सत्तारूपसे वह बिलकुल एक है। इसीप्रकार यह परमात्मा बिलकुल एक है और इन्द्रियोंके कारण अनेक रूपसे दिखाई पड़ रहा है। जब मनुष्यका मन एकाग्र असंग और वैराग्यवान् होता है तब उस परमात्माका दर्शन होता है।

कपिलदेव भगवान् कहते हैं कि देखो, माता ! मैंने तुमको ब्रह्मज्ञान बताया, प्रकृति-पुरुषका सत्त्व बताया, मेरे स्वरूपमें जिससे निष्ठा हो वह बोध बताया और गुणातीत भक्ति बतायी। यह नहीं समझना कि ज्ञान और भक्तिमें कोई भेद है। कई लोगोंके मनमें सुन-सुनाकर जो इस प्रकारके भेद-भाव आ जाते हैं, उसका कारण सम्प्रदाय-भेद है। वह न तो तत्त्व-भेद है और न भक्ति-ज्ञानका भेद है, वह तो गुरु-शिष्य-परम्परामें गुरुने शिष्यको जो उपाय बता दिया, उसका भेद है। यदि गुरुने अपने शिष्योंको अलग-अलग उपाय बताया तो उससे जो प्राप्तव्य एक वस्तु है, वह अलग-अलग नहीं हो जाती और न शिष्योंकी आत्मा अलग-अलग हो जाती है। चाहे मन्निष्ठ ज्ञानयोग हो और चाहे निर्गुण भक्ति हो, दोनोंका एक ही अभिप्राय है और वह अभिप्राय है भगवान्।

'द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः (३२)।' यहाँ दृष्टान्त देकर बताया कि जैसे एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रियरूपी द्वारोंसे भिन्न-भिन्न गुणवाली और नाना दिखाई पड़ती है, वैसे एक ही परमात्मा बहुत-से शास्त्र-सम्प्रदायोंकी रीतिसे अनेक रूपोंमें दिखाई पड़ता है। असलमें परमात्मा एक ही है, शास्त्रके मार्ग अलग हैं—जैसे कर्म अलग हैं, दान अलग है, तप अलग है, स्वाध्याय अलग है, सकाम-निष्काम धर्म अलग हैं, वैराग्य अलग है। इन मार्गोंके भेदसे परमात्मा अलग-अलग दिखाई देते हैं।

अब एक बात ऐसी है, जो सबके लिए नहीं है। जिसके मनमें इसको जाननेकी इच्छा है, उसीके लिए है। जब जैमिनि धर्मकी व्याख्या करने लगे तब शबर स्वामीने पूछा कि इसका अधिकारी कौन है ? बोले कि—

अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अपर्युदस्तः।

इसका अधिकारी वही है जो चाहता हो। लेकिन चाहनेमात्रसे ही नहीं होता। जज और कलक्टर आदि भी बड़े-बड़े विद्वान् होते हैं, डाक्टर लोग भी अपने-अपने विषयके विद्वान् होते हैं, लेकिन उनको ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं है। उनके पास बुद्धि तो है, परन्तु इच्छा नहीं है। कई लोग ऐसे भी हैं कि उनके मनमें इच्छा तो बहुत है, परन्तु बुद्धि नहीं है। इसलिए अर्थी हो, समर्थ हो, विद्वान् हो और शास्त्रसे निषिद्ध न हो अर्थात् अधिकारी हो, तब वह यज्ञ-यागादिको ठीकसे समझेगा और करेगा।

इसी प्रकार यह विद्या खलके लिए नहीं है अभिमानीके लिए नहीं है, और जिनको फोड़-फाड़कर लोगोंने नास्तिक बना लिया है उनके लिए भी नहीं है।

'धर्मध्वजाय च' जो भीतरसे तो धर्मात्मा न हो, लेकिन बाहरसे धर्मका झण्डा लेकर चले, उसके लिए भी यह नहीं है। यह लोभी आदमीके लिए भी नहीं है। जो घर-गृहस्थीकी ओरसे अपना

मन हटाना नहीं चाहता, उसके लिए भी नहीं है। अभक्तके लिए भी नहीं है। भक्त-द्वेषीके लिए भी नहीं है। तब यह विद्या किसके लिए है ?

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥ ४१

इसका अधिकारी वह श्रद्धालु है, जो अपने हृदयको सत्की राजधानी बनाना चाहता है। उसको यहाँ श्रद्दधान कहा गया है। असलमें शब्द सत् है। विद्वानोंने उसके भीतर एक रेफ डालकर श्रत् बना दिया। श्रत् माने सत्य। यह विद्या उसके लिए है, जो शास्त्र-वेद-पुराणकी बातोंको सत्य मानकर अनुभवके मार्गमें चलना चाहता है। जो इन्द्रियोंसे देख-देखकर अनुभव प्राप्त करना चाहता है, वह तो इन्द्रियोंके विषयोंको कभी पार ही नहीं कर सकता। इसलिए इस मार्गमें वह चले, जो विनयी हो, दूसरेके गुणमें दोष न निकाले और अनसूयु हो। असूया किसको कहते हैं ? एकने कहा कि देखो, यह तो त्रिकाल सन्ध्या-वन्दन करते हैं। दूसरेने कहा कि तुमको मालूम नहीं। ये पण्डितजी त्रिकाल सन्ध्या इसलिए करते हैं कि अमुक सेठकी इनपर श्रद्धा हो जाये और वह इनको भेंट-पूजा दें। यहाँ देखो, वह ब्राह्मण बेचारा तो करता है—सन्ध्या, किन्तु लोगोंने बता दिया उसको लालची। यही गुणमें दोष निकालना है। लेकिन किसीके गुणमें दोष नहीं निकालना चाहिए। सबमें मैत्रीका भाव रखना चाहिए। यथाशक्ति सबकी सेवा करनी चाहिए और बाहरसे भी वैराग्य हो जाना चाहिए। ऐसे ही मनुष्यको इस ज्ञानका दान करना चाहिए। ज्ञान-दानके योग्य भी सब नहीं होते। संसारका जो ज्ञान है वह दूसरा है। बम्बईमें लोग ट्यूशन करने आते हैं। लड़कियों और लड़के ट्यूशन करनेवालोंके हाथ चिट्ठी-पत्री भिजवाते हैं और उनसे कह देते हैं कि देख लो मास्टर साहब, अगर किसीको खबर लग गयी तो हम तुम्हारी शिकायत करके तुमको घरसे निकलवा देंगे, फिर यहाँ न तो तुमको तनख्वाह मिलेगी और न तुम यहाँ आ सकोगे। ऐसे जो ट्यूशन करनेवाले लोग हैं उनसे कौन-सा ज्ञान प्राप्त होगा ? मनुस्मृतिमें यह बात आती है कि ऐसे लोगोंसे यह ज्ञान नहीं मिलता। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तो विनयसे, श्रद्धासे, जिज्ञासासे मुमुक्षासे सद्गुरुकी शरण ग्रहण करनी पड़ती है।

: ३३ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, कपिलदेवजीके इन वचनोंसे देवहूतिजीके मोहका पर्दा फट गया। वे कपिलजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं, बोलीं कि तुम तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो। तुम्हारी ही सत्तासे जगत्की सत्ता है और इस आत्मज्ञानका दान करनेके लिए ही तुम हमारे पेटसे अवतीर्ण हुए हो। उन्होंने आगे स्तुति की—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥ ६

लोग कहते हैं कि जो श्वपच हैं, चाण्डाल हैं वे यज्ञके अधिकारी नहीं। ऐसी व्यवस्थासे उनके साथ बड़ा भारी अन्याय हुआ। क्योंकि बड़े-से-बड़े याज्ञिकको यज्ञ करनेपर जो फल मिलता है, वही फल यदि यज्ञ न करनेवाले चाण्डालको बिना कुछ किये ही मिल जाये तो उसके साथ अन्याय कैसे हुआ? उसके प्रति तो और भी बड़ा भारी अनुग्रह हुआ। ब्राह्मणको बृहस्पति-सवसे, क्षत्रियको राजसूयसे, वैश्यको वैश्यस्तोमसे जो फल मिलता है, वह फल चाण्डालको भगवान्के नामका श्रवण करने, कीर्तन करने, भगवान्के सामने वन्दना करने और उनका स्मरण करनेपर ही मिल जाता है! दूसरोंको जो फल बड़ा भारी परिश्रम करनेपर मिलता है, वह चाण्डालको बिना परिश्रम किये ही

मिल जाता है। जब चाण्डालको भगवान्का दर्शन हो गया तब बाकी क्या रहा? इसलिए वह चाण्डाल भी धन्य है, जिसकी जिह्वापर भगवान्का नाम है। उस चाण्डालने तप, हवन, स्नान, वेद-स्वाध्याय सब कुछ कर लिया, जो भगवान्का नाम लेता है।

कपिलदेवजी आप तो अपने आत्मा ही हैं और अपनेमें ही आपका अनुभव होता है। मैं आपकी वन्दना करती हूँ।

इस प्रकार जब माता देवहूतिकी वन्दना पूरी हुई तब मातृवत्सल भगवान बोले कि देखो माता, मैंने तुमको जो बताया है, उसीसे तुमको ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त हो जायेगी और मृत्युका अतिक्रमण हो जायेगा।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, इस प्रकार अपनी माताको स्वरूपका उपदेश करके और उनसे अनुमति लेकर कपिलदेवजी वहाँसे चले गये। श्री देवहूतिजी वहीं सरस्वती नदीके तटपर रहने लगीं। उन्होंने प्रजापति कर्दमका विमान छोड़ दिया, जिसको देवताओंकी स्त्रियाँ चाहती थीं और जो इन्द्रके लिए भी दुर्लभ था, दूधके फेनके समान सज्जित शय्या छोड़ दी। उन्होंने सोनेकी बनी हुई सब सामग्री, रत्नके प्रदीप, गृहका उद्यान, सब कुछ छोड़ दिया और सबसे निःस्पृह होकर तपस्या-निरत हो गयीं। उनको पहले पतिका वियोग हुआ था, क्योंकि कर्दमजीने संन्यास ले लिया था। अब पुत्र भी छोड़कर चला गया। असलमें सब छोड़कर चले जाते है, किन्तु जो अपना आपा है, केवल वही रहता है और परमार्थकी प्राप्ति केवल वहीं होती है। देवहूतिजीने अपने आत्माको विशुद्ध रूपमें जान लिया, उनकी बुद्धि परब्रह्म परमात्मामें स्थित हो गयी और जीवापत्ति निवृत्त हुई—

निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाऽऽप्तनिर्वृतिः ।२६

असलमें जीवापत्ति जीवभावापन्न है। ये आत्मदेव जीव नहीं जीव-भावापन्न हो गये हैं—अध्यासके कारण, परमात्मासे विमुख होनेके कारण और स्वरूपज्ञान न होनेके कारण कोई परमात्मासे विमुख हो नहीं सकता। परमात्मासे विमुख होना यही है कि परमात्माकी ओर पीठ हो गयी है। लेकिन क्या परात्मा पीछेकी ओर रह जाता है, आगेकी ओर नहीं रहता? फिर परमात्माकी ओरसे विमुख होनेका क्या अर्थ है? हम भले ही उससे मुँह फेर लें, लेकिन वह तो आगे भी है, पीछे भी है, भीतर भी है, बाहर भी है, ऊपर भी है, नीचे भी है। इसलिए कभी सोचो तो कि परमात्मासे विमुख होनेका क्या अर्थ है? यदि कहो कि विस्मरण होना विमुखता है तो विस्मरण भी कैसे हो गया? क्या यहाँसे परोक्ष हो गया परमात्मा? कहीं चला गया परमात्मा? फिर किसका विस्मरण हुआ? नहीं, परमात्मा तो आगे-पीछे, बाहर-भीतर सब जगह मौजूद है,

इसलिए उसको न पहचानना ही उससे विमुख होना है। अज्ञान ही वैमुख्य है, इसके सिवाय और कोई वैमुख्य हो ही नहीं सकता। उसी अज्ञानके कारण जीवापत्ति हो गयी है।

यह जीवापत्ति कैसे निवृत्त हुई? इसके लिए बताया गया—देवहूतिजीको जीवपनेका जो अध्यास था, वह निवृत्त हो गया। अविद्या आदिके सारे क्लेश क्षीण हो गये। परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी, नित्य समाधिमें आरुढ़ रहने लगीं। गुणभ्रम परावृत्त हो गया। अब उनको अपने शरीरकी भी याद नहीं आती। दूसरी जो दासियाँ थीं, शिष्याएँ थीं, वे ही उनको खिलातीं-पिलातीं। परन्तु उनका शरीर बिलकुल स्वस्थ था।

देखो, भागवतमें स्पष्ट लिखा है कि देवहूतिका शरीर दुबला नहीं, मोटा था। इसी तरह दत्तात्रेयका शरीर भी मोटा था, ऋषभदेवका शरीर भी मोटा था और जड़भरतका शरीर भी मोटा था। ऐसा क्यों लिखा है? क्योंकि 'आध्यसम्भवात्' (२८)—उनके मनमें कोई चिन्ता नहीं थी। जैसे धुएँके साथ आग हो, वैसे ही मलिन शरीर उनका था। देवता उसकी रक्षा करते। वे स्वयं परमात्मामें लीन रहतीं।

देवहूतिजी जहाँ रहती थीं, वह स्थान आज भी सिद्धपुरके नामसे विख्यात है। वहीं सरस्वती नदी बहती है। कपिलदेवजी वहाँसे चलकर प्रागुदीची दिशामें, जहाँ समुद्र और गंगाका मिलन होता है, जिसे गंगासागर कहते हैं, चले गये। समुद्रने उनको रहनेके लिए स्थान दिया। आज भी वहाँ कपिलदेवजीका मन्दिर है। वहाँ वे तीनों लोकोंकी शान्तिके लिए निवास करते हैं। सभी सांख्याचार्य भगवान् कपिलदेवजीकी स्तुति करते हैं।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, आपके पूछनेपर मैंने इस प्रकार कपिल-देवहूतिके पावन-संवादका निरूपण किया। जो इसका श्रवण-वर्णन करता है, उसकी बुद्धि भगवान्‌में लगती है और उसको भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है। यह उसकी फलश्रुति है।

यहाँ आप देखो, भक्ति और ज्ञानका कितना सुन्दर समन्वय है, जिससे भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है—

भगवति कृतधीः सुपर्णकेता वुपलभते भगवत्पवारविन्दम्। ३७

❀

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण
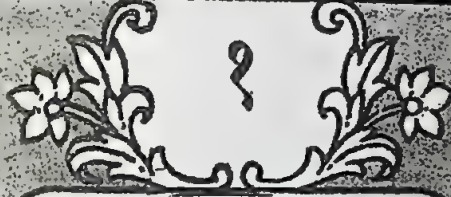
१

चतुर्थ स्कन्ध

प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

चतुर्थ स्कन्ध

श्रीमद्भागवतरूपी कल्पवृक्षके जो बारह स्कन्ध हैं उनमें पहला स्कन्ध अधिकार-निरूपण है, दूसरा स्कन्ध साधन-निरूपण है और तीसरा सर्ग-निरूपण स्कन्ध है। सर्गके द्वारा भी परमात्माका ही निरूपण होता है। कई वस्तुएँ जाहिर होती हैं, दीखती हैं, लीन होती हैं, परन्तु परमात्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। जो सर्गका अधिष्ठान है, आधार है, प्रकाशक है, जो सर्गमें प्रियताके रूपमें अनुस्यूत है, सर्गके न रहनेपर भी जो रहता है, उसका नाम परमात्मा है।

इस चौथे स्कन्धमें विसर्गके द्वारा परमात्माका कैसे निरूपण होता है, यह वर्णन है। तत्त्व-प्रधान सर्ग है और नाम-रूप-प्रधान विसर्ग है। यह सर्गका वैविध्यमय रूप है, विविध रूप है। इस सृष्टिमें विविधता कैसे हुई? मनुष्यके मनमें-जीवके मनमें जो वासनाओंकी विविधता है, वही सृष्टिकी विविधता है। अलग-अलग नाम कैसे मिलता है? अलग-अलग रूप कैसे मिलता है? अलग-अलग आकृति कैसे होती है? यह पृथक्-पृथक् आभास कैसे हो रहा है? इसकी जड़में एक परमेश्वर है, क्योंकि फल परमात्मासे ही प्राप्त होता है। कर्ममें, प्रकृतिमें, जीवके पौरुषमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह कर्त्ताको उसके कर्मका फल दे सके। हमारे बादरायण भगवान् वेदान्त-दर्शनमें कहते हैं कि यही बात युक्तियुक्त है कि फलदाता परमेश्वर है। एक सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् प्रभुके बिना जीवको उसके कर्म और उसकी वासनाको पहचानकर अमुक देश एवं कालमें अमुक प्रकारसे उसको सुख अथवा दुःख देना अन्यके लिए सम्भव नहीं। अतः विसर्गसे ईश्वरकी सिद्धि

होती है। उदयनाचार्यजी महाराजने न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थमें बताया है कि और भी अनेक ऐसे कार्य हैं, जिनसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

इस चौथे स्कन्धमें विसर्गका वर्णन कैसे किया गया है यह देखिये। सात्त्विक, राजस, तामस एवं आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक-रूपसे पहले सात अध्यायोंमें धर्म-प्रधान सृष्टिका वर्णन है। क्योंकि धर्म यज्ञ-प्रधान है और यज्ञ सप्त-तन्तु होता है। उसमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने अपनी पुत्रीका विवाह रुचि प्रजापतिके साथ करके स्वयं भगवान्‌को ही पुत्रके रूपमें प्राप्त कर लिया। अनसूया और अत्रिके विवाहसे दत्तात्रेय-सरीखे पुत्र प्राप्त हो गये। व्यतिरेकविधया यह बात बतायी गयी है कि दक्षने धर्मानुष्ठान तो किया—यज्ञ तो किया, परन्तु भगवान्‌की शरण नहीं ली, तो उसका यज्ञ निष्फल हो गया और जब भगवान्‌की शरण लेकर यज्ञ किया तो यज्ञ सफल हो गया। मतलब यह कि भगवान्‌की आराधनाके लिए ही यज्ञ होता है।

उसके बाद पाँच अध्यायोंमें अर्थका वर्णन है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं और पाँच ही प्रकारके उनके अर्थ होते हैं। ध्रुवकी जो कथा है, वह अर्थ-प्रधान है। उन्होंने भगवान्‌की आराधना की और उनको अर्थकी प्राप्ति हुई।

उसके बाद ग्यारह अध्यायोंमें कामका वर्णन है। ग्यारह इन्द्रियोंसे ही कामका सेवन होता है। इसलिए पृथु और वेनके उपाख्यानोंकी प्रधानतासे, अन्वय-व्यतिरेकेण काम पुरुषार्थका वर्णन है।

उसके बाद आठ अध्यायोंमें मोक्ष-पुरुषार्थका वर्णन है। चार अध्यायोंमें सगुण मोक्षका वर्णन है और चार अध्यायोंसे निर्गुण मोक्षका वर्णन है। कैवल्य मोक्षका वर्णन प्राचीनबर्हिः और पुरञ्जनोपाख्यानमें है। सगुण ईश्वर-प्राप्तिरूप मोक्षका वर्णन प्राचेतस-उपाख्यानमें है।

इस प्रकार सात, पाँच, ग्यारह और आठ कुल मिलाकर इकतीस अध्यायोंका विभाजन करके यह चतुर्थ स्कन्ध है। जो विसर्ग लोकमें प्रसिद्ध है, वह भागवतमें अभीष्ट नहीं है और स्कन्ध-विभागसे उसकी सङ्गति लगाना भी कठिन पड़ता है। ऐसी स्थितिमें जहाँ सर्गका वर्णन हो, वहाँ सर्ग और जहाँ विसर्गका वर्णन हो वहाँ विसर्ग, इस प्रकार विषयोंकी प्रधानतासे वस्तुओंको ग्रहण करना चाहिए। काल और स्थान तथा वक्ताकी प्रधानता नहीं लेनी चाहिए। यह नहीं देखना चाहिए कि कौन कहाँ और किस युगमें बोल रहा है, बल्कि यह देखना कि क्या बोल रहा है। सत्ययुगमें भी बुरी बात बोली जा सकती है और कलियुगमें भी अच्छी बात बोली जा सकती है। जब अच्छी बात बोली जाये तब सत्ययुग और जब बुरी बात बोली जाये तब कलियुग। इस प्रकार विषयकी प्रधानतासे ही इसका विभाग करना चाहिए।

: १ :

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः॥ १

अब मैत्रेयजी विदुरजीसे कहते हैं कि मनु-शतरूपाके तीन लड़कियाँ थीं—आकूति, देवहूति और प्रसूति। देवहूतिका विवाह कर्दमजीसे हुआ। उनका चरित्र पहले आ चुका है। आकूतिका विवाह मनुजीने रुचि नामक प्रजापतिके साथ इस शर्तपर कर दिया कि इससे जो बेटा पैदा होगा, वह हमारा होगा। यह मनु और शतरूपा दोनोंकी राय थी। यदि कहो कि ऐसा तब किया जाता है, जब कन्याके भाई न हो, तो ऐसी बात नहीं है। भाई होनेपर भी ऐसा कर सकते हैं। मनुको मालूम था कि इस कन्यासे साक्षात् भगवान्‌का जन्म होनेवाला है।

प्रजापति रुचिने आकूतिके गर्भसे मिथुन उत्पन्न किया—पुरुषरूप यज्ञ और स्त्रीरूप दक्षिणा। बिना दक्षिणाके यज्ञ नहीं होता और यज्ञके बिना दक्षिणा नहीं होती। यज्ञ-रूपधारी साक्षात् नारायण थे और दक्षिणा-रूपधारिणी साक्षात् लक्ष्मी।

अब शर्तके अनुसार मनुजीने यज्ञको अपने घरमें बसा लिया और दक्षिणा रुचि प्रजापतिके पास रह गयी। आगे चलकर यज्ञसे दक्षिणाका अर्थात् लक्ष्मीका नारायणसे विवाह हुआ। उनके बारह पुत्र हुए—तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव और रोचन। जहाँ यज्ञ और दक्षिणा दोनों होंगे, वहाँ ये बारह वस्तुएँ होनी चाहिए। ये बेटे हैं यज्ञ और दक्षिणाके। सन्तोष न हो तो यज्ञ किस कामका? यज्ञ-दक्षिणाके संयोगसे उत्पन्न पुत्र स्वायम्भुव मन्वन्तरमें तुषित नामक देवता हुए। उस मन्वन्तरमें मरीचि आदि ऋषि होते हैं। यज्ञ नामसे भगवान्‌का अवतार होता है, उनके प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र होते हैं एवं उनसे तथा उनके वंशजोंसे उस मन्वन्तरकी रक्षा होती है।

मनुजीकी तीसरी कन्या प्रसूतिका विवाह हुआ दक्षसे और उसका बड़ा भारी वंश बढ़ा। असलमें दक्ष धर्मप्रधान होते हैं, इसलिए उनका वंश बड़ा होता है। भक्ति और तत्त्वज्ञान निवृत्ति-प्रधान हैं। इसलिए उनके वंशकी वृद्धि नहीं होती। परन्तु धर्म तो वंश बढ़ानेवाली वस्तु है।

कर्दमकी नौ कन्याओंका वर्णन पहले किया जा चुका है, जो नौ महर्षियोंसे ब्याही गयी थीं। उनमें-से एक कन्या कला मरीचिकी पत्नी थी। उससे कश्यप और पूर्णिमाकी उत्पत्ति हुई। इनके वंशका वर्णन आगे छठे स्कन्धमें करेंगे। पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामके दो पुत्र हुए तथा देवकुल्या नामकी कन्या हुई। यह देवकुल्या ही जन्मान्तरमें गङ्गा हो गयी।

दूसरी कन्या अनसूया अत्रिकी पत्नी हुई। अत्रि कहते हैं त्रिगुणातीत महापुरुषको और उसकी पत्नी कौन? अनसूया—जिसको किसीमें दोष न दीखे। अनुसूया शब्द भी है, जिसका अर्थ

है 'अनुसूते' (अनुपूर्वक षू धातु)—ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी जिसके पुत्र बन जायें, उसका नाम अनुसूया।

ऐसी कथा आती है कि एक बार ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपनी-अपनी पत्नियोंके उकसानेपर अनसूयाके पातिव्रत्यकी परीक्षा करने आगये। उन्होंने कहा कि हम तुमको नग्न देखना चाहते हैं। अनसूयाने कहा कि अच्छी बात है, तुम तीनों हमारे बच्चे हो जाओ और गोदमें बैठकर दूध पी लो और हमको नंगे देख लो। अब तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश बच्चे बन गये।

निरुक्तमें अत्रि शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है—'अत्रैव–अत्र एव इति अत्रिः' (३.१७) अर्थात् जो यहीं रहता है उसका नाम अत्रि। संसारमें सम्प्रदाय चलानेवाले जो आचार्य होते हैं, वे दूसरे सम्प्रदायवालोंसे लड़ते हैं और उनका दोष भी दिखाते हैं, उनमें पूर्णता नहीं होती। पूर्णता होगी भी तो उनकी अन्तरात्मामें होगी, बाहरमें तो अपने सम्प्रदायका ही पोषण होगा। किन्तु जो अवधूत होता है, वह किसी सम्प्रदायमें बँधा हुआ नहीं होता, वह अत्रि होता है—त्रिगुणातीत होता है। वह फकीर होता है। ईश्वर-कोटिका नहीं, ब्रह्म-कोटिका होता है। साधुओंमें दो कक्षाएँ होती हैं—एक ईश्वर-कोटि, दूसरी ब्रह्म-कोटि। जो किसी सम्प्रदायमें होते हैं या आचार्य होते हैं, वे ईश्वर-कोटिके होते हैं, नियन्ता होते हैं। जो सम्प्रदायमें रहकर भी उससे मुक्त हो जाते हैं, वे अवधूत-कोटिके-ब्रह्म-कोटिके हो जाते हैं, न किसी सम्प्रदायकी निन्दा करते हैं और न किसी सम्प्रदायको बढ़ाते हैं। अत्रि ब्रह्म-कोटिके महात्मा हैं और उनकी पत्नी अनसूया किसीमें दोष नहीं देखतीं। इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों उनके पुत्र हुए।

अब विदुरजीके पूछनेपर मैत्रेयजीने बताया कि जब ब्रह्माजीने महर्षि अत्रिको सृष्टि बढ़ानेके लिए कहा, तब वे पलाश और अशोकके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतपर चले गये और वहाँ उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की। उनकी तपस्याके प्रभावसे उनके सामने ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रकट हुए—एक हंसपर चढ़े हुए, दूसरे गरुड़पर चढ़े हुए और तीसरे बैलपर चढ़े हुए। उनका दर्शन करके अत्रिने कहा कि महाराज, मैंने तो आपमें-से एकको ही बुलाया था, आप तीनों कैसे पधार गये? इसपर तीनों बोले कि अत्रिजी, तुम सत्य-सङ्कल्प हो। तुमने जगदीश्वरका ध्यान किया, हम तीनों वही हैं। उसके बाद अत्रिके यहाँ ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय एवं महादेवके अंशसे दुर्वासाः पुत्र रूपमें पैदा हुए। ये तीनों बहुत विलक्षण महात्मा थे।

ब्रह्माके तृतीय पुत्र अङ्गिराःका विवाह हुआ श्रद्धासे। उनसे सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति इन चार कन्याओंका जन्म हुआ। इनके अतिरिक्त उतथ्य और बृहस्पति दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें कर्दमजीकी नौ कन्याओंके वंशका वर्णन है।

मनुपुत्री प्रसूतिका विवाह दक्षसे हुआ। दक्षने पुत्रियोंकी सृष्टि की। उनकी बहुत सुन्दरी सोलह पुत्रियां हुईं। उनमें-से तेरहका विवाह उन्होंने धर्मसे किया। एकका अग्निसे, एकका समस्त पितरोंके तेजसे और एकका शङ्कर भगवान्से विवाह कर दिया। इनके नाम भी बहुत विलक्षण हैं। जिन कन्याओंका विवाह धर्मसे हुआ, उनको आप समझ लें तो आपको धर्मका स्वरूप समझमें आजायेगा।

प्रसंगवश एक बात मैं आपको बताना चाहता हूँ। माण्डूक्योपनिषद्के भाष्यमें एक श्लोक दिया है, जो आधा मनुजीका और आधा शङ्कराचार्यजीका बताया जाता है—

'न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः।'
'न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते।' (मनु० ६.८२)

इसका अर्थ है कि जो अध्यात्मवेत्ता नहीं होता, वह अपने धर्मके शुद्ध फलका भागी नहीं होता। जो अपने दिलकी बात नहीं समझता, वह वेदकी बात क्या समझेगा? जिसने अपने मानसका प्रत्यक्ष नहीं किया, वह न तो वेदका प्रत्यक्ष कर सकता है और न धर्मकी बात समझ सकता है। यह ऐसी बात है, जो ध्यानमें रखने योग्य है।

तो धर्मकी पत्नियोंके नाम सुनिये—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, लज्जा और मूर्ति। इनकी सन्तानका भी वर्णन है। श्रद्धा और धर्मका पुत्र है शुभ। मैत्री और धर्मके पुत्रका नाम है प्रकाश। दया और धर्मका पुत्र है अभय। शान्ति और धर्मके पुत्रका नाम है सुख। इसी प्रकार धर्मके द्वारा तुष्टिने मोद, पुष्टिने अहङ्कार, क्रियाने योग, उन्नतिने दर्प, बुद्धिने अर्थ, मेधाने स्मृति, तितिक्षाने क्षेम और लज्जाने विनय नामक पुत्र उत्पन्न किया। ये सब अपने हृदयमें, जीवनमें समझनेकी बातें हैं। केवल इनका पाठ करके आप पुण्य ले लेंगे और परलोकमें आपको स्वर्ग मिल जायेगा, इतनी ही बात नहीं है। इनमें तो सर्वथा दृष्ट फल है। जहाँ इसी जीवनमें इतना सुख, इतना फल मिल रहा हो, वहाँ परलोककी कल्पना कैसे की जाये?

तेरहवीं कन्या मूर्ति और धर्मके संयोगसे साक्षात् नर-नारायणका जन्म हुआ। उनके जन्मके समय बड़े-बड़े ऋषियोंने उनकी स्तुति की। सारी सृष्टिमें आनन्द-ही-आनन्द हो गया।

•

: २ :

अब दक्षपुत्री सतीका प्रसंग आनेपर, जिसका विवाह शङ्करजीसे हुआ था और जिन्होंने थोड़ी ही उम्रमें अपने शरीरका परित्याग कर दिया, विदुरजीने पूछा कि यह आश्चर्यजनक बात कैसे हुई ? भगवान् शङ्कर-जैसे जमाई और दक्ष-जैसे श्वसुरमें द्वेष कैसे हुआ ?

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, पहले एक बार प्रजापतियोंका बड़ा भारी यज्ञ हुआ था। उसमें ऋषि, देवता, अग्नि, सब-के-सब आये थे। इसी बीचमें दक्ष वहाँ आगये। उनके आनेपर और सब तो उठकर खड़े हो गये लेकिन ब्रह्मा और शङ्करजी दोनों चुपचाप अपने-अपने आसनोंपर बैठे ही रहे। दक्ष ब्रह्माजीका तो बेटा ही था। बेटेके आनेपर बाप खड़ा हो—यह तो कोई जरूरी नहीं। शङ्करजी भी ब्रह्माके बेटे ही हैं और इस नाते दक्षके भाई हैं। फिर भी दक्षने कहा कि ब्रह्माजी नहीं खड़े हुए तो कोई बात नहीं, वे सबके पितामह हैं, लोकपितामह हैं, लेकिन यह शिव क्यों नहीं खड़ा हुआ हमको देखकर ?

देखो, जिसको स्वागत-सत्कार लेनेकी बहुत आदत पड़ जाती है, उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। वह जल्दी-जल्दी नाराज होने लगता है। इन्होंने हमको हाथ क्यों नहीं जोड़ा, ऊँचे आसनपर क्यों नहीं बैठाया—इसके लिए भी उसे दुःख होने लगता है। इसलिए मनुष्यको सत्कार लेनेकी ज्यादा आदत नहीं डालनी चाहिए। संसारी लोग विषयभोगी होते हैं और महात्मा लोग श्रद्धा-भोगी होते हैं। विषयके बिना संसारियोंको और श्रद्धाके बिना साधुओंको तकलीफ होती है। श्रद्धा भी एक भोग ही है। अरे बाबा, नीचे-ऊँचे बैठनेमें क्या है ? कहीं भी बैठ जाओ। कोई प्रणाम करे तो ठीक और न करे तब भी ठीक। बल्कि कोई प्रणाम न करे तो समझो कि अच्छा किया। क्योंकि ऐसा करके वह हमारे समान हो गया, हमसे एक हो गया।

दक्षजीको शङ्करजीके न उठनेसे बहुत बुरा लगा और वे उनको अपनी जलती आँखोंसे ऐसे देखने लगे, मानो उन्हें जला ही डालेंगे। बोले कि देखो, मैं बहुत समझ-बूझकर यह बात कह रहा हूँ। यह जो शिव यहाँ बैठा हुआ है, यह लोकपालोंके यशको नष्ट करनेवाला है। इसने सत्पथका परित्याग कर दिया है। हमारी बेटीसे ब्याह होनेपर तो यह एक तरहसे हमारा शिष्य ही हो गया है। शिष्य होनेका अभिप्राय यह है कि यह हमसे छोटा है, हम इसको सलाह दे सकते हैं, समझा सकते हैं, उपदेश दे सकते हैं। देखो, इसकी शक्ल-सूरत ! 'मर्कटलोचनः' (१२)—यह मर्कटलोचन है, वानरकी तरह इसकी आँखें हैं। यह मेरी बेटीसे ब्याह करने लायक नहीं था, लेकिन मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे इसके साथ बेटीका ब्याह कर दिया। मुझे देखकर इसे खड़ा होना चाहिए था, नमस्कार करना चाहिए था, परन्तु इसने मेरा कोई सत्कार नहीं किया। अपवित्र रहता है, कर्मभ्रष्ट है। श्मशानमें रहता है, भूतोंके साथ नाचता है। नंगा रहता है। उन्मत्तवत् विचरण करता है। चिताकी भस्म लगाता है, मुण्डमाला पहनता है, नाम है शिव, लेकिन है अशिव।

इस प्रकार दक्षने शङ्करजीकी निन्दा की और हाथमें जल लेकर शाप देते हुए कहा कि इसको यज्ञमें देवताओंके साथ कोई भाग न मिले। यह हमारे देवताओंके साथ यज्ञमें न बैठे।

इस प्रकार दक्षने शिवजीको शाप दे दिया और सभाका त्याग करके चला गया। यदि उसने केवल शङ्करजीका ही अपमान किया होता तो बात दूसरी थी। लेकिन वहाँ तो ब्रह्माजी बैठे थे, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि बैठे थे और उनका कोई अपराध नहीं था। इसलिए उसको सोच-समझकर उस सभाका बहिष्कार करना था।

इधर नन्दीश्वरने देखा कि दक्षने बिना समझे-बूझे शाप देना शुरू कर दिया। भगवान् शङ्कर तो आदि पुरुष हैं। जो उनसे द्रोह करेगा, उसको परमात्माका साक्षात्कार कभी नहीं

होगा। आकृतिका तिरस्कार करनेपर क्या होता है ? एक आकृतिसे द्वेष करनेपर उस आकृतिमें जो उपादानभूत तत्त्व हैं, उसका भी तिरस्कार हो जायेगा, इसलिए किसीसे द्वेष नहीं करना चाहिए। नन्दीश्वरको क्रोध आया, उन्होंने शाप दिया कि दक्षने हमारे स्वामीकी आँखको बानरकी आँखकी तरह बताया है तो इसका समूचा धड़ ही पशुके समान हो जाये। यह अविद्याको विद्या समझता है। जो इसके पीछे चले, उसका जन्म-मरण न छूटे। भगवान् शङ्करसे द्वेष करनेवाले कर्मभक्त हो जायें।

नन्दीश्वरने इतना ही कहकर बस नहीं किया। वे ब्राह्मणोंपर भी बरस पड़े। बोले कि जो ब्राह्मण दक्षके मतका अनुसरण करनेवाले हैं, उनमें भले ही विद्या हो, तपस्या हो, लेकिन वे यजमानके घरमें जाकर सब कुछ खाने लग जायें, पवित्रता-अपवित्रताका कोई ध्यान नहीं रखें।

इस प्रकार नन्दीश्वर जब ब्राह्मणोंको शाप देने लगे तब वहाँ उपस्थित भृगुजीको बहुत क्रोध आया। यहाँ देखो आपको एक योग बताते हैं एक आदमी गलती करे तो आप उसको माफ कर दो, तब गलती एक ही रहेगी। एकने अपराध किया और दूसरेने क्षमा किया, काम बन गया। किन्तु एकके अपराध करनेपर दूसरा भी अपराध करे, फिर तीसरा-चौथा भी अपराध करे तो अपराधकी वृद्धि हो जाती है। क्रोध-पर-क्रोध किया जाता है तो वह सारे संसारमें व्याप्त हो जाता है। किन्तु जब क्रोधको क्षमा कर दिया जाता है तो वह घट जाता है। अगर आप दुनियामें-से क्रोधको घटाना चाहते हैं तो क्षमा करनेका अभ्यास डालिये, क्रोधपर क्रोध मत कीजिये, अन्यथा वह बड़ा भारी दुःख देगा, उसका गणित बहुत लम्बा है। इसलिए जिस कामसे राग द्वेष बढ़े, वह नहीं करना चाहिए।

तो, भृगुजीने शाप देते हुए कहा कि जो शिवव्रत रक्खें, वे पाखण्डी हो जायें, जटा-अस्थि-भस्म आदि धारण करें और शौचका ध्यान न रक्खें। तुमने वेद-ब्राह्मणकी निन्दा की तो तुम पाखण्डी हो जाओ।

इस प्रकार उन लोगोंने एक-दूसरेको शापा-शापी करके बड़े भारी उपद्रवकी सृष्टि कर दी। वहाँ उपप्लव हो गया, राग-द्वेषकी वृद्धि हो गयी। भगवान् शङ्करजीको बहुत खेद हुआ और वे वहाँसे उठकर चले गये। बाकी जो देवता, ऋषि और महर्षि थे, उन्होंने बड़ा भारी यज्ञ करके अवभृथ-स्नान किया।

●

: ३ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, यह प्रसंग बीते हुए बहुत दिन हो गये। शङ्करजी अपने कैलाशमें और दक्ष अपने घरमें जाकर बैठ गये। दोनोंके मनमें एक कील गड़ गयी—एक शल्य हो गया। इसी बीच ब्रह्माने दक्षको प्रजापति बना दिया। इसको ऐसे समझ लें कि जैसे हमारे लोकसभाके सदस्य चुने जाते हैं, वे प्रजापति हुए और उनका जो अध्यक्ष चुना जाता है वह प्रजापतियोंका अधिपति हो गया।

अब दक्षको प्रजापतियोंका अध्यक्ष होते ही बड़ा भारी गर्व हो गया और वह समझने लगा कि हमारे बराबर और कौन है? गर्व बहुत दुःखदायी होता है। उसके सरीखा दुःखदायी और कोई नहीं। आत्मा और परमात्माको काट देनेवाला कोई पदार्थ संसारमें है तो अभिमान ही है।

दक्षने पहले तो वाजपेय-यज्ञ किया, पर वाजपेयसे काम नहीं बना तो उसने फिर बृहस्पति-सव नामका महायज्ञ किया। यह महायज्ञ वाजपेयसे भी बड़ा है। इसे करनेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है। जब उसने यज्ञोत्सव प्रारम्भ किया तब उसमें सम्मिलित होनेके लिए सब-के-सब देवता अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर आये। सतीजीने देखा कि आज देवता तो हमारे पिताके यज्ञमें जारहे हैं, केवल हमलोग ही नहीं जा रहे हैं। उनके मनमें वहाँ जानेकी बहुत उत्सुकता हुई। शङ्करजीने अपनी पत्नीसे यह नहीं बताया था कि तुम्हारे पिताजीसे हमारा वैमनस्य हो गया है। उन्होंने समझा कि बतानेसे सतीजीको दुःख हो जायगा। वैमनस्य दूर करनेमें वे सहायता तो कर नहीं सकतीं, उल्टे उनका दुःख और बढ़ जायगा। दुःखकी बात उसीको बतानी चाहिए,

जो उस दुःखको मिटा सकता है। जो अपना दुःख नहीं मिटा सकता, उसको यदि किसीने अपने दुःखकी बात बतायी तो वह तो दुःखी था ही, एक आदमी और दुःखी हो गया। ऐसी स्थितिमें किसीको अपना दुःख सुनानेमें क्या फायदा हुआ? रहीम कविने इस सम्बन्धमें बहुत अच्छा कहा है—

रहिमन निज मनकी व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनि इठलैहैं लोग सब बाँटि न लैहैं कोय॥
रहिमन निज उरकी बिथा कासे कहुँ निसंक।
मैं जासे उरकी कहौं सो पुनि मारे डंक॥

सतीजीने शङ्करजीसे कहा कि महाराज, आपके ससुरके घरमें बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। सब देवता वहाँ जारहे हैं। हमारी बहनें भी अपने-अपने पतियोंके साथ जा रही हैं। इसलिए चाहती हूँ कि मैं भी वस्त्राभूषण धारण करके वहाँ जाऊँ और दिखाऊँ कि हमारे घरमें भी कैसा सुख है, कैसा आनन्द है! फिर वहाँ बहनोंसे मिलूँ, मातासे मिलूँ और यज्ञका झण्डा देखूँ। मैं जानती हूँ कि आपके मनमें कोई उत्सुकता नहीं; लेकिन स्त्री होनेके कारण मेरे मनमें यह इच्छा है। इसलिए मैं अपनी जन्मभूमि देखने जा रही हूँ। जिनका सम्बन्ध नहीं वे तो मेरे माता-पिताके घर जायें और मैं उनकी पुत्री होकर भी न जाऊँ तो यह ठीक नहीं रहेगा। यदि आप कहें कि वहाँसे निमन्त्रण नहीं आया तो अपने पतिके घरमें, गुरुके घरमें, पिताके घरमें कोई उत्सव हो तो वहाँ बिना बुलाये भी जाना चाहिए। इसलिए आप मेरी इच्छा पूरी कर दें और आप भी चलें। मैं आपके साथ चलनेके लिए तैयार हूँ।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, सतीजीके ऐसा कहनेपर शङ्करजीको दक्षके दुर्व्यवहारकी वह पुरानी बात याद आगयी। बोले कि सती, यह तो ठीक है कि अपने पिताके घर बिना बुलाये जानेमें कोई हर्ज नहीं। लेकिन यदि उन्होंने जान-बूझकर अहङ्कारसे, क्रोधसे, मदसे नहीं बुलाया हो, तब तो नहीं जाना चाहिए। यदि व्यस्तताके कारण बुलाना भूल गये हों तो चले जाना चाहिए। देखो, ये जो धनी और घमण्डी लोग हैं वे समझते हैं कि हमारे बराबर कौन हैं? इसीसे उन्होंने हमको नहीं बुलाया। ऐसी स्थितिमें वहाँ जानेपर वे हमें टेढ़ी नजरसे देखेंगे और जब वे टेढ़ी नजरसे देखेंगे, दुर्भाषण करेंगे, मर्मभेदी वचन बोलेंगे तो उससे इतना दुःख होगा कि यदि हृदयमें कोई बाण लग जाये तो भी उससे उतना दुःख नहीं होता—'दुरुक्तिभिर्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः' (१९)—बाणसे उतना कष्ट नहीं होता जितना वाणीसे होता है। साँपमें उतना जहर नहीं होता, जितना सर्पिणीमें होता है। जैसे सर्पकी पत्नी सर्पिणी, वैसे ही बाणकी पत्नी वाणी!

बाण और वाणी एक ही हैं। लेकिन बाणसे भी ज्यादा चोट करती है वाणी। इसलिए तुम यदि अपने पिताके घर जाओगी तो मुझसे ब्याह होनेके कारण तुम्हारे पिता तुम्हारा आदर नहीं करेंगे। उनके मनमें तुम्हारा बहुत दुःख है, क्योंकि हमलोग जिस मस्तीको प्राप्त हैं; वह उनको प्राप्त नहीं।

देखो, एक राजाने किसी महात्मासे कहा कि महाराज, जैसे हम वैसे तुम। महात्माने कहा कि ठीक बात है, चलो थोड़ा घूम आयें। जब घूमनेके लिए निकले तब महात्माने कहा कि राजा साहब, आज जरा गङ्गोत्तरी चलनेका मन है, चलो चलें। राजाने कहा कि नहीं महाराज, हमारा राज्य है, हमने इजाजत नहीं ली है। रानीसे बात नहीं की है। महात्मा बोले कि अच्छा गङ्गोत्तरी नहीं तो बदरी-केदार ही सही, आओ-आओ चलें। क्योंकि हम-तुम तो बराबर ही हैं। अब राजा साहबने अपनी भूल समझी और उनको लौटना पड़ा।

तो, ऐसे लोग व्यर्थ ही साधु-महात्माकी बराबरी करते हैं, वे शरीर तो देखते हैं, मनको तो देखते नहीं। इसीसे इनके मनमें थोड़ा द्वेषका उदय होता है। जिस पदपर वे नहीं पहुँच सकते उसकी ओर अँगुली उठाते हैं और अंगूर खट्टे हैं कि कहावत चरितार्थ करते हैं। दक्ष-जैसे लोग स्वयं समतामें, वीतरागतामें तो प्रतिष्ठित हो नहीं सकते; किन्तु शिवजीसे द्वेष करते हैं। यह जो नमस्कार-प्रणामकी पद्धति है, यह हड्डी-मांस-चामको लेकर नहीं है। हड्डी, मांस, चामको तो देखकर थूक देते हैं। ग्लानिसे गन्दी जगहमें फेंक देते हैं और कहते हैं कि यह मुर्दा ही तो है। असलमें इसके भीतर जो परमात्मा बैठा हुआ है, उसको नमस्कार-प्रणाम किया जाता है—'प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा गुहाशयायैव न देहमानिने' (२२)—देहाभिमानीको प्रणाम नहीं किया जाता। यह जो हमारा शुद्ध कर्म है, इसीका नाम तो वासुदेव है। इसीमें भगवान् वासुदेव रहते हैं। इसलिए हम सबके हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌को देखते हैं और उसको 'नमसा विधीयते' (२३)—नमस्कार करते हैं, किसी देहाभिमानी स्त्री-पुरुषको नमस्कार नहीं करते।

शङ्करजी कहते हैं कि सती, माना दक्ष तुम्हारे पिता हैं। परन्तु तुम उनका दर्शन करनेके लिए मत जाओ; क्योंकि वे मुझसे दुश्मनी करते हैं। उनके भक्तलोग भी मुझसे दुश्मनी करते हैं। यदि मेरी बात न मानकर जाओगी तो तुम्हारा उसमें मङ्गल नहीं। क्योंकि जहाँ आदर नहीं, जहाँ स्वजनोंसे ही अपमान मिले तो वहाँ सद्यो मृत्युकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार शङ्करजीने साफ-साफ सतीजीको समझा दिया कि वहाँ मत जाओ जाओगी तो भला नहीं होगा!

: ४ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, शङ्करजी इतना कहकर चुप हो गये; लेकिन यह समझ गये कि सती स्त्री-हठपर उतर आयी हैं। हमारी बात माननेवाली नहीं हैं। देखो, मनुष्य अपने मनको प्रधानता देता है, लेकिन गुरुके मनसे, शास्त्रके मनसे, इष्टके मनसे या ईश्वरके मनसे जो हो रहा है—उसको प्रधानता देना नहीं चाहता। अपने व्यक्तित्वको ही सबसे बड़ा बनाकर रखना चाहता है। शङ्करजीने सोचा कि सती जायेगी तो वहाँ मरेगी और न जायेगी तो यहाँ मरेगी। ऐसी स्थितिमें अपने घरमें रूठकर मरें, इससे तो अच्छा है कि जाने दें बाप हीके घरमें—उन्हींसे रूठकर मरें। जब रूठकर मरना ही है तो हमसे रूठकर क्यों मरो, अपने बापसे ही रूठकर मरो। इसलिए जाओ, जो जी चाहे, करो।

इधर सतीजीका शरीर फटने लगा—आधा इधर, आधा उधर—कभी बाहर निकलें, कभी भीतर लौट जायँ। अपनी इच्छापर चोट लगनेके कारण रोने लगीं। जिस पतिकी सेवा-पूजा परमेश्वर-बुद्धिसे करनी चाहिए, उससे अपनी वासनाकी पूर्ति नहीं हुई तो 'प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः' (२)—उनको ऐसे देखने लगी, जैसे भस्म कर देगी। देखो, मनोवृत्तिमें कैसे परिवर्त्तन हो जाता हैं। आज जो सती है, वह कल क्या हो जाती है और उसका मन कैसे बदल जाता है।

अन्तमें सती बड़ी लम्बी-लम्बी साँस लेने लगीं और उनको क्रोध आने लगा। उनका सतीमान समाप्त हो गया और शङ्करजीको छोड़कर अपने मायके जानेके लिए प्रस्तुत हो गयीं। मायकेकी माया भी बहुत विलक्षण होती है। यह जितना ही टूट जाये उतना ही अच्छा है। स्त्रीका उतना ही कल्याण समझो, जितनी मायकेकी माया उसके मनसे निकल जाये। लड़की जब ससुरालमें जाती है, नये घरमें पहुँचती है, तब वहाँ उसको थोड़ी नवीनता मिलती है और उसका मन नहीं लगता। यह स्वाभाविक है। परन्तु माँ-बापको उसे अधिक प्रश्रय नहीं देना चाहिए, साफ-साफ कह देना चाहिए कि बेटी, अब तुम्हारा घर यह नहीं, वही है। अब न तो हमारी ओर देखना और न हमसे आशा रखना। ससुरालको ही अपना घर समझकर उसे अनुकूल बनानेका प्रयास करना, अन्यथा हमारे घरमें तुम्हारे लिए जगह नहीं। इस प्रकार समझा देना चाहिए, जिससे कि वह ससुरालमें बिलकुल जाकर रम जाये और मायकेकी तरफका आकर्षण बिलकुल छूट जाये।

लेकिन सतीके मनमें मायकेका जो मोह था, वह छूटा नहीं था। इसलिए शङ्करजीके समझानेपर भी नहीं मानीं और चल पड़ीं। जब सतीजी चलीं तो सेवकोंने सोचा कि हमारी मालकिनजी अकेले जा रही हैं, इसलिए वे हजारोंकी संख्यामें वृषेन्द्रको लेकर उनके पीछे-पीछे चल पड़े। उन्होंने सतीजीके जो साधन थे जैसे, तोता, मैना और कन्दुक इत्यादि, वह सब ले लिये। सतीजीका अपना शीशा था, लीला-कमल था, श्वेतातपत्र अर्थात् सफेद छाता था—पंखा था, माला थी, आभूषण थे और बाजे थे, उन सबको सेवकोंने साथ ले लिया। सतीजी बाजा बजानेमें बड़ी निपुण थीं—उनके अपने दुन्दुभि, शङ्ख, वेणु थे। ये सब लेकर सेवक लोग चले; क्योंकि वे जानते थे कि उनकी क्या रुचि है। ऐसे नहीं समझना कि पहलेकी स्त्रियाँ बाजा नहीं बजाती थीं, गाना नहीं गाती थीं, शृङ्गार नहीं करती थीं और गेंद नहीं खेलती थीं। नहीं-नहीं, सब काम करती थीं।

अब जब सतीजी वहाँ पहुँचीं तो देखा कि खूब वेद-पाठ हो रहा है। उन्होंने यज्ञ-मण्डपमें प्रवेश किया। लेकिन माता और बहनोंको छोड़कर अन्य किसीने भी इनके पास आनेकी हिम्मत नहीं की। क्योंकि सब लोग दक्षसे डरते थे। सती देखते ही सब कुछ समझ गयीं। इस सम्बन्धमें

स्त्रियोंकी बुद्धि बहुत निपुण होती है। वे आँख देखकर ही समझ जाती हैं कि यह हमको किस नजरसे देख रहा है।

सतीजीने देखा कि यहाँ शिवजीकी अवहेलना हो रही है। वे बहुत नाराज हुईं। उन्होंने न तो किसीका सत्कार ग्रहण किया और न तो आसन स्वीकार किया। दक्षने तो उनका आदर ही नहीं किया। फिर जब सतीने देखा कि उस यज्ञ-मण्डपमें किन-किन देवताओंका यज्ञ-भाग है तो वहाँ शङ्करजीका यज्ञ-भाग ही नहीं था। अब तो शिव-द्वेषीके प्रति सतीजीको बहुत क्रोध आया और वे सबको सुना-सुनाकर बोलने लगीं—'निगृह्य देवौ जगतोऽभिश्रृण्वतः' (१०)। उन्होंने बात धीरे-धीरे नहीं की, जोर-जोरसे की, जिससे कि सारी दुनिया सुन ले और जान ले कि हमारा बाप कैसा है? देवीजी बोलीं कि, मेरे पति शङ्करजी महाराजसे बढ़कर कोई नहीं है। वे सबसे बड़े हैं। उनका न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय है।

देखो, जबतक वे शङ्करजीके पास थीं, तबतक तो पिताका प्रेम जोर मार रहा था और जब पिताके पास पहुँच गयीं तब पतिका प्रेम उमड़ आया। वस्तुतः वही उनके दिलमें छिपा था। उसको प्राकट्यके लिए निमित्तकी आवश्यकता थी, सो वह उपस्थित हो गया था। सतीजी बोलीं कि, शङ्करजी तो किसीसे वैर नहीं करते, सर्वात्मा हैं, लेकिन तुमलोग उनसे वैर करते हो? यही दुष्टोंका लक्षण है कि वे दूसरोंके गुणमें भी दोष देख लेते हैं। सन्त तो वे होते हैं, जो थोड़ेसे गुणको भी बढ़ाकर बहुत कर देते हैं—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।

तुमलोग तो उनके दोषका वर्णन करते हो, जिनमें गुण ही गुण हैं। इस देहको 'मैं' समझनेवाले देहात्मवादी लोग ही महापुरुषोंकी निन्दा करते हैं। यह उनका स्वभाव है। जहाँ-जहाँ महात्माकी, महापुरुषोंकी निन्दा चलती हो, समझना चाहिए कि वहाँ दुष्ट लोग रहते हैं। वे अपने देहकी ही महिमा गाते हैं। लेकिन महात्मा लोग अपनी निन्दा करनेवालोंकी हानि नहीं करते। यह उनका स्वभाव है। वे कहते हैं—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी बिनु साबुने निर्मल करे सुभाय॥

एक महात्मासे किसीने कहा कि महाराज! अमुक आपकी निन्दा करते हैं तो वे बोले कि शरीरकी निन्दा करते हैं या आत्माकी? यदि शरीरकी निन्दा करते हैं तो हम भी करते हैं, आत्माकी निन्दा करते हैं तो हमारी आत्मा और उनकी आत्मा तो एक ही है। फिर उसमें निन्दा ही क्या हुई?

दूसरे महात्मासे किसीने कहा कि महाराज, कई लोग आपकी निन्दा करते हैं। महात्माने पूछा कि निन्दा करके क्या करते हैं ? आदमीने कहा कि खूब खुश होते हैं। महात्मा बोले कि वाह, वाह, लोगोंको खुश करनेके लिए तो खिलाया-पिलाया जाता है, कपड़ा दिया है, पैसा दिया जाता है। लेकिन लोग अगर हमारे दोष ही देखकर खुश होते हैं तो वे—'नन्वप्रयत्न सुलभोऽयमनुगृहो मे'। बिना किसी प्रयत्नके ही हमारे ऊपर कृपा करते हैं। लोग तो दूसरेको खुश करनेके लिए दान करते हैं और ये निन्दा करके खुश होते हैं तो बहुत बढ़िया बात है। इस प्रकार महात्मालोग निन्दकोंका भी नुकसान नहीं करते। तब क्या निन्दा करनेवालेकी कोई हानि नहीं होती ? बोले कि हानि तो होती है। कैसे होती है ? ऐसे होती है कि महापुरुषोंकी चरणधूलि उन लोगोंकी हानि कर देती है—

सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्। १३
यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादधमाशु हन्ति तत्।
पवित्रकीर्ति तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ १४

शिव यह दो अक्षरोंका नाम है। शिव माने ईश्वर, परमकल्याणभाजन—

शिवमस्ति अस्य इति शिवः। शेते जगत् अस्मिन् इति शिवः।

जिसमें प्रलयके समय सारा जगत्, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड सावकाश शयन करते हैं, उसका नाम है शिव। पुराणोंमें वर्णन आता है—

महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत्।
एकेन लभते मुक्तिं द्वाभ्यां शम्भुर्ऋणी भवेत्॥

एक बारके नामोच्चारणसे मुक्ति मिलती है और फिर दो बार नामका उच्चारण करनेपर तो शङ्करजी ऋणी हो जाते हैं। काशीवासी तो इस श्लोकका उच्चारण बराबर करते रहते हैं—

शिवः काशी शिवः काशी काशी काशी शिवः शिवः।
ये जपन्ति नरा भक्त्या तेषां मुक्तिर्न संशयः॥

आगे सती कहती हैं कि बड़े-बड़े ब्रह्मरसप्रार्थी, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष जिन भगवान् शङ्करके चरण-कमलोंकी आराधना करते हैं, उससे तुम लोग द्वेष करते हो ? जब वे श्मशानमें जटा बिखेर-कर क्रीड़ा करते हैं और उनके शरीरसे जब धूल, चिताकी भस्म गिरती है तब बड़े-बड़े महापुरुष, ब्रह्मादि उठाकर उसको अपनी आँखसे लगाते हैं, अपने सिरपर धारण करते हैं। इसलिए अब मैं तुम्हारे जैसे शिव-निन्दकसे उत्पन्न इस शरीरको धारण नहीं करूँगी। यदि गलतीसे अशुभ वस्तु

खा ली जाये तो वमन करके उसको शरीरमें-से निकाल देना चाहिए। तुम हमारे पतिदेव शङ्करपर आक्षेप करते हो। वे तो आत्माराम हैं, महामुनि हैं। ये जो वेद-वादके धर्म हैं, वे शङ्करजीके लिए नहीं हैं।

यहाँ देखो, देवताका धर्म दूसरा होता है और मनुष्यका धर्म दूसरा होता है। अज्ञानीके लिए धर्मका स्वरूप दूसरा है और ज्ञानीके लिए धर्मका स्वरूप दूसरा है। अज्ञानी लोग इस बातको नहीं समझते। इसलिए कभी आक्षेप नहीं करना चाहिए। वेदमें ही प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनोंका वर्णन है। हमारे शङ्करजीपर कोई विधि-निषेध प्राप्त नहीं होता।

सती कहती हैं कि दक्षजी, बताओ। तुम धर्मात्मा तो बहुत हो, लेकिन जो सिद्धियाँ शङ्करजीमें हैं, जो चमत्कार शङ्करजीमें हैं, वह तुम्हारे अन्दर हैं? अरे, तुम्हारे सम्बन्धसे तो मुझे लज्जा होती है। जो सत्पुरुषका तिरस्कार करनेवाला है, उससे मेरा जो जन्म हुआ, उस जन्मको धिक्कार है। मैं घर लौटकर जाऊँगी और वहाँ शङ्करजी जब मेरा सम्बोधन करते हुए कहेंगे कि दाक्षायणी! हे दक्षकुमारी! तब मुझे कितना दुःख होगा इसलिए अब मैं इस शरीरको नहीं रख सकती।

इतना कहकर सतीजी उत्तरकी ओर मुँह करके यज्ञ-भूमिमें एक ओर जाकर बैठ गयीं। उन्होंने तुरन्त प्राणायामके द्वारा नाभिचक्रमें प्राण-अपानको स्थिर किया, उदान वायु उठाकर भौंहोंके बीचमें ले गयीं और वायु-अग्निकी धारणा करके तत्काल अपने पतिद्देवके चरणोंका चिन्तन किया। फिर समाधिजन्य अग्निको प्रज्ज्वलित करके अपने शरीरको भस्म कर दिया। देखो, यदि कोई लौकिक अग्निसे जान-बूझकर अपनेको जलाये तो उसमें आत्महत्याका पाप लगता है। इसलिए सतीजीने लौकिक अग्निसे अपनेको नहीं जलाया, समाधिजन्य अग्निसे जलाया। यह पुण्य है और पाप-पुण्य दोनोंसे छूटनेकी पद्धति है।

अब सतीजीके जलते ही हाय-हाय मच गयो। लोग कहने लगे कि देखो, दक्षने अपनी पुत्रीका तिरस्कार किया और वह इस तिरस्कारके कारण मर गयीं। इससे दक्षको बड़ा कलङ्क लगेगा।

इधर शङ्करजीके जो गण सतीजीके साथ आये थे उनको क्रोध आगया और वे यज्ञ-भङ्ग करने लगे। लेकिन उसी समय भृगुने दक्षिणाग्निमें हवन करके ऋभु नामक देवता उत्पन्न कर दिया, जो शङ्करजीके अनुचरोंको पीटने लगे और वे सब वहाँसे भाग गये।

●

: ५ :

उधर शङ्करजी अपने ध्यानमें मग्न थे। सतीजी अपने मायके चली गयी हैं, वे यहाँ लौटें तो भी ठीक, न लौटें तो भी ठीक। संसारी लोगोंके आने न आनेसे महात्माका क्या बनता-बिगड़ता है?

किन्तु नारदजी महाराजने देखा कि यह तो बड़ा भारी अपमानका काम हुआ। देवकार्य-कर्त्ता नारद भगवान्के सङ्कल्प ही हैं। वे जो कुछ करें, उसमें कभी दोष नहीं देखना चाहिए। वे संसारमें झगड़ा भी इसलिए खड़ा करते हैं कि मनुष्य भगवान्के सम्मुख हो जाये।

नारदजीने शङ्करजीके पास जाकर सब कुछ कह दिया। शङ्करजीके मनमें पहलेसे ही यह ख्याल था कि दक्ष हमसे वैमनस्य करता है। इसीलिए उन्होंने सतीको वहाँ जानेसे रोका भी था। अब शङ्करजीने देखा कि मेरे हृदयमें पहलेसे ही यह बीज मौजूद है। इसलिए उन्होंने झट अपने सिरका एक बाल नोंचकर फेंक दिया। उसमें-से वीरभद्र प्रकट हो गया, जो काला-काला, सहस्रबाहु, त्रिनेत्र था। शङ्करजीने कहा कि तुम मेरे अंश हो, हमारे पार्षदोंके साथ दक्षके यज्ञमें चले जाओ और जरा वहाँ देख आओ कि क्या हो रहा है?

इधर वीरभद्रके आते समय उसके वेगसे उत्तर दिशामें बड़ी भारी धूलकी आँधी उठी। यज्ञ-भूमिमें चिन्ता व्याप्त हो गयी कि यह क्या हो रहा है ? स्त्रियाँ कहने लगीं कि बेटीका जो अपमान हुआ है, यह उसीका फल आरहा है। अब शङ्कर भगवान् यज्ञका नाश जरूर करेंगे। जो शङ्करजीको क्रोधित कर देगा, वह क्या अविनाशी बना रहेगा ? 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ वेदमें अविनाश होता है—'स्वस्ति इति अविनाश-नाम'—निरुक्तमें बताया है कि स्वस्ति शब्दका अर्थ है अविनाश (दु० निरुक्त ३.२१ दुर्ग-टीका)।

इसी बीचमें उत्पात और अधिक होने लगे। इतनेमें तरह-तरहके रूप धारण करके रुद्रके अनुचर वहाँ पहुँचे। किसीने प्राग्वंशको, किसीने पत्नीशालाको, किसीने अग्निशालाको, किसीने यजमानके घरको, किसीने यज्ञपात्रको, किसीने अग्निको, किसीने कुण्डको और किसीने मेखलाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कोई मुनियोंको चाँटे लगाने लगा तो कोई वहाँसे पत्नियोंको भगाने लगा। देवतालोग जान बचाकर भागे। मणिमान्ने भृगुजीको, वीरभद्रने दक्षको और चण्डीशने पूषाको बाँध लिया। फिर पत्थर ले-लेकर उनकी वह कुटाई की कि पूछिये मत ! वीरभद्रने भृगुजीकी दाढ़ी पकड़कर खींच ली, क्योंकि वे दाढ़ी दिखा-दिखाकर कहते थे कि हमारी दाढ़ी बहुत बड़ी है। वीरभद्रने उनकी दाढ़ी-मूँछ दोनों उखाड़ लीं। भग अपनी आँख टेढ़ी किया करते थे, इसलिए उनकी आँख निकाल ली। पूषा दाँत दिखाया करते थे, इसलिए उनके दाँत ही तोड़ दिये। वीरभद्रने दक्षका सिर तलवारसे काट दिया, पर वह धड़से निकला नहीं। बहुत आश्चर्य हुआ ! तब वीरभद्रने गला ऐंठकर दक्षके सिरको धड़से अलग किया। ब्राह्मणोंको बड़ा दुःख हुआ किन्तु शिवगणोंको बड़ा सुख हुआ। वीरभद्रने कहा कि दक्षके यज्ञको तो पूरा करना ही चाहिए। इसलिए उसने दक्षिणाग्निमें उसके सिरको डाल दिया। इस तरह यज्ञ ध्वस्त हो गया और वीरभद्र आदि कैलाश लौट आये। महिम्नस्तोत्रमें आया है—

क्रतौ सुप्ते जागृत् त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। २०

जो यज्ञफल देता है, उसीके द्वारा यज्ञका ध्वंस हुआ। यदि कर्त्ताके हृदयमें श्रद्धा न हो तो यज्ञ भी मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरणके हेतु बन जाते हैं। दक्षके यज्ञसे इसलिए मारण हो गया कि यज्ञाराध्य शिवजीके प्रति उसकी श्रद्धा नहीं थी। इसलिए अश्रद्धाका जो फल होता है, वह उसको मिला।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् दोनों ही दक्षके यज्ञमें नहीं आये थे। क्योंकि वे बहुत चतुर हैं। देखो, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि चाहे जिस सभाका बुलावा आनेपर उसमें नहीं चले जाना चाहिए। यह सोच-समझकर जाना चाहिए कि वहाँ क्या होनेवाला है? यदि सभामें दंगा होनेवाला है तो वहाँ नहीं जाना चाहिए—

न वा सभा प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वाऽसमञ्जसम्।

अब देवतालोग ब्रह्माजीके पास गये और सारा हाल सुनाया। ब्रह्माजीने कहा—देखो देवताओ, तेजीयान् भगवान् शङ्करके प्रति दक्षने बड़ा भारी अपराध किया है। जो तेजस्वीका अपराध करता है, उसको सुफलकी प्राप्ति नहीं होती। तुमलोग अपराधी हो, क्योंकि शङ्करजीका भाग यज्ञमें न रखना, यह तो बड़ा भारी अपराध है। अब चलो, शङ्करजीको प्रसन्न करें। उनके नाराज होनेपर तो सम्पूर्ण विश्वका नाश हो सकता है। हम उनके बल-वीर्यको नहीं जानते।

इसके बाद देवता, ऋषि और पितर आदि ब्रह्माजीके साथ कैलाश गये। कैलाशका जो शृङ्ग है, उसकी परछाईं-प्रतिच्छाया मानसरोवरपर पड़ती है। इसीसे उसको बोलते हैं केलास—'के जले लासो नृत्यं यस्य'। जो पानीमें नाचता रहता है उसका नाम है केलास। 'केलास एव कैलास उच्यते'—केलासको ही कैलास कहते हैं। विष्णु भगवान् जाकर जलमें रहने लगते हैं और शिव भगवान् जहाँ रहते हैं, उसका आभास जलमें पड़ता है। 'शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' (माण्डूक्य उप० ७)—यह साक्षात् तुरीय तत्त्व है। उसकी प्रतिच्छवि, परछाईं मानस-सरोवरमें, हृदयके सरोवरमें पड़ती है। कैलासमें बड़े-बड़े भोगसिद्ध और देवतालोग अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ विहार करते हैं। वहाँ सुन्दर-सुन्दर पक्षी, सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी जातियाँ, सुन्दर-सुन्दर पुष्प-लताएँ और मृग, वानर, वराहादिकी जातियाँ रहती हैं। उन सबको देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अलका नामकी सुरम्य पुरीके दर्शन किये, जिनके बाहर नन्दा और अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ हैं। उन सबको देखकर देवताओंने वहाँ प्रवेश किया। देखा कि वहाँ कल्पवृक्षका तो वन है और पुण्य स्त्रियाँ उसमें विहार करती हैं। पासमें एक बहुत ऊँचा वटवृक्ष है, जिसके नीचे भगवान् शङ्कर बैठे हुए हैं और सनन्दन आदि बड़े-बड़े सिद्ध तथा कुबेर आदि उनकी उपासना कर रहे हैं। शङ्करजी भस्म, दण्ड, जटा, अजिन, धारण किये कुशासनपर विराजमान हैं और नारदजीसे ब्रह्मज्ञानकी चर्चा कर रहे हैं। सतीजी मर गयीं और उनके गण दक्षके यज्ञका इतना बड़ा विध्वंस कर आये, परन्तु वे मौजसे बैठकर अध्यस्त-अधिष्ठानका विचार करते हुए कह रहे हैं कि यह अध्यस्त सृष्टि अधिष्ठानसे किञ्चित् भी विलक्षण नहीं। कोई भी वस्तु अपने प्रत्यक् चैतन्यसे भिन्न होगी तो वह जड़ ही होगी। जो जगत्का

अधिष्ठान है, वह प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न है। इस प्रकार वहाँ शङ्करजीके द्वारा ब्रह्मज्ञानका उपदेश हो रहा है। उनके सामने सृष्टिकी सत्ता ही नहीं है। वे तर्कमुद्रासे बैठे हुए हैं।

शङ्करजीको देखकर मुनियोंने प्रणाम किया। शङ्करजीने देखा कि उनके साथ ब्रह्माजी आये हैं। झट उठकर खड़े हो गये। उनको सिर झुकाकर प्रणाम किया। देखो, वेदान्तका अर्थ यह नहीं होता कि बड़ोंको बड़ा न माना जाये। तत्त्व-दृष्टि व्यवहार-बाधक नहीं, व्यवहार-निर्वाहक है क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

ब्रह्माजीने शङ्करजीसे कहा कि मैं यह बात जानता हूँ कि तुम्हीं विश्वके स्वामी हो और अखण्ड ब्रह्म तुम्हीं हो। जिस ब्रह्मका तुम उपदेश कर रहे हो, वह उपदेश्य है, अन्वेष्टव्य है, प्रमेय है। उसके विज्ञानके पूर्व प्रमेय पृथक् होता है और प्रमाता पृथक् होता है।

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः। अन्विष्टः स्यात्परात्मैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥

(शारीरक भाष्य १.१.४)

जबतक हम ब्रह्मको नहीं जानते, तबतक हम जानना चाहते हैं या जाननेवाले हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। जब जाननेकी चीज मालूम पड़ जाती है तब यही मालूम पड़ता है कि अरे, हम ही वह चीज हैं, जिसको हम जानना चाहते थे। अतः शङ्करजी, वह तुम ही हो, जिसका तुम उपदेश कर रहे हो। तुम्हींने वेदमार्गकी स्थापना की है। तुम्हींसे लोगोंको अपने-अपने कर्मका फल मिलता है। दुष्टोंको नरकमें और शिष्टोंको स्वर्गमें तुम्हीं भेजते हो। तुममें कुछ बदलता नहीं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उनके हृदयमें क्रोध नहीं आता। भला, तुम्हारे पास क्रोध फटक ही कैसे सकता है? इन दुष्टोंपर भी क्रोध करनेकी जरूरत नहीं। इनके अपराधको देखकर भी आप-सरीखे साधु इनपर दया ही करते हैं—

कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम्॥ ४८

कर्मके अन्दर बँधे हुए लोग कभी अपराध कर देते हैं तो स्वामी लोग उनपर कृपा ही करते हैं। इन कर्मासक्त लोगोंपर तो कृपा ही करनी चाहिए। अब जो यज्ञ बन्द हो गया है, उसका उद्धार कर दो। तुम्हें यज्ञमें भाग तो मिलना ही चाहिए था। इन लोगोंने, जो यज्ञका फल देनेवाला है, उसको ही भाग नहीं दिया, बड़ा भारी अपराध किया। अब ऐसी कृपा करो कि यजमान दक्ष जीवित हो जायें, भगजीकी फूटी आँखें उनको मिल जायें, भृगुजीकी उखड़ी दाढ़ी-मूँछें फिर उग आयें और पूषाके टूटे हुए दाँत फिर निकल आयें और भी जिन-जिन देवताओंके अंग टूट-फूट गये हैं, वे सब-के-सब जुड़ जायें। यज्ञमें जो कुछ शेष है, वह सब तुम्हारा ही भाग है।

: ७ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, इस प्रकार ब्रह्माजीके मनानेपर शङ्करजी मान गये। वे बड़े बूढ़े हैं। उनका स्वभाव ऐसा नहीं कि एक बार रूठ गये तो रूठ गये। बुद्धिमान् मनुष्य जिद्दी नहीं होता। नेतागीरीके लिए तो यह जिद होना जरूरी हो सकता है कि हमने जो कहा, वही वेद-वचन है, ब्रह्मवाक्य है। आजकलके नेता बोलते हैं कुछ और करते हैं कुछ। लेकिन साधु पुरुषकी तो बात ही और है। जब जीभ ही उनकी अपनी नहीं, बोला हुआ वचन ही अपना नहीं, मन ही अपना नहीं और उसमें सोची हुई बात ही अपनी नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें यह सब प्रतीतिमात्र है, तब उनको जिद करनेकी क्या जरूरत है? 'बुद्धेः फलम् अनाग्रहः'—बुद्धिमत्ताका फल यह है कि मनुष्यको आग्रही नहीं होना चाहिए। आग्रह ही दुःख देता है।

जब ब्रह्माजीके द्वारा शङ्करजीके लिए यज्ञावशिष्ट भाग घोषित हो गया तब शङ्करजी हँसने लगे और बोले कि सुनिये, ब्रह्माजी संसारके लाग तो मायासे अभिभूत हैं—बेचारे मायाके दबावमें हैं। इनके अपराधको न मैं सोचता हूँ और न वर्णन करता हूँ। मैंने तो इनको सावधान करनेके लिए थोड़ा-सा दण्ड दिया है। अब आपकी जैसी इच्छा है, मैं वैसा ही कर देता हूँ। दक्षका अपना सिर तो यज्ञाग्निमें जल गया, दक्षिणाग्निमें जिस सिरका हवन होना चाहिए था वह सिर तो रह गया और जिसका नहीं होना चाहिए था उसका हो गया। अब जो बचा हुआ बकरेका सिर है, वह इसके सिरपर जुड़ जाये।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि शङ्करजीने दक्षको बकरेका सिर क्यों दिया? इसलिए दिया कि वह 'मैं-मैं-मैं' बोलता रहता था, कहता रहता था कि यह मेरा है, वह मेरा है, यह मैं हूँ, वह मैं हूँ। इस प्रकार जो मे-मे माने मैं-मैं करनेवाला है, मेरा-मेरा करनेवाला है, वह तो बकरेकी ही बोली बोलता है। इसलिए मुँह भी बकरेका ही होना चाहिए।

भगकी फूटी आँखोंके बारेमें शङ्करजीने कहा कि शक्ल-सूरत तो इनकी ऐसी ही रहे, देखनेमें ऐसे ही लगें कि बिना आँखके हैं, लेकिन ये सूर्यकी रोशनीमें देख सकेंगे। इनको आधिदैवक दृष्टिसे ही सब कुछ दिखायी देगा, आधिभौतिक दृष्टिकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

पूषाके टूटे हुए दाँतोंके सम्बन्धमें भगवान् शङ्करजीने कहा कि ये यजमानके दाँतसे खायेंगे। जब यजमान अपने मुँहमें लेकर खाद्य-पदार्थको पीस देगा, तब वही खायेंगे।

यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक्। ४

इसके बाद जिन-जिनके अङ्ग-भङ्ग हो चुके थे, उनको अश्विनीकुमारने जोड़ दिया। समस्या रह गयी भृगुजीकी उखड़ी हुई दाढ़ीकी। वह कैसे जुड़े? भगवान् शङ्करने सोचा कि ये सब ससुरालके ही तो हैं, रिश्तेमें साले ही लगते होंगे। इसलिए इनके साथ कुछ-न-कुछ मजाक करना चाहिए। कैसा मजाक करें? बोले कि भृगुजीकी ठोड़ीमें बकरेकी दाढ़ी लगा दो। उनमें कोई बाल बड़ा और कोई छोटा रहेगा। ये अपनी दाढ़ी हिला-हिलाकर गाली दिया करते थे। अब इनको बकरेकी दाढ़ी लग जायेगी तो मजा आजायगा।

इस प्रकार भगवान् शङ्करकी बातोंमें स्पष्ट उपहास प्रकट होता है। सब लोग कहने लगे कि हाँ महाराज, आपकी आज्ञा सिर-आँखोंपर। इसके सिवाय उनके सामने कोई चारा भी नहीं था।

इसके बाद सब देवता और ऋषि आदि शङ्करजीको साथ लेकर यज्ञ-स्थानमें आये। वहाँ शङ्करजीने—जमाई बाबूने जैसा कहा, वैसा किया गया। बकरेका सिर दक्षके शरीरपर जोड़ दिया गया। वह शङ्करजीकी दृष्टि पड़ते ही जाग गया, उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया। उसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। निष्कपट भावसे शङ्करजीकी स्तुति करने लगा—भगवन्! आपने मुझे दण्ड नहीं दिया, मुझपर अनुग्रह किया है। जिस अभिमानके कारण मैं दुःखी हो रहा था, अपराध कर रहा था, उस अभिमानको ही आपने तोड़ दिया। आपने ही तो ब्रह्मा होकर ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है। आपके मुखसे ही इनकी सृष्टि हुई है। आप ही सम्पूर्ण विपत्तियोंमें हमारी रक्षा करते हैं। मैंने अज्ञानवश भरी सभामें आपपर बहुत आक्षेप किया था। उसका विस्मरण करके आपने मेरी रक्षा की।

इस प्रकार स्तुति करके दक्षने फिर अपना यज्ञ-कर्म प्रारम्भ किया। वीरभद्रके संसर्गसे यज्ञको जो अशुद्धि हुई थी, उसके निवारणके लिए वहाँ वैष्णव त्रिकपाल पुरोडाशका निर्वचन किया गया। यजमानके ध्यान करनेपर साक्षात् भगवान् श्रीहरि गरुड़पर सवार होकर प्रकट हुए—

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः।
कम्बब्जचक्रशरचापगदासिचर्मव्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः॥ २०

विष्णु भगवान्का श्यामवर्ण है और वे पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके वक्षःस्थलपर लक्ष्मी हैं। उनकी कान्तिके सामने किसीकी कान्ति काम नहीं देती थी। सबकी बोली बन्द हो गयी, सब डर गये, सबने उनको प्रणाम किया। दक्षने उनकी बड़ी भारी पूजा की और कहा कि आप चिन्मात्र अभय ब्रह्म हैं, आपमें मायाका लेश भी नहीं है। देखो, जो लोग ब्रह्मसे अलग रहकर ब्रह्मको देखनेकी कोशिश करते हैं, उनके और ब्रह्मके बीचमें माया रहती है। किन्तु जो लोग ब्रह्मसे एक हो जाते हैं, उनके लिए माया हमेशाके लिए कट जाती है। दक्षने कहा कि भगवन्, आप तो बिलकुल विशुद्ध वस्तु हैं और मायाके कारण अपरिशुद्धके समान मालूम पड़ते हैं।

ऋत्विजोंने प्रार्थना की कि महाराज! हम तो बहुत दुराग्रही हैं। रुद्रके शापसे यह यज्ञ-कर्म बिगड़ गया था। लेकिन आपने फिरसे इसकी रक्षा कर दी। हम आपको नमस्कार करते हैं।

सदस्योंने कहा कि प्रभो! हम जन्म और मरणके इस घोर जंगलमें भटक रहे हैं। इसमें बड़े-बड़े अजगर हैं। इसमें विषयकी मृगतृष्णा फैली हुई है। द्वन्द्वके गड्ढे हैं। हम आपके चरणोंमें आये हैं। आप हमारी रक्षा करें।

रुद्रने भी विष्णु भगवान्की स्तुति करते हुए कहा कि प्रभो, मैं तो अपना मन आपके अन्दर लगाकर उसीमें डूबा रहता हूँ। किन्तु लोग कहते हैं कि यह तो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया है, श्मशानकी धूलि लगाता है, मुण्डमाला पहनता है। हमको तो आपके सिवाय दूसरा कोई ख्याल ही नहीं रहता। अब आप बताइये कि हम क्या करें? इसमें हमारा क्या दोष है?

यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण। २९

लेकिन कोई कुछ भी कहे—'तेरे भावे जो करे, भलो-बुरो संसार'। लोगोंकी अपनी-अपनी जीभ है, वे चाहे जो बोलें। उन बोलनेवालोंके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। मेरी बुद्धि तो आपमें लगी हुई है, यह आपका अनुग्रह है।

भृगुने भी स्तुति करते हुए कहा कि भगवन्, आपकी माया बहुत गहन है। उससे ब्रह्माजी भी मोहित हो जाते हैं। फिर हम मोहित हो जायें तो क्या आश्चर्य है?

ब्रह्माने भी यह स्तुति की कि महाराज, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके रूपमें आपका जो स्वरूप दीख रहा है, वह आपका असली स्वरूप नहीं है। ज्ञान, अर्थ, गुण सबके आश्रय आप ही हैं; क्योंकि आप मायामय रूपसे बिलकुल परे हैं।

इन्द्रने कहा कि महाराज, हमको तो आपका यह रूप ही बहुत अच्छा लगता है। पत्नियोंने कहा कि प्रभो, आपने इस यज्ञकी रक्षा कर दी, बहुत बढ़िया किया। आपकी आराधनाके लिए ही तो यज्ञ है। यह नष्ट हो गया था। आपने इसको उज्जीवित करके बड़ा अनुग्रह किया।

ऋषियोंने कहा कि प्रभो, आपके चरित्रका कुछ पता नहीं चलता। माया स्वयं आपके पास आती है। लेकिन आप उसका आदर नहीं करते हैं।

सिद्धोंने कहा कि भगवन्, आपकी लीला-चरित्रकी उज्ज्वल सुधा-सरितामें हमारा मनोमय-रूप हाथी सदा डूबता-उतराता रहता है। अब तो भवाग्निका दाह समाप्त हो गया है और वह आनन्द-सिन्धुमें डूबा हुआ है। यमजान पत्नीने कहा कि हे श्रीनिवास! आपका स्वागत है, आपको नमस्कार है, आप हमारी रक्षा कीजिये। लोकपालोंने कहा कि आप तो हमेशा देखे हुए ही हैं, क्योंकि प्रत्यग्द्रष्टाके रूपमें, आपसे ही सारा दृश्य दिखायी पड़ता है। पर मायाके कारण आप सबसे अलग मालूम पड़ते हैं। योगेश्वरोंने कहा कि जो आपको अपनेसे पृथक् नहीं देखता, वही आपका सबसे अधिक प्यारा है। फिर भी भक्तिसे अलग मानकर भी जो आपकी आराधना करते हैं उनपर अनुग्रह कीजिये। आप भक्तवत्सल हैं महाराज!

ब्रह्माजीने कहा कि भक्ति और धर्मके फलदाता आप ही हैं। देखो, यहाँ दो बार 'ब्रह्मोवाच'का प्रयोग है। पहलेवाले 'ब्रह्मोवाच'का अर्थ है ब्रह्माका वचन, किन्तु दूसरी बारके 'ब्रह्मोवाच'का अर्थ है ब्राह्मणका, ब्रह्मचारीका वचन। अग्निने प्रार्थना की कि आपके तेजसे ही समिद्ध होकर मैं हविष्य ग्रहण करता हूँ। आपको मेरा नमस्कार है। देवताओंने कहा कि महाराज, पहले जब यह सृष्टि नहीं थी, प्रलय हो गया था, उस समय आप ही शेषशय्यापर शयन करके सबको अपने हृदयमें लिये हुए थे। आज आप हमारी आँखोंके सामने विचरण कर रहे हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं। गन्धर्वोंने भी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा कि यह जो ब्रह्माण्ड है, यह तो आपका खिलौना है। हम आपको नमस्कार करते हैं। विद्याधरोंने कहा कि जो लोग देह और देहके सम्बन्धियोंमें 'मैं-मेरा' करते रहते हैं, उनको बहुत दुःख होता है। बारम्बार दुःख होता है, फिर भी वे उसीमें पड़े रहते हैं। उनपर यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'सौ-सौ धक्के खायें तमाशा घुसकर देखें'। परन्तु जो आपके कथामृतका सेवन करता है, वह इस 'मैं-मेरा'की मायासे तर जाता है।

अब देखो ब्राह्मणोंकी स्तुति! ब्राह्मणोंका ज्ञान क्या है? उसका वर्णन गीता ४.२४ में है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं, ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

जो सबमें सर्वत्र ब्रह्मको जाने, वह ब्राह्मण। ब्राह्मणकी पहचान ही यह है कि वह ब्रह्मको जानता है। इसीलिए यहाँ ब्राह्मण देवता बोलते हैं कि हम आपको पहचानते हैं—

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः॥ ४५

यज्ञमें जितनी वस्तुएँ होती हैं, वह सब आप हैं। क्रतु आप हैं, हविष्य आप हैं अग्नि आप हैं, मन्त्र आप हैं, समिद्‌भंपात्र आप हैं, सब कुछ आप ही हैं। आपने ही इस पृथिवीका उद्धार किया है। आप हमपर प्रसन्न होइये।

मैत्रेयजी कहते हैं कि इस प्रकार जब सब लोगोंने स्तुति की तब भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने दक्षसे कहा कि देखो दक्ष, तुम एक बात ध्यानमें ले लो। मैं, ब्रह्मा और शङ्कर ये तीनों नामतः तीन हैं, लेकिन जगत्‌के कारण व रूपमें एक ही हैं। असलमें एक ही वस्तु ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है। वस्तु एक है, रूप तीन हैं। तीनोंके रूपमें एक ही आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं प्रकाश निर्विशेष है। ये मायाके कारण केवल तीन प्रकारकी संज्ञा धारण कर लेते हैं। इसलिए जो ब्रह्मा, शङ्कर और विष्णुको अलग-अलग देखता है वह 'भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति' (५२)—अज्ञानी है, भेद-दृष्टि करता है। जैसे मनुष्यके शरीरमें हाथ हैं, पाँव हैं; परन्तु वह अपने हाथ-पाँवको किसी दूसरेका हाथ-पाँव नहीं समझता; इसी प्रकार परमात्माको पहचाननेवाला प्राणी सृष्टिमें किसी भी वस्तुको परायी नहीं समझता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो एक भाव है, यहाँ तक कि सर्वभूतात्मा भी एक भाव है। जो कहीं भी भेद नहीं देखता, उसीको शान्तिकी प्राप्ति होती है।

इसके बाद भगवान्‌के आदेशपर दक्षने अपने यज्ञको पूरा किया और रुद्रका जो भाग था, वह उनको दिया। फिर देवताओंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'धर्मे मतिरस्तु' (५७)—सबकी बुद्धि धर्ममें हो !

देखो, धर्मका अर्थ जब मजहब या फिरका करते हैं, तब उसका अर्थ छोटा मालूम पड़ता है। धर्म बड़ा व्यापक है। अग्निमें भी धर्म है, वायुमें भी धर्म है, पृथिवीमें भी धर्म है। अपनी-अपनी विशेषता धारण किये बिना कोई वस्तु जिन्दा रह ही नहीं सकती। उसके बिना नास्तिक भी जिन्दा नहीं रह सकता। नास्तिकके यहाँ भी रुपये-पैसों, जमीन-जायदाद और बहू-बेटियों आदिके अपने नियम होते हैं। नियम अथवा मर्यादाके बिना यह सृष्टि नहीं रह सकती और जबतक इस सृष्टिमें नियम-मर्यादा है, तबतक एक नास्तिक भी बिना धर्मके नहीं रह सकता। इसलिए सबकी मति धर्ममें लगे।

यह कहकर देवता लोग चले गये। उधर सती हिमाचलकी पुत्री पार्वतीके रूपमें प्रकट हुईं और फिर उन्होंने भगवान् शङ्करके साथ विवाह किया। यह सात अध्यायोंका धर्मोपाख्यान है, यह परम पवित्र है।

इसमें यह बात बतायी गयी कि भगवान्‌का आश्रय छोड़ देनेपर धर्म सफल नहीं हो सकता। जहाँ विष्णु हैं, शिव हैं, वेद हैं, विधान हैं, वहाँ धर्म सफल होता है।

: ८ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, ब्रह्माके पुत्र सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति ये सब-के-सब बड़े-बड़े निवृत्ति-परायण हैं; बड़े-बड़े ब्रह्मचारी हैं; परन्तु अब जरा अधर्मके वंशकी बात सुनो। अधर्म भी ब्रह्माजीके शरीरमें होता है। ब्रह्माजीके स्तनसे धर्मकी उत्पत्ति हुई और पृष्ठभागसे अधर्म पैदा हुआ। सब एकमें ही हैं। इसीसे परमात्माको पहचाननेके लिए धर्म और अधर्मको अलग-अलग पहचानना पड़ता है। परन्तु जब परमात्मा मिल जाता है, तब सब परमात्माका ही स्वरूप हो जाता है।

एक बार वृन्दावनमें किसी महात्माने हमको सुनाया था कि श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज एकादशीके दिन श्रीरङ्ग भगवान्‌के शरीरका स्पर्श करते हुए उनकी स्तुति करते जा रहे थे—

नमो नमो वाङ्मनसैकभूतये नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये। नमो नमोऽनन्तगुणैकसम्भवे—

इतनेमें उनका हाथ श्रीरङ्ग भगवान्‌जीके पीठपर लग गया। उसमें व्रण निकल आया था। आचार्यजीने सोचा कि श्रीरङ्ग भगवान्‌के दिव्य श्रीविग्रहमें यह फोड़ा कहाँसे आगया? उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे और उन्होंने पूछा कि महाराज, यह क्या हुआ? श्रीरङ्ग भगवान् बोले कि रामानुज दूसरोंका खण्डन करनेके लिए तुम्हारे छोड़े हुए जो वाग्बाण हैं, वही हमारी पीठमें लगे हैं और उन्हींसे घाव हो गया है। आचार्यजीने कहा कि महाराज, ख डन तो हम अधर्मियोंका करते हैं। भगवान् बोले कि सो तो ठीक है, पर वह अधर्म भी तो हमारी पीठमें रहता है। जैसे ऐश्वर्य, वैराग्य, ज्ञान, धर्म ये सब हमारे सामनेकी ओर रहते हैं, वैसे ही हमारी पीठकी ओर अनैश्वर्य, अवैराग्य, अधर्म और अज्ञान, ये चारों भी रहते हैं। अब तो श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज जोर-जोरसे रोने लगे। भगवान् बोले कि देखो, अब तुम किसीका खण्डन-मण्डन मत करो, सीधे-सीधे हमारा भजन करो। हमारे भजनमें अपना मन लगाओ। तुम जो भी काट-कूट करोगे उसका प्रभाव हमपर ही पड़ेगा, दूसरोंपर नहीं पड़ेगा।

अधर्मकी पत्नीका नाम है मृषा। मृषा माने झूठ। जहाँ अधर्म होगा, वहाँ झूठ जरूर होगा। पति-पत्नी दोनों साथ ही रहते हैं। इनकी दो सन्तानें हैं—एक दम्भ दूसरी माया। ये दोनों आपसमें भाई-बहन भी हैं और पति-पत्नी भी हैं। उनको निर्ऋतिने गोद ले लिया तो उनसे लोभ और कृपणताकी उत्पत्ति हुई। उनसे क्रोध और हिंसाका जन्म हुआ। जब क्रोध और हिंसा दोनोंका आपसमें विवाह हुआ तो उनसे दुरुक्ति और कलि निकले। दुरुक्ति माने गाली-गलीज और कलि माने—कलह। इनका आपसमें ब्याह हुआ तो इनसे भय और मृत्युका जन्म हुआ। भय और मृत्युसे यातना और नरककी उत्पत्ति हुई। यही अधर्मकी वंशावलि है। इसको अपने जीवनमें आने नहीं देना चाहिए।

अब हम फिरसे स्वायम्भुव मनुकी कथाकी ओर चलते हैं। स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र थे—एक प्रियव्रत और दूसरा उत्तानपाद। ये दोनों भगवान्‌की कलासे ही उत्पन्न हुए थे। उत्तानपाद उसे कहते हैं जिसके पाँव ऊपरकी ओर ही जायें, नीचेकी ओर न जायें। उसके पाँव बहुत फैले हुए थे—का अर्थ है कि उसका बड़ा भारी राज्य था। उत्तानपादकी ही दो पत्नियाँ थीं। एकका नाम था सुनीति और दूसरीका नाम था सुरुचि।

यहाँ देखिये, आप अपनी रुचिके अनुसार काम करते हैं या सुनीतिके अनुसार? सुनीतिके अनुसार काम करेंगे तो ध्रुवके समान अविनाशी पुत्र होगा और सुरुचिके अनुसार काम करेंगे तो एक उत्तम पुत्र होगा, उससे थोड़े दिनोंतक तो सुख मिलेगा, लेकिन वह मर जायेगा।

एक दिनकी बात है, सुरुचिका बेटा उत्तम राजा उत्तानपादकी गोदमें चढ़ा हुआ था। इसी बीच वहाँ आगया सुनीतिका बेटा ध्रुव। लेकिन राजाने उसको अपनी गोदमें नहीं लिया। इसलिए कि वे अपनी छोटी रानीसे बहुत डरा करते थे। 'वृद्धस्य तरुणी विषम्'—बूढ़े पुरुषकी पत्नी अगर तरुणी हो तो उसको जहर समझना। क्योंकि वह जो कानमें मन्त्र पढ़ देती है, इशारा कर देती है—वही उस वृद्धको करना पड़ता है।

जब राजाने बड़ी महारानी सुनीतिके पुत्र ध्रुवको अपनी गोदमें नहीं लिया तब सुरुचि समझ गयी कि ये तो हमसे बिलकुल डरे हुए हैं। इसलिए वह अत्यन्त घमण्डमें भरकर, अभिमानमें आकर ध्रुवको डाँटने लगी। बेचारा बच्चा नासमझ, उसको डाँटनेका कोई मतलब नहीं था। परन्तु अपना अभिमान-अधिकार दिखानेके लिए सुरुचि डाँटने लगी कि देखो, राजाकी गोदमें चढ़नेका नाम न लेना, क्योंकि तुमको मैंने अपने पेटमें धारण नहीं किया। जिसको मैंने अपने पेटमें नहीं लिया, उसको राजा अपनी गोदमें कैसे ले सकता है? पति-पत्नी एक ही होते हैं। तुम बच्चे हो, नहीं जानते कि तुम दूसरी स्त्रीकी कोखसे पैदा हुए हो। जाओ, जाओ, तपस्यासे भगवान्‌की आराधना करो और उनके अनुग्रहसे पहले हमारे गर्भमें आकर पैदा हो जाओ। तभी तुम राजाकी गोदमें बैठ सकते हो।

देखो, सुरुचि क्या कहती है? भगवान्‌की आराधना करके पहले मरो, फिर हमारे पेटसे पैदा होओ, उसके बाद तुमको यह राज्यसिंहासन मिलेगा। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌की आराधना छोटी चीज है और उसके पेटमें आना बड़ी चीज है। लेकिन उसकी मनचाही नहीं हुई। भगवान्‌की आराधनाका तिरस्कार करनेके कारण उसका बेटा पहले मर गया और उसको भी आग लग जानेके कारण जंगलमें मर जाना पड़ा। जब आदमी अभिमानमें होता है, तब वह अपनेको भगवान्‌से भी बड़ा समझने लगता है—'दृप्तो दृप्यति, दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति'—जब मनुष्यको दुनियाकी कोई वस्तु पाकर घमण्ड हो जाता है, मद हो जाता है; तब वह धर्मका उल्लङ्घन करने लगता है और यह समझने लगता है कि हमारा कोई क्या करेगा? सुरुचि बोलती है कि यदि भगवान् भी तुमको यह सिंहासन देना चाहेंगे तो हमारे पेटसे पैदा होनेके बाद ही दे सकेंगे, पहले नहीं दे सकते।

ध्रुवको अत्यन्त दुःख हुआ, अपनी सौतेली माताकी बात सुनकर। उसकी समझमें तो ज्यादा आता नहीं था, फिर भी लम्बी-लम्बी साँस चलने लगी और आवाज निकलना बन्द हो गया। वे माताके पास गये तो उनके होंठ फड़क रहे थे। मैय्याको दूसरे लोगोंने बताया कि तुम्हारे बेटेसे सुरुचिने ऐसा-ऐसा कहा है। सुनकर वह भी रोने लगी बेचारी। सौतकी बात दिलमें धँस गयी। फिर भी उसने धैर्य धारण करके कहा—बेटा, मैं सचमुच अभागिन हूँ कि तुम मेरे पेटसे

पैदा हुए हो । सुरुचि सौत है तो क्या हुआ, उसने सच्ची बात ही कही है । इसलिए तुम भगवान्‌के चरणारविन्दकी आराधना करो । तभी तुम्हें सिंहासन और राजाकी गोद मिलेगी । भगवान्‌की आराधना करनेसे ही ब्रह्माको पारमेष्ठ्य पदकी प्राप्ति हो गयी है । तुम्हारे पितामह मनुको भी कितना बड़ा साम्राज्य प्राप्त हुआ है । इसलिए तुम भी जाओ और उनकी आराधना करो । भगवान्‌के सिवाय इस दुःखको काटनेवाला और कोई नहीं । देखो, माता हो तो ऐसी हो कि जो अपने बेटेको भगवान्‌की आराधनाकी शिक्षा दें ।

ध्रुवजी माताकी बात सुनकर घरसे निकल पड़े । मैंने एक जगह पढ़ा था कि ध्रुवको छह महीनेमें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी । इसपर ऋषि लोग भगवान्‌से नाराज हो गये । बोले कि हमको तो लाख-लाख, दस-दस लाख वर्ष तपस्या करते हो गये और भगवान् हमारे पास नहीं आये, लेकिन इस बच्चेके सामने छह महीनेमें ही आगये । बहुत ही पक्षपाती हैं भगवान् । बन्द करो भजन । छोड़ दो माला । उनका नाम लेनेकी कोई जरूरत नहीं !

इसके बाद ऋषि लोग सोचने लगे कि अब करें तो क्या करें ? बोले कि चलो समुद्रकी खोजमें चलें । इतनेमें एक महात्मा बड़ी भारी नाव लेकर आगये । ऋषिलोग नावपर चढ़कर समुद्रमें घूमनेके लिए निकले तो कहीं बड़े-बड़े और कहीं छोटे-छोटे सफेद पहाड़ दिखायी पड़े । ऋषियोंने पूछा कि ये क्या चीज है भाई ? ऐसे सफेद-सफेद पहाड़ तो हमलोगोंने कभी देखे नहीं । नाविक महात्माने कहा कि ऋषियो, ध्रुवने अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें जो तपस्या की है उसी हड्डियोंके ये पहाड़ बने हुए हैं । तुमलोगोंने तो अभी इसी जन्ममें थोड़ी-थोड़ी तपस्या की है । यह सुनकर ऋषियोंने विचार किया कि अरे यह कौन महात्मा है, जो नाविक बनकर हमें ऐसी बात बता रहा है ? जब वे गौरसे देखने लगे तो मालूम पड़ा कि वह नाव चलानेवाला साधारण नाविक नहीं, अपितु वही भगवान् हैं, जिन्होंने ध्रुवको दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया है ।

तो, ध्रुवका जन्म-जन्मान्तरका पुण्य इकट्ठा था । एक दिन भगवान्‌ने अपसे मनमें सोचा कि यह बालक हमारे पास आये । इसमें आश्चर्यकी बात नहीं । सचमुच भगवान् चाहते हैं कि 'अयं जीवः मम भक्तो भवतु'—जीव मेरा भक्त हो जाये । इस प्रकार जब भगवान् सङ्कल्प करते हैं और मनुष्यके पुण्यको, उसके हृदयके सौशील्यको, सौन्दयको, औदार्यको देखकर उसे पसन्द करते हैं तब वह उनकी ओर चलता है । इस प्रकार जब भगवान्‌का सङ्कल्प हुआ, तब ध्रुवजी भगवान्‌की ओर तत्काल निकल पड़े । ध्रुवजीके घरसे निकलते ही नारदजीको पता चल गया । उन्होंने सोचा कि अगर इस समय मैं नहीं पहुँचूगा तो एक बढ़िया चेला हाथसे निकल जायेगा । महात्माओंको भी योग्य पुरुषोंको शिष्य बनाकर आनन्द आता है । इसलिए नारदजी अपने आप

हो ध्रुवजीके पास पहुँच गये और उनके सिरपर अपना हाथ रख दिया। उन्होंने यह नहीं देखा कि पहले यह दण्डवत्-प्रणाम कर ले, हाथ जोड़ ले तब मैं इसके सिरपर अपना हाथ रखूँ।

देखो, नारदजी कितने कृपालु हैं। 'स्पृष्टामूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः'—(२५) उन्होंने ध्रुवजीके मस्तकपर पापनाशक कर-कमल रखते हुए मन-ही-मन विचार किया कि अहो, क्षत्रियका तेज कितना अद्भुत है। यह अपना मान-भङ्ग सहन नहीं कर सकता। यद्यपि ध्रुव अभी बच्चा है, लेकिन इसने अपनी सौतेली माताके कटु वचन कैसे धारण कर लिये हैं।

फिर नारदजी परीक्षाके रूपमें बोले कि बेटा, तेरे लिये मान-सम्मान क्या है? अभी तो तुम्हारे खेलने-कूदनेका समय है, खाओ और खेलो। संसारमें भलाई-बुराई बहुत है, केवल मोहके कारण ही मनुष्य दुःखी होता है। जो मिलता है उसीमें मनुष्यको सन्तुष्ट रहना चाहिए। सब जगह भगवान्‌की लीला देखो, सबमें भगवान्‌का हाथ देखो। यदि तुम समझते हो कि तुम्हारी माताने जो बताया है, उसी मार्गपर हम चलेंगे तो भगवान्‌को खुश कर लेना कोई मामूली बात नहीं।

लोग कहते हैं कि भगवान् आशुतोष हैं, बड़ी जल्दी कृपा करते हैं, एक मिनटमें खुश हो जाते हैं। लेकिन ऐसा सुनकर जो लोग भजन करनेके लिए घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ते हैं, वे जब माला हाथमें उठाते हैं तब आधी माला पूरी होते-होते यह देखने लगते हैं कि अभी भगवान् आ रहे हैं या नहीं? जब पाँच-सात माला फेरनेतक भगवान् नहीं आते तो उनके मनमें निराशा हो जाती है। इसलिए भगवान् दुर्लभ हैं, यह बात भी मनमें रहनी चाहिए। नहीं तो; लोग उनको सुलभ-सुलभ करके सस्ता सौदा बना देते हैं।

एक सज्जन बम्बई आये। उन्होंने घोषणा कर दी कि हम तीन मिनटमें ध्यान लगवा देते हैं। यह सुनकर बड़े-बड़े अधिकारी, करोड़पति और विद्वान् लोग माला, फूल, चन्दन आदि ले-लेकर उनके पास पहुँचे और प्रार्थना करने लगे कि आप हमें तीन मिनटमें ध्यान लगवा दीजिये। अब तो ध्यान लगवानेवाले महानुभावने एक व्याख्यान ही झाड़ दिया कि पहले हमसे मन्त्र ले लो और छः-छः महीनेतक अमुक मन्त्रका जप कर लो। फिर उसके बाद आओगे तब ध्यान करायेंगे। अब ध्यानार्थियोंने कहा कि मन्त्र तो हमने अपने गुरुसे ले रखा है, आप तो हमें अपनी घोषणाके अनुसार तीन मिनटमें ध्यान करवा दीजिये। तब महानुभाव बोले कि मेरा तीन मिनटका मतलब यही है कि पहले छह महीने जप कर लो, उसके बाद ही तीन मिनटमें ध्यान हो सकेगा।

तो, ध्यान कोई घास-पात नहीं है कि कोई उसे हाथसे उठाकर दे दें। जो चीज कायदेकी होती है, वह कायदेसे ही मिलती है। उसमें सट्टेका, जुएका काम नहीं हैं। उसके लिए भजन, साधन, अभ्यास करना पड़ता है। वे लोग ठगे जाते हैं, जो सोनेको दुगुना, चौगुना, अठगुना करवाना चाहते हैं। मनुष्यको ठीक ढंगसे अपना साधन, भजन, अनुष्ठान करना चाहिए।

नारदजीने ध्रुवजीसे कहा कि लौट जाओ, अभी तुम्हारे लिये मानापमानकी कोई बात नहीं है। सुख-दुःख अपने कर्मसे होता है। बिना ईश्वरकी अनुकूलताके फल नहीं मिलता। इसलिए मनुष्यको सन्तोष करना चाहिए। ईश्वरकी आराधना बहुत मुश्किल है। बड़े-बड़े ऋषियोंको भी अनेक जन्ममें ईश्वरकी प्राप्ति होती है। उसके लिए तुम्हारा जो विचार है, दुराग्रह है, वह निष्फल है। जैसे ईश्वर रखें उसीमें स्थित हो जाओ। यदि किसीमें तुमसे अधिक गुण है तो उसे देखकर खुश हो जाओ, किसीमें कम गुण हैं तो उसपर कृपा करो, अहङ्कार मत करो और समान गुणवालेसे मित्रताका भाव रखो। किसीने कोई बात कह ही दी तो तुम्हारे अन्दर उसे सहन करनेकी शक्ति होनी चाहिए।

ध्रुवजीने उत्तर दिया कि महाराज, आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है। परन्तु किसीकी बात न लगना तो ऋषि-मुनियोंके वशकी बात है। हम तो झटसे सुखी और झटसे दुःखी हो जाते हैं। हमारे लिये तो किसीकी बात बर्दाश्त करना बहुत मुश्किल है। हम तो अविनीत हैं, हमारा क्षत्रिय स्वभाव है। इसलिए हमारी सौतेली माताने हमसे जो कुछ कहा, वह हमारे दिलसे निकलता ही नहीं। मुझे तो वह चीज चाहिए, जो दुनियामें अबतक किसीको नहीं मिली, हमारे बाप-दादाओंको भी नहीं मिली, यहाँतक कि ब्रह्माको भी नहीं मिली। सृष्टिमें जिस पदपर दूसरा कोई नहीं पहुँचा, उस पदपर मैं पहुँचना चाहता हूँ। मेरा यह सफलता तो देखिये कि घरसे दो कदम बाहर निकलकर खड़े होते ही मुझे आप जैसा महात्मा गुरु मिल गया। इससे साफ मालूम पड़ता है कि ईश्वर मुझको मिलनेवाला है, अन्यथा आप जैसे वीणाधारी हितकारी महात्मा कहाँसे मिलते—

वितुदन्नटते वीणां हितार्थं जगतोऽर्कवत्। ३८

ध्रुवजीकी बात सुनकर नारदजी बहुत ही प्रसन्न हुए और यह विचार करने लगे कि देखो, यह हमारे कहनेपर भी लौटता नहीं। इसका सङ्कल्प बहुत बढ़िया है। महात्मा लोग कभी-कभी बच्चोंको भी—छोटोंको भी—ज्यादा साधन-भजन न करनेवालोंको भी भगवान्‌की ओर उन्मुख कर देते हैं। इससे उनकी बड़ी कीर्ति होती है। उनकी ओर दूसरे लोग भी आकर्षित होते हैं और

कहते हैं कि ये महात्मा तो ऐसे हैं, जो बहुत सुगमतासे भगवान्‌की ओर चला देते हैं। इसलिए नारदजीने ध्रुवसे कहा कि तुम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो कुछ भी चाहते हो, इसमें भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवा ही मुख्य है। तुम भगवान् वासुदेवका भजन करो, उनमें अपने मनको लगा दो। तुम्हारी अपनी माँ, सुनीतिने जो तुम्हारे लिये मार्ग बताया है, वही सबसे बढ़िया है—

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना॥ ४०

तुम भगवान्‌को सर्वात्म-समर्पण करके उसका भजन करो, जो चाहोगे, वह मिलेगा। फिर बोले कि अब तुम यमुनाजीके पवित्र तटपर मधुवनमें चले जाओ। वहाँ भगवान्‌का नित्य सान्निध्य है। कालिन्दीके जलमें तीनों समय स्नान करना। नित्यकर्म करते रहना। फिर अपना आसन लगाकर बैठ जाना। प्राणायामसे मनोमलको दूर करके शुद्ध मनसे उन भगवान्‌का ध्यान करना, जो गुरुओंके भी गुरु हैं। ध्यान गम्भीर मनसे करना—'मनसा गुरूणां गुरुम्' (४४) हल्ले-फुलके मनसे भगवान्‌का ध्यान नहीं करना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने ध्यानके सम्बन्धमें तीन बातें बतायीं हैं—एक तो अपने उद्देश्यमें, भगवान्‌को दुर्लभ मत समझो। यह समझो कि हमारे लिये भगवान्‌का मिलना भले कठिन हो, परन्तु भगवान् मिलना चाहें तो झट मिल जायेंगे। दूसरी बात यह है कि हमारे अन्दर यह गलती है, वह गलती है, इस प्रकारका विचार मत करो। अपने दोष ध्यान करनेकी वस्तु नहीं हैं। न तो अपने दोषोंका आचरण करो और न उनका ध्यान करो। केवल भगवान्‌के गुणानुवादका ध्यान करो। दोषानुसन्धानको अपनी बुद्धिसे निकाल देना चाहिए। तीसरी बात यह है कि हमारे बलसे, हमारे साधनसे भगवान् मिलेंगे, ऐसा मत सोचो। भगवान् अपनी कृपासे ही मिलेंगे। संक्षेपमें तीनों बातें इस प्रकार हैं—(१) उद्देश्यको दुर्लभ मत समझो, (२) स्वदोषानुसन्धान मत करो और (३) साधन और साध्य दोनों एक ही भगवान् हैं। उनमें अनन्य-उपाय-साध्यत्व है अर्थात् वे दूसरे उपायसे सिद्ध नहीं होते—इस बातका ध्यान रखो।

ध्यानमें पहली बात यह है कि भगवान् हमसे मिलनेके लिए बिलकुल तैयार खड़े हैं। गरुड़ एक ओर हैं, खड़ाऊँ सामने रखी हैं। वे टेढ़ी आँख करके कभी लक्ष्मीजीको देखते हैं और कभी हमको देखते हैं। मनमें यही सोचते हैं कि लक्ष्मीजीको देखते-देखते तो बहुत दिन हो गये, अब जरा अपने भक्तकी ओर ही देखें। लक्ष्मीजी भी इशारा कर देती हैं कि हाँ-हाँ महाराज! उसकी ओर देख लो, हम भी उसीकी ओर देख रही हैं।

'प्रसादाभिमुखम्' (४५)—भगवान् प्रसाद देनेके लिए अभिमुख हैं। हमेशा उनकी आँख और मुखारविन्दमें प्रसन्नता रहती है। क्या बढ़िया नासिका है, सुन्दर भौहें हैं, चारु कपोल हैं, वे देवताओंसे भी सुन्दर हैं, उनकी तरुण अवस्था है, उनके एक-एक अङ्ग रमणीय हैं, उनके ओठों, आँखों और अधरोंमें लाली है। जो नमस्कार करता है, उसको वे आश्रय देते हैं।

'नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्' (४६)—यहाँ नृम्ण पदका प्रयोग अत्यन्त सुन्दरके अर्थमें है। वे शरण्य हैं, करुणा-वरुणालय हैं। इसका प्रयोग वेदोंमें भी मिलता है।

ध्यान करनेवाला यह अनुभव करे कि मैं श्रीवत्साङ्क, घनश्याम, वनमाली, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, चतुर्भुज, किरीट, कुण्डली, केयूरी, कौस्तुभी, पीताम्बरी परमात्माका दर्शन कर रहा हूँ। इससे हृदयमें शान्ति आजाती है। मन और आँखोंको आनन्द प्राप्त हो जाता है। भगवान् हमारे हृदयके भावकमलपर बैठे हुए हैं, उनकी एड़ी, उनका तलवा हमारे हृदयसे छू रहा है और वे अनुराग-भरी दृष्टिमें हमें देख-देखकर मुस्कुरा रहे हैं—इस प्रकार भगवान्का ध्यान करनेसे मनमें निवृत्ति आती है, आनन्द आता है और वह भगवान्से मिल जाता है—एक हो जाता है।

इसके बाद नारदजीने द्वादशाक्षर मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—का उपदेश किया। कहते हैं कि सात दिन और सात राततक मन्त्रका जप किया जाये तो आकाशमें विचरण करनेवाले सिद्धोंके दर्शन होने लगते हैं।

अब पूजाकी बात आयी तो नारदजीने सोचा कि यह नन्हा-सा बालक है। इसको मन्त्र रटायेंगे तो भगवान्की भक्तिमें व्यवधान पड़ जायेगा। इसलिए बोले कि बस, इस एक द्वादशाक्षर मन्त्रसे ही अर्घ्य दो, पाद्य दो और आचमन दो। पाद्य माने भगवान्का पाँव धोना, जल लेकर भगवान्के चरणारविन्दका प्रक्षालन करना। वह जल ताजा-ताजा गंगाजल हो गया। उसको द्वादशाक्षर मन्त्रसे अपने सिरपर छिड़क लेना। द्वादशाक्षर मन्त्रसे ही भगवान्का हाथ धुला देना और कुल्ला करा देना। कुल्ला करानेका नाम ही आचमन है। देहातमें--गाँवमें कोई पैदल चलकर आता है तो उसके पाँव धुलाते हैं, हाथ धुलाते हैं। क्योंकि बिना हाथ-पाँव धोये वह खायेगा-पीयेगा कैसे ? आनेवालेको स्नान भी कराते हैं, उसको वस्त्र भी पहनाते हैं, चन्दन भी लगाते हैं और माला भी पहनाते हैं। मतलब यह कि जैसे आये हुएका स्वागत-सत्कार करते हैं, वैसे ही भगवान्के स्वागत-सत्कारका नाम ही पूजा है। पूजा कोई किम्भूत किमाकार वस्तुका नाम नहीं। सामग्री सजाकर कर्मकाण्डी-पूजा दूसरी है और अपने घरमें आये हुए प्रियतमका पाँव पकड़कर बैठ जाना, दूसरी पूजा है। उसके लिए मन्त्र भी ज्यादा नहीं चाहिए—एक ही मन्त्र सबसे बढ़िया

है। देश-कालके अनुसार वस्तुसे भी पूजा करनी चाहिए। वनमें जो पवित्र फल-फूल आदि मिलते हैं, वे पूजाके लिए पर्याप्त हैं—

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः। ५५

भगवान्‌के लिए कोई बाहरसे फूल मँगानेकी जरूरत नहीं।

भगवान्‌की पूजाके लिए वस्त्र भी पवित्र होने चाहिए। हमने एक मिल-मालिकके घरमें एक माताजीको देखा था, वे अपने मिलका बना हुआ वस्त्र नहीं पहनती थी, खादी पहनती थीं। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो वे बोलीं कि सूत टूटे नहीं, इसके लिए उसमें चर्बी लगायी जाती है महाराज! मैं इस बातको जानती हूँ। इसलिए अपने मिलका कपड़ा कैसे पहनूँ?

अंशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम्। ५५

तुलसी भगवान्‌को बहुत प्यारी है। उसपर भगवान् मुग्ध रहते हैं। एक बार भगवान्‌का तुलसी-प्रेम देखकर किसीको क्रोध आगया कि तुम हमारा नाम नहीं लेते, तुलसीका नाम ही लेते रहते हो तो जाओ, यह तुलसी पौधा हो जाये। भगवान्‌ने कहा कि अच्छा, यह पौधा होकर हरी-हरी रहेगी और मैं पत्थर हो जाता हूँ। भगवान् काले-काले शालग्राम बन गये और उनपर तुलसी चढ़ने लगी—यह देखकर किसी कविने लिख दिया—

आठ पहर चौंसठों घड़ी, ठाकुरपर ठकुराइन चढ़ी।

इसीलिए तुलसीकी बराबरीकी दूसरी कोई चीज नहीं है। संसारमें कोई व्यक्ति ऐसा नियम बना ले कि मैं अमुकके बिना भोजन नहीं करूँगा, जब भोजन करूँगा, उसके साथ ही करूँगा तो उसका कितना प्रेम माना जायेगा, उस व्यक्तिके प्रति। इसी तरह समझो कि भगवान् विष्णुने बिना तुलसीके भोजन नहीं करनेका नियम बना लिया है।

पूजाकी सामग्री मिल जाये तो यह नहीं देखना चाहिए कि हम कहाँ भगवान्‌की पूजा करें। किसीने एक महात्मासे पूछा कि भगवान् कहाँ हैं तो महात्माने उत्तर दिया कि तुम पहले यह बता दो कि भगवान् कहाँ नहीं? तभी मैं बताऊँगा कि भगवान् कहाँ हैं। अरे भाई, भगवान् तो सब जगह पृथिवीमें, पानीमें, आगमें, हवामें, अपनेमें, परायेमें हैं। चीजको मत देखो, उसमें भगवान्‌को देखो और उसीमें भगवान्‌की पूजा करो।

नारदजी कहते हैं कि मनुष्यको भगवान्‌के चरित्रका गान करना चाहिए। उन्होंने साफ कह दिया कि—'ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये' (५८)—भगवान् मन्त्रमूर्त्ति हैं, मन्त्र ही

उनकी मूर्त्ति है। तुम द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करते जाओ। उससे भगवान्‌की मूर्त्ति बनती जायेगी। उसी मन्त्रसे पूजा कर लो। पूजा शरीर, मन और वाणीसे सर्वात्मना करनी चाहिए। कपट नहीं होना चाहिए।

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः। ६०

भगवान्‌को निष्कपट होकर भजना चाहिए। कपट किसको कहते हैं? जैसे कोई अपने सिरपर कपड़ा डालकर घूंघट निकाल लेता है तो वह घूंघट ही कपट है। 'क' माने सिर और 'पट' माने कपड़ा, सिरपर डाले हुए कपड़ेका नाम कपट है। जो अपनी बुद्धिपर पर्दा डाल लेता है, अपने ज्ञानपर आवरण डाल लेता है, वही कपट है। किसीने कहा—हे हनुमान्‌जी महाराज, आज हमारे घरमें पाँच सौ रुपये आयें तो आपको कल हम सवा पांच आनेका लड्डू चढ़ायेंगे। हनुमान्‌जीने कहा कि हमें पाँच सौ रुपयोंका और सवा पाँच आनेका फर्क मालूम है। प्रेमकी बात करो, सवा पाँच आनेकी बात मत करो। प्रेमसे तुम एक नये पैसेका लड्डू चढ़ाओगे तब मैं प्रसन्न रहूँगा। इसलिए अगर कोई सवा पाँच आनेका मोल-भाव करने लगे तो वे पहचानते हैं कि वह उसका कपट है। इसलिए भगवान्‌से कभी कपट नहीं करना। कपटका अर्थ संस्कृतके पण्डितोंने इस प्रकार किया है—'कं=सुखं पटवत् आवृणोति'—अर्थात् कपट सुखको, ज्ञानको, ब्रह्मको, परमात्माको पर्देमें ढँक देता है। अतः निष्कपट होकर ही भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। उसके और अपने मध्यमें माया नहीं डालनी चाहिए। आराधनामें इन्द्रियभोग भी वर्जित है। उससे विरत होकर भक्ति-योगसे भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए।

इसके बाद नारदजीने ध्रुवजीसे कहा कि थोड़ा और ठहरो। हम तुम्हें कुछ और सिखायेंगे, पढ़ायेंगे। ध्रुवजी बोले कि बस महाराज, मुझको जो सीखना था, सीख लिया, जो पढ़ना था, पढ़ लिया। आपने यमुनाजीके किनारे जानेकी आज्ञा भी दे दी है। यहाँ ध्रुवजीने यह सोचा कि कहीं नारदजी अपनी बात बदल न दें, यह न कह दें कि हमारी कुटियापर चले चलो। इसलिए उन्होंने यमुना तटपर जानेकी उनकी जो आज्ञा थी, उसकी याद दिला दी और झट वहाँसे चल पड़े। तपोवनमें पहुँचकर भजन-पूजन करने लगे। इधर नारदजी राजाके पास गये। राजा बहुत दुःखी थे। वे यह पश्चात्ताप कर रहे थे कि मैंने अपने बच्चेका कितना तिरस्कार किया। कहीं वह जंगलमें चला गया तो उसे भेड़िये न खा जायें। मैंने बड़ी दुष्टता की, जो स्त्रीके वशमें होकर अपने बेटेका अनादर किया। नारदजीने राजासे कहा कि अब तुम भी भगवान्‌का भजन करो। अपने बेटेकी चिन्ता छोड़ दो। तुम्हारे बेटेकी रक्षा तो बड़े-बड़े देवता लोग करेंगे और वह बड़ा भारी

कर्म करेगा। नारदजीके इस कथनसे राजाको कुछ सन्तोष हुआ और वे राज्यलक्ष्मीका तिरस्कार करके पुत्रका ध्यान करने लगे।

इधर ध्रुवने जाकर यमुनामें स्नान किया और वह नारदके आदेशानुसार एकाग्रचित्तसे भगवान्‌का भजन करने लगा। तीन-तीन दिनके बाद वह कपित्थ और बदर (कैथ और बेर) खाने लगा। देखो, फल भी ऐसा नहीं खाना चाहिए जिसमें स्वादकी दृष्टि हो। फल भी तपस्याकी दृष्टिसे ही खाना चाहिए। जितनेसे अपना जीवन चले, जीवन-निर्वाह हो, उतना ही खाना चाहिए। जिह्वाकी तृप्तिके लिए फल नहीं है। भगवान् वृक्षोंमें फल इसलिए लगाते हैं कि वह चिड़ियोंके भी काम आयें। मनुष्यने सारी धरती अपने वशमें कर ली है। वह पशु-पक्षियोंका आहार भी छीन लेता है। यह उचित नहीं है। इसलिए भगवान्‌ने कहा कि जितनेमें निर्वाह हो, उतना ही लेना चाहिए।

ध्रुवको इस बातका ध्यान है। इसलिए वे दूसरे महीने छठे-छठे दिन जो वृक्षोंके नीचे गिरे-पड़े पत्ते होते, वह खाने लगे। तीसरे महीनेमें नवें-नवें दिन और चौथे महीने बारहवें-बारहवें दिन केवल पानी पीते। उसके बाद वे जितश्वास हो गये, वायुभक्ष हो गये। पाँचवाँ महीना होनेपर उन्होंने श्वास रोक लिया, फिर वे एक पाँवसे खड़े होकर मनको चारों ओरसे खींचकर भगवान्‌के रूपमें लीन हो गये। उन्होंने सम्पूर्ण विश्वके अन्तर्यामी प्रभुमें ऐसा मन लगाया कि उनका सम्पूर्ण विश्वके साथ तादात्म्य हो गया। वे दाहिना पाँव रखें तो दाहिनी ओर और बायाँ पाँव रखें तो बायीं ओर धरती झुक जाये।

इस प्रकार ध्रुवने विश्वात्मासे एक होकर ध्यान किया तो सारी वायु उनके प्राणायामके साथ एक हो गयी। अब तो देवता लोग घबराये और भगवान्‌के पास जाकर बोले कि महाराज, यह क्या हुआ ? हमारा तो प्राणरोध हो गया। आप हमारी रक्षा करें। भगवान्‌ने कहा कि ठहरो, इस समय ध्रुव हमारे विश्वात्मा रूपके साथ तादात्म्यापन्न हो गया है। हम उसको इस दुरत्यय तपस्यासे निवृत्त करते हैं।

●

: ६ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि वदुरजी, देवतालोग भगवान्का आश्वासन पाकर स्वर्ग लौट गये और सहस्रशीर्षा भगवान् गरुड़पर सवार होकर अपने भक्त ध्रुवके पास पहुँचे—

मधोर्वनं भृत्यदिवृक्षया गतः। १

यह मत समझना कि भगवान् देवताओंके कहनेसे ध्रुवके पास गये। नहीं, भक्तवत्सल भगवान्का हृदय स्वयं ही अपने भक्तको देखनेके लिए व्याकुल हो गया था। उनके मनमें अपने भक्तको देखनेकी ऐसी आकाङ्क्षा जगी कि वे वैकुण्ठ, लक्ष्मी और अपना सब आराम भूल बैठे। किसीने पूछा कि भगवान् आपको क्या चाहिए, तो बोले कि हमको तो अपने सेवकके दर्शन चाहिए। इसीलिए कहा कि 'भृत्यदिहक्षया गतः'—अपने भृत्यके दर्शनके लिए व्याकुल होकर भगवान् ध्रुवके पास गये।

अब वहाँ ध्रुव तो ध्यानमें मग्न था, इसलिए भगवान्को उसको ध्यान खींचना पड़ा और

तब उसकी आँख खुली। उसने बाहर देखा तो सामने भगवान् खड़े हैं। उसके हृदयमें आदरका भाव आया, उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् की। इधर जिस समय भगवान्ने ध्रुवको देखा, उस समय उनकी क्या हालत हुई, यह देखो—

'दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्' (३)। भगवान् ध्रुवको देखते क्या हैं मानो अपनी आँखोंसे पी जायेंगे, मुँहसे चाट जायेंगे और बाँहोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लेंगे। ध्रुवकी दशा यह है कि वे बोलना तो चाहते हैं, पर भगवान्से क्या बोलना चाहिए, उनको मालूम नहीं। इसलिए भगवान्ने यह सोचकर कि इसकी इच्छा पूरी होनी चाहिए अपने ब्रह्ममय शङ्खसे उसके कपोलोंका स्पर्श कर दिया। स्पर्श क्या है? प्यारका प्रकटीकरण है। जब हम नन्हें बच्चोंको प्यार करना चाहते हैं तो हाथसे उनके कपोलोंको छू देते हैं। इसी तरह भगवान्ने ध्रुवके कपोलोंका स्पर्श कर दिया। स्पर्श करते ही ध्रुवको दैवी-वाणी प्राप्त हो गयी। उसकी बुद्धि बिलकुल शुद्ध हो गयी और वह परमात्माको पहचानकर उनकी स्तुति करने लगा—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ ६

प्रभो, आप ही हमारे भीतर बैठकर सोये हुए वाग्देवताको जाग्रत् कर रहे हैं। सारी शक्तियाँ आप ही हैं। आप ही प्रकाश हैं। आप केवल वाणीको ही नहीं; हाथ, पाँव, कान, त्वचा आदि सभी इन्द्रियों तथा सारे प्राणोंको जाग्रत् कर रहे हैं। आप हमारे हृदयमें रहनेवाले परमपुरुष भगवान् हैं। आपको हम नमस्कार करते हैं। आपने ही अपनी मायासे यह सृष्टि बनायी। आप इसमें प्रवेश करके भी नाना मालूम पड़ रहे हैं। वैसे ही, जैसे लकड़ीमें आग। आपके दिये हुए ज्ञानसे ही यह सम्पूर्ण विश्व भास रहा है। भला, आपको भूल जानेसे कैसे काम चलेगा। जो लोग विषय-भोगके लिए आपकी आराधना करते हैं, उनकी बुद्धिको मायाने बिलकुल क्षीण कर दिया है। आप तो संसार और मृत्युसे छुड़ानेवाले हैं। आपको प्राप्त करके नरकमें प्राप्त होनेवाले विषय-भोगोंकी इच्छा करना बुद्धिका ठगा जाना है। प्रभो, आपकी तो बात ही क्या, आपके चरण-कमलोंके ध्यानसे और आपके भक्तोंके मुखसे, आपकी अथवा आपके भक्तोंकी कथाश्रवण करनेसे जो तृप्ति होती है, वह अपनी महिमामें विराजमान ब्रह्ममें भी नहीं। फिर वह स्वर्गमें कहाँसे होगी? वहाँ तो कालकी तलवारसे देवताओंके विमान कटाकट कटते हैं और गिरते हैं। मेरा बारम्बार जन्म हो और मुझे उन महापुरुषोंका—जिनके निर्मल हृदयमें आपकी भक्तिकी धारा बहती रहती है—सत्संग प्राप्त हो, जिससे मैं सुगमतापूर्वक इस भवसागरको पार कर जाऊँ। जो लोग आपके चरणोंके भक्तोंका सत्संग नहीं करते, उन्हींको दुनियाकी वस्तुएँ अच्छी लगती हैं।

यह सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है। जो इसके परे है और जहाँ मन, वचनकी पहुँच नहीं—'न वाग् गच्छति नो मनः' (केन० उ० १.३)—उसको तो मैं जानता ही नहीं, उसकी मैं स्तुति कैसे करूँ ? उसके बारेमें मैं बोलूँ कैसे ? आप ही प्रलयके समय सारी सृष्टिको अपने पेटमें रखकर शयन कर जाते हैं और आपके नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है। मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कूटस्थ आत्मा हैं। वेदान्तवेद्य हैं। आप सबकी बुद्धिमें रहकर भी सबसे न्यारे रहते हैं।

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रविकारमहं प्रपद्ये ॥ १६

भगवान् आप परस्परविरुद्धधर्माश्रय हैं। विद्या-अविद्या सारी शक्तियाँ आपको विषय करती हैं। आप निर्विकार आनन्दमात्र हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ। जो आपका भजन करता है, सारा पुरुषार्थ उसीमें निवास करता है। जैसे गैया-मैया अपने बछड़ेपर अनुग्रह करती है, वैसे ही आप अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं।

इस प्रकार ध्रुवने भगवान्‌की स्तुति की। अब उस स्तुतिका भगवान्‌पर क्या प्रभाव पड़ा यह देखो। क्योंकि अपने सेवकके अनुरागी हैं—

भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत्। १८

ऐसा वर्णन आता है कि अपने सेवकके लिए भगवान्‌की आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते हैं, अपने सेवककी गोदमें सिर रखकर भगवान् लोट-पोट हो जाते हैं, अपने और अपने सेवकका ध्यान भगवान् बैठकर करते हैं। वास्तवमें, भगवान् ऐसा ही हो, जो अपने सेवकके प्रेमको चाट जाये, और अपना समग्र प्रम अपने सेवकपर बरसा दे। ऐसा सुशील, ऐसा भक्तवत्सल, ऐसा उदार, ऐसा सौन्दर्य-माधुर्य-सार और ऐसा सद्‌गुणनिधान भगवान् और कहाँ मिलेगा ? इसको छोडकर जो लोग दूसरेसे प्रेम करते हैं वे बावरे ही होते हैं।

अब भगवान्‌ने कहा—बालक, मैं जानता हूँ तेरे मनमें क्या है ? तुमको दुर्लभ देह मिलेगा। जहाँ सब ग्रह, नक्षत्र और तारे मिलते हैं, सारे देवता, ऋषि जिसकी परिक्रमा करते हैं; वह स्थान तुमको मिलेगा। उसके पहले पिताके वनमें चले जानेपर तुम पृथिवीके राजा हो जाओगे और छत्तीस हजार वर्षोंतक राज्य करोगे। तुम्हारा भाई उत्तम मरेगा, उसकी माँ भी मर जायेगी और तुम यज्ञ करके मेरी आराधना करोगे। अन्तमें तुमको मेरे स्मरण द्वारा ऋषियोंसे भी ऊपर स्थान मिलेगा।

इतना कहकर भगवान् तुरन्त ही अन्तर्धान हो गये। लेकिन ध्रुवको कुछ बहुत प्रसन्नता नहीं हुई—'नातिप्रीतः' भगवान् आये, दर्शन दिया, वरदान प्रदान किया, बातचीत की, ज्ञान दिया, परन्तु इतना सब होनेपर भी ध्रुवको आनन्द नहीं आया और वे अपने नगर लौट गये।

इसपर विदुरजीने मैत्रेयजीसे पूछा कि महाराज, इतना दुर्लभ पद पानेपर भी ध्रुवको प्रसन्नता क्यों नहीं हुई ? इसका कारण क्या है ?

मैत्रेयजी बोले कि ध्रुवके हृदयमें सौतेली माताकी वाणीकी चोट लग गयी थी। इस कारण उन्होंने मुक्तिकी इच्छा नहीं की और भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं किया। इसीलिए उनके मनमें यह पश्चाताप रह गया कि हाय-हाय मैंने मुक्ति क्यों नहीं माँगी ?

नृसिंह-पुराणमें यह वर्णन आया है कि एकबार नारदजी ध्रुवलोकमें गये, यह देखने कि हमारा चेला सबसे ऊँचे लोकमें रहकर क्या मौज-मजा ले रहा है ? कैसे आनन्दमें है ? लेकिन जब वे पहुँचे तो देखा कि ध्रुवलोक तो एक ओर पड़ा है, वहाँका सिंहासन दूसरी ओर पड़ा है और एक कोनेमें ध्रुवजी कुशासनपर बैठकर झर-झर आँसू गिरा रहे हैं। नारदजीने पूछा बेटा, तुम रोते क्यों हो ? दुःखी क्यों हो रहे हो ? ध्रुवजी बोले—क्या बताऊँ महाराज, मेरा यह दुःख कभी मिटता ही नहीं कि भगवान् मुझे दर्शन देनेके लिए पधारे और मैंने उनसे एक संसारकी वस्तु माँग ली। जिनसे मैं सच्चा भगवत्प्रेम माँग सकता था, उनसे मैंने ऊँचा पद माँगा, इससे बढ़कर दुःखका विषय और क्या हो सकता है ?

इसलिए ध्रुवजी मन-ही-मन पश्चाताप करने लगे कि अनेक जन्ममें बड़े-बड़े महात्मा समाधिके द्वारा जिनकी आराधना करते हैं उनको मैंने एक ही जन्मके भीतर केवल छः महीनोंकी अवधिमें पा लिया और फिर मैं उनसे अलग हो गया तो मेरे जैसा अभागा और कौन होगा ? मैंने तो—

भवच्छिदः पादमूलं गत्वायाचे यदन्तवत्। ३१

भवच्छेत्ताके चरणारविन्दमें जाकर भी उनसे अन्तवत् वस्तु माँगी। जरूर देवताओंने मेरी बुद्धि अशुद्ध कर दी होगी। इसीलिए मैंने नारदजीके वचनोंको नहीं माना। यद्यपि इस संसारमें आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं, तथापि मैंने मायाके वशमें होकर अपने भाईको शत्रु समझ लिया और उससे मुझको इतना दुःख मिला है। मैंने भगवान्से जो याचना की, वह वैसी ही याचना है, जैसे कोई रोगी था, उसने किसी देवताकी आराधना की, देवता प्रसन्न हुआ

और कहा कि जो तुमको चाहिए, वह माँग लो। रोगीने कहा कि हमारे लिये दवाका बन्दोवस्त कर दो। इसपर देवता बेचारेने अपना सिर पीट लिया और बोला कि अरे बाबा, तुम क्या माँग बैठे? इससे तो अच्छा होता कि छः महीनेकी और आयु माँग लेते। अब तो तुम दो घड़ीमें मर जाओगे और तुमने वरदान यह माँगा कि हमारे लिये दवाकी व्यवस्था कर दो। अब लो दवा और खाओ।

तो मैंने भगवान्‌को प्रसन्न करके भी दुनियाकी याचना की। जो स्वाराज्य दे सकता है, उससे मैंने सम्मानकी याचना की—

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि। ३४

इस प्रकार ध्रुवजी दुःखी रहने लगे। जो भगवान्‌के भक्त होते हैं। वे उनसे दूसरी चीज नहीं माँगते।

इधर जब राजा उत्तानपादको पता लगा कि ध्रुव लौट रहा है तब पहले तो उनको विश्वास नहीं हुआ, फिर नारदजीकी बात याद आयी, तब विश्वास हुआ। उन्होंने समाचार लानेवालेको बहुत बड़ा पुरस्कार दिया। फिर रथपर सवार होकर सुरुचि, सुनीति और ब्राह्मण आदिके साथ गये और ध्रुवके पास पहुँचकर रथसे उतर पड़े। ध्रुवको अपने हृदयसे लगाया और उनका सिर सूँघ लिया। ध्रुवने भी अपने पिताके चरणारविन्दकी वन्दना की और उसके बाद वे माताओंसे मिले। सबने उन्हें आशीर्वाद दिया। उत्तम भी उनसे मिले। सुनीतिका तो सारा दुःख दूर हो गया। उसके स्तनसे दूध गिरने लगा। सबलोग उसकी प्रशंसा करने लगे। इसके बाद ध्रुवजी हथिनीपर चढ़ाकर राज्य-प्रासादमें लाये गये। बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ।

अब सब नगर-निवासी यह चाहने लगे कि ध्रुव राजा हो जायें, क्योंकि इनको भगवान्‌के दर्शन हो गये हैं। भगवान् मिल गये हैं। राजा उत्तानपादने अपने पुत्रका यह प्रभाव देखकर उनका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं वनमें जाकर अपने स्वरूपके सम्बन्धमें विचार करने लगे।

•

: १० :

मैत्रेयजी कहते हैं कि राज्याभिषेकके बाद ध्रुवका विवाह हुआ। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ध्रुव नित्य हैं। जो नित्य रहे, हमेशा रहे, उसे ध्रुव कहते हैं। किन्तु ध्रुव शब्द आपेक्षिक नित्यताका ही बोधक है, अनापेक्षिक नित्यताका बोधक नहीं। इनके जितने भी सगे-सम्बन्धी हैं, वे सब कालसे सम्बद्ध हैं।

प्रजापति शिशुमारकी पुत्रीका नाम भ्रमि था। भ्रमि माने घूमनेवाली, वैसे ही जैसे घड़ीकी सूई घूमती रहती है। उसी भ्रमिके साथ ध्रुवजीका विवाह हुआ। वह भ्रमि ध्रुवको ध्रुव बनाकर भ्रमण करे। इसके दो पुत्र हुए—एक कल्प और दूसरा वत्स। ये दोनों कालवाचक शब्द हैं। जो लोग कालकी व्यवस्था बैठाना चाहते हैं, वे इनसे बैठा सकते हैं।

ध्रुवका दूसरा विवाह वायु-पुत्री इलासे हुआ। उससे उत्कल नामका एक पुत्र हुआ। अभी उत्तमका विवाह नहीं हुआ था। एक दिन वह चला गया शिकार खेलनेके लिए और वहाँ यक्षोंने उसको मार दिया। यह कथा आगे आती है। उत्तमकी माताको यह दुःख इसलिए सहना पड़ा कि उसने ईश्वरकी आराधनाका तिरस्कार करके अपने गर्भको श्रेष्ठ बताया था। उसके बाद वह भी मर गयी।

जब ध्रुवजीको अपने भाई उत्तमके मारे जानेका समाचार मिला तो वे यक्षोंपर बड़े क्रुद्ध हुए। देखो, जो भगवान्‌के मार्गमें चल रहा है, उसको क्रोधादि विकार नहीं आने चाहिएँ, क्योंकि वे आयेंगे तो उसके भजनमें बाधा पड़ जायेगी। परन्तु जिसको एक बार भगवान् मिल जाते हैं, उसके जीवनमें यदि कभी-कभी क्रोध आ भी जाये तो उसपर दोष-दृष्टि भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वे अब कोई साधक तो हैं नहीं; इसलिए उनके जीवनमें जो क्रोधादि आते हैं, उनमें भी ईश्वरकी इच्छा रहती है और उनसे किसी-न-किसीकी भलाई होती है। आप यदि ऋषियोंके जीवनपर ध्यान देंगे तो आपको यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम पड़ेगी। वेदान्त-दर्शनमें एक सूत्र है—'तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोः अश्लेष-विनाशौ तद्व्यपदेशात्' (४.१.१३)। इसका अर्थ है कि जब परमात्माके स्वरूपका अधिगम हो जाता है तब पहलेके अघ आदिका विनाश हो जाता है, पूर्वके जो पाप हैं, बिलकुल मिट जाते हैं। लेकिन उत्तर अघका असंसर्ग होता है, अर्थात् बादके पाप महात्माका स्पर्श नहीं करते। श्रुति भी इसी प्रकारका वर्णन करती है—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' (बृहदा० ४.४.२३) ब्रह्मज्ञानीकी यही महिमा है कि किसी कर्मसे उसकी वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता। महात्मा लोग जो शाप दे दिया करते थे, वह देखनेमें तो क्रोध ही मालूम पड़ता है। किन्तु उस शापमें भी अनुग्रह ही रहता है, हित भरा रहता है।

जब ध्रुवजीको क्रोध आया तब उन्होंने यक्षोंकी नगरीपर चढ़ाई कर दी। हिमालयकी तलहटीमें बड़ा भारी संग्राम हुआ। दोनों ओरसे एक-दूसरेपर भयंकर बाण चले। ध्रुवजी युद्ध विद्यामें भी बड़े निपुण थे। उन्होंने एक लाख तीस हजार यक्षोंको एक साथ घायल कर दिया, उनमें हाय-हाय मच गयी। यक्षोंने भी इतना प्रहार किया कि ध्रुवजीके रथका पता ही न चले कि वह कहाँ गया ? उन्होंने बड़ी-बड़ी माया की। महात्मालोग ध्रुवजीको आशीर्वाद देने लगे कि जिन भगवान्‌के नामोच्चारणसे सारी माया नष्ट हो जाती है, वही भगवान् तुम्हारी रक्षा करें। देखो, महात्मालोग यह देखते हुए भी कि ध्रुव क्रोध कर रहे हैं, युद्ध कर रहे हैं, ध्रुवको ही आशीर्वाद दे रहे हैं। वे आशीर्वाद देने लगे कि भगवान् तुम्हारी सहायता करें। भगवान्‌के तो नाममें ही इतनी शक्ति है कि उसके श्रवण और कीर्तनमात्रसे मनुष्य मृत्युसे बच जाता है।

●

: ११ :

इसी बीचमें मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, महात्माओंका आशीर्वाद सुनकर ध्रुवजीने अपने धनुषपर नारायणास्त्रका सन्धान किया। नारायणास्त्रसे यक्षोंकी माया दूर हो गयी और वे विनष्ट होने लगे। ध्रुवजीके बड़े-बूढ़े दादा मनुजी ऋषियोंके साथ वहाँ पधारे और बोले कि बेटा, अब बस करो, यह क्रोध तमोगुणका दरवाजा है। इसलिए क्रोध नहीं करना चाहिए।

देखो, क्रोध आनेपर आदमी बिलकुल बेहोशीकी ओर चला जाता है। उसका मुँह काला हो जाता है और उसके हाथ-पाँव काँपने लगते हैं। जब अत्यन्त क्रोध आता है तब तो जो हार्टके (हृत्के) रोगी होते हैं, उनका हार्ट-फेल हो जाता है। हृत्को कोई हार्त बोले, हार्ट बोले—थोड़ा 'ट' 'त'का फर्क हो जाये तो क्या बात है।

मनुजी आगे बोले कि नहीं-नहीं, क्रोध तो मूर्च्छाकी ओर, मौतकी ओर ले जानेवाली चीज है। तुमने क्रोध करके इतने यक्षोंको मार दिया, यह हमारे वंशके अनुरूप नहीं। एक यक्षने तुम्हारे भाईको मारकर अपराध किया तो तुमने बहुतोंको मार दिया। यह भगवान्‌के अनुयायी साधुओंका काम नहीं है। 'यदात्मानं परागृह्य पशुवद्भूतवैशसम्' (१०)—जैसे पशु अपने आपको शरीर

समझकर आपसमें लड़ते हैं, वैसे ही महात्मा लड़े! राम, राम, राम! यह ठीक नहीं। तुम भगवान्‌को आराधना करके भगवान्‌को प्राप्त कर चुके हो। इसलिए तुमने क्रोध करके बड़ा बुरा किया। महात्माकी शोभा इसमें है कि उसके अन्दर तितिक्षा, करुणा, मैत्री, समता हो। इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर मनुष्यको ब्रह्म-निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। यह शरीर पञ्चभूतसे बनता है, चाहे स्त्रीका हो, चाहे पुरुषका। उससे सृष्टि चलती रहती है। इसमें आत्मा निमित्तमात्र है। आत्माके लिए तो अपना-पराया कोई है ही नहीं। सुख-दुःखके अनेक प्रकारके निमित्त होते हैं, कोई काल बताता है और कोई कर्म बताता है। यह सब प्रभुकी लीला है। प्रभु क्या करना चाहते हैं, इस बातका पता नहीं चलता। दैव ही सबके कारण हैं। वही विश्वसृष्टिके स्रष्टा हैं, भर्ता हैं, हन्ता हैं। अहङ्कार न होनेके कारण वे सृष्टिमें संसक्त नहीं होते।

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम्। २७

मृत्यु भी वही है, अमृत भी वही है। इसलिए सर्वात्मना उनकी शरणमें जाओ। पाँच वर्षकी उम्रमें भजन करके तुमने भगवान्‌का दर्शन कर लिया। अब तुम अपने स्वरूपको जानो—

निर्गुणमेकमक्षरम्। आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग् यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते॥ २९

मनुजीने कहा कि बेटा ध्रुव, अपने आपको ढूँढ़ो। तुमने पाँच बरसकी उम्रमें भगवान्‌का दर्शन पा लिया, परन्तु अब अपनेको तो ढूँढ़ो कि वह कैसा है? अपना आत्मा नित्यमुक्त है। ये सारे भेद उसमें झूठे ही मालूम पड़ते हैं। परमात्मा प्रत्यगात्मा है, आनन्दमात्र है। उसकी भक्ति करो और 'मैं-मेरा' ग्रन्थिको छोड़ो। क्रोधका त्याग कर दो। क्योंकि जब वह मनुष्यके जीवनमें आता है तब मनुष्यको भयकी प्राप्ति होती है। तुमने यक्षोंको मारकर शङ्करजीके भाई कुबेरकी अवहेलना की है। उनको तुम प्रसन्न करो। क्योंकि वे महापुरुष हैं, उनके तेजसे अपने वंशका अभिभव हो जायेगा।

इस प्रकार स्वायम्भुव मनुने ध्रुवजीको समझाया। उनके समझानेसे ध्रुवजी बिलकुल शान्त होगये। ध्रुवजीने उनके चरणोंकी वन्दना की और उनकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया।

इसीसे कहा जाता है कि समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी जरूरत पड़ती रहती है। भलेमानुषका यह काम है कि जो अपनेसे ज्ञानवृद्ध हैं, वयोवृद्ध हैं, विद्यावृद्ध हैं, गुरुजन हैं, उनका आदर करे और उनकी अच्छी सलाहके सामने जिद न करे, उसको मान ले, क्योंकि उसमें बड़े-बड़े रहस्य भरे होते हैं।

•

१२ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि जब कुबेरको यह बात मालूम हुई कि ध्रुवने अपने दादाकी बात मानकर युद्ध करनेका सङ्कल्प छोड़ दिया है तो वे महापुरुष स्वयं चलकर अपने शत्रु ध्रुवके पास आये और बोले– मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ, क्योंकि तुमने अपने बड़े-बूढ़ोंकी बात मानकर दुस्त्यज वैर छोड़ दिया। असलमें कोई किसीको नहीं मारता, न यक्षोंने तुम्हारे भाईको मारा और न तुमने यक्षोंको मारा। यह तो काल ही है, जिसकी सबपर चलती है। मैं और मेरा यह झूठी बुद्धि है, अज्ञानके कारण स्वप्नके सदृश है। अपना ध्यान छूट जाने और दूसरेका ध्यान होनेसे ही यह होती है। इसीसे बन्धन और विपर्यय होते हैं। ध्रुवजी, तुम जाओ और सर्वभूतात्मभावसे भगवान्‌की आराधना करो। सब कुछ परमात्मा है, यह भाव अपने मनमें रखो। तुम्हें अगर कुछ चाहिए तो मुझसे माँग लो—

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतम्। ७

देखो, जिससे युद्ध किया, जिसकी मायासे युद्ध किया, जिसपर बड़ा भारी क्रोध किया, वही आकर ऐसा कहता है। यही देवता-भाव है।

अब ध्रुवजी भी बड़े भारी भागवत हैं। उन्होंने कुबेरजीकी बात सुनकर यह नहीं कहा कि हमको नहीं चाहिए तुम्हारा वरदान ! हम बड़े भारी भक्त हैं, हमको भगवान् मिल चुके हैं या हम इतने बड़े राजा हैं। तुम दुश्मन होकर हमको क्या दे सकते हो ? ध्रुवजीने कुबेरकी बात सुनकर हाँ-हाँ करके सिर झुका लिया और कहा—

हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः। ८

कुबेरजी, हमको भगवान्की अविचल भक्ति दे दो। भगवान् हमको मिल गये थे, लेकिन उनकी अचल भक्ति अभी नहीं मिली है। आप वही अचल भक्ति हमको दे दो, जिससे फिर कभी मुझे किसीपर क्रोध न आये।

अब तो कुबेरजी और भी प्रसन्न हुए और बोले कि तुम्हें भगवान्की अचल भक्ति मिलो। इसके बाद कुबेर अपनी पुरीमें चले गये और ध्रुवने अपनी राजधानीमें बड़ा भारी यज्ञ किया। उनके हृदयमें बड़ी भारी भगवद्भक्तिका उदय हुआ। देखो, वैसे तो ध्रुवको क्रोध आया, उन्होंने जिद की और यक्षोंपर चढ़ाई करके उनका संहार किया। लेकिन उसका फल क्या हुआ, उनपर महात्माओंकी कृपा-दृष्टि पड़ गयी। मनुजीने उनको आत्मा-परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश किया और कुबेरने उनको भक्ति दे दो। उसके बाद ध्रुवको क्या अनुभव हुआ, यह देखो—

ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम्। (११)

ध्रुवजी अनुभव करते हैं कि मुझमें और सबमें प्रभु अवस्थित हैं। उनकी सारी प्रजा अपने पिताके समान मानती है। उन्होंने छत्तीस हजार वर्षोंतक पृथिवोका शासन किया और उसके बाद उनको मालूम हुआ कि यह संसार तो कुछ नहीं, केवल अविद्याकी मायाकी रचना है। यहाँ वेदान्तके शब्द आये हुए हैं—

मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि।
अविद्यारचित - स्वप्नगन्धर्वनगरोपमम्॥ १५

ध्रुवजीको यह विश्व-सृष्टि स्वप्नके समान, गन्धर्व नगरके समान अविद्यारचित दीखने लगी। इन्होंने सारी पृथिवीको छोड़ दिया और भजन करनेके लिए चले गये।

आगेकी बात और भी विलक्षण है। ध्रुवजीने अपना राज्य किसीको नहीं दिया। वसीयत लिखकर मरनेवाले तो बहुत होते हैं, लेकिन जो चीज जहाँ है, उसको वहीं छोड़कर चले जाना, बहुत बड़े त्यागकी बात है। ध्रुवजीने ऐसा ही किया।

ध्रुवजीने भगवत्कृपासे प्राप्त राज्यका जो हजारों वर्षोंतक पालन किया, उसमें उनकी मनःस्थिति क्या थी, यह देखो—

भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् । १३

पुण्योंसे जो भोग आते थे, उससे वे पुण्योंका क्षय कर देते और जो पापका फल दुःख आता था, उसमें वे दुखीपनेका अभिमान ही धारण नहीं करते थे। यह पता ही नहीं चलता था कि कब दुःख आया और कब चला गया।

एक महात्मा कहते थे कि सुख आये तो लोगोंको बाँट दो और दुःख आये तो उसको स्वीकार मत करो। मैं दुःखी हूँ—यह अभिमान कभी धारण मत करो। दुःखको स्वीकृति देनेका अर्थ है, मैं दुःखी हूँ—यह धारण करना। इसलिए कभी भी अपनेको दुःखी मत मानो; चाहे कुछ हो जाये। जब अपना आपा जिन्दा है, अपना परमात्मा मौजूद है तब दुःखी होनेका क्या काम ?

ध्रुवजीने हजारों वर्षोंतक राज्य-शासन चलाने और धर्म, अर्थ, कामका सेवन करनेके बाद जब राज्य-सिंहासन छोड़ा तब वह उनके पुत्रको मिला। उन्होंने वह राज्य-सिंहासन अपने पुत्रको स्वयं नहीं दिया, बल्कि भगवान्‌ने हो दिया था। वे देना थोड़े ही चाहते थे, पर कैसे दिया—इसपर विचार करना। ध्रुवको ऐसा लगता था कि यह सारी सृष्टि जो दीख रही है, वह अपने स्वरूपके अन्दर वैसे ही दीख रही है, जैसे आकाशमें जादूका खेल दीख रहा हो। यह अविद्याकी रचना है। इसमें जो सत्यत्वकी भ्रान्ति है, वह अविद्याकृत है। आत्मा-परमात्माके स्वरूपको न जाननेके कारण ही उसको सच्चा समझा जाता है।

'भू-मण्डलं जलधिमेखलम्' (१६)—समुद्रसे घिरा हुआ सम्पूर्ण भू-मण्डल और इसमें शरीर पत्नी, पुत्र, सुहृद्, सेना, खजाना, नगर, विहार-भूमि, इन सबको उन्होंने देखा कि ये कालसे घिरे हुए हैं, 'कालोपसृष्टमिति' (१६)—सबके साथ काल लगा हुआ है, सब मौतके मुँहमें हैं—सब कालके गालमें हैं। इनमें मन लगानेसे क्या फायदा ? उन्होंने विशालाकी, जिसे बदरी विशाल कहते हैं, यात्रा की। वहाँ जाकर अलकनन्दाके पवित्रजलमें स्नान किया और आसन लगाकर बैठ गये। पहले उन्होंने यह ध्यान किया कि जो स्थूल-सृष्टि दीख रही है, यह सब भगवान्‌का स्वरूप है और फिर वे भगवान्‌से एक हो गये—

ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ । १७

इसके बाद जब उनकी समाधि लगी और समाधिके द्वारा सब कूड़ा-करकट हृदयमें-से निकल गया तब उनके हृदयमें भक्तिका प्रवाह आया। अब बारम्बार आनन्द-वाष्पकला आँसूकी

धारा आ रही है। हृदय द्रवित हो रहा है, शरीर पुलकित हो रहा है और उनका अन्त:करण छूट गया है। अब उनको अपने-आपका भी स्मरण नहीं रहा—

नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः। १८

मैं कौन हूँ—यह स्मरण ध्रुवजीको था ही नहीं। उन्होंने देखा कि ऊपरसे विमान उतर रहा है और उसपर भगवान्‌के किशोर अनुराग-रञ्जित नेत्रवाले दो पार्षद आ रहे हैं; उन्होंने उनको अपने प्रिय प्रभुके पार्षद-रूपमें पहचानकर नमस्कार किया। सुनन्द-नन्दनने भी उनको देखकर प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने हाथ जोड़कर ध्रुवजीसे कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। तुमने पाँच वर्षकी आयुमें ही अपनी तपस्यासे भगवान्‌को प्रसन्न कर लिया। हम तुम्हें लेनेके लिए आये हैं, तुमने विष्णुपदको जीत लिया है। चलो, अब विष्णु-पद प्राप्त करो। यह विमान भगवान्‌ने तुम्हारे लिये भेजा है। आओ, इसपर बैठ जाओ।

जब ध्रुवजीने पार्षदोंकी यह बात सुनी तो झटसे दौड़कर विमानपर नहीं बैठे। उनको उनकी बात सुनकर बहुत आनन्द हुआ। फिर उन्होंने स्नान किया। उनके जो नित्यकर्म थे, उन सबको पूरा किया। फिर जैसे वैष्णव चन्दनादि लगाते हैं वैसे ही मङ्गल-सम्पन्न होकर जैसे कोई सौभाग्यवती स्त्री सोलहों शृङ्गार करके अपने पतिके पास जाती है, वैसे अभिषेक आदि करके और जैसे सुशील बहू अपनी सासको प्रणाम करती है, वैसे ही ऋषि-मुनियोंको प्रणाम करके, उन्होंने विमानकी पूजा-परिक्रमा की तथा पार्षदोंकी वन्दना करके उस विमानपर चढ़नेके लिए तैयार हुए।

इसी बीचमें वहाँ मृत्यु आगयी। उसने कहा कि जो मृत्युलोकसे ऊपर जाता है, उसको हमारे मुँहमें-से होकर निकलना पड़ता है। ध्रुवजीने उत्तर दिया कि आओ, हम तुम्हारा भी सत्कार करते हैं। उन्होंने मृत्युके सिरपर पाँव रखकर, जैसे सीढ़ीपर चढ़ा जाता है वैसे ही भगवान्‌के विमानमें आरोहण किया। जैसे अन्य महात्मा शरीरका त्याग करते हैं—पाञ्चभौतिक शरीरको पञ्चभूतमें; पञ्चभूतको त्रिगुणमें, त्रिगुणको एकमें, एकको आत्मामें और आत्माको परमात्मामें विलीन कर देते हैं, वैसे ध्रुवजीने अपने शरीरका परित्याग नहीं किया, बल्कि इसी शरीरसे वे विमानपर आरूढ़ हो गये। देवताओंके बाजे बजने लगे।

इतनेमें ध्रुवजीको अपनी माता सुनीतिकी याद आगयी और उन्होंने पार्षदोंको कहा कि मैं अपनी माँको छोड़कर अकेले ही भगवान्‌के धाममें जा रहा हूँ। इसपर पार्षदोंने कहा कि देखो,

तुम्हारी माँ तो दूसरे विमानमें पहलेसे ही आगे-आगे जा रही हैं। जिसको तुम्हारे-जैसा पुत्र प्राप्त हो गया, उसकी सद्‌गतिके सम्बन्धमें क्या शङ्का है ? इसपर ध्रुवजीको बड़ा आनन्द हुआ और वे देवताओं, मुनियों, ग्रहों, सबका अतिक्रमण करके विष्णुपदको चले गये। उन्हींकी कान्तिसे तीनों प्रकाशित होते हैं। जिनके हृदयमें दया नहीं, वे उस लोकमें कभी नहीं जा सकते। जो शान्त हैं, समदर्शी हैं, शुद्ध हैं और सबको प्रसन्न रखनेवाले हैं, वे ही वहाँ जा पाते हैं।

यहाँ एक बात कितनी साफ-साफ है। जो शान्त हैं—माने जिनकी समाधि लग गयी है। जो समदर्शी हैं—माने जिनको ज्ञान हो गया है। जो शुद्ध हैं—माने जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है और जो 'सर्वभूतानुरञ्जन' हैं अर्थात् सबको सुख देते हैं, सबको अनुरञ्ज देते हैं, वे ही लोग उस पदपर जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें, जो भगवान्‌के रिश्तेदार-नातेदार हो जाते हैं, वे ही उस पर जाते हैं। भगवान्‌ने उस पदको अपने सम्बन्धियोंके लिए अलग करके रखा हुआ है। वहाँ पहुँचकर ध्रुवजी तीनों लोकोंके चूड़ामणि हो गये। वहाँ कालकी महिमा व्याप्त नहीं होती।

एक बार प्रचेताओंका यज्ञ हो रहा था। वहाँ नारदजी पहुँचे और अपनी वीणापर गुणगान करने लगे। देखो, सुनीतिके पुत्र ध्रुवकी तपस्याका प्रभाव ! उसने जो गति प्राप्त की, उसे बड़े-बड़े वेदवादी भी प्राप्त नहीं कर सकते। वह पाँच वर्षकी उम्रमें ही मेरा चेला बन गया—

मदादेशकरोऽजितं प्रभुं जिगाय। ४२

इस प्रकार जैसे लोग हनुमान्‌जीको महिमाका वर्णन करके रामजीकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि—'जाके हनुमान्‌से पायक'—वैसे ही नारदजी कहते हैं कि हमारा शिष्य तो ध्रुव है, जिसने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया। मतलब यह कि ध्रुवके शिष्य होनेसे थोड़े ही दिनोंमें ही नारदजीकी महिमा बढ़ गयी।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, मैंने तुमको ध्रुवका चरित्र सुनाया। यह बहुत ही पवित्र है, इसे श्रद्धासे सुननेपर भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है, हृदय पवित्र होता है। प्रतिदिन पुण्य-तिथियोंमें सायं-प्रातः इस चरित्रका कीर्तन करना चाहिए। जैसे भूखेको भोजन देना पुण्य है, वैसे ही अज्ञानीको ज्ञान देना भी बड़ा भारी पुण्य है, अमृत है। जो ऐसा करता है, देवतालोग उसपर अनुग्रह करते हैं। ध्रुवका प्रभाव देखो कि वह बचपनमें ही खिलौनोंका मोह छोड़कर और अपनी वात्सल्यमयी माँका आश्रय छोड़कर विष्णुकी शरणमें चला गया और उसको विष्णु भगवान्‌ने अपना लिया।

●

: १३ :

सूतजो शौनकजीसे कहते हैं कि यह सब बात सुनकर विदुरने मैत्रेयजीसे पूछा कि वे प्रचेता कौन थे, जिनके यज्ञमें नारदजीने ध्रुवके चरित्रका गान किया ? पर यह प्रश्न जरा अवसरोचित नहीं था। एक कथाका प्रवाह चल रहा था। अब बीचमें यह दूसरी बात आगयी। आगे इसी प्रसंगमें ही ध्रुवके वंशमें प्रचेताओंका चरित्र आने ही वाला है, इसलिए मैत्रेयजीने विदुरके इस प्रश्नका उत्तर नहीं दिया और ध्रुवके वंशका वर्णन करने लगे।

यहाँ विचित्र वर्णन है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ध्रुवके पुत्र थे उत्कल। उत्कलको ही ध्रुवजीने पसन्द किया कि यह राज्य शासनके योग्य है। परन्तु योग्यता कुछ अधिक ही थी। उसने कहा कि यह राज्य-सिंहासन लेकर मैं क्या करूँगा ? हमारे पिताजी तो जन्मभर इसीमें लगे रहे और अन्तमें इससे उनको वैराग्य हो गया। जिससे पिताजीको बुढ़ापेमें वैराग्य हुआ, उससे हम जवानीमें ही वैराग्य क्यों न कर लें ? उत्कल जन्मसे ही शान्त था, निःसंग, समदर्शी था। उसको यह अनुभव होता था कि सबमें आत्मा है और आत्मामें सब है। आत्मा ब्रह्मरूप है, उसमें भेदका नामोनिशान नहीं था—

अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम्। ८
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत। ९

अपने सिवाय कोई दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं थी। कई लोग इसकी कथा सुनाते समय कहते हैं कि वह पागल था। इसलिए मन्त्रियोंने उसे घरसे निकाल दिया और राज्य नहीं दिया। लेकिन ध्रुवका वह बेटा पागल नहीं था, वह तो समदर्शी अवधूत था। हाँ, उसकी रहनी ऐसी थी कि दुनियाके लोग उसको होशियार समझकर किसी झगड़ेमें न डाल दें, क्योंकि जब दुनियादार लोग समझते हैं कि अमुक व्यक्तिसे हमारा कोई काम निकल सकता है, तब उसको पीसना शुरू कर देते हैं। इसलिए उत्कलने लोगोंको ऐसा दिखाया कि वह किसी कामका नहीं—

जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः । १०

इसलिए कुल-वृद्धों और मन्त्रियोंने जड़की तरह, उन्मत्तकी तरह देखकर समझा कि यह क्या राज्य करेगा और उन्होंने उसके छोटे भाईको, जो भ्रमीका बेटा था, राजा बना दिया। उसका नाम था वत्सर। वत्सरके भी छः पुत्र हुए और इसके वंशमें शिवि, गय आदि बड़े-बड़े राजा हुए।

इसी वंशमें एक अङ्ग नामक राजा हुए। उनकी महिमा बड़ी भारी थी, उन्होंने बड़ा भारी यज्ञ किया था। अङ्गकी पत्नीका नाम था—सुनीथा। जो मृत्युकी कन्या थी।

यहाँ यह बात बता रहे हैं कि सन्तानपर केवल पितृ-वंशका ही प्रभाव नहीं पड़ता, माताके वंशका भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए विवाह करते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जिस वंशसे लड़की आ रही है, उसकी क्या स्थिति है। उसी सुनीथासे वेन पैदा हुआ, जिसकी दुःशीलतासे उसके पिता राजा अङ्गको भी निर्वेद हो गया और जिसको मुनियोंने शाप दे दिया।

परन्तु जब यहाँ कथा बहुत ही संक्षेपमें कही गयी तो विदुरको सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने प्रार्थना की कि महाराज, यह प्रसंग आप विस्तारसे सुनाइये। क्योंकि यदि प्रजाका रक्षक राजा दुष्ट भी हो जाये तो भी उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। फिर वह तो ध्रुवके वंशमें पैदा हुआ था। उसे श्रेष्ठ पुरुष होना चाहिए। प्रजाने उसका तिरस्कार क्यों किया ?

इसपर मैत्रेयजीने कथा प्रारम्भ करते हुए कहा कि एक बार राजा अङ्ग अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। यहाँ देखो, इस देहाभिमानकी ओरसे ही मनुष्यके साथ मृत्यु लगी हुई है। उसीमें-से वेन अर्थात् दुराचारकी उत्पत्ति होती है। राजा अङ्गके यज्ञमें आवाहन करनेपर भी देवता नहीं आये। इसपर ऋत्विजोंको बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने अङ्गसे कहा कि महाराज, देवता आते नहीं। राजाने सदस्योंसे पूछा कि इसका कारण क्या है ? ऋत्विजोंने कहा कि महाराज, कारणका पता नहीं, किन्तु आपका कोई अपराध नहीं। आपको सन्तान चाहिए। इसलिए यदि आप पुत्रेष्टि यज्ञ करें तो आपके पुत्र भी होगा और देवता लोग भी अपना स्थान ग्रहण करेंगे। इसलिए आप सन्तानकी उत्पत्तिके लिए यज्ञ-पुरुष भगवान्‌का वरण कीजिये।

अब विष्णु भगवान्‌के उद्देश्यसे पुरोडाशका वपन हुआ। देखो, भगवान्‌को भी रोट खानेको चाहिए। पुरोडाश क्या है ? उसमें-से 'पु' और 'श'को अलग कर दो तो बीचमें बच गया 'रोडा' उसीका रोट बन गया। वह पाँच-पाँच सेरका बनता है। उसीका छोटा रूप रोटी है। यह रोटी या रोट शब्द पुरोडाशमें-से ही निकला है, जो देवताओंको भोग लगानेके लिए होता है।

अब जब आवाहन हुआ तब पुत्रेष्टि-यज्ञको अग्निमें-से स्वर्णपात्रमें पायस लेकर एक पुरुष निकला। राजाने ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उसे ले लिया और उस प्रसादको स्वयं सूँघ करके अपनी

पत्नीको दे दिया। उससे उसके गर्भ रहा और गर्भसे बालक पैदा हुआ। किन्तु यज्ञ द्वारा बालक उत्पन्न होनेपर भी उसके नाना मृत्युकी ऐसी छाया उसपर पड़ी कि वह बिलकुल नानाकी तरह ही अधार्मिक हो गया। वह बड़े-बड़े भयंकर कर्म करे। जिस रास्तेसे वह निकल जाये, लोग चिल्लायें कि अरे, वेन आया, वेन आया। वह बच्चोंको गला घोंटकर मार डालता था। राजाने बहुत कोशिश की कि इसको हम अच्छा प्रशिक्षण दें, परन्तु उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तमें निराश होकर बोले कि भगवान् उन्हींपर प्रसन्न हैं, जिनको वे कुपुत्र न दें। पुत्र न होना अच्छा है, लेकिन कुपुत्र होना अच्छा नहीं। क्योंकि कुपुत्रसे बड़ी भारी बदनामी होती है, पापीयसी कीर्ति होती है, अधर्माचरण होता है, सब लोग उसका विरोध करते हैं और उससे मनमें चिन्ता होती है। पुत्रके रूपमें मोहका बन्धन ही आता है। पण्डित लोग इसको बहुत अच्छा नहीं समझते। इनके कारण घर दुःखद हो जाता है। इतना सोचनेके बाद राजा अङ्गके मनमें थोड़ा वैराग्य उदय हुआ।

असलमें हम भगवान्के काममें तभी कोई दोष निकालते हैं, जब उसको पूरी तरहसे नहीं समझते। यदि उसकी गहराईमें घुसें तो भगवान्के किसी भी काममें दोष निकालनेका कोई कारण ही नहीं। क्योंकि—

स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय।

भगवान् जो करते हैं, उसीमें हमारा बड़ा भारी मङ्गल होता है।

राजाने विचार किया कि अच्छा बेटा होनेकी अपेक्षा तो इस दुष्ट बेटेके पैदा होनेमें ही भलाई है। भले ही यह रोज-रोज दुःख देता है फिर भी इसलिए अच्छा है कि जब यह दुःख देता है तब संसारसे वैराग्य होता है। जब मनुष्यको मालूम पड़ता है कि घरमें बहुत दुःख है तब वह भगवान्की ओर चलता है। यदि इस दुष्ट बेटेकी जगह कोई अच्छा बेटा होता तो उसके कारण घरमें आसक्ति हो जाती। उसको छोड़कर जानेको जी नहीं चाहता।

इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अङ्गके मनमें निर्वेद आया और वे रातों-रात अपना भरा-पूरा राज-भवन छोड़कर चुपचाप चले गये। किसीको पता नहीं लगा कि वे कहाँ गये? उन्होंने अपनी पत्नी वेनकी माता सुनीथाका भी परित्याग कर दिया।

जब यह बात प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृद्गणको मालूम हुई तब सब लोग शोक-ग्रस्त हो गये। सबने उनकी खोज की कि हमारे धर्मात्मा राजा कहीं मिल जायँ, लेकिन कहीं उनका पता नहीं लगा। पुरीमें लौट आये। अन्तमें सबलोग निराश हो गये।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, राजा अङ्गके चले जानेसे ऋषि-मुनियोंने देखा कि सबलोग उच्छृङ्खल होते जा रहे हैं। बिना राजाके राज्य नहीं चल सकता। इसलिए किसी-न-किसीको तो शासक बनाना ही चाहिए। क्योंकि शासक चोर, डाकू और दुष्टको दण्ड देकर प्रजाकी रक्षा करता है। प्रजा सुरक्षित रहती है तो अपने धर्मका पालन करती है। धर्म-पालनके लिए सुरक्षा है और सुरक्षाके लिए राजा है। राजा धर्म-पालनका ही अङ्ग है। यदि वह धर्म-पालनका विरोध करे तो राजा राजा होने योग्य नहीं रहता।

अब कुछ बड़े-बड़े लोग इकट्ठे हुए और सोचने लगे कि किसको राजा बनाया जाये। उन्होंने सुनीथाको बुलाया और उससे सलाह करके प्रजाके न चाहनेपर भी वेनका राज्याभिषेक कर दिया। जब वेन राज्य सिंहासनपर बैठा तो उसके आतङ्कसे सभी चोर-डाकू जङ्गलोंमें भाग गये। उसके पास अपार वैभव आगया। अभिमानी तो वह इतना बड़ा था कि अपने आप ही अपनी तारीफ करता रहता था कि 'मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ।' अपने मुँहसे अपनी तारीफ करना सत्पुरुष लोग पसन्द नहीं करते। दूसरोंसे भी अपनी प्रशंसा सुनना पसन्द नहीं करते। श्रीरूपगोस्वामीजो महाराजने कहा कि महापुरुषोंको जैसे पाप करनेमें शर्म आती है, वैसे ही अपनी तारीफ सुननेमें भी शर्म आती है—

> **अप्रेक्ष्य क्लममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियं**
> **लज्जन्ते दुरितोद्यमादिव निजस्तोत्रानुबन्धादपि।**
> **विद्यावित्तकुलाविभिश्च यदमी यान्ति क्रमान्नम्रतां**
> **रम्या कापि सतामिय विजयते नैसर्गिकी प्रक्रिया॥**

अब वेनने आदेश निकाल दिया कि यज्ञ मत करो, दान मत करो, होम मत करो। इसकी डोंडी पिटवा दी, उसने सारे राज्यमें। मुनियोंने देखा कि यह तो बड़ा भारी दुःख आगया। वे सब सत्रके लिए इकट्ठे हुए—

कृपयोचुः स्म सत्रिणः। ७

और आपसमें विचार किया कि राजा धर्मका विरोधी है और राजा नहीं रहता तो चोर-डाकू बढ़ जाते हैं, अराजकता फैल जाती है। इस भयसे हमने अयोग्यको राजा बना दिया। अब यही भय देने लगा। इसको राजा बनाना साँपको दूध पिलाने जैसा हो गया। यह स्वभावसे ही दुष्ट है और प्रजाका नाश करना चाहता है।

फिर परस्पर विचार विनिमयके पश्चात् यह निर्णय हुआ कि एक बार उससे मिलकर उसको समझाया जाये—'सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहोष्यत्यधर्मकृत् (१२)।'

यदि समझाने-बुझानेपर भी हमारी बात नहीं मानेगा तो—'लोकधिक्कारसंदग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा (१३)—प्रजा जिसके विरुद्ध हो जाती है—जिसको धिक्कारने लगती है, तब वह अपने-आप मर जाता है। यदि यह नहीं माना तो हम इसको अपने तेजसे नष्ट कर देंगे।

महात्मा लोग अपने क्रोधको छिपाकर राजा वेनके पास गये और उसको समझानेका प्रयास किया कि महाराज, आप हमारा विज्ञापन, हमारा निवेदन सुनें। इससे आपकी आयु, लक्ष्मी एवं कीर्तिकी वृद्धि होगी। यदि मनुष्य मन, बुद्धि, वाणी और शरीरसे धर्मका आचरण करे तब उसको उन विशोक लोकोंकी प्राप्ति होती है, जो बड़े-बड़े संन्यासियोंको मिलते हैं। आपका वह जो परमकल्याणमय लोक है, उसका कहीं नाश न हो जाय, क्योंकि उसके नष्ट हो जानेपर राजाको सिंहासनसे गिर जाना पड़ता है। राजा बनाया ही इसलिए जाता है कि वह अपने दुष्ट कर्मचारियों और डाकुओं दोनोंसे प्रजाकी रक्षा करे—'असाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः (१७)। जिसके नगर और राष्ट्रमें वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार यज्ञपुरुष भगवान्‌की आराधना होती है, उसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। आप स्वयं भी यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधना करें और ब्राह्मणोंको भी करने दें। उसकी अवहेलना मत करें।

यह सुनकर अभिमानी वेनने कहा कि तुम लोग मूर्ख हो, जो अधर्मको धर्म समझते हो। जैसे कोई स्त्री अपनी जीविका चलाने और पालन-पोषण करनेवाले पतिको छोड़कर जारके पास चली जाये, वैसे ही तुमलोग भूपरूप ईश्वरकी अवहेलना करते हो। कौन होता है यज्ञपुरुष, जिसके प्रति तुमलोगोंकी इतनी भक्ति है? अरे, सब देवता तो राजाके शरीरमें रहते हैं, इसलिए तुम्हें यदि यज्ञादि कर्म करना ही है तो उसके द्वारा मेरी आराधना करो, मेरी पूजा करो। अब 'इन्द्राय स्वाहा' छोड़ो और 'वेनाय स्वाहा' कहो। जो कुछ भी भेंट-पूजा देनी हो, वह सब मुझको दो।

इस प्रकार वेनकी विपर्ययबुद्धि देखकर महात्माओंने समझ लिया कि अब इसका मङ्गल भ्रष्ट हो गया है। महात्माओंको क्रोध आगया। नीति यह है कि सहसा क्रोध नहीं करना चाहिए, पहले समझा-बुझाकर काम बनानेका प्रयास करना चाहिए। फिर समझानेसे काम न बने तब क्रोध करे। महात्माओंके वर्णनके प्रसंगमें जो भृगु, अङ्गिराः वसिष्ठ आदिके नाम आते हैं, वे सब शिखा-सूत्रधारी हैं। वर्णाश्रमी और यज्ञ-यागादिपरायण, ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ होते हैं। संन्यास लेनेका अधिकार तो बहुत थोड़े लोगोंके लिए होता है। सभी महात्मा धर्मरक्षक होते हैं।

जब वेनपर समझाने-बुझानेका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब महात्माओंको क्रोध आगया और वे बोले—कि वेन-जैसे दुष्टको छोड़कर और कौन है, जो ईश्वर और यज्ञकी निन्दा करे। इसलिए यह राज्य-सिंहासनपर बैठने योग्य नहीं है—

हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः। ३१

इसको मार डालो, मार डालो। यह बड़ा पापी है। यदि जीता रहेगा तो जगत्को भस्म-सात् कर देगा। यह संन्यासका अधिकारी नहीं, क्योंकि साक्षात् यद्यपि भगवान् विष्णुकी निन्दा करता है।

इस प्रकार ऋषियोने निश्चय करके हुंकार किया और वेनको मारनेके लिए उद्यत हो गये। मर तो वह तभी गया था, जब उसने भगवान्की निन्दा की थी, ऋषियोंके हुंकारको तो उसे मारनेका एक यशमात्र ही मिला।

वेनकी माता सुनीथा बड़ी चतुर थी। उसने वेनके मृत शरीरको सुरक्षित कर दिया। वह इसलिए चुप लगा गयी कि ऋषि लोग नाराज हैं। उसके बहुत दिनों बाद ऋषि लोग सरस्वती नदीके तटपर इकट्ठे हुए और देखा कि सृष्टिमें बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं। जहाँ देखो, वहीं चोरी डैकेती। बड़ी अराजकता फैल रही है। हिंसा और उपद्रव हो रहे हैं।

चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्। ४०

सारा देश ही प्रायः चोर हो गया है, किसीके अन्दर धैर्य नहीं है। लोग देखें कि यह बुरा काम कर रहा है, परन्तु उसको रोक न सकें। ऋषियोंने सोचा ऐसी स्थितिमें ब्राह्मण क्या करें? लेकिन यदि समदर्शी शान्त ब्राह्मण भी गरीबोंकी उपेक्षा करता है तो उसका वेद, ज्ञान, वैदिक अध्ययन वैसे ही स्रवित हो जाता है, जैसे फूटे बर्तनमें-से दूध निकल जाय।

अन्तमें महात्मागण इस निश्चयपर पहुँचे कि अङ्ग राजाके वंशका नाश नहीं होना चाहिए वे राजभवनमें गये और वहाँ सुनीथा द्वारा सुरक्षित वेनका शरीर निकालकर उन्होंने उसकी जाँघका मन्थन किया। उसमें-से एक ऐसा पुरुष निकला जो कौएके समान काला था, बौना था। और महान् हनुवाला था। उसके हाथ-पाँव छोटे-छोटे थे, उसकी आँखें लाल-लाल थीं और उसके बाल ताँबेके रङ्गके थे। उसने ऋषियोंसे पूछा कि मैं क्या करूँ महाराज? महात्माओंने कहा कि निषीद-बैठ जाओ। उसीका नाम निषाद हो गया और उसीके वंशज गिरि-काननमें जाकर रहने लगे।

इस प्रसङ्गसे यह पता चलता है कि जैसे आजकल वैज्ञानिक लोग शरीरमें धातुओंका विश्लेषण कर देते हैं कि इसमें इतना अमुक तत्त्व है और इसमें इतना अमुक तत्त्व है, वैसे ही महात्माओंमें शरीरके पाप-पुण्यका विश्लेषण कर देनेकी सामर्थ्य थी। वे पाप-पुण्यका विश्लेषण करके दोनोंको अलग-अलग कर देते थे और पापांशको उधर तो पुण्यांशको इधर भेज देते थे।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, ब्राह्मणोंने वेनकी जाँघके बाद उसके बाहुका मन्थन किया तो उसमें-से एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। उसे देखकर महात्माओंने पहचान लिया और वे बोले कि जो पुरुष हैं, यह तो साक्षात् विष्णु भगवान्की कला है और जो कन्या है, यह साक्षात् लक्ष्मीकी कला है। पुरुषका नाम पृथुश्रवा होगा, जो राजाओंमें सबसे अधिक प्रभावशाली होगा। और, यह जो इसके साथ देवी पैदा हुई है, इसका नाम अर्चिः होगा। ये लक्ष्मी हैं, जो भगवान्के साथ आयी हैं।

अब ब्राह्मण लोग उसकी प्रशंसा करने लगे, गन्धर्व गान करने लगे; देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा होने लगी। ब्रह्माजीने आकर देखा तो पृथुके दाहिने हाथमें गदाधारी भगवान्का रेखात्मक चक्र था और चरणोंमें पद्म चिह्न था। उन्होंने पहचान लिया कि यह भगवान्का अवतार ही है।

जब अभिषेक होने लगा तो सबलोग अपनी-अपनी ओरसे विविध पदार्थोंके उपायन लेकर आये। उपायन माने भेंट या उपहार। यह उपायन शब्द ही गाँवोंकी तरफ 'वायन' बन गया है। अब तो बड़ी भारी शोभा हुई। कुबेरने सोनेका सिंहासन दिया और वरुणने छत्र दिया। श्री हरिने अपना चक्र दे दिया, लक्ष्मीने अपनी सम्पत्ति दे दी, रुद्रने तलवार दे दी और अम्बिकाने चर्म दे दिया। इस प्रकार सभी देवी-देवताओंने अपनी-अपनी वस्तुएँ पृथु और अर्चिःको समर्पित कर दीं। सिन्धु, नदी, नद, पर्वत आदि सबने कह दिया कि पृथु हमपर जहाँ भी जाना चाहें, वहाँ अपना रथ लेकर जा सकते हैं।

इसके बाद जब प्रशंसा करनेके लिए सूत, मागध, बन्दी आदि इकट्ठे हुए तब पृथुने कहा कि क्योंजी, अभी तो हम पैदा हुए हैं, हमारे अन्दर क्या गुण हैं, क्या नहीं—इसका कुछ पता नहीं फिर तुम लोग क्या मेरी स्तुति करोगे? लोग बच्चा पैदा होते ही उसकी तारीफ करना शुरू कर देते हैं, लेकिन भले लोग अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न नहीं होते। इसलिए जब हमारा कोई गुण प्रकट हो तब तुमलोग उस गुणकी स्तुति करना। क्योंकि स्तुति गुणकी की जाती है। अभी जो गुण हमारे अन्दर हैं ही नहीं, उनको लेकर यदि हम स्तुति करायेंगे तो यह बात भले आदमीके योग्य नहीं—'ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्' (२५)। जो लज्जावान्, उदार पुरुष होते हैं, वे अपनी निन्दा-स्तुति नहीं सुनते। जैसे कोई बच्चेकी तारीफ करे कि वाह बेटा, तुम बड़े बहादुर हो और वह सुनकर बच्चा खुश हो जाय, वैसे ही हम तुमसे अपनी स्तुति नहीं कराना चाहते।

मैत्रेय जी कहते हैं कि विदुरजी पृथुकी बात सुनकर सूत, मागध, बन्दी सबको बोलती बन्द हो गयी और उन्होंने मुनियोंकी ओर मुख कर उनसे पूछा कि महाराज, अब हम क्या करें ? कैसे स्तुति करें ? मुनियोंने कहा कि देखो, तुमलोग ऐसे स्तुति करो कि महाराज, आप आगे चलकर ऐसे होंगे, वैसे होंगे। स्तुति करनेकी यह रीति बहुत बढ़िया होगी। क्योंकि इस प्रकार तुम लोग अच्छे-अच्छे गुणोंकी कल्पना करके कहोगे कि आपके अन्दर ये-ये अच्छे गुण प्रकट होंगे।

इसके बाद सूत-मागध-बन्दीजन पृथुसे कहने लगे कि हम आपकी महिमाका वर्णन क्या कर सकते हैं ? आप तो साक्षात् भगवान् हैं। यहाँ देखो, किसीकी भी—प्रशंसा करनी हो तो उसको भगवद्रूप समझकर ही उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, उसमें संकोचकी कोई बात नहीं। हमारे एक मित्र किसीकी तारीफ नहीं करते। अपनेको इतना बड़ा लोकप्रिय समझते हैं कि अगर मेरे मुँहसे किसीकी तारीफ निकल जायेगी तो लोग उसको बड़ा मानने लगेंगे और उसकी गलतीमें फँस जायेंगे—इस डरके मारे वे किसीकी तारीफ ही नहीं करते। लेकिन इस प्रकारका अहंभाव ठीक नहीं। कहीं-कहीं प्रशंसा आवश्यक होती है। इसलिए उसकी रीति यह है कि जिसकी प्रशंसा करनी हो, उसमें भगवान्का दर्शन करते हुए प्रशंसा करो कि इसमें अमुक भगवत्तत्त्व है, अमुक भगवद्रस है। क्योंकि भगवान् सबमें हैं।

तो सूत आदि लोग भगवान्के अंशकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि ये धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ होंगे। धर्ममर्यादाके उपदेष्टा होंगे दुष्टोंके शास्ता होंगे और सर्व लोकपालोंके तेजको अपने शरीरमें धारण करेंगे। जैसे सूर्य पृथिवीका रस लेकर समयपर बरस देते हैं, जैसे पृथिवी सबको क्षमा करती है, जैसे इन्द्र वृष्टि करके प्रजाकी रक्षा करते हैं, जैसे चन्द्रमा सबके ऊपर चाँदनीकी बरसा करता है, जैसे वरुण अप्रकट रहकर निधिकी रक्षा करते हैं, जैसे अग्नि दुर्धर्ष रहते हैं—कोई उनको दबा नहीं सकता, जैसे वायु सबके लिए श्वास देता है, वैसे ही लोकपालोंके गुण पृथुमें होंगे। इनका यदि अपना बेटा भी बुरा काम करेगा तो उसको दण्ड देंगे, किन्तु शत्रुका बेटा भी यदि निरपराध होगा तो उसको दण्ड नहीं देंगे। इनका चक्र अप्रतिहत होगा और सारी सृष्टिका ये अनुरञ्जन करेंगे। ये दृढ़व्रत, सत्यसन्ध और सबके शरण्य होंगे। परस्त्रीको माताके समान समझेंगे, सन्तोंके सेवक होंगे, सबसे आत्माके समान प्रेम करेंगे और दुष्टोंको दण्ड देंगे। ये तो साक्षात् भगवान् ही हैं, जो कलासे अवतीर्ण हुए हैं। सारे भूमण्डलमें घूम-घूमकर उसकी रक्षा करेंगे।

इस प्रकार पृथुके चरित्रमें जो आगे आनेवाले गुण हैं, उन सबका उन्होंने वर्णन किया। इन गुणोंका वर्णन यदि बच्चोंके सामने किया जाये तो उनका संस्कार दृढ़ होगा और उनके मनमें बुरे विचार कभी आयेंगे नहीं।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, जब इस प्रकार पृथुकी ख्याति हुई तो उन्होंने प्रशंसकोंके मनमें जो-जो इच्छा थी, वह सब पूरी की। क्योंकि राजाका यह काम है कि वह सूत, बन्दी, मागध आदिकी जो परम्परा है, इसको भी चालू रखे। यह नहीं कि जो उसके खेतमें हल जोते, उसीकी जीविका वह चलावे। राजाका तो यह काम है कि चाहे कोई उसे माने या न माने, उसकी पार्टीमें हो या दूसरी पार्टीमें हो, राजा सबके समानरूपसे पालन-पोषण और संरक्षण-सम्वर्धनकी व्यवस्था करे। राजाकी तरफसे ऐसी ही व्यवस्था होनी चाहिए। राजा अपनी राजगद्दीपर भगवान्के रूपमें बैठता है, इसलिए उसमें ईश्वरीय गुणोंका सन्निवेश होना चाहिए।

अब विदुरने पूछा कि मुनिवर, मैंने सुना है कि पृथिवीने गायका रूप धारण किया था। वह किसलिए किया था और पृथुने उसका दोहन कैसे किया था? बछड़ा क्या था? कृपा करके आप यह सब हमको बताइये। पृथिवी तो प्रकृतिसे ही विषम है। पृथुने उसको समान कैसे कर दिया? इन्द्रने उनका घोड़ा कैसे चुराया? अभी-अभी सूत-मागध, बन्दीजनोंने पृथुके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह सब आप हमें सुनाइये।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, जब राजा पृथुका राज्याभिषेक हुआ और वे जनताके रक्षकके रूपमें सिंहासनपर बैठे तो उस समय सबसे बड़ी समस्या यह थी कि प्रजाके पास खानेके लिए अन्न नहीं था—

प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन्। ९

सब लोग भूख-प्याससे दुबले हो गये थे। उन्होंने पृथुके पास आकर पहली बात यही कही कि महाराज, और सब काम पीछे होंगे—पाठशाला, चिकित्सालय आदि बादमें बनवाना, इस समय तो हम भूख-प्याससे वैसे ही आकुल-व्याकुल हो रहे हैं, जैसे किसी पेड़की कोटरमें आग लग गयी हो। इसलिए पहले हम लोगोंके भोजनका प्रबन्ध आप करें—क्योंकि आप हमारे राजा हुए हैं—

क्षुधार्दितानां नरदेवदेव।

यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः। ११

अब जब पृथुने प्रजाका यह कष्ट सुना तो पहले बहुत चिन्तन किया। चिन्तन करते-करते उन्होंने यह बात पकड़ ली कि पृथिवीमें जो ऊर्जा-शक्ति है—जिससे अन्न उपजता है, वह पृथिवीने चुरा ली है। यही कारण है कि पृथिवीमें-से जितना अन्न पैदा होना चाहिए, उतना नहीं हो पा रहा है। अब उन्होंने धनुष-बाण हाथमें लिया। राजाके पास तो धनुष-बाण ही होता है। पर यह जो धरती खोदनेवाली कुदाली है, यह भी धनुषबाण ही है।

सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा। १३

राजाको पृथिवीपर बड़ा भारी क्रोध आया। धरती डर गयी, वह उनके सामनेसे हरिणीकी तरह भागने लगी। उसने गायका रूप बना लिया। जहाँ-जहाँ पृथिवी थी, वहाँ-वहाँ उनका राज्य था। इसलिए जहाँ-जहाँ पृथिवी जाये, वहाँ पृथु खड़े मिले। अन्तमें पृथिवीने कहा कि प्रभो, आप शरणागतवत्सल हैं। प्राणियोकी रक्षाके लिए आये हैं। मैं तो स्त्री हूँ, निष्पाप हूँ, मुझपर आप क्यों प्रहार करना चाहते हैं ? यदि स्त्रीसे कोई अपराध हो जाये तब भी लोग उसपर प्रहार करना पसन्द नहीं करते। यदि मैं नहीं रहूँगी तो आपको प्रजा कहाँ रहेगी, स्वय आप कहाँ रहेंगे ?

तपस्वी पृथुने पृथिवीको फटकारते हुए कहा कि यदि तुम मेरे शासनसे पराङ्मुख होकर रहोगी तो मैं तुम्हारा वध कर डालूँगा। तुम गाय बनकर घास खाती हो और दूध नहीं देती। तुम्हें तो दण्ड मिलना चाहिए। सृष्टिमें पहले जितनी ओषधियाँ थीं, सबको तुमने ग्रस लिया, उनके बीज तुम्हारे अन्दर छिपे हुए हैं और प्रजा भूखसे मर रही है।

शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा। २५

देख मेदिनी, तेरे चप्पे-चप्पेको मैं अपने बाणोंसे छिन्न-भिन्न कर दूँगा। ऐसी व्यवस्था कर दूँगा कि लोग मिट्टी खाकर अपना जीवन व्यतीत करें। मिट्टीको मैं खाने योग्य बना दूँगा। तुम्हारा जो मेदः है, उसे भोज्य बना दूँगा। चाहे कोई नपुंसक हो, स्त्री हो अथवा पुरुष हो, यदि वह दूसरोंको हानि पहुँचाता है तो उसको मारनेसे राजाको दोष नहीं लगता। तुमको स्त्री समझकर छोड़ देनेकी जरूरत नहीं। तुमने प्रजाके साथ अन्याय किया है। तुम्हारा रूप गाय नहीं है। अगर तुम असल गाय होती तो मैं तुमको छोड़ देता, बाण नहीं मारता। तुम तो अपनी मायासे हमारे सामने गाय बनकर आयी हो। इसलिए हमारे बाण तुमको देखकर संकोच करनेवाले नहीं। रही बात यह कि तुम्हारे नष्ट हो जानेपर प्रजाका धारण कहाँ होगा तो हम आत्मयोगबलसे प्रजाका धारण कर लेंगे।

पृथुका रौद्र-रूप देखकर पृथिवी उनको पहचान गयी कि ये तो हमारे वे ही हैं। उसने झट मानवीरूप धारण करके हाथ जोड़े और चरणोंमें गिरकर बोली—

नमः परस्मै पुरुषाय मायया विन्यस्तनानातनवे। २९

आप नानारूप धारण करते हैं महाराज! आपको नमस्कार है! आपमें द्रव्य, क्रिया, कारक, विभ्रमकी तरंग बिलकुल नहीं। आपने ही तो मुझे बनाया है और आप ही मारनेके लिए उद्यत हुए हैं। तब मेरी रक्षा कौन करेगा, आपने ही पहले वराह-अवतार धारण करके मेरा उद्धार किया। मुझको आपने नावकी तरह जलमें बैठाया था। आप ही मेरे लिए धराधर बने थे। प्रभो, पता नहीं चलता कि आपकी क्या इच्छा है? मैं तो आपके चरणोंमें नमस्कार करती हूँ।

१८

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, इस प्रकार पृथिवी डरकर भगवान् पृथुको स्तुति करने लगी। उसने प्रार्थना की कि महाराज, आपके मनमें यह जो क्रोध है, इसको आप शान्त कर दीजिये और मेरी प्रार्थना सुनिये—

संनियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितं च मे। २

देखिये महाराज, विद्वान् पुरुषको चाहिए कि अगर शत्रु भी कोई सारगर्भित बात कहता है तो वह उसे मान ले। संसारमें जो परिस्थिति आती है, वह एक ही बार आती हो, ऐसा नहीं। मुनियोंने तो इस लोकमें और परलोकमें सब प्रकारकी परिस्थितियाँ देखीं है—'दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयः प्रसिद्धये (३)।

महाराज, कैसी आपत्ति-विपत्ति आनेपर और कौन-सा रोग होनेपर क्या दवा देनी चाहिए, यह योग हमारे महापुरुषोंने जाना है और उसका प्रयोग भी किया जाता है। आज जो रोग आया है, वह क्या संसारमें कभी नहीं आया था? कभी तो प्रजा बहुत बढ़ जाती है और जब युद्ध होता है, संहार हो जाता है तब प्रजा बहुत घट जाती है। परशुरामके समयमें प्रजा बहुत घट गयी थी। उस समय महात्माओंने दूसरे प्रकारका प्रयोग और नियोग किया। महात्मा लोग समय-समयपर आपत्ति-विपत्तिके निवारणका प्रयोग जानते हैं। ऐसे अवसरोंपर महात्मा लोगोंने जो-जो उपाय किये हैं, उनका भली-भाँति अनुष्ठान करनेपर सुख मिलता है। इसलिए लोगोंको चाहिए कि वे अपने पूर्व पुरुषोंके अनुभवसे फायदा उठायें।

अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा। ४

जो अपने पूर्वजोंके अनुसार श्रद्धापूर्वक चलता है, उसको उपेयकी प्राप्ति हो जाती है। पहलेके लोगोंका अनुभव है कि जब उन्होंने आगमें हाथ डाला, तब वह जल गया। इसलिए

उन्होंने हमको बताया कि देखो बेटा, आगमें हाथ नहीं डालना, नहीं तो जल जाओगे। अब यदि हम आपकी बात नहीं मानते, हम भी आगमें हाथ डालकर देखेंगे। इसका परिणाम क्या होगा? यही होगा कि आगमें हाथ डालेंगे तो जलेंगे। इसलिए खैरियत इसीमें है कि हमें अपने बुजुर्गोंके अनुभवसे फायदा उठाना चाहिए—

ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्। तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥ ५

जो बड़े-बूढ़ोंकी बात नहीं मानता, उनके अनुभवसे लाभ नहीं उठाता, वह बारम्बार उपाय तो करता है; किन्तु उसका काम बिगड़ता है।

पृथिवी कहती है कि पहले ब्रह्माने ओषधियोंकी सृष्टि की थी। देखो, ओषधिका अर्थ है—'ओषधि दोषान् धत्ते गुणान्।' जो हमारे जीवनमें दोषोंका नाश और गुणोंका आधान करे, जो विकारको मिटाये और संस्कारको जाग्रत् करे—उसका नाम ओषधि है। ब्रह्माने उनको सृष्टि इसीलिए की कि मनुष्य इनसे अपनी उन्नति करें। परन्तु मैंने देखा कि दुष्ट लोग, जिनके जीवनमें कोई व्रत नहीं, उनको खाकर बड़ा उपद्रव करते हैं।

यहाँ देखिये, आपने धर्मशास्त्रोंकी बात कभी-कभी जरूर सुनी होगी। वह स्मृतियोंमें एक जगह नहीं, चार-छह जगह आता है। उसमें कहा गया है कि जिस गाँव या शहरमें ऐसे लोगोंको भीख मिलती हो, जिनके जीवनमें कोई व्रत नहीं और कोई अध्ययन नहीं, उसे गाँवपर सामूहिक जुर्माना कर देना चाहिए—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥

जैसे चोरको खिलानेवाला भी चोर है, वैसे ही व्रतहीन और अध्ययनहीनको भोजन देनेवालो भी अपराधी है।

पृथिवी कहती है कि जब व्रतहीन लोग, जिनके अन्दर न तो ब्रह्मचर्यादि है और न जो सदाचारका पालन करते हैं, अन्न आदिका दुरुपयोग करने लगे, तब मैंने उनको दबा लिया। मैंने सोचा कि जब कोई चीज नहीं रहेगी तो फिर यज्ञके लिए औषधियाँ कहाँ मिलेंगी।

तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति। ८

अब तो जो दृष्ट उपाय हैं—लौकिक उपाय हैं, उनसे उनको प्राप्त करना चाहिए। यह नहीं कि निरुपाय होकर स्वर्गकी ओर देखें और हाथ जोड़कर प्रार्थना करें कि हे इन्द्र देवता, तुम हमारे घरमें, हमारे खेतमें गेहूँ पैदा करो। उसका जो लौकिक उपाय है, वह करना चाहिए। उसके लिए बादलको हाथ जोड़नेकी जरूरत नहीं, सिंचाईका बन्दोबस्त करनेकी जरूरत है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि कोई काम लौकिक उपायसे सिद्ध होता हो तो उसके लिए अलौकिक उपायका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं होती—'सत्यां दृष्टेनोपपत्तौ अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। यदि लौकिक उपायसे वस्तुकी सिद्धि होती हो तो अलौकिक कल्पना बिलकुल नहीं करनी चाहिए।

पृथिवीने कहा कि देखो महाराज, आप हमारे लिए अब वत्सकी कल्पना करें, जिससे जिसको जो चाहिए वैसा दूध मैं दूँ और आप मेरे योग्य बछड़ेके दोहन-पात्र और दुहनेवालेकी व्यवस्था कीजिये। मैं उस बछड़ेके स्नेहसे पेन्हाकर दूधके रूपमें आपको सभी अभीष्ट वस्तुएँ दे दूँगी। एक बात और है। यदि आपको ये सब चीजें चाहिए तो आप हमको समतल करें और वर्षासे जो पानी आता है, उसके रुकनेकी व्यवस्था करें—'अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत' (११)। जब वर्षा न हो तो भी जलाशयमें पानी भरा रहे, उससे सिंचाई हो और लोगोंको पीनेके लिए जल मिल जाये। अप-ऋतुका अर्थ है कि जब वर्षा ऋतु न हो तब भी।

जब पृथिवीने यह बात कही तब राजाने मनुजीको बछड़ा बनाकर जौ आदि औषधियोंका दोहन किया। कोई परम्परा नष्ट नहीं होने दी। सबको अप-ऋतु (बिना ऋतुके भी) फलने-फूलने वाला बनाया। यहाँ देखिये पहली बात यह बतायी गयी कि सबका भोजन धरतीमें-से निकलता है और दूसरी बात यह कि महापुरुष सब जगहसे सार ग्रहण कर लेते हैं।

अब ऋषियोंने बृहस्पतिको वत्स बनाया और उससे वेदमय छन्दका दोहन किया। देवताओंने इन्द्रको वत्स बनाया और ओज-बल पयका दोहन किया। इस प्रकार दैत्योंने प्रह्लादको वत्स बनाकर अपने अनुकूल पदार्थोंका दोहन किया। गन्धर्व अप्सराओंने विश्वावसुको वत्स बनाकर वाङ्माधुर्य, सौन्दर्यादिका दोहन किया। सिद्धोंने कपिलको बछड़ा बनाकर सिद्धिका दोहन किया। मायावियोंने मयासुरको बछड़ा बनाकर अन्तर्धानरूप मायाका दोहन किया। यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाचोंने भी रुद्रको वत्स बनाया और कपालपात्रमें अपना जो पेय था, उसका दोहन कर लिया। सर्प, नागादि विषैले जन्तुओंने तक्षकको वत्स बनाया और अपने मुखपात्रमें विषका दोहन किया।

देखो, धरतीपर साँप भी रहने चाहिए। एक देशमें ऐसा हुआ कि सब साँप मार डाले गये। उसके बाद वहाँ जब गेहूँ, जौ आदिकी खेती होने लगी तो चूहे इतने बढ़ गये कि उन्होंने काट-काटकर गेहूँ-जौको अपने बिलोंमें छिपा दिया। दूसरे देशसे साँप मँगा-मँगाकर खेतोंमें छोड़े गये कि वे चूहोंको मारें। यह सच्ची घटना है। ईश्वरकी सृष्टिमें सब चीजोंकी जरूरत होती है। इसमें मच्छरकी भी जरूरत है, बिच्छूकी भी जरूरत है।

पशुओंने नन्दीको वत्स बनाकर तृणका दोहन किया। व्याघ्रादिने सिंहको वत्स बनाकर

मांसका दोहन किया। पक्षियोंने गरुड़को वत्स बनाकर कीट फलादिका दोहन किया। वनस्पतियोंने वटको वत्स बनाकर रसमय पेयका दोहन किया। पर्वतोंने हिमाचलको वत्स बनाकर अपने शिखरपर स्वर्णादि धातुओंका दोहन किया।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जब पृथु राजा हुए तब उन्होंने लौकिक उपायोंसे पृथिवीके भीतर छिपे हुए रत्नोंको प्रकट कर दिया। ईश्वरकी सृष्टिमें जितने भी पदार्थ हैं, वे सब प्रकट हों और उनकी परम्परा बनी रहे, यह राजाका ही काम है।

अब पृथुजी महाराज पृथिवीपर बहुत ही प्रसन्न हुए। बोले कि हम एक मर्यादाका स्थापन करते हैं। पृथिवी किसी राजाकी पत्नी अथवा भोग्या नहीं होती। जैसे लक्ष्मी भगवान्‌की पत्नी हैं, वैसे ही यह लक्ष्मी भी भगवान्‌की ही पत्नी है। राजाका कर्त्तव्य है कि वह पृथिवीको अपनी बेटीके समान समझें। इससे अपना स्वार्थ न सिद्ध करे, बल्कि इसकी सब वस्तुएँ प्रजाको मिलें, ऐसी व्यवस्था करे। राजा पृथु ऐसे पहले राजा हुए, जिन्होंने पृथिवीको अपनी बेटी माना, अपनी भोग्या नहीं माना।

पृथुने ऐसी व्यवस्थाकी कि जो पृथिवीपर ऊँचे-ऊँचे टीले थे, बड़ी-बड़ी गहरी खाइयाँ थीं, उन सबको प्रायः समानकर दिया गया—'भूमण्डलमिदं वैन्य प्रायश्चक्रे समं विभुः' (२९)। इसके बाद उन्होंने सोचा कि सब लोग एक ही जगह इकट्ठे हो जायेंगे तो पीनेको पानी कहाँ मिलेगा ?

अभी हम कुछ दिन पहले महाराष्ट्रमें सन्त तुकड़ोजीके स्थानपर गये थे। वहाँ एक लाख आदमी इकट्ठे हुए थे, प्रवचन सुननेके लिए। वह छोटा-सा गाँव था। मुश्किलसे पाँच सौ आदमियोंको बस्ती होगी। लोग भोजनकी सामग्री तो साथ ले-लेकर आये थे, परन्तु पीनेके पानीका प्रबन्ध वहीं करना पड़ा था। इसलिए राजाको अपने राज्यमें सारी व्यवस्था करनी पड़ती है। सब लोग इकट्ठे हो जायें और कहें कि हम नगरमें ही रहेंगे, गाँवमें कोई नहीं रहेगा, तो कैसे व्यवस्था होगी ? इसलिए पृथुने गाँवोंके, नगरोंके अलग-अलग बसानेकी व्यवस्था की। इसी तरह उन्होंने छोटे-छोटे कस्बे, दुर्ग, अहीरोंकी बस्ती, पशुओंके खानेकी जगह, सेनाके लिए छावनियों आदिका अलग-अलग निर्माण किया। पृथुके पहले इस प्रकारकी बनावट नहीं थी। जो जहाँ चाहता था, वहीं बस जाता था।

आज भी आवश्यकता इस बातकी है कि सब लोग अलग-अलग अपने-अपने स्थानपर बसें। समस्या वहाँ पैदा हो जाती है, जहाँ देशके अधिक लोग नगरमें रहनेके लिए एकत्र हो जाते हैं। तब वहाँ अन्न, जल, दूध, फल, सब्जी आदिका मिलना मुश्किल हो जाता है।

❀

: १६ :

मैत्रेय जी कहते हैं कि विदुर जी, पृथिवीका दोहन करनेके बाद पृथु ने सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका संकल्प किया। इस यज्ञके माध्यमसे सारे देशमें राजाकी सेना घूम लेती है और जो घमण्डी लोग बीच-बीचमें कुछ उपद्रव करते हैं, उनको दबानेका भी मौका मिल जाता है। विभिन्न स्थानोंकी वस्तुएँ एक जगह इकट्ठी होती हैं और उनका वितरण भी होता है।

अब जब इन्द्रने सौ अश्वमेध यज्ञका संकल्प सुना तो उन्हें सहन नहीं हुआ। उनका ख्याल था शतक्रतु तो मैं ही हूँ। मेरे नामके साथ ही शतक्रतु विशेषण लगा रहना चाहिए। दूसरे किसीको यह विशेषण लगानेका अधिकार नहीं। शक्र भी इन्द्रको ही कहते हैं। जैसे किसीका नाम रामकुमार है तो आजकल आर० के० लिखते हैं, वैसे ही शत-क्रतुमें-से शत का 'श' और क्रतुका 'क्र' लेकर 'शक्र' लिखते हैं। यहाँ इन्द्रका संक्षिप्त नाम है। वे चाहते हैं कि दुनियामें कोई दूसरा 'शक्र' लिखकर हस्ताक्षर न करे, जब करूँ तो मैं ही करूँ।

पृथुके यज्ञमें साक्षात् भगवान् आये थे, उनके साथ गन्धर्व, मुनि, अप्सरा, विद्याधर, कपिल, नारद, दत्तात्रेय, सनकादि भी थे। पृथिवी कामधेनु हो गयी थी। जो चीज जहाँ माँगो, वहीं वह चीज मिलती थी—क्षीर, दधि, अन्न, गोरस, सब वहाँ प्रवाहित होते थे।

असलमें ये सब चीजें वातावरणमें रहती हैं। जैसे हम यहाँ मण्डपमें बैठे हैं और अमेरिका और रूससे जो बातें ब्राडकास्ट की जाती हैं, वे सब शब्द यहाँ भी हैं मौजूद हैं, रेडियो उनको पकड़-कर सुना देता है। ऐसे ही जो दही है, दूध, घी आदि हैं वे सर्वत्र वातावरणमें व्याप्त हैं।

इन्द्रने सोचा कि पृथुके सौ यज्ञ पूरे नहीं होने चाहिए। इसलिए उन्होंने एक पाखण्डीका वेश धारण करके यज्ञके घोड़ेको हर लिया। अत्रिने अपनी दिव्य दृष्टिसे उसको देख लिया और पृथु-पुत्रने उसका पीछा किया। परन्तु इन्द्रके पाखण्ड वेशको देखकर पृथुपुत्रने समझा कि यह तो कोई धर्मात्मा है, जो जटाको बाँधे हुए है और शरीरमें भस्म लगाये हुए है। इसलिए उसने सोचा कि ऐसे धर्मात्माको क्यों मारें ?

किन्तु यदि कोई पाखण्ड करे तो उसके वेश का आदर नहीं करना चाहिए। उसके अन्दर कितनी सच्चाई है, इसका आदर करना चाहिए। इसलिए अत्रिने कहा कि यह तो पाखण्डी है। यह तुम्हारे यज्ञमें बाधा डालनेवाला है, इसलिए इसको तुम मारो। यह सुनकर पृथु-पुत्रने जब दुबारा पीछा किया तब इन्द्र भाग गये और वह घोड़ेको ले आया। तबसे पृथु-पुत्रका नाम विजिताश्व हो गया।

इन्द्र पहली बार तो भागकर बच गये। परन्तु उसके बाद फिर वही उपद्रव करने लगे। इसपर पृथुको बड़ा भारी क्रोध हुआ और उन्होंने कहा कि हम इसको मारेंगे। परन्तु ऋत्विजोंने उनको मना कर दिया कि नहीं, नहीं, आप यज्ञमें दीक्षित हैं, इसलिए आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। हम आवाहन-मन्त्रोंसे इन्द्रको यहीं बुलाकर यहीं हवन-कुण्डमें उसका हवन कर देते हैं।

इसी बीचमें ब्रह्माजी वहाँ आगये और उन्होंने कहा देखो, पृथु! यह तुम्हारे योग्य नहीं कि तुम इन्द्रको मारो। तुम्हें सौ यज्ञोंसे क्या करना है? निन्यानबे यज्ञ ही रहने दो। तुम तो मोक्ष-धर्मके जानकार हो। इन्द्रपर क्रोध मत करो। तुम भी भगवदंश हो और वह भी भगवदंश है। यज्ञ-विघ्नकी चिन्ता भी मत करो। अब यज्ञको यहीं रोक दो। क्योंकि इन्द्र पाखण्डका निर्माण कर रहा है। जब इतना प्रसिद्ध व्यक्ति पाखण्ड करने लगा तो उसकी देखा-देखी दूसरे लोग भी पाखण्डी हो जायेंगे। तुम तो धर्मकी रक्षाके लिए अवतीर्ण हुए हो। विश्वस्रष्टाओंका संकल्प पूर्ण करो, यह मार्ग छोड़ दो।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुर जी, जब पृथुने इस प्रकार ब्रह्माके वचन सुने तो उन्होंने कहा कि यज्ञाग्रहमें कुछ नहीं रखा है। हमारी तो इन्द्रसे मैत्री बनी रहे, यही अच्छा है।

इसके बाद पृथुने अवभृथ-स्नान किया। देवताओंने वर दिया। ब्राह्मणोंको खूब दक्षिणा मिली। जो लोग यज्ञमें आये थे, उन सबकी दान-मानसे पूजा हुई और वे सब अपने-अपने स्थानपर लौट आये।

देखो, यज्ञ सम्पत्ति-वितरणका एक बहुत बड़ा माध्यम था, उसकी बड़ी भारी प्रणाली थी। यज्ञके द्वारा एक तो मिट्टीको पवित्र मिट्टी मिलती है, जलको पवित्र जल मिलता है, अग्निको पवित्र ओषधि मिलती है और वायुको पवित्र वातावरण मिलता है, सम्पूर्ण तत्त्वोंकी सेवा होती है। देवताओंकी भावसे आराधना होती है, ध्यान होता है और उसमें जो मन्त्र पढ़ता है, उस वैदिककी जीविका चलती है। जो सेवा करता है, उसकी जीविका चलती है। इसलिए यदि धन इकट्ठा हो गया हो तो यज्ञ-यागादि करके धर्म-प्रेमी लोगोंमें उसका वितरण कर देना चाहिए—बाँट देना चाहिए। अपने पास बहुत धन इकट्ठा नहीं करना चाहिए। उससे कोई लाभ नहीं होता।

❀

मैत्रेय जी कहते हैं विदुर जी, महाराज पृथुके निन्यानबे यज्ञ पूरे होनेसे यज्ञ-भोक्ता भगवान् नारायण बहुत ही प्रसन्न हुए। और इन्द्रको साथ लेकर पृथुके पास आये। भगवान्‌ने कहा कि देखो, पृथु, यह वही इन्द्र है, जिसने तुम्हारे अन्तिम यज्ञमें विघ्न पैदा कर दिया। अब यह क्षमा माँग रहा है, इसलिए तुम इसको क्षमा कर दो—

क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि। २

देखो, इससे बड़ी विजय और क्या होगी कि स्वयं यज्ञेश्वर भगवान् इन्द्रको पकड़कर ले आये और बोले कि यह तुमसे माफी माँग रहा है। क्या उस अन्तिम-अधूरे यज्ञसे इतनी बड़ी कीर्ति मिलती ?

भगवान् कहते हैं कि महात्मा लोग सबको क्षमा ही करते हैं। 'नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यः (३)। महात्मा कभी किसीसे द्रोह नहीं करते। क्योंकि 'यर्हि नात्मा कलेवरम्' (३)। अपना स्वरूप कुछ है तो सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि है। एक देहमें 'मैं' करनेका कोई कारण नहीं। यह शरीर पञ्चभूतसे बना हुआ है। किन्तु इसमें जो आकाश है, वह क्या बाहरके आकाशसे अलग होता है ? क्या हम-लोग साँस किसी दूसरी हवामें-से लेते हैं ? क्या हमलोगोंकी गर्मी किसी दूसरी आगसे आती है ? यदि हम शक्ल-सूरतका ख्याल छोड़ दें—देहाभिमान छोड़ दें तो हमारे, आपके, सबके शरीरमें एक ही आकाश, एक ही वायु, एक ही अग्नि, एक ही जल और एक ही मिट्टी है। असलमें एक ही शरीरके सब संकल्प हैं। एक ही अन्तःकरण है। एक ही ब्रह्मा है, एक ही विष्णु है, एक ही महेश है, एक ही माया है और एक ही परमेश्वर है। सब एक-ही-एक हम सबके शरीरमें हैं। लेकिन जब हम इस शरीरको 'मैं' मान लेते हैं, तब संसारमें किसीसे द्रोह करने लगते हैं। इसलिए हमारा अध्यात्मशास्त्र सब अनर्थोंकी जड़ इस 'मैं'को मिटानेके लिए ही है।

यदि तुम्हारे सरीखे लोग भी किसीसे द्रोह करने लगेंगे तो दीर्घकालतक सन्त-सेवा करनेका क्या फल निकला ? इसीलिए समझो कि जो शरीर-भाव है, यह अपने स्वरूपको ब्रह्म न जाननेके कारण है। इसमें अज्ञान अपने स्वरूपका नहीं है। अपना स्वरूप तो बिलकुल अपरोक्ष आत्मा है। आत्माके बिना कोई व्यवहार नहीं होता। सुषुप्ति भी नहीं होती, समाधि भी नहीं होती, विक्षेप भी नहीं होता और मल भी नहीं होता। अपना स्वरूप देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न और सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्म है। अद्वितीयता ब्रह्मकी है और चेतनता अपने स्वरूपकी है। स्वरूपगत चैतन्य ही अद्वितीय ब्रह्म है। इस बातको न जाननेके कारण ही हम कहीं-कहीं अपनेको जोड़कर कहने लगते हैं कि हम यह हैं, हम वह हैं। यही सम्पूर्ण दुःखोंका मूल है, यही अविद्या है। अविद्याके कारण कामना होती है, कामनाके कारण कर्म होता है, कर्मके कारण संस्कार इकट्ठे होते हैं, संस्कारसे वासनाएँ होती हैं और वासनाओंसे जन्म होता है। इस प्रकार मनुष्य इसी जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रह जाता है। लेकिन जो जाग जाता है,

वह इस प्रकृतिमें आसक्त—अनुरक्त या मोहित नहीं होता—'नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते' (५)। इसमें उपदेश केवल इतना ही है कि इस शरीरको 'मैं-मेरा' मत समझो यहाँ जो घर बनाया है, सन्तान उत्पन्न किया है, धन कमाया है, उसमें ममता मत करो।

एक महात्माने थोड़े शब्दोंमें अज्ञानका लक्षण बताते हुए कहा था कि किसी भी परिच्छिन्न वस्तुमें 'मैं' और मेरा' होना ही अज्ञान और अज्ञानका विलास है। यदि अपने ब्रह्मत्वके ज्ञानसे परिच्छिन्नमें 'मैं' और 'मेरा' ये दो भाव टूट गये तो इसका नाम तत्त्वज्ञान है, इसीका नाम जीवन्मुक्ति है। यही सौ-सौ वेदान्तोंका सार है।

यह आत्मा शुद्ध, स्वयंज्योति और निर्गुण है। सबमें एक है। 'निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः' (७)। हमारा आत्मा निरात्मा है, माने उसका कोई आत्मा नहीं, आत्माका कोई और आत्मा हो नहीं सकता।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि अपने धर्म द्वारा निष्काम होकर श्रद्धाके साथ, मेरी आराधना करनी चाहिए। इसीसे ब्रह्म कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यह आत्मा बिलकुल उदासीन है, अध्यक्ष है। जिसको इसका ज्ञान हो जाता है, वह कल्याणमय मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।

'दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः' (१२)। जिन्होंने मेरे साथ सौहार्द जोड़ लिया है, उसके जीवनमें कभी सम्पत्ति आती है और कभी विपत्ति आती है परन्तु वे अपनेको न सम्पन्न मानते हैं और न विपन्न मानते हैं। वे तो बिलकुल निर्विकार होते हैं। मनुष्यको दुःख-सुखमें सदा समान रहना चाहिए और सबकी रक्षा करनी चाहिए। राजाका धर्म केवल प्रजापालन है। यदि वह प्रजाका पालन नहीं करता तो उसका सारा पुण्य क्षीण हो जाता है।

'प्रजानामरक्षिता करहारोऽघमत्ति' (१४)। राजा प्रजासे कर, लगान, टैक्स तो वसूल करे, किन्तु प्रजाकी रक्षा न करे तो प्रजाका सारा पाप राजाके सिरपर पड़ता है और उसको उसका फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार भगवान्‌ने बताया कि पृथु, तुम्हारे घरमें थोड़े ही दिनोंके बाद सनकादि महापुरुष आयेंगे। भगवान्‌के शुभागमनकी अपेक्षा भी सन्तोंके आगमनकी महिमा अधिक है। भगवान् तो वैकुण्ठ आदिसे आते हैं, किन्तु ये सन्त लोग तो धरतीपर ही रहते हैं।

अच्छा, पृथु, तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे वर माँग लो। 'नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि-र्योगेन वा' (१६)। मैं यश, तपस्या अथवा योगसे नहीं मिलता। जिसके चित्तमें ममता नहीं, विषमता नहीं, मेरा-तेरा नहीं, उसमें मैं प्रकट होता हूँ। मैं तो 'समचित्तवर्ती' (१६) हूँ। उन्हींके हृदयमें रहता हूँ, जिनके चित्तमें समता होती है।

मैत्रेयजी कहते हैं विदुरजी, जब भगवान्‌ने इस प्रकार कहा तो पृथुको इस बातकी लज्जा

हुई कि मैंने इन्द्रके साथ इतना वैर-विरोध किया, किन्तु इन्द्र मेरे पाँव छूने जा रहे हैं। पृथुने झट उठकर इन्द्रको उठा लिया और उनके प्रति जो भी द्वेष था, सब छोड़ दिया। उनके हृदयमें ऐसी भक्तिका उदय हुआ कि इन्द्र तो एक ओर रह गये, उन्होंने भगवान्‌की पूजा की। भगवान् जानेके लिए तैयार ही थे, मानो पहलेसे ही तय हो कि भगवान् आयेंगे, दर्शन देंगे, बातचीत करेंगे और चले जायेंगे। लेकिन 'अनुग्रह विलम्बितः' (२०)। भगवान्‌के हृदयमें पृथुके प्रति ऐसी कृपा उमड़ी कि उन्होंने जानेमें देर कर दी।

पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम्। २०

जब भगवान्‌ने पृथुकी ओर देखा तो उनको देखकर आनन्द-विह्वल हो गये। उन्होंने सोचा कि वैकुण्ठमें जाकार क्या देखेंगे, क्या आनन्द आयेगा। इसलिए वे अपने खिले हुए कमलके समान नेत्रोंसे पृथुको देखने लगे और वहीं टिक गये। क्योंकि भगवान् तो 'सुहृत्सताम्'—सन्तोंके सुहृद् हैं।

अब आदिराज महाराज पृथु हाथ जोड़कर खड़े हैं, उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा गिर रही है, उनके मुँहसे कोई शब्द नहीं निकलता और वे हृदयसे भगवान्‌का आलिङ्गन किये हुए हैं। कुछ देर बाद उन्होंने धीरेसे अपने आँसू पोंछे और देखा कि भगवान् धरतीपर खड़े हैं—

पदास्पृशन्तं क्षितिमं स उन्नते विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः। २२

देखो, दूसरे देवता लोग धरतीपर खड़े नहीं होते। उनको शायद यह डर रहता है कि धरती कहीं हमको फँसा न ले। यहाँ काशीके पास एक महात्मा रहते थे, जिनको हम लोग तो मोकलपुरके बाबा कहते थे, लेकिन दूसरे लोग डोरीवाले बाबा बोलते थे। कविराज, गोपीनाथजीकी जीवनीमें उनकी चर्चा आयी है। उन्होंने भी उनका दर्शन किया था। एक दिन बाबा बोले कि जहाँ मिल की गन्दगी निकलती है, उसका धुआँ निकलता है, उससे चार मील दूर देवता लोग रहते हैं। मैंने धीरेसे पूछा कि महाराज, ईश्वर कितनी दूर रहता है? वे हँसकर बोले कि ईश्वर तो सब जगह रहता है, जहाँ धुआँ है, गन्दगी है, वहाँ भी ईश्वर है, क्योंकि ईश्वर किसी भी जगहको छोड़ नहीं सकता।

तो, देवता लोग भले ही धरतीपर पाँव नहीं रखें परन्तु ईश्वर धरतीपर पाँव रखता है। उसका नाम है—'उरूक्रम' त्रिविक्रम'। धरतीको तो उसने नाप ही लिया है। वह धरतीपर लोट-पोट होता है।

यहाँ भगवान्‌के चरण-कमल तो धरतीपर हैं और उनका एक कर-कमल गरूड़जीके बहुत ऊँचे कन्धेपर है। पृथुने कहा कि प्रभो, आप मुझे वर माँगनेके लिए कहते हैं। परन्तु जब आप स्वयं मिल गये तब आपसे और क्या माँगूँ? यदि आपके अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु माँगू तो वह नरकमें भी मिल जाती है। इसलिए उसको माँगकर मैं क्या करूँगा? मुझे आपके सिवाय कुछ नहीं चाहिए। एक बात जरूर चाहिए कि जहाँ महात्माओंकी वाणीसे, उनके अन्तर्हृदयमें

अवस्थित आपके चरण-कमलोंके मकरन्दकी अनुभूति निकल रही हो, वह मुझको मिलती रहे। उसके लिए आप कृपा करके—'विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः' (२४)—मुझे दस हजार कान दे दें। क्योंकि दो कानोंसे आपके कथामृतका श्रवण करनेमें तृप्ति नहीं होती।

देखो, यहाँ कोई कहे कि दस हजार कान तो हँसीको-सी बात मालूम पड़ती है तो उसको वेदके इस मंत्रपर ध्यान देना चाहिए—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (ऋग्वेद १.८९.८) एक कानसे सन्तोष नहीं होता, कानके-कान चाहिए। 'श्रेयसि केन तृप्यते'—अच्छे काममें किसको सन्तोष होता है।

पृथुजी कहते हैं कि मुझे महापुरुषोंके श्रीमुखसे-ही आपकी लीला-कथा सुननेको मिले। क्योंकि जैसे हुक्केकी नलीमें-से धुआँ निकलता है तो कुछ-न-कुछ उसमें लग ही जाता है, उसमें पित्त बैठ जाती है और उसके पानीमें गन्ध आजाती है वैसे ही, संसारी वासनासे वासित लोग, जब भगवान्‌के बारेमें भी कुछ बोलने लगते हैं तब उसमें कुछ लेने-देनेको चर्चा जरूर जुड़ जाती है। उनके हृदयमें वासना होनेके कारण उनकी वाणीमें दुर्गन्ध आने लगती है। इसलिए जो उत्तम-श्लोक, महान् पुरुष हैं, उन्हींसे मुझे भगवान्‌के चरणारविन्दके सुधाकणका अनिल मिले।

पृथुजी कहते हैं कि मुझे इसके अलावा और कोई वर नहीं चाहिए। स्वयं लक्ष्मीजी भी सब कुछ छोड़कर आपके चरणारविन्दका ही आदर करती हैं। जो साधु-समागम करके आपके शिवकारी यशका एक बार भी श्रवण कर लेता है, उसको कभी भगवच्चरित्रसे वैराग्य नहीं होता। जो मनुष्य, शक्लसे मनुष्य होकर भी पशुवत् हैं, उन्हींको आपके चरित्रसे वैराग्य हो सकता है। जैसे लक्ष्मी आपके चरणारविन्दसे प्रेम करती है, वैसा ही मेरा भी आपसे प्रेम हो। लक्ष्मीसे हमारा कोई कलह न हो।

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् । २८

भगवन्, मैं चाहता हूँ कि आपके पैर दबाऊँ। किन्तु लक्ष्मीजी बराबर आपका पैर दबाया करती हैं। वे मुझसे कहेंगी कि नहीं पृथु, तुम मत दबाओ, मैं ही दबाऊँगी। ऐसेमें मुझसे उनका अपराध हो जायेगा। परन्तु मैं जानता हूँ कि आप किससे पैर दबवाना चाहते हैं ? मुझ-से या लक्ष्मीजीसे ?

करोषि फल्गव्प्युरु दीनवत्सलः स्व एवधिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया । २८

दीनवत्सल प्रभो, आप छोटी-से-छोटी तुच्छ वस्तुको भी बड़ी बना लेते हैं। जो अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उनको लक्ष्मीजीसे क्या प्रयोजन है ? हम जानते हैं कि आप लक्ष्मीका पक्ष-पात नहीं करेंगे, हमारा पक्षपात करेंगे। इसलिए साधु लोग आपसे बड़ा प्रेम करते हैं। आपके चरणारविन्दसे बढ़कर स्मरणकी दूसरी कोई वस्तु नहीं।

एक बात है, आपने मुझसे वर माँगनेके लिए कहा है किन्तु आप जानते हैं और जो लोग

गायत्री-मन्त्रका जप करते हैं उनको भी मालूम है कि 'वरेण्यम्' एक ही वस्तु है और वह केवल आप हैं। हमारी जितनी भी धियाँ है—बुद्धि-वृत्तियाँ हैं, उनका विवाह करने योग्य आपही हैं। इसलिए मैं तो आपको ही माँगना चाहता हूँ और आप कहते हैं कि मुझसे वर माँग लो। क्या आप मुझको अपनी वाणीसे मोहित करना चाहते हैं? लेकिन जो कोई आपको छोड़कर दूसरेको चाहता है, वह गलत रास्तेपर चलता है। इसलिए आप हमसे ऐसा मत कहिये। जैसे पिता अपनी बालककी भलाई स्वयं करता है, वैसे ही जिसमें मेरी भलाई हो, वही आप कीजिये—

यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्। ३१

प्रभो, मुझसे यह कहना कि तुम, जो पसन्द हो वर माँग लो तो वैसे ही है, जैसे कोई किसी अनजान आदमीके सामने दस-बीस नकली-असली हीरे सामने रख दे और कह दे कि मैं तुमपर बहुत खुश हूँ, तुम जो चाहो, वह हीरा उठा लो! उसी अनजाने आदमीकी स्थिति मेरी है। मुझको नकली-असलीकी पहचान नहीं है। इसलिए मेरे योग्य जो हीरा आप अच्छा समझते हैं, वही मुझे दे दीजिये। आप मुझपर कुछ मत छोड़िये।

अब भगवान्ने कहा कि ठीक है, तुमने वर नहीं माँगा तो न सही। सबसे बढ़िया मेरी भक्ति है, जो मनुष्यके हृदयमें रहनी चाहिए। 'मयि भक्तिरस्तु ते' (३२)—मैं तुमको यही वरदान देता हूँ कि मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति हो। जो मेरी आज्ञाका पालन करता है, उसका सर्वत्र मंगल होता है।

मैत्रेयजी कहते हैं विदुरजी, इसके बाद भगवान्ने पृथुकी पूजा स्वीकार की और वहाँसे जानेके लिए तैयार हो गये। पृथुने सबकी विदाई की। देखो, एक ओर स्वयं भगवान् खड़े हैं, दूसरी ओर इन्द्र हैं और तीसरी ओर सनकादि, कपिलादि हैं। इससे बढ़कर पृथुके यज्ञकी सफलता और क्या हो सकती थी? इधर पृथुकी बुद्धिमें यह है कि ये जितने भी लोग अलग-अलग शक्ल-सूरतमें आये हैं, वे कोई दूसरे नहीं, वैसे ही भगवान् हैं, जैसे शङ्ख-चक्र-पद्म-गदाधारी भगवान्—

यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः।
सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः॥ ३६

यही हमारे श्रीमद्भागवत महापुराणका दृष्टिकोण है। इसमें ऐसा नहीं है कि भगवान् कहीं सातवें आसमानमें हैं, परोक्ष हैं, भागवतका भगवान् तो सबके रूपमें खेल रहा है, नृत्य कर रहा है। इस प्रकारं श्रीमद्भागवत भगवान्को सर्वात्मभावसे देखता है।

पृथुको भक्तिका वर देकर भगवान् सबके देखते-ही-देखते सबका मन चुराकर अपने धाममें, हृदयमें चले गये। पृथुने उनको नमस्कार किया और वे भी अपना यज्ञ सम्पूर्ण करके अपनी राजधानी चले गये।

: २१ :

मैत्रेयजी विदुरजीसे पृथुकी राजधानीका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह बड़ी पवित्र बड़ी उज्ज्वल, बड़ी स्वच्छ, और बहुमूल्य वस्तुओंसे सजायी हुई थी। उसमें कोई भी वस्तु वासना-वर्धक नहीं थी। चन्दन, अगरु, पुष्प, अक्षत, यव, अङ्कुर, लाजा इत्यादि वस्तुएँ, जिनसे मनुष्यका मन पवित्र होता है, पृथुकी राजधानीमें जगह-जगह देखनेको मिलती थी। केला, सुपारी और पल्लव, जिनसे भगवान्की पूजा होती है, राजधानीको सुशोभित कर रहे थे। महाराज पृथुके आगमनके समय नगरकी कन्याएँ हाथमें मङ्गल-थाल लेकर खड़ी हो गयीं। शङ्ख आदि बजने लगे। इतना स्वागत-सत्कार देखकर भी पृथुको कोई अभिमान नहीं हुआ। वे सिंहासनपर बैठे और अगणित उदार कर्म करते हुए पृथिवीका शासन करते रहे।

यहाँ विदुरजीने पूछा कि मुनिवर मैत्रेयजी, आप बताइये कि पृथुने राज्य-सिंहासनपर बैठकर कौन-कौन उदार कर्म किये। इनकी कीर्ति तो मुझे जरूर सुननी चाहिए; क्योंकि उनके पराक्रमका उच्छिष्ट ही आजतकके राजा भोगते आ रहे हैं।

मैत्रेयीजीने, कहा विदुरजी सुनो! राजा पृथु सप्तद्वीपवती पृथिवीके एकमात्र राजा हुए हैं। उन्होंने अन्य सबको तो दण्ड दिया, पर ब्राह्मण और वैष्णव इन दो-को अदण्ड छोड़ दिया, उनको कोई आज्ञा भी नहीं देते थे कि आपको ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए।

एकबार पृथुने महायज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंका समाज एकत्र हुआ। उनके मध्य पृथु उठकर खड़े हो गये और बोलने लगे। देखो, खड़े होकर बोलनेकी पद्धति नयी नहीं है। बैठकर व्याख्यान देना हमारी व्यास-पद्धति है और बाजे-गाजेके साथ लोगोंको

उपदेश देना नारदीय-पद्धति है। प्रवचनकी एक हनुमत्-पद्धति भी है, जिसमें संगति लगानेकी आवश्यकता नहीं। जो-जो भगवान्की बढ़िया बात आती जाये, बोलते जाओ। सुननेवाले स्वयं संगति लगा लेते हैं।

मैत्रेयजी राजा पृथुके शरीरका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे कदमें ऊँचे थे, उनकी मोटी-मोटी, गोल-गोल भुजाएँ थीं, उनका गौर वर्ण था और उनके कमलके समान बड़े-बड़े नेत्र थे। उनकी नासिका, उनका मुख, सभी अङ्ग बड़े सुन्दर थे, वे देखनेमें बड़े सौम्य लगते थे, उनको देखकर यह नहीं लगता था कि वे बड़े भारी महाराजा हैं। कोई तो ऐसा होता है कि लोग उनको देखकर ही डर जायँ। पृथुके कन्धे भरे हुए थे और दाँत अच्छे थे, टूटे हुए अथवा टेढ़े-मेढ़े नहीं थे। 'सुद्विजस्मितः' (१५)—ऐसा भी नहीं था कि उनके दाँत ओंठोकी कैदमें पड़ जानेपर दिखायी ही न पड़ें, वे बराबर मुस्कुराते रहते थे। उनका वक्षःस्थल भी विशाल था। उनका पेट बड़ा नहीं था, उसमें तीन रेखाएँ खिंची हुई थीं। नाभि उनकी बहुत गहरी थी। वे ओजस्वी थे। जाँघ देखनेपर मालूम पड़ता कि वे सोनेकी है, पाँव उनके आगेकी ओरसे ऊँचे थे—'उदग्रपात' (१६)। उनके बाल सूक्ष्म, टेढ़े, काले और चिकने थे। शङ्खके समान, आजकल सुराहीके समान बोलते हैं, उनका गला था। वे वस्त्र ज्यादा नहीं पहनते थे—'महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च' (१७)। एक वस्त्र नीचे होता था और दूसरा वस्त्र ऊपर होता था। बहुमूल्य वस्त्रोंके द्वारा वे अपनी श्रेष्ठता नहीं दिखाते थे। जिसके अन्दर अपनी श्रेष्ठता नहीं होती, वही वस्त्राभूषणोंके द्वारा अपना बड़प्पन दिखाता है। लेकिन कपड़ेका बड़प्पन उधार लिया होता है। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।'

जिनकी आकृति मधुर है, उनके लिए क्या वस्तु आभूषण नहीं बन जाती? 'न भूषणापेक्षि-निसर्गसुन्दरम्'—जो स्वभावसे सुन्दर होता है, उसको आभूषणकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

पृथु यज्ञोपवीत पहनते थे। उनके सारे शरीरसे सौन्दर्य प्रकट होता था। वे कृष्णाजिनधर थे, कुशापाणि थे और उनमें बड़ी शीतलता थी। बड़ा स्नेह था उनके नेत्रोंमें।

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम्। सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव। २०

इस श्लोकमें मैत्रेयजी पृथुके भाषणका वर्णन करते हैं—वह चारु अर्थात् बड़ा सुन्दर है—उसमें चित्र-विचित्र पदविन्यास है, वह बड़ा ही स्पष्ट है, उज्ज्वल है, व्याकरणका कोई दोष उसमें नहीं है, वह गम्भीर-गूढ़ अर्थोंसे भरा हुआ है और बोलनेमें उनकी कोई दीनता नहीं प्रकट होती—'अविक्लवम्'। वे जो कुछ भी बोलते हैं, वह सबकी भलाईके लिए ही बोलते हैं, अपने स्वार्थके लिए नहीं बोलते।

राजा पृथु बोलते हैं—सभ्यगण, आपका कल्याण हो। आप बड़ी कृपा करके अपनी साधुतासे यहाँ पधारे हैं। मैं जो आप लोगोंके सामने बोल रहा हूँ, यह कोई उपदेश नहीं है। यह तो एक

जिज्ञासुका निवेदन है। क्योंकि जिज्ञासुका कर्त्तव्य है कि वह अपने भीतरके निश्चयको आप सरीखे बड़े लोगोंके सामने निवेदित कर दे। इसलिए आप हमारा निवेदन सुन लीजिये। मैं राजाके पदपर इसलिए नियुक्त किया गया हूँ कि प्रजामें जो कोई दुराचार करे, उसको दण्ड दूँ—

'अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः' (२२)। मेरा काम है—अपनोंसे, परायोंसे प्रजाकी रक्षा करना। उसको जीविका देना और धर्मकी मर्यादाओंको बचाना। सबको जीविका मिले सब सुरक्षित रहें और सब मर्यादाका पालन करें—ये तीन विभाग हमारे पास हैं। इसीसे लोक-परलोक बनता है। जो राजा कर लेता है, परन्तु प्रजाको धर्मकी शिक्षा नहीं देता, वह प्रजाके द्वारा होनेवाले पापका जिम्मेवार है, क्योंकि जब राजाने धर्मकी शिक्षा ही नहीं दी तो प्रजा बेचारी क्या करे ? इसमें दोषी राजा ही है और इसलिए उसका ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है।

सज्जनो ! आपलोग कृपया मेरी बात सुनिये। मेरे प्रति आपका भी कुछ कर्त्तव्य है। मैं अपना कर्त्तव्य पालन करता हूँ तो आप भी अपना कर्त्तव्य पालन कीजिये। इसीमें आपकी भलाई और स्वार्थ है। किसीका दोष मत देखिये। जैसे मैं सबमें भगवान् देखकर काम करता हूँ, वैसे ही आप भी कीजिये और मेरे इस निवेदनका अनुमोदन भी कीजिये, क्योंकि कर्त्ता, शास्ता और अनुज्ञाताको पुण्य फल होता है।

हमारे संविधानकी पहली धारा यह है कि यज्ञपति ईश्वर नामकी एक शक्ति है। संसारमें कहीं थोड़ा तो कहीं अधिक ज्ञान देखनेमें आता है। ज्ञानकी जो पराकाष्ठा है, उसीका नाम ईश्वर है। 'ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः' (२७)—कहीं-कहीं सहज स्वभावसे ही चमक देखनेमें आती है, वह ईश्वर विषयक स्वीकृति है। हमारे वंशमें मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत, अङ्ग आदि जो-जो अच्छे-अच्छे हुए हैं, उन सबने ईश्वरको माना है। प्रह्लाद और बलि आदिने भी माना है। ईश्वरको यदि किसीने नहीं माना तो वेनने नहीं माना। इसलिए वे शोचनीय हैं। चाहे चतुर्वर्ग हो, चाहे स्वर्ग हो, चाहे अपवर्ग हो—सब भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है। जब भगवान्के चरणोंकी सेवाकी रुचि हो जानेपर हृदय पवित्र हो जाता है तो ज्ञान हो जाता है। जब भगवान्के चरणोंमें मनुष्य पहुँच जाता है तब उसको क्लेशवहा सृष्टिमें नहीं पड़ना पड़ता। इसलिए आप अपने अधिकारके अनुसार कर्म कीजिये। 'यथाधिकारावसितार्थ सिद्धयः'—जैसा आपका अधिकार है, उसीके अनुसार आपको सिद्धि मिलेगी। आप भगवान्के चरणारविन्दका भजन कीजिये।

महाराज पृथु आगे कहते हैं—महर्षिगण, ईश्वर ही यज्ञके रूपमें आता है। वही विष्णु है, वही शरीरमें फलाकार बुद्धिके रूपमें उत्पन्न होता है। मैं इस सत्यकी घोषणा करता हूँ कि मेरे राज्यकी जो प्रजा भगवान्का भजन करती है, वह मुझपर अनुग्रह करती है। किन्तु इसके साथ-साथ ब्राह्मणोंका आदर भी होना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणोंके पास जीविकाके लिए कोई नौकरी नहीं, व्यापार नहीं, खेती नहीं और जो वेदके अध्ययन-अध्यापन अथवा तत्त्वचिन्तनमें ही अपना

सारा समय लगा रहे हैं, उनको यदि समाजमें उनके त्याग-तप आदिका आदर भी नहीं मिलेगा, तो वे अपने काममें कैसे लगे रहेंगे ? अनादर पानेके कारण वे अपने सत्कर्मको छोड़ देगें और तब राष्ट्रके-मानवताके-सिरका ही नाश हो जायेगा। ब्राह्मणोंके चरण तो ऐसे हैं कि उनकी वन्दना करने-से ही विष्णुको स्थिर लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई है। इनकी सेवासे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि इन ब्राह्मणोंका, इन ब्रह्मज्ञानियोंका, इन महात्माओंका, आदर किया जाये तो बिना ज्ञानाभ्यासके भी मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् इन ब्राह्मणोंके मुखमें हवन करनेसे जैसा भोजन करते हैं, वैसा भोजन अन्यत्र नहीं करते। मैं तो इन ब्राह्मणोंके चरणोंकी धूलको आजीवन अपने किरीटपर धारण करना चाहता हूँ, क्योंकि इससे पापका नाश होता है।

यहाँ देखो, जो राजा किसीकी चरण-धूल उठाकर अपने माथेपर धारण करेगा, उसमें कितनी विनम्रता होगी ? ऐसे व्यक्तिसे कभी अन्याय नहीं हो सकता। यह जो संसारकी सम्पत्ति है, यह भी अन्यायीके पास नहीं रहना चाहती। आप सम्पत्तिकी रुचि पहचान लें—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।

अन्यायसे आयी हुई सम्पत्ति दस वर्षोंतक रह सकती है, जहाँ ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ कि जैसे रूईके ढेरमें आग लग जाये, वैसे ही नष्ट हो जाती है। अन्यायी लोग शामको तो करोड़-पति होते हैं, किन्तु सुबहको कङ्गाल हो जाते हैं।

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम्॥ ४४

महाराज पृथु कहते हैं कि जिसके अन्दर सद्गुण हैं, शील है, कृतज्ञता है, बड़े-बूढ़ोंका आश्रय है, ऐसे सत्पुरुषोंके पास सम्पत्ति स्वयं जाती है। इसलिए मेरी यह अभिलाषा है कि मुझपर ब्राह्मण, गाय, भगवान् और भगवान्के भक्त—ये चारों प्रसन्न रहें।

मैत्रेयजी कहते हैं कि महाराज पृथुका यह भाषण सुनकर सभी उपस्थित देवता, पितर और ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए तथा साथ-साथ कहने लगे—'तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः। (४५) उन्होंने कहा कि हिरण्यकशिपु भगवान्की निन्दा करनेके कारण नरकमें गिरने ही वाला था कि प्रह्लाद जैसे पुत्रके प्रभावसे उसका कल्याण हो गया। हमारा बड़ा सौभाग्य है कि हमें आप जैसा राजा मिला है। हम अपनेको भगवान्के राज्यमें ही समझते हैं। इसमें हमारा परम कल्याण है। हम आपको नमस्कार करते हैं।

❧

: २२ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि इस प्रकार प्रजाजन पृथिवीपाल प्रभुकी स्तुति कर ही रहे थे कि सूर्यके समान चमकनेवाले चार मुनीश्वर उनके सामने आकर खड़े हो गये। राजाने उनको देखा तो समझ गये कि वे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार हैं, जो बड़े भारी सिद्ध-सिद्धेश्वर हैं तथा आकाश मार्गसे उतर आये हैं। उनके आगमनसे सम्पूर्ण लोक निष्पाप हो गये हैं।

मनुस्मृतिमें यह बताया गया है कि यदि कोई अपनेसे बड़ा-बूढ़ा सामने आजाता है तो हम उसके लिए चाहे उठें, चाहे न उठें, हमारें प्राण उसका स्वागत करनेके लिए बाहर निकल जाते हैं और यदि हम उठकर प्रत्युत्थान करें, प्रणाम करें तो हमारे प्राण लौटकर आजाते हैं—

ऊर्ध्वं प्राणा उत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ (२.१२)

इसका तात्पर्य यह है कि जो अपने बड़े-बूढ़ोंका आदर नहीं करेगा, उसको कर्मशक्तिका लोप हो जायेगा। अरे, सोचो तो सही, यदि तुम बड़े-बूढ़ोंको देखकर खड़े नहीं हो सकते तो कितने आलसी हो और उनको प्रणाम नहीं कर सकते तो कितना अभिमान है तुम्हारे हृदयमें। जो अभिमानी भी है और आलसी भी है, उसमें क्रिया-शक्ति कहाँ रहेगी ? उसकी प्राणशक्ति तो अपने आप ही लुप्त हो गयी।

चारों मुनीश्वरोंको देखते ही पृथुके प्राण मानो भीतरसे निकलकर बाहर आगये और वे उनकी अगवानीके लिए उठकर खड़े हो गये। पृथुने बड़े गौरव और बड़े प्रेमसे सिर झुकाकर मुनीश्वरोंको अर्घ्य दिया और आसनपर बैठाया—'विधिवत्पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् (४)।' यहाँ 'अध्यर्हणासनान्'का अर्थ यही है कि राजाने अपने आसनसे भी ऊँचा आसन मुनीश्वरोंको दिया और फिर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। जब सब मुनीश्वर विराजमान हो गये तब राजा पृथु श्रद्धा, संयम और प्रेमके साथ बोले—

मङ्गलमूर्ति मुनीश्वरो, मैंने ऐसा क्या मङ्गल किया कि आप सरीखे महात्माओंका मुझको दर्शन हुआ है। जिसपर आप सरीखे महात्मा प्रसन्न हो जायें, उसके लिए क्या दुर्लभ है? आप लोग तो कभी दर्शन ही नहीं देते। अन्तर्धान रहते हैं। वह निर्धन भी धन्य है, जिसको आपकी सेवाका अवसर प्राप्त हो! किन्तु जिसके घरमें महात्मा नहीं आते, वह तो साँपके रहनेकी जगह है, भले ही उसमें बहुत धन क्यों न हो। महाराज, आपलोग देखनेमें तो बालकों जैसे लगते हैं, पर हैं बहुत पुराने। हम अपना कुशल आपको क्या बतलायें? 'इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्' (१३)—हम केवल संसारके विषयोंको ही सबसे बड़ी सम्पत्ति, सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझते हैं। 'व्यसनावापे', (१३) 'व्यसना उप्यन्ते यस्मिन्'—यह संसार तो ऐसा है कि इसमें दुःखोंकी खेती की जाती है और हम इसमें पड़े हुए हैं।

स्वामियो, हम आपसे क्या कुशल मङ्गल पूछें? आपलोग तो आत्माराम हैं। आपके मनमें यह कुशल है, यह अकुशल है 'यह अच्छा है—यह बुरा है' इसका कोई भेद हो नहीं, आपकी दृष्टिमें सुख-दुःख बिलकुल बराबर हैं।

देखो, जब महात्मा मिलें तो उनको घर-परिवारको बात सुनाकर न तो अपना समय खराब करना चाहिए और न उनका। जिस चीजको वे कोई कीमत नहीं देते, उसकी चर्चा चलानेसे क्या फायदा? न तो उनको अपना रोग या दुःख बताइये और न उनसे उनका रोग-दुःख पूछिये। महात्मा मिले हैं तो रोग-दुःखकी चर्चा करनेके लिए थोड़े ही मिले हैं। मैंने एक बार किसी महात्मासे पूछा कि महाराज! आपका शरीर कैसा है? वे बोले कि क्यों इसकी याद दिलाते हो? आओ, भगवच्चर्चा करें।

इसलिए राजा पृथु सांसारिक कुशल-मङ्गलकी चर्चा न चलाकर अत्यन्त विश्वासके साथ मुनीश्वरोंसे पूछते हैं कि मनुष्यका परम कल्याण किस बातमें है? आप तो साक्षात् भगवान्के स्वरूप हैं और अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिए ही इस पृथिवीपर विचरण करते हैं।

यहाँ देखो, जब राजा पृथुने अपनी प्रजाके सामने भाषण किया तब मैत्रेयजोने 'चारु चित्रपदंश्लक्ष्णम्'का प्रयोग किया था और अब 'सारं सुष्ठु मितं मधु' (१७)का प्रयोग करते हैं।

मतलब यह कि पृथुके वचन सूक्त हैं, सार हैं, सुष्ठु हैं, मित हैं और मधु है। अगर कोई यह जानना चाहता हो कि मनुष्यको कैसे बोलना चाहिए, यहाँसे सीख ले।

अब सनत्कुमारजी प्रसन्न होकर मुस्कुराते हुए बोले कि महाराज, असलमें तुमने जो प्रश्न किया है, वह अपने लिए नहीं किया किन्तु सबकी भलाईके लिए किया है। जब दो साधु मिलते हैं तो उनका सम्भाषण और सम्प्रश्न सबके कल्याणके लिए होता है। भगवान्‌के गुणानुवादमें तुम्हारी जो रुचि है, वह बहुत ही दुर्लभ है। जब यह रुचि निष्ठाका रूप ग्रहण कर लेती है तब अन्तरात्माका सारा मल धुल जाता है। सारे शास्त्रोंका सार यही है कि देहातिरिक्त असंग आत्मा ही निर्गुण ब्रह्म है। उसमें दृढ़ रति हो जाये—आत्मरति हो जाये तो इसीमें शास्त्रोंकी सफलता है। यह तर्क-वितर्कसे नहीं होती।

देखिये, आप तर्कका अर्थ तो जानते ही हैं। एक तो हम जो ऊहापोह करते हैं, उसका नाम तर्क होता है। नैरुक्त दृष्टिमें तर्क शब्द 'कर्त'का उल्टा है। कर्त माने कर्तरी—कैंची। कई लोग कैंची लेकर सबकी बात काटते रहते हैं, लेकिन बात काटनेसे अथवा, बालकी खाल निकालनेसे तो कुछ बननेवाला नहीं।

इसलिए सनत्कुमारजी कहते हैं कि जीवनमें श्रद्धा-विश्वास धारण करना चाहिए। असलमें श्रद्धा ही संस्कारधानी है। जैसे राजधानी होती है, वैसे ही हमारे हृदयमें सत्संस्कारका आधान करनेवाली वस्तु श्रद्धा है।

श्रद्धाके अतिरिक्त दूसरी वस्तु है—भगवद्धर्मचर्या, जिससे भगवान् प्रसन्न हों, ऐसा धर्म करना चाहिए। महापुरुषोंके पास जाकर जिज्ञासा करनी चाहिए। अध्यात्मयोग करना चाहिए, योगेश्वरकी उपासना करनी चाहिए। 'पुण्यश्रवः कथया पुण्यया च' हृदयको पवित्र करनेवाली भगवान्‌की कथा सुननी चाहिए। पुण्य वही है, जिससे हमारा हृदय पवित्र हो जाये, उसमें जो गन्दगी भरी है, वह निकल जाये। जो लोग अर्थाराम और इन्द्रियाराम हैं अर्थात् जिनको रुपयों पैसों और भोगमें मजा आता है, उनकी गोष्ठी मत करो, उनके साथ ज्यादा मत बैठो और वे जिसकी तारीफ करें, उसको अपने पास मत रखो। पवित्र एकान्तमें रहनेकी रुचि करो, अपने आपमें सन्तुष्ट रहो।

इस दुनियामें एक चीज ऐसी है जिससे सन्तोष कभी नहीं होना चाहिए और वह है—भगवान्‌का गुणानुवाद—'विना हरेर्गुणपीयूषपानात्' (२३)। भगवान्‌के गुणनुवाद-रूप अमृतका पान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना। किसीको दुःख मत पहुँचाना। घरमें परमहंसकी तरह रहना। भगवान्‌को याद रखना, निष्काम भावसे यम-नियमका पालन करना और किसीकी निन्दा मत करना, जो किसीकी निन्दा करता है, उसके हृदयमें दोष आजाता है। हमने अबतक बहुतसे ऐसे आदमी देखे हैं, जो समझते थे कि हमारे अन्दर अमुक दोष है नहीं, लेकिन हमारे पड़ोसीमें हैं।

उसकी वे निन्दा करना शुरू कर देते। अब वह दोष पड़ोसीमें-से सरककर उनके भीतर आगया। क्योंकि वे उसकी चर्चा करें, उसकी चिन्ता करें। इसलिए वह दोष चिन्तन करनेसे उनके हृदयमें आगया। दोषने सोचा ये हमारा बहुत आदर करते हैं। इसलिए चलो, इनके घरमें रहते हैं—

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते। (१.१.१, वार्तिक ४)

कुमारिल भट्टने कहा है कि दोष भले ही अपने भीतर न हो या सामनेवालेमें न हो, लेकिन उसका चिन्तन किया जाय तो वह दिखाई पड़ने लगता है, प्रकाशित हो जाता है। जिस दोषको तुम दूसरेके अन्दर नहीं देखना चाहते, उसका चिन्तन करके उसको अपने दिलमें क्यों लाते हो?

एक आदमीने निर्णय किया कि हमारे गाँवमें कोई चोरी करनेवाला न रहे। इसके बाद वह सोचने लगा कि हमारे गाँवमें ऐसे कौन-कौन हैं, जो चोर हैं? वे चोरी क्यों करते हैं? क्या चोरी करते हैं? वह रातभर चिन्तन करता रहा। उसके मनकी वृत्ति चोराकार बन गयी। इसी बीचमें वह मर जाये तो क्या होगा जो चोरका चिन्तन करते-करते मरेगा, वह चोर ही तो होगा— 'अन्ते मतिः सा गतिः।' इसलिए न तो किसीकी निन्दा करना और न मनमें कोई वासना रखना- अनिन्दया रहना और निर्वासन रहना। जो कुछ भी दुःख-आये, उसको सह लेना। भगवान्‌की कथा सुननेसे भक्ति आती है, उससे संसारमें अनासक्त हो जाना और परब्रह्म परमात्मामें अपनी प्रीति लगाना। लेकिन यह बात उन्हीं पुरुषोंमें आती है, जिन्होंने किसी सद्‌गुरुका आश्रय ग्रहण कर लिया होता है—

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमानाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा। २६

जो लोग निगुरे होते हैं, उनकी पहचान होती है। यदि वे आकर पाँच मिनट भी बात करें तो मालूम पड़ जायेगा कि उनका कोई गुरु नहीं। वे अपने साधनों, मन्त्रों और इष्टोंमें भटक रहे होते हैं। इसलिए श्रुति कहती है कि—'आचार्यवान् पुरुषो वेद (छान्दोग्य उप० ६.१४.२) जिसके गुरु हैं, उसीको परमेश्वरका मार्ग मिलता है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक १.२.१२)

ईश्वरको जाननेके लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुके पास अवश्य-अवश्य जाना चाहिए और उसके सद्‌वचनोंको धारण करना चाहिए—'सर्वं वाक्यं सावधारणम्।'

सनत्कुमार आगे कहते हैं कि आचार्यवान् होकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और ज्ञान प्राप्त करके हृदयके जीवकोशको जला देना चाहिए। फिर तो अपने या पराये किसी प्रकारका भेद नहीं रहता—'परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात् (२२)। अज्ञान कालमें आत्मा और परमात्माका जो भेद रहता है, वह ज्ञान प्राप्त होनेपर वैसे ही मिट जाता है, जैसे जाग जानेपर स्वप्नके भेद मिट जाते हैं। असलमें 'सत्याशया उपाधौ' (२८) जबतक यह अन्तःकरणरूप उपाधि

है तभीतक आत्मा, विषय और परमात्मा ये सब भेद मालूम पड़ते हैं। जब उपाधि ही नहीं रही, सब भेद कहाँ रहेगा ? निमित्तमें ही अपनी परछाई आदि दिखाई पड़ती है।

विषयोंका चिन्तन करनेसे मनुष्य गलत रास्तेपर चला जाता है और इधर-उधर भटक जाता है। इसलिए जीवनमें जो विषयोंका चिन्तन है, वही अपना नाश करनेवाला है।

देखो न, आत्मा और परमात्मा तो भीतर ही बैठा है। उसकी उपेक्षा करके हम दूसरेसे प्रेम करने जाते हैं, अपने घरमें भरे हुए अमृतको छोड़कर, दूसरोंके घरमें शराब पीने जाते हैं। जैसे कोई अपने घरकी सती-साध्वी पत्नीको छोड़कर परायी स्त्रीके लिए पराये घरमें जाये, वैसे ही हम अपने घरमें बैठे हुए ईश्वरको छोड़कर इधर-उधर भटकते हैं।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवोनृणाम् । ३३

इस संसारमें सबसे बड़े हानिकारक धन और भोग हैं। इनका चिन्तन ही मनुष्यके लिए सबसे बड़ा अकल्याण है। इसलिए इनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए। मोक्ष ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। चार पदार्थोंमे अर्थ और काम तो पूर्वपक्ष है, धर्म और मोक्ष उत्तरपक्ष हैं। धर्मके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर मोक्षस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। किन्तु जो अर्थ एवं काममें ही लग जाते हैं वे संसारमें भटकते रहते हैं।

जहाँ-जहाँ त्रिवर्ग है, वहाँ-वहाँ यमराजका भय लगा हुआ है। संसारकी वस्तुएँ चाहनेवालोंको संन्यासकी प्राप्ति कभी नहीं होती। परमात्मा विषयके भीतर, इन्द्रियोंके भीतर, और अन्तःकरणके भीतर है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

विषयकरन सुर जीव समेता। सकल एकतें एक सचेता॥
सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

'यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः (३७) जो क्षेत्रज्ञके रूपमें हमारे हृदयमें ही प्रकट हो रहा है, उसे तुम ऐसा जानो कि वह मैं ही हूँ—'प्रत्यक् चकास्ति भगवास्तमवेहि सोऽस्मि (३७)। जिसमें मन लगाकर ऋषिलोग अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेते हैं और इस संसार-सागरको तर जाते हैं, उन्हीं भगवान्के चरणारविन्दका भजन करके अपने मनको इस संसारसे निकाल लेना चाहिए।

इस प्रकार सनत्कुमारोंने राजा पृथुको उपदेश किया। अब आप यहाँ ध्यान दीजिये। पृथुने पृथिवीका दोहन किया और उन्होंने सौ अश्वमेघ यज्ञ किये। विष्णु भगवान् स्वयं उनके घर आये। पृथुने सारी प्रजाको धर्मात्मा बनाया और उनका सनत्कुमारादिका सत्संग प्राप्त हुआ। विष्णु भगवान्ने कहा था कि मेरे दर्शनका फल तब होगा जब सनत्कुमारादि सन्त मिलेंगे।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि मनुष्यको सत्संग मिल जाय तो उसे भगवान्के लिए व्याकुल होनेकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि सत्संगके द्वारा ही भगवान् मिल जाते हैं। इसलिए भगवान् वैकुण्ठमें ही मिलेंगे, यह बात अपने मनमें रखनेकी कोई जरूरत नहीं।

अब पृथुने सनत्कुमारोंसे बिलकुल साफ-साफ कहा कि महाराज पहले दीन दयालु भगवान्‌ने दर्शन देकर मुझपर बहुत कृपा की थी। लेकिन उनका अनुग्रह तो अब पूरा हुआ है—'तमापादयित ब्रह्मम् भगवन् यूयमागताः' (४२)।

भगवान्‌के अनुग्रहको पूर्ण करनेके लिए ही आपलोग मेरे पास आये हैं। देखो, गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामायणमें यही बात कही है—

तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा।

रामचन्द्रके दर्शनका फल यह है कि भरतका दर्शन हुआ। इसीतरह भगवान्‌के दर्शनोंका फल यह हुआ कि सनत्कुमार जैसे सन्त मिले।

पृथुने कहा कि महाराज, मैं आपको क्या दूँ? आपने तो मुझे सब कुछ दे दिया। 'साधूच्छिष्टं हि मे सर्वम्' (४३)—अब आपका जूठा आपको कैसे दूँ? मेरे पास तो जो कुछ भी है, महात्माओंका उच्छिष्ट है। 'आत्मना सह' (४३)—यह मेरा शरीर भी, बापसे पैदा नहीं हुआ, माँसे पैदा हुआ; महात्माओंने ही तो अपने प्रतापसे इसको पैदा किया है। इसलिए मेरा यह शरीर आपका ही जूठा है। फिर समझमें नहीं आता कि आपको क्या दूँ? अच्छा, मेरे प्राण, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र, मेरा घर, राज्य, बल, महि, खजाना, सब कुछ आपके चरणोंमें निवेदित है। आपने ऐसी चीज दे दी कि सब कुछ दे देनेके बाद भी तो पूरा नहीं पड़ता।

यहाँ यदि कोई कहे कि ये महात्मा तुम्हारा खजाना लेकर, राज्य लेकर क्या करेंगे? क्या राज्यकाज करेंगे? इसका उत्तर है कि महात्मा लोग सब कुछ कर सकते हैं। 'वे क्या कर सकते हैं, क्या नहीं कर सकते' यह सोचना हमारा काम नहीं। जहाँ कृतज्ञताका उदय होता है, वहाँ मनुष्य अपने आपको अर्पित किये बिना रह ही नहीं सकता है—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४५

इसीलिए पृथु कहते हैं कि सेनापतित्व, राज्य-सञ्चालन, दण्ड-विधान और सारे लोकोंके स्वामी होनेका अधिकार वेदशास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंको ही है। ऐसे ब्राह्मणोंकी कोई क्या देगा? देखो, भगवान्‌ने ब्राह्मणोंको, विद्वानोंको, महात्माओंको, यह सद्‌बुद्धि दे दी कि उनके भजनमें लगे रहें। यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो ये विद्वान् और बुद्धिमान् महात्मा लोग कहीं व्यापारमें लग जाते और कहीं राज्य-शासन सम्भालने लगते तो फिर सब क्षत्रिय और वैश्य लोग ताकते ही रह जाते।

इसीलिए पृथु कहते हैं कि—'स्वयमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च' (४६)। देखो, यह श्लोक मनुस्मृतिमें (१.१०१) भी आया हुआ है—'तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः' (४६)।

अर्थात् ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, अपना देता है। उसके अनुग्रहसे ही क्षत्रिय-वैश्यको रोटी खानेको मिलती है।

पृथु कहते हैं कि महाराज, सब आपकी कृपा है। मैं कुछ देकर आपसे उऋण होऊँ, यह कल्पना मेरे चित्तमें नहीं है। इसीलिए आप तो अपने शील-स्वभावसे ही मुझको उऋण कर सकते हैं, क्योंकि आपकी करुणा अनन्त है। आपके किये हुएका बदला इस दुनियामें कौन चुका सकता है महाराज ! यदि कोई आपके प्रत्युपकारमें प्रवृत्त होगा तो वह विनोदपात्र हो जायेगा—'को नाम तत्प्रति करोति विनोदपात्रम्' (४७)।

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, इस प्रकार आदिराज पृथुने सनत्कुमारोंकी पूजा की और वे सबके सामने 'खेऽभूवन् मिषतां नृणाम् (४८)—आकाशमें चले गये। इसके बाद पृथु आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करके अपनेको आप्तकामकी तरह मानने लगे। वे यथाकाल, यथादेश, यथाबल, यथा-चित्त और यथावित्त अर्थात् समयके अनुसार, देशके अनुसार, बलके अनुसार, औचित्यके अनुसार एवं धनके अनुसार अपने कर्त्तव्योंका पालन करते थे। परन्तु उन सब कर्त्तव्योंका समर्पण भगवान्के प्रति कर देते थे। किसी भी कर्मका कर्त्ता-भोक्ता मैं हूँ—ऐसा नहीं मानते थे। 'ब्रह्मसात्कृतम्' (५०)–ब्रह्मार्पण करके ही अपने कर्मको करते थे।

आपको सुनाया जा चुका है कि इस चतुर्थ स्कन्धमें पहलेके सात अध्याय धर्म सम्बन्धी हैं—क्योंकि इनमें सप्ततन्तु यज्ञ होता है। उसके बाद पाँच अध्याय अर्थ-सम्बन्धी हैं—क्योंकि इनमें ध्रुवको भगवान्से अर्थकी प्राप्ति हुई है। यह भी समझनेकी बात है कि अर्थकी प्राप्ति पाँच इन्द्रियोंसे होती है। उसके बाद इन ग्यारह अध्यायोंमें राजा पृथुके चरित्रका वर्णन है, जो काम प्रधान है। राजा पृथुकी इतनी उन्नति हुई कि वे जो चाहें, वह उनको मिले। फिर भी वे अनासक्त होकर संसारमें रहते थे, अपनेको प्रकृतिके परे देखते थे और कोई फल नहीं चाहते थे। घरमें रह करके भी राजा पृथुको इन्द्रियार्थमें, विषयमें, आसक्ति नहीं थी। वे अहंता-ममतासे बिलकुल मुक्त थे। यदि कहे कि वे ब्रह्मचारी रहते होंगे सो बात नहीं। उनकी अर्चिः नामकी पत्नी थी, जिससे उनके विजिताश्व, धूम्रकेतु आदि पाँच पुत्र पैदा हुए। उन पुत्रोंने भी प्रजाका बड़ा भारी अनुरञ्जन किया और उनका राजा नाम सार्थक हो गया। महाराज पृथु आठो लोकपालोंके गुण धारण करते थे। संसारमें जो श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पदार्थ हैं, उनकी सारी विशेषताएँ पृथुमें आगयीं। कहते हैं कि सृष्टिमें पृथु-सरीखा प्रतापी राजा अगर कोई हुआ तो केवल श्रीराम ही हुए। श्रीरामको छोड़कर पृथुके समान कीर्तिशाली पुरुष और कोई नहीं हुआ। इसीलिए त्रिलोकीमें लोग उनकी कीर्तिका गान करते थे और वे स्त्रियोंके कानोंमें वैसे ही प्रविष्ट हुए थे, जैसे श्रीराम—सत्पुरुषोंके 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव (६३)।

❀

: २३ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, जब पृथुने देखा कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ तो बोले कि मैंने अबतक ईश्वरकी आज्ञाका पालन किया। मेरे जन्मका जो उद्देश्य था, वह पूरा हुआ। अतः अब मुझे मोक्षके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

देखो, प्रजा यह नहीं चाहती थी कि हमारे महाराजा पृथु हमारा परित्याग करके वनमें जायें। किन्तु त्याग तो ऐसे ही अवसरोंपर होता है। त्यागका उद्देश्य बड़ा भारी उद्देश्य है। जो जीवनमें यह ख्याल रखता है कि मैं बुढ़ापेमें सब कुछ छोड़कर वनमें चला जाऊँगा अथवा किसी तीर्थमें नदी-तटपर रहूँगा और भजन करूँगा। वह जाये चाहे न जाये, लेकिन जब मनमें उद्देश्य रहता है तब संसारमें उसकी आसक्ति कम होती है। केवल उद्देश्य रखनेसे आसक्ति कम हो जाती है।

इसलिए राजा पृथुने राज्य छोड़ दिया और वे अपनी पत्नीके साथ वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने वानप्रस्थाश्रमके अनुसार तपस्या की, भगवान्‌की आराधना की, थोड़े ही दिनोंमें उनका कर्म-मलाशय निर्मल हो गया और उनके बन्धन कट गये। उनको सनत्कुमारने जैसा उपदेश किया था, उसीके अनुसार उन्होंने भगवान्‌का ध्यान किया। अन्तमें ब्रह्म हो उनको अनन्य भक्तिका विषय हुआ—

भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत् । १०

इस प्रकार भगवान्‌के परिकर्मसे पृथुका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। जैसे योगी लोग नेति, धौति, बस्ति आदि परिकर्म करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं, वैसे ही भक्तिसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उनको जो ज्ञानका उदय हुआ, वह निष्प्रतिबन्ध एवं वैराग्यसे युक्त था। उससे उन्होंने जीवकोशको काट दिया और उनकी द्वैतबुद्धि बिलकुल मिट गयी। अन्तमें जिस ज्ञानसे उन्होंने द्वैतभ्रमको काटा था, उस ज्ञानको भी छोड़ दिया—

तत्तत्यजेऽच्छिनदिदः वयुनेन येन । १२

असलमें मनुष्य कितना भी योग करे, लेकिन जबतक भगवान्‌की कथामें उसकी प्रीति नहीं होगी तबतक वह निर्भय नहीं हो सकता। जब पृथुका अन्तकाल उपस्थित हुआ तब उन्होंने अपनेको परमब्रह्म परमात्मासे एक करके, योगाभ्यासकी रीतिसे अपना लय किया विषयको इन्द्रियोंमें, इन्द्रियोंको मनमें, मनको अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वको मायामें और मायाको शुद्ध ब्रह्ममें स्थित करके अपने शरीरको त्याग दिया।

उनकी पत्नी अर्चिः बड़ी सुकुमारी थी। फिर भी उनकी सेवा करती रहीं। जब उन्होंने देखा कि पतिका शरीर छूट गया है तब उन्होंने चिता जलायी और जलमें स्नान करके, अपने पतिदेवके चरणोंका स्मरण करती हुई उन्होंने पतिके साथ ही अग्निमें प्रवेश किया। स्वर्गकी देवियाँ कहने लगीं कि बस यही वधू धन्य है, जिसने जीवनभर अपने पतिकी सेवाकी और मृत्युके बाद भी उनके साथ ही चली गयीं।

जो लोग भगवान्‌का भजन करते हैं उनके लिए परमपद प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं। मनुष्यका शरीर अपवर्ग, परमात्मा और मोक्षको प्राप्त करानेवाला है। इसको अनेक जन्मके बाद और अनेक पुण्योंके पश्चात् प्राप्त करके जो विषयोंमें आसक्ति कर लेता है, वह आत्मद्रोही है, उसने अपने आप अपने पाँवपर कुल्हाड़ी मारी है और अपनी हत्या की है। इसलिए मनुष्य शरीर पाकर भगवान्‌का भजन जरूर करना चाहिए।

पृथुका चरित्र ऐसा है कि इसको पढ़कर ब्राह्मणादि चाहें तो अपने मनकी वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। इससे ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य मिलता है और क्षत्रिय पृथिवीपति हो जाता है। इस चरित्रका तीन बार श्रवण करनेसे मनुष्यका परमकल्याण होता है। इसलिए इसके श्रवण-पाठनका बड़ा भारी माहात्म्य है। स्वयं भीष्मपितामहने यह चरित्र युधिष्ठिरको सुनाया है। जो इसका श्रवण-श्रावण करता है उसकी सारी आसक्ति मिट जाती है और उसको भगवान्‌के चरणोंकी भक्ति मिलती है।

❀

: २४ :

मैत्रेयजी कहते हैं विदुरजी, पृथुका पुत्र था विजिताश्व। जब वह राजा हुआ तो उसने कहा कि मेरे पितामें जितना शक्ति-सामर्थ्य था, उतना मैं सँभाल नहीं सकता। इसलिए उसने अपने भाइयोंको राज्य बाँट दिया और कहा कि तुम लोग चारों दिशाओंमें रहकर चारों दिशाओंको सँभालो। इन्द्रसे अन्तर्धान-विद्या सीखनेके कारण उसका नाम अन्तर्धान हो गया। उसकी शिखण्डिनी नामक पत्नीसे उसके पावक, पवमान और शुचि—ये तीन पुत्र हुए। वे अग्निभावको प्राप्त हो गये।

अन्तर्धानकी दूसरी पत्नी नभस्वतीसे हविर्धान नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। हविर्धान राजा होनेको तैयार नहीं हुए। बोले कि राजाकी वृत्ति बहुत कठिन है। इसमें प्रजासे कर वसूल करना, शुल्क लेना और उनको दण्ड देना पड़ता है, जो बहुत कठोर कर्म है। इसके लिए लोगोंसे जबरदस्ती करनी पड़ती है। इसलिए हविर्धानने राजा न होकर परमात्माका ध्यान करके परमात्माको प्रकट किया।

हविर्धानसे बर्हिषद, गय, आदि पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। बर्हिषद कर्मकाण्डमें बहुत निपुण थे। उन्होंने इतने यज्ञ किये थे कि यज्ञमें होम करते समय जो कुश बिछाते हैं, उनको अगर फैला दिया जाये तो उनसे सारा वसुधातल ढँक जाये। इसीसे आगे चलकर उनका नाम 'प्राचीनबर्हिः' पड़ गया।

बर्हिषदका विवाह शतद्रुतिसे हुआ। वह इतनी सुन्दर थी कि अग्निके मनमें भी उसके लिए विकारका उदय हो गया। उसके दस पुत्र हुए। उन सब भाइयोंमें इतना प्रेम था कि सबका एक ही नाम, एक ही व्रत और एक ही धर्म था। वे सब प्रचेताःके नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके पिताने कहा कि जाओ, तुमलोग अब सन्तान उत्पन्न करो। वे सब तपस्या करनेके लिए पश्चिम दिशामें समुद्र तटकी ओर चले गये। वहाँ मिल गये शंकरजी और उनको यह उपदेश कर दिया कि तुमलोग इस प्रकार भगवान्‌की आराधना करो। उसीके अनुसार सब भाई ध्यान करें, जप करें और पूजा करें।

इसपर विदुरजीने मैत्रेयजीसे पूछा कि ब्रह्मन्, आप कृपा करके मुझे यह बतायें कि उन प्रचेताओंको शंकरजी कैसे मिल गये ? उन्होंने प्रसन्न होकर क्या भजन करनेके लिए कहा ? कौन-सा मन्त्र बताया ? शरीरधारीके लिए तो शंकरजीका समागम बड़ा दुर्लभ है। वे तो आत्माराम होकर भी अपनी शक्ति शिवाके साथ विचरण करते रहते हैं।

मैत्रेयजी कहने लगे—पिताकी आज्ञा मानकर जब प्रचेता लोग प्रतीची दिशामें जप करनेके लिए चले तब अनूप देशमें नारायण सरोवरपर पहुँचे। अनूपको कच्छ बोलते हैं। कच्छ शब्द संस्कृतका ही है। संस्कृत भाषामें जलसे घिरे हुए प्रदेशको कच्छ बोलते हैं। उसीसे कच्छप शब्द-भी बनता है। क्योंकि ऐसी जगहपर कछुए ज्यादा होते हैं। प्रचेताओंने देखा कि समुद्रके पास स्थित नारायण सरोवर बड़ा सुन्दर है। जैसे महात्माओंका मन पवित्र होता है, वैसे ही वह नारायण सरोवर पवित्र है। उसमें सुन्दर-सुन्दर कमल खिल रहे हैं, भँवरे गुञ्जार कर रहे हैं, सुगन्ध ही सुगन्ध है। कमलकोषकी धूल उड़ रही है और चारों ओर फिर प्रचेताओंने सुना कि वहाँ तो गन्धर्व-गान भी हो रहा है। वह सुनकर राजकुमार प्रचेताः बहुत आनन्दित हुए लेकिन साथ ही साथ चकित भी हुए कि यहाँ ऐसी सुमधुर संगीत-ध्वनि कहाँसे आ रही है।

इसी बीच देवप्रवर भगवान् शङ्कर अपने अनुचरोंके साथ उस सरोवरमें-से निकले। उनको देखकर प्रचेताओने उन्हें प्रणाम किया और उनपर प्रसन्न होकर प्रपन्नार्तिहर भगवान् शिव उनसे बोले।

भगवान् शङ्करने कहा कि तुम लोग परमयाज्ञिक प्राचीन बर्हिःके पुत्रहो। तुम क्या चाहते हो, यह मुझे मालूम है। तुम्हारा कल्याण हो, तुमपर अनुग्रह करनेके लिए ही मैंने तुमको दर्शन दिया है। बात यह है कि जब कोई सूक्ष्मसे परे, प्रकृतिसे परे, और पुरुषसे भी परे भगवान् वासुदेवकी शरणमें आता है, वह मेरा बहुत प्यारा हो जाता है।

भगवान् शङ्कर आगे कहते हैं कि स्वधर्मनिष्ठ पुरुष सौ जन्मके बाद ब्रह्मा होता है और उसके पश्चात् मेरा स्वरूप हो जाता है। फिर भगवान्का जो अव्याकृत परमपद है, वैष्णव पद है वहाँ जाता है। ठीक वैसे ही जाता है, जैसे मैं जाता हूँ। मैं तुम लोगोंसे बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि वैष्णवोंसे अधिक मेरा और कोई प्यारा नहीं—

न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्। ३०

मैं तुम लोगोंको एक परम पवित्र मङ्गलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ। तुम लोग उसका जप करना। इसके बाद करुणार्द्रहृदय भगवान् शङ्कर हाथ जोड़कर श्रवण करनेके लिए उद्यत प्रचेताओंको स्तोत्र सुनाने लगे—

जितं त आत्मविद्धुर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः॥ ३३

हे प्रभो ! आपने जीत लिया, जीत लिया। जितने तत्त्वज्ञानी महापुरुष हैं; उनका आप ही कल्याण करते हैं। हमारा कल्याण भी आप ही करें। आप सम्पूर्ण सिद्धियोंकी सिद्धि हैं और सर्वरूप हैं, आत्मरूप हैं—'सर्वं आत्मने नमः'। आपको हम नमस्कार करते हैं।

आप कमलनाभ, भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मा, वासुदेव, शान्त, कूटस्थ, स्वरोचिः स्वयं प्रकाश परमात्मा हैं, आपको हमारा नमस्कार है। आप संकर्षण; सूक्ष्म, दुरन्त, अन्तक, विश्वप्रबोध, प्रद्युम्न आत्माराम हैं, आपको हमारा बार-बार नमस्कार है। आप अनिरुद्ध, हृषीकेश, इन्द्रियात्मा, परमहंस, पूर्णनिभृतात्मा प्रभु हैं, आपको हमारा बार-बार नमस्कार है। आप स्वर्ग-अपवर्गके द्वार, शुचिषद्-पवित्र हृदयमें प्रकट होनेवाले हिरण्यवीर्य चातुर्होत्र प्रभु हैं, आपको हमारा बार-बार नमस्कार है।

भगवान् शङ्कर आगे कहते है कि आप ही यज्ञरेताः हैं, तृप्ति देनेवाले हैं, सर्वरसात्मा है, आपको हमारा बार-बार नमस्कार है। आप सर्वसत्त्वात्मदेह हैं, विशेष हैं अर्थात् पृथिवीरूप हैं। स्थूल हैं, त्रैलोक्य पाल हैं और ओजबल-रूप हैं। आपको हमारा नमस्कार है। बाहर-भीतर व्याप्त आकाशके रूपमें आप ही हैं और आप ही सारे अर्थोंको प्रकाशित करते हैं। आप पुण्यश्लोक, अमुष्म और भूरिवर्चा हैं, आपको हमारा नमस्कार है। आप प्रवृत्त भी, निवृत्त भी हैं। पितर और देवताओंके लिए जो कर्म होता है, वह भी आप ही हैं। धर्मके फल सुखरूप भी आप ही हैं। मृत्यु भी आप ही हैं और दुःख भी आप ही हैं। आपको हमारा नमस्कार है।

यहाँ देखो, भगवान्‌का क्या बढ़िया वर्णन है। जब वह सुख देता है तब तो लोग कहते हैं कि आपने बहुत बड़ी कृपा की और जब दुःख देता है तब लोगोंको अच्छा नहीं लगता। वास्तविकता यह है कि मृत्युके रूपमें भी ईश्वर ही आता है और दुःख भी ईश्वर ही देता है। जिसका जैसा कर्म है, उसके अनुसार फल देता है। इस प्रकार वह लीला करता है, खेल करता है।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि आप सम्पूर्ण मनोभिलशाको पूर्ण करनेवाले हैं, बृहत्-धर्म स्वरूप हैं, कृष्ण हैं, पुराणपुरुष हैं, सांख्य-योगेश्वर हैं। आपको नमस्कार है। आप शक्तित्रय-समेत हैं, विद्वान् हैं, बस वर्षा ही वर्षा करते रहते हैं। अपने भक्तोंके मनोरथको पूर्ण करते रहते हैं। आप हमारे हृदयमें ही हैं। अहम्-अहम्‌के रूपमें भी आप ही फुर रहे हैं। आप ही चित्तकी आकृतिरूप भी हैं। वाणीसे जो कुछ कहा जाता है और जितनी भी वाणियाँ होती हैं, उनके भीतर बैठकर आप ही उनकी सृष्टि करते रहते हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं।

यहाँ देखो, 'नमो वाचोविभूतये' (४३)। तात्पर्य यह है कि हम लोगोके मुँहसे जो वाणी निकलती है, यह ईश्वरकी विभूति है। इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर ही सबके भीतर बैठकर सबकी वाणीका सञ्चालन करता है।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि प्रभो, हम आपका दर्शन करना चाहते हैं। आप हमको अपने

उस रूपकी झाँकी कराइये, जिसका पूजन आपके भक्त करते हैं और जो उनको अत्यन्त प्रिय है। आपका वह रूप सबको तृप्त करनेवाला है।

यहाँ आप 'भागवतार्चितम्' (४४)। पदपर ध्यान दें जो भगवान्‌के किसी भी रूपके भक्त हैं, वे सब भागवत होंगे। इन भागवतोंके द्वारा जो अर्चित रूप है, वह भागवतार्चित रूप है। तात्पर्य यह है कि केवल राम-कृष्णके उपासकोंको ही नहीं गणपति, सूर्य, देवी, सबके उपासकोंको भागवत कहते हैं। क्योंकि देवी भागवतमें जो भागवत शब्द है, वह भगवती शब्दसे ही बना हुआ है। 'भगवत्या इदम् भागवतम्' (यस्येति च इति ईकारस्य लोपः) 'भागवतार्चितं रूपम्' का अर्थ है कि भगवान्‌के किसी भी रूपकी उपासना करनेवालेके द्वारा अर्चित प्रियतमरूप, जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आनन्द देनेवाला है।

भगवान् शङ्कर कहते हैं—भगवन्, आपका रूप 'स्निग्धप्रावृड्घनस्यामम्' (४५) वर्षा ऋतुके स्निग्ध घनके समान श्याम हैं, सम्पूर्ण सौन्दर्योंके संग्रह हैं, आपकी सुन्दर-सुन्दर चार भुजाएँ हैं, आपका मनोहर मुखारविन्द है, कमलदलके समान नेत्र हैं, सुन्दर भौंहें हैं, सुघड़ नासिका है, मनमोहक दन्त हैं, सुन्दर कपोल हैं और परम शोभाशाली कर्ण हैं। आप प्रेमसे हँस रहे हैं। आपकी आँखें नाच रही हैं और अलकें लटक रही हैं। आप अपने इस रूपका दर्शन कराइये।

प्रभो, जो आत्मशुद्धि चाहते हैं, उनको आपके इस रूपका ध्यान करना चाहिए। आपके भक्तियोगसे ही अभय पदकी प्राप्ति होती है। आप केवल भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं। जो बड़े-बड़े मुक्त पुरुष हैं, जिनका स्वर्गमें राज्य है, वे भी आपको ही पाना चाहते हैं—'स्वाराज्यस्याप्य-भिमतः (५४) अर्थात् 'स्वः-स्वर्गे राज्यं यस्य तस्य इन्द्रस्यापि अभिमतः।' स्वाराज्यमें 'स्वः'का ही 'स्वा' बन गया है अथवा स्वाराज्य माने जो मोक्षस्वरूप हो गया है, उसको भी आप ही अभीष्ट हैं। आप आत्मवेत्ताओंकी एकमात्र गति हैं। दुष्टोंके लिए आपकी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा कौन है, जो एकान्त भक्तिसे आपकी आराधना करनेके बाद आपके चरणारविन्दके सिवाय और कुछ चाहे? जो एक बार भगवान्‌के चरणोंमें थोड़ी देरके लिए भी पहुँच जाये, वह मृत्युसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌के भक्तके संगसे स्वर्ण और मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती। एक क्षण अथवा आधे क्षणके लिए भी भक्तका संग मिल जाये तो फिर ये मनुष्य लोग जिन मनोरथोंके पीछे भटकते रहते हैं, उनसे उनको छुटकारा मिल जाये।

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयोरन्तर्बहिः स्नानविधूतपाप्मनाम्। ५८

भगवान् शंकर कहते हैं कि प्रभो, हम तो यही चाहते हैं कि बाहरके तीर्थमें स्नान करके बाहरके पापको धो दें और भीतर जो तुम्हारा कीर्तितीर्थ है, उसमें स्नान करके भीतरके पापको धो दें। आपकी कीर्ति भीतरके पापको धोती है और तीर्थ बाहरके पापको धोते हैं। जिन महा-पुरुषोंके हृदयमें दया है, सद्‌गुण है, शील है, उनका ही समागम हमको बार-बार प्राप्त होता रहे।

इसीको हम आपका बहुत बड़ा अनुग्रह समझते हैं। जिसका चित्त बाहरकी वस्तुओंको महत्त्वपूर्ण समझकर उनकी ओर नहीं जाता, उनको आपके भक्तियोगकी प्राप्ति हो जानेपर आपका दर्शन होता है। यह महत्त्वपूर्ण विश्व आपमें ही प्रकाशित हो रहा है। आपका जो परब्रह्म तत्त्व है, वह आकाशके समान विस्तृत है। आपकी अनेक रूपिणी माया ही सृष्टिमें दीख रही है। जो श्रद्धाके द्वारा किसी भी प्रकारसे आपकी आराधना करते हैं, वही कोविद हैं। इस सृष्टिको आप ही पैदा करते हैं और आप ही प्रलयकी ओर ले जाते हैं।

भगवन्, संसारके लोगोंकी यह हालत है कि वे 'हमारा यह कर्त्तव्य है' 'हमारा वह कर्त्तव्य है'—इसीमें फँसे रहते हैं। 'प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया'—(६६) इस इतिकृत्यकी चिन्तासे ही मनुष्य प्रमादी हो जाता है, उसका लोभ बढ़ जाता है, उसमें विषयकी लालसा आजाती है और वह आपको भूल जाता है। लेकिन आप उसे नहीं भूलते। इसी बीचमें आपका कालरूप आता है और वह जैसे साँप चूहेको पकड़कर ले जाता है, वैसे ही यह कर्त्तव्य है, वह कर्त्तव्य है कि बात सोचनेवालोंको उठा ले जाता है।

इसलिए कौन ऐसा विद्वान् है, जो आपके चरणारविन्दका परित्याग कर दे? हमारे जो ब्रह्मा आदि गुरु हैं और चतुर्दश मनु हैं वे सब-के-सब दृढ़विश्वाससे आपका भजन करते हैं।

विशङ्कयास्मद् गुरुरर्चति स्म यद् विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश। ६७

देखो, भगवान्‌की आराधना किसी युक्ति अथवा तर्कसे सिद्ध हो जायेगी तब तुम उसको करोगे, यह ख्याल अपने मनमें-से निकाल दो। यह तो तुम श्रद्धासे करो, विश्वाससे करो, प्रेमसे करो। चौदहों मनु, जो भगवान्‌का भजन करते हैं, वे उसमें कोई तर्क या युक्ति नहीं लगाते हैं। केवल श्रद्धा, विश्वाससे ही करते हैं, क्योंकि हमारी बुद्धि, हमारी इन्द्रियाँ, हमारे तर्क और मन भगवान्‌तक नहीं पहुँचते।

अन्तमें शंकरजी कहते हैं कि प्रभो, यह सम्पूर्ण विश्व रुद्रभयसे ध्वस्त हो रहा है, निर्भय गति तो केवल आप ही हैं। इसके बाद शंकरजी प्रचेताओंसे बोले कि तुम लोग सम्पूर्ण प्राणियों तथा अपने शरीरमें स्थित भगवान् श्रीहरिकी पूजा करो, उनका ध्यान करो, और उनके बारेमें गुनगुनाओ। उन्हींका जप करो। यही प्रभु सर्वत्र परिपूर्ण हैं। इनमें अपना मन लगाओ। पहले ब्रह्माजीने हम सब लोगोंको यही स्तोत्र बताया था। इससे तत्काल कल्याणकी प्राप्ति होती है। यह सब श्रेयसोंका श्रेयः है। जो किसी भी समय इसका पाठ श्रद्धासे करता है, वह कर्मधारासे, कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसलिए तुमलोग भी इसीके द्वारा भगवान्‌की आराधना करो।

ॐ

: २५ :

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, शंकर भगवान् इतना कहकर अन्तर्धान हो गये और प्रचेताः लोग नारायण सरोवरपर बड़ी भारी तपस्या करने लगे।

इधर नारदजीने सोचा कि प्रचेताः लोग तो शंकरजीकी कृपासे नारायणके भजनमें लग गये, लेकिन उनके पिता प्राचीनबर्हिःका मन अभीतक कर्मोंमें लगा हुआ है। उनके हृदयमें प्राचीन बर्हिःके प्रति बड़ी करुणाका उदय हुआ और वे प्राचीनबर्हिःके पास पहुँचकर उसे समझाने लगे। परम दयालु और अध्यात्म तत्त्वज्ञ नारदजीने प्राचीनबर्हिःसे पूछा कि महाराज, मैं तो आपसे एक सवाल पूछने आया हूँ। आप मेरे प्रश्नका उत्तर मुझे दें। प्रश्न यह है कि आप यह सब कर्मकाण्ड करके, यज्ञ-यागादि करके, अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हैं ? यदि आप चाहते हैं कि सारे दुःख मिट जायें और सुखकी प्राप्ति हो तो यह सब कर्मकाण्डसे होनेवाला नहीं—'तन्नेह चेष्यते, (४)। कारण यह है कि कर्ममें सीमित कर्त्ता होता है, सीमित करण होते हैं और सीमित वस्तुएँ होती हैं। उनसे सीमित देशमें, सीमित कालमें, सीमित क्रिया बनती है। फिर उस सीमितमें-से असीम फल, अनन्त ब्रह्मात्मक फल कैसे निकल सकता है ? उससे तो जब भी मिलेगा, सीमित ही मिलेगा। आप यह तो जानते ही हैं कि—'क्षीणे पुण्ये मृर्त्यलोके विशन्ति—(गीता ९.२१)' पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गलोकसे मृत्युलोकमें गिरना पड़ता है। यह बात वैसी ही है, जैसे कोई होटलमें गया, वहाँ उसने जितने रुपये जमा किये, उनका भोग कर लिया और जब रुपये नहीं रहे तब होटलसे निकाल दिया गया। इसी प्रकार संसारके जो भोग कर्मसे मिलते हैं, वे होटलके भोग-सरीखे हैं।

नारदजीकी बात सुनकर राजा प्राचीनबर्हिः चकित हो गये। उन्होंने देखा कि महात्माने प्रश्न क्या किया, यह तो एक चोट ही कर दी। होना तो यह चाहिए था कि राजा स्वयं महात्माके पास जाते, और यदि उनकी अपनी स्थितिसे असंतोष होता, उनके मनमें कोई प्रश्न उदय होता, जिज्ञासा होती तो समाधानके लिए प्रश्न पूछते। लेकिन हुआ उल्टा और महात्मा स्वयं उनके पास आकर उनको समझाने लगे।

देखो, ऐसा आज भी होता है। एक महात्मा थे, सेठोंकी बहुत खुशामद किया करते थे। एक दिन मैंने उनसे पूछ लिया कि आप इतने अच्छे वैराग्यवान् महात्मा होकर सेठोंकी इतनी खुशामद क्यों करते हैं? महात्मा बोले कि देखो भाई, काशीफल हँसियेपर गिरे या हँसिया काशीफलपर गिरे, कटेगा काशीफल ही, हँसिया नहीं कटेगा। इसीलिए चाहे हम जाकर सेठोंसे पूछें और चाहें सेठ हमसे आकर पूछें, उनको ज्ञान तो हम ही देंगे, वे हमको थोड़े ही देंगे? उनको रुपये पैसोंका ज्ञान है और हमें परमार्थका ज्ञान है, इसलिए उनको हमारे ज्ञानसे लाभ हो जाये तो अच्छा ही है।

राजा प्राचीनबर्हिःने नारदजीसे कहा कि महाराज, मुझे आपके प्रश्नका उत्तर नहीं मालूम है। मैं तो कर्म ही करता हूँ। इसलिए आप ही मुझे विमल-ज्ञानका उपदेश कोजिये। मैं तो 'गृहेषु कूटधर्मेषु' (६)। घर-गृहस्थीमें फँस गया हूँ और यहाँ तो छल-कपट करके ही काम चलाया जाता है। यहाँ स्त्री, पुत्र और धन ही सबसे बड़ी चीज होती है। इसलिए यहाँ सत्यका साक्षात्कार नहीं होता।

नारदजीने कहा कि राजन्, मैं तुमको एक बात दिखाता हूँ। तुमने जो यज्ञोंमें निर्दयतापूर्वक पशु मारे हैं, वे सब आकाशमें एकत्र होकर, अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर, तुमको मारनेके लिए खड़े हैं। ज्योंही तुम मृत्युलोकसे निकल ऊपर जाओगे, त्योंही वे सब तुम्हारी अन्तरात्माको सतायेंगे।

इसके बाद नारदजीने राजाको पुरञ्जन उपाख्यान सुनाना प्रारम्भ किया। इसका अभिप्राय क्या है? वैदिक धर्मकी महिमा तो बहुत बड़ी है, इतनी बड़ी है कि यदि उसकी शाश्वत सार्वभौम और सार्वजनिक दृष्टिपर विचार किया जाये तो वेदोक्त धर्म सम्पूर्ण विश्वकी जनताको नियन्त्रित एवं मर्यादित करनेमें समर्थ है। उसकी दृष्टि बड़ी उदार है। उसमें सभी लोगोंके कल्याणकी बात आती है।

इस पुरञ्जनोपाख्यानका तात्पर्य यही है कि यदि कोई यह समझे कि पुरञ्जनोपाख्यान ही सारा भागवत है, तो वह बहुत गलती करेगा। भागवतमें जहाँ आध्यात्मिक अर्थमें इस प्रकारकी कथा कही गयी है, वहाँ उसका उद्देश्य भी बता दिया गया है। यह तो लेखककी लेखनी अथवा वक्ताकी वाणीका चमत्कार है कि किसी पाठक या श्रोताकी सर्वत्र आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं

आधिभौतिक अर्थ दिखायी दे। व्यासजी लिखते इस ढङ्गसे हैं कि यदि कोई प्रसङ्ग शाश्वत तत्त्वके आधारपर होगया तो वह वास्तवमें शाश्वत हो जायेगा। तो नारदजी कहते हैं—

आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः। तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाविज्ञातचेष्टितः॥ १०

राजा सुनो ! एक थे पुरञ्जन। पुरञ्जन शब्दका अर्थ है जीव। 'पुरं जनयति'—जो देहको जन्म दे, उसका नाम पुरञ्जन। उसके एक अविज्ञातनामा अर्थात् जिनका नाम ही नहीं मालूम, सखा थे। वह शिकार करनेके लिए दुनियामें घूम रहे थे। घूम रहे थे कि इस आदमीको अपने काममें कैसे लें ? उनको इस संसारमें कोई शरीर रहने योग्य पसन्द नहीं आया। अन्तमें भारतवर्षमें नवद्वारपुरीसे युक्त एक मनुष्य शरीर उन्होंने देखा।

फिर उन्होंने हिमालयके दक्षिण भागमें नवद्वारवाली पुरी भी देखी। उसका बड़ा वर्णन किया गया है। उसमें प्राकार थे, उपवन थे और खाइयाँ बनी हुई थीं। घर भी धातुके बने हुए थे। सात धातुएँ तो सबके घरोंमें होती हैं। अविज्ञात ईश्वर सबका सखा होता है और पुरञ्जन जीव सबके घरमें बैठा हुआ है। पुरञ्जनने उस नगरीके बाहर देखा कि एक बहुत सुन्दरी प्रमदोत्तमा स्त्री बगीचेमें आयी हुई है। वहाँ वह अपने दस सेवकोंके साथ क्रीड़ा कर रही है और एक पाँच सिरोंवाला सर्प है, जो उसकी रक्षा कर रहा है। सोलह वर्षको उसकी उम्र है और देखनेमें वह सर्वाङ्गसुन्दरी है। वस्त्राभूषणोंसे युक्त है और रुनझुन-रुनझुन करती हुई चलती है।

उसको देखकर पुरञ्जनजी उसपर मोहित हो गये और बोले कि देवि ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आयी हो ? ये तुम्हारे सेवक कौन हैं ? क्या तुम लक्ष्मी हो ? सरस्वती हो ? लेकिन तुम तो एक मानुषी मालूम पड़ती हो, क्योंकि तुम्हारा चरण धरतीको स्पर्श कर रहा है। तुमको देखकर मेरे मनमें मनोरथका, कामका उदय हो गया है।

जब पुरञ्जनने यह बात बतायी तो वह स्त्री भी उनपर मोहित हो गयी। उसने कहा कि हम दोनों तो ऐसे हैं कि न मुझको तुम्हारा गोत्र-नाम मालूम है और न तुमको मेरा। हमको किसने बनाया है, इसका तो पता ही नहीं चलता। सच तो यह है कि दुनियामें सब लोग एक एक मान्यता लेकर बैठ जाते हैं, असलियतका पता कौन चलाता है। जिसने यह पुरी बनायी है, उसको भी लोग नहीं जानते। यह देखो, हमारे सखो-सखाओंमें यह जो पाँच सिरवाला नाग है, वह प्राण है, जो हमारी, हमारे शरीरकी रक्षा करता है। बहुत सौभाग्यकी बात है कि तुम हमको चाहते हो। आओ, तुम हमारे साथ रहो। गृहस्थोंका जो सुख है, वह तो संन्यासियोंको मालूम ही नहीं।

कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम्। असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम्॥ ३८
धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः। लोका विशोका विरजा यान्नकेवलिनो विदुः॥ ३९

गृहस्थीमें बहुत सुख है। इसमें परलोककी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं। किसीको पता

नहीं और दुनियाभरकी बात सोचते हैं। आओ, हम गृहस्थ बनकर भोग भोगें। गृहस्थाश्रममें धर्म मिलता है, भोग मिलता है, सन्तान मिलती है, विहारका आनन्द मिलता है, अमृत मिलता है, यश मिलता है और लोक-विशेष मिलते हैं। ये केवली लोग जो दुनियामें साधु बनकर अकेले घूमते हैं, उनको गृहस्थाश्रमके सुखका क्या पता ?

इस प्रकार उस श्रीमतीने हँस-हँसकर, मीठी-मीठी बात करके पुरञ्जनजीको ऐसा फँसाया कि वह उसपर मोहित होकर वहीं उसके साथ रह गये।

अब आप यहाँ इस उपाख्यानका आध्यात्मिक अर्थ देखो। उस पुरीमें सात दरवाजोंका जो वर्णन है, उनको अपने शरीरमें देख लो। यह शरीर ही पुरी है, दूसरी कोई पुरी नहीं है। पुरञ्जन है जीव और जो प्रमदोत्तमा स्त्री है वह है बुद्धि। उसकी सखियाँ हैं तरह-तरहकी मनोवृत्तियाँ। पाँच सिरोंवाला जो सर्प है, वह पाँच प्राण हैं, जो शरीरके रक्षक हैं। इस शरीरमें जो सात दरवाजे हैं वे है दो कान, दो आँख, दो नाक और एक मुख। ये सात ऊपरकी ओरके दरवाजे हैं। जीव इनमें किसीसे रूप देखनेके लिए जाता है, किसीसे गन्ध सूँघनेके लिये जाता है और किसीसे गाना-बजाना सुननेके लिए जाता है और फिर नीचे भी इसके दो द्वार है—जिनसे वह शौच और लघु-शङ्का करनेके लिए जाता है।

पुरञ्जन रूप जीवका स्त्री-रूप बुद्धिमें फँसनेका तात्पर्य मनोवृत्तियोंके साथ तादात्म्य होना है। जिस समय मनुष्यको क्रोध आता है और वह अपने-आपको क्रोधमें डाल देता है, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि दुनियामें क्रोध करना ही सबसे बढ़िया है। उस समय मनुष्य यह सोचने लगता है कि यदि हम दुश्मनको नहीं मार देंगे तो हमारा जीना व्यर्थ है। जब मनुष्यके मनमें कामना आती है तब ऐसा लगता है कि यदि यह कामना पूरी नहीं होगी तो हमारा जीवन व्यर्थ है। इस प्रकार जब जो भाव हमारे मनमें आता है, हम उसीको सर्वश्रेष्ठ समझने लगते हैं। इसका नाम आवेश है। फिर जब दो घण्टेके बाद वह वृत्ति शान्त हो जाती है तब हम पछताने लगते हैं कि हाय-हाय हमने यह क्रोध क्यों किया; हमने यह कामना क्यों की ?

ऐसा यदा-कदा होता है, यह बात नहीं, हमेशा होता है। जब किसी वृत्तिका प्रवाह सामने आता है, हम उसके साथ तादात्म्यापन्न हो जाते हैं। फिर वह जैसा करती है, वैसा ही हम अनुकरण करते हैं। शराब पीती है तो हम शराब पीते हैं, वह गाती है तो हम गाते हैं, वह हँसती है तो हम हँसते हैं, वह दौड़ती है तो हम दौड़ते हैं, वह ठहरती है तो हम ठहरते हैं, वह सुनती है तो हम सुनते है, वह देखती है तो हम देखते हैं और वह खुश होती है तो हम खुश होते हैं।

इस प्रकार पुरञ्जन क्रीड़ा मृगके समान उस स्त्रीके खिलौने बन गये। उनका सारा प्रकृति-वर्ग धोखा देने लगा।

नारदजी कहते हैं राजन्, एक दिन पुरञ्जन रथपर सवार होकर शिकार खेलने गये। यहाँ रथका भी वैसा ही वर्णन है, जैसा शरीरका है। पुरञ्जनके रथमें पाँच घोड़े हैं, दो चाक हैं, एक अक्ष है, तीन ध्वजाएँ हैं, पाँच बन्धन हैं, एक रश्मि है, एक सूत है, और गतिके पाँच प्रकार हैं। ऐसे रथपर आरूढ़ होकर पुरञ्जन पञ्चप्रस्थ वनमें गये, जिसमें पाँचों विषय मिलते हैं। पुरञ्जनने अपनी विवेकवती पत्नीको घरमें छोड़ दिया और वनमें जाकर पशुओंको मारने लगे। बोले कि हम तो पशुओंको मार-मारकर उनके मांससे श्राद्ध करेंगे।

पुरञ्जन जब शिकार करके राजधानी लौटे और स्नान-ध्यान करके अपनी पत्नीको ढूँढने लगे तो दासियोंने बताया कि वे रूठकर बिना नहाये-धोये, बिना शृङ्गार किये धरतीपर पड़ी हैं। यह सुनकर पुरञ्जन बहुत व्याकुल हुए। जो विषयी, भोगी लोग होते हैं, उनकी यही दशा होती है। कहा गया है कि—'कामार्ता हि प्रकृति कृपणाः'—(मेघदूत ५) कामियोंकी प्रकृति बड़ी कृपण होती है। इसलिए पुरञ्जनने अपनी श्रीमतीजीके पास पहुँचकर उसके पाँव पकड़ लिये और उसको अपने हृदयसे लगाकर तरह-तरहकी बातोंसे मनाने लगे। देखो, जब पशु-पक्षियोंको मारना था, तब तो बड़े बहादुर बनते थे, लेकिन जब श्रीमतीजीके सामने आये तो उनकी सारी बहादुरी भाग गयी, घिघियाते हुए बोले कि जिसको तुम कहो, उसको दण्ड देनेके लिए मैं तैयार हूँ। मैं तुमसे बिना पूछे शिकार खेलनेके लिए चला गया, इसलिए तुम्हारा अपराधी हूँ, मुझे अपना समझकर क्षमा कर दो।

यहाँ देखो, स्त्रीका रूठना भी उसकी एक कला है। वे रूठकर पतिको अपने वशमें कर लेती हैं। लेकिन उनका रूठना एक-जैसा नहीं होता। कभी-कभी अच्छे उद्देश्यको लेकर भी स्त्रियाँ रूठती हैं।

एक बार हम लोग किसीके घर ठहरे हुए थे। उस घरकी मालकिन अपने पतिसे रूठ गयी। मैंने उनकी बच्चीसे पूछा—तुम्हारी माताजी क्यों रूठी हैं? उनको क्या चाहिए? साड़ी चाहिए? उनकी माँग क्या है, जिसकी वजहसे वे रूठी हैं? बच्चीने बताया कि हमारी माताजी कुछ लेनेके लिए नहीं रूठी हैं। वे कभी किसी वस्तुके लिए नहीं रूठतीं, आज इसलिए रूठी हैं कि हमारे पिताजीने सवेरेसे स्नान नहीं किया, दूध नहीं पीया, ऐसे ही खाली पेट काम करते जा रहे हैं। इससे माताजीको यह आशङ्का है कि उनके सिरमें दर्द हो जायेगा और वे बीमार पड़ जायेंगे। इसलिए आगे वे ऐसा न करें, इस बातसे रूठी हुई हैं। इसमें पिताजीके हितके अतिरिक्त और कोई हेतु नहीं है। यह सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई और लगा कि यह रूठना अच्छा है। इसलिए रूठनेका गुर स्त्रियोंको मालूम होना चाहिए और उन्हें यह देखना चाहिए कि वे अपने लिए रूठ रही हैं या पति-परिवारके हितके लिए? यदि सामनेवालोंके हितके लिए रूठ रही हैं तब तो उनका रूठना सही है अन्यथा यदि वे स्वार्थके लिए रूठ रही हैं तो उनका रूठना बिलकुल गलत है।

: २७ :

नारदजी कहते हैं कि जब वह सुन्दरी प्रसन्न हो गयी तब उसके साथ भोग-विलास करते-करते पुरञ्जनकी आयुका नाश होने लगा और वह परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका साधन भूल गया। किसीकी जवानी टिकती नहीं। जब यह आती है तो लोग समझते हैं कि हमेशा बनी रहेगी, परन्तु वह कब चली गयी—इसका पता नहीं चलता। लोग रोज-रोज तेल-फुलेल लगाते हैं, रोज-रोज बाल बनवाते हैं, रोज दाढ़ी-मूँछ छाँटते हैं, लेकिन हजार कोशिश करनेपर भी एक दिन झुर्रियाँ पड़ ही जाती हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, दाँत टूट जाते हैं और अन्तमें बुढ़ापा आजाता है।

राजा पुरञ्जनके बहुत बेटे हुए, बहुत बेटियाँ हुईं। फिर उनका विवाह हुआ। पुरञ्जनका वंश बहुत बढ़ गया। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये और उनको निमित्त बनाकर दूसरोंको खूब सताया। लेकिन जो यज्ञ दूसरोंको सताकर होता है, उसका फल यज्ञ करनेवालेको नहीं मिलता।

एक जगह बड़ा भारी संकीर्तन महोत्सव था। वहाँ जाकर हम लोग ठहरे। एक दिन वहाँका दर्जी आकर रोने लगा। जब पूछा गया कि क्या बात है ? तब उसने बताया कि महाराज, इस संकीर्तन-यज्ञके लिए मुझपर पचास रुपयेका चन्दा लगा दिया है। हमारी माली हालत ऐसी नहीं कि हम पचास रुपये दे सकें, तो बीस रुपये जरूर दे सकते हैं। लेकिन जमींदार साहब कहते हैं कि लेंगे तो पचास रुपये ही लेंगे नहीं तो, गाँव छोड़कर चले जाओ। अब आप देखो, उस संकीर्तन-यज्ञसे एक प्राणीको कष्ट पहुँचता है तो उसमें भगवद्-भावका आविर्भाव कैसे होगा, प्रकाश कैसे होगा ?

इसीलिए किसीको दुःख नहीं देना चाहिए। दूसरोंको सताकर, जबरदस्ती चन्दा लेकर, पशुओंका वध करके यज्ञ करना अधर्म है। अज्ञानी जीव पशुके समान है। उनको यज्ञके नाम पर सताना, परोपकारके नामपर सताना, यह सब हिंसा ही है।

अब पुरञ्जनको आगया बुढ़ापा। चण्ड वेग संवत्सरके साथ तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व रहते हैं और उतनी ही गन्धर्वियाँ भो रहती हैं। दोनोंको मिलाकर उसके पास सात सौ बीस सैनिक हैं। इन्हें लेकर वह टूट बड़ा पुरञ्जनकी नगरीपर। उनके साथ प्राण, अपान, समान, ब्यान, उदान, इन पाँचों सिरवाला सर्प पुरञ्जनकी ओरसे लड़ने लगा। लेकिन वह कहाँनक युद्ध करता? उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। पुरञ्जनको बड़ी भारी चिन्ता हुई। क्योंकि वह स्वयं तो स्त्रीमें आसक्त था, शरीरमें आसक्त था।

इन्हीं दिनों कालकी एक कन्या जरा अपने लिए वरकी खोजमें त्रिलोकीका भ्रमण करती थी। उससे कोई ब्याह नहीं कर रहा था। लोग यही कहें कि यह तो अभागिनी है, इसके साथ ब्याह कौन करेगा?

नारदजी कहते हैं कि एक दिन वह मुझे मिल गयी और बोली कि तुम मुझसे ब्याह कर लो, मेरी तुम्हारी जोड़ी अच्छी रहेगी। मैंने उससे कहा कि मैं तो साधु-संन्यासी हो गया हूँ, तुम्हारे लिए कहाँ कुटिया बनाऊँगा? तुमसे जो बच्चे-कच्चे होंगे, उनको कहाँ रखूँगा? मैं तुमसे ब्याह नहीं करूँगा। इसपर वह बहुत नाराज हो गयी और उसने शाप दे दिया कि अगर तुम ब्याह नहीं करोगे तो तुमको रहनेके लिए घर नहीं मिलेगा।

देखो, श्रीमद्भागवतमें गृहस्थाश्रमके लिए कम-से-कम दो बार अङ्गनाश्रम और स्त्री-आश्रमका प्रयोग हुआ है। घर पुरुषोंके रहनेके लिए नहीं बनाया जाता। पुरुषोंका निवास-स्थान तो जंगल है, खेत है। उनको परदेशमें रहकर कमाई करनी पड़ती है। इसलिए घर स्त्रियोंके लिए ही बनाया जाता है—गृहिणी गृहमुच्यते। भला पुरुषोंके लिए, बहादुरोंके लिए कोई घर होता है? वे तो जहाँ जाते हैं, वहीं उनका घर हो जाता है।

अब वह कालकन्या मेरी ओरसे निराश होकर यवनराज भयके पास पहुँची और उसको पतिके रूपमें वरण करते हुए कहा कि देखो, एक बार कोई कुछ आकर माँगे तो उसको देना चाहिए मैं तुमसे प्रेम करती हूँ, तुम भी मुझसे प्रेम करो।

इसपर उस यवनेश्वर भयने उत्तर दिया कि देखो, तुम एकसे ही विवाह मत करो, यह जो सारी सृष्टि है—लोक है, यही तुम्हारा पति है। यह बात मैंने ज्ञानदृष्टिसे देख ली है। कोई अकेला तुमसे ब्याह नहीं करेगा। इसलिए तुम मेरी सेनाके साथ रहो और प्रजाका नाश करो। यह प्रज्वार मेरा भाई है और तुम मेरी बहन बन जाओ, मैं तुम दोनोंके साथ अप्रकट होकर रहूँगा।

: २८ :

नारदजी वर्णन करते हैं कि यवनेश्वर मयके सैनिक प्रज्वार और काल कन्याके साथ पृथिवी-पर विचरण करने लगे। एक दिन वे आगये पुरञ्जन पुरीमें। उनको आना ही चाहिए। क्योंकि ऐसा कोई शरीर नहीं होता, जिसका अन्त नहीं होता। अपवादकी बात छोड़ दो—जैसे ध्रुव मृत्युके सिरपर पाँव रखकर ध्रुवलोकमें चले गये। पर यह मत समझना कि ध्रुव कभी बूढ़े नहीं होंगे या उनका शरीर कभी नहीं छूटेगा ? वे तो जब यह ब्रह्माण्ड है, तभीतक अपने पदपर हैं। जहाँ ब्रह्माण्ड छूटेगा, उनका शरीर भी छूट जायेगा। उनका यह अमरत्व आपेक्षिक है। भगवान्‌के धामसे उनको भी जाना पड़ेगा। हर ब्रह्माण्डके जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश अलग-अलग होते हैं, उनको भी अपना शरीर छोड़ना पड़ता है। यहाँतक कि कोटि-कोटि सूक्ष्म ब्रह्माण्ड-समष्टिमें जो हिरण्यगर्भ बैठा है, वह भी अपने शरीरको छोड़कर एक दिन ईश्वरमें मिल जाता है।

तो कालकन्या पुरञ्जनपुरीमें आकर उसका भोग करने लगी। उसके सैनिक उसपर प्रहार करने लगे। कालकन्याने पुरञ्जनको ऐसा दबाया कि उनका सारा ऐश्वर्य क्षीण हो गया। उन्होंने देखा कि उनकी वह पत्नी जो जवानीमें बहुत प्रेम करती थी, अब उसके हृदयमें उनके प्रति बिलकुल प्रेम नहीं रहा। असलमें जब बच्चे होने लगते हैं तो धीरे-धीरे प्रेम भी घटने लगता है। मनुष्यके जीवनमें प्रीति ही सब कुछ हो—यह बात देखनेमें नहीं आती है। प्रीतिका भी एक अन्त है और वह है परमानन्द। दुनियामें जो बहुत समझदारी, बहुत जानकारी है इसका भी

अन्त परमज्ञानमें, अद्वैतज्ञानमें है। जीवनका जो अस्तित्व पृथक् मालूम पड़ता है, इसका अन्त ब्रह्मसत्तामें—अखण्ड सत्तामें है। जबतक यह सत्, चित् और आनन्द व्यक्तिके रूपमें रहता है, तबतक उसमें भय लगा रहता है।

जब पुरञ्जनने देखा कि न तो पत्नीका पहले जैसा प्रेम है और न अपना ही शरीर ही काम देता है तब वे निरुपाय हो गये। उनके लिए सारी वस्तुएँ, सारे मनोरथ और पुत्रादि निस्सार हो गये। अब उनके मनमें आया कि वे इस पुरीको ही, इस शरीरको ही छोड़ दें। इतनेमें ही उनकी पुरीमें आग लग गयी। उनको बड़ा भारी दुःख हुआ। वे अपनी पुरीकी रक्षा नहीं कर सके। अब मरनेका समय आगया। उनके कण्ठसे घुर-घुरकी ध्वनि होने लगी। जो 'मैं—मेरा' को स्वीकार करता है, उसको मरना ही पड़ता है।

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही।
दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते॥ १७

नारदजी कहते हैं कि गृहासक्त पुरञ्जन, यह मैं, यह मेरा स्वीकार करके बुद्धिहीन और प्रमदाका संग करनेके कारण दीन हो गया। जब वियोगका समय उपस्थित हुआ, तब भी उसने यह नहीं सोचा कि मैं मरूँगा तो मेरा क्या होगा? यही सोचने लगा कि मैं मर जाऊँगा तो मेरी स्त्रीका क्या होगा? अरे, यह तो मेरे खाये बिना खाती नहीं थी, पीये बिना पीती नहीं थी, नहाये बिना नहाती नहीं थी। मेरे क्रोध करनेपर डर जाती थी और डाँटनेपर चुप हो जाती थी, मुझे ठीक-ठीक सलाह देती थी। मेरे ये जो बेटे, बेटियाँ हैं, सबके सब असहाय हैं। इनका क्या होगा?

पुरञ्जन यह सब सोच ही रहे थे कि उनकी पुरीकी रक्षा करनेवाला जो भुजङ्गम था, प्राण था, निकल गया। उनकी शरीर-रूप पुरी बिखर गयी। उनको अपने पुराने मित्र अज्ञातनामा की भी याद नहीं आयी।

नारदजी महाराज सुना रहे हैं कि जब वे मरकर शरीरमें-से निकले तब उनके मारे हुए सभी पशु, जो कुल्हाड़े ले-लेकर खड़े थे, उनको मारने लग गये। पुरञ्जनको इससे बड़ा भारी दुःख हुआ।

जैसा कि आप सुन चुके हैं, पुरञ्जनने मरते समय स्त्रीका ध्यान किया था, इसीलिए उनको अगले जन्ममें स्त्री-योनिकी प्राप्ति हुई। वैसे वेदान्तमें जीवात्माको न तो स्त्री मानते हैं, न पुरुष और न नपुंसक। वह तो नाम-रूपसे विनिर्मुक्त ही है। लेकिन वह जैसा ध्यान करता है, वैसा ही हो जाता है। चित्तवृत्तिमें आकार आता है और फिर चित्तवृत्ति अपने सरीखे उपादान इकट्ठे करके फिर वही शक्ल बना देती है।

पुरञ्जन अगले जन्ममें विदर्भराजकी कन्या हो गये और मलयध्वज पाण्ड्यने उसके साथ विवाह कर लिया। वहाँ उनको बहुत-सी सन्तानें हुईं।

जब मलयध्वजके बहुत-से पुत्र हो गये तो उन्होंने उनको अपनी धरती बाँट दी और स्वयं पत्नी समेत कृष्णाराधन करनेके लिए कुलाचलपर चले गये। वहाँ उन दोनोंने बड़ी-बड़ी तपस्या की और वे बहुत दिनोंतक जंगलमें रहकर भगवान्‌का भजन करते रहे। भगवान्‌के प्रति प्रीति होनेके कारण उनको अपने शरीरका भान नहीं रहा।

विद्वान् स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह। ४०

अन्तमें वे यह जानकर उपराम हो गये कि जितना भी विचार-आचार-विमर्श हृदयमें होता है, आत्मा उसका साक्षी, उससे विलक्षण है। यह जो दिखाई पड़ रहा है वह सब स्वरूप है और परब्रह्म परमात्मामें सब और सबमें परब्रह्म परमात्मा है। उनको तत्त्वज्ञान हो गया। क्योंकि उन्होंने गुरु श्रीहरिकी आराधना की थी।

अब मलयध्वजकी पत्नीको, जो पूर्वजन्ममें पुरञ्जन थीं, यह पता नहीं चला कि उसके पतिने शरीर छोड़ दिया है, वह उनकी सेवा करती जा रही थी। उसने भी अपने पतिके साथ बड़ी तपस्या की थी। परन्तु एक दिन जब चरणस्पर्श करते समय उसने देखा कि पतिके पाँवोंमें गर्मी नहीं है, तब वह विलाप करने लगी—

यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं प्रत्युरर्चती। ४६

अरे, यह क्या हो गया ? उठो, उठो महाराज। अन्तमें उसने दारुकी चिता बनायी और पतिके साथ सती होनेका निश्चय किया।

जब वह सती होनेके लिए तैयार हुई तब पूर्वजन्ममें उसका जो अविज्ञात नामवाला सखा था, वह ब्राह्मणके रूपमें प्रकट हो गया।

असलमें मनुष्यकी भलाई चाहनेवाला सच्चा हितैषी सखा कोई है तो केवल ईश्वर ही है। वह साथ ही रहता है। हमारा हृदयाकाश और उसका हृदयाकाश, कभी अलग नहीं होता। इसीसे उसका नाम सखा है। हमारी ख्याति और उसकी ख्याति, हमारी प्रकाशरूपता और उसकी प्रकाशरूपता कभी अलग नहीं होती, इसलिए सखाको सखा बोलते हैं।

ब्राह्मण बोला देवीजी ! तुम किसके लिए रो रही हो ? यह जो मर गया है, तुम्हारा कौन है ? हे सखे ! मैं तुम्हारा मित्र हूँ, मेरी याद तुमको आती है क्या ? मुझे छोड़कर तुम धरतीका भोग भोगने गये थे। वहीं जाकर तुम फँस गये। देखो, मित्र, हमलोग एक मानसमें रहनेवाले दो हंस हैं—'हंसावहं च त्वं चार्य (५४)।' यहाँ मानस माने हृदय है।

ब्राह्मणने कहा—'अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान्—(५४)।' बहुत दिन हो गये हम लोगोंको बिना घरके रहते। तुम मुझे छोड़कर चले गये। तुमने एक पुरी और उसमें एक

महिला देखी। उसीमें तुम रम गये और उसके संगसे तुम्हारी यह दशा हुई—'तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो (५९)।

मित्र, तुमने अपने मनको अपना गुरु बना लिया, सर्वस्व बना लिया और परमात्मा मान लिया। शास्त्र गया, गुरु गया, सम्प्रदाय गया, ईश्वर गया। देखो, पुरञ्जन! स्त्री ही मनोवृत्ति है, और इस मनोवृत्तिके साथ मिल जाना—यही मनुष्यका पतन है। मन कभी इधर जाता है और कभी उधर जाता है—इसका और ठिकाना नहीं। इससे मनुष्य पतित हो जाता है।

इस प्रकार ब्राह्मणरूपधारी अविज्ञात सखाने समझाया कि न तो तुम विदर्भकी बेटी हो और न यह तुम्हारा मलयध्वज पति है। 'माया ह्येषा मया सृष्टा'—(६१)·यह तो माया है, जिसके प्रभावसे कहीं कोई अपनेको पुरुष मानकर फँस रहा है और कहीं कोई अपनेको स्त्री मानकर फँस रहा है। देखो, न हम स्त्री हैं और न पुरुष हैं। हम तो हंस हैं। हमारा यह स्वरूप देखो—

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥ ६२

मैं और तुम, तुम और मै एक ही हैं। जो तुम हो वही मैं हूँ, हम दोनों जुदा नहीं हैं। ब्रह्मज्ञानी पुरुष हममें और तुममें किसी प्रकारका छिद्र-अन्तर नहीं देखते—'मनागपि जातु छिद्रं न पश्यन्ति।' जिस प्रकार कोई मनुष्य शीशेमें अपनेको दो रूपोंमें देखे तो वह दो नहीं, एक ही है, इसी प्रकार हमलोगोंमें झूठा अन्तर दिखायी पड़ रहा है।

नारदजी कहते हैं कि प्राचीनबर्हिः, इस प्रकारसे परमात्माने समझाया तब जो वैदर्भी, मलयध्वजके लिए रो रही थी, उसको तुरन्त पूर्वजन्मकी स्मृति हो गयी। मैंने तुमको यह आध्यात्मिक उपाख्यान परोक्ष-रूपसे सुनाया है। क्योंकि भगवान्‌को भी परोक्ष-रूपसे बोलना बहुत पसन्द आता है—

'यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः (६५)।' भगवान् यहीं हमारे दिलमें छिपे रहते हैं। जब हम उनको पुकारते हुए कहते हैं कि हे भगवान् कहाँ छिपे हो? तो भगवान् मुस्कुरा जाते हैं और कहते हैं कि अरे, मैं तो तेरे दिलमें हूँ और तू मुझे दूर समझकर पुकार रहा है। पासको, निकटको, दूर समझकर, जो अभी है उसको आदि, अन्तमें समझकर और जो अपना आपा ही है, उसको पराया समझकर जब हम पुकारते हैं तब भगवान्‌की हँसी फूट पड़ती है। इसलिए भगवान्‌को भी परोक्षता प्रिय है। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः (गो० ब्रा० १.२.२१)।'

: २६ :

राजा प्राचीनबर्हिःने कहा कि भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, उसको मैं नहीं समझ पाया। इसे तो बड़े-बड़े विद्वान् लोग ही समझ सकते हैं। हम तो कर्ममोहित हैं।

असलमें दृष्टिका फर्क बहुत ज्यादा होता है। आदमी कौन है, इससे कोई मतलब नहीं। ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया गया। ब्रह्माजीसे पूछा गया कि यह बात बताओ, तो उनको भी उस प्रश्नका उत्तर नहीं आया। इसलिए नहीं आया कि उनकी बुद्धि तत्त्वमें नहीं, कर्ममें लगी हुई थी—'कर्मापविद्धधीः।' इसलिए आप देखो कि आपकी बुद्धि तत्त्वको देखती है या व्यक्तिको देखती है ? कड़ा, कंगनमें आपकी अकल लगी हुई है या सोनेका जो असली रूप है, उसको पहचानती है ?

तो, जब प्राचीनबर्हिःने कहा कि कर्म-मोहित होनेके कारण मेरी समझमें बात नहीं आयी। तब नारदजीने उनको साफ-साफ बताना प्रारम्भ किया। लेकिन नारदजीने पुरञ्जनोपाख्यानका जो आध्यात्मिक रूप बताया है, वह प्रायः सब मैं प्रारम्भमें सुना चुका हूँ। फिर भी बातको स्पष्ट करनेके लिए उसकी पुनरावृत्ति करनेमें कोई हर्ज नहीं है।

नारदजी कहते हैं कि यह जो पुरञ्जन है, वह जीवात्मा है। क्योंकि वह 'पुंसः जनयति' माने उसीकी वासनासे यह शरीर प्रकट होता है। शरीर कई तरहके होते हैं—एक पाँववाले, दो पाँववाले, तीन पाँववाले, चार पाँववाले, बहुत पाँववाले और बिना पाँववाले भी। ईश्वर ही अविज्ञातनामा सखा है। नव द्वारावाला गाँव शरीर है। इसमें बुद्धि ही प्रमदा है। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सखियाँ हैं। मन बृहद्बल है। पाँच विषय पाञ्चाल है। इसमें सात दरवाजे ऊपर हैं और दो दरवाजे नीचे हैं। चार सन्धि इस शरीरमें है, दो हाथ और दो पाँव। अन्तःपुर हृदय है। विषूचि मन है, उसीसे जीव मोह आदिको प्राप्त होता है। बुद्धि स्वप्न आदिमें जैसा रूप धारण करती है, वैसा ही मनुष्यको मालूम पड़ता है।

अब नारदजी इन सब बातोंको विस्तारसे समझाते हुए कहते है कि यह जीव सैकड़ों वर्षोंसे शरीरके चक्करमें पड़कर दुःखी हो रहा है। देखो, भागवतमें 'अध्यास' शब्दका प्रयोग यहीं मिलता है—

प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते कामलवान् ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत्॥ २५

यह आत्मा न विषय है, न इन्द्रिय है, न अन्तःकरण है और न प्रकृति है। केवल निर्गुण है। 'मैं मूढ़ हूँ, मैं विक्षिप्त हूँ, मैं शान्त हूँ'—ये सभी अभिमान झूठे हैं। मैं शान्त हूँ—यह भी व्यक्तिगत अभिमान ही है—व्यक्तित्वका अभिमान है। जब यह बोलते हैं कि मैं निर्गुण हूँ, तब उसका अर्थ होता है कि न देहाभिमान है, न अन्तःकरणाभिमान है और न शान्ति-अभिमान है। आत्मा तो बिलकुल निर्ग्ण है, लेकिन प्राण, इन्द्रिय और मनके धर्मका अपनेमें अध्यास करके ऐसा मान बैठता है। अध्यासका अर्थ है कि जो चीज न हो, उसको वैसा मान लेना। जैसे, रस्सी साँप नहीं, पर जब रस्सीको साँप मान बैठते हैं तो रस्सीमें सर्पका अध्यास हो जाता है। इसी प्रकार प्राण, इन्द्रिय, मन ये अपना स्वरूप नहीं, लेकिन इनका जो धर्मगुण है उसका जब अपने स्वरूपमें अध्यास कर लेते हैं 'यह मैं और यह मेरा' तब फिर 'यह चाहिए वह चाहिए'की माँग होती है। जब अपनेको देहसे मिला देते हैं—'मैं-मेरा'का अध्यास कर लेते हैं तब देहकी सारी अवस्थाओंका अपनेमें आरोप हो जाता है।

यदाऽऽत्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक्॥ २६

पुरुष स्वयं-प्रकाश है। आत्माकी स्वयंप्रकाशता तो जैन-सिद्धान्तमें भी स्वीकृत है, योगमें भी और सांख्यमें भी है। यह द्रष्टा पुरुष तो सबसे विलक्षण है ही, परन्तु अपनेको आत्माके रूपमें, ब्रह्मके रूपमें जानना, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। जब यह अपनेको परमगुरु भगवत्स्वरूप नहीं जानता तब यह स्वदृक् होनेपर भी प्रकृतिके गुणोंमें आसक्त हो जाता है। अपनेको केवल असंग द्रष्टा साक्षी जान लेनेसे भी या निर्मल उज्ज्वल एक ईकाई जान लेनेसे भी परम पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती। अपनेको देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्म जाननेसे आत्मदेवका कल्याण होता है।

लोग आत्मदेवको न जाननेके कारण ही प्रकृतिके गुणोंमें लग जाते हैं और जो-जो काम करते हैं उनके अनुसार लोकोंकी प्राप्ति होती है। फिर ये कहीं औरत बनते हैं, कहीं मर्द बनते हैं।

मनुष्य स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु, पक्षी कोई भी रूप हो जाता है। जैसे भूखा कुत्ता दरवाजे-दरवाजे भटकता है, वैसे ही आदमी भी अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए इधर-उधर भटकता रहता है।

कहीं-कहीं इसको रोटी मिलती है, कहीं डण्डा मिलता है। इसी तरह जीवात्मा भी अन्त:करणको पकड़कर ऊपर-नीचे स्वर्ग-नरकमें घूमता रहता है। कहीं भी इसका संसार नहीं छूटता। जैसे आदमी सिरपर बड़ा भारी बोझा लेकर चले और कभी चलते-चलते कन्धेपर रख ले और बोले कि बहुत आराम मिला। 'तं स्कन्धेन स आधत्ते' (३३) वैसे ही संसारमें थोड़ी देरके लिए सो जाते हैं तो कहते हैं कि बहुत आराम मिला। लेकिन सोना भी क्या कोई आराम है? उठनेपर भी वहीकी वही समस्या और वही-की-वही चिन्ता। वही पाप, वही पुण्य, वही बेईमानी, वही व्याभिचार, अनाचार! उठनेके बाद वही सब-का-सब मिलता है, संसारसे छुट्टी नहीं मिलती।

अत: इस संसारमें दु:ख तो है ही। इस दु:खसे छूटनेके लिए जो उपाय किये जाते हैं, वे भी दु:खरूप ही होते हैं। ऐसा समझना चाहिए कि—

द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ (३४) यदि एक सपना छूट जाय और दूसरा सपना आजाये तो क्या वह तकलीफसे छूट गया? मर्त्यलोकसे छूटे, स्वर्गमें चले गये, स्वर्गलोकसे छूटे मर्त्यलोक चले आये! यह तो भटकना है, यह छूटना कहाँ हुआ?

असलमें द्वैत नामकी वस्तु है ही नहीं। यह मनीराम ही अपना सारा खेल खिलाते हैं। अपने स्वरूपके अज्ञानसे हीं यह सारा दु:ख प्राप्त हुआ है और भगवान्‌की भक्तिके बिना इस दु:खकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह सिद्धान्त अपने हृदयमें धारण कर लेना चाहिए कि जब भगवान् वासुदेवके प्रति एकाग्र भक्ति की जाती है तब सच्चे ज्ञान और सच्चे वैराग्यकी उत्पत्ति होती है और ज्ञान-वैराग्य हुए बिना कल्याण होता नहीं। ज्ञान-वैराग्य दोनों भक्तिके बेटे हैं।

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३८
यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथन - श्रवणव्यग्रचेतसः॥ ३९

यदि कहो कि भक्तियोग कहाँसे आता है तो यह भगवान्‌की कथामें-से निकलता है। भगवान्‌की कथा सुनो फिर देखोगे कि थोड़े ही दिनोंमें भगवान्‌में भक्ति हो जायेगी। हमको याद है, जब हम संन्यासी नहीं हुए थे और साधन-सामग्री अपने पास नहीं थी, तब हम एक बार सौ मील, दूसरी बार पाँच सौ मील, तीसरी बार हजार मील पैदल तथा रेल द्वारा चलकर महात्माओंके दर्शनार्थ गये। क्यों गये? इसलिए गये कि जब हम किसी साधुकी प्रशंसा सुनते कि वे बहुत बड़े महात्मा हैं, तब उनके दर्शनोंकी इच्छा हो जाती थी और हम वहाँ चल पड़ते थे। अब देखो, उन महात्माओंके पास जानेकी इच्छा कहाँसे आती थी? उनकी महिमा सुननेसे, उनकी चर्चा सुननेसे आती थी और तब उनके प्रति श्रद्धा-भक्तिका उदय होता था।

इसी प्रकार भगवान्के पास जानेकी और उनसे प्रेम करनेकी जो श्रद्धा-भक्ति है, वह उनकी कथा सुननेसे आती है—अच्युतकथाश्रयः। इसलिए उनकी कथा नित्य श्रवण करो, नित्य स्वाध्याय करो। श्रद्धाके साथ श्रवण और स्वाध्याय करनेसे ही भक्ति-योगकी प्राप्ति होती है। जहाँ भगवान्के भक्त हों तथा भगवान्की लीलाके अनुकथन तथा श्रवणमें हमेशा व्यग्र रहते हों, वहीं जाकर उनका सत्संग करो। सन्तोंका लक्षण भी यही है कि वे नित्य-निरन्तर भगवच्चर्चामें संलग्न रहते हैं। छल-कपटकी चर्चा तो जगत्की नीति है, भोगकी नीति है, राजनीति है, इसका साधुओंके साथ कोई सन्बन्ध नहीं।

एक बार साधुओंकी गोष्ठीमें यह प्रश्न उठा कि साधु बननेका उद्देश्य क्या है? हमारे एक भोले-भाले साधुने कह दिया कि लोगोंका उपकार करनेके लिए साधु हुआ जाता है। यह सुनकर दूसरे महात्मा ऐसे नाराज हो गये, उनकी आँखें लाल-लाल हो गयीं और उन्होंने कहा कि तुम दूसरोंका उपकार करनेके लिए साधु हुए हो? आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए नहीं? परमेश्वरका दर्शन करनेके लिए नहीं? भक्ति करनेके लिए नहीं? वेदान्त-चिन्तन करनेके लिए नहीं? तुम्हें उपकार करनेके लिए ही साधु बनना था तो भँगवा-वस्त्र क्यों धारण कर लिया? तुमको तो सफेद कपड़ोंमें नेता बनना चाहिए था, यहाँ क्यों आगये? ऐसे बिगड़े कि मजा आगया। फिर प्रेमसे बोले कि हमलोगोंको तो परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिए। वही हमारे जीवनका मुख्य उद्देश्य है। लोकोपकारके लिए तो बहुत सारे ब्राह्मण हैं, बहुत सारे नेता हैं, अन्य बहुत सारे लोग हैं।

इस प्रकार जहाँ सच्चे साधु लोग होते हैं, वहाँ आत्मकल्याणके अतिरिक्त दूसरी तरहकी बात पसन्द नहीं करते।

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥४०

कई साधु ऐसे होते हैं, जो अपना घर-द्वार छोड़कर आते हैं, अपना बनाया मकान छोड़कर आते हैं, अपनी विवाहिता-पत्नी छोड़कर आते हैं, अपना बेटा छोड़कर आते हैं, कमाया हुआ धन छोड़कर आते हैं, परन्तु साधु बननेके बाद उनका आश्रय बनने लगता है। उसके लिए छाता लगाये धूपमें खड़े होते हैं और गिनते रहते हैं कि कितने छकड़े आये और उनमें-से कितनी ईंटें उतरीं। कितना सीमेन्ट आया, कितना चूना आया, कितनी मजदूरी दी गयी? इस प्रकार उनका राम राम, सीता राम तो छूट जाता है, आश्रमका नक्शा उनके मनपर छा जाता है।

इसलिए सत्संग संसारके लिए नहीं होता, हृदयमें जो संसार बना हुआ है, उसको बदलकर भगवन्मय बनानेके लिए होता है। सत्संगका यही असली स्वरूप है।

'तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र' इसमें जो 'तस्मिन्' है इसका क्या अर्थ है ? 'यत्र भागवताः तिष्ठन्ति तत्र' जहाँ भगवान्के भक्त रहते हैं, वहाँ। 'मधुभिच्चरित्र'का अर्थ है मधु-सूदन भगवान्का चरित्र। यह तो आप जानते ही हैं कि मधु और कैटभ दो दैत्य थे। उनको भगवान्ने मारा था। इसलिए उनको मधुसूदन और कैटभारि कहते हैं। ये दोनों दैत्य भी हैं और राग-द्वेषरूप भी हैं। राग-द्वेषरूपसे ये आध्यात्मिक दोष हैं। मधुसूदन माने हमारे मनमें संसारके प्रति जो राग है, उसको काटनेवाला और संसारके प्रति जो शत्रुता है, उसको भी मिटानेवाला। मधुसूदन भगवान्का चरित्र ही अमृत है। उसको महात्मा लोग खूब छक-छककर पीते हैं। लेकिन महात्माओंके पी लेनेपर जो कुछ थोड़ा-बहुत बच जाता है, उसकी नदी बहती है। इसमें जो शेष शब्द है, उसपर आप ध्यान दें। 'पीयूषशेषसरितः'का अर्थ है कि महापुरुषोंने छक-छककर पी लिया, पचा लिया, लेकिन उनके पीते-पीते, पचाते-पचाते कुछ थोड़ा-सा छलक गया और उस छलके हुएमें-से एक नहीं हजार नदियाँ बह गयीं। फिर क्या हुआ कि उन नदियोंको देखकर बड़े-बड़े महापुरुष, जो मौनी थे, वे मौन छोड़कर भगवान्की कथा कहने लगे। आओ, आओ, हम भी जी भरकर इसको पीयें। इसीको गाँववाले कहें तो कहेंगे कि 'आव-आव, भरहीक पीलऽऽ'।

ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैः।४०

इस कथामृतको ऐसा पीओ ऐसा पीओ कि प्यास बुझे ही नहीं, बस पीते जाओ। उसमें कानको बिलकुल डुबो दो। यहाँ 'महन्मुखरिता'के अर्थ दो हैं—'महद्भिः मुखरिताः' और 'महान्तो मुखरिता याभिः ताः।'

एक महात्माजो पहले मौन रहा करते थे। पर बीचमें भगवान्की लीला आगयी। बोले हाय-हाय यदि ऐसी लीलाका वर्णन नहीं करेंगे तो यह जीभ व्यर्थ हो जायेगी, इसको मौन रखना तो इसे अनर्थमें डालना है। उन्होंने अपना मौन छोड़ दिया और भगवान्की लीलाका वर्णन करने लगे। इसका अर्थ है 'महान्तो मुखरिता याभिः' और 'महद्भिः मुखरिताः' का अर्थ है कि महात्मा लोग उसका गान करते हैं।

अब कथामृत पीनेकी विधि बताते हैं। कहते हैं कि ऐसे पीओ कि एक बूँद भी बाहर न जाये और प्यास बुझे नहीं, वितृष्णा आवे नहीं और 'चाहिए, और चाहिए' की रट लगी रहे। कान दूसरे शब्दोंके लिए बहरे हो जायँ। 'गाढकर्णैः' गाढका अर्थ है कि मानो कानको ही डुबा दिया कथामृतकी नदीमें। कथामृतकी नदीमें अपने कानको डुबो दो। इसका फल क्या होता है ? यह होता है कि भूख, प्यास, शोक, भय, मोह ये कभी तुम्हारा संस्पर्श नहीं करेंगे।

अरे, जो मरकर मुर्दा हो गया, उसको अपने मनमें क्यों बसाते हो ? मरे हुएकी याद

करोगे तो तुम्हारे मनमें कौन बसेगा ? मुर्दा ही तो बसेगा। इसलिए मुर्देको नहीं, 'जिन्दाको बसाओ। जिन्दाको बसाओगे तो तुम्हारे हृदयमें उसके प्रति मोह ही तो होगा। आओ, कथा सुनो। भागवतमें यह बात बतायी गयी है कि यदि कर्मका विधान छोड़कर भी कथा श्रवण करनी पड़े तो उसको छोड़कर कथा श्रवण करनी चाहिए।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ ११.२०.९

वैराग्यहीनके लिए कर्मका विधान है। जबतक वैराग्य न हो तबतक कर्म करें अथवा जबतक भगवत्कथा श्रवणमें, कीर्त्तनमें श्रद्धा न हो जाये तबतक कर्म करें।

इसका अर्थ यह हुआ कि कभी-कभी कथा-श्रवणके लिए कर्म-विधिका उल्लङ्घन करना पड़े तो उसको भी कर लेना चाहिए। यदि कहो कि काललोप हो रहा हो, माने सन्ध्या-वन्दनका समय व्यतीत हो रहा हो और कथा हो रही है तो क्या करें ? कथा छोड़कर सन्ध्या-वन्दन करने जायें कि कथा सुनें ? बोले कि कर्मलोप तो मत करना, जाकर सन्ध्या-वन्दन कर लेना, लेकिन काललोपके लिए कथाका परित्याग मत करो। जब यह कथा हृदयमें आती है, तब नींद खत्म हो जाती है, प्यास मिट जाती है और आगेका भय छूट जाता है। भविष्यवृत्तिमें भय होता है—आगे क्या होगा, इसका भय लगता है और बीती हुई बातके लिए शोक होता है। जब हम यह सोचते हैं कि हमारा धन चला गया, हमारे सम्बन्धी मर गये, तब उनके लिए शोक होता है। जब तुमको भूत लगेगा तब शोक होगा।

एक पण्डितजी थे। वे भोजन करने बैठते तो उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगते। जब कोई कहता है कि पण्डितजी, भोजन तो बढ़िया है, रोते क्यों हो तो कहते कि अब खिलानेवाली नहीं रही। पैंतीस वर्ष पहले उनकी पत्नी मर गयी थी, उसको खाते-खाते याद करने लग जाते। इसीका नाम चुड़ैल लगना हुआ—इसीका नाम भूत लगना हुआ। यही भूत लगा कि सामनेका भोजन नहीं भाता, पैंतीस वर्षका पुराना भूत याद आता है। इसीका नाम शोक है। आज रोटी मिल रही है, कल कौन खिलावेगा ? इसका नाम भय है। हम खा रहे हैं—लेकिन हमारे बेटे क्या खायेंगे—यह मोह है। इस प्रकार भय, मोह, शोक सबको लगे हुए हैं। आओ, कथामृतमें अपनेको, मनको डुबो दें और उसके फलस्वरूप भूख-प्यास-भय-शोक-मोह छूट जायें। तुम कथाका श्रवण करो, अपने आप ही ये सब निवृत्त हो जायेंगे। इन्हींके व्यवधानके कारण मनुष्य भगवान्‌की कथामें रति नहीं करता।

देखो, यह मत समझना कि कोई बड़ा होनेसे ही भगवान्‌को देख लेगा। ब्रह्मा, शंकर, मनु, दक्ष, सनकादि, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, भृगु और वसिष्ठ—ये सब बड़े-बड़े

समाधि-विद्यावाले हैं और भगवान् भी इनके सामने हैं। किन्तु उनको भी भगवान्‌का दर्शन नहीं होता, कारण कि वे वाचस्पति हैं, तपस्वी हैं, विद्वान् हैं, समाधिवान् हैं, इसलिए देखते हुए भी नहीं देख पाते। कारण क्या है ?

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे। ४५

यही कारण है कि वे जरा शब्द ब्रह्मके चक्करमें ज्यादा पड़ जाते हैं। हमारे श्री उड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी गुनगुनाते थे—

न पड़ो रे मन शास्त्र जंगले।

शास्त्री लोग, जो शास्त्रकी रक्षा करते हैं, वह बड़ा भारी काम है। शास्त्र-परम्पराकी रक्षा करनी ही चाहिए। लेकिन 'शब्द जालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्' (विवेक चूड़ामणि ६०) यह भी शंकराचार्यजीका ही वचन है। इसके अतिरिक्त—'नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् (बृहदा० ४.४.२१)। यह भी श्रुति-वचन है। इसलिए जरा सोचें—शब्द हीमें न लगे रहें, उसका जो परम तात्पर्य है, उसपर भी दृष्टि डालें।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम्। ४५

जहाँ अग्निका नाम आया, इन्द्रका नाम आया, पूषाका नाम आया, उनकी पूजामें रत हो गये। ठीक है, ये सब देवता हैं, इनकी पूजा कीजिये। किन्तु इन अनेक नामोंके भीतर छिपा हुआ जो एक है उसको मत भूलिये—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद १.१६४.४६)

यहाँ नारदजी एक बहुत विलक्षण बात कहते हैं—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ ४६

हृदयमें ध्यान करनेपर भगवान् जिसपर अनुग्रह कर देता है, वह लोकनिष्ठा और वेदनिष्ठासे ऊपर उठकर उनका भजन करता है। इसलिए प्राचीनबर्हि, तुम यज्ञ-यागादिको ही सब कुछ मानकर मत बैठो। क्योंकि—

मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु। ४७

ये केवल कानको छूनेवाली बातें हैं, इसमें परमार्थ वस्तु है ही नहीं। 'न स्पृष्टं वस्तु यैः तेषु अस्पृष्टवस्तुषु'—इसका तात्पर्य है कि सुननेमें तो बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें हैं, लेकिन देखनेमें कुछ नहीं हैं। जो लोग ज्यादा कर्मकाण्डमें फँस जाते हैं, उनकी छातीके भीतर उनका धुआँ भर जाता है—

आहुः धूम्रधियः। ४८

इस काशीमें महामहोपाध्याय पण्डित पञ्चानन तर्करत्न बड़े भारी विद्वान् हुए हैं। वे अपने पिताजीकी प्रशंसामें बोलते थे कि उनके अन्तरमें जो यज्ञ होता रहता था, उसका धुआँ उनकी छातीपर काले-काले बालोंके रूपमें उगा हुआ था।

तो 'धूम्रधियः'—जब यह धुआँ हृदयमें भर जाता है, परमेश्वरपर दृष्टि नहीं जाती। वे कहते हैं—सारे वेदोंका तात्पर्य यही है कि होमकर, उसके लिए सारी धरतीपर कुशा बिछा देते हैं और पशु-हत्या करते हैं। परमात्माको पहचानते नहीं।

लेकिन असलमें कर्म तो वही है, जिससे भगवान् प्रसन्न हों और विद्या वही है जिससे बुद्धि भगवान्‌में लगे। वे ही सबके भीतर बैठे हुए हैं, वे ही अपने प्रियतम और आत्मा हैं। उनसे डरो मत। अगर यह बात तुमने समझ ली, तब तो तुमने वेदोंका अर्थ ही समझ लिया।

इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः। ५१

जो इस बात को जानता है कि परमात्मा हमारा प्रियतम आत्मा है, हमारे हृदयमें बैठा हुआ है, वही विद्वान् है, वही गुरु है, वही हरि है।

नारदजी कहते हैं कि लो प्राचीनबर्हिः, तुमने पुरञ्जनोपाख्यानके सम्बन्धमें जो संशय प्रकट किया था, उसको मैंने काट दिया। इसके बाद नारदजीने उनको जादूका एक खेल भी दिखा दिया। खेल वैसा ही था, जैसे कोई किसीका सम्मोहन कर दे—उन्होंने प्राचीनबर्हिःको दिखाया कि सामने एक हिरण हिरणीके साथ पुष्पवाटिकामें घास चर रहा है। फिर दिखाया कि हिरणके पीछे एक बहेलिया बाण लेकर उसपर निशाना लगा रहा है। उसके आगे एक भेड़िया है, वृक है जो उसपर घात लगाये बैठा है। जब प्राचीनबर्हिःने सब कुछ देख लिया तब नारदजीने कहा कि जो दशा हिरण-हिरणीकी है, वही तुम्हारी है।

'स्त्रीणां शरण आश्रमे' (५४)। तुम भी स्त्री-आश्रममें स्त्रीके साथ बैठे हुए हो और काल घात लगाये बैठा है। यह दशा केवल तुम्हारी नहीं, सब जीवोंकी है। जीभको भोग चाहिए और मूत्रेन्द्रियको भोग चाहिए। गृहस्थाश्रममें ये दो भोग ही ज्यादा हैं—एक तो रसनेन्द्रियका और दूसरा जननेन्द्रियका।

प्राचीनबर्हिः, ये रात और दिन भेड़ियेकी तरह आयुका हरण कर रहे हैं और यह काल निशाना साधकर बैठा हुआ है। तुम कहाँ भूले हुए हो, जरा इसपर ध्यान दो। अपनी वृत्तिको बाहर मत जाने दो। इसको काबूमें ले आओ।

प्राचीनबर्हिःने कहा महाराज, आप जो कहते हैं, वह सब समझमें आगया। हमारा जो सन्देह था, उसका तो आपने निवारण कर दिया। अब एक सन्देह और है, उसको भी आप दूर

करें। वह सन्देह यह है कि मनुष्य जिस शरीरसे कर्म प्रारम्भ करता है, वह शरीर तो यहीं रह जाता है, किन्तु परलोकमें जानेवाला शरीर दूसरा होता है और उससे वह भोग भोगता है। पाप-पुण्य करता है यहाँ स्थूल-शरीरसे, और स्वर्ग-नरकमें जाकर उसके फलको भोगता है सूक्ष्म शरीरसे। यह कैसे उचित है?

नारदजी कहते हैं राजा, इसमें कोई शङ्का मत करो। पाप-पुण्य, हड्डी-मांस-चाम आदिसे नहीं होते, उनको तो कोई कर्त्ता ही अपने अन्तःकरणपूर्वक करता है। बिना सङ्कल्पके न तो पुण्य होता है और न पाप होता है। पापमें निषिद्धताकी प्रधानता होती है। निषिद्ध कर्म चाहे सङ्कल्पसे करे, चाहे बिना सङ्कल्पके करे, यदि जान-बूझकर निषिद्ध कर्म करता है तो उसमें उसको पाप लगेगा। वस्तुमें पाप नहीं होता, कर्ममें पाप नहीं होता, मनमें पाप नहीं होता और आत्मामें पाप नहीं होता लेकिन जब मनुष्य जानबूझकर शास्त्रके विरुद्ध आचरण करता है, मना किया हुआ काम करता है, तब उसको पाप लगता है। जब शास्त्रोक्त काम करता है तब पुण्य लगता है। भाव बढ़िया होनेपर भी निषिद्ध वस्तुके स्पर्शसे पापकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि शास्त्रोंके द्वारा ही पाप और पुण्यका निश्चय होता है। अपने मनसे पाप और पुण्यका निश्चय नहीं होता। यही वेद-विधि है। जिसके लिए जिस देशमें, जिस कालमें, जिस वस्तुसे जो करनेका विधान है, वह करना पुण्यजनक है और जिसका निषेध है वह पापजनक है।

अध्यारोपापवाद-रूप शास्त्रसे ही पाप-पुण्यकी सिद्धि होती है। वे वस्तुनिष्ठ नहीं, शास्त्र-निष्ठ हैं।

असलमें पाप-पुण्य-रूप विहित-निषिद्ध कर्म लिङ्गदेहसे ही होते हैं, स्थूल शरीरसे नहीं होते। स्थूल शरीर तो यहीं रह जाता है, किन्तु लिङ्ग-देह परलोकमें जाता है। जैसे स्वप्नमें आदमी सोते हुए शरीरको छोड़कर, उसका अभिमान छोड़कर मनसे स्वप्नराज्यमें चला जाता है और वहाँ भोग भोगता है, वैसे ही यह स्थूल शरीर यहीं-का-यहीं छूट जाता है और मनुष्य परलोकमें चला जाता है। वहाँ जाकर वह लिङ्ग शरीरसे ही कर्म करता है और लिङ्ग शरीरसे ही फल भोगता है। उसीसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है। पुनर्जन्म न तो जड़, मिट्टी, पानी, आगका होता है और न चेतन-आत्माका होता है, बीचमें अज्ञानसे एक गाँठ पड़ गयी है। सूक्ष्म शरीरमें जो अहन्ता-ममता हो गयी है, उसीका पुनर्जन्म होता है।

ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टासे पता चलता है कि चित्तमें क्या है तथा-वृत्तिसे पूर्वजन्मके कर्मका पता लगता है। मनुष्य जो चीज वर्तमान शरीरसे कभी भोगता नहीं, देखता नहीं, सुनता नहीं, वह भी स्वप्नादिमें सामने आजाती है। इसलिए कुछ ऐसे संस्कार एवं वासनाएँ मनुष्यके भीतर छिपी हुई हैं, जो स्वप्नादिके द्वारा ही मालूम पड़ती हैं।

'मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति' (६६)। मनुष्यका मन बता देता है कि वह कहाँसे आरहा है और कहाँ जायेगा ? जब आदमी कहींसे खुश-खुश आयेगा तो वह मुस्कुराता हुआ आयेगा और उसको देखकर दूसरा भी खुश हो जायेगा। यदि कोई आदमी लड़ाई करके, चिढ़कर, दुःखी होकर, रोकर घरसे निकलेगा तो वह ऐसा बौखलाया हुआ होगा कि दूसरेको भी तकलीफ देगा। किन्तु वासनाहीन आदमीका कुछ पता नहीं चलता। किसीने कहा कि यहाँ बैठ जाओ तो बैठ गया और किसीने कहा कि यहाँसे उठ जाओ तो उठ गया। कैसे पता लगे कि इसके मनमें कोई वासना है या नहीं ? निर्वासन व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कासगंज गये। वहाँ उनके लिए सिंहासन बनाया था। लोगोंने उसपर बैठनेको कहा तो जाकर बैठ गये। कुछ आर्य-समाजी लोग आये तो बोले कि जैसे हम लोग मनुष्य हैं, वैसे तुम भी मनुष्य हो, फिर ऊपर क्यों बैठे हो ? बाबाने कहा कि ठीक है, हम तुम्हारे साथ बैठ जाते हैं। वे सिंहासनसे उतरकर नीचे बैठ गये। इसपर सनातनधर्मी लोगोंने कहा कि तुम लोगोंने हमारे गुरुको नीचे क्यों बैठा दिया ? हम तो इनको ऊपर बैठायेंगे, नहीं तो झगड़ा होगा। बाबाने कहा कि अरे, झगड़ा मत करो, हम ऊपर बैठ जाते हैं। उनको तो न ऊपर बैठनेकी कोई खुशी थी और न नीचे बैठनेका कोई गम था। इसीको निर्वासन (वासनाशून्य) बोलते हैं। जो निर्वासन पुरुष होता है, उसके जीवनमें कोई गति नहीं होती, वह कहीं जाता-आता नहीं—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृहदा० ४.४.६)

मनुष्यके मनकी स्थिति देखकर पता चल जाता है कि इसका पुनर्जन्म होगा या नहीं। यह नरकमें जायेगा या स्वर्गमें। नरकसे आया है या स्वर्गसे आया है ? चिड़चिड़ा आदमी हो तो समझ लेना कि नरकसे आया है और प्रसन्न आदमी हो तो समझ लेना कि स्वर्गसे आया है। उसके जीवनमें प्रसन्नता हो तो समझना कि वह मुक्त हो जायेगा। लेकिन कभी-कभी ऐसी बात देखनेमें आती है जो पहले कभी देखी-सुनी नहीं गयी। उसको उसके पूर्वजन्मकी बात समझ लेनी चाहिए।

जबतक मैं और मेरापनका भाव रहता है, तबतक संसार नहीं कटता। सुषुप्ति, मूर्च्छा, उपतापमें ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, पर रहता वहाँ भी है।

जब मनुष्य सूक्ष्म शरीरकी विद्याको समझ जाता है, तब उसको मालूम पड़ता है कि नरक-स्वर्ग क्या होता है ? पुनर्जन्म क्या होता है ?

इस लिङ्ग शरीरमें पाँच तन्मात्र, सोलह विकार और तीन गुण मिले रहते हैं। इसीको चेतनासे युक्त होनेपर जीव कहते है। इसी लिङ्ग देहसे मनुष्य पापभी करता है और पुण्य भी करता

है तथा उनका फल भी भोगता है। स्वर्ग-नरकमें आता-जाता है। जैसे तृणजलूका नामका कीड़ा, जिसे जोंक भी कहते हैं, चलते समय अगला तिनका पकड़कर पिछले तिनकेको छोड़ता है। उसी प्रकार जीवात्मा अपनी वासनासे अन्य शरीर ग्रहणकर पिछलेको छोड़ देता है।

व्रजँस्तिष्ठन् पदैकेन यथैकेन च गच्छति।

जैसे मनुष्य क्रमशः एक पाँवको आगे जमानेके बाद दूसरा पांव उठाता है और चलता जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा मनसे अपने अगले शरीरको पकड़कर पिछले शरीरको छोड़ देता है। इसी प्रकार मनुष्यके पूर्वजन्म आदि होते हैं। असलमें मनुष्यका मन ही बन्धन है, और मन ही मोक्ष है—

मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्। ७७

नारदजी कहते हैं कि राजन्, जबतक अविद्या है, तबतक यह कर्म-बन्धन लगा रहता है। इसलिए यदि इस कर्म-बन्धनको छोड़ना चाहते हो तो 'अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्' (७८) सर्वात्मना भगवान्का भजन करो। भजनकी सबसे उत्तम रीति यह है कि इस सम्पूर्ण विश्वको भगवान्का स्वरूप समझा या देखा जाय। 'पश्यंस्तदात्मकं विश्वम्' (७९)। क्योंकि उसीमें उत्पत्ति, उसीमें स्थिति और उसीमें प्रलय होता है। जैसे मिट्टीसे घड़ा बनता है, मिट्टीमें ही रहता है और मिट्टीमें ही मिलता है, वैसे ही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भगवद्रूप है। बस, इसीमें परम-कल्याण है कि भगवान्को कभी मत भूलो।

इस प्रकार नारदजीने प्राचीनबर्हिःको जीव और ईश्वरका स्वरूप बताया और स्वयंसिद्ध लोकमें चले गये। उसके बाद राजाने कपिलाश्रममें जाकर भगवान्की भक्तिकी और वे भगवद्रूप हो गये।

प्राचीनबर्हिःके इस चरित्रका श्रवण-श्रावण करनेसे लिङ्ग शरीरसे मुक्ति होती है। इसमें कर्म और कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी जितनेभी प्रश्न हैं, उन सबका उत्तर दे दिया गया है।

❦

: ३० :

अब विदुरजीने प्रश्न किया कि ब्रह्मन्, प्राचीन बर्हिके पुत्र प्रचेताओंने रुद्रगीतका जप करके क्या प्राप्त किया ? यह आप कृपा करके बतायें।

मैत्रेयजी कहते हैं कि यह तो मैं बता ही चुका हूँ कि वे नारायण-सरोवरपर जपयज्ञसे परमात्माकी आराधना करने लगे। भगवान्‌से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। नाम भी भगवान् हैं, रूप भी भगवान् है, लीला भी भगवान् है और यज्ञ भी भगवान् है। भगवान्‌के अतिरिक्त दुनियामें ऐसी कोई चीज नहीं जो भगवान्‌को प्रसन्न कर सके।

जब प्रचेताओंने बड़ी भारी तपस्या की तब उनके क्लेशोंको दूर करनेके लिए भगवान् श्रीनारायण प्रकट हुए। वे गरुड़जीके कन्धेपर बैठे हुए ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सुमेरुके शिखरपर श्याम घटा छायी हो। उनके श्रीअङ्गपर चमकीले स्वर्णाभूषण, मनोहर पीताम्बर और कौस्तुभमणि सुशोभित थे। अपनी दिव्य प्रभासे वे सब दिशाओंका अन्धकार दूर कर रहे थे। उनके कमनीय कपोल और मनोहर मुख-मण्डलकी अपूर्व शोभा हो रही थी तथा मस्तकपर झिलमिलाता हुआ मुकुट शोभायमान था। प्रभुकी आठ भुजाओंमें आठ आयुध थे। देवता, मुनि और पार्षदगण सेवामें उपस्थित थे तथा गरुड़जी किन्नरोंको भाँति साममय पंखोंकी ध्वनिसे कीर्तिगान कर रहे थे। उनकी आठ लम्बी-लम्बी स्थूल भुजाओंके बीचमें लक्ष्मीजीसे स्पर्धा करनेवाली वनमाला विराजमान थी।

इस प्रकार आदि पुरुष श्रीनारायणने पधारकर अपने शरणागत प्रचेताओंकी ओर दया-दृष्टिसे निहारा और मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—प्रचेताओ ! तुम लोग वर माँग लो, तुम्हारा कल्याण हो ! अहो, तुम लोगोंके हृदयमें परस्पर कितना प्रेम है और तुमलोग एक ही धर्मका पालन भी करते हो। इसलिए पहला वर तो तुम्हें, बिना माँगे ही दे देता हूँ। यदि कोई प्रतिदिन प्रातःसायं तुम्हारा स्मरण करेगा, तो तुम सब भाइयोंमें जैसा प्रेम है, वैसा ही प्रेम उसका भी अपने भाइयोंसे हो जायेगा। तुमने मेरी जो स्तुति की है, उसको जो करेगा तो मैं उसका मनोरथ भी पूर्ण करूँगा और उसको सद्‌बुद्धि भी दूँगा। तुम लोगोंने जो अपने पिताकी आज्ञाका पालन किया है, उसके फलस्वरूप तुम्हारी कीर्ति सारी सृष्टिमें छा जायेगी।

देखो, कण्डू ऋषिसे प्रम्लोचा अप्सरा द्वारा जो कन्या पैदा हुई है, उसको विष्णुने ग्रहण कर लिया है और सोमने अपनी उंगली पिलायी है, वह तुम्हारी पत्नी होगी। उसके साथ हजारों वर्षतक तुम दिव्य भोग भोगना और मेरी भक्ति करना। अन्तमें मेरे धाममें आना। मेरे प्रति तुम्हारी अनपायिनी भक्ति है। देखो, भक्तिमें इष्टदेव बदलनेकी कभी आवश्यकता नहीं होती। जो इष्टदेव बदल देता है, उसकी बुद्धिमें आकार बदलता रहता है और उसके मनमें परिपक्वता नहीं आती। मन्त्र भी नहीं बदलना चाहिए। मन्त्र-बदल देनेसे प्रत्येक शब्द द्वारा पृथक्-पृथक् आकृति बनती है, दूसरा इष्ट आने लगता है। अपना गुरु कभी नहीं बदलना चाहिए। गुरु, मन्त्र और इष्ट एक ही रहे। भाव उच्च-से-उच्चतम हो। इन सब साधनों द्वारा अन्तःकरणके कामादि मल परि-पक्व हो जाते हैं और कड़वाहट जो बीच-बीचमें सताती है, वह मिट जाती है। यदि घरमें रहकर भी कोई सदाचारका पालन करे और भगवत्कथा श्रवण द्वारा अपना जीवन व्यतीत करे तो घर उसको नहीं बाँधता।

वैसे घर शब्दका अर्थ यही तो है—'गृह्णति इति गृहम्'—अर्थात् जो पकड़कर रखे, उसका नाम घर होता है। इसी तरह 'बध्नाति इति वधू'—जो बाँध ले उसका नाम वधू होता है। लेकिन यदि कोई भगवान्‌की कथा सुनकर अपना समय व्यतीत करे तो उसको कोई बन्धन नहीं बाँधता।

नव्यवदधृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्‌ब्रह्मवादिभिः।
न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः॥ २०

भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी कथा सुननेवालेके हृदयमें 'नव्यवद् प्रविशामि'—नित्य-नूतनके समान प्रवेश करता हूँ। कथा-श्रवणके फलस्वरूप स्वयं मैं सर्वज्ञ ही ब्रह्मके रूपसे उनके हृदयमें प्रकट होता हूँ। ब्रह्मवादी ब्रह्मप्रवक्ता महापुरुष बताते हैं कि तुम्हारी अन्तरात्मामें जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् विद्यमान है, यही अद्वितीय ब्रह्म है। उसका साक्षात्कार करके मनुष्य कभी शोक-मोहको प्राप्त नहीं होता और न लौकिक धर्मको प्राप्त होता है।

इस प्रकार भगवान्‌ने कहा तो प्रचेता लोग उनकी स्तुति करने लगे, प्रभो ! आप तो सारे क्लेशोंका नाश कर देते हैं, आपको हमारा नमस्कार है—'नमो नमः क्लेशविनाशनाय' (२२)। आपके गुण उदार हैं। जहाँ मन जाता है, वहाँ आप पहलेसे ही पहुँचे रहते हैं। आप इन्द्रियोंके विषय नहीं होते। आप शुद्ध-शान्त हैं। जो द्वैत मनमें दिखायी पड़ता है, वह तो बिल्कुल झूठा और आपकी एक लीला है। आप माया गुणसे नाना प्रकारके ब्रह्मादि विग्रह धारण करते हैं, आप विशुद्ध सत्त्व हैं, साक्षात् हरिमेधस् हैं। हे कमलनाभ, कमलमाली, कमलपाद, कमलनयन, आप पीताम्बरधारी सर्वभूतनिवास साक्षी हैं। आपको हम बारम्बार नमस्कार करते हैं। हम अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे पीड़ितोंके सामने आपने अपना जो दर्शन दिया है, इससे बढ़कर आपका अनुग्रह और क्या होगा ?

एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः। २८

प्रभो, जिनके पास ऐश्वर्य है, सामर्थ्य है, जो राजा हैं, धनी हैं, सेठ हैं उनके अन्दर यह होना चाहिए कि जो गरीब हैं, उनको अपना बच्चा समझकर उनका पालन-पोषण करें, यही धर्मका रहस्य है।

अन्योन्यमभिहर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

देखो, वेदमें यह मन्त्र आता है कि तुम एक दूसरेसे प्रेम करो। कैसे प्रेम करें तो जैसे गाय अपने नन्हें बछड़ेसे प्रेम करती हो, वैसा ही प्रेम तुमलोग आपसमें करो। यह भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिए यदि तुम्हारे पास कोई सच्ची सामर्थ्य है तो गरीबकी मदद करो और समयपर वह अपना है, ऐसा समझकर उसका स्मरण करो।

प्रचेता आगे कहते हैं—प्रभो, आपने हमको स्मरण किया, इससे हमें बड़ी भारी शान्ति मिल रही है। हमको तो यही वर चाहिए था कि आप हमपर प्रसन्न हों। इसके अतिरिक्त और क्या वर आपसे माँगें ? आपसे आपको माँगे या दूसरेको माँगे ? दूसरी कोई चीज तो माँगने लायक नहीं है। यदि आपसे आपको माँगें तो आप हमको मिल ही गये हैं। जब हमें पारिजात ही मिल गया तब दूसरेकी सेवा करनेकी क्या जरूरत है—

पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते। ३२

अब हम आपसे यही चाहते हैं कि—'तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे' (३३)। जबतक हमारा यह शरीर रहे तबतक आपके प्रेमी भक्तोंका संग हमको मिलता रहे। क्योंकि, 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्' (३४)। यदि सत्संग एक लव, एक निमेषसे भी कम समयके लिए भी प्राप्त हो जाये तो उसकी बराबरी स्वर्ग और मोक्ष भी नहीं कर सकते, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है ? जहाँ सन्त हैं, वहाँ भगवान्‌की मीठी-मीठी कथाएँ होती रहती हैं और उनके श्रवणमात्रसे भोगोंकी तृष्णा शान्त हो जाती है।

यहाँ 'कथा मृष्टाः' (३५)का प्रयोग है। इसमें भिष्टके स्थानपर मृष्ट शब्द है। मृष्ट माने होता है खूब घिसी-घिसायी, साफ की हुई, उज्ज्वल, चमकती हुई। इसका यह तात्पर्य है कि जब वासनावान् लोग कथा करते हैं तो उसमें अपनी वासनाकी गन्दगी लगा देते हैं। किन्तु महात्मा लोग जब भगवान्‌की कथा करते हैं तो अपनी निर्वासनतासे उसको धोकर, माँजकर, पोंछकर बिलकुल साफ कर देते हैं। इससे श्रोताकी तृष्णा मिटती है।

इसको ऐसे समझो कि एक सज्जन हैं, जो धनकी तृष्णासे भगवान्‌की कथा करते हैं। यह बहुत बढ़िया बात है। भगवान्‌की कथा कैसे भी हो सुननेको मिले तो श्रोताका लाभ-ही-लाभ है। घीका लड्डू सीधा हो या टेढ़ा, कोई फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन वक्ता यदि तृष्णासे कथा कहता है तो कथाका सार उसीमें चला जाता है।

वक्ता यदि सोचे कि मुझको कथाके उपलक्ष्यमें यह मिलेगा, तो उसकी तृष्णा कथामें लग जाती है और तब बस तृष्णा ही तृष्णा दीखती है, कथा उसके पीछे छिप जाती है। लेकिन कथाका तो स्वभाव यह है कि उससे तृष्णा शान्त हो जाये। इसलिए भगवत्कथा कहनेका अधिकारी वही है जो अतिनिःस्पृह हो, उसको भगवद्-गुणानुवादजन्य परमार्थिक लाभ छोड़कर किसी सांसारिक पदार्थके लाभको आकांक्षा नहीं होनी चाहिए।

प्रचेता कहते हैं कि प्रभो, आपकी कथासे मनुष्यके मनसे राग-द्वेषका निवारण होता है, उद्वेग मिटता है। कथा-प्रसंगों द्वारा आपका गुणगान होता है और पता चलता है कि आप तो संन्यासियोंकी भी परम गति हैं। इसलिए महात्मा लोग तीर्थोंमें, तीर्थोंको पवित्र करनेकी इच्छासे विचरण करते हैं। भला उनका समागम संसारसे भयभीत लोगोंको क्यों नहीं अच्छा लगेगा?

प्रचेताओंने कहा भगवन्, हमलोग तो भगवान् शंकरके क्षणमात्रके समागमसे आपको प्राप्त हो गये हैं। हमने जो कुछ भी धर्म, पुण्य, तप, दान आदि किया है, वह सब आपके सन्तोषका कारण बने। बस यही वर हम आपसे माँगते हैं—

सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो वृणीमहे ते परितोषणाय। ४०

हमको आपकी प्रसन्नताके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। बड़े-बड़े महापुरुष लोग आपकी स्तुति करते हैं। अतः हम भी अपनी बुद्धिके अनुसार आपकी स्तुति करते हैं—'वयं त्वात्मसमं गृणीमः (४१)।' आपके लिए दोनों ही बराबर हैं। आप सम, शुद्ध, परमपुरुष हैं। हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं।

मैत्रेयजी कहते हैं विदुरजी, इस प्रकार प्रचेताओंने भगवान्‌की स्तुति की तो शरणागत-वत्सल भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि 'तथाऽस्तु' जैसा तुम चाहते हो, वैसा ही हो जाये। प्रचेताओंकी इच्छा नहीं थी कि भगवान् उनको छोड़कर चले जायें, क्योंकि उनकी आँखें तृप्त नहीं हो रही थीं—'अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषाम् (४३)।' फिर भी भगवान् चले गये।

अब आप देखिये, प्रचेताओंको भगवान्‌का दर्शन प्राप्त हो जानेपर भी क्या हुआ ? इसलिए कहते हैं कि जबतक सन्त लोग पक्का न कर दें, तबतक भगवद्दर्शन-प्राप्त पुरुष भी पक्का नहीं होता। सन्तोंकी पकाईसे ही पक्का होता है। जब सन्त कह दें कि हाँ यह पक्का है, तभी समझना चाहिए कि वह पक्का है।

जब भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर प्रचेता लोग नारायण-सरोवरमें-से बाहर निकले तब उन्होंने देखा कि उनके प्राचीनबर्हिः, राज्य छोड़कर तपस्या करने चले गये हैं। कोई धरतीकी देख-भाल करनेवाला नहीं है। जहाँ देखो, वहीं पेड़-पौधे निकल आये हैं। यह देखकर प्रचेताओंके मनमें वृक्षोंपर बहुत क्रोध आया कि हमारे पिताकी पृथिवी कहाँ गयी ? उनको यह क्रोध कब आया ? पहले शंकरजीने दर्शन दिया, उन्होंने जो स्तोत्र बताया, उसका प्रचेताओंने जप किया। उसके फलस्वरूप भगवान् भी मिल गये और उनका वरदान प्राप्त हो गया। लेकिन फिर भी उस बाद दप्रचेताओंको क्रोध आगया। इसी अवसरके लिए गोस्वामी तुलसीदासजीका यह दोहके उपयुक्त प्रतीत होता है—

बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोय।
जेहि जग जस रघुपति करहिं सो तेहि छन तस होय॥

इसका तात्पर्य यही है कि जैसे कर्मका फल नियत होता है, वैसे भगवान्‌के दर्शनका फल नियत नहीं होता है। इसलिए वे जैसा करते हैं, वैसा ही होता है।

तो जब प्रचेताओंको क्रोध आया तब वे बोले—हम दुनियामें वृक्षोंको नहीं रहने देंगे। अब वृक्षोंने डरकर उन्हें अपनी लड़की दे दी और प्रचेतागण उनके जमाई बाबू बन गये ब्रह्माजीके आदेशानुसार उन्होंने मारिषाके साथ विवाह किया। उन्हींसे फिर दक्षकी उत्पत्ति हुई और दक्षने सृष्टिकी रक्षा की। बड़ा भारी तेजस्वी था दक्ष। उसके दाक्ष्यके कारण ही उसक नाम दक्ष पड़ा।

❦

३१

मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, बहुत समयके बाद प्रचेताओंको विवेकका उदय हुआ। उनका सारा ज्ञान-विज्ञान दब गया था। अब विज्ञानकी उत्पत्ति हुई और उनको भगवान्‌की बात याद आयी। उन्होंने अपनी पत्नी मारिषाको अपने पुत्र दक्षके हवाले कर दिया और वे 'प्राव्रजन् गृहात्' (१)। घरसे निकल पड़े। चलते-चलते पश्चिम दिशामें समुद्र-तटपर पहुँचे, जहाँ जाजलि नामके ऋषि सिद्ध हुए थे। उसी स्थानपर भजन करने लगे। उन्होंने परब्रह्म परमात्मामें अपना-आपा मिला दिया।

उसी समय नारदजी महाराज आये। यहाँ देखो, प्रचेताओंको शंकरजीने शिष्य बनाया, उसके बाद उनको भगवान्‌का दर्शन हुआ, फिर दक्ष-सरीखा पुत्र प्राप्त हुआ, अब उनको पक्का करने आये हैं, नारद जी।

तो नारदजीका दर्शन करके प्रचेताओंने कहा। महाराज, आपका स्वागत है, हमारा बहुत सौभाग्य है कि आपने दर्शन दिया। आपका यह घूमना-फिरना प्राणियोंको अभय देनेवाला है। हमको शिव और विष्णुने जो उपदेश दिया था, वह घरमें आसक्ति होनेके कारण छूट गया। आप फिरसे उपदेश करके हमारे अध्यात्म दीपको प्रज्ज्वलित करनेकी कृपा करें।

इस तरह जब प्रचेताओंने प्रार्थना की, तब नारदजीने उनको उपदेश करना प्रारम्भ किया। यहाँ नारदजीके जो वचन हैं, वे पञ्चरात्रके सार हैं। नारद पञ्चरात्र बड़ाभारी ग्रन्थ है। उसकी एक सौ आठ संहिताएँ हैं। उसमें भक्ति-सिद्धान्तका सम्पूर्ण रूपसे वर्णन है—क्रियायोग, प्रपत्ति तथा शरणागतिका भी वर्णन है। परन्तु नारदजीने थोड़ेमें ही उसका सारांश निकाल दिया।

नारदजीने कहा राजाओ, 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः' (९)—मनुष्यका वही जन्म सफल है, वही कर्म सफल है और वही आयु, मन और वाणी सफल है जिसके द्वारा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिकी आराधना होती है। जिससे भगवान्‌की आराधना न हो तो वह सब-का-सब निष्फल है। मनुष्यका तीन प्रकारसे जन्म होता है—शौक्ल, सावित्र और याज्ञिक। इसी तरह शुद्धियाँ भी तीन प्रकारकी होती हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, परमात्मा इन तीनों विभागोंसे परे हैं। शुद्ध माता-पिताके सम्बन्धसे जो जन्म होता है, उसका नाम है शौक्ल। इसमें नानाका और दादाका वंश भी शुद्ध होना चाहिए। इसको आधिभौतिक शुद्धि कहते हैं। फिर मनुष्य यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंसे सम्पन्न होकर सूर्यकी—सावित्रीकी आराधना करे तो उसका सावित्र जन्म होता है। उसके बाद यज्ञकी दीक्षा लेकर अपने अधिकारके अनुसार बृहस्पतिसव, बाजपेय, राजसूय आदि यज्ञ करे तो वह याज्ञिक जन्म होता है। लेकिन मनुष्य यदि भगवान्‌की भक्ति न करे, तो उसके ये तीनों जन्म बिल्कुल व्यर्थ हैं। यदि उसने वेदोंके कर्मोंका पालन किया और भजन नहीं किया तो वह व्यर्थ गया। वह वेदाध्ययन, वह तपस्या, वह वाणी, वह चित्तवृत्ति, वह बुद्धि, वह सिद्धि, किस कामको—जिसमें भगवान्‌की आराधना नहीं। सांख्य, योग, संन्यास, स्वाध्याय तथा दूसरे कल्याणकारी प्रकरण वहाँ व्यर्थ हैं, जहाँ भगवान् नहीं हैं। सब कल्याणोंका कल्याण आत्मा ही है और भगवान् ही सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मा हैं। जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे उसके सब अवयवों—जैसे तना, डाली, पत्ता, फल आदि सबका पोषण हो जाता है, वैसे ही परमात्माकी पूजा करनेसे सारे विश्वका पोषण हो जाता है, वैसे ही परमात्माकी पूजा करनेसे सारे विश्वकी तृप्ति हो जाती है—

तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या। १४

विष्णु पुराण (१.१७.९०) में इसके स्थानपर ऐसा आता है—'समत्वम् आराधनमच्युतस्य' अर्थात् सबके प्रति जो सम दृष्टि है, यही भगवान्‌की आराधना है। विष्णुपुराण और भागवतको बोलियोंमें थोड़ा-सा अन्तर है। पञ्चरात्रको यह बिलकुल सीधा-सीधा ले लेता है।

यह सारी सृष्टि परमेश्वरमें-से ही निकलती है और परमेश्वरमें ही जाकर लीन होती है—वैसे ही, जैसे प्रभा सूर्यमें-से निकलती है और सूर्यमें ही लीन हो जाती है। यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका

स्वरूप है। एक बार परमात्माका साक्षात्कार हो जाये तो फिर कुछ करनेको नहीं रहता। जैसे आकाशमें बादल, अन्धेरा, प्रकाश आदि कभी आते हैं और कभी नहीं आते, ऐसे ही परमात्मामें जो आगन्तुक पदार्थ हैं वे कभी प्रतीत होते हैं और कभी प्रतीत नहीं होते। सबके आत्माका ही नाम परमात्मा है, उससे एक होकर परमात्माकी आराधना करनी चाहिए।

पञ्चरात्रकी पूजामें भी आता है—'आत्मानं तन्मयम्। उसमें पूजा करनेवाले अपने शरीरमें अङ्ग-अङ्गमें मन्त्रका न्यास करके, पदका न्यास करके, अक्षरका न्यास करके, देवताका न्यास करके, अपने-आपको मन्त्रमूर्ति, देवतामूर्ति, इष्टमूर्ति, भगवन्मूर्तिके रूपमें अनुभव करते हैं। ऐसी ही पूजा करनी चाहिए भगवान्‌की।

आगे नारदजी कहते हैं कि भगवान्‌की पूजा करो, लेकिन यदि उनको शीघ्र-से-शीघ्र सन्तुष्ट करना चाहते हो तो ये तीन बातें अपने जीवनमें धारण कर लो—

दयया सर्वभूतेषु संतुष्टया येन केन वा। सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥ १९

पहली बात यह है कि सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया करो। दया करते समय यह मत सोचो कि यह बिच्छू है, यह साँप है। दया तो दुःखीपर ही की जाती है। उसमें जाति-पाँतिका विचार नहीं होता। क्योंकि उसके भीतर तो परमात्मा ही बैठे हुए हैं। दूसरी बात यह है कि अपने लिए जैसा जो कुछ मिलता है, उसीमें सन्तोष करो। परिस्थितिकी ओर मत देखो, परिस्थिति पैदा करनेवालेकी ओर देखो। फिर अपने आप सन्तोष हो जायेगा। तीसरी बात यह है कि अपनी इन्द्रियोंको शान्त रखो। क्योंकि ये बड़ी चुलबुली हैं। कभी यहाँसे वहाँ और कभी वहाँसे यहाँ—कोई-न-कोई गड़बड़ पैदा करती रहती हैं। देखो, अगर हम बोलनेमें ध्यान रखने लग जायें, तो करनेमें भी ध्यान आजायेगा। लोग बे-मतलब बोलते हैं। यह वाणीका अपव्यय है। यदि बोले बिना काम चल जाता है, तो नहीं बोलना चाहिए।

देखो, वृन्दावनमें एक अंग्रेज आया था उसके पास एक कुत्ता था, जो बराबर उसकी आज्ञा मानता था। जब उसको ऐसी जगह जाना हो, जहाँ जूता नहीं ले जाया जाता तो वह अपने जूतेको बाहर रख देता और कुत्तेको कहता—इसपर बैठ! अब चाहे कितना भी समय हो जाये, वह कुत्ता जूतेको छोड़कर वहाँसे हटता ही नहीं था। जब एक कुत्ता अपने मालिककी आज्ञा इस प्रकार मानता है कि वह उसको जहाँ बैठा दे, वहीं बैठ जाय तो क्या मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता?

लेकिन मनुष्य ऐसे हैं कि जहाँ भगवान् बैठाते हैं, वहाँ बैठना मंजूर नहीं करते। कहते हैं भगवन्, तुम जहाँ बैठा रहे हो वहाँ हम नहीं बैठेंगे। हम तो हमारी जहाँ मौज होगी, जहाँ मर्जी होगी, वहीं बैठेंगे।

लेकिन यह भगवान्‌को प्रसन्न करनेका उपाय नहीं है। भगवान्‌को प्रसन्न करनेका उपाय तो यह है कि वे प्रसन्नतासे तुम्हें जैसे रखते हैं, वैसे रहो—सूरदासजी कहते हैं कि 'जैसे रखिहौं वैसे रहिहौं।' श्रीहरिदासजी महाराज कहते हैं कि 'ज्योंहि रखियत हौं त्यों ही त्यों रहियत हौं हे हरि'। यही भगवान्‌को प्रसन्न रखनेका उपाय है।

मनुष्य जब भगवान्‌के वशमें हो जाता है तब भगवान् भी उसके वशमें हो जाते हैं। भगवान् नाराज किसके प्रति होते हैं, यह देखो—

श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु । २१

जो लोग विद्या, धन, कुल और कर्म इनके अभिमानसे सन्तोंका तिरस्कार करते हैं, उनकी पूजाको भगवान् ग्रहण नहीं करते हैं।

भगवान् ऐसे कृपालु हैं, कि भक्तके लिए अपनी पत्नीको भी छोड़ दौड़ पड़ते हैं। 'श्रियमनुचरतीम्' (२२) भगवान्‌के पीछे-पीछे लक्ष्मीजी चलती हैं, उन्होंने छोड़ दिया, लक्ष्मीको चाहनेवालोंको छोड़ दिया। उनको किसीकी जरूरत थोड़े ही है, वे तो अपने-आपमें पूर्ण हैं। अगर भगवान् किसीके अधीन हैं तो केवल अपने भक्तके, अपने सेवकके अधीन हैं—'निजभृत्यवर्ग तन्त्रः' (२२) इसलिए ऐसे कृतज्ञ भगवान्‌को कोई कैसे छोड़ सकता है—

कथमभुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः । २२

इस तरह नारदजीने प्रचेताओंको बहुत सारी बातें सुनायीं और उसके फलस्वरूप भगवान्‌के चरणारविन्दका ध्यान करके प्रचेता लोग भगवद्धामको प्राप्त हो गये। इस प्रसंगको विदुरजीने पूछा था। इसीलिए मैत्रेयजी कहते हैं कि विदुरजी, तुमने पूछा था, वह मैंने तुमको सुना दिया।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अब प्रियव्रतके वंशका वर्णन आनेवाला है। प्रियव्रतने नारदसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन किया था। जब कथा विदुरजीने मैत्रेयजीसे सुनी तो उनका बड़ा भारी भाव बना। उनकी आँखोंमें आँसू आगये। उन्होंने मैत्रेयजीके चरणोंको अपने सिरपर रख लिया और बोले, आपने तो मेरा कल्याण कर दिया—

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना ।
दर्शितस्तमसः पारो यात्राकिञ्चनगो हरिः ॥ २९

इसके बाद विदुरजी, अपने लोगोंसे मिलनेके लिए हस्तिनापुर चले गये। इस कथा-वार्ताका जो श्रवण-वर्णन करता है, उसकी भगवद्गतिकी प्राप्ति होती है।

ॐ

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

पञ्चम स्कन्ध

इस पञ्चम स्कन्धमें स्थितिका वर्णन है। भूगोल, खगोल, स्वर्ग, नरक ये सब जिसके आधारपर स्थित हैं और इन सबमें जिसकी पूजा होती है, वह भगवान् ही हैं। इसके भिन्न-भिन्न प्रसङ्गोंमें लौकिक, पारलौकिक एवं अलौकिक स्थानों तथा उनके स्वरूप, स्थिति आदि बातोंका वर्णन है। पहले लौकिक स्थिति किस प्रकार भगवान्‌के आधारपर है, इसका वर्णन करनेके लिए यह प्रसङ्ग आरम्भ होता है।

: १ :

राजा परीक्षित श्रीशुकदेवजी महाराजसे कहते हैं कि आपने ध्रुवके पिता उत्तानपादके वंशकी कथा तो सुना दी। लेकिन उत्तानपादके जो दूसरे भाई प्रियव्रत थे, उनके वंशकी कथा नहीं सुनायी। वे वहुत दिनोंतक नारदजीके आश्रममें रहकर भगवान्‌का भजन ही करते रहे। उनके जीवनमें मुख्य वस्तु भजन ही था। वे भागवत थे और आत्माराम भी थे।

देखो, यहाँ दो बातें कही गयी हैं—प्रियव्रत भगवान्‌के भक्त भी थे और आत्माराम भी थे। लेकिन ये दो बातें अलग-अलग नहीं हैं। भगवान् और आत्मा दोनों एक ही हैं। इसलिए कोई भागवत और आत्माराम दोनों हो सकता है। त्वंपदार्थकी प्रधानतासे आत्माराम और तत्पदार्थकी प्रधानतासे भागवत। जब त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ एक ही हैं तब चाहे भागवत बोलो चाहे आत्माराम बोलो, उसमें कोई फर्क नहीं होता। केवल नामका ही अन्तर होता है।

यहाँ आशय यही है कि घरमें जब आदमी फँस जाता है तब उसको घरसे हारकर रहना पड़ता है, वहाँ उसके मनकी बात नहीं होती। फिर राजा प्रियव्रत घर-गृहस्थीमें कैसे रहे, क्योंकि वहाँ तो कर्म-बन्ध है, पराजय है। जो लोग मुक्तसङ्ग हैं, महापुरुष हैं, उनको घर-गृहस्थीमें रहनेका आग्रह भी नहीं होना चाहिए। भगवान्‌के चरणारविन्दकी छायामें परमानन्दका अनुभव करने-वालोंकी रुचि कुटुम्बमें नहीं होती। फिर यह कैसे सम्भव हुआ कि राजा प्रियव्रत घर-गृहस्थीमें भी रहे और श्रीकृष्णमें उनकी अच्युत-बुद्धि भी रही। मुझे इस बातका बड़ा सन्देह है। कृपया इसका निवारण कीजिये।

देखो, भागवत परमहंस-संहिता है। इसमें प्रश्न और उनके उत्तर किस प्रकारके होते हैं, यह ध्यान देने योग्य है। परीक्षितजी अपने प्रश्नका समाधान भी करते जाते हैं और संशय भी प्रकट करते जाते हैं।

अब श्री शुकदेवजी महाराज परीक्षितके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं—

बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवत-परमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५

राजा परीक्षित, तुमने बहुत बढ़िया किया। 'बाढमुक्तम्'का अर्थ है—बहुत बढ़िया कहा, बहुत बढ़िया कहा। संस्कृतमें बढ़ियाको ही 'बाढम्' बोलते हैं।

देखो परीक्षित, जिन लोगोने अपने चित्तको भगवान्‌के चरणारविन्दमकरन्दरसमें आविष्ट कर दिया है, वे भागवत परमहंसकी जो प्यारी भगवत्कथा है, उसमें कुछ थोड़ा-बहुत विघ्न-व्यवधान भी आजाये तो भी अपनी शिवतमा पदवीका परित्याग नहीं करते। जब राजपुत्र प्रियव्रत परम भागवत नारद भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें गये और वहाँ उनको ज्ञान प्राप्त हुआ, तब उनके पिता स्वायम्भुव मनुने उनको समझाया कि बेटा, तुम्हें कोई महात्मा नहीं होना है। तुमको तो राज्यका शासन करना है, इसलिए तुम राज्यशासन करो।

परन्तु प्रियव्रतने राज्य करनेमें अपनी हानि जानकर राज्य-शासन करना पसन्द नहीं किया। मनुजी ब्रह्माजीके पास गये और कहा कि महाराज, मैं तो आपका बेटा होकर आपकी आज्ञासे संसारका काम कर रहा हूँ। लेकिन मेरा बेटा मेरी बात नहीं मानता। वह कहता है कि मैं तो भगवान्‌का भजन ही करूँगा।

ब्रह्माजी सबकी बात समझते हैं। उनको भगवान्‌के ध्यानके बलसे सब कुछ मालूम रहता है। वे मरीचि आदि ऋषियोंके साथ चन्द्रमाके समान प्रकाशमान विमानपर चढ़कर सत्यलोकसे नीचे आये। गन्धर्व आदि उनकी स्तुति कर रहे थे। ब्रह्माजीको देखकर सबलोग उठकर खड़े हो गये। नारदजी और प्रियव्रतने ब्रह्माजीकी स्तुति की।

ब्रह्माजीके मनमें प्रियव्रतके प्रति दया हुई, बहुत प्रेम उमड़ा। वे हँसते हुए बोले—बेटा, मैं तुमसे सच कहता हूँ, तुम भगवान्‌की क्रियामें दोष मत निकालो, जैसे भगवान् रखे, वैसे रहो। देखो, हमलोग विवश होकर भगवान्‌के आदेशका पालन करते हैं। कोई अपनी तपस्या, साधनाके बलपर भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। शोकके लिए, मोहके लिए, सुखके लिए, दुःखके लिए मनुष्यको अव्यक्त ईश्वरके आदेशानुसार अपना शरीर धारण करना पड़ता है। जैसे खलिहानमें सब-के-सब बैल एकमें बँधे रहते हैं, इसी प्रकार ये सब देवता परमात्मासे बँधे हैं और उन्हींकी आज्ञाका वहन कर रहे हैं। भगवान् जिसके लिए जैसा करते हैं, उसको वैसा भोगना ही पड़ता है। देखो, मुक्तपुरुषको भी प्रारब्धके अनुसार, अभिमानशून्य होकर तबतक अपना शरीर धारण करना पड़ता है, जबतक भगवान् उसको रखना चाहते हैं। यदि कहो कि जङ्गलमें जानेसे इस प्रश्नका समाधान हो जायेगा और सब भय निवृत्त हो जायेंगे तो ऐसी बात नहीं। क्योंकि

जब तुम जङ्गलमें जाओगे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह जो तुम्हारे दुश्मन हैं वे तुम्हारे साथ ही जायेंगे, इन्द्रियाँ भी तुम्हारे साथ ही जायेंगी। जिसकी जैसी आदत पड़ जाती है, वह जङ्गलमें भी जाता है, तो उसे लेकर ही जाता है। जो प्रमादी है, वह वनमें जाकर भी प्रमाद ही करेगा, क्योंकि उसके शत्रु तो उसके पास ही हैं। अपनी इन्द्रियाँ वशमें हों और आदमी समझदार हो तो उसका घर क्या बिगाड़ लेगा? घर-गृहस्थी कुछ नहीं बिगाड़ती। यदि तुम अपने भीतरी दुश्मनोंको जीतना चाहते हो तो घरमें रहो और उनपर विजयके लिए प्रयत्न करो। जैसे किलेमें रहकर शत्रुको जीतते हैं, वैसे ही घरमें रहकर शत्रुओंको जीतो। भगवान्‌के चरणारविन्द दुर्ग हैं, किले हैं। इनमें रहकर तुम काम-क्रोधादिपर विजय प्राप्त करो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ।

श्रीशुकदेवजी महाराज करते हैं कि परीक्षित जब ब्रह्माजीने इस तरह समझाया तो प्रियव्रतने उनकी आज्ञा मान ली! ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये! ब्रह्माजी तो प्रियव्रतके लिए दो तरहसे बड़े थे—एक तो पिता-के-पिता थे और दूसरे गुरु-के-गुरु थे! फिर भी उन्होंने अपने गुरु नारदजीसे पूछ लिया और उन्होंने अनुमति भी दे दी। यह नहीं कि प्रियव्रत केवल ब्रह्माजीके कहनेसे ही राज्य-शासन सम्भालने चले गये।

अब राज्यपर प्रियव्रतका अभिषेक हुआ। मनुजी निवृत्त हो गये थे! प्रियव्रत भगवान्‌के चरणारविन्दमें मन लगाकर पृथिवीका शासन करने लगे! प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे उनका विवाह हुआ, उससे उनके दस पुत्र हुए और ऊर्जस्वती नामकी एक कन्या भी हुई! आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि ये सब अग्निके नाम हैं, जो प्रियव्रतके पुत्र हुए। उनमें-से कवि, महावीर और सवन ये तीन ब्रह्मचारी हो गये। बाल्यावस्थामें ही परमहंस-आश्रममें चले गये। वहीं उनको परमात्माका अनुभव हुआ, साक्षात्कार हुआ!

महाराज प्रियव्रतकी दूसरी पत्नीसे उनके तीन प्रसिद्ध पुत्र हुए—उत्तम, तामस और रैवत! ये तीनों मन्वन्तरके अध्यक्ष हुए! यहाँ देखो, स्वायंभुव मन्वन्तरमें प्रियव्रतसे तो इन तीनोंका जन्म हुआ और उसके बाद एक, दो, तीन मन्वन्तरोंतक वे मन्वन्तराधिपति होते गये! फिर उनकी उम्र कितनी रही होगी? रैवतकी उम्र तो चार मन्वन्तरकी होनी चाहिए, तामसकी तीन मन्वतर-की और उत्तमकी दो मन्वन्तरकी! इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। भगवान् जहाँ जिस कर्मके लिए जिसकी स्थापना करते हैं, वहाँ उसकी आयु भी लम्बी हो जाती है।

तो, स्वायंभुव मनुके पौत्र मन्वन्तराधिपति हो गये! प्रियव्रतकी आयु भी बहुत लम्बी थी। उन्होंने बहुत बरसोंतक अपने प्रारब्धके अनुसार भोग भोगे! उन्होंने सोचा कि जब सूर्य चले जाते हैं, तब रात हो जाती है। इसलिए हम सूर्यका ऐसा पीछा करेंगे—इस प्रकार उनके पीछे-पीछे चलेंगे कि रात होने ही नहीं देंगे—ऐसे दूसरे सूर्यके समान वे विचरण करने लगे। उनके रथचक्रके

गड्ढोंसे सात सिन्धु बने और फिर उनसे सात द्वीप बन गये। द्वीपोंके नाम क्रमशः है—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। राजा प्रियव्रतने अपने आग्नीध्र आदि सात पुत्रोंको इन द्वीपोंका अधिपति बना दिया और ऊर्जस्वती कन्याका विवाह शुक्राचार्यजीसे कर दिया। उसीसे देवयानी पैदा हुई।

जो भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन करते हैं, उनके लिए ऐसा पौरुष कुछ विचित्र नहीं है। सचमुच भगवान्‌की आराधनाका ऐसा अनुभाव-प्रभाव होता है कि जो संसारमें कहीं देखने-सुननेमें नहीं आता, वह हो जाता है। यदि कोई भगवान्‌के नामका उच्चारण करे तो उच्चारण-मात्रसे ही उसके सारे पाप दूर हो जाते हैं। जिन्हें समाजके लोगोंने उठाकर दूर फेंक दिया है, जैसे अन्त्यज आदि, वे यदि एक बार भी भगवान्‌का नाम ले लें तो बन्धनसे मुक्त हो जायेंगे और उनको वही गति मिलेगी, जो ब्राह्मणको धर्मानुष्ठान करनेसे मिलती है :

चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्। ३५

अन्तमें राजा प्रियव्रतको वैराग्य हो गया। देखो, भागवतकी आखिरी चोट इसी बातपर है कि मनुष्यके जीवनमें वैराग्य जरूर आना चाहिए।

राजा प्रियव्रत पछताने लगे कि 'हाय-हाय' मैंने बहुत गलती की, जो इन्द्रियोंके चक्करमें पड़कर अविद्यारचित विषम विषयरूप अन्धकूपमें पड़ गया। मैं स्त्रीका खिलौना बन गया, मुझे धिक्कार है! उसके बाद उन्होंने सब-कुछ छोड़-छाड़ दिया और नारद भगवान्‌के यहाँ जाकर जैसे पहले भजन करते थे, वैसे ही भजन करने लगे। कहते हैं कि प्रियव्रत ऐसे महापुरुष थे कि उनके जैसे कर्म ईश्वरके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। उन्होंने सात समुद्र बना दिये और पृथिवीमें द्वीपोंका विभाग कर दिया। उनको भौम, दिव्य, मानुष और कर्मयोगजन्य जितनी भी शक्तियाँ थीं, सब प्राप्त थीं। फिर भी इतने बड़े साम्राज्य, ऐश्वर्य और भोगको नरकके समान समझकर उन्होंने छोड़ दिया और भगवान्‌के भजनमें लग गये। उन्होंने यह दिखलाया कि केवल भगवान्‌का भजन ही जीवनका सार है। उनके लिए भगवान्‌के भजनमें जो सुख है, रस है, उसके सामने सारे वैभव, सारा भोग 'निरयौपम्य' (४१) नरकके समान है। 'पुरुषानुजनप्रियः' (४१)का अर्थ है कि प्रियव्रतका भगवान्‌के पीछे चलनेवालोंसे ही प्रेम था और वे भी उन्हींके प्यारे थे।

●

: २ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, जब महाराज प्रियव्रत घर छोड़कर वनमें चले गये और वहाँ भगवान्का भजन करने लगे तब उनके पुत्र आग्नीध्र जम्बूद्वीपकी प्रजाका पालन वैसे ही करने लगे, जैसे कोई पिता पुत्रका पालन करता है।

समय आनेपर आग्नीध्रके मनमें पुत्रकी कामना हुई और वे उसको पूरी करनेके लिए मन्दराचलकी गुहामें ब्रह्माजीकी आराधना करने लगे। ब्रह्माजी उनके मनकी बात जान गये। उन्होंने अपनी सभासे पूर्वचित्ति नामकी अप्सराको आग्नीध्रके आश्रमके उपवनमें भेज दिया। बहुत विचित्र वर्णन है उस उपवनका। अप्सरा वहाँ आयी और इधर-उधर घूमने लगी। उसकी सुललित गतिविधि और पादविन्यासकी शैलीसे रुनझुन-रुनझुनकी झंकार होने लगी। महात्मा आग्नीध्रने

अपनी आँख खोली तो देखा कि वह अप्सरा उनके पास वैसे ही घूम रही है, जैसे भौंरी फूलोंकी सुगन्ध लेती फिरती है। राजा उसपर मुग्ध हो गये। उनके पास जाकर उससे पागलोंकी तरह बात करने लगे। उन्होंने कहा कि मित्र, तुम कौन हो? यहाँ किसलिए आये हो? क्या तुम कोई देवमाया हो? हम लोगोंका उपकार करने आये हो? तुम्हारे जो कटाक्षबाण हैं, इनका प्रयोग किनपर करोगे? भ्रमर तुम्हारे चारों ओर गाते फिर रहे हैं। हम तुम्हारे चरण-नूपुरोंकी मधुर ध्वनि सुन-सुनकर तुमपर मुग्ध हो रहे हैं। 'रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नम् (१५) हे तपोधन! तुम्हारा यह रूप तपस्या करनेवालोंकी तपस्या मिटानेवाला है। तुमको देखकर न तो मेरी आँख बन्द हो पाती है और न मेरा मन तुमसे अलग होना चाहता है। इसलिए हे मित्र, तुम प्रसन्न हो जाओ और आओ, मेरे पास मिलकर तपस्या करो। मैं तुमको कभी नहीं छोड़ूँगा।

इस प्रकार राजकुमार आग्नीध्र उस सुन्दरी अप्सरासे ऐसे बोलने लगे जैसे उसको पहचानते ही न हों कि वह स्त्री है या पुरुष है। बोले कि जहाँ तुम्हारा मन हो, वहीं मुझे ले चलो—

मां चारुभृङ्गयर्हसि नेतुमनुव्रतं ते चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः। १६

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—जब स्त्री समझती है कि सामनेवाला पुरुष भोला-भाला है, बुद्धू बनाने लायक है, यह मेरी मुट्ठीमें रहेगा तब वह भी उसपर मुग्ध हो जाती है। इधर आग्नीध्र भी 'ललनानुनयातिविशारदः' (१७) स्त्रीको खुश करनेमें बहुत विशारद थे। इसलिए उन्होंने उसको प्रसन्न कर लिया। फिर बुद्धि, शील, रूप, वय, श्री और औदार्य सबमें वे श्रेष्ठ थे। स्त्रीको इसके-सिवा और क्या चाहिए? वह उनपर मोहित होकर बहुत बरसों तक उनके पास रही और उससे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, केतुमाल ये नौ पुत्र हुए। फिर आग्नीध्रने अपने उन पुत्रोंके लिए जम्बूद्वीपके नौ खण्ड दे दिये।

लेकिन राजा आग्नीध्रको उस काम-भोगसे तृप्ति नहीं हुई। क्योंकि कामके उपभोगसे कामकी शान्ति कभी नहीं होती। आगमें हविष्य डालनेपर आग और बढ़ती जाती है। यदि कोई अपना मनोरथ पूर्ण करने लगे तो एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा मनोरथ आने लगता है। इसलिए आग्नीध्र मरकर भी उसी लोकमें गये। उनके जानेके बाद उनके नौ बेटोंने अपने अनुरूप मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्रीं, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति नामक नौ कन्याओंसे विवाह किया।

: ३ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, आग्नीध्रके पुत्र नाभिने कहा कि हम तो भगवान्‌की ही आराधना करेंगे। मुझे पत्नी अच्छी मिले, यह आवश्यकता नहीं। मुझको तो बेटा अच्छा मिलना चाहिए। रुचि होती है अपनी-अपनी। कई लोग पत्नी अच्छी चाहते हैं और कई लोग बेटा अच्छा चाहते हैं। हमारा भारतवर्ष मातृप्रधान धर्म-देश है और दूसरे देश पत्नीप्रधान भोग-देश हैं। हमारे यहाँ यह मान्यता है कि जो माता-पिताकी सेवा करे, ऐसा पुत्र मिलना चाहिए।

इसलिए नाभिके मनमें आया कि भगवान् हमारे पुत्र हों। उन्होंने यज्ञके द्वारा यज्ञ पुरुषको आराधना की। जब श्रद्धासे, शुद्ध भावसे भली-भाँति यजन होने लगा तब स्वयं भगवान् उनके यज्ञमें प्रादुर्भूत हुए। ऋत्विकोंने स्तुति करते हुए कहा—

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूप-निरूपणम्। ४

अर्थात् हम आपकी स्तुति कैसे करें—यह हमको मालूम नहीं है। हमको तो सिर्फ इतना ही सिखाया गया है कि भगवान्‌के सामने 'नमो नमः' कर लेना—नमस्कार कर लेना। किसीको आपके सामने यह ज्ञान बघारनेकी जरूरत नहीं कि हम यह जानते हैं, वह जानते हैं। भला, इस सृष्टिमें नाम, रूप और आकृतिके द्वारा आपके स्वरूपका निरूपण कौन कर सकता है? कोई कितना ही कहे तो भी एक हिस्सेका हिस्सा ही कहेगा। आप तो अपने भक्तोंपर बहुत कृपा करते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई जल, पल्लव, तुलसी, दूर्वा, अङ्कुरसे भी आपकी पूजा करता है तो आप उसीपर

सन्तुष्ट हो जाते हैं। आपको कुछ भी दुनियामें नहीं चाहिए। यह यज्ञ लेकर आप क्या करेंगे ? आप तो इस यज्ञमें हमारे मनोरथको पूर्ण करनेके लिए प्रकट हुए हैं—वर देनेके लिए आये हैं। परन्तु आपका दर्शन ही सबसे बड़ा वर है। बड़े-बड़े वैराग्य-सम्पन्न पुरुष आपके गुणानुवादका कथन करते हैं। महाराज, आपके नामकी महिमा ऐसी है कि बड़े-बड़े परमहंस अमलात्मा महात्मा आपके परममङ्गलायन गुणगणका कथन करते हैं। यदि कोई कथञ्चित् पाँव फिसलनेपर, छींक आनेपर, धरतीपर गिरनेपर, जँभाई आनेपर, दुरवस्थामें, विवश होकर, ज्वरदशा या मरण-दशामें भी आपके नामका उच्चारण कर ले तो उसका परम कल्याण हो जाता है। इसलिए हम यही चाहते हैं कि आपके ऐसे जो नाम हैं, वे हमारी वाणीपर आयें।

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु। १२

प्रभो, हम तो यही चाहते हैं कि चाहे जिस अवस्थामें भी रहें, भले ही भीख माँगकर खायें, पेड़के नीचे रहें या बीमार पड़े रहें, परन्तु आपके गुणकृत नाम हमारे वचनके विषय होते रहें और हम उनका उच्चारण करते रहें।

अन्तमें पुरोहितोंने कहा कि महाराज, हमारे यजमान आप-जैसी सन्तान चाहते हैं। आप इनका मनोरथ पूरा कर दीजिये। क्योंकि आपकी माया सबको अपने वशमें कर लेती है। यद्यपि काम तो बहुत छोटा है, फिर भी इसीके लिए आपको हमने बुलाया है। इसमें हमसे जो अपराध हुआ है, वह आप क्षमा कीजिये। यदि कोई हाथीको घर ले आये और उसका माङ्गलिक रूप न देखकर उससे लकड़ीका बोझा ढुलाये तो यह उसकी मूर्खता ही है। परन्तु हम तो मन्द मति हैं ही, अपराध करते ही रहते हैं। इसलिए आप हमारा अपराध सहन कर लीजिये।

भगवान्‌ने कहा कि ब्राह्मणो, तुमने जो वर माँगा है कि मुझ-सरीखा बेटा हो तो यह कोई सुलभ वर नहीं है। लेकिन जब तुमने ब्राह्मण होकर यजमानको यह आश्वासन दे दिया है कि तुम्हारे भगवान्-सरीखा बेटा होगा तो वह झूठा नहीं होना चाहिए। ब्राह्मणोंकी बात सच्ची करनेका मेरा स्वभाव है। इसलिए मैं राजा नाभिके पुत्र-रूपमें अवतार ग्रहण करूँगा।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये ! समय आनेपर भगवान्‌ने महारानी मेरुदेवीके गर्भसे नाभिनन्दनके रूपमें शुद्ध सत्त्वमय विग्रह द्वारा अवतार ग्रहण किया ! इस अवतारसे पृथिवीपर नग्न विचरण करनेवाले तपस्वी ऊर्ध्वमन्थी ब्रह्मचारियोंके धर्मकी प्रतिष्ठा स्थापित हुई !

: ४ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, नाभिनन्दनमें जन्मसे ही भगवान्‌के लक्षण प्रकट हुए। उनका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ने लगा और बड़े-बड़े लोग कहने लगे कि ये ही हमारे राजा हों!

राजा नाभिने वीर्य-शौर्य आदि बड़े-बड़े गुणोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण उनका नाम ऋषभ रखा! ऋषभ शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें होता है श्रेष्ठ। संस्कृतमें किसीको श्रेष्ठ कहना होता है तो ऐसी माया है इस भाषाकी कि उस श्रेष्ठ व्यक्तिको नरपुंगव, नरव्याघ्र, नरसिंह, नरवृषभ, नरर्षभ (नर+ऋषभ) बोलेंगे! वृषभ-ऋषभ शब्द श्रेष्ठताके अर्थमें चलते हैं। ऋष शब्दका अर्थ है ज्ञान— 'ऋषेण-ज्ञानेन भाति इति ऋषभः।' 'ऋष' धातु गत्यर्थक है, अतः वह ज्ञानार्थक भी है। इसीसे ऋषि बनता है। जो अपने ज्ञानसे प्रकाशमान हो, उसका नाम है ऋषभ।

इन्द्रने सोचा कि त्रिलोकीका मालिक तो मैं हूँ, यह दूसरा मालिक कहाँसे आगया? उन्होंने ऋषभदेवके राज्यमें बरसना ही बन्द कर दिया। लेकिन उसके न बरसनेसे क्या होता है? ऋषभदेवने अपने योगबलका प्रयोग करके वर्षा करायी। अब अपने बच्चेमें इतना बड़ा ऐश्वर्य देखकर राजा नाभि बहुत प्रेम करने लगे। वे प्रेमविह्वल होकर ऋषभको वत्स, तात कह-कहकर बहुत ही आनन्द लेने लगे। उन्होंने ऋषभदेवका राज्याभिषेक बचपनमें ही करके उनको ब्राह्मणोंकी गोदमें रख दिया।

यह विडम्बना ही कही जायेगी कि हमारे देशमें ऋषभदेवके नामपर ऐसा सम्प्रदाय चलता है, जो वेद, ब्राह्मण, गङ्गा आदिको नहीं मानता। लेकिन भागवतके ऋषभदेव तो साक्षात् भगवान् हैं और यज्ञमें ब्राह्मणों द्वारा माँगे गये वरदानके फलस्वरूप प्रकट हुए हैं।

ऋषभदेवके पिता नाभि अपने पुत्रको राज्य-शासनपर अभिषिक्त करके तथा ब्राह्मणोंकी गोदमें सौंपकर नर-नारायणकी सेवा करनेके लिए बदरिकाश्रम चले गये। नाभिके कर्मका अनुकरण कौन करेगा, जिनके शुद्ध कर्मसे स्वयं श्रीहरि उनकी सन्तान बन गये—'अपत्यतामगादस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा।' (६) सृष्टिमें नाभिसे बड़ा ब्राह्मण-भक्त और कौन होगा जिनपर प्रसन्न होकर ब्राह्मणोंने यज्ञमें मन्त्रके बलसे भगवान्‌का दर्शन करा दिया?

अब ऋषभदेवने लोकशिक्षाके लिए गुरुके घरमें निवास किया। फिर उन्होंने गुरुकी आज्ञासे गृहस्थ-धर्मकी शिक्षा प्राप्त की। जयन्तीके साथ उनका विवाह हुआ, उससे उनके सौ पुत्र प्रकट हुए। उनमें सबसे बड़े महायोगी भरत थे जिनके नामसे यह अजनाभखण्ड भारतवर्षके नामसे प्रसिद्ध हुआ। छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलयकेतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट—ये

नौ पुत्र मुख्य हुए। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, अग्निहोत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ पुत्र योगेश्वर हुए, जिनकी कथा ग्यारहवें स्कन्धमें आती है। तात्पर्य यह है कि महात्मा ऋषभदेवने अपने भीतरसे ब्राह्मण, क्षत्रिय राजा, बड़े-बड़े विद्वान्, तपस्वी और योगेश्वर प्रकट किये तथा उनके बाद शेष इक्यासी पुत्र ऐसे हुए, जो पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले थे। वे सब कर्मविशुद्ध, महाशालीन, महाश्रोत्रिय ब्राह्मण हो गये—'कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः' (१३) और यज्ञमें लग गये।

ऋषभदेवजी महाराज गृहस्थ-धर्मकी शिक्षा देनेके लिए स्वयं गृहस्थाश्रमका पालन करने लगे, क्योंकि घर-परिवार और समाजमें बड़ा आदमी जो करता है, उसके पीछेवाले लोग उसका अनुसरण करते हैं। यदि आप अपने बच्चेको कहो कि प्रणाम करो तो बच्चे तुरन्त प्रणाम करने लगते हैं। यह बालकका स्वभाव ही होता है कि वह अपनेसे बड़ोंका अनुकरण करता है।

'यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः'—(१५) बड़े लोग जैसा करते हैं, छोटे लोग भी वैसा ही करते हैं।

ऋषभदेव ब्राह्मणोंकी शिक्षाके अनुसार पृथिवीका शासन करने लगे। उन्होंने सौ यज्ञ किये। उनके राज्यमें ऐसे-ऐसे आत्माराम, आप्तकाम पुरुष होते थे, जो किसी भी दूसरेसे कुछ नहीं चाहते थे। कोई भी व्यक्ति किसीसे भी भगवान्‌के प्रति अनुरागके सिवा और कुछ नहीं चाहता था तथा दूसरेकी किसी वस्तुपर नजरतक नहीं डालता था—सब आत्मज्ञानी थे, सब आत्माका स्वरूप जानते थे।

एक बार ऋषभदेवजी गङ्गा-तटपर ब्रह्मावर्त गये। आजकल ब्रह्मावर्तको ही बिठूरके नामसे माना जाता है। वहाँ बहुत बड़ी सभा जुड़ी, बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि और महात्मा लोग उपस्थित हुए। उनके सामने ऋषभदेवजी बहुत प्रेमसे अपने 'प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रित' (१९) अर्थात् समाहित तथा विनय-प्रेमसे सुसंयत पुत्रोंको शिक्षा देने लगे।

देखो, व्याख्यान देनेकी यह प्रणाली बहुत पुरानी है। पृथुका व्याख्यान सुन चुके हैं। उन्होंने कितना बढ़िया व्याख्यान अपनी प्रजाको दिया था? अब ऋषभदेवजी ब्रह्मर्षियोंकी सभामें अपने पुत्रोंको शिक्षा दे रहे हैं। सबके बीचमें शिक्षण देना अच्छा है क्योंकि सब लोगोंको यह मालूम हो जाता है कि इनको यह शिक्षा दी हुई है। इसलिए उसके अनुसार आचरण नहीं करनेपर लोग कहते हैं कि तुमको तुम्हारे पिताने ऐसी शिक्षा दी थी, लेकिन तुम वैसा 'आचरण' नहीं करते?

: ५ :

ऋषभदेवजी महाराजने, अपने पुत्रोंको 'पुत्रकाः' (१) शब्दसे सम्बोधित किया, जिसका अर्थ है छोटे-छोटे बच्चे ! 'अल्पाः पुत्राः पुत्रकाः'—अर्थात् हे मेरे नन्हे-मुन्ने पुत्रो ! यह सम्बोधन करनेके बाद ऋषभदेवजी अपने पुत्रोंसे कहते हैं, तुम्हें मनुष्यका शरीर उन विषय-भोगोंके लिए नहीं प्राप्त हुआ है, जो गुबरौले जैसे कीड़ों-मकौड़ोंको भी मिलते हैं। यह दस अंगुलियोंवाला निर्मल हाथ और इसकी इतनी स्वच्छ हथेली इसलिए मिली है कि इसपर पवित्र वस्तु उठाकर देवताको, ब्राह्मणको और भगवान्को अर्पित करो। तुममें नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाका निवास इसलिए है कि तुम इससे भगवत्स्वरूपका चिन्तन करो। तुम्हारी सुन्दर दन्तपङ्क्तिकी शोभा इसीमें है कि दूसरोंके आनन्दमें मुस्कुराते रहो। यह शरीर लोगोंको दुःख देनेके लिए नहीं मिला, इससे दिव्य-दिव्य तपस्या करो, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो और अनन्त ब्रह्मसौख्य, अनन्त ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार हो।

यदि तुम लोग महापुरुषोंकी सेवा करोगे, तो तुम्हें मुक्तिकी प्राप्ति होगी और स्त्री-संगी कामियोंका संग करोगे तो समझ लो कि नरकका दरवाजा है। महापुरुष उन्हींको कहते हैं जो समचित्त, प्रशान्त, निष्क्रोध, सबके सुहृद् और साधु होते हैं। महापुरुष भगवान्के साथ तो प्रेम करते हैं, किन्तु देह-गेहमें फँसे हुए, नमक-लकड़ीकी चिन्तामें लगे हुए लोगोंसे उनकी प्रीति नहीं होती। मनुष्य इन्द्रियोंकी तृप्तिमें लग गया है, परमात्माकी ओर नहीं चलता। उसको देह मिला था भगवान्के भजनके लिए, लेकिन वह इससे करने लगा विषय-भोग। इसीलिए उसके देहमें दुःख आगया। जबतक मनुष्य अपनी आत्माको नहीं जानता तबतक उसको अज्ञान-कृत पराभवकी प्राप्ति होती रहती है। जबतक कर्म है, तबतक मन है और जबतक मनमें विषयवासना है, तबतक शरीरका बन्धन है।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्। ६

मनुष्य जबतक भगवान्से प्रीति नहीं करेगा तबतक वह देहयोगसे नहीं छूटेगा और उसको देह-पर-देह मिलते रहेंगे। जब मनुष्य प्रमत्त हो जाता है और विषय-भोगको, इन्द्रियोंको मिथ्या नहीं समझता, तब उसको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। उसको ऐसा लगता है कि हमारे भीतर कुछ नहीं, सब कुछ बाहर ही है, इसलिए कहता है कि मुझको यह चाहिए, वह चाहिए। अरे जो सुख मकानमें है, स्त्रीमें है, बेटोंमें है, धनमें है, वह और कहाँ है ? इस तरह वह ठन-ठनपाल हो जाता है। उसके भीतर जो ईश्वर बैठा हुआ है, उसको छोड़कर बाहर देखता रहता है।

एक बार जब मैं कहीं भागवत-सप्ताह कर रहा था, एक सज्जन मुझे अपने घर ले गये। मैं उनके घर जाकर तख्तपर बैठ गया। एक राजा साहब भी वहाँ आनेवाले थे। उनके आनेमें आधे घण्टेकी देर हो गयी। मैं थका हुआ तो था ही। मुझे भूख-प्यास भी लगी थी। लेकिन वे सज्जन मेरी ओर बिल्कुल देखते ही नहीं थे—बार-बार सड़ककी ओर देखते थे कि कब राजा साहब आते हैं। मैं अपनेको अनाथ बच्चेकी तरह उपेक्षित अनुभव करने लगा और ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे भीतर जो भगवान् बैठा है, वह भी तो हमारी अनदेखीके कारण मुझ-जैसा ही उपेक्षित अनुभव करता होगा। जिस तरह मुझे अपनी उपेक्षा अच्छी नहीं लग रही है, उसी तरह हमारे हृदय-पटलपर बैठे भगवान्को भी अच्छा नहीं लगता होगा और वह सोचता होगा कि हम तो इसके कलेजेमें बैठे हैं और यह बाहरकी ओर देख रहा है।

असलमें जब मनुष्य भीतर बैठे हुए नारायणको छोड़कर बाहर देखने लगता है तब उसको चपत-पर-चपत लगती है। हमारी हृदय-ग्रन्थि यह समझना है कि हम दो स्त्री-पुरुष मिलकर दुनियाका काम करेंगे, सुख लेंगे। यह हृदय-ग्रन्थि कोई गाँठ-वाँठ नहीं होती। जब हम अपने आपमें न रहकर दूसरेके लिए व्याकुल हो जाते हैं तब इसीका नाम हृदय-ग्रन्थि पड़ जाता है। इसलिए आसक्ति छोड़कर परम पुरुषकी ओर चलना चाहिए।

इसके लिए साधनोंकी सूची बताते हुए कहते हैं कि जो परमहंस, गुरु, परमात्मा है उसके प्रति भक्ति होनी चाहिए। उसकी सेवा होनी चाहिए। जो गर्मी-सर्दी और सुख-दुःख आये, उसको सह लेना चाहिए। परलोकमें भी मनुष्यको दुःख होता है, इसलिए भगवान्को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं चाहना चाहिए। अपनी इन्द्रियोंका संयम करना चाहिए। सब कुछ विश्वात्माकी सेवाके लिए करना चाहिए। भगवान्की कथा, भगवान्का गुणानुवाद, सन्तोंका संग, अपनी चेष्टाओंको अपने वशमें करना, अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास, ब्रह्मचर्यपालन और सबमें भगवद्भावना—इन साधनोंसे अहंकारको काट देना चाहिए और जब जीवनमें प्रमाद न रहे, तब साधनसे भी उपराम हो जाना चाहिए। 'सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात्' (१४)—जैसे नाव द्वारा नदीके पार चले जानेपर नावकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही जब ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तब ज्ञानकी

जरूरत नहीं रहती। लोगोंको संसारसे मत जोड़ो, क्योंकि दुनियाके लोग अपने कर्तव्य कर्मके सम्बन्धमें कुछ जानते नहीं। वे सुखके लिए तो काम करते हैं लेकिन उनको मिलता है दुःख।

असलमें वह गुरु नहीं, वह स्वजन नहीं, वह पिता नहीं, वह जननी नहीं, वह देव इष्टदेव नहीं और वह पति नहीं जो मौतसे छुड़ा नहीं सकता—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥ १८

यहाँ देखो, इस श्लोककी सीधी-सादी भाषामें इष्टदेवको भी नहीं छोड़ा गया है। फिर यदि लोग भैरवको अपना इष्टदेव बनाकर यह आशा करें कि वह हमको संसारसे छुड़ा देगा तो कैसे छुड़ायेगा? वास्तवमें जो हमको मृत्युसे छुड़ा नहीं सकता, वह हमारा क्या सम्बन्धी हो सकता है? मनुष्य तो ऐसे ही अन्धा होकर संसारमें फँस रहा है, यदि उसको और भी फँसा दिया जाय तो उससे क्या लाभ है!

ऋषभदेवजी महाराज आगे कहते हैं कि पुत्रो! यह मेरा जो मनुष्याकार शरीर है, यह मेरी इच्छाका विलास है, यह कोई प्रकृतिका परिणाम नहीं। इसलिए तुम लोग ईर्ष्या छोड़कर धर्मके अनुसार चलो। इसीसे मेरी सेवा होगी और प्रजाका पालन होगा। इस सृष्टिमें जो स्थावर-जङ्गमादि प्राणी हैं उनमें गन्धर्वादि श्रेष्ठ हैं, उनसे देवता श्रेष्ठ हैं, देवताओंसे दक्ष आदि श्रेष्ठ हैं। दक्षसे शिव श्रेष्ठ हैं, शिवसे ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं और ब्रह्मासे मैं अर्थात् ऋषभदेव श्रेष्ठ हूँ किन्तु मुझसे भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।

यह श्लोक श्रीमद्भागवतके दूसरे प्रसङ्गका है। इसमें भी भगवान् कहते हैं कि मेरा चतुर्भुज रूप मुझे ब्राह्मणके शरीरसे ज्यादा प्यारा नहीं। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण-तुल्य दूसरा कोई नहीं।

इसी तरह भोजराजने एक स्थानपर कहा है—

उच्चैर्गतिर्जगति सिद्ध्यति धर्मतश्चेत् तस्य प्रमा च वचनैरकृतैर्भवेच्चेत्।
तेषां प्रकाशनदशा च महीसुरैश्चेत् तानन्तरेण निपतेत् क्व नु मत्प्रणामः॥

यदि यह बात सच्ची है कि धर्मसे उन्नति होती है, यदि धर्मकी प्रमा, धर्मका ज्ञान अपौरुषेय वेदवाणीसे होता है, वेदोंका प्रकाशन यदि ब्राह्मणोंसे होता है तो मैं ब्राह्मणोंको छोड़कर और किसको प्रमाम करूँ?

अब आप देखो, इस एक श्लोकमें कितनी बातें कह दी गयी हैं। धर्मसे ही उन्नति होती है और धर्मका प्रकाशन ब्राह्मणोंसे होता है। धर्मकी प्रमा वेदोंसे होती है और वेदोंका प्रकाशन ब्राह्मणोंसे होता है। फिर उन ब्राह्मणोंको छोड़कर और कौन प्रणम्य हो सकता है?

ऋषभदेवजी कहते हैं कि मैं तो ब्राह्मणके मुखसे ही खाता हूँ; क्योंकि यदि वेदार्थं धारण करनेवाले, उसका अनुष्ठान करनेवाले और वेद-वेदान्तके भावको सुरक्षित रखनेवाले आदर नहीं पायेंगे तथा उनकी जीविका नहीं चलेगी तो धर्म एवं ज्ञानकी परम्पराका ही लोप हो जायेगा। इसलिए समाजमें एक वर्ग ऐसा रहना ही चाहिए, जो समाधि लगाये, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे और वेदार्थको धारण करे। उसकी रक्षा पीढ़ी-दर-पीढ़ी होनी ही चाहिए।

ऋषभदेवजी कहते हैं—ब्राह्मण लोग इतने निःस्पृह होते हैं कि वे मुझसे भी कुछ नहीं चाहते। जो निष्काम होता है, उसकी चिन्तनशक्ति विलक्षण होती है। साधारण संसारी लोग इस बातको नहीं जानते। मन ईश्वरमें तभी प्रवेश करता है, जब उसमें संसार-विषयक कामना नहीं रहती। जो निश्चिन्त निष्काम रहकर परमात्माका चिन्तन करते हैं, वे नया-नया रहस्य निकालकर ले आते हैं। मैं तुम लोगोंको यह उपदेश करता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा रूप देखना और सबका सत्कार करना—'तदु हार्हणं मे' (२६) यही मेरी सच्ची पूजा है। सबमें सर्वत्र भगवान्‌को देखकर उनकी पूजा किये बिना ममुष्य कभी कालपाशसे मुक्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार यह अनुशासन देनेके बाद ऋषभदेवजीने अपने सबसे बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक कर दिया और फिर परमहंस धर्मकी शिक्षा देनेके लिए बिल्कुल विरक्त हो गये। उन्होंने अग्निको अपने भीतर कर लिया। इसका अर्थ है कि जैसे वे बाहर अग्निदेवताका आरोप करके उनमें हवन आदि करते थे, वैसे ही अब अपने भीतर करने लगे। उन्होंने देहमात्र रहकर उन्मत्तवत्—नग्नवत् प्रव्रज्या ग्रहण की। उनको लोग देखें तो समझें कि यह पागल है। वे गाँवमें जाते, जङ्गलमें जाते तो संसारी लोग उनको बहुत पीड़ा पहुँचाते। देखो, महात्माओंको संसारमें क्या-क्या सुनना-सहना पड़ता है। परन्तु वे इसमें दुःख कहीं नहीं मानते। कहते हैं कि इसमें हमारी तपस्या और सहनशक्ति बढ़ती है। लोग ऋषभदेवजीपर धूल उठाकर डाल देते, विष्ठा डाल देते, उनको पत्थर मार देते और उनपर अधोवायुका परित्याग कर देते, फिर भी वे महात्मा बुरा नहीं मानते और कहते कि यह शरीर न मैं हूँ और न यह मेरा है।

ऋषभदेवजीका चरणारविन्द बहुत सुकुमार था। उनके मुखपर मुस्कान खेलती रहती। उनको देखकर लोग मोहित हो जाते। यहाँ देखो, कई लोग महात्माओंकी पहचान बताते हुए कहते हैं कि जिसको देखकर मनमें विकार उठना बन्द हो जाये, वही बड़ा महात्मा है। लेकिन यह कोई कसौटी नहीं है, क्योंकि उनको देखकर जो विकार उठता है, वह अपने मनके भीतरसे उठता है, किसी महात्माके भीतरसे उठकर नहीं आता। आपके मनमें यदि विकार भरा होगा, उसका संस्कार होगा तो वह कहीं भी उठ सकता है। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसङ्ग कई बार आया है कि श्रीशुकदेवजी महाराजको देखकर लोग मोहित हो जाते थे और ऋषभदेवजी महाराजके सम्बन्धमें

तो यहीं यह वर्णन है कि वे बहुत ही सुन्दर थे। उनको देखकर स्त्रियोंके मनमें कामोद्दीपन हो जाता था—

विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमान-कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥ ३१

यद्यपि ऋषभदेवजीकी जटा बँध गयी हैं। उनकी लंगोटी भी साफ नहीं। शरीरपर धूल जमी हुई है, लेकिन उनका ऐसा स्वस्थ सौन्दर्य है कि उनको देखकर स्त्रियोंके मनमें काम-वासनाका उदय हो जाता है।

लेकिन स्त्रियोंकी कामवासनाका ऋषभदेवजीपर कोई प्रभाव नहीं था। वे तो अपनेको छिपानेकी बहुत कोशिश करते थे। यहाँतक कि उन्होंने अपनी रहनी अजगरकी तरह बना ली। 'शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति (३२)—वे लेटे-ही-लेते, खा लेते, पी लेते, मल-मूत्र कर देते। लेकिन उनके मल-मूत्रमें दुर्गन्ध नहीं थी, वह अत्यन्त सुगन्धित था और वायु उसे सैकड़ों मीलतक फैला देती थी। ऋषभदेवजी महाराजके पास बहुत-सी सिद्धियाँ आयीं, किन्तु उन्होंने उन सिद्धियोंका अभिनन्दन नहीं किया। महात्मा लोग सिद्धियोंको पसन्द नहीं करते। कठोपनिषद्में कहा गया है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठोप० १.२.२४

तुम्हारे भीतर चाहे जितनी विद्या, बुद्धि हो, पर तुम्हें चार बातें छोड़नेपर ही परमात्माका साक्षात्कार होगा। एक तो तुमको दुश्चरित्रसे अलग होना पड़ेगा, दूसरे तुम्हारे मनमें काम-क्रोधादिकी जो अशान्ति है, वह छोड़नी पड़ेगी, तीसरे मनकी चञ्चलताको दूर भगाना होगा और चौथे सिद्धियोंकी लालसा समाप्त करनी होगी। यदि तुम्हारे पास सिद्धियाँ आने लगीं और तुम उन्हींको देखने लगे तो तुम्हारा मन परमात्माको छोड़कर सिद्धियोंकी ओर चला जायेगा। अतः सिद्धिका परित्याग किये बिना परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता, चाहे मनुष्यमें विद्या-बुद्धि कितनी ही क्यों न हो?

●

राजा परीक्षितजीने पूछा कि भगवन्, जो आत्माराम हो गये हैं और जिन्होंने योगसे ज्ञानाग्निको प्रज्वलित करके कर्मबीजको भून दिया है, उनके पास अगर सिद्धियाँ आ भी जाती हैं तो वे उनमें राग-द्वेष नहीं उत्पन्न कर सकतीं। फिर ऋषभदेवजी महाराजने उनको स्वीकार क्यों नहीं किया ?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, तुम्हारा यह कहना ठीक है कि सिद्धियोंसे महात्माओंका कुछ बिगड़ नहीं सकता, परन्तु जो श्रेष्ठ महापुरुष होते हैं, वे अपने मनका विश्वास नहीं करते, क्योंकि मन बहुत चञ्चल है—'एके न मनसोद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव संगच्छन्ते (२)।

मनकी स्थिति वैसी ही है जैसे कोई कपटी किरात, पहले आकर दोस्ती करले और फिर ठग ले। इसलिए इस चञ्चल मनके साथ सख्य नहीं करना—मैत्री मत जोड़ना। क्योंकि इस मनपर विश्वास करनेसे शङ्करजी-जैसे समर्थ ईश्वर भी धोखा खा गये—

यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥ ३

भगवान् शङ्करने पहले मोहिनीके रूपको देखनेका आग्रह किया, किन्तु उसको देखकर ऐसे मोहित हुए कि उनका भी वीर्य स्खलित हो गया। इसलिए महात्मा लोग अपने मनपर विश्वास नहीं करते। यह मन दुश्मनोंको अपने घरमें बुलाकर रख देता है। जैसे पुंश्चली स्त्री एक ओर तो पतिसे खूब मीठी-मीठी बातें करके उसको फुसलाती है और दूसरी ओर अपने यारसे दोस्ती जोड़ लेती है, वैसा ही यह मन करता है। उसके कारण काम, मन्यु, मद, सब आजाते हैं। इसलिए कभी भी अपने मनपर यह विश्वास करके कि इससे हमारा कोई नुकसान नहीं होगा, सिद्धियोंको स्वीकार नहीं करना चाहिए।

ऋषभदेवजी महाराजने आगे चलकर यह भी दिखाया कि योगियोंको अपने शरीरका परित्याग किस प्रकार करना चाहिए। उन्होंने शान्ति-धारण की। यह अभिमान तो उनमें बिल्कुल था नहीं कि यह शरीर मैं हूँ और यह मेरा है। फिर भी—'अभिमानाभासेन संक्रममाणः (७) अभिमानाभाससे उनका शरीर चलता-फिरता रहता था। कोई भी परमात्माको जान जाये तो वह किस बातका अभिमान करेगा ? ईश्वरके वैभवके सामने अपना क्या वैभव है ? ईश्वरकी लम्बाई-चौड़ाईके सामने अपनी क्या लम्बाई-चौड़ाई है ? ईश्वरके वजनके सामने अपना क्या वजन है ? ईश्वरके ज्ञानके सामने अपना क्या ज्ञान है ? ईश्वरके आनन्दके सामने अपना क्या आनन्द है ? यदि कोई ईश्वरको देखले तो उसके इस नन्हें देहके अन्दर ऐसी कौन विशेषता है, जिसका यह अभिमान करेगा ?

ऋषभदेवजीकी भक्ति दिन-दिन बढ़ने लगी। उन्होंने हजारों वर्षोंतक राज्य करनेके बाद धनका यथाविभाग विभाजन करके सारी सम्पत्ति छोड़ दी। वे कभी कोङ्कवेङ्ककुटक आदि देशोंमें पहुँच गये। वहाँ मुँहमें पत्थरका एक टुकड़ा डालकर अपनी वाणी बन्द कर ली और उन्मत्त नग्न होकर कुटकाचलके वनमें विचरण करने लगे। वहाँ जङ्गलमें बिना किसीके लगाये लग गयी आग और उसमें ऋषभदेवजीका शरीर भस्म हो गया। उन्होंने किसीको लकड़ी इकट्ठा करने, अन्त्येष्टि कर्म करने, यहाँतक कि जमीनमें गाड़ने या पानीमें बहानेका कोई कष्ट नहीं दिया।

उधर अर्हत् नामका एक राजा था। उसने ऋषभदेवजीके नामपर एक पन्थ चलाया। स्वयं ऋषभदेवजी महाराजने कोई पन्थ नहीं चलाया। दूसरे लोग उन्हींके नामसे उनको मानते हैं। ऋषभदेवजीका अवतार रजोगुणी लोगोंको मोक्ष-मार्गकी शिक्षा देनेके लिए था। सारी सप्तद्वीपवती पृथिवीमें उनके यशका गान किया जाता है। लोग कहते हैं कि देखो, प्रियव्रतका वंश कितना उत्तम है जिसमें ऋषभदेवजीने अवतार लिया। भला किस योगीमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह ऋषभदेवजीके मार्गपर मनसे भी चल सके? ऋषभदेवका चरित्र सर्वपापापहारी और परम मङ्गलायतन है। इसका जो श्रवण करता है उसकी भगवान् वासुदेवमें भक्ति हो जाती है।

बड़े-बड़े महापुरुष लोग भगवान्‌की भक्ति चाहते रहते हैं और इसीमें परमानन्दका आस्वादन करते हैं। भक्तिकी इतनी महिमा है कि आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ अपवर्ग भी आकर स्वयं प्राप्त हो जाता है और मोक्ष हाथ जोड़कर कहता है कि महात्माजी, तुम मुझे स्वीकार कर लो, परन्तु वे 'नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैवपरिसमाप्तसर्वार्थाः (९) मोक्षका आदर नहीं करते। कहते हैं कि हम तो भगवान्‌के हो गये, हमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो गयी तथा हमें और कुछ नहीं चाहिए—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥ १८

भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं तो मुक्ति दे देते हैं। कोई राजा किसीपर प्रसन्न होकर उसको जेलसे छोड़ सकता है और यह कह सकता है कि जाओ तुम अपने घरमें रहो, तुमको पेंशन मिलती रहेगी। यह उस राजाके लिए सुगम है। लेकिन वह राजा यदि एक कैदीको कैदसे बाहर निकाले और कहे कि चलो तुम हमारे रनिवासमें रहो और हमारी महारानीकी सेवा करो तो यह साधारण बात नहीं है।

आप स्वयं देखो, जेलसे छोड़ देना—मुक्ति दे देना कठिन है कि स्वरूपानन्दका आस्वादन करा देना कठिन है कि अपने रनिवासमें जाकर उसको अपनी खास सेवामें रख लेना कठिन है? मतलब यह कि भगवान् मुक्ति तो बहुत जल्दी दे देते हैं, लेकिन भक्तियोग सबको नहीं देते।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज ऋषभदेवजीको नमस्कार करके, उनका यह चरित्र पूरा करते हैं।

•

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जब भरत अपने पिता द्वारा पृथिवी-पालनके लिए नियुक्त हुए तो उन्होंने उनकी आज्ञाके अनुसार विश्वरूपकी कन्या पञ्चजनीसे विवाह किया, उससे उनके पाँच पुत्र हुए—सुमती, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु ! उन्हींके नामसे अजनाभ खण्डका नाम भरत खण्ड हुआ।

भरत बहुत धर्मनिष्ठ थे। वे अग्निहोत्र आदिके द्वारा भगवान्‌की आराधना करते थे। और भगवान्‌के अंगोंमें ही, अवयवोंमें ही देवताओंका ध्यान करके हवन करते थे। उनकी भक्ति बढ़ने लगी। बादमें उन्होंने अपने पुत्रोंको राज्य सौंप दिया और सब कुछ छोड़कर भजन करने चले गये।

जिसके मनमें यह रहता है कि अन्तमें सब-कुछ छोड़ देना है, उसको राज्य करते समय भी आसक्ति नहीं होती। जो लोग यह मान लेते हैं कि यहीं भगवान् मिल जायेंगे और उनके लिए कुछ छोड़नेकी जरूरत नहीं, वे तो निष्कामताकी जड़ ही काट देते हैं। जो संन्यासाश्रमके विरोधी हैं, और समझते हैं कि हमें तो घर-गृहस्थीमें निष्काम भावसे काम करते-करते भगवान् मिल जायेगा, उनकी गलती यह है कि जब वे त्याग नहीं करेंगे तब उनमें निष्कामता कहाँसे आयेगी ? जिसके मनमें चतुर्थाश्रम उद्देश्यके रूपमे विद्यमान रहता है, वही द्वितीयाश्रम और तृतीयाश्रममें निष्काम हो सकता है। निष्काम होनेकी पद्धति यह है कि चतुर्थाश्रममें परित्यागका संकल्प मनुष्यके मनमें बना रहे। यदि त्यागका संकल्प नहीं बनेगा तो कोई निष्काम नहीं होगा।

जब भरत अपना सारा राजपाट छोड़कर चले तो पुलहाश्रम पहुँचे। इसी पुलहाश्रमको हरिहरक्षेत्र कहते हैं। आज भी वहाँ भगवान् निवास करते हैं। उसके पास गण्डकी नदी प्रवाहित होती है, जो ऋषि-आश्रमोको पवित्र करती है। उसके दोनों किनारोंपर शालग्राम-शिला प्राप्त होती है। वहाँ जाकर भरत भजन करने लगे। अपने हाथसे अपना सारा काम करते, किसीकी सहायता नहीं लेते। वे भगवान्‌की पूजा करते-करते आनन्द-मग्न हो जाते, उनको परमानन्द आता, उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगते, उनको रोमाञ्च हो जाता और फिर पूजाका भी स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार वे नित्य नियम-पूर्वक भगवत्सेवामें तत्पर रहते। उनके केश त्रिकाल-स्नानके कारण भीगते रहते थे और वे जटाओंमें परिणत हो गये थे। वे मृगचर्म धारण करते और प्रतिदिन सूर्योदयके समय सूर्याभिमुख खड़े होकर हिरण्मय पुरुषका ध्यान करते और इस प्रकार कहते—

परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः॥ १४

भगवान् सूर्यका तेज कर्मफलदायक है, प्रकृतिसे परे है, उसीने इस जगत्‌की उत्पत्ति की है और वही जीवोंकी रक्षा करता हैं। मैं उस बुद्धिप्रवर्तक तेजकी शरण लेता हूँ।

लेकिन देखो, बहुत आराधना करनेपर भी मनुष्यके मनमें विघ्न आ सकता है, इसलिए विघ्नसे सावधान रहना चाहिए।

: ८ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि एक दिन प्रातःकाल राजा भरत सूर्योपासनाके लिए नदीके किनारे बैठे हुए थे। सूर्योपासनाका अर्थ है कि हमारे भौतिक जीवनमें जो प्रकाश है, उसका आदर करना। जो भौतिक जीवनमें प्रकाशका आदर करता है वही आध्यात्मिक जीवनमें ज्ञानका भी आदर करता है। जो प्रकाश देनेवालेको नमस्कार नहीं करता, वह ज्ञानदाताको क्या नमस्कार करेगा ? उसकी अपने गुरुके प्रति भी भक्ति नहीं हो सकती। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय शयन करनेवाला घोर आलसी है और आलस्य मनुष्यकी उन्नतिमें कितना बाधक है, सब जानते हैं। कवियोंने कहा है कि यदि भगवान् श्रीचक्रपाणि भी सूर्योदय और सूर्यास्तके समय शयन करने लगें तो उन्हें लक्ष्मीजी छोड़ देंगी। इसलिए मनुष्यको सूर्योदय और सूर्यास्तके समय अवश्य ही निद्राका—अज्ञानान्धकारका-त्याग करके सूर्यका आदर करना चाहिए। यह हमारी शास्त्रीय पद्धति, शास्त्रीय संस्कृति है।

तो जब भरत स्नान करके नदी-तटपर बैठकर 'ब्रह्माक्षरमभिगृणानः' (१) प्रणव मन्त्रका जप कर रहे थे, तब वहाँ एक हरिणी पानी पीनेके लिए आगयी। वह गर्भवती थी और पानी पी रही थी। इतनेमें एक सिंहने भयंकर गर्जना की। उससे मृगी डर गयी और छलांग लगा दी। छलांग भरनेसे उसका बच्चा नदीमें गिर गया, जो पेटमें था। मृगी बेचारी उस पार गिरी और वहीं मर गयी। उस पर राजा भरतकी नजर पड़ी, उन्होंने सोचा कि मृगी तो मर गयी, उसका बच्चा बचाया जा सके तो अच्छा रहेगा। वे झट नदीमें कूद पड़े और वहाँसे बच्चेको उठा लिया।

देखो, बच्चेको उठानेमें कोई दोष नहीं था और उसकी सेवा-शुश्रूषा करके उसको ठीक कर देनेमें भी कोई दोष नहीं था। लेकिन वह स्वयं तो हो गये थे भगवान्के। मैं भगवान्का हूँ—ऐसा मानते थे। किन्तु यहाँ उन्होंने उस मृगशावकको अपना मान लिया। चाहिए तो यह था कि उसको भी भगवान्का ही मानते। उन्होंने अभिमान कर लिया कि यह मेरा बच्चा है। अब वे प्यारपूर्वक उसका पालन करें, पोषण करें और उसको चूमें-चाटें। जब मनुष्यको किसीसे आसक्ति हो जाती है, तब वह उसको भजन-पूजन नहीं करने देता। वह यही कहता है कि जब तुम हमारे आनेपर भी माला ही फेरते हो, तो तुम्हारा हमसे क्या प्रेम है ? छोड़ो सीताराम, राधेश्याम करना, हमारी ओर देखो, हमसे बात करो, यह जो हरिणी है, वह मनुष्यरूपमें भी होती है।

अब भरत जिस आसनपर बैठे, उसीपर उस बच्चेको भी बैठावें और कहें कि बेटा ! तू भी सन्ध्या-करना सीख। सोयें तो कहें कि बेटा, तू भी हमारे साथ सो जा। टहलने जायँ तो उसको भी साथ ले जायँ। खायें तो अपनी थालीमें खिलायें। उस मृग-बच्चेके साथ भरतका ऐसा स्नेह जुड़ा कि जब पूजाके लिए कुश-पुष्प आदि लेनेके लिए जायें तो उसको भी अपने साथ ले जायँ। उनको यह डर लगा रहता कि इसे कोई भेड़िया न खा जाये। कभी-कभी उसपर ऐसे

मोहित हो जाते कि उसको कन्धेपर लेकर ढोते और कभी गोदमें लेकर खिलाते। कभी सन्ध्या वन्दन कर रहे होते और वह बीचमें आजाता तो उसको प्यार करने लगते और यह देखते रहते कि ठीक बँधा हुआ है कि नहीं ?

लेकिन जब वह हरिणका बच्चा कुछ बड़ा हुआ तो उनको छोड़कर चला गया। उसके लिए यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि प्रेम सजातोयमें ही होता है, विजातीयमें नहीं होता। किन्तु भरतके हृदयमें हरिणके वियोगसे बड़ा भारी सन्ताप हुआ। वे मोहाविष्ट होकर कहने लगे—'हाय रे, हम बड़े अभागे हैं। मुझसे क्या अपराध हुआ जो वह बच्चा मुझे छोड़कर चला गया। मैं सारा राज्य छोड़कर, पत्नी-पुत्र छोड़कर यहाँ आया, मुझे कोई दुःख नहीं हुआ, लेकिन अब हरिणका बच्चा छूटनेपर महान् दुःख हो रहा है। वह दिन कब होगा, जब मैं जसको घास खाते हुए देखूँगा। सूर्यास्त हो गया वह अभीतक नहीं आया। कहीं उसको भेड़िये न खा गये हों ? क्या दह लौटकर अपने सींगसे मेरे शरीरको खुजलायेगा, वह कब आकर कुश-हविष्यको जूठा कर देगा, हम डाँटेंगे तो वह डर जायेगा। जिस पृथिवीपर उसके खुर पड़े होंगे धन्य है वह पृथिवी ! अरे, कहीं चन्द्रमाने मेरे बेटेको चुराकर अपनी गोदमें तो नहीं ले लिया !

इस तरह भरतके मनमें पागलों-जैसी बातें आने लगीं। भगवान्‌की पूजा भूल गयी। उसके स्थानपर हरिणका बच्चा उनको याद आने लगा। अगर विघ्न न होता तो इतने बड़े त्यागी राजाकी एक हरिणके बच्चेमें इतनी आसक्ति कैसे होती ?

अब जब मरनेका समय आया तब भी भरत यही सोचें कि वह बच्चा कहाँ गया ? उसका क्या हुआ ? कोई आहट हो तो समझें कि शायद आगया हो ! इस तरह उसीका चिन्तन करते-करते राजा भरतका देहावसान हो गया और वे अगले जन्ममें हरिण हो गये। लेकिन उन्होंने भगवान्‌की जो बड़ी भारी पूजा की थी, उसकी भी तो कोई महिमा चाहिए। आसक्तिका फल यह हुआ कि हरिणाकार वृत्ति होनेसे वे हरिण हो गये और भगवान्‌की पूजाका फल यह हुआ कि हरिण हो जानेपर भी उनको भगवान्‌की स्मृति बनी रही। उनको यह भी स्मरण रहा कि मैं हरिण क्यों हो गया ? अब वे कहने लगे कि हाय-हाय-मैं एक हरिणके बच्चेसे आसक्ति होनेके कारण भ्रष्ट हो गया। उसके बाद उनको वैराग्य हुआ और वे जिस हरिणी मातासे पैदा हुए थे, उसको छोड़कर कालञ्जर पर्वत होते हुए पुलस्त्याश्रममें आगये। वहाँ कालकी प्रतीक्षा करने लगे कि कब यह शरीर छूटे ?

इससे यह शिक्षा मिलती है कि शरीरको जान-बूझकर नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि जिस शरीरको छोड़नेकी वासना होती है, वही शरीर मनमें फिर आजाता है। इसलिए जैसे समयानुसार फल अपने आप ही पककर गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीर छूट जाये तो ठीक है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मृग-शरीरका परित्याग करनेके बाद भरतका जन्म एक अङ्गिरा-गोत्री ब्राह्मणके घर हुआ, जो आत्मज्ञानानन्दयुक्त था। उस ब्राह्मणकी दो पत्नियाँ थीं। बड़ी पत्नीसे नौ पुत्र थे और छोटी पत्नीसे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ। इनमें जो पुत्र था, वही पूर्व जन्ममें राजा भरत था। राजा भरतने अपने जीवनमें भगवान्‌की इतनी पूजा-उपासना की थी कि उसके प्रभावसे वे मृग-शरीरका परित्याग करके ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न हुए। किन्तु पूर्व जन्मकी स्मृति होनेके कारण, ब्राह्मणवंशी होनेपर भी स्वजनोंकी आसक्तिके भयसे भयभीत रहते थे और अपना सारा समय भगवत्-चरणारविन्दके ध्यानमें लगाते थे। उन्होंने अपनी रहनी ऐसी बना ली कि लोग उनको किसी कामका नहीं समझें, क्योंकि जबतक मनुष्य अपनेको दुनियादारोंके योग्य दिखाता है, तबतक दुनियादार लोग उसको छोड़ते नहीं।

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक महात्माने हिमालयमें तपस्या की। जब उनपर देवता प्रसन्न हुए तब महात्माने उनसे यह वर माँगा कि मेरे पास जो रोगी आयें, उनके रोग दूर हो जायँ। देवताने कहा—बाबाजी! तुम्हें संसारी लोगोंका ज्ञान नहीं है। तुम सब रोग तो क्या दूर करोगे, मैं तुम्हें एक सुखण्डी रोगकी दवा बता देता हूँ। तुम्हारे खूनकी एक बूँद जिसकी नाकमें पड़ जायेगी, उसका सुखण्डी रोग दूर हो जायेगा। अब जब महात्माजी हिमालयसे नीचे उतरे और गाँवके लोगोंको मालूम हुआ कि उनके रक्तकी एक बूँदसे सुखण्डी रोग दूर हो जाता है, तब पहले तो दस-पाँच गाँवोंके लोग अपने-अपने सुखण्डी-रोग-पीड़ित बालकोंको लेकर आये, बादमें ऐसा हल्ला मचा कि लोग सौ-सौ, दो-दो सौ, हजार-हजार बालकोंको लेकर आने लगे। अब बाबाजी घबराये और मना करने लगे कि मेरे शरीरमें इतना खून नहीं है। लेकिन लोग कहाँ मानें! उन्होंने बाबाजीको पेड़से बाँध दिया और सूईसे जगह-जगह छेद करके उनका खून निकालने लगे। इस प्रकार लोगोंने बाबाजीको निचोड़-निचोड़कर उनके खूनसे अपने-अपने बच्चोंके सुखण्डी रोग दूर कर लिये। लेकिन महात्माजी मर गये।

कहनेका मतलब यह है कि दुनियादारोंको जबतक मालूम रहता है कि अमुक आदमीसे हमारा काम निकालेगा, तबतक वे उसके पीछे पड़े रहते हैं और उसको मारे बिना नहीं छोड़ते। इसलिए बाबाजी लोगोंको बहुत चतुराईसे अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।

कुछ लोग एक आदमीको जबर्दस्ती पकड़कर अदालत ले गये और कहा कि हमारे मुकदमेमें गवाही दो। क्योंकि जब हमारी मार-पीट हुई थी तो तुम वहाँ खड़े थे! अदालतने उस आदमीसे पूछा कि तुम उस समय वहाँ मौजूद थे? वह बोला—कि ऐं। फिर अदालतने पूछा कि 'ऐं' क्या होता है, यह बताओ कि लड़ाई हुई या नहीं। लेकिन उस आदमीने यही जवाब दिया कि 'ऐं'। अब अदालतने कह दिया कि यह बहरा है, इसकी अक्ल ठीक नहीं और वह आदमी गवाही देनेसे बच गया।

इसलिए भरत अपनेको जड-अन्ध-बधिर-मूकके समान दिखाने लगे। पिता उनकी हालत देखकर उनको सुसंस्कृत और सुशिक्षित करनेका प्रयास करने लगे। परन्तु बहुत अच्छी शिक्षा-व्यवस्था करनेपर भी भरतको गायत्री-मन्त्र ठीक-ठीक याद नहीं हो सका। कुछ दिनों बाद भरतके पिताका देहान्त हो गया। भाइयोंने सोचा कि इस निकम्मेको खिलाकर हम लोग क्या करेंगे ? चलो इसको खेतके काममें लगा दें ? भरत जब खेतमें काम करने लगे तब वहाँ भी जहाँ ऊँचा करना होता, वहाँ नीचा कर देते और जहाँ नीचा करना होता, वहाँ ऊँचा कर देते। और भी जिस कामपर लगाये जाते, उसे खराब करके ही छोड़ते। जैसा खाना मिलता खा लेते, कभी मृष्ट, कभी कदन्न, कभी जला हुआ, जो भी मिलता उससे गुजर कर लेते। मान-अपमानका कोई विचार नहीं करते। फटा चीथड़ा पहन लेते। शीतोष्ण-वात-वर्षा सब सहन कर लेते। नंगे ही रहते, बड़ा कठोर शरीर हो गया उनका। देखो, जो लोग अपने शरीरको बहुत ढँककर रखते हैं, उनका शरीर सुकुमार हो जाता है। लेकिन यह शरीर बहुत ज्यादा ढँककर रखनेके लिए नहीं है। भरतका यज्ञोपवीत भी मैला रहता। वे अनपढ़ तो थे ही। इसलिए कोई भी उनका आदर नहीं करता।

एक दिन भरत जब खेतमें थे तब डाकुओंके हाथ पड़ गये और वे उनको बलि देनेके लिए देवीके मन्दिरमें ले गये। बलि देनेकी प्रथा डाकुओंमें भी थी। सब युगोमें सब तरहके लोग होते हैं। ऐसा नहीं समझना कि अमुक युगमें अमुक तरहके ही लोग होते हैं। समयका उतना महत्त्व नहीं, जितना महत्त्व मनुष्यकी मनोवृत्तिका है। डाकुओंने बलि-विधिके अनुसार भरतको स्नान कराया, खूब बढ़िया वस्त्र पहनाया, आभूषण धारण कराया, तिलक लगाया, उनकी खूब पूजा की और बाजे-गाजेके साथ उनका जुलूस निकाला। भरत यह देखकर बहुत खुश हुए कि जो काम बाप और भाईने नहीं किया, वह आज ये लोग कर रहे हैं।

अब डाकुओंके पुरोहितने कहा कि इसकी बलि चढ़ा दो। यह सुनकर डाकुओंका सरदार तलवार लेकर काटनेके लिए आया। जब वह काटनेके लिए तैयार हुआ तो देवी भद्रकालीके रूपमें प्रकट हो गयीं। वह अट्टहास करके वहाँ जितने भी डाकू थे, उनके सिर काट-काटकर उनके सिरोंसे गेंदकी तरह खेलने, नाचने तथा विहार करने लगीं।

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्र्येनात्मने फलीति॥ १९

असलमें जो महात्माओंका अपराध करता है, उसका फल अपराध करनेवालेको ही भोगना पड़ता है। जिनके हृदयमें कोई ग्रन्थि नहीं, जो सबके परम सुहृद् हैं, निर्वैर हैं, जिनकी रक्षाके लिए भगवान् चक्रकी नियुक्ति करते हैं, उन विष्णुपदाश्रित महानुभावोंका नाश भला कौन कर सकता है ? इसलिए इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं कि ब्राह्मण देवता छूट गये और डाकू सब-के-सब मारे गये। यह भगवान्‌का खेल है, जो ज्ञानी-अज्ञानी सबके साथ खेलते रहते हैं।

●

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक दिन सिन्ध-सौवीर देशके राजा रहूगण पालकीपर सवार होकर भगवान् कपिलदेवका सत्संग प्राप्त करनेके लिए गङ्गासागर जा रहे थे। मार्गमें इक्षुमती नदीके तटपर शिबिका-वाहकों अर्थात् पालकी ढोनेवालोंमें-से एक शिबिका-वाहक कहीं खो गया। जब उसकी जगह भरनेके लिए दूसरे शिबिका-वाहककी तलाश होने लगी, तब दैवयोगसे उन्हें यही भरत मिल गये। वे बड़े मोटे ताजे तो थे ही। लोगोंने सोचा कि यह आदमी तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट और गँठीले अंगोंवाला है—'पीवा युवा संहननाङ्गः'।

देखो, कुछ ऐसा लगता है कि जो लोग 'दीनोऽहम्-दीनोऽहम्' बोलते रहते हैं—उनका पेट दबता है, वे दुबले हो जाते हैं और जो 'सोऽहम्-सोऽहम्' बोलते हैं, उनकी छाती चौड़ी हो जाती है। यों तो ज्ञानी भी दुबले और भक्त भी मोटे देखनेमें आते हैं, क्योंकि भगवान्‌को पालन-पोषण करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेय, ऋषभदेव और जड़ भरत आदिका जो वर्णन है, उसमें यही कहा गया है कि वे बड़े स्वस्थ शरीरके थे।

तो जडभरतको देखकर लोगोंने सोचा कि यह तो बैल या गधेके समान भार ढोनेमें समर्थ है। देखो, उस समय वेगारका जमाना तो था ही। ज्योतिषमें भद्रा एक योग होता है, उसको विष्टि भी बोलते हैं। वह बेगार करानेवाला होता है। लोगोंने जड़भरतको जबर्दस्ती पकड़कर पालकी ढोनेमें लगा दिया।

अब जब जड़भरत, पालकी ढोने लगे तो वह टेढी-मेढ़ी हो जाये। उन्होंने कभी पालकी ढोया तो था नहीं। राजाने पालकीमें बैठे-बैठे डाँटा कि अरे, तुमलोग इस तरह क्यों चलते हो? धक्का लगता है। सीधे चलो। कहारोंने कहा कि महाराज, हम पुराने लोग तो बिल्कुल ठीक चल रहे हैं, लेकिन अभी यह जो नया कहार आया है, वही गलती कर रहा है। इस एकके दोषसे ही हम सबपर दोषारोपण हो रहा है।

अब राजाने सोचा कि संसर्ग-दोषका संक्रमण तो होता हो है। इसलिए यदि नये कहारका प्रतीकार नहीं किया तो सब कहारोंकी चाल बिगड़ जायेगी। फिर वे क्रोधमें भरकर जड़भरतसे व्यङ्ग वचन बोलने लगे—क्यों जी, तुम चलते-चलते थक गये हो? क्या तुम अकेले ही बहुत देरसे पालकी ढो रहे हो? तुम तो बहुत मोटे भी नहीं हो! मालूम होता है बूढ़े भी हो गये हो? इस प्रकार राजा रहूगणने वक्रोक्तिसे जड़ भरतका उपहास किया। किन्तु जड़भरतपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे वैसे ही चलते रहे। कोई फर्क ही नहीं पड़ा उनकी चालमें। उन्होंने ऐसा दरसाया, मानो बुरा-भला कुछ समझते ही न हों। इसपर राजा रहूगणको और भी क्रोध आगया और वे बोले कि क्या मेरा तिरस्कार करके तुम मरना चाहते हो?

अब गतगर्व ब्राह्मण देवता जड़भरत बोल पड़े। वे क्यों बोल पड़े? इसपर हमारे एक महापुरुष ऐसा बताते थे कि राजा भरतने अपने जीवनमें जिस हरिण शिशुको पाला था, वह

मरकर सिन्धु-सौवीर देशका वही राजा रहूगण हो गया था जो पालकीपर बैठकर कपिलदेवका सत्संग करने जा रहा था। राजा भरतको तो शरीर छोड़नेके बाद हरिण होना पड़ा, फिर वे जड़-भरत हुए, किन्तु वह हरिण शिशु मरनेके बाद तुरन्त राजा रहूगण हो गया था। राजा भरतके हृदयमें हरिण शिशुके प्रति कहीं-न-कहीं प्रीति अवश्य थी और यह वात्सल्य आगया था कि हम ज्ञानोपदेश करके इसका कल्याण कर दें। इसलिए जड़भरतके मनमें राजा रहूगण-रूप-हरिण शिशुके प्रति जो पूर्व जन्मका स्नेह था, वही ब्रह्मज्ञान बनकर प्रकट हुआ। कालिदासने कहा है कि मनुष्यके भीतर जो रहता है, वह बाहर अवश्य निकल आता है—'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।'

तो जड़भरत बोले कि राजा, जो तुम कह रहे हो, वह सब तुम्हारी दृष्टिसे ठीक है। परन्तु मुझपर तो कोई भार ही नहीं है। यदि कुछ भार है तो वह ढोनेवाले शरीरपर ही है। क्योंकि मैं देहाभिमानसे बिल्कुल रहित हूँ। तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं है कि तुम मोटे नहीं, जवान नहीं, बूढ़े हो गये हो। क्योंकि यह जो मोटापन-पतलापन है, आधि-व्याधि है, भूख-प्यास और जीवन-मरण है—ये सब देहसे सम्बन्धित हैं। देहके साथ, देहाभिमानके साथ जुड़े हुए हैं, और मेरे साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं—

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥ १०

रही बात तुम्हारे स्वामी होने, मेरे सेवक होने और मेरे द्वारा तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी, इसपर तुम स्वयं विचार करो। यदि तुम हमेशा स्वामी हुआ करते और मैं सेवक हुआ करता, तब तो तुम्हारी बात ठीक भी थी। किन्तु इस जन्म-मरणके प्रवाहमें तुम कई बार पालकी-वाहक कहार हो चुके हो और मैं राजा हो चुका हूँ। मैं भी तुमको बहुत बार डाँट चुका हूँ। जब तुम कालके अनादित्वपर ध्यान दोगे तो देखोगे कि उसमें क्या-क्या नहीं हुआ? यह बात कैसे कह सकते हो कि तुम्हीं हमेशा शासक रहोगे और मैं तुम्हारा सेवक रहूँगा? यदि कहीं तुम्हारा राज्य छिन गया और मेरा राज्य हो गया तो क्या मैं तुमको जेलमें नहीं डाल सकता?

कोई किसीका राजा नहीं और कोई किसीकी प्रजा नहीं। अनादि संसारमें सब बदलता रहता है। भेद-बुद्धिका आश्रय अज्ञान ही है। राजा और प्रजाकी जो भेदबुद्धि है, वह केवल व्याव-हारिक है, परमार्थमें बिल्कुल नहीं।

अन्तमें जड़ भरतने कहा—तुम जो आज्ञा देना चाहते हो वह दे सकते हो। किन्तु मैं तो पागल हूँ, अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ। इसलिए यदि तुम मुझको कोई दण्ड दोगे तो वह भी व्यर्थ हो जायेगा। ऐसा कहकर जड़भरत चुपचाप पालकी ढोते रहे।

अब राजा रहूगणने विचार किया कि आखिर यह शिबिका-वाहक कहता क्या है? वे उसके

मुँहसे अनेक योगग्रन्थोंके सम्मत वचन सुनकर पालकीपरसे कूद पड़े, उनके चरणोंपर अपना सिर रख दिया और गर्वहीन होकर बोले—महाराज, आप दत्तात्रेय हैं ? ऋषभदेव हैं कि वामदेव हैं ? कौन हैं ? यहाँ कैसे आये हैं ? मैं इन्द्रके वज्रसे नहीं डरता, शंकरके त्रिशूलसे नहीं डरता और यमराजके दण्डसे भी नहीं डरता। डरता हूँ केवल इस बातसे कि कहीं किसी ब्राह्मण-वंशका अपमान मेरे द्वारा न हो जाये। आप असंग हैं और आपका विज्ञान अनन्त है, अपार है। आपके वचनोंमें तो योगका सार-सार मिला हुआ है। मैं आपके वचनोंको काट नहीं सकता। मैं तो जा रहा हूँ कपिलदेवजीके पास ज्ञान सीखनेके लिए। लगता है कि कहीं आपके रूपमें वे ही तो मुझपर कृपा करने नहीं आगये।

महाराज ! आप मुझे अपना स्वरूप बताइये। आप कहते हो कि मुझे पालकी ढोनेका परिश्रम नहीं। मैं तो इस मिथ्या बातको भी सच्ची मानता हूँ, क्योंकि यह देखनेमें आता है कि मृत्तिकाकी दृष्टिसे घट बिल्कुल मिथ्या है—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'में (छान्दोग्य ६.१.४) श्रुतिने साफ-साफ कह दिया कि केवल मृत्तिका ही सत्य है—वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, (छा० ६.१.४) न घटका मृत्तिका-कालसे अलग काल है, न मृत्तिका-देशसे अलग देश है, न मृत्तिकासे अलग घटका वजन है। जो आकृति और आभास हैं वे अधिष्ठानसे जुदा होते ही नहीं। ऐसी स्थितिमें भी घड़ा देखनेमें आता है और उसमें पानी भरा जाता है। कुछ लोग अर्थक्रियाकारित्व जैसा मानते हैं। मिट्टीसे पैसा नहीं मिलेगा, घड़ेसे पैसा मिलेगा। घड़ेसे पानी भरकर ले आयेंगे तो उससे प्यास बुझ जायेगी पर मिट्टीसे तो पानी भरकर नहीं आता ! हम देखते हैं कि जिसको मिथ्या कहा जाता है उसमें भी अर्थकारित्व है।

आप कहते हैं कि मुझमें उपाधिके धर्म नहीं हैं, लेकिन उपाधिके धर्म भी तो देखनेमें आते हैं। उपाधि शब्दका अर्थ यही तो होता है कि जो उप अर्थात् अपने पासवाली वस्तुमें अपने गुणका आधि अर्थात् आधान करे। जैसे जपाकुसुम स्फटिकके पास रहकर स्फटिकको रंगीन बना देता है तो जपाकुसुम उपाधि अवश्य है, किन्तु स्फटिकसे बाहरकी वस्तु है, वैसे ही उपाधिके धर्म हमारे अन्दर नहीं हैं। लेकिन हम देखते हैं कि जब बटलोहीको आगपर चढ़ा देते हैं तो पहले बटलोही गर्म होती है, फिर उसका पानी गर्म हो जाता है, फिर दूध गर्म हो जाता है, फिर उसमें डाला हुआ चावल भी गर्म हो जाता है और वह पक जाता है, गर्मी बटलोहीकी होती है, पानीकी होती है और पका देती है चावलको। इसी प्रकार यदि गर्मीसे शरीरपर कोई ताप आता है तो इन्द्रिय, प्राण, मन ये भी तप्त हो जाते हैं। असलमें जो भगवान्‌का सच्चा भक्त होता है, उसको यह अभिमान नहीं होता कि मैं भोक्ता हूँ, मैं रक्षक हूँ। मैंने राजापनेके अभिमानमें आकर आप-जैसे सन्तका तिरस्कार किया है। आप बड़े आर्त-बन्धु हैं, मुझपर मैत्री-दृष्टि कीजिये, जिससे कि सत्पुरुषके तिरस्कारका जो अपराध मुझे लगा है वह दूर हो जाये।

कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो यथा तरे सदवध्यानमंहः। २४

देखो, पहलेके महापुरुष सामनेवालेको दो-चार खरी-खोटी बातें सुना देते थे और फिर देखते थे कि इसके अन्दर सहन-शक्ति है कि नहीं और यह विनयी है कि नहीं, निरभिमान है कि नहीं। वे अपनी विद्या-बुद्धि दिखानेके लिए कुछ नहीं बोलते थे। सामनेवाला समझ जाये, इसके लिए बोलते थे।

हमारे एक संन्यासी मित्र काशीमें रहते हैं। एक दिन उन्होंने कहा कि हम पुराण पढ़ते हैं तो हमारी समझमें आजाता है, लेकिन आजकलके किसी कविकी कविता पढ़ते हैं तो हमारी समझमें नहीं आता। इसका क्या कारण है ? मैंने कहा—हमारे ऋषि-महर्षि इसलिए लिखा करते थे कि पाठक समझ जायँ और उसके अनुसार आचरण करें ? लेकिन आजकलके लोग इसलिए लिखते हैं कि पाठक समझे यह बड़ा भारी विद्वान् है, बुद्धिमान् है। आजकलके लोग अपना महत्त्व प्रकट करनेके लिए लिखते हैं, बातको समझाने और जीवनमें उतारनेके लिए नहीं लिखते।

तो जैसा कि कहा, पहलेके महात्मा लोग डाँट-डपटकर और ठोंक-पीटकर यह देख लेते थे कि सामनेवाला अधिकारी है कि नहीं ? एक बार मुक्ताबाईने कुम्हारकी थापी उठायी और महात्माओंकी पीठपर थाप दे-देकर उनकी परीक्षा करनी शुरू कर दी। नामदेवने कहा कि यह क्या करती हो ? इस तरह कहीं महात्माओंकी परीक्षा होती है ? मुक्ताबाई बोली कि इतने सारे महात्माओंमें यही एक कच्चा है और सब पक्के घड़े हैं।

जड़भरतने कहा कि 'अकोविदः कोविदवादवादान्' (१) राजा तू मूर्ख है लेकिन पण्डितोंकी-सी बात करता है। तेरी समझमें तो कुछ आता नहीं, एक ओर तत्त्वकी चर्चा करता है और दूसरी ओर व्यवहारकी बात करता है—

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति। १

लेकिन पहले यह तो निर्णय कर लो कि तुमको सोनेकी सच्ची पहचान करनी है या कंगन खरीदकर हाथमें पहनना है ? कंगनको हाथमें पहनना हो तो उसकी डिजाइन देखो, उसका पानी देखो और यदि सच्चे सोनेको पहचानना हो तो कंगनकी शक्ल-सूरतमें न जाकर, उस शक्ल-सूरतसे परे जो सोना तत्त्व है, उसको पहचानो। व्यवहार कंगन-शक्लका है और तत्त्वज्ञान वस्तु-तत्त्वका है। असलमें जो लोग भोगवादी कर्मकाण्डी होते हैं, वे शुद्ध तत्त्वज्ञानकी चर्चा नहीं करते। जिनके मनमें संसारको स्वप्नवत्, भानमात्र समझकर उसके व्यवहारके प्रति वैराग्य नहीं होता, वे चाहे जितना भी वेद पढ़ जायँ, उनको वेदवाणी अपना अर्थ देती ही नहीं—

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्गरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमित स्वयं स्यात्॥ २

एकबार काशीके एक विद्वान् मिले, और वे बोले महाराज, वेदान्त-शास्त्रकी ऐसी कोई पङ्क्ति नहीं, जिसका मैं अर्थ नहीं कर सकता। वेदान्त-विषयक ऐसी कोई शङ्का नहीं, जिसका

मैं समाधान नहीं कर सकता। लेकिन जमाई बाबूके मर जानेपर मुझको जो दुःख हो रहा है, उसको मैं नहीं टाल सकता। मैं केवल वेद-मन्त्र जानता हूँ, वेदान्तकी पङ्क्तियोंको समझता हूँ, किन्तु शोक-निवारणकी सामर्थ्य मुझमें नहीं। आप मुझे इस शोकसे परे पहुँचा दीजिये, मैं इससे परे जाना चाहता हूँ।

कहनेका मतलब यह है कि पढ़ा-लिखा मात्र होनेसे ही काम नहीं बनता। यह जानकारी होनी चाहिए कि मनुष्यका मन सुख-दुःख एवं इन्द्रियोंके कर्मका विस्तार और नये-नये शरीरका उत्पादन करता रहता है। सारा-का-सारा सुख-दुःख मनीरामका ही खेल है। जबतक मनुष्यका मन विषयोंके प्रेममें, अनुरागमें डूबा हुआ है, तबतक उसे दुःखकी प्राप्ति होती है। जब उसमें विषयपरायणता नहीं रहती और उसका मन विषय-चिन्तन छोड़ देता है तब वह क्षेमका अधिकारी हो जाता है। जबतक दीयेमें घी और बत्ती है, तबतक उसमें-से धूआँ निकलता रहता है और जब घी-बत्ती कुछ नहीं रहती, तो अग्नि बुझकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। शरीरमें पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन, इन सबको मिलाकर ग्यारह वृत्तियाँ हैं। गन्ध आदि ज्ञानेन्द्रियोके विषय हैं, गति-सम्भोग आदि, कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं और ये सब मनमें ही होते हैं। ये सारे चाहे वे सौ हों, हजार हों, करोड़ हों—'मनसो विकाराः' मनके विकार हैं, अविद्यासे रचित हैं। कभी आविर्हित होते हैं, कभी तिरोहित होते हैं, विचारवान् पुरुष इनको मायाका खेल समझता है। क्षेत्रज्ञ दो प्रकारका है—एक त्वं पदार्थरूप जीव है और दूसरा तत्पदार्थरूप ईश्वर है। ईश्वर स्वयं-ज्योति है, सम्पूर्ण जीवोंका नियन्ता, नारायण भगवान् वासुदेव है। वह सबके हृदयोंमें आत्माके रूपमें प्रविष्ट है। जब जीवरूप क्षेत्रज्ञ ईश्वरकी मायामें न फँसकर ईश्वरको जान लेता है, तब इस परिभ्रमणसे छूट जाता है। जबतक ईश्वरमें उसकी दृष्टि नहीं जाती, वह उपाधिभूत संसारमें, मायाके खेलमें ही भटकता रहता है, तबतक उसको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। हरि-गुरु-चरणोपासना ही इसकी ओषधि है :

गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्। १७

इसलिए हरि-गुरुकी चरणोपासना करके मनीरामको ही जरा ठीक-ठीक करलो और फिर सब अपने-आप ठीक हो जायेगा।

देखो, जबतक गुरुमें ईश्वर-बुद्धि नहीं होगी, तबतक कोई अपने आपको ही परमात्मा अनुभव करना चाहे तो उसका यह ख्याल स्वप्नवत् ही होगा। जिसका गुरु ही परमात्मा नहीं, हुआ, वह अपने जीवनमें कैसे परमात्मा हो सकता है ? जो गुरु वह हरि, जो हरि वह गुरु। उनके चरणोंकी उपासना ही असल है। उससे मनोरूप शत्रुको मार दो। आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध ही है।

: १२ :

राजा रहूगणने कहा कि महाराज, आपने मुझे ज्ञानोपदेश करनेके लिए ही यह शरीर धारण किया है। आप तो परमानन्दरूप ईश्वर हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ—

नमो नमः कारणविग्रहाय। १

यहाँ देखो, हम जानते हैं कि जडभरत पूर्व जन्ममें हरिण थे और उससे पूर्व जन्ममें राजा भरत थे। लेकिन रहूगण जड़भरतसे कहते हैं कि आप साक्षात् परमात्मा हैं और मुझे उपदेश करनेके लिए स्वयं भगवान्‌ने ही आपका रूप ग्रहण किया है। आप तो गूढ साक्षात् परमानन्द-स्वरूप अनुभव ही हैं।

यही शिष्यकी दृष्टि है। यदि शालग्रामकी शिलामें तुमको परमेश्वर नहीं दीखता तो गली-गलीके पत्थरमें कभी दीखेगा? कभी नहीं दीखेगा। यदि गङ्गाजलमें परमात्मा नहीं दीखेगा तो कुएँके जलमें क्या कभी परमात्मा दीखेगा? कभी नहीं दीखेगा। महात्मामें यदि परमात्मा नहीं दीखेगा तो कभी पापीमें परमात्मा दीखेगा? कहनेका अभिप्राय यह है कि अपनी दृष्टि शुद्ध रखनी चाहिए।

रहूगणने कहा कि जैसे ज्वर-पीड़ित रोगीके लिए औषध और गर्मीसे तपे हुएके लिए शीतल जल अमृततुल्य होता है, वैसे ही देहाभिमान-रूप सर्पसे डँसे हुए लोगोंके लिए आपके वचन अमृत-तुल्य हैं। इसलिए मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आपने जो उपदेश दिया है, उसको सरल करके समझाइये, क्योंकि मैं उसे समझना चाहता हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि क्रियाका फल बिल्कुल दृश्यमान है, किन्तु आप कहते हैं कि यह व्यवहार है, सत्य नहीं है और मैं तत्त्वज्ञानके योग्य नहीं हूँ। इसलिए मेरा मन डाँवाडोल है। उसमें कभी यह बात आती है, कभी वह बात आती है। वह नदीके दोनों किनारोंपर विचरण करता रहता है। आप कृपा करके बताइये कि सत्य क्या है?

जड़भरतने कहा—देखो राजा, मनुष्य क्या है? यह पृथिवीका विकार ही तो है। हमारे शरीरके नीचे दो पाँव हैं, उनके ऊपर टखने हैं, टखनोंके ऊपर घुटने हैं, घुटनोंके ऊपर जंघें हैं। जाँघोंपर कमर है, फिर क्रमशः पेट है, कन्धे हैं, कन्धोंपर लकड़ीकी एक पालकी रखी हुई है और उसमें बैठकर तुम यह सोच रहे हो कि मैं राजा हूँ। यह सब क्या है? यदि इसप्रकार विचार

करोगे तो पाओगे कि माटीपर एक और माटीका लौंदा वैठा है और वह अपनेको राजा मान रहा है। परन्तु है सब माटी ही।

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घाजानूरुमध्योरशिरोधरांसाः॥ ५

यह सब शोचनीय नहीं तो और क्या है? तुम समझते हो कि जो पालकी ढो रहा है, वह नौकर है और तुम राजा हो। लेकिन यह बात केवल बकवास ही है, विद्वानोंकी सभामें शोभा पाने योग्य नहीं है। अरे; यह पालकी और तुम्हारे-हमारे शरीर सब-के-सब मिट्टीसे ही निकले हैं और मिट्टीमें ही मिल जायेंगे। केवल नाम ही इसके अलग-अलग हैं और यही व्यवहारका मूल है—

तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्। ८

अब परमाणुओंकी बात सुन लो। यदि परमाणुवादी लोग शास्त्रार्थ करने बैठ जायें तो उनके अवच्छेदकावच्छिन्नके सामने जल्दी कोई टिकेगा नहीं। लेकिन परमाणु अलग-अलग भी हैं, और निरंश भी हैं, संयोग भी हैं; निरवयव भी हैं। दो परमाणुओंके संयोगसे अणुकी उत्पत्ति होती है। लेकिन उनका संयोग कहाँ होता है? किस दिशामें संयोग होता है? यदि संयोग होता है तो वे निरवयव कैसे रहे?

असलमें सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उनकी कल्पना की जाती है। 'अविद्यया मनसा कल्पितास्ते' (९) परमतत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण मनसे परमाणुओंकी कल्पना की जाती है। फिर उन्हीं परमाणुओंका मिल-मिलकर संयोग होता है। यदि विचार करें कि एक निरवयव परमाणुका दूसरे निरवयव परमाणुके साथ कैसे संयोग होता होगा, दोनोंके मेलसे एक बड़ी चीज कैसे बन जाती होगी, तो यह कभी कल्पनामें आयेगा ही नहीं। इसी प्रकार संसारमें जितने भी स्थूल, अणु, बृहद्, असत्, सत्, जीव, अजीव, द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल, कर्म आदि हैं, वे सब महामाया अजा शक्तिके बेटे हैं—'नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्' (१०)। ये सब ऐसी शक्तिके बेटे हैं जो कभी पैदा नहीं हुए, जिसने कभी धरतीपर पाँव ही नहीं रखा। इसलिए ज्ञान विशुद्ध है, विशुद्ध माने ज्ञाता और ज्ञेयके सम्बन्धसे रहित। वह परमार्थ है, एक है, अनन्तर है अर्थात् उसमें बाहर-भीतरका दोष नहीं है, सत्य है अर्थात् उसमें काल-भेद भी नहीं, प्रत्यक् है अर्थात् अपना आप ही है और सारा व्यवहार होनेपर भी वह बिल्कुल शान्त है। इसीको भगवान् वासुदेव कहते हैं।

आगे जड़भरतने बताया—रहूगण, तपस्या, यज्ञ, गृह, वेदपाठ आदिसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है महापुरुषोंकी चरणधूलिमें बारम्बार लोट-पोट होना। 'विना महत्पादरजोऽभिषेकम्' (१२)—महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें अभिषिक्त हुए बिना उसकी प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है।

यदि कहो कि महापुरुषोंके चरणोंकी धूलि मिलती कहाँ है तो इसकी पहचान यही है कि जहाँ-जहाँ महापुरुष होते हैं वहाँ-वहाँ उत्तमश्लोक भगवान्‌का गुणानुवाद होता रहता है। भगवद्-गुणानुवाद ऐसा है कि उसके बिना प्राकृत गुणोंकी निवृत्ति नहीं होती। उससे ग्राम्य-कथाओंका विघात हो जाता है—'प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः' (१३)। देखो, यहाँ ग्राम्य शब्दका प्रयोग गाँवका तिरस्कार करनेके लिए नहीं है। ग्राम्य अर्थात् इन्द्रियग्राम। हमारे इन्द्रियग्रामके भोगोंकी चर्चाको ही 'ग्राम्यकथा' कहते हैं। जब भगवद्‌गुणानुवादका सेवन किया जाता है, तब मनुष्यकी बुद्धि ग्राम्यकथा अर्थात् भोगोंसे विरत होकर सती हो जाती है और भगवान्‌में लग जाती है।

अन्तमें जड़भरत फूट पड़े और उन्होंने रहूगणको अपना परिचय दे ही दिया—'अहं पुरा भरतो नाम राजा' (१४)।

यहाँ एक प्रसंग याद आगया। अमृतसरमें गुरुद्वारेके सामने एक फटे-पुराने, चीथड़े लपेटे, धूलि-धूसरित महात्मा रहा करते थे। उस स्थानपर बड़े-बड़े विद्वान् बैठकर विद्यार्थियोंको अद्वैत-सिद्धि, खण्डन-खण्ड-खाद्य आदि वेदान्त-ग्रन्थ पढ़ाया करते थे। उनके पास महात्मा भी आकर बैठ जाते। लोग समझते कि यह कोई गरीब है—फक्कड़ है या भिखमंगा है। एक दिन पण्डितजी अद्वैत-सिद्धि पढ़ा रहे थे। उसमें एक पंक्ति ऐसी थी, जिसका अर्थ पण्डितजीको नहीं लग रहा था। बादमें उन्होंने विद्यार्थियोंको अशुद्ध अर्थ पढ़ा दिया। अब उस महात्मासे नहीं रहा गया और उन्होंने कह दिया कि पण्डितजी, इसका अर्थ ऐसा नहीं, ऐसा है। अब तो पण्डितजी अवाक् हो गये—और झट उनके चरणोंमें गिर पड़े। बोले कि महाराज, जिस पंक्तिका अर्थ मुझे नहीं लग रहा था, वह आपने बता दिया। महात्माने कहा बता तो दिया, लेकिन अब अमृतसरमें मेरा रहना छूट गया। नमस्कार है आप सबको, मैं जाता हूँ। फिर वे महात्मा अमृतसरमें कभी लौटकर नहीं आये। क्योंकि लोग तो पहचान गये कि ये विद्वान् हैं।

इसी तरह जड़भरतके मुँहसे निकल गया कि मैं पहले भरत नामका राजा था, सम्राट् था, जिसके नामसे यह भारत वर्ष है। मुझे कहीं आसक्ति नहीं थी। आराधना करते-करते एक हरिणसे आसक्ति हो गयी और मैं मृग बन गया। किन्तु भगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे मृगदेहमें भी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही। अब मैं लोगोंके संगसे डरता हूँ, इसलिए अपनेको ढककर रखता हूँ, खुला नहीं रहता। 'अविवृतश्चरामि' (१५) विवृत होकर विचरण नहीं करता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह असंग पुरुषोंके सुसंगसे जो ज्ञानकी तलवार मिलती है, उसको प्राप्त करके मोहको काट दे और भगवान्‌की लीला-कथाका श्रवण करता रहे। इससे स्मृतिकी प्राप्ति होती है और संसारका मार्ग समाप्त हो जाता है।

●

: १३ :

जड़भरतने आगे कहा—राजा रहूगण देखो, यह जीव-समूह मायाके कारण एक दुस्तर स्थानपर पहुँच गया है, जैसे किसी जंगलमें कोई पूरा-का-पूरा काफिला ही भटक जाये। यही स्थिति इस भवाटवी-जीवनमें हो गयी है। भवाटवी माने संसारका जंगल। इसमें बड़े-बड़े दस्यु हैं जो इसके धनको लूट लेते हैं। जहाँ जो दारापत्य आदि सगे-सम्बन्धी हैं, वे तो शृगालाधिपतियोंके समान हैं और जैसे भेड़िया भेड़को खींचता है वैसे ही वे जीवको इधर-उधर घसीटते हैं—'यथोरणं वृकाः' (२)। इसमें बड़ी-बड़ी मृगमरीचिकाएँ हैं। जो चीज है ही नहीं, वह मालूम पड़ती है। यहाँ कहीं दुश्मन तो कहीं दोस्त दिखायी पड़ता है, कहीं यह रिश्ता, तो कहीं वह नाता मालूम पड़ता है। कहीं पिशाच दिखाई पड़ते हैं और कहीं धूल उड़ती हुई मालूम पड़ती है। इसी तरह कहीं भूख, कहीं प्यास लगती है। कहीं नदीमें डूबना होता है, कहीं दावानलकी प्राप्ति होती है और कहीं मूर्च्छा आजाती है।

जड़भरत कहते हैं कि इस संसारमें कभी काँटे गड़ते हैं, कभी पहाड़पर चढ़ना पड़ता है, कभी अजगरके मुँहमें जाना पड़ता है, कभी मक्खियाँ ताड़ना करती हैं और कभी परदेशमें जाना पड़ता है। ऐसे-ऐसे अनेक श्रम इसमें करने पड़ते हैं।

यहाँ देखो, श्रम क्या है ? बाहरी वस्तुओंको शुद्ध करनेके लिए श्रम होता है और भीतरकी वस्तुओंको शुद्ध करनेके लिए धर्म होता है। विज्ञान वह होता है, जो एकको अनेक बनाकर दिखा दे और ज्ञान वह होता है, जो बहुतोंको एकमें मिला दे। ज्ञान अनेकसे एककी ओर ले जाता है और विज्ञान एकसे अनेककी ओर ले जाता है। इसी तरह कला प्रकृतिकी अनुकृति है। अनुकरणको ही कला कहते हैं। जैसे किसीने मोर आदि बना दिया तो वह उसकी कला हो गयी।

यहाँ लोग कहते हैं कि यह हमारी धरती है, यह हमारी धरती है, लेकिन वह वास्तवमें कहाँतक ठीक है ? हमने ऐसी-ऐसी जमीनें देखी हैं, जिसपर कभी किसीका तो कभी किसीका स्वामित्व स्थापित हुआ है। एकने कहा कि हमारी, तो दूसरेने कहा कि हमारी। लोग जमीनका व्यापार करते रहते हैं और वह भिन्न-भिन्न लोगोंके हाथोंमें जाती रहती है। इसलिए जब वह बेच देनेपर हमारी नहीं रहती, दूसरेके कब्जा कर लेनेपर हमारी नहीं रहती, हमारे मर जानेपर हमारी नहीं रहती और जो हमारे बापकी नहीं रही, बाल-बच्चोंकी नहीं रही, तो उसमें हमारा क्या है ? उसके लिए लोग नाहक जिद करते रहते हैं। उसमें पारलौकिक सम्बन्ध कहाँ है ? उससे तो बिल्कुल लौकिक सम्बन्ध है और मूर्खतापूर्ण ममता है।

संसारमें कहीं सिंहका डर लगता है, कहीं बाघका डर लगता है, कहीं दूसरे सताते रहते हैं, फिर भी लोग भटकते रहते हैं। जब बहुत सौभाग्य उदित होता है तब यह मनुष्य-जन्म मिलता है।

देखो, यहाँ भवाटवीका वर्णन, जो बड़े विस्तारसे किया गया है, इसका उद्देश्य क्या है ? यही उद्देश्य है कि भवाटवीका वर्णन पढ़कर मनुष्यको वैराग्य हो जाये और वह भगवान्की ओर लगे। वैराग्य हुए बिना भवाटवीसे मुक्ति नहीं मिल सकती और मनुष्य भगवान्की ओर नहीं लग सकता !

जड़भरतने रहूगणको बताया कि तुम इस भवाटवीमें भटकनेसे कैसे मुक्त हो सकते हो ? तुम तो अपने मनके विपरीत करनेवालोंको दण्ड देनेमें लगे हो। इसलिए पहली बात तो यह है कि शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, लड़ाई-झगडा छोड़ दो। दूसरी बात है, सबके प्रति मैत्रीका भाव रखो, तीसरी बात यह है कि कहीं भी अपने आपको आसक्त मत करो और चौथी बात यह है कि भगवान्की सेवा करो। इससे क्या होता है ? यही होता है कि—'हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय' (२०) भगवान्की सेवासे ज्ञानकी तलवारकी शान चढ़ जाती है और उससे भवाटवीको काटकर मनुष्य उसके पार हो जाता है।

अब राजा रहूगणने कहा कि महाराज, निस्सन्देह मनुष्यका जन्म सबसे सुन्दर है। दूसरे जन्मोंमें ऐसा सत्सङ्ग नहीं मिलता। मनुष्य-जन्म ही ऐसा है, जिसमें—'हृषीकेशयशःकृतात्मनां

महात्मनां वः प्रचुरः समागमः' (२१) उन महापुरुषोंका समागम प्राप्त होता है, जिन्होंने हृषीकेशके यशसे अपने आत्माका निर्माण और आत्मसाक्षात्कार कर लिया है। फिर ऐसे महात्माओंका समागम प्राप्त होनेपर उनके चरण-कमलोंकी धूलिसे पापकी निवृत्ति हो जाती है। महात्माओंकी चरण-धूलिमें पाप निवृत्तिका बहुत बड़ा सामर्थ्य है। जो उसको अपने सिरपर लगाता है, उसका अभिमान मिट जाता है। फिर जब अभिमान मिट जाता है, तब अभिमानमें रहनेवाले जितने भी दोष हैं, वे भी मिट जाते हैं। लेकिन—'त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसः' (२२) महापुरुषोंके चरणरेणु-स्पर्शसे केवल सारे पाप ही नहीं निवृत्त हो जाते, भगवान्‌की भक्ति भी मिल जाती है। देखिये न, आपसे मेरा दो घड़ीका मेल हुआ और मेरे मनमें जो अविवेक था, वह नष्ट हो गया। बहुत तर्क-वितर्क होना विवेकका लक्षण नहीं, अविवेकका ही लक्षण है। 'दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः' (२२) अविवेकका मूल दुस्तर्क ही है।

अन्तमें राजा रहूगण कहते हैं कि महाराज, आज पालकी ढोनेवाले कहारके रूपमें मुझे इतना बड़ा महात्मा मिल गया! पता नहीं, महात्मा लोग क्या-क्या खेल खेलते हैं, क्या-क्या नाटक रचते हैं और किन-किन रूपोंमें रहते हैं। इसलिए—

'नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यः' (२३) मेरा महान्‌को नमस्कार है, शिशुको नमस्कार है, युवाको नमस्कार है और बटुको नमस्कार है। क्योंकि महात्मा लोग लिङ्गका, चिह्नका, वेशभूषाका तिरस्कार करके विचरण करते रहते हैं। वे लिङ्ग शरीरका भी तिरस्कार कर देते हैं और बाह्य चिह्नका भी तिरस्कार कर देते हैं। इसलिए कल्याण इसीमें है कि सबको प्रणाम किया जाय और सबके प्रति सद्भाव रखा जाये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि उत्तरानन्दन परीक्षित, इस प्रकार जड़भरतने राजा रहूगणको उपदेश किया और उसके बाद राजा रहूगणने जड़भरतके चरणारविन्दकी वन्दना की। फिर जड़भरत पृथिवीपर विचरण करने लगे। इधर उनके सत्संगका फल यह मिला कि—

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। २५

राजा रहूगणकी जो अविद्यासे अध्यारोपित देहात्म-बुद्धि थी, उसका उन्होंने परित्याग कर दिया। भगवदाश्रित पुरुषका ऐसा ही अनुभाव है। यह भगवत्प्राप्तिका विलक्षण मार्ग है।

अब राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे प्रार्थना की कि यह विषय ऐसा है कि सुगमतासे सबकी समझमें नहीं आ सकता। इसलिए इसको जरा खुलासा करके समझाइये!

•

: १४ :

शुकदेवजी महाराज जड़भरत द्वारा दिये उपदेशोंका खुलासा करते हुए परीक्षितसे कहते हैं—यह जीवलोक विष्णु भगवान्‌की मायासे मोहित है और इस संसाररूपी जङ्गलमें फँस गया है। इससे निकलनेके लिए केवल भगवद्भक्तिका मार्ग है जिसको जीवलोक ग्रहण नहीं कर पाता। उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी उस धनलोभी वणिक्-समूहकी होती है, जो जङ्गलमें भटक गया हो और जिसको 'हरिगुरुचरणारविन्दमकरन्दानुपदवी' (१) प्राप्त करनेका मार्ग नहीं मिल रहा हो। इस संसार-वनमें छह इन्द्रिय नामके डाकू रहते हैं और मनुष्यके पास जो धन है, उसको विषय-भोगमें छीनकर ले जाते हैं। सगे-सम्बन्धी श्रृगालके समान हैं, जो कुटुम्बीके सर्वस्वका हरण कर लेते हैं।

संसारके लोग मक्खी-मच्छरोंकी तरह चूसते रहते हैं, कभी गन्धर्वनगरके समान परलोकको सच्चा समझकर उसकी ओर जाते हैं, कभी खाने-पीनेमें फँस जाते हैं, कभी सोनेको इकट्ठा करनेमें लग जाते हैं। कभी स्त्रीकी गोदमें अपना सिर रख देते हैं और उस समय बहुत प्रेम उदित होता है, उनको इस बातका पता नहीं चलता कि मर्यादाका अतिक्रमण हो रहा है और देवता लोग देख रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य विषयोंमें भटक जाता है।

इस संसारमें कभी ऐसी-ऐसी बात भी सुननेको मिलती है, जिसको सुनकर कानके पर्दे फट जाते हैं। कभी आदमी पाखण्डियोंके चक्करमें पड़ जाता है और तब रास्ता बिल्कुल ही भूल जाता है। कभी घर दावाग्निके समान लगने लगता है और उससे वैराग्य हो जाता है। कभी क्रोध होता है। कभी राजाके घरमें पकड़कर ले जाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस संसारमें मनुष्य बड़ा भारी दुःख भोग रहा है। लोग समझते हैं कि सो जानेपर बहुत आराम मिलता है, लेकिन निद्रा तो अजगर ही है, जो अपने बन्धनमें लेकर दबोच लेती है। मनुष्यको कभी सच्चा सुख नहीं प्राप्त होता है। दुनियामें लोग एक-दूसरेकी चीजका अपहरण करते रहते हैं। कभी यज्ञदत्तकी चीज विष्णुमित्र ले लेते हैं, कभी विष्णुमित्रकी चीज यज्ञदत्त ले लेते हैं और उसको कोई रोक सकता नहीं। लोग अपना बेचते हैं, दूसरोंका खरीदते हैं और छोटी-छोटी बातोंके लिए लड़ते हैं, वे अपने हृदयकी कीमत नहीं समझते, वस्तुओंकी कीमत समझते हैं।

श्रीहरिबाबाजी महाराज जब कॉलेजमें पढ़ते थे तब एक बार उनपर किसीने कोई दोषा-रोपण कर दिया। मामला प्रिन्सिपलके यहाँ पहुँचा। लोगोंने कहा कि चलो अपील करें और

छूटनेकी कोशिश करें। लेकिन हरिबाबाने अपने विद्यार्थी-जीवनमें ही कहा कि हम सौ, दो सौ रुपये जुर्माना दे देंगे और जल्दी पिण्ड छूट जायेगा। नहीं तो दो-तीन महीनेतक यह मामला चलता रहेगा और इसमें मन लगाना पड़ेगा, हम इस चीजके लिए पैसे दे सकते हैं लेकिन अपना दिल नहीं दे सकते।

संसारके लोगोंमें कभी-कभी दो-दो, पाँच-पाँच आनेके लिए बड़ा भारी द्वेष उपस्थित हो जाता है। काशीमें एक लक्खी चौतरा या लक्खी चबूतरा नामका मुहल्ला है, वह ठठेरी गलीको रानी-कूआँसे मिलाता है। वहाँकी एक हाथ जमीनके लिए प्रिवी कौंसिलतक मुकदमा लड़ा गया। लाख रुपये खर्च हुए। उसमें कितना मन लगा, कितना दिमाग लगा और कितने समयतक परमात्म-चिन्तनसे रहित होना पड़ा, इसका कोई हिसाब नहीं। इस तरह लोग छोटी-छोटी चीजके लिए बड़ी भारी हानि उठाते हैं और आपसमें विद्वेष करते हैं।

जन्म-मरणादिके क्लेश भोगने ही पड़ते हैं। यह पत्नी है, यह अमुक स्त्री है, कभी इसकी दो बातें सुनी और कभी उसकी दो बातें सुनी। इसीमें मनुष्य फँसा रहता है। किन्तु भगवान्‌का कालचक्र हमेशा काम करता रहता है। मनुष्य कभी पाखण्डियोंके चक्करमें पड़कर ब्राह्मणके पास जाता है और वहाँ अपने मनका नहीं मिलता तो शूद्र-कुलके पास चला जाता है। मनुष्यका लक्ष्य बस पेट भरना और स्वच्छन्द रहना हो गया है, मानो विषयोंके लिए ही उसका जीवन हो। लेकिन केवल खाने-पीनेके लिए मनुष्यका जन्म नहीं हुआ। मनुष्यको मौतका पता नहीं चलता। कभी संकटमें फँस जाता है तो उसे बड़ा खेद होता है। कभी वह वित्तके चक्करमें पड़ जाता है और उसपर नाना प्रकारसे आपत्ति-विपत्ति आती रहती हैं। उसको यह मालूम ही नहीं कि इस आपत्ति-विपत्तिसे छूटनेका उपाय वे महात्मा लोग जानते हैं, जो न्यस्तदण्ड उपशमशील उपरतात्मा हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—परीक्षित, राजा भरतके मार्गपर चलना बहुत मुश्किल है, वैसे ही जैसे गरुड़के रास्तेपर मक्खी नहीं चल सकती। उन्होंने जवानीमें सबको छोड़ दिया। उनके पास जन नहीं, धन नहीं, पत्नी नहीं, पुत्र नहीं, किन्तु फिर भी उन्होंने भगवान्‌की सेवा की। जिनको भगवत्सेवामें सुख मिलता है, उनके लिए सब तुच्छ हो जाता है। राजा भरत जिस समय हरिणका शरीर छोड़ने लगे, उस समय भी उनके मखारविन्दसे भगवन्नामका ही उच्चारण हुआ—

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार॥ ४५

अतः यदि भरत-चरित्रमें श्रद्धा हो और उसका श्रवण-श्रावण किया जाये तो उसके फल-स्वरूप मनुष्य आत्माराम हो जाता है और किसी दूसरेसे कोई भी वस्तु नहीं चाहता।

: १५ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भरतके बाद उनके पुत्र सुमति हुए, जो ऋषभकी पदवीके अनुसार चलते थे। लोगोंने यह कहना शुरू कर दिया कि यह बुद्धका अवतार हुआ है। बादमें उनके नामपर पाखण्ड-मार्गकी कल्पना हुई। उनका बहुत बड़ा वंश चला। उनके वंशमें गय नामके भगवदंश महापुरुष प्रकट हुए। उन्होंने भगवान्‌को समर्पित करके ऐसे-ऐसे यज्ञ किये और ऐसा शुद्ध भक्तियोग किया कि लोग देखकर आश्चर्यचकित हो गये। निरभिमान होकर पृथिवीका पालन करते थे। उनके सम्बन्धमें यह गाथा प्रसिद्ध है कि सृष्टिमें राजा गयकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं। दक्ष-कन्याओंने उनका अभिषेक किया था और उन्होंने प्रजाके सारे मनोरथ पूरे कर दिये थे और यह घोषणा कर दी थी कि जिसको जो चाहिए, वह आये और मुझसे ले जाये। वे महानुभाव भगवान्‌की आराधना करते थे। गयके यज्ञमें स्वयं भगवान् ही प्रत्यक्ष प्रकट हुए थे और उन्होंने कहा था कि गय, मैं तुम्हारे यज्ञमें तृप्त हो गया हूँ।

फिर आगे गयका भी वंश चला—चित्ररथ और सुगति आदि उनके पुत्र हुए। अन्तमें प्रियव्रतके वंशमें विरजश्चरमोद्भवः—विरजकी उत्पत्ति हुई। उनकी कीर्तिसे प्रियव्रतका वंश वैसे ही आभूषित हुआ, जैसे विष्णुकी कीर्तिसे देवता-गणोंकी शोभा होती है—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा॥ १६

: १६ :

अब राजा परीक्षित द्वारा भूगोल-खगोल सम्बन्धी प्रश्न प्रस्तुत हुए। उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे कहा—महाराज, आपने पहले भूमण्डलके विस्तारका वर्णन किया है और बताया है कि जहाँतक सूर्य तपते हैं और जहाँतक नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमा दीखते हैं, उतना यह भूगोल है—

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते ॥ १

देखो, शास्त्रोंमें जो परिभाषाएँ दी गयी हैं उनके अनुसार यदि हम विचार करेंगे तब तो सबकी संगति लग जायेगी। प्राचीन वस्तुकी संगति प्राचीन पद्धतिसे ही लगायी जाती है। शास्त्रोंमें जिस परिभाषाके अन्तर्गत कोई बात कही गयी है, उसीके अनुसार उसका निर्णय किया जाता है। जहाँतक इस भूमण्डलकी बात है, इसकी यह परिभाषा आधुनिक दृष्टिसे तो ठीक है कि इसकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी-इतनी हजार मील है, इसका व्यास इतना हजार मील है और इसके ये-ये

नाम, रूप हैं किन्तु भगवान्‌की दृष्टिमें पृथिवी-मण्डल केवल मृत्तिका-निर्मित नहीं है। इसीलिए राजा परीक्षितके शब्दोंमें जहाँतक सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें फैलती हैं, उस सबको हम भूमण्डल कह सकते हैं। इस भूमण्डलमें राजा प्रियव्रतके रथसे निर्मित सात समुद्र और सात द्वीप भी सम्मिलित हैं।

यह बात पहले संक्षेपमें कही जा चुकी है। इसलिए राजा परीक्षित उसका उल्लेख करते हुए प्रमाण और लक्षण इन दोनोंके द्वारा भूमण्डलका निरूपण कराना चाहते हैं क्योंकि 'लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'—लक्षण और प्रमाण दोनोंसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है। लक्षण वस्तुमें रहता है और प्रमाण अपने पास रहता है। प्रमातामें प्रमाण रहता है और प्रमेयमें लक्षण रहता है। प्रमाता प्रमाणके द्वारा प्रमेयका ही अनुसन्धान करना चाहता है, अपना अनुसन्धान नहीं करना चाहता। वह अपने आपको आँखसे देखकर, नाकसे सूँघकर, जीभसे चाटकर अथवा अन्य किसी प्रमाणके द्वारा नहीं जानना चाहता। आप स्वयं देखिये, आपको मालूम है कि आपके अन्दर क्या-क्या स्वाद है? आप मीठे हैं कि चरपरे हैं, कि खट्टे हैं, कि नमकीन हैं? अपने आपको जीभसे चाटकर अथवा अन्य किसी इन्द्रिय द्वारा परीक्षा करनेकी कभी इच्छा ही नहीं होती, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्ति प्रायः अन्य वस्तुके लिए होती है, स्व वस्तुके लिए नहीं होती।

इस संसारकी किसी भी वस्तुको आप दो ही तरहसे पहचान सकते हैं—या तो आपको उस वस्तुका लक्षण ज्ञात हो या उसको आप प्रमाणके द्वारा देखें। उदाहरणके रूपमें आप गायको लें। उसके गलेमें जो ललरी होती है, वह उसका लक्षण और उसका आँखसे दीखना, प्रमाण है। इसीसे प्रमा उत्पन्न होती है और निश्चय होता है कि यह गाय है। इसी तरह और भी किसी वस्तुके सम्बन्धमें हम प्रमाण और लक्षण इन दोनोंके द्वारा ही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए परीक्षित प्रमाण और लक्षणके द्वारा भूमण्डलका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

अब राजा परीक्षितके मनमें यह बात आयी कि मैं भूगोल-खगोलका प्रश्न उठाकर क्या करूँगा? मेरे इष्ट तो भगवान् हैं—आओ, मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरका एक बार दर्शन कर लें। मधुर-मधुर बाँसुरी बजानेवाले, मन्द-मन्द मुस्कुरानेवाले, चितवनसे देखनेवाले, गोपीजनवल्लभ, नन्दनन्दन श्यामसुन्दर कितने मनोहर हैं। आओ, उन्हींका वर्णन करें अथवा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न जो ब्रह्मतत्त्व है, उसका वर्णन करें। इस भूगोल-खगोलके वर्णनमें क्या रखा है? फिर इसका समाधान करते हुए परीक्षित कहते हैं—

भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति ॥ ३

अब आप देखो, प्रश्नकर्ता कितना बुद्धिमान् है। उसने प्रश्नके साथ-साथ अपनी जानकारी भी प्रकट कर दी है। जब हम भगवान्‌के गुणमय स्थूलरूपमें अर्थात् भूगोल-खगोल आदिके रूपमें

मन लगायेंगे तो ये सब देखेंगे कि उनमें भगवान् ही भास रहे हैं, वे सब भगवान्के ही रूप हैं। चन्द्रमा और सूर्य उनकी आँखे हैं, पृथिवी उनका पाँव है, वायु उनका श्वास है और इस सृष्टिमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब भगवान्के शरीरमें ही हैं।

इस प्रकार जब मन भगवान्के गुणमय स्थूल रूपमें लगता है, तब राग-द्वेष-रहित हो जाता है और जब राग-द्वेष-रहित हो जाता है, तब सूक्ष्मतम निर्गुण आत्मज्योतिमें प्रवेश करता है।

देखिये, भागवतकी प्रक्रिया, एक ओर तो भगवान्को आत्म-ज्योति कहा, दूसरी ओर परब्रह्म कहा तथा तीसरी ओर वासुदेव कह दिया। मतलब यह कि जो भगवान् वासुदेव हैं, परब्रह्म हैं और वही परमज्योति हैं—केवल नामका ही भेद है। यदि आप भगवान्के स्थूलरूपमें मन लगायेंगे तब वह सूक्ष्ममें भी लग जायेगा।

देखो, राजा परीक्षित इस समय मुमूर्षु हैं, मरनेके लिए तैयार हैं, चार-पाँच दिनोंमें ही उनको मृत्युका प्रसङ्ग प्राप्त होनेवाला है। इसलिए यह स्थिति भूगोल-खगोलका प्रश्न उठानेकी नहीं है। उनको न तो भूगोल-खगोलका अध्ययन करके प्रोफेसर होना है और न डाक्टरेट प्राप्त करनी है। वे तो उस भूगोल-खगोलको जानना चाहते हैं, जो भगवान्के ज्ञानमें उपयोगी है, ध्यानमें सहायक है और इसी दृष्टिसे यहाँ उसका वर्णन है।

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसावाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेष नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः॥ ४

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, भगवान्की माया, भगवान्के गुण और भगवान्की विभूति अथवा यों कहो कि भगवन्मायाके गुण एवं विभूति या भगवन्मायाके गुणकी विभूति—इसका अन्त मन और वाणी द्वारा कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही उसको देवताकी आयु भी क्यों न मिल जाये। तुमने तो केवल मान और लक्षण द्वारा भूगोल-खगोलको जाननेके लिए प्रश्न किया है, किन्तु मैं नाम, रूप, मान और लक्षण इन चारोंके अनुसार उसकी व्याख्या करता हूँ। क्योंकि नाम-रूप द्वारा ध्यान करनेपर मनुष्यका मन परमात्मामें लग जाता है।

देखो, यह जो जम्बूद्वीप है, जिसमें हम रहते हैं, भूमण्डल रूप, सप्त द्वीपात्मक कमल-कोशके सबसे भीतरका भाग है। क्षीरसागरसे परिवेष्टित जितना भी भू-भाग है, वह सब-का-सब जम्बूद्वीपका ही भाग है। इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमल-पत्रकी भाँति गोलाकार है। इसमें नौ-नौ हजार योजनवाले नौ वर्ष हैं। इनके बीचोबीच इलावृत नामका दसवाँ वर्ष है, जिसके मध्यमें पर्वतोंका राजा मेरु पर्वत है।

यहाँ देखो, गणना करनेका ढंग कैसा है। वह भी जब भगवान्के ध्यानका प्रसंग आता है तब ठीक-ठीक गणना न देकर उसको अनन्तता-सूचक शब्दसे 'अनन्त-अनन्त' कह देते हैं। वास्तवमें इन सान्त गणनाओंका लक्ष्य अनन्त भगवान्की ओर ले जाना ही है। आप देश, काल और वस्तुको

गणनाको लीजिये। आप हरिद्वारसे गङ्गाजीकी धारा देखते हुए हृषीकेश, देवप्रयाग, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी और गोमुखकी ओर पहुँचिये। आपको सृष्टिकी सारी बात भूल जायेगी और आप भगवान्‌की अनन्ततामें खो जायेंगे। इसीको देशकी प्रधानतासे ध्यान करना बोलते हैं। इसी प्रकार कालमें भी अनादि और अनन्तका आश्रय लेकर ध्यान होता है और इसी प्रकार वस्तुमें भी नाम-रूपका परित्याग करते-करते अनाम और अरूपका ध्यान होता है। वृत्तियोंमें भी विषय और इन्द्रियोंका परित्याग करके ध्यान होता है। ये सब ध्यानकी पद्धतियाँ हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इलावृतके दक्षिणमें निषध, हेमकूट, हिमालय, हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत-खण्ड इनके मर्यादाचल हैं। ये पर्वत समुद्रावधि हैं। दो सहस्र योजन इनका विस्तार है। इसी प्रकार अन्य अनेक पर्वत हैं। मेरुकी चतुर्दिशामें मन्दर आदि स्तम्भ पर्वत हैं। उनके भी बड़े-बड़े विस्तार हैं। उनमें चार ह्रद हैं—पयके, मधुके, इक्षुरसके और स्वच्छ जलके। उपदेवता लोग उसका पान करते हैं और योगके ऐश्वर्यको धारण करते हैं। वहाँ देवताओंके चार उद्यान हैं—नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र, ये सब ध्यानके लिए हैं। देवता लोग वहाँ अपनी पत्नियोंके साथ विचरण करते हैं। वहाँ एक आम्रवृक्षसे बड़े-बड़े फल गिरते हैं, जिनके फट जानेपर अरुणोदा नामकी नदी प्रवाहित होती है, जो पूर्वकी ओरसे इलावृतको सींचती है। उसके रसका पान पार्वतीकी दासियाँ करती हैं। इसी प्रकार वहाँ बड़े-बड़े जम्बू-फल गिरते हैं और उसीके आधारपर जम्बूद्वीप नाम पड़ा है। जम्बू-फलके रससे भी जम्बू नामकी नदी प्रवाहित होती है, उससे जाम्बूनद नामका सुवर्ण बनता है, जिसके अलङ्कार देवता लोग धारण करते हैं। वहाँ विशाल कदम्ब वृक्ष हैं, जिसके कोटरोंसे पाँच मधुधाराएँ इलावृत खण्डकी ओर जाती हैं। वहाँ बड़े-बड़े सुन्दर-सुन्दर नद हैं। वहाँकी प्रजा बड़ी विचित्र है, उसको कोई कष्ट नहीं होता। उसमें बीस पर्वत हैं—कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, शिशिर, पतंग आदि। वे सब मेरुमें स्थापित हो गये हैं। मेरुके चारों ओर आठ पर्वत हैं। यह मेरु पर्वत अग्निके समान शोभा प्राप्त करता है। मेरुके शिखरपर ब्रह्मपुरी है। ब्रह्मपुरी स्वर्णसे बनी हुई है। उसके चारों ओर अन्य देवताओंकी पुरियाँ हैं।

●

: १७ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, जब भगवान् विष्णु वामन अवतार ग्रहण करके आये थे, तब उनके पादाङ्गुष्ठ-नखसे ब्रह्माण्ड-कटाहमें विवर बन गया था। उससे निकली भगवच्चरणारविन्दको धोनेवाली धारा ही गङ्गा है, जो ब्रह्माण्डके बाहरसे आकर गिरती है। उससे सब पापोंका नाश हो जाता है। वहाँसे वह फिर ध्रुवमण्डलमें आती है। वे गङ्गाको अपने सिरपर धारण करते हैं। सप्तऋषिलोग गङ्गाके प्रभावको समझते हैं और वे सारा पुरुषार्थ छोड़कर अपने जटाजूटपर गङ्गाजलको ग्रहण करते हैं। इसके बाद गङ्गा चन्द्रमण्डलमें व्याप्त होकर ब्रह्मपुरीमें आती है। वहाँ आकर वह सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इन चार रूपोंमें हो जाती है। फिर वह ब्रह्मसदनसे चलकर गन्धमादनपर आती है, वहाँसे भद्राश्व-खण्डमें पहुँचती है। सीता नामकी नदी, पूर्व समुद्रमें, चक्षु पश्चिम समुद्रमें, भद्रा उत्तर समुद्रमें और अलकनन्दा दक्षिण समुद्रमें प्रवेश करती है। जो लोग इस नदीमें स्नान करते हैं, उनके लिए अश्वमेध, राजसूय-यज्ञका फल दुर्लभ नहीं होता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न खण्डोंमें बहुत-सी नदियाँ हैं।

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ॥ ११

यहाँ देखो, एक बात जो बतायी गयी है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें जो भारतवर्षकी चर्चा है, उसपर ध्यान दो। हमारी जो अगली सन्तति होगी, वह पाकिस्तानवाली भूमिको भारत कहेगी या नहीं कहेगी ? नहीं कहेगी। लेकिन हमारे सामने ही कराँची भारतवर्षमें था, ढाका भारतवर्षमें था, और बर्मा भी भारतवर्षमें ही था। जब विभाजन हुआ तब ये सब भारतवर्षसे निकल गये। इसी तरह जब हम प्राचीन युगपर दृष्टि डालते हैं, तब यह विदित होता है कि आजकलका जितना भी मर्त्यलोक है, वह सारा-का-सारा जम्बूद्वीप है।

एक विद्वान्‌ने इसपर बहुत परिश्रम करके खोज की है। उन्होंने यह बताया है कि आजका सारा विश्व ही पहले भारतवर्षके नामसे प्रसिद्ध था और जो दूसरे वर्ष एवं उपवर्ष हैं, वे सब-के-सब सूक्ष्मरूपमें हैं और भोगस्थान हैं।

केवल भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है—'तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम्' (११)। दूसरे आठ वर्ष, स्वर्गवासी मनुष्योंके जो पुण्यशेष हैं, उनके उपभोगके स्थान हैं और भौम स्वर्ग कहे जाते हैं।

एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते ॥ १२

आजकल सम्पूर्ण पृथिवीपर जितना भी मर्त्यलोक है, मनुष्योंका निवास-स्थान है अथवा पार्थिव भूमि मिलती है, वह सब भारतवर्ष है। कन्याकुमारीसे लेकर हिमालयतकका जो भू-भाग है, वह भारतवर्षका एक खण्ड है।

भारतवर्षका जो वर्णन आता है, उससे यह बात स्पष्ट रूपसे प्रतीत होती है कि यहाँ वेद-शास्त्रको मानकर चलनेवाले चारों प्रकारके वर्णाश्रमी महापुरुष भी रहते थे और वेदशास्त्र तथा पुनर्जन्म एवं पुनर्जन्मको न माननेवाले अवैदिक भी रहते थे। कठोपनिषद्में कहा गया है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ (१.१.२०)

कुछ लोग कहते हैं कि मरनेके बाद जीवात्मा रहता है और कुछ कहते हैं नहीं रहता। कुछ आस्तिक होते हैं, कुछ नास्तिक होते हैं।

भारतखण्डके अतिरिक्त दूसरे खण्डोंमें जो पुरुष हैं, वे नागायुत-बल होते हैं और उनकी दस हजार वर्षकी आयु होती हैं। वहाँ त्रेतायुगके समान काल है। यह सारा-का-सारा भोग-सृष्टिका, सूक्ष्म सृष्टिका वर्णन है।

किन्तु भारतखण्ड वर्णाश्रमियोंका स्थान है। पूर्वोक्त नौ वर्षोंमें भगवान् नारायणकी नौ रूपोंमें पूजा-आराधना होती है और वे अपने चतुर्व्यूहके साथ विराजमान रहते हैं।

यह कथा बादमें आनेवाली है कि इलावृतमें भगवान् शंकर ही एकमात्र हैं। वे परमात्माकी चतुर्मूर्तियोंमें-से तुरीय तामसी मूर्ति संकर्षण-संज्ञक प्रकृतिको अपने पास रखकर उनकी आराधना करते हैं।

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति ॥ १७

भगवान् शंकर कहते हैं—हम सम्पूर्ण ऐश्वर्यके आश्रय भगवान्‌की आराधना करते हैं। वही संसार-सागरसे छुड़ानेवाले हैं। उनकी दृष्टि मायामें कभी भी आसक्त नहीं होती। भला, कौन ऐसा पुरुष है, जो उनका भजन न करे? जो असद्दर्शी है, उनको संकर्षण प्रभु उन्मत्त-सरीखे दिखायी पड़ते हैं। नागपत्नियाँ उनका भजन करती हैं। उनमें कर्तृत्वका नाम नहीं। यह पृथिवी-मण्डल उनके सिरपर सरसोंके दानेके बराबर है। वे विज्ञान-मूर्ति हैं। हम सब उनके अधीन हैं और उनके अनुग्रहसे ही सारी सृष्टि करते हैं।

इस प्रकार भगवान् शंकर इलावृत वर्षमें परमात्माकी पूजा करते हैं और कर्मपर्वणी मायाके

फन्देमें कभी नहीं आते। और जहाँ-जहाँ हम सृष्टिमें देखते हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र भगवान्‌की आराधना होती है। असलमें यह प्रसंग इसीलिए वर्णन किया गया है कि सर्वकालमें, सर्वदेशमें और सर्व-जातिमें जिसने भी कल्याण प्राप्त किया है, उसने भगवान्‌का भजन-ध्यान करके ही कल्याण प्राप्त किया है। मतलब यह कि भगवान्‌का ध्यान किसी एक देशकी वस्तु नहीं, सर्वदेशकी वस्तु है; एक कालकी वस्तु नहीं, सर्वकालकी वस्तु है, और भगवान् एक ही नहीं सबके आराध्य हैं, बद्ध या मुक्त सभी उनकी आराधना कर सकते हैं।

आप एक बातपर साधारण-सा विचार करें। जब प्रान्त और प्रान्तमें लड़ाई होती है, तब हम कहते हैं कि भाई, दोनों एक ही देशके अङ्ग हैं, प्रान्त-प्रान्तमें लड़ाई नहीं होनी चाहिए। फिर जब एक देशकी दूसरे देशसे लड़ाई होती है तब कहते हैं कि सब मनुष्य एक हैं, सारा विश्व एक है, इसमें लड़ाई नहीं होनी चाहिए। उसके बाद आप यह कल्पना करो कि जब ग्रहसे ग्रह लड़ने लगेंगे और ब्रह्माण्डसे ब्रह्माण्ड लड़ने लगेंगे तब लोगोंको समझाने-बुझानेके लिए क्या कहा जायेगा ? उस समय यह कहना पड़ेगा कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें अलग-अलग नाम होनेपर भी, अलग-अलग रूप होनेपर भी और अलग-अलग गुण, स्वभाव होनेपर भी सबके भीतर ईश्वर एक है। सम्पूर्ण अनेकताओंमें जो एक है, सम्पूर्ण जड़ोंमें जो ज्ञानस्वरूप है, सम्पूर्ण सान्तोंमें जो अनन्त है, सम्पूर्ण भेदोंमें जो अभेद है, उस परमात्माकी उपासनाके बिना मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिल सकती, कभी सुख नहीं मिल सकता।

बस, इसी बातको समझानेके लिए खगोल और भूगोलका वर्णन उपलक्षण मात्रके रूपमें है। हमारा और कोई तात्पर्य नहीं है। कोई उसको गलत ढंगसे भी सिद्ध करना चाहे, तो सिद्ध कर सकता है, हमारी मति भले ही उसको ग्रहण न कर सके, परन्तु उससे हमारे मतकी हानि नहीं होती। क्योंकि बिना परमात्माकी आराधनाके, बिना भगवद्भक्तिके, शान्तिका कोई शाश्वत आधार नहीं मिल सकता। सबके भीतर एक ही परमात्मा है और सब जगह उस एककी ही पूजा होती है। अन्तमें भगवान् शंकर कहते हैं—

यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने॥ २४

जिसमें सारी सृष्टि उठती है, रहती है और लीन हो जाती है, उस परमात्माको मैं प्रेमसे नमस्कार करता हूँ।

•

: १८ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, भद्राश्व वर्षमें धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके मुख्य-मुख्य सेवक भगवान्‌की जो हयग्रीव मूर्ति है, उसकी आराधना करते हैं। हयग्रीव भगवान् चतुष्पाद हैं, उनकी धड़ तो मनुष्याकार है किन्तु मुखारविन्द घोड़ेके मुख-सरीखा है। उनकी हिनहिनाहटसे वेद निकलता है। प्रलय कालमें जब वेदको असुर चुरा ले जाता है, तब भगवान् हयग्रीव प्रकट होकर उसकी रक्षा करते हैं।

भद्रश्रवा और उनके सेवक हयग्रीव भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—'आओ, प्रभो ! आओ, हमारे पास खड़े हो आओ ! हम आपकी पूजा करते हैं, आपको नमस्कार करते हैं—

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नमः । २

अहो ! कितनी विचित्र है, भगवान्‌की यह लीला कि लोग मरते जा रहे हैं, एक दूसरेकी मृत्युका कारण बनते जा रहे हैं, यहाँतक कि अपने बापको भी श्मशानपर पहुँचा आते हैं, अपने बेटेको भी श्मशानपर पहुँचा आते हैं, उनकी अन्त्येष्टि क्रिया भी कर आते हैं और खुद जिन्दा रहना चाहते हैं—'निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति (३)।' उनको यह नहीं सूझता कि उन मरनेवालोंकी तरह हम भी मर जायेंगे और वे बुरे काम तथा बुरी वस्तुओंका चिन्तन करते रहते हैं।

प्रभो, बड़े-बड़े विद्वान् कहते हैं कि यह विश्व विनश्वर है और अध्यात्मवेत्ता विश्वकी विनश्वरताको अपनी खुली आँखोंसे देखते भी हैं, परन्तु फिर भी वे मायाके चक्करमें पड़ जाते हैं। आपकी लीला विस्मयकारिणी है, हम आपको नमस्कार करते हैं—'सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि-तम् (४)।' आपका कर्तृत्व आश्चर्यजनक है—आप कर्ता भी हैं, अकर्ता भी हैं, आपमें कार्य-कारण सब कुछ है, आप सर्वात्मा हैं और वस्तुतः सबसे व्यतिरिक्त हैं—'व्यतिरिक्ते च वस्तुतः।' (५) जब युगान्तमें वेद, अज्ञानसे तिरस्कृत हो जाते हैं, तब आप हयग्रीव-रूप धारण करते हैं और वेदको लौटा ले आते हैं। आपको हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।

हरिवर्षमें नरहरि—नृसिंहरूपसे रहते हैं, कितनी विचित्र बात है कि उनका सिर सिंहका और धड़ मनुष्यका है। प्रह्लादजी अपने अनुयायियोंके साथ उनकी आराधना करते हुए इस मन्त्रका जप करते हैं—

ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा। अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठा ॐ क्ष्रौम्॥ ८

प्रह्लादजीकी भावना कितनी पवित्र है, वे प्रार्थना करते हैं—'नाथ, विश्वका कल्याण हो, विश्वका हृदय पवित्र हो, प्राणी परस्पर कल्याणका चिन्तन करें, उनमें एक दूसरेके प्रति सद्भावना हो, उनका मन शुभ वस्तुका ही सेवन करे और बुद्धि निष्काम होकर भगवान्‌में लग जाये।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥ ९

देखो, ये प्रह्लादजीके नारे हैं। वे कहते हैं—भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो। आसक्ति हो तो भगवान्‌के भक्तोंमें ही हो। संसार केवल जीवन-निर्वाहके लिए चाहिए। इन्द्रियोंको तृप्त करके कोई सुखी नहीं हो सकता। भगवान्‌के भक्तोंके संगसे ही भगवान् हृदयमें आते हैं और परम कल्याण करते हैं।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥ १२

जिसके हृदयमें भगवान्‌की अकिञ्चन एवं निष्काम भक्ति है, उसमें सब देवता आकर निवास करते हैं। मतलब यह कि उसमें सब गुण भी आजाते हैं और सब देवता भी आजाते हैं। जो भगवान्‌के भक्त नहीं, उनके जीवनमें महान् गुण नहीं आते। उनका मन छोटी-छोटी वस्तुओंको पकड़कर बैठ जाता है। यदि किसीको मालूम हो जाये कि उसके पास करोड़ो रुपये हैं, तो उसके मनमें आने, दो आनेके लिए कोई जगह नहीं होती। लेकिन छोटे लोग दो-दो, चार-चार आनोंमें ही फँस जाते हैं। जो भगवान्‌का भक्त ही नहीं, उसमें महान् गुण कहाँसे आयेंगे? क्योंकि वह तो मनोरथपर सवार होकर बाहरके विषयोंमें भाग-दौड़ कर रहा है।

निस्सन्देह जो लोग बहुत इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, उनके अन्दर सद्गुण नहीं होते क्योंकि उनके जीवनमें तो यही हलचल रहती है कि यह किया, वह किया, यहाँ गये, वहाँ गये। इसलिए जीवनके लिए शान्ति की, गम्भीरताकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

प्रह्लादने कहा—सबसे प्यारे भगवान् हैं। जैसे मछलीके लिए पानी है, वैसे ही हम सबके लिए भगवान् हैं, क्योंकि वे सबके आत्मा हैं। यदि उन भगवान्‌को छोड़कर मनुष्य संसारी काम धन्धोंमें फँस जाता है, उसकी स्थिति वैसी ही है, जैसी पशु-पक्षीकी होती है। इसलिए जिस कामसे रजोगुण बढ़ता हो, राग होता हो, विषाद होता हो, क्रोध होता हो, अभिमान होता हो,

स्पृहा होती हो, भय होता हो, दीनता आती हो और चिन्ता होती हो, उस कामको छोड़ दो और भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन करो।

नृसिंहपदं भजताऽकुतोभयम्। १४

केतुमाल वर्षमें भगवान् कामदेव-रूपसे रहते हैं। वहाँके लोग दीर्घायु होते हैं और खूब आनन्दसे जीवन व्यतीत करते हैं—

अतीव सुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दर-भ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते॥ १६

वहाँ भगवान् स्वयं लक्ष्मीजीसे आनन्दित होते हैं, तथा उनको भी आनन्द देते हैं। इस प्रकार उन दोनोंमें आनन्द लेने-देनेकी सजातीय समान प्रीति विद्यमान है। फिर भी लक्ष्मीजी भगवान्‌की आराधना करती रहती हैं और कहती हैं—

भगवन्, जो आपकी आराधना करता है, उसके मनोरथ पूर्ण होते हैं। मैं तो आपके चरणारविन्दके सिवा और कुछ जानती नहीं। बस, यही चाहती हूँ कि आपके चरणारविन्द सेवाके लिए प्राप्त होते रहें और आपके कर-कमलोंको मैं अपने मस्तकपर धारण किये रहूँ। वरेण्य, यह आपकी माया ही है कि आप मुझे लक्ष्मके रूपमें अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं—

विभर्षि मां लक्ष्म वरेण्य मायया क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुः। २३

देखो, यहाँ लक्ष्मका अर्थ यह है कि जिसके बिना भगवान्‌की पहचान ही न हो। यदि लक्ष्मीजी वक्षःस्थलपर हों, तब तो समझो कि नारायण हैं, अन्यथा लक्ष्मीजी वक्षःस्थलपर न हों तो समझो कि उनका कोई पार्षद है।

रम्यक वर्षमें भगवान्‌का प्रियतम अवतार मत्स्य रहता है और वहाँ मनुजी बड़ी भक्तिसे उसकी आरधना करते रहते हैं।

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे बलाय महामत्स्याय नमः। २५

इस प्रकार कहकर मनुजी मस्य भगवान्‌को नमस्कार करते हैं और स्तुति करते हैं कि जैसे कठपुतली नचायी जाती है, वैसे ही आप सारी सृष्टिको नचाते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥

जितने भी लोकपाल हैं वे सब अलग-अलग तथा एक साथ मिलकर भी आपकी ही आराधना करते हैं। जब यह पृथिवी प्रलयके समय अपने अवयवोंके साथ जलमें लीन हो जाती है तब आप उसकी रक्षा करते हैं।

हिरण्मयवर्षमें भगवान् कच्छपके रूपमें निवास करते हुए—'ॐ नमो भगवते अकूपाराय'०

(३०) मन्त्रका जप करते हैं। वे स्तुति करते हुए कहते हैं कि यह जगत्का जो रूप आपके भीतर दिखायी पड़ रहा है, उसको आपकी मायाने ही आपमें अर्पित किया है—'यद्रूपमेतन्निज-माययार्पितमर्थस्वरूपम्' (३१)। जैसे कोई जादूगर अपने जादूके खेलमें बहुत सारी चीजें दिखाने लगता है, वैसे ही आप अनेक रूप दिखाते हैं। उन रूपोंकी गिनती कोई नहीं कर सकता, क्योंकि 'अयथोपलम्भनात्' (३१)—सारी उपलब्धियाँ मिथ्या होती हैं। इसलिए—'तस्मै नमस्तेऽव्यपदेश-रूपिणे' (३१) मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपका प्रपञ्चाकार अनिर्वचनीय है। इस सृष्टिमें जितने भी नाम हैं, जैसे जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जङ्गम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृ, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, शैल, सरित्, समुद्र, द्वीप, ग्रह, नक्षत्र आदि वे सब-के-सब आपके ही नाम हैं।

इत्यभिधेय एकः। यस्मिन्नसंख्येयविशेषनामरूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ॥ ३३

आपके नाम, रूप और आकृतियोंकी गणना नहीं हो सकती। विद्वानोंने इसका वर्णन किया है। किन्तु यह सारी संख्या 'तत्त्वदृशापनीयते' (३३)—आपके तत्त्वज्ञानसे ही कट जाती है।

उत्तरकुरुवर्षमें भगवान् वराह रूपमें रहते हैं, वे साक्षात् यज्ञपुरुष हैं। आश्चर्य है कि हैं तो यज्ञपुरुष किन्तु उन्होंने रूप धारण कर लिया वराहका। इसलिए रूप देखकर, वेश देखकर, आकृति देखकर कभी किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिए। वराह-रूपमें स्वयं भगवान् ही अवतरित हैं। पृथिवी देवी कभी स्खलित न होनेवाले भक्तियोगके द्वारा उनकी आराधना करती हैं—

ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः। ३५

पृथिवी कहती है—प्रभो, बड़े-बड़े विद्वान् लोग दृश्यमान जगत्का मन्थन करके इसमें छिपे हुए आपको ढूँढ़ लेते हैं। आप ही सबको प्रेरित करते हैं और संसारमें जो कुछ हो रहा है, उसको करते-कराते हैं। मायाकी आकृति आपका स्पर्श नहीं करती। आप ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। आपनें ही हिरण्याक्षका वध करके जलमें-से मेरा उद्धार किया था, मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

यहाँ आप इसको उपलक्षण समझें। यदि भगवान् जलका मन्थन न करें तो उसमें-से पृथिवी न निकले, अग्नि-मन्थन न करें तो उसमें-से जल न निकले, वायुका मन्थन न करें तो उसमें-से अग्नि न निकले, आकाशका मन्थन न करें तो उसमें-से वायु न निकले और मनका मन्थन न करें तो उसमें-से आकाश न निकले। भगवान्‌ने जलमें प्रवेश करके और हिरण्याक्ष-जैसे भोगी एवं आलसीको मारकर वहाँसे पृथिवीको निकाला—इसका अर्थ यही है कि यह सृष्टि जो प्रकाशमें आयी है, वह भलवान्‌की लीला तथा भगवान्‌की क्रियासे ही आयी है।

●

: १६ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजन्, किम्पुरुषवर्षमें लक्ष्मणाग्रज सीता-हृदयाभिराम आदि-पुरुष भगवान् श्रीराम निवास करते हैं। परम भागवत श्री हनुमान्जी उनके चरणोंके सन्निकर्षमें ही रहते हैं और किम्पुरुषोंके साथ अविरत भक्तिसे उनकी उपासना करते हैं। उनकी भक्तिका कभी विराम नहीं होता, उसकी धारा बहती ही रहती है। वे आर्ष्टिषेणके साथ गन्धर्वों द्वारा गायी हुई अपने स्वामीकी परमकल्याणमयी कथा सुनते और गाते रहते हैं।

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मने उपासित-लोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नमः। ३

श्री हनुमान्जी भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—आपके चरित्रका वर्णन वाल्मीकि, अगस्त्य आदि बड़े-बड़े उत्तम पुरुष करते हैं। आपका शील-व्रत आर्य-पुरुषोचित है। आपने अपने आपको अच्छी तरह शिक्षित किया है।

इस संसारमें ऐसे बहुत-से शिक्षक होते हैं जो दूसरोंको शिक्षा देते हैं—कभी यहाँ प्रचार करते हैं और कभी वहाँ प्रचार करते हैं। लेकिन दूसरोंके लिए शिक्षाका प्रचार करनेवाले यह नहीं देखते कि उन्होंने अपने लिए क्या किया है! अपनी ओर तो उनकी नजर ही नहीं जाती। किन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रने 'उपशिक्षितात्मने' (३) दूसरोंको शिक्षित करनेकी अपेक्षा अपने मनको ही शिक्षा दे-देकर अपना पक्का शिष्य बना लिया है।

'उपासितलोकाय—उपासितो लोको येन।' इसका अर्थ है कि सब लोग तो भगवान् श्रीरामचन्द्रकी आराधना करते हैं, परन्तु स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्र लोकाराधनामें लगे रहते हैं। वे अपने जीवन भर, अवतारकाल-पर्यन्त प्राकट्य अथवा आविर्भावकी अवधितक लोककी आराधना ही करते रहते हैं।

'साधुवादनिकषणाय' (३) जैसे सोनेको कसकर उसकी अच्छाई-बुराईकी जाँच की जाती है, वैसे ही आप अपनी सच्चरित्रताकी परख करना चाहते हैं तो उसको भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरित्रकी कसौटीपर कस लीजिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रका चरित्र साधुत्वका मापदण्ड है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि उनका चरित्र ठीक है या नहीं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् श्री रामचन्द्रके चरित्रके साथ अपने चरित्रको मिला लें।

अतः हनुमान्‌जी ऐसे ब्रह्मण्यदेव महापुरुष महाराज रामचन्द्रको नमस्कार करते हैं और कहते हैं कि वे विशुद्ध-अनुभवमात्र एक हैं। उनमें त्रिगुणकी कोई व्यवस्था ही नहीं है। वे अपने हृदयमें ही प्रत्यक् अर्थात्—हृदयसे विलक्षण हैं :

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

भगवान् श्रीराम प्रशान्त हैं। उनमें 'अनामरूपम्' (४) न नाम है और न रूप है। 'निरहम्' (४) अहं रहित हैं।

यहाँ 'अनामरूपम्'—कहनेसे जगत्‌का निषेध हो गया और 'निरहम्' कहनेसे जीवभावका निषेध हो गया, क्रिया-विक्रियाको निषेध करके प्रत्यक्-चैतन्याभिन्नता हो गयी। 'सुधियोपलभ्मनम्' (४)का तात्पर्य यह है कि वेद-वाक्यजनित प्रज्ञासे, सुधीसे उनकी उपलब्धि होती है।

भगवान् रामका मनुष्यरूप अवतार मर्त्योंको शिक्षा देनेके लिए हैं, केवल राक्षसोंको मारनेके लिए नहीं है। वे यदि न चाहें तो राक्षस पैदा ही न हों, पैदा भी हो जायें तो वे राक्षस न रहें, सत्पुरुष हों।

भगवान् राम आत्माराम हैं, वे लोकको शिक्षण देनेके लिए ही लीला करते हैं, नहीं तो सीताके कारण उनको व्यसन अर्थात् दुःख कहाँसे प्राप्त होता? उनके चरित्रसे दो शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। एक बात तो यही है कि 'सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (५)। दूसरी बात भागवतके नवम स्कन्धमें आयी है, जो विद्वानोंके लिए शिक्षाप्रद है—'स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः'—इसका अर्थ है कि स्त्री, पुरुषका प्रसंग बड़ा दुःखद है। उसके कारण भगवान् श्रीरामको वनमें बड़ा दुःख हुआ, बड़ी लड़ाई करनी पड़ी और बड़ा परिश्रम करना पड़ा।

एक महात्मा सुना रहे थे। जब ऋषि-मुनियोंको भगवान् श्रीरामके पत्नी-समेत वनमें आने और उनके चरणारविन्दके स्पर्शसे पत्थरके स्त्री बननेका पता चला, तब उनके मनमें यह आया

कि हम लोग नाहक ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और इतनी तपस्या करते हैं। अब हम भी उनकी तरह ब्याह करके मौजसे रहेंगे। उन्होंने सोचा कि हम लोग उनके पाँवके नीचे पत्थर रखते जायेंगे, स्त्रियाँ बनती जायेंगी और हम उनसे ब्याह करते जायेंगे। इधर भगवान् श्रीरामचन्द्रने सोचा कि यदि ये ऋषि-मुनि ब्याह कर लेंगे, तो वानप्रस्थ, संन्यास आदिकी मर्यादा टूट जायेगी। इसलिए उन्होंने यह लीला रची कि रावण जानकीजीका हरण करके ले गया और वे उनके वियोगमें रोने लगे। फिर तो महात्मा लोग स्वयं कहने लगे कि चाहे कुछ भी हो जाये, हम लोग ब्याह नहीं करेंगे। क्योंकि ब्याह करनेसे ऐसे-ऐसे कष्ट होते हैं! इस प्रकार भगवान्का अवतार ऋषि-मुनियोंको भी शिक्षा देनेके लिए हुआ।

कोई-कोई 'सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य'का ऐसा भी तात्पर्य निकालते हैं कि जब सीताजीके लिए स्वयं भगवान् भी रोते हैं, तब गृहस्थ अपनी पत्नीसे ऐसा ही प्रेम क्यों न करें? जैसे पत्नी पतिसे बिछुड़ जानेपर रोती है, वैसे ही पतिको भी पत्नीका वियोग होनेपर रोना चाहिए। 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (५) भगवान् रामके अवतारका उद्देश्य मनुष्योंको यही शिक्षा देनेके लिए है कि तुम भी अपनी स्त्रियोंसे ऐसा प्रेम करो, जैसा प्रेम मैंने अपनी पत्नीसे किया है।

भगवान् श्रीराम बड़े संयमी हैं। त्रिलोकीमें कहीं भी उनकी आसक्ति नहीं है, न उन्हें सीताके कारण दुःख हो सकता है। एतद्विषयक उनके चरित्रका लक्ष्य तो लोगोंको केवल शिक्षा देना ही है।

एक बात और, भगवान् श्रीरामचन्द्रकी ऐसी महिमा है कि जन्म, सौभाग्य, वाणी, बुद्धि और आकृति आदि उनके तोषके हेतु नहीं हैं। वे तो उन बन्दरोंपर प्रसन्न होनेवाले हैं, जिनके पास न तो उत्तम कुल है, न सौभाग्य है, न वाणी है, न बुद्धि है और न आकृति है। उन्होंने उन वनवासियोंको अपना सखा बनाया जो दीन हैं, हीन हैं और पतित हैं। ऐसे लोगोंके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रका सहज स्नेह है, आकर्षण है—

श्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयन्द चढ़ाई।
तिर्यनिन्दक मतिमन्द प्रजारज निज नय नगर बसाई॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रका शील, स्वभाव कैसा है? इसका एक उदाहरण देखो। किसी कुत्तेने एक संन्यासीकी शिकायत की तो भगवान् बोले, उनको हाथीपर चढ़ाकर, गाँवसे बाहर कर दो। लेकिन हाथ जोड़कर, आदरके साथ संन्यासीको हाथीपर चढ़ाना। शास्त्रकी दृष्टिसे संन्यासीको हाथीपर नहीं बैठना चाहिए। यदि तुम लोग संन्यासीको हाथीपर बैठा दोगे, तो उसका संन्यास-धर्मके विरुद्ध आचरण होगा और वही उसका दण्ड हो जायेगा।

इसी प्रकार एक धोबीने जानकीजीकी निन्दा की तो भगवान् श्रीरामचन्द्रने उसको

अयोध्याजीमें बसा लिया। भगवान् यह नहीं देखते कि कोई देवता है, दैत्य है, मनुष्य है या वानर है। जो उनकी शरण ग्रहण करता है, उसको अभयदान मिल जाता है। उनकी शरण ग्रहण करनेमें अधिकार बाधक नहीं है, शबरी भी उनकी शरणागतिकी अधिकारिणी है। गोस्वामी तुलसीदासकृत विनयपत्रिकाका यह पद प्रसिद्ध है—

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनि की, रुचि माधुरी न पाई॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र घरमें भोजन कर रहे हैं। माता कौशल्या पूछती हैं कि बेटा, भोजन ठीक बना है न? भगवान् बोले कि बना तो ठीक है माँ, पर मुझे याद शबरीके बेरोंकी आरही है। इसी तरह उनको गुरु वसिष्ठने भोजन कराया, ससुरालमें भोजन मिला। दुनियामें लोगोंको ससुरालका भोजन बड़ा प्यारा लगता है। परन्तु भगवान्‌को कहीं भी तृप्ति नहीं मिली। वे सब जगह यही कहते रहे कि शबरीके बेरोंका स्वाद, शबरीके बेरोंकी माधुरी कहाँ?

भगवान् श्रीरामचन्द्रका ऐसा स्वभाव है कि चाहे कोई भी उनका भजन करे, वे यह नहीं देखते कि वह कौन है—देवता है, दैत्य है, पशु है, पक्षी है या मनुष्य है और उसको स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने अपनी आश्रित-वत्सलताके कारण सारे अयोध्या-वासियोंको अपने धाममें पहुँचा दिया—

य उत्तराननयत्कोसलान्दिवम्। ८

श्रीशुकदेवजी आगे कहते हैं—भारतवर्षमें स्वयं भगवान् नर-नारायण धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, उपशान्ति, उपरामता आदि धारण करके अव्यक्त रूपसे तपस्या करते हैं। बदरीनाथमें हिमालय पर्वतके दो शिखरोंको नर-नारायण माना जाता है—उनमें एक जीव है, दूसरा ईश्वर है, एक नर है, दूसरा नारायण है, एक अर्जुन है और दूसरा कृष्ण है। वहाँ नारदजी भगवान्‌की आराधना करते हुए सांख्ययोग द्वारा तथा परमभक्ति भावसे उनकी शरणागति ग्रहण करते हैं और इस मन्त्रसे उनको नमस्कार करते हैं—

ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय। परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम। ११

नारदजी स्तुति करते हुए कहते हैं—आप सृष्टि बनाकर भी उसमें बद्ध नहीं होते। देहमें रहकर भी देहके विकारोंसे आपका सम्बन्ध नहीं होता। आप सबको देखते हैं लेकिन आपकी दृष्टिमें देह-दोष नहीं आता। ऐसे असक्त-विविक्त साक्षी नारायणको हमारा नमस्कार है।

नाम तो आपका नारायण है, लेकिन आपका स्वरूप यह है कि आप कर्ता होते हुए भी निर्बन्ध हैं, देहगत होनेपर भी देहके मरनेसे मरते नहीं और द्रष्टा होनेपर भी आपकी दृष्टिमें दोष नहीं आता। यही सर्व योगेश्वर-सम्मत सिद्धान्त है कि अपने मनको भक्तिके द्वारा आपमें लगाया

जाये। यदि संसारमें अपनी आसक्ति बनी रही और मौतका डर बना रहा तो सारा यत्न केवल श्रम ही श्रम है। इसलिए प्रभो ! इस देहमें हमारी जो आसक्ति है, इसको आप छुड़ा दें और हमारे हृदयमें आपके प्रति सच्ची भक्ति आये।

परीक्षित, भारतवर्षमें बहुत-से नदी-नद और पहाड़ हैं। पहाड़ोंमें मलय, मङ्गलप्रस्थ आदि हैं। उनके तट प्रान्तसे निकलनेवाले बहुत-सारे नदी-नद हैं, जिनमें भारतवासी स्नानादि करके अपनेको पवित्र करते हैं।

यहाँ देखो, भारतवर्षके पहाड़ों एवं नदियोंके नाम बिल्कुल स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं। परन्तु दूसरे वर्षोंके वर्णनमें नदियों और पर्वतोंके नाम इतने संक्षेपसे हैं कि उनका कुछ विशेप पता नहीं चलता।

भारतवर्षमें मनुष्यको अपने किये हुए कर्मके अनुसार सद्गतिकी प्राप्ति होती है। मोक्ष भी यहीं मिलता है। अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार साधना करो और अन्तःकरणको शुद्ध कर लो। वर्णाश्रम, धर्म अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिए ही है, मोक्ष प्राप्त करनेके लिए नहीं है। जब अन्तः-करण शुद्ध हो जाता है तब महावाक्योंके द्वारा मालूम पड़ता है कि अपना जो आत्मा है, यही परब्रह्म परमात्मा है। केवल विकारके निवारणके लिए ही संस्कार हैं। वर्णाश्रम-धर्म अपवर्गमें, मोक्षमें उपयोगी है। महापुरुषोंका प्रसंग अथवा यों कहो कि भगवान्‌के भक्तोंका संग सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए श्रेष्ठ है कि भगवान् सब प्राणियोंके आत्मा हैं, भगवान्‌का आत्मा दूसरा कोई नहीं है। वे अनिर्वचनीय हैं, उनका लय किसी दूसरे कारणमें अथवा अन्य आधारमें नहीं होता और ऐसे भगवान् वासुदेव परमात्मामें निष्काम भक्तियोग महापुरुषोंके संगसे ही प्राप्त होता है। महापुरुषोकी संगति अनेक गतियोंकी निमित्तभूत अविद्याको भस्म कर देती है।

देवता लोग भारतवर्षमें उत्पन्न मनुष्योंकी महिमाका गान करते रहते हैं। वे कहते हैं कि इन लोगोंने ऐसा क्या मंगल किया है, जो इनपर भगवान् प्रसन्न हुए हैं और इनका जन्म भारतवर्ष-में हुआ है। भारतवर्षमें जन्म लेना भगवान्‌की सेवाके लिए बहुत उपयोगी है। हमारी यही स्पृहा है कि यह परम सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो। हमें कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादिके द्वारा जो स्वर्गकी प्राप्ति हुई है, उससे लाभ क्या हुआ ? क्योंकि यहाँ अतिशय इन्द्रियोंका भोग मिलनेके कारण भगवान् नारायणके चरणकमलोंकी स्मृति ही नहीं रही—

न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्। २२

यह भारतवर्ष तो ऐसा है कि यहाँ बड़े-बड़े लोग जन्म लेकर, कर्मका अनुष्ठान करते हैं और फिर कर्मका संन्यास करके भगवान्‌के अभयपदको प्राप्त कर लेते हैं। वास्तवमें जहाँ वैकुण्ठका गुणगान न हो, भगवत्कथारूपी अमृतकी नदी न बहती हो, भगवान्‌के आश्रयमें रहनेवाले भगवद्भक्त

न हों और यज्ञेशकी प्रसन्नताके लिए मख-महोत्सव न होते हों, वह भले ही इन्द्रका लोक हो, तथापि सेवन करने योग्य नहीं हैं—

सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।२४

इसलिए भारतवर्षमें सब साधनोंसे सम्पन्न मनुष्य-जन्म धारण करनेवाले लोग यदि परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न नहीं करते तो समझना चाहिए कि वे पशु-पक्षीके समान जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एक ही परमात्मा नाना नाम और मन्त्र आदिके द्वारा हविः ग्रहण करता है। देवता लोग प्रसन्न होकर जो कुछ देते हैं, वह भगवान्का वास्तविक दान नहीं होता। इसलिए उससे कामनाओंकी निवृत्ति नहीं होती और बार-बार माँगना पड़ता है। किन्तु जब भगवान् मिल जाते हैं, तब ऐसा उपाय कर देते हैं कि समस्त इच्छाओंको समाप्ति हो जाती है और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

इसको ऐसे समझो कि जैसे लोग चावल, गेहूँ आदि रखनेके लिए अपने-अपने घरोंमें बखार बनाते हैं, वैसे ही मनुष्यके हृदयमें एक ऐसी जगह बनी हुई है, जिसमें इच्छाओंका अनन्त भण्डार भरा हुआ है। उस भण्डारमें-से समय-समयपर इच्छाएँ निकलती रहती हैं। जब भगवान् देखते हैं कि हमारा भक्त अब अपनी इच्छाओंकी पूर्ति नहीं चाहता, तब वे अपने चरणारविन्दको पिधान अर्थात् ढक्कनकी तरह रख देते हैं—'इच्छापिधानं निजपादपल्लवम्' (२७)। भगवान् अपना चरणारविन्द इसलिए रख देते हैं कि भक्तके हृदयके भीतरसे कोई इच्छा न निकल सके।

अन्तमें देवता लोग यह कहते हैं कि यदि हमारा कुछ भी पुण्य बच जाये तो उसके फल-स्वरूप भारतवर्षमें हमारा जन्म हो, क्योंकि यहाँ भजन करनेवालोंका कल्याण स्वयं भगवान् करते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भरतश्रेष्ठ परीक्षित, जम्बूद्वीपके आठ द्वीप हैं—स्वर्ण-प्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लङ्का। इन द्वीपोंका निर्माण तब हुआ जब सगर-पुत्रोंने अपने यज्ञके घोड़ोंको खोजते हुए, इस पृथिवीको खोदा था। मैंने जैसा गुरुमुखसे सुना था, वैसा ही तुमसे सुना दिया।

: २० :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज संक्षेपमें प्लक्षादि द्वीपोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। असलमें इन सबके वर्णनका अभिप्राय केवल यही है कि इसको पढ़कर मनुष्यका मन भगवान्‌के भजनमें लगे और वह यह अनुभव करे कि सब जगह भगवान् मौजूद हैं और सर्वत्र उनकी आराधना हो सकती है, सर्वत्र उनका ध्यान हो सकता है।

जम्बूद्वीपके बाद प्लक्षद्वीप है और वह इससे दुगुना है। उसके चारों ओर इक्षुरसका समुद्र है।

यहाँ देखो, हमारे जीवनमें जितने भी प्रकारके स्वाद आते हैं; उन सब स्वादोंका एक खजाना होता है। यदि दहीका खजाना न हो, दूधका खजाना न हो, शहदका खजाना न हो तो वे जगह-जगह मालूम कैसे पड़ें ? इसीलिए कहते हैं कि स्थूल वातावरणमें तो नहीं, किन्तु सूक्ष्म वातावरणमें सब रसोंके समुद्र होते हैं। मतलब यह कि सब रसोंका कोष होता है और वे वहींसे निकल-निकलकर आते रहते हैं।

प्लक्ष द्वीपमें हिरण्य अग्नि रहता है और वहाँके अधिपति प्रियव्रतके पुत्र इध्मजिह्व हैं, उन्होंने इसको सात खण्डोंमें विभक्त करके अपने पुत्रोंको दे दिया और स्वयं योगमें स्थित होकर उपराम हो गये। उनके नाम हैं शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम अमृत और अभय। वहाँ पर्वत और नदियाँ भी सात-सात ही होती हैं। पर्वतोंके नाम मणिकूट, वज्रकूट आदि और नदियोंके नाम अरुणा, नृम्णा आदि। उनके जलस्पर्शसे हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन और सत्याङ्ग—ये चारों वर्ण सहस्रायु होते हैं। वे सूर्य भगवान्‌की आराधना करते हैं और इस मन्त्रका जप करते हैं—'प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः' (५)। वहाँके मनुष्योंको जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है।

प्लक्ष द्वीपके आगे शाल्मलि द्वीप है। उसका विस्तार प्लक्ष द्वीपसे दुगुना है। वह सुरा-समुद्रसे परिवेष्टित है। शाल्मलि अर्थात् सेमर वृक्षके कारण उसका नाम शाल्मलि हुआ है। उसमें गरुड़का स्थान है। वहाँ प्रियव्रत-पुत्र यज्ञबाहु राज्य करते हैं। उन्होंने भी अपने सुरोचन आदि पुत्रोंके लिए शाल्मलि द्वीपके सात विभाग करके उनको दे दिये। वहाँ भी स्वरस आदि सात पर्वत और अनुमति आदि सात नदियाँ हैं। वहाँके वर्ण श्रुतधर, वीर्यधर आदि हैं। जैसे भारत वर्षमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्ण होते हैं, वैसे ही ये वहाँ हैं।

देखो, इन चार वर्णोंकी व्याप्ति, बड़ी दूर-दूर तक है। जो लोग इनको नहीं मानते, उनके दिमागमें भी कभी-कभी इनका प्रवेश हो जाता है। कहते हैं कि जब नयी दिल्ली बसायी जा रही थी तब वहाँके एक मुहल्लेका नाम सेवा नगर दूसरे महल्लेका नाम विनय नगर, तीसरेका नाम शान नगर और चौथेका नाम मान नगर रखा गया था। पता नहीं, अब वे नाम हैं या नहीं ? मान नगर माननीय मन्त्रियोंके लिए था, जो मन्त्रणा करते हैं, कभी-कभी ब्राह्मणके समान मन्त्र-जप भी करते होंगे। शान नगर बड़े-बड़े अफसरों के लिए था, जो क्षत्रियोंके समान शासन करते हैं। विनय नगर क्लर्कोंके लिए था, जो वैश्योंके समान लेखा-जोखाका काम करते हैं, और सेवा नगर चपरासियोंके लिए था, जो शूद्रोंके समान सेवाकार्य करते हैं। अब यदि इस तरहकी योजना बनाने-वालोंके सामने वर्णाश्रमका नाम लें तो वे चिढ़ते हैं, परन्तु उनके अवचेतन मनमें जो भरा हुआ होता है, वह बाहर निकल आता है। कहनेका मतलब यह कि सारे विश्वमें जहाँ-जहाँ प्राणी होते हैं, वहाँ-वहाँ कर्मकी प्रधानता, सद्भावकी प्रधानता, बलकी प्रधानता और प्रज्ञाकी प्रधानतासे, चार वर्ण अपने आप ही हो जाते हैं।

मदिरा-समुद्रसे आगे कुशद्वीप है जो शाल्मलि द्वीपसे द्विगुणित विस्तारवाला है और घृत-समुद्रसे घिरा है। वहाँके अधिपति प्रियव्रत-पुत्र हिरण्यरेता हैं। उन्होंने भी अपने सात पुत्रोंके लिए इस द्वीपको सात खण्डों, सात पर्वतों और सात नदयोंमें विभक्त किया है। वहाँ भी कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक ये चार प्रकारके वर्ण रहते हैं और अग्नि देवताकी आराधना करते हैं।

घृतोदसे आगे उससे दूने परिमाणवाला क्रौञ्च द्वीप है और वह क्षीरसमुद्रसे परिवेष्टित है। यह क्रौञ्चद्वीप पूर्वकालमें स्वामिकार्तिकेयजीके आयुधसे क्षत-विक्षत हो गया था, किन्तु बादमें क्षीरोदसे सिञ्चित और वरुणसे रक्षित होकर निर्भय हो गया। वहाँ घृतपृष्ठ अधिपति है। उनके भी सात पुत्र हैं, जिनके लिए सात खण्ड, सात पर्वत और सात नदियोंकी व्यवस्था है। वहाँ भी चार वर्ण हैं और 'आपः पुरुषवीर्याः स्थ' (२३) इत्यादि मन्त्रसे जलरूपमें भगवान्‌की आराधना होती है।

क्रौञ्चद्वीपके बाद शाकद्वीप है, जहाँ मेधातिथि अधिपति है। उन्होंने भी अपने सात पुत्रोंके लिए पर्वतों, नदियोंके सात-सात विभाग कर दिये हैं। वहाँ भी ऋतव्रत आदि चार वर्ण हैं, जो वायु भगवान्‌की आराधना करते हैं।

शाकद्वीपके बाद पुष्कार द्वीप है। वहाँ ब्रह्माका आसन कमल कल्पित किया गया है। उस द्वीपमें बहुत ऊँचा मानसोत्तर पर्वत है। उसके चारों ओर इन्द्रादि देवताओंकी पुरियाँ हैं। वहाँ सूर्य-रथका संवत्सर-रूप चक्र भ्रमण करता रहता है। उसके अधिपति प्रियव्रत-पुत्र वीतिहोत्रने अपने द्वीपके दो भाग करके रमणक और धातकि नामक दो पुत्रोंको दे दिया। वहाँके निवासी ब्रह्मारूप श्रीहरिकी आराधना करते रहते हैं और इस मन्त्रसे उनको नमस्कार करते हैं—

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत्।
एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नमः॥ ३३

पुष्कर द्वीपके बाद लोकालोक नामका पर्वत है। वहाँ शीशेके समान बहुत बड़ी भूमि है, जहाँ डाला हुआ पदार्थ फिर वापिस नहीं होता।

देखो, यह शास्त्रैकगम्य विषयोंका वर्णन है, उसमें तर्क-वितर्क करनेकी कोई जरूरत नहीं है। जब कभी आप इन लोकोंमें पहुँच जायें तब उनकी जाँच-पड़ताल भले ही कर लेना। परन्तु अभी तो वे अतीन्द्रिय ही हैं—

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥ (वाक्यप० १.३८)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—लोकालोकके बाद ऋषभ, पुष्कर, चूड़ आदि दिग्गज हैं, जो लोक स्थितिके कारण हैं। वहाँ भी भगवान् विराजमान रहते हैं और उनको आराधना होती रहती है।

उसके बाद वह भूमि है, जहाँ केवल विशुद्ध योगेश्वरोंकी गति है। श्रीकृष्णने अर्जुनको उस भूमिका दर्शन तब कराया था, जब वे उनके साथ ब्राह्मण-पुत्रकी लाने गये थे। इस संसारमें जितने भी उपाय और अपाय हैं, वे सभी शास्त्रोंमें हो बताये गये हैं। जब यह बात कहनेमें आती है कि अमुकको पाप लग गया, तब वह पाप शास्त्रको रीतिसे लगा; अतः आप यह न समझें कि कोई मनमाना प्रायश्चित्त कर लेगा तो उसका उद्धार हो जायेगा। उसके लिए प्रायचित्त भी शास्त्रोक्त ही होना चाहिए। इसी तरह जितने भी अतीन्द्रिय लोक हैं, वे सब शास्त्रोंके द्वारा ही जाने जाते हैं। उनमें जाना-आना न पड़े और उनकी निवृत्ति हो जाये, इसका उपाय भी शास्त्रोंसे ही मालूम पड़ता है।

अन्तमें श्रीशुकदेवजीने कहा ब्रह्माण्डके मध्यमें सूर्य है। सूर्य भगवान्की ज्योतिसे ही दिशा, आकाश, पृथिवी, भोग, मोक्ष आदि सबके विभाग होते हैं। भगवान् सूर्य ही स्थावर और जङ्गम प्राणियोंके आत्मा हैं, नेत्र हैं—

सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः। ४६

●

: २१ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजन्, मैंने तुमको इस भूमण्डलका परिणाम और लक्षणों सहित संक्षिप्त परिचय दे दिया है। जैसे चना, मटर, अरहर, मूँग, उड़द आदिके दो दल होते हैं, वैसे ही यह विश्व अन्तरिक्षके ऊपर और नीचे संलग्न है। सूर्य बीचमें रहकर इनका प्रकाशन करते हैं। वे उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् नामक गतियोंसे चलते हैं। उनकी गति कभी मन्द होती है, कभी द्रुत होती है और कभी समान होती है। इसी प्रकार वे नीचे-ऊँचे तथा सम स्थानोंपर होते हुए मकर और कर्क आदि राशियोंपर आते हैं। जब सूर्य भगवान् मेष और तुलापर होते हैं, तब दिन-रात समान होते हैं, जब उत्तरायण होते हैं तब दिन बढ़ जाते हैं और जब दक्षिणायन होते हैं तब रात्रियाँ बढ़ जाती हैं।

इसी प्रकार जो मानसरोवर पर्वत है, उसमें मेरुके पूर्व इन्द्रकी पुरी देवधानी है—जैसे राजधानी होती है, वैसे ही देवधानी भी होती है। उसके दक्षिणमें यमराजकी संयमनी पुरी है, पश्चिममें धर्मकी निम्लोचनी पुरी है और उत्तरमें कुबेरकी विभावरी पुरी है। इनमें सूर्यकी अनेक-अनेक अवस्थाएँ होती हैं।

इसके बाद सूर्य एक क्षणमें कितना चलता है, किस समय किस पुरीमें पहुँचता है और उसका एक चक्र कैसे संवत्सरात्मक होता है—इसका वर्णन है। सूर्यके आगे अरुण सारथि-रूपसे रहते हैं। बालखिल्य ऋषि उनकी स्तुति करते हुए चलते हैं। बड़े-बड़े गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस—ये सब मास-मासमें सूर्यका उपस्थान करते हैं।

इस प्रकार भगवान् सूर्य अपनी गतिके द्वारा सारे भूमण्डलका उपभोग करते हैं।

: २२ :

अब राजा परीक्षितने पूछा कि भगवान् सूर्य, मेरु और ध्रुवकी परिक्रमा करते हुए राशियोंके सम्मुख प्रदक्षिणा करते हैं, इसको हम कैसे समझें ?

श्रीशुक्रदेवजी महाराज कहते हैं कि जैसे कुम्हारके बर्तन बनानेवाले तीव्र गतिगामी चक्र (चाक) पर जब चींटी चलती है तब उसकी गति उससे भिन्न होती है, वैसे ही कालचक्रमें पड़कर भ्रमण करनेवाले सूर्यादि ग्रहोंको गति कुछ निराली ही होती है !

सूर्यनारायण वेदरूप हैं। वे बारह रूप धारण करके लोकोंके कल्याणके लिए ऋतुके गुणोंका विधान करते हैं। वर्णाश्रमी प्रजा उनकी पूजा करती है और वे मध्यमें रहकर द्वादश मासका उपभोग करते हैं। चान्द्रमासके अनुसार दो पक्षोंका एक महीना होता है और सवा दो नक्षत्रोंकी एक राशि होती है। इन सबका अलग-अलग विभाग बताया हुआ है। जबतक सूर्य दो राशियोंका भोग करते हैं, तबतक एक ऋतु होती है और जितनेमें वे छह राशियोंका उपभोग करते हैं उतनेमें एक अयन होता है। दो अयनका संवत्सर होता है। जितने कालमें सूर्य सारे नभो-मण्डलका भोग करते हैं उस कालको संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहा जाता है।

चन्द्रमा और सूर्यकी गतियोंमें महान् विलक्षणता है। मनुष्यको जैसा दीख रहा है, उसको ध्यानमें रखकर ही सारा वर्णन किया गया है। उसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपने अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें भगवान्‌का ध्यान करे। उसकी मनोवृत्ति भगवान्‌में चली जाय और उसका हृदय पवित्र हो जाय।

भगवान् चन्द्र अन्नमय हैं, अमृतमय हैं, सबकी रक्षा करनेवाले हैं। चन्द्रमाके बाद नक्षत्र हैं और नक्षत्रोंके बाद शुक्र-मण्डल है। शुक्र सूर्यके साथ ही साथ कभी थोड़ा आगे तो कभी थोड़ा पीछे रहते हैं। वे बहुत करके लोगोंका कोई अनिष्ट नहीं करते और वृष्टि रोकनेवाले ग्रहोंको उपशान्त करते रहते हैं। शुक्र-मण्डलके ऊपर बुध-मण्डल है। बुध भी बहुधा सूर्यकी तीन राशियोंसे आगे-पीछे नहीं जाता। शुक्र और बुध दोनों सूर्य-राशिपर, उसके तीन राशि आगे या तीन राशि पीछेतक रहते हैं या सूर्य-राशिमें ही रहते हैं। जब इनका सूर्यसे वियोग हो जाता है, तब अनावृष्टिका भय होता है। बुधके बाद भौम है और भौमके बाद बृहस्पति है। ये दोनों हमेशा अनुकूल ही रहते हैं। बृहस्पति ब्राह्मण-कुलका अनिष्ट कभी नहीं करते। शुक्र भी कभी अनिष्ट नहीं करते। यदि वक्र न हों तो बृहस्पति प्रायः एक वर्षतक एक ही राशिपर रहते हैं। बृहस्पतिके बाद शनैश्चर हैं, जो तीस महीनेतक एक ही राशिपर रहते हैं। शनैश्चरके बाद सप्तर्षि हैं और सप्तर्षिके बाद विष्णु-पद है, ध्रुवपद है, जिसकी परिक्रमा होती रहती है।

: २३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि सप्तर्षि-मण्डल और भगवान् विष्णुके परमपद ध्रुवलोकमें तेरह लाख योजनका अन्तर है। वहाँ ध्रुवका निवास है, जिनकी महिमा पहले ही बतायी जा चुकी है। जितने भी ग्रह-नक्षत्रादि हैं, वे सब उन्हींकी परिक्रमा करते हुए उनके चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार पक्षी वायुके कारण ऊपर-नीचे नहीं गिरते, उसी प्रकार इन ज्योतिर्गणोंका भी कर्मकी गतिके अनुसार निर्धारण है और वे शिशुमार संस्थानसे आकाशमें रहते हैं। यदि उनका ठीक-ठीक ध्यान किया जाय तो भगवान्का ध्यान होने लगता है। शिशुमारका सिर नीचेकी ओर है और उसकी पूँछ वैसे ही लिपटी हुई होती है, जैसे घड़ियाल पूँछ लपेटकर बैठा हुआ होता है। आकाशमें दिखायी पड़नेवाले ग्रह-नक्षत्रोंको ध्यानपूर्वक देखा जाये तो मालूम पड़ता है कि मानो उनकी पूँछकी नोंकपर ध्रुव बैठे हुए हैं।

ध्रुवलोकसे नीचे प्रजापति, धर्म, अग्नि और इन्द्र हैं, पुच्छमूलमें धाता-विधाता हैं, कटिमें सप्तर्षि हैं, दक्षिण पार्श्वमें अभिजित् आदि चौदह नक्षत्र हैं, वाम पार्श्वमें पुण्य आदि चतुर्दश नक्षत्र हैं और पृष्ठमें अविवीचि हैं। इस प्रकार ग्रह, नक्षत्र, देवता सारे-के-सारे शिशुमार चक्रमें बैठे रहते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, ये ग्रह-नक्षत्रादि क्या हैं, भगवान्‌के सर्वदेवमय-स्वरूप हैं। इसलिए मनुष्यको प्रतिदिन सायंकाल संसारका चिन्तन छोड़कर उनका ध्यान करना चाहिए और इनमें अपना मन लगाना चाहिए।

असलमें हमारे सांख्यवादियोंने ध्यानकी जो परिभाषा की है, वह बड़ी विलक्षण है। वे कहते हैं कि 'रागोपहतिर्ध्यानम्' (सांख्य सू० ३.३०)—संसारको देखते रहो, किन्तु कहीं भी राग-द्वेष न करो। इसीका नाम ध्यान है। योगदर्शनवाले तो कहते हैं कि जब एक लक्ष्यमें चित्तवृत्ति रहती है तब ध्यान होता है—'तत्रैकतानताध्यानम्' (३.२)। परन्तु सांख्यदर्शनमें यह बात बतायी गयी है कि हमें दुनिया तो ज्यों-की-त्यों दीखती रहे, लेकिन हम किसीकी मुहब्बत या नफरतमें न फँसें, किसीसे हमारा राग या द्वेष न हो, इसीका नाम ध्यान है।

जब हम शिशुमार-चक्रकी ओर देखने लगते हैं तब सबसे बढ़िया बात यह होती है कि हमारा ध्यान मैं और मेरासे, शरीर और शरीरसे सम्बन्धित पदार्थोंसे छूटकर ग्रह-नक्षत्रोंकी ओर चला जाता है। जो इस संसारमें निर्मम और वैराग्यवान् होना चाहते हैं, उनको सर्वदेवतामय शिशुमार-चक्रका ध्यान प्रतिदिन संध्याकालमें मौन होकर करना चाहिए और नमस्कारपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि शिशुमार-चक्रके रूपमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हैं। इस प्रकार ध्यान और नमस्कार करनेवालेके सारे पाप मिट जाते हैं।

मुझे स्मरण आता है, आजसे अनेक वर्ष पूर्व जब हम बदरीनाथकी ओर जा रहे थे, तब गङ्गाजीकी धारा, उसके दोनों ओरके बड़े-बड़े पर्वत, उनपर पड़ी हुई बर्फ और वृक्ष-वनस्पतिको देखकर यह ख्याल नहीं होता था कि इनपर स्वामित्व किसका है। उनको देखकर तो सात्त्विक आनन्दकी ऐसी लहर उठती थी कि उसके सामने सब-कुछ विस्मृत हो जाता था। इसी प्रकार जब हम निर्मम ग्रह-नक्षत्रादिको देखते हैं, तब हमारा हृदय भी संसारके प्रति ममता-शून्य हो जाता है। अहंता-ममतासे रहित हृदय ही अन्तःकरणकी पवित्रताका हेतु है।

●

: २४ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज बताते हैं कि सूर्यके नीचे राहु है, जो भगवान्‌के अनुग्रहसे ही ग्रहरूपता और अमरताको प्राप्त हुआ है। यह प्रसंग फिर आगे आयेगा। सूर्य-मण्डल अयुत योजन है, चन्द्रमण्डल द्वादश सहस्र योजन है और राहु-मण्डल त्रयोदश सहस्र योजन है। राहुसे दस हजार योजन नीचे सिद्ध-चारण आदिके स्थान हैं। उनके नीचे जहाँतक वायु और बादल है, अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें यक्ष, राक्षस आदि रहते हैं।

इनके नीचे पृथिवी है। पृथिवीकी सीमा वहाँतक है, जहाँतक पशु-पक्षी आदि उड़ते हैं। भूमिके नीचे जो सन्निवेशावस्थान है, उसमें विवर हैं, छिद्र हैं, उन्हींको अतल, सुतल, वितल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात लोक बोलते हैं। इनमें भी बड़े भारी भोग, ऐश्वर्य, आनन्द और विभूतिका निवास है। यहाँ समृद्ध भवन, उद्यान और क्रीडाविहार हैं तथा दैत्य, दानव आदि हर्षित होकर निवास करते हैं। मयने बड़ी सुन्दर रचना की है और वहाँ स्वर्गसे भी बढ़कर सुख है। वहाँ सर्पोंके सिरमें मणि होते हैं, जो सारे अन्धकारको निवृत्त कर देते हैं। वहाँके निवासी दिव्य ओषधि, रस-रसायन, अन्न, पान आदिका सेवन करते हैं। वहाँ आधि-व्याधि, जरा नहीं होती, सुदर्शन-चक्रसे ही सबकी मृत्यु होती है। उसके प्रविष्ट होते ही, गर्भ भी नष्ट हो जाते हैं।

अतल लोकमें मयका पुत्र बल रहता है वहाँ तीन प्रकारकी स्त्रियाँ रहती हैं और बड़े-बड़े भोग-समर्थ लोग रहते हैं। अतलके नीचे वितल लोक है, जहाँ हाटकेश्वर भगवान् शंकरकी आराधना होती है। हाटकी नदी बहती है। वितलके नीचे सुतल है, जहाँ बलि रहते हैं। वहाँ स्वर्गसे भी अधिक भोग है। किन्तु वितल लोकका भोग राजा बलिके दानका फल नहीं है। भगवान्‌की आराधनाका फल भोग नहीं होता। भगवान्‌का एक बार नमोच्चारण करनेपर ही चाहे वह छींकते समय हो, धरतीपर गिरते समय हो, पाँव फिसलते समय हो अथवा विवश होकर हो, मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। अतः यदि भगवान्‌की सेवा-पूजा करके राजा बलिको सुतल लोकका राज्य मिला तो क्या मिला? असलमें भगवान्‌ने उनपर यह अनुग्रह किया कि इन्द्रको स्वर्गका राज्य दे दिया, जिससे कि वे भगवान्‌को भूल जायँ, क्योंकि ऐश्वर्य भगवान्‌की स्मृतिका नाशक है। किन्तु इधर जब भगवान्‌ने बलिका सब कुछ छीन लिया और उनको वितल लोकमें डाल दिया तब बलिकी भक्ति-भावना देखिये, वे भगवान्‌की स्तुति इस प्रकारसे करते हैं—

नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम् ॥ २४

बृहस्पति-जैसे मददगार पाकर भी इन्द्र अपने पुरुषार्थमें निपुण नहीं हैं। क्योंकि उन्होंने बृहस्पतिको छोड़कर वामनजीके द्वारा मुझसे तीन लोककी भीख मँगवायी। असलमें हमारे राजा प्रह्लाद ही सबसे अधिक ज्ञानी हैं। उन्होंने राज्य न करके, भगवान्‌के सेवा-सुखका ही वरण किया। हमको भगवान्‌के चरणारविन्दका अनुगमन करनेको मिले, यही हमारे लिए सबसे बड़ी वस्तु है। लेकिन रागी पुरुष उनका अनुगमन नहीं कर सकता।

देखो, बलिके दरवाजेपर उनकी रक्षाके लिए स्वयं भगवान् वामन-रूपसे हाथमें गदा लेकर विराजमान रहते हैं। जब रावण बलिसे लड़नेके लिए, बलिको पराजित करनेके लिए गया तो भगवान्‌ने अपने पादाङ्गुष्ठसे ही उसको वहाँसे उच्चाटित कर दिया।

वितलके बाद तलातलमें महादेवसे रक्षित और सुदर्शन-चक्रके भयसे मुक्त मय नामका दानव रहता है। उसके साथ कई गण रहते हैं और वे सब विहार करते हैं। तलातलके नीचे महातल है, जहाँ तक्षक आदि फणी निवास करते हैं। महातलके नीचे रसातल है, जिसमें पणि नामक दैत्य-दानव रहतें हैं। रसातलके नीचे पाताल हैं, जिसमें वासुकि आदि नाग रहते हैं। उनके फणोंमें स्थित मणियाँ पातालके अन्धकारको दूर करती हैं।

●

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, पातालके मूल देशमें भगवान् अनन्त निवास करते हैं। वे भगवान्की तामसी कलाके नामसे विख्यात हैं। किन्तु सात्त्वत-तन्त्रनिष्ठ लोग उनको सङ्कर्षण कहते हैं। उनके हजारों सिरोंमें-से एक सिरपर धरती ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे कोई सरसोंका दाना रखा हुआ हो। जब वे विश्वका संहार करना चाहते हैं तब उन्हींके भौंहोके बीचमें-से एक सङ्कर्षण रुद्र प्रकट होते हैं, जो सारे विश्वका संहार कर देते हैं।

बड़े-बड़े नागपति भगवान् सङ्कर्षणके चरणारविन्दके नखमण्डलकी मणिमें अपनी छाया—अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। जब नागकुमारियाँ लज्जाके साथ उनके मुखारविन्दका दर्शन करती हैं, तब वे प्रभु क्रोधको समेटकर लोगोंके कल्याणके लिए बैठते हैं। देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व उनका ध्यान करते हैं। वे एक कुण्डल धारण करते हैं और नवतुलसिकाकी माला पहनते हैं। उनकी सुगन्धके मधुर रससे भँवरे मतवाले हो जाते हैं और गुञ्जार करके उनको आनन्दित करते रहते हैं। वे वनमाला धारण करते हैं।

नारद, तुम्बरु आदि भगवान् सङ्कर्षणके प्रभावका वर्णन ब्रह्माजीकी सभामें करते हैं। उनके सत्त्वादि गुण जगत्की सृष्टि, स्थिति आदि करनेमें समर्थ हैं। वे कृपा करके मूर्ति धारण करते हैं। उन्हींमें सबका-स त सत्-असत् भास रहा है। उनकी सत्त्वमूर्ति लोगोंके मनको पवित्र करनेके लिए है।

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मादार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा।
हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः॥ ११

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, यदि कोई आर्त-से-आर्त प्राणी भी धरतीपर गिरकर अथवा प्रलम्भन, परिहासमें भगवान्का नाम एक बार भी सुन ले अथवा उसका अनुकीर्तन कर ले, तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रभु शेष भगवान्को छोड़कर मुमुक्षु और किसका आश्रय ले? यह सम्पूर्ण भूगोल सहस्रशीर्षा भगवान्के सिरपर एक रजः कणके समान सर्मापित किया हुआ है। सारे सरित्, समुद्र और पर्वतोंका भगवान्की अनन्ततामें कुछ पता ही नहीं चलता। यदि किसीको हजार जीभ भी प्राप्त हो जाय तो वह भगवान्के गुणानुवादकी गणना नहीं कर सकता। इस प्रकारके प्रभाववाले भगवान् अनन्त 'दुरन्त वीर्योरुगुणानुभाव' (१३) हैं और पृथिवीके मूलमें स्वतन्त्र रहकर स्थित हैं।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि राजन्, मैंने जो गतियाँ बतायीं, वेही क्रमसे मिलती हैं। जो लोग सकाम भावसे कर्म करते हैं वे पृथिवीके ऊपर या पृथिवीके नीचे इन्हीं सब गतियोंको प्राप्त करते हैं। प्रवृत्तिलक्षण धर्मका यही फल है और एक दूसरेसे अलग-अलग करनेपर कोई ऊँचा है तो कोई नीचा है—'उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचरण्ये' (१५) अब जैसा तुम्हारा प्रश्न था, उसके अनुसार मैंने वर्णन कर दिया। 'किमन्यत्कथयाम इति'। अब बताओ, मैं तुमको और क्या सुनाऊँ?

: २६ :

राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, आपने जो लोकोंकी इतनी ऊँची-ऊँची गतियोंका वर्णन किया है, इनमें इतनी विचित्रता कैसे है ?

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति । १

इस प्रश्नमें राजा परीक्षितका आशय यह है कि जब सारी विश्व-सृष्टिमें धातु एक ही है—चाहे उस धातुको पञ्चभूत कहिये, त्रिगुणमयी प्रकृति कहिये, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर कहिये, परिणामी कहिये अथवा अविकृत परिणाम कहिये, तब उसमें इतने प्रकारकी सृष्टि कैसे होती है ?

शुकदेवजी महाराज कहते हैं कि—धातु एक होनेपर भी कर्त्ता-भेदसे उसमें वैचित्र्य आ जाता है। जैसे सोना एक है, किन्तु सोनार उसमें नाना प्रकारके आभूषण बनाता है। मिट्टी एक है, किन्तु कुम्हार उसमें भाँति भाँतिके बर्तन बनाता है और पानी एक है, किन्तु वायुके वेगसे उसमें तरह-तरहकी तरङ्गें उठती हैं। इसी तरह कोई कर्त्ता सात्त्विक होता है, कोई कर्त्ता राजस होता है और कोई कर्त्ता तामस होता है। इसी प्रकार श्रद्धा भी सबकी समान नहीं होती—किसीकी राजसी, किसीकी तामसी और किसीकी सात्त्विकी श्रद्धा होती है। अतः इसी कारणसे कर्मकी गतियाँ बिल्कुल अलग-अलग हो जाती हैं और इनमें तारतम्य भाव—न्यूनाधिक भाव हो जाता है। फिर जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है।

अब मैं तुमको यह बताता हूँ कि जो पाप करता है, उसका लक्षण प्रतिषिद्ध कर्म ही है। जब आदमी दुःखी होता है तब उसको पता लगता है कि वह पापी है। फल-बल-कलित पाप है उसका। जब अन्तःकरणमें बहुत वासनाएँ उठती हैं कि हमको यह चाहिए, वह चाहिए—तब समझना कि वे बुरा काम करवाकर ही छोड़ेंगी। जब मनुष्य आप्त पुरुषोंके द्वारा, वेदशास्त्रोंके द्वारा और गुरु-सम्प्रदायके द्वारा निषेध किये हुए कर्म करता है तब उसका वासना-वेग बहुत होता है।

आप विचार कर लें। गुरुजीने अपने शिष्यसे कहा कि बेटा, इस मार्गपर मत जाना और शिष्य उसी रास्तेपर दौड़ पड़ा। इसका मतलब यह हुआ कि वह गुरुके वचनका तिरस्कार करके अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए उस मार्गपर बेतहाशा दौड़ता जा रहा है।

इस प्रकार जब हम गुरुजनोंके मना करनेपर भी वह काम करने लगते हैं तो हमारे बचपनका उदय हो जाता है। उस समय हमारी वासनामें वेग बढ़ जाता है, हमारे भीतर कर्तापनका अभिमान हो जाता है, और हम गुरु, शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करने लगते हैं। फिर हमारा काम चाहे कितना भी बढ़िया क्यों न हो, अन्तमें वह पापका हेतु बनता है। उससे पाप ही होता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस कर्मसे अहङ्कार बढ़े, वह देखनेमें पुण्य प्रतीत होनेपर भी पाप हो जाता है। इसके विपरीत जिससे अहङ्कारकी निवृत्ति हो, वह देखनेमें पाप होनेपर भी पुण्य हो जाता है। इसलिए शास्त्रकी दृष्टिसे, गुरुकी दृष्टिसे, सम्प्रदायकी दृष्टिसे जो मना किया हुआ काम है, उसको कभी नहीं करना चाहिए।

आखिर उसको तुम केवल अपनी वासनाके कारण ही तो करते हो? लेकिन यह वासना तुमको नरकमें ही ले जायेगी। पाप पहले कर्तापनके अभिमानके रूपमें आता है, फिर वासनाके रूपमें आता है और फिर दुःखके रूपमें आता है। इसमें कहीं-न-कहीं बड़े बूढ़ोंका तिरस्कार जरूर रहता है, जिससे पापकी उत्पत्ति होती है। 'प्रतिषिद्धलक्षणस्य' (३) अर्थात् जिसका केवल निषेध ही लक्षण है, उसको करनेसे और श्रद्धाकी विसदृशतासे—श्रद्धा ठीक न होनेसे कर्मफल भी गड़बड़ा जाता है। अनादि अविद्याके कारण मनुष्य समझता तो है नहीं, कामनाके वशमें हो जाता है और उसके फलस्वरूप वह अनेक प्रकारसे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्तिके कारण मनुष्यको बहुत-बहुत दुःख भोगना पड़ता है।

असलमें जो अपनी उन्नति तथा दूसरोंकी उन्नतिमें मदद करनेवाला काम है, वह पुण्य है। किन्तु जो अपनी और दूसरोंकी उन्नतिमें बाधक है, वह पाप है। पाप-कर्मकी परिभाषा ही यह है कि जिसमें कर्तृत्वका अभिमान हो, वासना हो और जिससे अन्तमें दुःख मिले तथा ग्लानि उत्पन्न हो।

अब राजा परीक्षितने प्रश्न किया कि महाराज, नरक क्या होता है? क्या किसी ख़ास जगहका नाम नरक है? यदि है तो त्रिलोकीके बाहर है या भीतर है?

श्रीशुकदेवजी महाराजने उत्तर दिया कि राजन्, इस जगतीके अन्तरालमें ही, दक्षिण दिशाकी ओर पृथिवीके नीचे और जलके ऊपर नरकका निवास है। वहाँ यमराज सबको कर्मानुरूप दण्ड देते हैं।

ऐसे तो नरक बहुत-से हैं, परन्तु उनमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि अट्ठाईस नरक मुख्य हैं। जो दूसरेके पुत्र और कलत्रका हरण करता है, उसको यमराजके दूत बाँधकर तामिस्र नरकमें डाल देते हैं। वहाँ न खानेको मिलता है और न पीनेको मिलता है, डण्डा खानेको जरूर वहाँ मिल सकता है। जो किसी पुरुषको धोखा देकर उसकी पत्नी आदिका उपभोग करता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जाता है। वहाँ उसकी बुद्धि और दृष्टि दोनों नष्ट हो जाती हैं और अनेक प्रकारकी यातनाएँ मिलती हैं। जो संसारमें 'यह मैं और यह मेरा' करके दूसरोंको दुःख पहुँचाता है और अपने कुटुम्बके ही पालन-पोषणमें लगा रहता है, वह रौरव नरकमें गिरता है। उसके द्वारा मारे हुए प्राणी रुरु होकर उसको काटते हैं। जो देहके ही पालन-पोषणमें लगे रहते हैं, वे महारौरवके अधिकारी होते हैं। वहाँ क्रव्याद उनका माँस खाते हैं। जो पशु-पक्षियोंको पकाता है, उसको यमराजके दूत कुम्भीपाक नामक नरकमें डालकर वैसे ही पकाते हैं जैसे घड़ेमें कोई चीज पकायी जाती है। जो पितृ और ब्राह्मणका द्रोह करता है, वह कालसूत्रमें डाला जाता है। जो लोक-वेदमार्गका परित्याग करके पाखण्डका आश्रय लेता है, वह असिपत्र-वनमें डाला जाता है और उसको कोड़ेसे मार-मारकर दण्ड दिया जाता है। पाखण्डीको अपने किये का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जो राजा अथवा राजाका सेवक अदण्डनीयको तो दण्ड देता है और दण्डनीयको छोड़ देता है, वह शूकरमुख नरकमें जाता है। जो ईश्वर-कल्पित-वृत्तिमें अर्थात् ईश्वरने जिसके लिए जैसा भोजन बना दिया है—जैसे जंगलमें शेरका भोजन दूसरी तरहका है और पक्षीका भोजन दूसरी तरहका है, उसमें बाधा डालता है, उसको भी नरकमें जाना पड़ता है। जो पञ्च महायज्ञ नहीं करता, जो चोरी, बलात्कार करता है और सुवर्णादिका हरण करता है, उसको भी नरकमें जाना पड़ता है। जो अगम्या स्त्रीका गमन करता है, उसको भी कोड़े खाने पड़ते हैं और वह नरकमें डाला जाता है।

इस प्रकार संसारके जितने पाप हैं, उन सबके लिए अलग-अलग नरक बने हुए हैं। यमराजके दरबारमें सात सौ बीस कुत्ते हैं, जो पापियोंको काटनेके लिए बने हुए हैं।

'यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स' (२८) जो झूठी गवाही देता है और द्रव्य देने-लेनेमें झूठ बोलता है, दानमें झूठ बोलता है, उसको भी मरकर नरकमें ही जाना पड़ता है और वह पहाड़परसे गिराया जाता है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य और उनकी पत्नियाँ प्रमादसे भी सुरापान करती हैं, उनको अयःपान नामक नरकमें भेजा जाता है और

वहाँ उनको यातना भोगनी पड़ती है। जो वर्णाश्रमके आधारपर अपने जीवनको नहीं चलाता और निरपराध पशुको सताता है, वह भी नरकमें पड़ता है। जो लोगोंको झूठमूठ डराता है और उनको किसी गुफामें या दूसरी जगह बन्द कर देता है, उसको अवट-निरोध नरकमें डाला जाता है।

इसी तरह जो अपने घरमें आये हुए अतिथियों और अभ्यागतोंको, भोजनके समय, भगवद्भावसे भोजन नहीं कराता, उसको भी नारकीय यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। इसलिए अतिथि, अभ्यागतोंको घरमें भोजन हो तो भोजन कराना चाहिए, न हो तो एक गिलास पानी दे देना चाहिए, वह भी न हो तो बैठनेके लिए आसन देना चाहिए और वह भी न हो तो उनसे प्यार-पूर्वक दो-चार बात कर लेना चाहिए। लेकिन उनको टेढ़ी नजरसे कभी नहीं देखना चाहिए।

हमारे एक परिचित महात्मा थे और अपने पन्द्रह-बीस साथियों-सेवकोंके साथ यात्रा कर रहे थे। उनको लखनऊके एक सज्जनने चिट्ठी लिख दी कि कानपुरमें अमुक सज्जन हमारे मित्र हैं, उनके घरमें ठहर जाईयेगा। वे जब कानपुर उतरकर अपने साथियों सहित उस सज्जनके घर पहुँचे, तब वे बहुत बिगड़े, उन्होंने गाली देकर कहा कि—भागो, यहाँसे। क्या यहाँ कमाकर रख गये हो कि हम तुम्हें खिलायें। तुम आये कैसे यहाँ ?

अब वे महात्मा तथा उनके साथी सट-पटाये और तुरन्त उस घरसे निकल गये। लेकिन निकलकर दरवाजेके सामने एक पटरीपर बैठ गये। वहाँ आध-घण्टा बैठे और फिर अपने एक सेवकको कहा कि उनके घरसे एक गिलास पानी माँगकर ले आओ। इसपर सेवक लोग नाराज हुए कि महाराज, आप भी खूब हैं। उसने इतनी गलियाँ दी, अपने घरसे निकाल दिया और आप हैं कि उससे पानी मँगाते हैं ? महात्मा बोले कि देख भाई, शास्त्रकी रीतिसे तो उसने अपराध किया है और इस अपराधके कारण उसको दण्ड मिलेगा, उसका बड़ा अनर्थ होगा, क्योंकि—'अतिथिर्यस्य भग्नाशः गृहात् प्रतिनिवर्तते' (मार्कण्डेयपुराण २९.३१)। एक गिलास पानी उसके घरसे जरूर ले आओ, जिससे कि हम पी लें और उसकी कोई विशेष हानि न हो। हम साधु लोग अतिथिके रूपमें उसके घर आयें और उसको पापका भागी बनाकर, हानि पहुँचाकर वापस लौटें, यह हमारे लिए उचित नहीं है। इसके बाद सेवक गया, एक गिलास पानी माँगकर ले आया और महात्माने उसको पी लिया। फिर उस गृह-स्वामीको मनसे आशीर्वाद देकर वे महात्मा अपने साथियोंके साथ वहाँसे चल पड़े।

लेकिन इस प्रकार जो अतिथिको टेढ़ी नजरसे देखता है और दुर्व्यवहार करता है, उसकी बड़ी हानि होती है। उसे नरकगामी होना पड़ता है और गीध उसकी आँखोंको निकाल लेते हैं। इसी तरहसे जो धनी-मानी व्यक्ति हर समय अपने धनकी ही चिन्तामें मग्न रहता है, उसको भी नरकमें जाना पड़ता है।

यहाँ बताते हैं कि इस प्रकारके हजारों नरक हैं। उन सबका वर्णन कौन कहाँतक करे ? जो धर्मानुवर्ती पुरुष होते हैं, वे नरकमें कभी नहीं जाते। किन्तु जो अधर्म करनेवाले होते हैं, वे उनमें जरूर जाते हैं।

असलमें यहाँ जो वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य नरक-लोकके वर्णनमें नहीं है। वास्तवमें जितने भी लोक हैं, वे सब साक्षात् भगवान् नारायणके स्थूल रूप हैं। ऐसे समझो कि जैसे मनुष्यका शरीर बाहरसे दीखनेमें बड़ा सुन्दर है, इसमें कितने सुन्दर नेत्र, नाक और दाँत लगे हैं, बाल बड़े सुन्दर हैं; कपड़े-लत्ते बहुत अच्छे हैं ही, लेकिन फिर भी इस शरीरके भीतर मल-मूत्र है कि नहीं ? इसी प्रकार जो विराट पुरुष है, उसके भीतर भी सभी तरहकी चीजें हैं। जहाँ उसके हृदयमें चेतना जाग्रत् है—चैतन्य नारायण बैठे हुए हैं, वहाँ उसके शरीरमें ऐसे-ऐसे अङ्ग भी हैं, जिनमें विष्ठा और मूत्र भरा हुआ है। इसलिए परमात्माका ध्यान करते समय यह विचार करना चाहिए कि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि भगवान्का स्थूल रूप है। इसमें अच्छे-बुरे सब भगवान्के स्वरूप हैं। हमें कहीं भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

यद्यपि भगवान्का स्वरूप अग्राह्य है, तथापि यदि श्रद्धा और भक्तिसे बुद्धि विशुद्ध हो जाय तो मनुष्य भगवान्के अग्राह्य रूपको भी ग्रहण कर सकता है। जब मनुष्य भगवान्के स्थूल रूपका श्रवण करता है तब उनके सूक्ष्मरूपमें भी उसका मन प्रवेश करने लगता है। जब मन स्थूलरूपमें लग जाय तभी उसको सूक्ष्मरूपमें लगाना चाहिए।

इस वर्णनको आप भौगोलिक, खगौलिक, अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिक अनुसन्धान करने योग्य न समझें। यह वर्णन तो भगवान्का ध्यान करनेके लिए है। जब आप यह चिन्तन करेंगे कि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें कितने राष्ट्र हैं, कितनी बड़ी पृथिवी है, कितने समुद्र हैं, कितने ग्रह-नक्षत्र हैं और ये सब किस प्रकार भगवान्के रूपमें फैले हुए हैं तब आपकी दृष्टिमें जो संकीर्णता है, वह मिट जायेगी।

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्रपातालदिङ्नरकभागणलोक - संस्था।
गीता मया तवनृपाद्भुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥ ४०

सारे जीव भगवान्के शरीरमें ही रहते हैं। जैसे हम लोगोंके शरीरमें रोएँ होते हैं, वैसे ही भगवान्के शरीरमें कोटि-कोटि रोमकूप हैं और एक-एक रोमकूपमें अनन्त-अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें कोटि-कोटि पृथिवी-समूह हैं और उन पृथिवी-समूहोंमें हमारे सरीखे अगणित लोक हैं। किन्तु ये सब परमात्माके शरीरमें ही हैं—ऐसा समझकर किसीसे राग-द्वेष करके अपना दिल नहीं बिगाड़ना चाहिए।

●

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण
१

षष्ठ स्कन्ध

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ·
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

षष्ठ स्कन्ध

यह छठा स्कन्ध अनुग्रह स्कन्ध है—'पोषणं तदनुग्रहः' (२.१०.४)। इसमें कुल उन्नीस अध्याय हैं। पहलेके तीन अध्याय नामाध्याय, बादके चौदह अध्याय रूपध्यानाध्याय और अन्तके दो अध्याय अर्चनाध्यायके नामसे प्रसिद्ध हैं। दूसरे शब्दोंमें यह समझिये कि इसके तीन प्रकरण हैं। पहलेके तीन नामाध्यायवाले प्रकरणमें यह बताया गया है कि अजामिल कितना कर्मच्युत था, कितना कर्मभ्रष्ट था, लेकिन भगवान्‌ने उसके पुत्रके नामके बहानेसे अपना नाम देकर उसका उद्धार कर दिया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् न केवल अपने भक्तोंके उद्धारके लिए, बल्कि समस्त जीवोंके उद्धारके लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढते रहते हैं और जो बड़े-से-बड़े कर्मभ्रष्ट हैं, कालभ्रष्ट है, स्वभावभ्रष्ट हैं, उन सबपर अनुग्रह करते हैं। इसके बाद चौदह अध्यायोंमें रूपध्यानका प्रकरण है। उसमें बताया गया है कि भगवान्‌के रूपसे, भगवान्‌के रससे भगवान्‌के स्पर्शसे, भगवान्‌की गन्धसे, भगवान्‌के शब्दसे, भगवान्‌के ध्यानसे जीवका कल्याण सम्पन्न होता है। इन्द्र-सरीखे देवता अपने गुरुका तिरस्कार करते हैं, उनको ब्रह्महत्या लग जाती है, फिर भी भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। और अन्तके दो अध्यायोंवाले अर्चनाप्रकरणमें यह बताया गया है कि भगवान्‌की पूजासे जब असुरयोनिवालोंका भी कल्याण हो जाता है, तब मनुष्ययोनिमें जो भगवान्‌की पूजा-अर्चा करते हैं उनके मङ्गलका तो कहना ही क्या है ?

इस स्कन्धमें यह बात बतायी गयी है कि जैसे माली अपने बगीचेके पौधोंको सींचता है, खाद देता है अथवा माता-पिता अपने बच्चोंकी सार-सँभाल रखते हैं, वैसे ही भगवान् अपने भक्तोंका पालन-पोषण तथा संरक्षण-संवर्द्धन करते हैं। जैसे कोई बच्चा गन्दे-गन्दे नालेमें गिर जाये तो उसकी माँ उसको उठाती है, धोती है, गोदमें लेती है, दूध पिलाती है, वैसे ही भगवान् जीवको किसी हालतमें भी नहीं छोड़ते और उसको पोषण प्रदान करते हैं। इसीको पुष्टि कहते हैं और छठे स्कन्धमें इसीका वर्णन जगह-जगह मिलता है।

: १ :

अब राजा परीक्षितने कहा कि महाराज, आपने निवृत्ति-प्रवृत्ति मार्ग, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, धर्म-अधर्म और अधर्मके कारण प्राप्त होनेवाले नरकोंका वर्णन किया। प्रियव्रत, उत्तानपाद आदिके बहुत पवित्र चरित्र सुनाये। उनके मङ्गल प्रस्थान आदिका वर्णन किया। किन्तु आपने जिन नरकोंका परिचय दिया है उनमें तो बड़ी भारी यातना होती है। वैसे वे हैं तो सब भगवान्‌के स्वरूप ही, पर महात्मा लोगोंने कुछ ऐसी दृष्टि बदल दी है कि यदि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम विषयक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध चरित्रोंका वर्णन हो, तब तो उसके श्रवणसे बहुत ही आनन्द आता है। किन्तु भगवान्‌के स्वरूपान्तर्गत होनेपर भी नरकों और राहु, केतु, शनैश्चर आदिके वर्णन सुननेमें रुचि नहीं होती। ये सब ध्यान करनेके लिए होंगे भगवान्‌के शरीरमें, परन्तु जिन नरकोंमें बहुत उग्र यातना दी जाती है, उनमें मनुष्यको कभी जाना न पड़े—वह उपाय आप हमें बतानेकी कृपा करें।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे पाप करता है। यदि वह इसी जीवनमें उसका प्रायश्चित्त न कर ले तो उसको नरकमें जाना ही पड़ेगा। नरकमें ढकेलनेके लिए उसके काम और क्रोधादि-जन्य पाप दरवाजे खोल-खोलकर बैठे हैं। इसलिए मनुष्यको इसी जीवनमें अपने पापोंके नाशका प्रयत्न कर लेना चाहिए। बड़ा पाप हो तो बड़े प्रायश्चित्त और छोटा पाप हो तो छोटे प्रायश्चित्तका विधान है, वैसे ही जैसे बड़े रोगकी दवा बड़ी और छोटे रोगकी दवा छोटी होती है।

राजा परीक्षितने कहा—महाराज, हमारा अभिप्राय यह है कि मनुष्य, पाप करना बुरा है—यह जानते हुए भी पाप करता है। ऐसा करनेमें उसकी विवशता मालूम पड़ती है। ऐसी अवस्थामें उसके पापोंका प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है। वह कभी तो प्रायश्चित्त करके पूर्वकृत पापोंसे छुट्टी पा लेता है, परन्तु फिर पाप करने लगता है। फिर उसके पापोंका अन्त कैसे होगा ?

'प्रायः पापं विनिर्दिष्टम् चित्तं तस्य विशोधनम्'—इसमें प्रायः शब्दका अर्थ है पाप और चित्तं शब्दका अर्थ है शोधन। धर्मशास्त्रमें जहाँ आचार-प्रकरण, व्यवहार-प्रकरण है, वहाँ प्रायश्चित्त-प्रकरण भी है। यह प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रोंकी खास वस्तु है। किस पापका प्रायश्चित्त कैसे होगा, उसका एक विज्ञान होता है। वैसा प्रायश्चित्त करनेसे पापका निवारण होता है। परन्तु यदि मनुष्य प्रायश्चित्त करनेके बाद फिर पापमें प्रवृत्त होता है तो उसका प्रायश्चित्त वैसे ही व्यर्थ हो

जाता है जैसे हाथी नहानेके बाद फिर अपने ऊपर धूल डाल लेता है। ऐसी स्थितिमें प्रायश्चित्तसे क्या लाभ है?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, असलमें कर्मसे कर्म पूरी तरह कटता नहीं है। प्रायश्चित्तका विधान अविद्वान् अधिकारीके लिए है। जो यह नहीं समझता कि पाप-पुण्य क्या है, उससे यदि पाप हो जाता है तो कहा जाता है कि भाई, तुम अपने पाप-निवारणके लिए अमुक प्रयश्चित्त कर लो।

अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्। ११

आजकल मालूम नहीं कि लोगोंमें पाप-पुण्यकी कितनी भावना है। पहले तो किसीसे बिल्ली मर जाती तो बड़ा भारी प्रायश्चित करते थे। खूँटेपर, रस्सीमें बँधी हुई गाय मर जाती तो उसका भी प्रायश्चित करते थे, क्योंकि बँधी गायका मरना पाप समझा जाता था। परन्तु आश्चर्यकी बात यह कि अदालतमें जाकर झूठी गवाही देना पाप नहीं समझा जाता था। लोग न तो उसका प्रायश्चित करते और न झूठ बोलना छोड़ते। यहींतक नहीं दूसरेका माल हड़पना भी पाप नहीं समझते। इस प्रकार लोगोंकी बाह्यदृष्टि हो गयी। क्योंकि अन्तरङ्ग पापकी उपेक्षा हो गयी तथा वहिरङ्ग पापकी पकड़ हो गयी और यही मनुष्यके मनमें वास्तविक पापसे भय एवं शास्त्रसे श्रद्धा हटानेमें कारण बनी।

इसलिए शुकदेवजी महाराजने परीक्षितको समझाया कि 'प्रायश्चित्तं विमर्शनम्' अर्थात् अपने मनमें यदि इस विचारका उदय हो जाये कि क्या पाप है, क्या पुण्य है और क्या प्रायश्चित्त है तब वास्तविक प्रायश्चित्त हो जाता है। जिस प्रकार कोई 'पथ्यमेवान्नं' (१२)का भोजन करे तो उसको व्याधि नहीं सतायेगी, इसी प्रकार मनुष्य यदि तपस्या, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम और नियमपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे तो धीरे-धीरे उसके पापोंका क्षय होकर उसका कल्याण हो जायेगा।

कई लोग केवल भक्तिके द्वारा ही वासुदेव-परायण होकर अपने पापको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देते हैं। यह भक्ति-सम्प्रदाय है। श्री शुकदेवजी महाराज अपना मत भी इसी पक्षमें देते हुए कहते हैं कि तपस्या आदिसे मनुष्यकी उतनी पवित्रता नहीं होती, उतना प्रायश्चित्त नहीं होता, जितना भगवान्के चरणोंमें अपना प्राण अर्पण कर देनेसे होता है। 'तत्पूरुषनिषेवया' (१६)—भगवान्के भक्तकी सेवा करनेसे जैसा प्रायश्चित होता है वैसा और किसी प्रकार नहीं होता। लोग बड़े-बड़े प्रायश्चित्त तो करते हैं, परन्तु भगवान्के चरणारविन्दसे विमुख होनेके कारण ही प्रायश्चितसे कोई लाभ नहीं होता। जैसे शराबसे भरे हुए घड़ेको कोई नदीमें ले जाकर कितना भी धोये फिर भी वह घड़ा शुद्ध नहीं होता, वैसे ही यदि मनुष्यके हृदयमें भगवद्भक्ति न हो तो केवल प्रायश्चितसे उसकी शुद्धि नहीं होती। मनुष्यकी वास्तविक शुद्धि तो भगवान्की भक्तिसे ही होती है।

'सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागियैरिह' (१९) एक बार यदि अपना मन भगवान्‌में लग जाये, मनुष्यका राग भगवान्‌के गुणोंमें हो जाये और उनके चरणारविन्दमें उसका मन पहुँच जाये तो उसको स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशका दर्शन नहीं होता।

अब श्री शुकदेवजी राजा परीक्षितको एक पुरातन इतिहास सुनाने लगे जिसमें विष्णु और यमराजका सम्वाद है—'अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्' (२०)। कान्यकुब्जमें एक अजामिल नामक ब्राह्मण रहते थे। कान्यकुब्जको ही आजकल कन्नौज कहते हैं, जहाँके कान्यकुब्ज ब्राह्मण बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँके निवासी अजामिलने अपने आपको परमात्मासे नहीं मिलाया। वे अजसे अर्थात् परमात्मासे तो अमिल हो गये लेकिन अजासे अर्थात् मायासे मिल गये। जो अजा = मायासे मेल कर ले वह अजामिल। उस अजामिलका दासीसे संसर्ग होनेके कारण सदाचार नष्ट हो गया। वे लोगोंको बन्दी बनाकर पैसा वसूल करें, जूआ खेलें, छल-कपट करें, चोरी करें और उसीसे अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करें। इसीमें उनकी आयुके अट्ठासी बरस निकल गये। उनके दस पुत्र थे, जिनमें सबसे छोटेका नाम था नारायण। वह अपने माता-पिताका बहुत प्यारा था। अजामिल अपना मन उसीमें लगाकर रहते, उनको अपनी मृत्युका ख्याल ही छूट गया। जब मृत्यु उनके सन्निकट आयी और उन्होंने देखा कि यमराजके भड़े भयंकर दूत सामने खड़े हैं तब उन्होंने अपने बेटे नारायणको पुकारा। वह उनसे कुछ दूरीपर खेल रहा था, इसलिए उन्होंने प्लुतस्वरसे व्याकुल होकर 'नारायण-नारायण-नारायण' पुकारा।

अब यह नाम चाहे अजामिलके लड़केका ही था और उन्होंने मृत्युभयसे भयभीत होकर ही अपने लड़केको पुकारा था, लेकिन यही नाम भगवान्‌का भी होनेके कारण भगवान्‌के पार्षद वहाँ आ धमके और उन्होंने यमराजके दूतोंको, जो अजामिलके प्राण तथा सूक्ष्म शरीर खींच रहे थे, पीछे ढकेल दिया—'वारयामासुरोजसा' (३१)। इसपर धर्मराजके दूत कहने लगे—क्योंजी, तुम लोग कौन हो? हमको क्यों रोकते हो? देवता हो, उपदेवता हो, सिद्ध हो, क्या हो? तुम लोग देखनेमें तो बहुत सुन्दर लगते हो—कमलनयन हो, पीताम्बरधारी हो, किरीटी हो, कुण्डली हो। तुम्हारी चार-चार भुजाएँ हैं और उन सबमें तुमलोग अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए हो। तुम्हारी अङ्गकान्तिसे दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया है। लेकिन हम भी धर्मराजके सेवक हैं। तुमलोग हमारा निषेध क्यों करते हो?

इस पर भगवान्‌के पार्षद बोले कि अच्छा, तुमलोग धर्मराजके दूत हो तो यह बताओ कि धर्मका लक्षण क्या है? धर्मका तत्त्व क्या है?—'ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम्' (३८)। यह भी बताओ कि दण्ड किस-किसको दिया जाता है? क्या तुमलोग सबको दण्ड देते हो या किसी-किसीको ही दण्ड देते हो?

अब धर्मराजके दूतोंने धर्मका निरूपण प्रारम्भ करते हुए कहा कि 'वेदप्रणिहितो धर्मो

ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः' (४०)। वेदोंमें अधिकारी-विशेषको, प्रयोजन-विशेषकी सिद्धिके लिए जो करनेकी आज्ञा दी गयी है उसका नाम धर्म है।

देखो, यदि कोई कहे कि मुझे तो मनुष्योंका भला करना है उसके लिए भले ही पशु-पक्षियोंको मारना पड़े—तो क्या यह धर्म है? ऐसा सोचनेवाला तो मनुष्योंके साथ जातीयता होने और पशु-पक्षियोंके साथ जातीयता नहीं होनेके कारण अपने सजातियोंमें फँस जाता है, वह धर्म कहाँसे करेगा? इसलिए धर्मकी गति बहुत सूक्ष्म है, उसमें कहीं-न-कहींसे पक्षपात आ निकलता है। इसीलिए अपने रागद्वेषके अनुसार धर्मका निर्णय नहीं होता। वेदके द्वारा जो कर्तव्य रूपसे उपदिष्ट है, वही धर्म है और जिसका निषेध है, उसका नाम अधर्म है।

वेद कैसे हैं? वे तो साक्षात् भगवान् ही हैं। वेद-वचनमें किसीके अन्तःकरणकी मैल नहीं लगी। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव—ये सब उसमें पूर्णतः नहीं हैं। स्वयं-भू हैं वेद भगवान्। वेदके द्वारा ही अपने स्वरूपमें क्या रजोगुण है, क्या तमोगुण है, क्या सात्त्विक है, क्या वर्ण है और क्या आश्रय है—यह सब मालूम पड़ता है। मनुष्यके शरीरमें सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, गाय, सोम, सन्ध्या, दिन-रात, दिशा, जल, पृथिवी, काल और धर्म गवाहके रूपमें रहते हैं तथा उनसे अधर्मका ज्ञान हो जाता है। फिर कर्मानुरोधके अनुसार दण्ड दिया जाता है।

संसारमें ऐसा कोई देहधारी नहीं जो कर्म न करता हो। जो कर्म करेगा उससे पाप भी जरूर होगा; इसीलिए थोड़ा-बहुत दण्ड सबको भोगना पड़ता है। अधर्मसे दुःख मिलता है और धर्मसे सुख मिलता है।

धर्म मन और इन्द्रियोंको धारण करनेवाली वृत्तिको कहते हैं। शास्त्रोंमें धर्मके अद्भुत-अद्भुत लक्षण मिलते हैं। जब हम किसी एक दल या पार्टीमें हो जाते हैं, तब उसी दल या पार्टीके धर्म-लक्षण बताने लगते हैं।

कर्मोंके तीन प्रकार होते हैं—सात्त्विक, राजस ओर तामस। ये पूर्व जन्मके कर्मका तो अनुमान कराते ही हैं, आगेके जन्मका भी अनुमान करा देते हैं। धर्म और अधर्मसे भूत एवं भावी जन्मोंका पता चल जाता है। यमराज जब मनुष्यको देखते हैं तब उसकी शकलसे ही पहचान जाते हैं कि यह कैसा है, कहाँसे आया है और कहाँ जायेगा? जीवको तो सब भूल जाता है; लेकिन यमराजको नहीं भूलता।

मनुष्य अपने षोडश तत्त्वोंकी उपाधिको लेकर ज्ञानेन्द्रियोंसे और कर्मेन्द्रियोंसे जो कुछ कर्म करता है, उसके अनुसार उसको फल मिलता है। लिङ्ग शरीर ही जीवमें हर्ष, शोक, भय आदि डाल देता है। अगर जीवका लिङ्ग शरीरसे सम्बन्ध न हो तो उसकी मुक्ति हो जाय। यह जीव इस संसारमें ऐसा फँस जाता है कि उसको यहाँसे निकालनेका उपाय ही नहीं मिलता। जीव कर्म करनेके लिए विवश है। इसीके अनुसार उसको स्थूल सूक्ष्म शरीर मिलता है।

मेरे एक मित्र थे। यहाँ मैं उनका नाम नहीं लूँगा। वे मांसाहारी थे। एक दिन बातचीतमें पुनर्जन्मका प्रसंग छिड गया तो मैंने उनको बताया कि वासनाके अनुसार पुनर्जन्म होता है। उन्होंने पूछा कि अगर मरनेके समय मेरे मनमें मांस खानेकी इच्छा हुई तो मेरी क्या गति होगी? मैंने कहा—गीध बनोगे, कुत्ता बनोगे, शेर बनोगे और क्या बनोगे? मांसभोजी पशु-पक्षियोंकी योनिमें जितना मांस खानेको मिलेगा, उतना मनुष्य-योनिमें खाया ही नहीं जा सकता। लेकिन देखो, भगवान्ने तुम्हारे दाँत कैसे बनाये हैं। ये मास खानेके लिए थोड़े ही हैं? तुम मांसाहार करके अपने धर्मके विरुद्ध आचरण करते हो। अब मित्रकी आँख खुली और वे बोले कि हाय-हाय, मैं गीध बनूँगा, कुत्ता बनूँगा? अच्छा, मैं मांस खाना छोड़ देता हूँ और तबसे वास्तवमें निरामिष हो गये।

असलमें यह लिङ्ग शरीर ही मनुष्यको नाना योनियोंमें डालता है और वह अपने कर्मानुसार स्थूल शरीर धारण करता है। इसकी सार बात यह समझ लें कि जहाँ संसारकी दृश्य वस्तुसे आसक्ति होगी, वहाँ चेतन जड़ताकी ओर जायेगा। यदि तुम जड़से आसक्ति करोगे तो अपने चेतन रूपको छोड़कर जड़से फँस जाओगे। अब यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है कि ईश्वरसे प्रेम करके ईश्वरसे एक हो जाओ या जड़से प्रेम करके जड़से एक हो जाओ। ईश्वरके भजनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यमराजके दूतोंने आगे बताया कि यह अजामिल बड़ा विद्वान्, मन्त्रवित् और व्रती था—'अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तः गुणालयः' (५६)। गुरु, अग्नि, अतिथिकी सेवा-पूजा भी करता था। थोड़ा बोलता था। एक दिन समिधा लेनेके लिए वनमें गया तो वहाँ देखा कि एक शूद्र व्यभिचारिणी स्त्रीके साथ शराब पीकर मस्त हो रहा है। दोनों नंगे होकर एक दूसरेका आलिङ्गन कर रहे हैं। यह दृश्य देखकर अजामिलने अपने मनको रोका, परन्तु बहुत कोशिश करनेपर भी इसका मन रुका नहीं। ऐसा निमित्त आगया सामने कि इसके मनमें भी कामका प्रवेश हो गया। इसीलिए दुष्ट पुरुषोंका संसर्ग कभी नहीं करना चाहिए। अजामिलने दुनियाकी प्रवृत्तिमें रुकावट डालनेवाले अपने ब्राह्मणत्वको ही छोड़ दिया। यह उस कुलटा स्त्रीका ध्यान करने लगा और अपने घरमें पिता-पितामहकी कमायी हुई जो सम्पत्ति थी, वह सब उसको दे दी। इसने उसकी आसक्तिमें पड़कर अपनी नौजवान सती पवित्रात्मा पत्नीका परित्याग कर दिया। यह चोरी करता, जूआ खेलता और उसीसे अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करता। इसने शास्त्र-सदाचारका उल्लङ्घन किया और अबतक अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया। इसलिए हम इस पापीको दण्डपाणि भगवान् यमराजके पास ले जायेंगे। वहाँ यह अपने पापोंका दण्ड भोगकर शुद्ध हो जायेगा।

: २ :

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, विष्णु भगवान्‌के पार्षद बहुत बुद्धिमान् थे। वे यमदूतोंकी बात सुनकर बोले—वैसे तो तुमलोग धर्म जाननेवाले बनते हो, लेकिन तुम्हारी सभामें अधर्मका बोलबाला है। क्योंकि जिनको दण्ड नहीं देना चाहिए, जो निष्पाप हो गये हैं, उनको भी तुमलोग दण्ड देते हो। यदि इस तरह पितर, राजा और साधु भी अदण्डनीयको दण्ड देने लगें तो प्रजा किसकी शरणमें जायेगी? बड़े लोग जो कुछ करते हैं, छोटे लोगोंको भी वही करना पड़ता है। मनुष्य जिसकी गोदमें सिर रखकर निर्भय और निश्चिन्त हो गया है, वही यदि धर्माधर्मका विचार न करे तो मनुष्यकी क्या गति होगी? सब लोग तो यह विश्वास करके बैठे हुए हैं कि यमराज हमारे साथ अन्याय नहीं करेंगे, लेकिन तुमलोग यमराजके दूत होकर अन्याय करते हो तो प्रजा किसकी शरणमें जायेगी?

अरे, इस अजामिलने भगवान्‌के नामका उच्चारण करके कोटि-कोटि जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है। भले ही इसने विवश होकर भगवान्‌के नामका उच्चारण किया है, तथापि श्रीहरिके स्वस्त्ययन मङ्गलायतन नाममें इतनी शक्ति है कि इससे इसके सब पापोंका प्रायश्चित्त हो गया है। जिस समय इसके मुँहसे 'नारायण' यह चार अक्षरोंका नाम निकला उसी समय इसके सारे पाप नष्ट हो गये। यहाँ देखो, नामकी महिमा। लोग समझते हैं कि कर्म केवल हाथसे होता है, लेकिन जीभसे भी कर्म होता है, इस बातको लोग भूल जाते हैं। जीभसे गाली देनेपर पाप लगता है कि नहीं? यदि लगता है तो जीभसे पापकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी? और जब पापकी उत्पत्ति होगी तो पुण्यकी उत्पत्ति भी होगी; क्योंकि जीभ भी तो कर्मेन्द्रिय ही है। लेकिन यहाँ उसका साधारण कर्म नहीं है, ऐसा कर्म है जिसमें नामके रूपमें साक्षात् भगवान् ही है।

नाम क्या है ? जैसे तत्त्वमस्यादि महावाक्यों द्वारा आत्मा और ब्रह्मकी एकता प्रकाशित होती है, वैसे नाम प्रकाशक है और रूप प्रकाश्य है। नाम लेनेसे रूपका प्रकाश होता है। प्रमाणत्व नाममे है और प्रमेयत्व रूपमें है। जिस तरह हम बिना आँखके लाल, पीला या काला रंग नहीं देख सकते, वैसे ही विना नामके भगवान्‌को भी नहीं जान सकते। रूपका प्रमाता नाम ही है। रूप तो जड़में भी होता है लेकिन नामका उच्चारण चेतनमें ही होता है। यह चेतन-पक्षपाती है।

असलमें यज्ञ-यागादिमें जो पावकता है—पाप-निवारणकी शक्ति है, वह शास्त्र-वचनका ही—अपौरुषेय वेद-वचनका ही–प्रभाव है। वहाँ कर्मकी शक्ति नहीं, मन्त्रकी ही शक्ति है, जिससे देवता प्रकट होते हैं और अधिकारी शुद्ध होता है। मन्त्रकी श्रेष्ठतासे ही यज्ञ-यागादि सिद्ध होते हैं। यदि मन्त्र न हो तो वहाँ सब कुछ ठन-ठनगोपाल हो जाये। इसी प्रकार नामके विना भी कुछ नहीं हो सकता।

इसलिए भगवान्‌के पार्षद कहते हैं कि अजामिलके सारे पापोंका प्रायश्चित्त तभी हो गया जब इसने भगवान्‌के नामका उच्चारण कर लिया। कोई चोर हो, शराबी हो, मित्रद्रोही हो, ब्रह्मघाती हो, गुरुपत्नीगामी हो अथवा स्त्री, राजा, पितर, गायका वध करनेवाला हो, कैसा भी पापी हो, उसके सब पापोंका प्रायश्चित्त यही है कि वह भगवान्‌के नामका उच्चारण करे। क्योंकि नामका उच्चारण नामलेवाकी मतिको भगवान्‌में लगा देता है।

असलमें लोगोंको भगवान्‌की ओर चलनेसे रोकनेवाले, गिरानेवाले वे लोग हैं जो उनके जीवनमें-से नाम-जप पाठ-पूजा आदि छुड़वा देते हैं और कहते हैं कि आँख बन्द करनेसे ही भगवान् मिल जायेंगे। नासमझ लोग ऐसे लोगोंके चक्करमें आजाते हैं। लेकिन जबतक भगवान् शब्दके द्वारा हृदयमें नहीं आयेंगे, तबतक उनसे मिलनेका और कोई तरीका ही नहीं।

पापका प्रायश्चित्त जैसा भगवान्‌के नामोच्चारणसे होता है, वैसा बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा बताये व्रत आदिसे नहीं होता। क्योंकि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन फिर बुरे मार्गमें चला जाता है। अन्तःकरणकी प्रत्यक्ष शुद्धि करनेवाला तो भगवान्‌का नाम ही है—'हरेर्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः।'

इसलिए यमदूतो, तुमलोग अजामिलको मत ले जाओ। क्योंकि इसने म्रियमाण दशामें भगवान्‌के नामका भली-भाँति उच्चारण किया है—'म्रियमाणः समग्रहीत्' (१३)। यहाँ यह प्रश्न उठाते हैं कि मनुष्य मरनेके समय भगवान्‌का नाम कैसे ले सकता है ? मृत्युका क्षण नामका क्षण कैसे हो सकता है ? यह बात कैसे बन सकती है कि यदि म्रियमाण पुरुष भगवान्‌के नामका उच्चारण करे तो उसका परम कल्याण हो जाये ? यह तो अशक्यानुष्ठान-लक्षण अप्रामाण्य-जैसी बात है। मीमांसक लोग कहते हैं कि एक ऐसा विधान कर दिया गया, जिसको कोई कर ही न सके। यदि कोई किसीसे कहे कि पहले अपना सिर काट लो और फिर नमस्कार करो तो वह सिर काटनेके बाद कैसे नमस्कार करेगा ? मरनेके समय तो हाथ काबूमें नहीं रहता, जीभ काबूमें

नहीं रहती, सिर काबूमें नहीं रहता और लोग कहते हैं कि मरते-मरते भगवान्‌का नाम लो। कैसे लेंगे भगवान्‌का नाम ?

नही भाई, इस विधानमें अशक्यानुष्ठान-लक्षण-अप्रामाण्य नहीं है। भगवान्‌का नाम लेते चलो। नामोच्चारण और मृत्युके बीचमें कोई पाप नहीं होना चाहिए। छह मिनट पहले करो—नामोच्चारण होना चाहिए और उसके बाद फिर कोई पाप नहीं होना चाहिए। पाप ही तो दुर्गति में ले जाता है। जिस समय आप नामोच्चारण करेंगे, उस समय पहलेके सारे पाप नष्ट हो जायेंगे और दूसरे पाप होंगे नहीं, तो आपकी सद्गतिमें कोई शङ्का ही कहाँ रही ? नामोच्चारणके बाद फिरसे पाप करनेपर नामका तिरस्कार हो जाता है, नामापराध बन जाता है। नामापराध होनेपर पाप जिन्दा हो जाते हैं। इसलिए बिना पाप किये नाम लेते चलो, लेते चलो। नाम लेते-लेते यदि जीभ बन्द हो जाये, चेतना लुप्त हो जाये, होश न रहे और फिर नाम भी न लिया जा सके तो कोई हरज नहीं।

यमदूतो, अजामिलने भगवान्‌के नामका उच्चारण करके अपने सारे पापोंका प्रायश्चित्त कर लिया है, क्योंकि 'सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा' (१४)। भगवान्‌का नाम कैसे भी लिया जाय—चाहे संकेतमें, परिहासमें, तान अलापनेमें अथवा किसीकी अवहेलना करनेमें, तो भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

हमारे एक महात्मा हैं। वे ऐसे बोलते हैं कि ओ रामका बेटा, उस रामकी बेटीको मेरे पास ले आ। उनके सेवकका नाम होता है रामका बेटा और उनकी जरूरतकी चीजें—जैसे चादर, लोटा, कमण्डलु, गुलाबजामुन आदि रामकी बेटियाँ हैं। रामका बेटा लानेवाला और रामकी बेटी लायी जानेवाली वस्तु। इस प्रकार वे हर बातमें 'रामका बेटा, रामकी बेटी' प्रयोग करते हैं। आपको मैंने पहले सुनाया था कि एक ऐसे महात्मा हैं जिनके सिरसे, हाथसे, पाँवसे छातीसे, सब अङ्गोंसे भगवान्‌के नामकी ध्वनि निकलती है। उनका ऐसा अभ्यास किया हुआ है कि उनका रोम-रोम भगवान्‌का नाम बोलता है।

तो किसी भी अवस्थामें भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्यके सारे पापोंका नाश हो जाता है। चाहे कोई पतित हो रहा हो, स्खलित हो रहा हो, भग्न हो रहा हो, संतप्त हो रहा हो अथवा आहत हो रहा हो, कैसी भी विवशताकी स्थितिमें हो, भगवान्‌के नामका उच्चारण करे तो मनुष्यका कल्याण हो जाता है। किसीको धिक्कारना हो तो राम-राम बोले, किसीसे घृणा करनी हो तो राम-राम बोले, मच्छर काटता हो तो राम-राम बोले, कोई अशुद्ध छींटा पड़ गया तो राम-राम बोले, इस प्रकार इतनेसे भी नाम लेनेवालेका मङ्गल हो जाता है, क्योंकि नाममें बहुत बड़ी शक्ति है। वेदोंमें भी नामकी महिमा गायी गयी है—'अमर्त्यस्य ते भूरिनाम मनामहे। (ऋग्वेद ८.११.५)

प्रभो, हमलोग मौतसे घिरे हुए हैं और तुम अमर हो। हम तुम्हारे नामका भजन करते हैं और राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, नारायण-नारायण, शिव-शिव आदि नामोंका उच्चारण करते हैं, यमदूतो, मनुष्यके पाप बड़े भी होते हैं और छोटे भी होते हैं तथा उनके प्रायश्चित भी उन्हींके अनुसार बड़े-छोटे होते हैं। उन प्रायश्चित्तोंसे, तपसे, दानसे पाप तो छूट जाते हैं, परन्तु जिस हृदयमें-से पाप निकलते हैं, वह हृदय पवित्र नहीं होता। हृदय पवित्र तभी होता है जब उसमें भगवान्‌की भक्ति आजाये।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥ १८

कोई भगवान्‌के नामका उच्चारण जानबूझकर करे अथवा अनजानमें करे, उससे पापराशि वैसे ही जल जाती है जैसे लकड़ीको जान-अनजानमें लगी हुई आग जला देती है। इसको ऐसे भी समझें कि पापको मूर्तिको कभी किसीने नहीं देखा कि वह कैसी होती है? उसका स्वरूप शास्त्रगम्य ही है। इसीलिए जब पाप शास्त्रसे प्राप्त है तो उसकी निवृत्ति भी शास्त्रोक्त उपायसे ही होगी, अन्य किसी उपायसे नहीं होगी। जैसे वीर्यवर्द्धक ओषधि अनजानमें भी खा लेनेपर अपना गुण प्रकट करती है, वैसे ही कोई भगवान्‌का नाम अनजानमें भी उच्चारण कर ले तो वह अपना प्रभाव डालता है।

एक पुराणमें ऐसा आया है कि किसी डाकूको हर-हर माने लूट लो-लूट लो और प्रहर-प्रहर माने मारो-मारो कहनेकी आदत थी। इसलिए मरते समय भी वह हर-हर प्रहर-प्रहर बकने लगा। इसपर भगवान् शंकरके दूतोंने कहा कि अरे यह तो 'हर-हर' कर रहा है और उनके द्वारा उसका कल्याण हो गया। इसी तरह एक महात्मा थे, जो कोई श्लोक पढ़ते समय हरामः, स्मरामः इस क्रिया पदका प्रयोग कर रहे थे। सबमें रामः रामः आ रहा था। उसी समय उनके प्राण छूट गये और उनका कल्याण हो गया।

इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। इसका गुर जाननेकी जरूरत है। जितने भी साधन-अभ्यास होते हैं, सब अपने बलसे, अपनी शक्तिसे किये जाते हैं और वे मनुष्यका कल्याण करते हैं। लेकिन भगवान्‌के नामकी यह विलक्षणता है कि वह हमारे साधन, हमारी शक्ति, हमारे बलसे हमारा कल्याण नहीं करता। 'प्रमेयबलमासाद्य'—इसमें तो स्वयं भगवान्‌का बल है। यदि कोई कहे कि जब हम मानेंगे, विश्वास करेंगे तब भगवन्नाम फल देगा तो ऐसा बिलकुल मत सोचो। यह कहना कि जब हम नामपर श्रद्धा करते हैं तब वह फल देता है, ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेवालेकी श्रद्धा तो उसकी अपनी श्रद्धापर है, नामपर कहाँ है? इसलिए ऐसे कहना चाहिए कि चाहे हम श्रद्धा करें, चाहे न करें, नाम तो अपना फल देगा ही। ऐसा विश्वास होनेपर ही नामपर श्रद्धा होगी। आप निश्चित समझ लें कि इस समय आप जो राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, शिव-

शिव, नारायण-नारायण सुन या बोल रहे हैं, तो इसके श्रवण अथवा उच्चारणमात्रसे आपकी जन्म-जन्मकी संचित पापराशि नष्ट हो रही है।

नाममें ज्ञान-अज्ञानका कोई प्रश्न नहीं है। कोई भी जगह हो—चाहे चाण्डालका घर हो, नरक हो, वैतरणी हो; कोई भी समय हो—चाहे कलियुग हो, सत्ययुग हो, त्रेता हो, द्वापर हो, दिन हो, रात हो, सायं हो और कोई भी अधिकारी हो—चाहे चाण्डल हो, पुल्कस हो, यवन हो और चाहे उसको नामका परिचय हो या न हो, परन्तु यदि भगवन्नाम वाणीमें आगया तो सब मङ्गल ही मङ्गल है।

यह पूर्व-मीमांसाका विषय नहीं, उत्तर-मीमांसाका विषय है। पूर्व-मीमांसाके द्वारा जो धर्माधर्मका निर्णय किया जाता है, वह पृथक् है। वैसे हमारे विद्वानोंने पूर्व-मीमांसाकी रीतिसे भी नामकी महिमाका बड़ा भारी निरूपण किया है। इन्हीं श्लोकोंकी व्याख्यामें श्रीधर स्वामीने और भगन्नाम-कौमुदीके कर्ता लक्ष्मीधरने पूर्व-मीमांसाकी रीतिसे नाम-महिमाका साधन किया है। इसलिए नामपर कभी कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए।

तो भगवान्के पार्षदोंने नामकी महिमाका वर्णन करके अजामिलको यमराजके फन्देसे मुक्त कर दिया। यमदूत वापिस लौट गये और उन्होंने वहाँ जाकर यमराजको सारा हाल सुनाया।

देखो, अजामिलके प्रसंगमें महात्मा लोग एक कथा सुनाते हैं। अजामिल जिस गाँवमें रहता था, वहाँ एक वैष्णव महात्मा पहुँचे। रातका समय था, इसलिए वे किसी सद्गृहस्थके यहाँ ठहर जाना चाहते थे। आप जानते हैं गाँवके बालक कितने उपहास-प्रिय होते हैं। उनमें जैसी प्रवृत्ति आजकल दिखाई देती है, वैसी ही प्रवृत्ति पहले भी थी। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण महात्माओंपर कितनी कृपा करते थे, किन्तु उनके बालक महात्माओंका उपहास करते थकते नहीं थे। यहाँतक कि उनकी परीक्षा भी लिया करते थे। इस तरह हमेशा ही अगली पीढ़ी पिछली पीढ़ीकी अपेक्षा नया ढंग लेकर आती रहती है और बादमें बूढ़ी होनेपर ठीक हो जाती है। इसमें चिन्ता करनेकी कोई जरूरत नहीं। तो उन आगन्तुतक महातमाने रात्रि-निवासके लिए किसी सद्गृहस्थका पता पूछा तो बच्चोंने व्यङ्ग्यमें कहा कि महाराज, हमारे गाँवमें सबसे बड़ा धर्मात्मा अजामिल है। उसीके दरवाजेपर आप चले जाइये। वहीं आपका स्वागत-सत्कार होगा और आपको खाना-पीना भी मिलेगा। महात्मा वहाँ गये तो अजामिल घरपर नहीं थे। उनकी पत्नी थी। उसने कहा कि वैसे तो हमारे दरवाजेपर कोई साधु आता नहीं, आज हमारा धन्य भाग्य है जो एक साधु आगया। उसने महात्माको बैठाया, उनका स्वागत-सत्कार किया और अपने बच्चेको उनके सामने रखती हुई बोली—महाराज, आप हमारे घरमें पधारे हैं तो इस बच्चेका नाम रख दें। इतनी देरमें महात्माने समझ लिया था कि यह स्त्री तो पतित है ही, इसका पति अजामिल भी पतित है। उन्होंने नजर दौड़ाकर देख लिया कि इस घरमें शराब है, चोरीका माल है, फिर भी उन्होंने सोचा कि इनका

कल्याण तो होना ही चाहिए। उनके हृदयमें दया आयी और उन्होंने उस बच्चेका नाम नारायण रख दिया। आगे चलकर साधुका संकल्प पूरा हुआ और उसी नारायण नामक पुत्रके द्वारा अजामिलका उद्धार हो गया। इस कथासे भी सिद्ध होता है कि भगवान्‌के नाममें कितनी बड़ी शक्ति है।

अब जब ब्राह्मण देवता अजामिल भगवान्‌के पार्षदोंकी कृपासे पाप-विनिर्मुक्त हो गये तो बड़े निर्भय हुए। उन्होंने पार्षदोंको नमस्कार किया और उनकी स्तुति करनी चाही, परन्तु जबतक वे कुछ बोलें तबतक पार्षद वहाँसे गायब हो गये।

अजामिलने भगवन्नामकी महिमाके सम्बन्धमें पार्षदों और यमदूतोंका सम्वाद तत्काल सुन लिया था। उससे उनके हृदयमें भक्तिका उदय हो गया—'माहात्म्य-श्रवणाद्धरेः' (२५)। इससे क्या सिद्ध होता है? यही सिद्ध होता है कि कोई नाकसे सूँघकर या जीभसे चाटकर भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। वह भगवान्‌का भक्त तभी हो सकता है जब भगवान्‌के माहात्म्यको कानसे सुने। अतीन्द्रिय पदार्थमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए श्रवणके सिवाय और कोई साधन हो ही नहीं सकता—

श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। (बृहदा० २.४.५)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम। (ऋग्वेद १.८९.८)

अब जब भगवान्‌के पार्षद चले गये तब अजामिलके मनमें बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ कि हाय-हाय मैंने इन्द्रिय-संयम न करके अपने ब्राह्मणत्वका नाश कर दिया। मैं शराब पीने लगा और शराब पीनेवाली स्त्रीके साथ रहा। मैंने बड़ा भारी नीच कर्म किया। मुझे धिक्कार है। मैं नरकमें जाऊँगा। मैंने अभी-अभी जो दृश्य देखा है वह क्या स्वप्न था? मुझे कौन घसीट रहा था? किसने छुड़ाया! मैं तो बहुत अभागा हूँ। लेकिन एक बात है, अब मेरा मङ्गल जरूर होगा, क्योंकि एक तो मेरे मनमें प्रसन्नता आरही है और दूसरे मरते समय मेरे मुँहसे नारायण नाम निकला था।

देखो, अजामिलने जानबूझकर तो नारायण-नारायण पुकारा नहीं था। जब उसने नारायण-नारायण नाम लेकर पुकारा और भगवान्‌के पार्षद उसकी ओर दौड़े तब वैकुण्ठमें भगवान्‌के सामने यह सवाल पैदा हो गया कि उसने आपका नाम तो लिया नहीं, केवल नामाभास लिया और वास्तवमें अपने बेटेका नाम लिया। उसका विवक्षित अर्थ आपका नाम नहीं था, अपने बेटेका नाम था। जिस अर्थके लिए शब्दका प्रयोग किया जाता है, वही अर्थ ग्रहण किया जाता है—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।' जब बेटेके लिए नाम लिया गया तो वह बेटेका नाम हुआ, आपका नाम कैसे हुआ? इसपर भगवान् बोले—वह नहीं जानता कि नारायण किसका नाम है, लेकिन मैं तो जानता हूँ कि यह मेरा नाम है। इसलिए मैं अपनी जानकारीके अनुसार काम करूँगा।

तो अजामिलने कहा—चाहे कोई कैसा भी हो यह मङ्गलमय भगवन्नाम नारायण जिसकी वाणीपर आगया, वह पवित्र हो जाता है। अब तो मैं ऐसा करूँगा कि फिर मुझे संसार-बन्धनमें न जाना पड़े और अविद्या, कामना, कर्मका सारा बन्धन कट जाये। मैं-मेरा करके देहादिमें जो मिथ्या अर्थ-बुद्धि हुई है, इससे मैं छूटूँगा और भगवान्में मन लगाऊँगा।

इस प्रकार अजामिलको आधे क्षणके लिए भी जो भगवान्के पार्षदोंका साधुसङ्ग प्राप्त हुआ, उससे उसकी सारी आसक्ति कट गयी। वह हरद्वार चला गया। वहाँ जाकर उसने अपने मन और इन्द्रियोंको भगवान्में लगाया और उसके बाद अपनी चित्तवृत्तिको सम्पूर्ण विषयोंकी ओरसे खींचकर अनुभवात्मा ब्रह्ममें लगा दिया। उसके बाद फिर वहाँ भगवान्के दूत विमान लेकर आये। अजामिलने अपना पार्थिव-शरीर छोड दिया और दिव्य स्वरूप धारण करके विमानपर बैठकर वैकुण्ठ चला गया।

एवं स विप्लावितसर्वधर्मा दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन्॥ ४५॥

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, अजामिल अपना सारा धर्म छोड़ चुका था, नष्ट कर चुका था, अपने नीच कर्मोंके कारण पतित हो गया था और नरकमें डाला जा रहा था, लेकिन भगवन्नामके उच्चारणसे वह तत्काल मुक्त हो गया। इससे बढ़कर कर्मबन्धनसे छुड़ानेके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्योंकि इससे फिर कर्ममें नहीं जाता। यह गुह्य इतिहास है। इसका श्रद्धाके साथ श्रवण करना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसको यमराजके दूत देख भी नहीं सकते—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥ ४९

अन्तमें श्री शुकदेवजी परीक्षितसे कहते हैं कि अजामिल होश-हवासमें नहीं था तो भी उसने मरते-मरते भगवान्का नाम ले लिया—वह भी पुत्रके बहाने, सीधे-सीधे नहीं। जब अजामिल-सरीखा पापी भी भगवन्नामका उच्चारण करके परम धामको प्राप्त हो गया, तब कैमुतिक न्यायकी परम्पराके अनुसार यदि कोई श्रद्धासे भगवान्का नाम ले, मरते समय नहीं—होश-हवासमें ले, पुत्रके बहाने नहीं—सच्चा नाम ले और वह पापी नहीं सदाचारी हो तो उसको भगवान्के धामकी प्राप्ति हो जाये तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

●

: ३ :

अब राजा परीक्षित प्रश्न उठाते हैं कि धर्मराजने अपने दूतोंकी बात सुनकर क्या कहा ? ऐसा तो कभी सुननेमें नहीं आया कि धर्मराजके आदेशका कभी किसीने भङ्ग किया हो। लोगोंके मनमें बहुत सन्देह होगा; इसलिए आप इसका समाधान कर दीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि जब यमदूत अपने स्वामी यमराजके पास पहुँचे तब उन्होंने पूछा कि महाराज, इस संसारमें कितने यमराज हैं और लोगोंको दण्ड देनेवाले कितने हैं ? यदि बहुत होंगे तब तो किसको सुख मिले और किसको दुःख मिले इसकी व्यवस्था एक-जैसी नहीं हो सकेगी। तब तो लालफीताशाहीमें ही सारी जिन्दगी बीत जायेगी और सबके यहाँ कागज ही घूमता रहेगा। आप हमारे इस संशयका निवारण कीजिये। यमराजने कहा कि नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं, बहुत शासक नहीं हैं। तुम लोग अपनी पूरी बात बताओ। यमदूतोंने कहा—हमलोग आपकी आज्ञाके अनुसार पापी अजामिलको लेने गये थे। वहाँ चार सिद्ध आगये और हमको मार-पीटकर भगा दिया। 'छित्वा पाशान् प्रसह्य ते' (१)—यह देखिये आपकी रस्सी बलपूर्वक काटी गयी है। अब आप बताइये कि वे कौन हैं, जो अजामिलके मुँहसे नारायण नाम निकलते ही वहाँ दौड़कर आगये ?' जब यमराजके कानमें नारायण नाम पड़ा तो वे गद्गद हो गये।

क्योंकि वे परम भागवत हैं। उन्होंने समझ लिया कि हमारे दूतोंको भगवान्‌के पार्षदोंका दर्शन हुआ है, इसलिए वे स्वयं भी भगवान्‌के चरणारविन्दके स्मरणमें मग्न हो गये। फिर बोले—भगवान् नारायण तो हमसे, तुमसे, सबसे परे हैं। उनमें यह सारी सृष्टि वैसे ही है, जैसे सूतमें कपड़ा। उन्हींके अंशसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और उन्हींके नाम और वाणीसे बँधी हुई है। इन्द्रादि सहित हम सब उनकी आज्ञाका पालन करते हैं। उनकी महिमाका पार कोई नहीं पा सकता। वे तो हमारे हृदयमें ही बैठे हुए हैं। उन्हींके पार्षदोंको तुमने देखा है। अपने स्वामी-जैसा ही रूप, गुण और स्वभाव धारण करके विचरण करते रहते हैं। भगवान्‌के भक्तोंकी रक्षा करना ही उनका काम है। इसलिए वे सृष्टिमें घूमते रहते हैं। रही बात धर्मकी, सो तो साक्षात् भगवान् द्वारा ही प्रणीत है।

यहाँ देखो, जब यमराजके दूतोंने भगवान्‌के पार्षदोंके सामने धर्मका निरूपण किया था तब उसको वैदिक बताते हुए कहा था, 'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः'। (१.४०)—अब यमराज धर्मका निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह भगवत्प्रणीत है—'धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्'। (१९)—इसमें परस्पर विरोधकी कोई बात नहीं है। दोनों परिभाषाओंके अनुसार धर्म बिलकुल ठीक है, उसमें कुछ दोष नहीं है। परन्तु यमराज भगवान्‌के परम भक्त हैं, इसलिए उन्होंने भागवत-पद्धतिसे धर्मका वर्णन किया। वैदिक नियमानुसार भी भागवत-धर्म होता है, परन्तु इस भागवत-धर्मकी एक विशेषता है। वह यह कि 'न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः'। (१९)—ऋषि और देवता नहीं जानते। इसको तो ब्रह्मा, नारद, शङ्कर, सनत्कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, व्यास और मैं कुल बारह जन ही जानते हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥ २०

इसलिए मैं तुम लोगोंको धर्मकी नहीं, परम धर्मकी बात बतलाता हूँ। इस लोकमें परम धर्म यही है कि नाम ग्रहण आदिके द्वारा भगवान्‌में भक्तियोग हो। अरे मेरे बच्चो! देखो, भगवान्‌के नामकी महिमा कि अजामिल-सरीखा पापी भी मृत्युपाशसे छूट गया, अन्यथा उसका छूटना बहुत कठिन था।

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥ २४

इसलिए मनुष्यके पापका नाश करनेके लिए बस इतना ही काफी है कि भगवान्‌के गुणका, कर्मका, नामका सङ्कीर्तन किया जाये। भगवान्‌के गुण-कर्मका, नामका सङ्कीर्तन संसारके जीवोंके अघनिर्हरणके लिए पर्याप्त है। 'एतावतालम्'का अर्थ है कि पापनाशके लिए और कोई प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं है। इस पदका प्रयोग प्रायश्चित्तोंके वारणके अर्थमें ही किया गया है।

इस प्रसङ्गमें यह प्रश्न उठाया गया है कि पाप कई-कई तो ऐसे हैं जिनके प्रायश्चित्तमें महीने-बारह महीने लग जाते हैं। किसी-किसी पापके लिए तो बारह बरसतक प्रायश्चित्तका उल्लेख किया है। कहीं तो ऐसा भी प्रायश्चित्त है कि भूसीकी आग सुलगाओ और वह ज्यों-ज्यों सुलगती जाय उसमें जल-जलकर मर जाओ। किन्तु इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका मत बिलकुल स्पष्ट है, दो टूक है—'प्रायेण वेद तदिद न महाजनोऽयं देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्'। (२५) यमराज कहते हैं—बड़े-बड़े प्रायश्चित्त बतानेवाले महापुरुषोंको प्रायः भगवान्‌के नामकी महिमा का ज्ञान नहीं होता। लो, यहाँ महाजनोंके ज्ञानपर ही आक्षेप कर दिया। वास्तवमें कभी-कभी मनुष्यके पेटमें, पाँवमें ऐसे रोग होते हैं जो साधारण दवाओंसे ठीक हो जाते हैं लेकिन बड़े-बड़े डाक्टर लोग जो उन दवाओंको नहीं जानते, कहते हैं कि हम तो आपरेशन करेंगे। यदि डाक्टरोंको वह मामूली दवा मालूम होती तो वे क्यों आपरेशन करते ? एक बार किसी बच्चेके नाकमें बलगम अटक गया। डाक्टर आये, उन्होंने जाँच की और कहा कि नाकका आपरेशन करना पड़ेगा। लेकिन गाँवकी एक बुढ़िया माई आयी। उसने बच्चेका मुँह हाथसे दबाया और उसकी नाकको मुँहमें लेकर ऐसे जोरसे हवा खींची कि सारा-का-सारा बलगम निकल आया। यह युक्ति डाक्टरको मालूम नहीं थी। इसी तरह कभी-कभी होम्योपैथीकी जरा-सी दवा काम कर जाती है और वैद्य-हकीमकी डलियाभर दवाएँ काम नहीं देतीं। राम नाम भी देखनेमें बहुत छोटा है, परन्तु यह बहुत बड़ा मन्त्र है। इसको न जाननेका कारण यही है कि लोगोंकी मतिको मायादेवीने मोहित कर रखा है। 'त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः। (२५)

लोग बड़े-बड़े ख्वाब दिखानेवाले वचनोंसे मोहित होकर सोचते हैं कि स्वर्गमें जायेंगे, वहाँ अप्सराएँ मिलेंगी और सोमरसका पान करनेको मिलेगा। उसके लिए यह करो, वह करो, वह करो। इस प्रकार मनुष्य बड़े-बड़े काम करनेके चक्करमें ऐसा पड़ गया—उसकी बुद्धि ऐसी जड़ हो गयी कि वह भगवान्‌के सीधे-सादे नामको नहीं पहचानता।

किन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष हैं वे इस बातको समझते हैं और अपना मन सर्वात्मा भगवान्‌में जोड़ देते हैं। ऐसे लोग न तो दण्डके पात्र हैं और न उनका कोई पाप शेष है। यदि उनसे कथञ्चित् कोई पाप हो भी जाये तो उसकी निवृत्ति भगवान्‌के नामसे ही हो जाती है। ऐसे लोगोंकी महिमा देवता लोग गान करते हैं और भगवान्‌की गदा उनकी रक्षा करती है।

यमराजने अपने दूतोंसे कहा कि तुम लोग अजामिलके पास गये तो गये, अच्छा हुआ कि बच-बचाकर लौट आये। अब जाओगे तो भगवान्‌के पार्षद तुम्हें चूर-चूर कर देंगे। 'नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' (२७)—उनको न तो मैं दण्ड दे सकता हूँ और न तुम लोग दण्ड दे सकते हो। तुम लोग तो उन दुष्टोंको ले आओ, जो मुकुन्द-पादारविन्दमकरन्द-रसका पान करनेवाले रसज्ञ परमहंसोंसे विमुख हैं। जो नरकके रास्तेमें तृष्णा बाँधकर बैठे हुए हैं, जिनकी जिह्वा कभी

भगवान्के नामका वर्णन नहीं करती, जिनका चित्त कभी भगवान्के चरणारविन्दका स्मरण नहीं करता और जिनके सिर कभी श्रीकृष्णके सामने नहीं झुकते, उन दुष्टोंको तुम लोग मेरे पास ले आओ। यह यमपुरी उन्हीं लोगोंके लिए बनी हुई है जो भगवान् विष्णुकी सेवा नहीं करते। लेकिन जिनके मुखसे भगवान्का नाम निकल गया, उनको कभी यहाँ नहीं ले आना। तुम लोगोंसे बहुत भारी गलती हुई है। अब मैं तुम्हारी ओरसे भगवान्से माफी माँगता हूँ। पुराण-पुरुष भगवान् हमको क्षमा करें; क्योंकि हमारे सेवकोंने तिरस्कार किया है। महापुरुषोंका तो यह स्वभाव ही होता है कि वे क्षान्ति करते हैं, क्षमा करते हैं।

तस्मात् संकीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्।
महतामपि कौरव्य विद्धयैकान्तिकनिष्कृतिम्॥ ३१

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, बड़े-से-बड़े पापका प्रायश्चित यही है कि भगवान्के नामका, गुणका, कर्मका संकीर्तन किया जाये। इससे भगवान्की भक्ति होती है। जब हृदयमें भगवान्की भक्ति आती हैं तब मायाके गुणोंमें मन नहीं रमता। जिसके हृदयमें भक्ति नहीं आती, वह एक बार वासनाओंको छोड़ भी दे तो फिर उसके मनमें वासनाएँ आजाती हैं। जब यमदूतोंने भगवद्भक्तोंकी ऐसी महिमा सुनी तो वे आश्चर्यचकित हो गये। तबसे वे भगवान्के भक्तोंको देखकर डरते हैं और उनके पास कभी नहीं जाते।

परीक्षित, यह अजामिलका गोपनीय इतिहास है। इसको कुम्भसम्भव भगवान् अगस्त्यजी महाराजने कहा है। वे बड़े भारी महात्मा हैं। मलयाचल-सरीखे स्थानपर बैठकर श्रीहरिकी पूजा करते हैं। उनके हाथमें शालिग्रामका दर्शन करके ऐसा लगता है, मानो कोई हाथमें भगवान्को लेकर सौगन्ध खाते हुए कहे कि यह कथा बिलकुल पवित्र है, सच्ची है, कभी झूठी नहीं हो सकती। इस कथाका तात्पर्य यही है कि आप भी भगवन्नामपर विश्वास करके इसका आश्रय ग्रहण करें। इसमें सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्तिकी सामर्थ्य है। एक बारके नामोच्चारणसे ही पिछले सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर आगे पाप न आने पावें इसके लिए भगवन्नामकी आवृत्ति करते रहें। यही भगवान्को मिलानेका साधन है। इसके लिए प्रेम और श्रद्धाके साथ भगवान्के नामका उच्चारण करते रहें।

श्रीशुकदेवजी महाराज स्वायम्भुव मन्वन्तरमें हुई सृष्टिका संक्षिप्त वर्णन तीसरे स्कन्धमें कर चुके हैं। अब वे राजा परीक्षितके पूछनेपर पुनः उसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—जब प्रचेता लोग समुद्रसे निकले और देखा कि सारी धरतीपर पेड़-ही-पेड़ हो गये हैं तब उन्होंने उनको जलानेके लिए अपने मुखसे वायु और अग्निकी सृष्टि कर दी। उससे पेड़ जलने लगे।

अब वृक्षोंके राजा चन्द्रमा प्रकट हुए। उन्होंने प्रचेताओंसे कहा कि तुम लोग प्रजापति होकर वृक्षोंको क्यों जलाते हो? यह तो भगवान्‌की ही बनायी हुई सृष्टि है। इससे लोगोंकी जीविका चलती है। ऐसा न करके तुम लोग अपने पूर्वजों द्वारा सेवित सत्पुरुषोंके मार्गपर चलो। जैसे माता-पिता अपने बालकोंकी और पति अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं, उनका हित चाहते हैं, वैसे ही प्रजाकी रक्षा और उसके हितका उत्तरदायित्व राजापर होता है। संसारके सभी प्राणियोंके हृदयमें स्वयं भगवान् बैठे हुए हैं; इसलिए किसीपर क्रोध करना उचित नहीं। तुम लोग वृक्षोंको मत जलाओ, इनकी रक्षा करो, इससे तुम्हारा भी कल्याण होगा। देखो, इनकी एक कन्या है। उसको तुम लोग पत्नीके रूपमें ग्रहण करो।

इसके बाद सोमने प्रचेताओंका विवाह वार्क्षी कन्यासे करवा दिया—जिससे दक्षकी उत्पत्ति हुई। दक्षने भूतोंकी खूब सृष्टि की। पहले वे मनसे ही सृष्टि करते थे; परन्तु जबतक स्थूल आधार न हो, तबतक मनकी सृष्टि टिकती नहीं। सपनेमें जो सृष्टि होती है, वह स्थूल आधार न होनेके कारण ही बिगड़ जाती है। इसलिए दक्षने सृष्टिकी वृद्धिके लिए हंसगुह्य-स्तोत्रसे भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की—

नमः परायावितथानुभूतये गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिर्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे॥ २३

जो अनुभव-स्वरूप परमात्मा है, उसीसे गुणत्रयका आभास हो रहा है। वह हमारा सखा है, हमसे मैत्री करता है और इसी शरीरमें रहता है। जीव उसको जानता नहीं, लेकिन वह सबसे परे रहकर सबको जानता है। हमारी इन्द्रियाँ हमारा मन आदि उसको पहचान नहीं सकते। जहाँ सब शान्त हो जाते हैं, वहाँ वह जागता रहता है। जैसे लकड़ीमें आग छिपी रहती है, उसी प्रकार वह शरीरके भीतर ही छिपा हुआ है। अशेष-विशेष मायाका निषेध कर देनेपर वह निर्माण सुखानुभूति-स्वरूप है।

असलमें व्यवहारमें भी सर्वनामा वही है—'स सर्वनामा स च विश्वरूपः'। उसकी शक्तियोंका कोई निर्वचन नहीं कर सकता। जो मन, वाणी आदिसे निरूपण किया जाता है, वह उसका स्वरूप नहीं। सातों विभक्तियोंके द्वारा जिसमें, जिससे, जिसके लिए यह सब हो रहा है वह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्मा है। दो आदमी आपसमें शास्त्रार्थ करने लगते हैं—एक कहता है

कि ईश्वर है और दूसरा कहता है कि ईश्वर नहीं है, तब उन दोनोंके मस्तिष्कमें जो युक्तियाँ स्फुरित होती हैं, प्रतिभाका स्फुरण होता है, वह वही देता है। नास्तिक जो सिद्ध करता है, उसकी युक्ति भी ईश्वर ही देता है और आस्तिक जो सिद्ध करता है, उसकी युक्ति भी ईश्वर ही देता है। यह मत समझना कि नास्तिकके हृदयमें शैतान बैठा है और आस्तिकके हृदयमें ईश्वर बैठा है—

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ॥ ३२

परमात्मा ही सर्वशास्त्रसार है, सबके हृदयमें सम है, पर है, अनुकूल है, बृहत् है। अनाम, अरूप होनेपर भी वही भजन करनेवालोंके लिए नाम-रूपका विस्तार करता है। वे प्रभु हमपर प्रसन्न हों, हमारा मनोरथ पूर्ण करें।

जब दक्षने अघमर्षण क्षेत्रमें भगवान्‌की ऐसी स्तुति की, तब भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। उस समय गरुड़के कन्धेपर भगवान्‌के चरण हैं, उनके लम्बे-लम्बे आठ महाभुजाएँ हैं और उनमें वे शङ्ख-चक्रादि धारण किये हुए हैं। भगवान् पीताम्बरधारी हैं, घनश्याम हैं, प्रसन्नवदनेक्षण हैं। गन्धर्वादिके द्वारा गीत हैं, नारदादिके द्वारा परिवेष्टित हैं और कुण्डलादिसे मण्डित हैं। भगवान्‌के ऐसे दिव्य स्वरूपको देखकर दक्ष बहुत ही आनन्दित हुए। भगवान्‌ने दक्षसे कहा कि हे प्राचेतस, तुम तपस्यासे शुद्ध हो गये हो, क्योंकि मेरी भक्ति तुम्हारे हृदयमें आगयी है। मैं तो यह चाहता ही हूँ कि हमारी विभूतियोंकी वृद्धि हो। ब्रह्मा, शंकर, मनु—ये सब हमारी ही विभूति हैं। तुम भी हमारी ही विभूति हो। तपस्या मेरा हृदय है, विद्या मेरा शरीर है, धर्म मेरी आत्मा है, देवता मेरे प्राण हैं, सर्वत्र चैतन्यमात्र मैं ही परिपूर्ण हूँ। मुझमें ही मायासे ब्रह्माण्ड होता है और मुझसे ही ब्रह्मा होते हैं। जब ब्रह्मा अपनेको असमर्थ मानते हैं तब मैं उनको 'तप-तप' यह आदेश देता हूँ।

देखो दक्ष, तुम्हारी जो यह सृष्टि नहीं बढ़ती, इसका एक कारण है। वह यह है कि इसमें कोई लौकिक आधार नहीं है। अब तुम इस पञ्चजन प्रजापतिकी कन्या असिक्नीके साथ गृहस्थोचित धर्म स्वीकार करो, फिर तुम इसके द्वारा बहुत-सी प्रजा उत्पन्न कर सकोगे। अबतक तो मानसी सृष्टि होती थी, परन्तु आगे सारी प्रजा मेरी मायासे स्त्री-पुरुषके संयोग द्वारा ही उत्पन्न होगी तथा मेरी सेवामें तत्पर रहेगी।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं, परीक्षित, विश्वके जीवनदाता भगवान् श्रीहरि यह कहकर दक्षके सामने ही ऐसे अन्तर्धान हो गये, जैसे स्वप्नमें देखी हुई वस्तु स्वप्न टूटते ही लुप्त हो जाती है।

●

: ५ :

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, दक्षने विवाह करके हर्यश्व नामके बहुत सारे पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब एक-सरीखे थे। दक्षने इन पुत्रोंसे कहा कि तुम भी सृष्टि बढ़ाओ। वे सब प्रतीची दिशामें नारायण-सरोवरपर चले गये। वहाँ स्नान करते ही उनका हृदय निर्मल हो गया। इसके बाद वे प्रजावृद्धिके लिए उग्र तपस्या करने लगे।

इसी बीचमें नारदजी महाराज वहाँ पहुँच गये। उन्होंने हर्यश्वोंको प्रवृत्तिमें लगे देखा तो कहा—अरे मूर्खो, तुमलोग सन्तान पैदा करना चाहते हो? तुम्हें मालूम है कि इस पृथिवीकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है? यह सब बिना जाने-समझे बच्चे-कच्चे पैदा कर लोगे तो वे कहाँ रहेंगे? इसलिए पहले नाप तो लो कि धरती कहाँ तक है? कितनी बड़ी है?

देखा, एक ऐसा राष्ट्र है, जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है जिसमें-से निकलनेका रास्ता लोगोंको नहीं मालूम। एक ऐसी स्त्री है; जो दिनभरमें हजार रूप धारण करती है। एक ऐसा पुरुष है, जो पुंश्चलीका पति है। एक ऐसी नदी है, जो दोनों ओर बहती है। एक ऐसा घर है, जो पञ्चविंशति तत्त्वोंसे बना हुआ है। एक ऐसा हंस है, जो चित्र-विचित्र कथा कहता है और जहाँ चाहे वहीं भ्रमण करता रहता है। तुम लोगोंको यह तो मालूम नहीं कि तुम्हारे बापने तुम्हें पैदा क्यों किया है? फिर क्या सृष्टि बनाओगे? पहले समझदार तो हो लो, फिर सृष्टि बनाना।

देवर्षि नारदकी यह बात सुनकर हर्यश्व उसके तात्पर्यपर विचार करने लगे। उन्होंने सोचा कि यदि हम लोगोंको लिङ्ग-शरीरके नाशका उपाय नहीं मालूम होगा, तो हम कर्ममें फँस जायेंगे। हमको यह ज्ञान तो होना ही चाहिए कि एक भगवान् ही सत्य साक्षी हैं, अन्यथा मोक्षानुपयोगी और ईश्वरको अनर्पित कर्म करनेसे क्या लाभ? उससे तो और भी बन्धन हो जाता है। भगवान्

तो पातालके समान बड़े गम्भीर साक्षात् परब्रह्म हैं, उनको न जानकर यदि हम नश्वर स्वर्ग-नरककी प्राप्तिके लिए कर्म करेंगे तो उससे क्या फायदा होगा ? बुद्धि बिलकुल पुंश्चली है—स्वैरिणी है; कभी इधर जाती है और कभी उधर जाती है। यदि उसका अन्त प्राप्त नहीं कर लिया तो कर्म करनेसे और अशान्ति होगी। उसके संगसे ऐश्वर्य भ्रष्ट हो गया है। यदि उसकी गतिको न समझ लिया जाये तो अविवेक-प्राप्त धर्मसे क्या फायदा है ? माया सृष्टि और प्रलय करनेवाली है तथा अपने घेरेमें घूमती रहती है। उसको न जानकर मायिक कर्मोंके आचरणसे क्या फायदा है ? पञ्चविंशति तत्त्वोंका यह पुरुष अद्भुत दर्पण है। अध्यात्मको समझे बिना इन पञ्चविंशति तत्त्वोंको देखनेवाला कौन है ? झूठ-मूठ कर्म करनेसे क्या लाभ है ? शास्त्र ही अपने पिता हैं। उनके आदेशका अभिप्राय है कि मनुष्यके मनमें निवृत्ति आये। जब उसको समझा ही नहीं तब कर्म करनेसे क्या लाभ है ?

ऐसा विचार करके हर्यश्व उस मार्गपर चले गये जहाँसे लौटना नहीं होता। उन्होंने निवृत्ति-मार्गको अपना लिया और परब्रह्म परमात्मामें अपना मन लगाया।

इधर नारद महाराजको इस बातसे बहुत प्रसन्नता हुई कि इतने सारे हर्यश्व उनके शिष्य हो गये। यदि एक शिष्य भी ईश्वरको प्राप्त कर ले तो उसके गुरुका कल्याण हो जाता है। इसलिए कितने आनन्दकी बात है कि उनके इतने शिष्य भगवान्की ओर लग गये। नारदजी 'धन्य हैं, धन्य हैं' कहते हुए वीणा बजाते हरिगुण गाते विचरण करने लगे।

इधर जब दक्षको मालूम हुआ कि नारदजीने हमारे बेटोंको बाबाजी बना दिया, तब वे उनके गुणोंका स्मरण करते हुए रोने लगे। सचमुच अच्छी सन्तान होना भी दुःखका ही हेतु है। ब्रह्माजीने दक्षको फिर सान्त्वना दी। नारदजी भी ब्रह्माजीके बेटे ही हैं। दक्ष प्रवृत्ति मार्गके हैं और नारद निवृत्ति मार्गके हैं। बेटे-बेटेमें भी भेद हो जाता है। किसीकी रुचि कैसी तो किसीकी रुचि कैसी !

अब दक्षने शवलाश्व नामक बेटे उत्पन्न किये और उनको भी आदेश दिया कि तुम लोग सन्तान उत्पन्न करो। वे भी नारायण सरोवरमें चले गये और वहाँ जाकर भगवान्की पूजा करने लगे। वे 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका जप करते और बहुत ही आनन्दमें थे।

नारदजी उनके पास भी पहुँच गये और उनको ऐसा समझाया कि बड़े भाई जिस रास्तेसे चलते हों, छोटे भाइयोंको भी उसी रास्तेसे चलना चाहिए। जब तुम्हारे सब भाई वैष्णव हो गये तो तुम बच्चे-कच्चे पैदा करनेके फेरमें क्यों पड़ना चाहते हो ? इस प्रकार समझानेका प्रभाव शबलाश्वोंपर भी पड़ गया और वे भी बड़े भाइयोंके रास्तेपर चले गये।

जब दक्षको मालूम हुआ कि हमारे इन बच्चोंको भी नारदने बाबाजी बना दिया और भेज दिया हिमालयकी किसी गिरि-गुहामें, तब उनको बहुत क्रोध आया। उसी समय नारदजी दक्षके

पास पहुँच गये। महात्मा लोगोंको वह अवसर बहुत शुभ प्रतीत होता है, जब कोई उनपर क्रोध करे, उनको गाली दे और उनकी निन्दा करे। इससे उनका तप बढ़ता है, पापक्षय होता है और समता-सहिष्णुता आनेसे ईश्वर-प्राप्तिमें मदद मिलती है। इसलिए महात्मा लोग किसीके क्रोधसे डरते नहीं। नारदजी तो यह देखनेके लिए आये कि बेटोंके मोहमें दक्षकी क्या दशा हो रही है और कैसे उनके होंठ फड़क रहे हैं।

दक्षने नारदजीसे कहा कि तू साधुवेश धारण करके फिरता है। लेकिन तूने हमारे नन्हें-मुन्ने बच्चोंको भिखारियोंका रास्ता बताकर भिखारी बना दिया है! अभी वे न तो तीन ऋणोंसे छूटे हैं, न उनपर विचार किया है और न उनको दोनों लोकोंके बारेमें कुछ मालूम है। तू बहुत ही निर्दय है। बच्चोंको साधु बनाता फिरता है। तू अबोध बच्चोंकी बुद्धि फोड़ा करता है—'एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः' (३८)। तुम्हारे इस आचरणपर तो भगवान्‌की ही बदनामी होगी। लोग कहेंगे कि इनके भक्त भी कैसे होते हैं? तुम्हें तो लोगोंपर दया करनी चाहिए। तुम अपने मित्रोंसे वैर करते हो। इस तरह क्या लोगोंको वैराग्य होता है? जबतक मनुष्य विषय-भोगके दोषोंको समझ न ले, तबतक उसको वैराग्य नहीं होता। इस तरह बुद्धि फोड़नेसे कुछ काम नहीं चलता—'न तथा भिन्नधीः परैः' (४१)। तुमने हमारे साथ बहुत अन्याय किया है। हम गृहस्थी हैं और हमारे बच्चे ही सर्वस्व हैं। उन्हींसे हमारी परम्परा चलनी थी, लेकिन तुमने हमारी वंश-परम्पराका उच्छेद कर दिया—'तन्तुकृन्तन' (४३)—जाओ, अब तुम दुनियामें भटको। 'न भवेद् भ्रमतः पदम्' (४३)—तुमको इस दुनियामें पाँव रखनेकी भी जगह न मिले, जिससे कि तुम कहीं बैठ सको!

नारदजी महाराज साधुओंमें शिरोमणि हैं, इसलिए बोले कि बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया! यदि मैं एक जगह रहता तो थोड़े ही चेले बनते। अब तो मैं खूब घूमूँगा और अधिक-से-अधिक लोगोंको भगवान्‌के मार्गमें लगाऊँगा। इसलिए शाप देकर अच्छा किया तुमने!

एतवान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्। ४

देखो, नारदजी चाहते तो दक्षको शापके बदले शाप दे देते। लेकिन उन्होंने उसके शापको सह लिया। इसीका नाम साधुता है! मुझे एक महात्माने बताया था कि दुनियामें चाहे कुछ हो जाये और चाहे कोई कुछ भी कह दे, लेकिन उससे तुम्हारा कोई रिश्ता नहीं होना चाहिए। तुम तो अपनी निष्ठामें लगे रहो। तुमको चाहे कोई गाली दे, चाहे प्रलयकी भयंकर आग जल जाये, लेकिन तुम्हें भगवान्‌के भजनमें लगे ही रहना चाहिए, कभी छोड़ना नहीं चाहिए—'तू तो राम भजो, जग लड़वा दे।' यही सबसे बड़ी चीज है।

: ६ :

श्रीशुकदेवजी कहते है परीक्षित, इसके बाद ब्रह्माजीने दक्षको पुनः समझाया। बहुत समझाने-बुझानेके बाद दक्ष फिर सन्तानोत्पादनके लिए तैयार हुए। उन्होंने सोचा कि बेटे होते हैं तो बाबाजी लोग फोड़कर ले जाते हैं, बेटी पैदा होगी बाबाजी लोग कैसे ले जायेंगे ? क्योंकि उससे उनकी बदनामी होगी। बेटियोंको भी देखना पड़ेगा कि कहीं हमारी वजहसे गुरुजीकी बदनामी न हो जाये, कोई कुछ कह न दे।

इसलिए दक्षने साठ कन्याएँ पैदा कीं। उनमें-से दस धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताइस चन्द्रमाको, दो भूतको, दो अङ्गिराःको दो कृशाश्वको और शेष चार जब कश्यपजी तार्क्ष्य नाम धारण करके आये तो उनको सौंप दीं। उन्हींकी सन्तानसे यह सारी सृष्टि परिपूर्ण हो गयी।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज उन सबके नाम बताते हुए कहते हैं कि धर्मकी भानु आदि पत्नियाँ थीं। 'भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती। वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः

सुताञ्छृणु' (४)। उनके वंशमें ऋभष, इन्द्रसेन आदि प्रकट हुए। यहाँ बहुत विचित्र वंशका वर्णन है। यदि कोई शान्तिसे और ध्यानपूर्वक पढ़े तो जो सब वंश सारे भागवतमें जहाँ-तहाँ मिलेंगे वे सब-के-सब अपने अन्तर्गत आजाते हैं। अपने हृदयमें उनका वर्णन मिलता है। इनके बहुत पुत्र हैं। संसारमें जितने वंश हैं, वे सब इन्हींसे हुए हैं। बड़ा विस्तार करके सबके नाम यहाँ गिनाये हुए हैं।

इसके बाद कश्यपकी पत्नियोंमें अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, इला आदि थीं। इनसे जितने दैत्य हैं, दानव हैं, आदित्य हैं, इन सबकी उत्पत्ति हुई। यहाँतक कि लता, वृक्षादिकी उत्पत्ति भी इन्हींसे हुई है।

कश्यप तो साक्षात् ईश्वरके स्वरूप हैं। आरण्यकमें यह प्रश्न उठाया गया है कि कश्यपको कश्यप क्यों कहते हैं? बताया गया है कि 'कश्यपः पश्यको भवतीति यत् सर्वं परिपश्यतीति' (तैत्ति० आरण्यक १.८)। जो पश्यक है वही कश्यप है माने द्रष्टा है, साक्षी है, परमात्मा है और अपनी दृष्टिसे ही सृष्टि रचता है। उनकी पत्नी अदितिको निरुक्तमें अदीना (४.४.२२) कहा गया है। दिति खण्डनात्मक दीना वृत्ति है। उससे दैत्य-उग्रतादिका जन्म होता है।

इस प्रकार दैत्यों, दानवों और आदित्योंके जितने भी वंश चले, सब-के-सब दक्षकी साठ कन्याओंसे चले। भिन्न-भिन्न धर्म कश्यप आदिके संयोगसे पैदा हुए। आदित्योंमें विवस्वान् अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र, उरुक्रम हुए। विवस्वान्‌की पत्नी संज्ञाने श्राद्धदेव मनु, यम और यमुनाको उत्पन्न किया। वही घोड़ी हो गयी और उनसे अश्विनी-कुमारकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने हो छायाके रूपमें शनैश्चर, सावर्णि मनु और तपती कन्याको जन्म दिया। अर्यमासे मातृकामें मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। पूषासे वे पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके कोई सन्तान नहीं थी। त्वष्टासे रचनामें सन्निवेश विश्वरूपकी उत्पत्ति हुई। बृहस्पतिके छोड़ देनेपर देवताओंने अपने शत्रुओंके दौहित्र विश्वरूपको ही पुरोहित बना लिया है। जब आवश्यकता पड़ती है तो सभीसे काम लेना होता है। मनुष्यको अपना काम बनानेकी युक्तिमें कभी पिछड़ना नहीं चाहिए—

स्वकार्यं साधयेत् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।

: ७ :

अब राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा कि जब इन्द्रको त्रिभुवनका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ तब वे सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरा आदिके साथ मतवाले होकर सिंहासनपर बैठे। ऐश्वर्यका मद बड़ा भारी मद होता है। यह देवताको भी अपने वशमें कर लेता है। धर्मसूत्र कहता है कि 'हृष्टो दर्पति। दृप्तो धर्ममतिक्रामति' (आप० ध० सू० १.१३.४)। इसका अर्थ है कि जिसको संसारका विषय प्राप्त करके बड़ा हर्ष होता है, उसको घमण्ड हो जाता है और जब घमण्ड हो जाता है, तब वह धर्मका उल्लङ्घन करने लगता है।

जब इन्द्र इन्द्राणीके साथ सिंहासनपर बैठे थे तब बृहस्पतिजी आगये। इन्द्रने उनको देख तो लिया, लेकिन ऐसी आँख बदली कि मानो देखा ही न हो। वे गुरुजीके आनेपर भी सिंहासनसे नहीं उठे। गुरुजीने समझ लिया कि हमारे चेलेको अभिमान हो गया है। इसलिए वे तुरन्त ही वहाँसे लौट गये। इसके बाद इन्द्रको यह ध्यानमें आया कि उनके द्वारा गुरुजीका अपमान हो गया।

असलमें महापुरुषका अपमान मनुष्यका नाश कर देता है। चाहे उस समय न मालूम पड़े, लेकिन बादमें जरूर मालूम पड़ता है। कई बार देखनेमें आता है कि लोगोंके जीवनमें जो बुराइयाँ आयी हैं, वे महापुरुषोंके अपमानसे ही आयी हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि राजाको सिंहासनसे नहीं उठना चाहिए, वे सच्चे धर्मको नहीं जानते। ऐसे लोगोंका मत बिलकुल नहीं मानना चाहिए। हमारे इतिहास-पुराणोंमें जहाँ कहीं भी कोई महापुरुष आता है तो चाहे सप्तद्वीपवती पृथिवीका सम्राट् हो, त्रिलोकाधिपति हो वह उठकर खड़ा हो जाता है और उस महापुरुषको अपने सिंहासनपर बैठाकर उसकी पूजा-अर्चा करता है तथा स्वयं नीचे बैठता है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो महात्माओंके लिए औरोंके मनमें आदर कहाँसे होगा?

अब बृहस्पतिके चले जानेपर इन्द्र स्वयंको धिक्कारने लगे कि हाय-हाय मैं ऐश्वर्य प्राप्त करके असुर हो गया। उन्होंने निश्चय किया कि अब मैं अपने गुरुको प्रसन्न करूँगा। लेकिन बृहस्पति अपना घर छोड़कर चले गये, अन्तर्धान हो गये। इन्द्रको गुरुके बिना अशान्ति हो गयी। जब इन्द्रके शत्रुओंको पता चला कि बृहस्पति इन्द्रसे नाराज हो गये हैं तब वे शुक्राचार्यके पास गये और उन्होंने देवताओंके साथ बड़ा भारी युद्ध किया। देवता लोग डरकर ब्रह्माके पास गये। ब्रह्माने देखा कि देवता तो बड़े दुःखी हैं, तब वे बोले—तुम लोगोंने ऐश्वर्यके कारण अपने गुरुका तिरस्कार किया है। असलमें आदर तो हर हालतमें त्यागी, विद्वान्, विरक्त महात्माका ही होना

चाहिए। तुमने जो अपनी ऊँची कुर्सीके कारण गुरुका तिरस्कार किया है, वह बड़ा भारी अभद्र, अमङ्गलजनक व्यवहार है। तुम्हें इसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसी कारण तुम्हें शत्रुओंसे हारना पड़ा है। तुम्हारे दुश्मन बड़े प्रेमसे अपने गुरुदेवकी आराधना करके तुमसे प्रबल हो रहे हैं। वे तुम्हारा स्वर्ग भी छीन लेंगे। इसलिए तुम लोग शीघ्र-से-शीघ्र विश्वरूपका आधार ग्रहण करो। फिर जो तुम चाहते हो, वह सब हो जायेगा। यदि तुम विश्वरूपका आदर करोगे तो वह तुम्हारा सब काम ठीक बना देगा।

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर देवताओंका दुःख कुछ दूर हुआ, वे त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके पास गये और उनको अपने हृदयसे लगा लिया। फिर बोले—महाराज, हम आपके आश्रयमें आये हैं। आपका कल्याण हो। हम आपसे बड़े हैं, आपके पितर हैं, फिर भी हमारे सामने ऐसा अवसर उपस्थित हो गया है कि हमें आपके पास आना पड़ा है। पुत्रका धर्म है कि वह पिताका शुश्रूषण करे। चाहे वह पुत्रवान् हो गया हो चाहे ब्रह्मचारी हो। आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति है, पिता प्रजा-पतिकी मूर्ति है, माता पृथिवीकी मूर्ति है, भ्राता इन्द्रकी मूर्ति है, बहन दयाकी मूर्ति है और आत्मा धर्मकी मूर्ति है। अतिथिके रूपमें स्वयं भगवान् आते हैं। अभ्यागत अग्निकी मूर्ति है। हम लोग दुःखी होकर तुम्हारे पास आये हैं और तुमको अपना पुरोहित बनाते हैं। तुम हमारा पुरोहितीका काम सम्पन्न करो। प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए यदि बड़ा अपनेसे छोटेका पाँव छूये तो उसको बुरा नहीं मानते। केवल आयुसे कोई बड़ा नहीं होता, विद्यासे बड़ा होता है।

इस प्रकार जब देवताओंने प्रार्थना की, तब विश्वरूप बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि पुरो-हितीका कर्म तो बहुत निन्दित है—'विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चं उपव्ययम्' (३५)। रामचरितमानसमें वसिष्ठजी भी कहते हैं—'उपरोहिति कर्म अतिमन्दा। वेद पुरान स्मृति कर निन्दा।' फिर भी आप जैसे लोग जब याचना करने आये हैं और मैं आपसे छोटा आपका आज्ञाकारी हूँ तो कैसे मनाकर सकता हूँ? हम तो अकिञ्चन हैं। बाजारमें या खेतमें पड़े अनाजके दाने बीनकर अपना काम चल जाता है। इस स्थितिमें पुरोहिती करनेकी कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जब आप-जैसे बड़े लोग मुझसे यह काम करानेके लिए आये हैं तो ठीक है, मेरी जान जाये तो जाये, पर आपका वचन मैं कैसे टालूँगा?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, विश्वरूपने देवताओंका आग्रह स्वीकार कर लिया और वे उनके पुरोहित बन गये। उसके बाद उन्होंने अपनी वैष्णवी विद्याके बलसे देवताओंको वह सम्पत्ति दिला दी, जिसको दैत्योंने बलपूर्वक छीन लिया था। उनकी बतायी विद्यासे ही देवताओंने असुरोंकी सेनापर विजय प्राप्त की।

●

राजा परीक्षितने पूछा कि भगवन्, वह विद्या बताइये जो विश्वरूपने इन्द्रको दी थी और जिसके बलसे इन्द्रको विजय मिली ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि विश्वरूप द्वारा उपदिष्ट विद्याका नाम नारायणवर्म है। सारे शरीरकी रक्षा नारायण करते हैं। सम्पूर्ण जीवनके आगे-पीछे वही कवच है। विश्वरूपने इन्द्रको बताया कि भयका प्रसंग उपस्थित होनेपर पहले पवित्र होना चाहिए और फिर कवच धारण करना चाहिए। ऐसा नहीं कि ऊपर कपड़ा तो बहुत बढ़िया हो, लेकिन भीतर शरीर गन्दा हो। पहले शरीर पवित्र करनेके लिए हाथ-पाँव और मुँह अच्छी तरह धो लेना चाहिए, फिर हाथमें पवित्री लेकर उत्तर मुख बैठ जाये और अङ्गन्यास, करन्यास कर ले। उसके बाद मौन हो जाये और नारायण-वर्मको पहन ले। जैसे योद्धा लोग युद्धमें जाते समय कवच पहनकर जाते हैं, ऐसे ही मनुष्य व्यवहारमें जाते समय यह कवच पहनकर जाये।

अब न्यासकी विधि बताते हुए कहते हैं कि 'ॐ नमो नारायणाय' (६)—इस मन्त्रसे सीधे-उलटे दोनों प्रकारसे पाद-जानु आदिमें न्यास किया जाता है अथवा 'ॐ विष्णवे नमः' (१०)—इस मन्त्रसे न्यास किया जाता है। अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे किया जाता है। न्यास करना माने स्वयं देवतामय होना। शास्त्रमें न्यासकी विद्या बड़ी विलक्षण है। जैसे जप करना मन्त्र-विद्या है वैसे ही न्यास विद्या है। सिरमें, शिखामें जिस प्रकार हम सन्ध्या-वन्दनमें गायत्रीका जप करते समय न्यास करते हैं, उसी प्रकार मन्त्रोंका, अक्षरोंका, पदोंका और देवताका न्यास होता है। उनके न्याससे मनुष्य मन्त्रमय, देवतामय हो जाता है।

एक न्यास ऐसा है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण अङ्गोंमें युगलसरकारका न्यास होता है। हमारा सारा शरीर नित्यनिकुञ्ज है और इसमें युगलसरकार क्रीड़ा करते हैं। हमारे सारे शरीरमें, रोम-रोममें वही हैं, मैं नहीं हूँ।

इस प्रकार भगवन्मय होकर भगवान्‌का ध्यान करते हुए इस कवचका पाठ करना चाहिए—

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे। १२

गरुडारूढ अष्टबाहु और अणिमादि सिद्धियोंसे सुसेवित ॐकार-स्वरूप भगवान् सब ओरसे मेरी रक्षा करें।

देखो, कोई भी जप करना हो तो वह किताब अथवा अखबारमें छपा हुआ या किसीके द्वारा लिखा हुआ नहीं होना चाहिए। जब अन्तर्यामी भगवान् एक चेतन द्वारा दूसरे चेतनको इसका दान करते हैं, तब इसमें शक्तिका उदय होता है। असलमें इसको भगवान्‌की कृपा ही समझो, नहीं तो केवल यन्त्र-मन्त्र-मुद्रा पिशाची हैं।

आगे कहते हैं—भगवान् मत्स्यमूर्ति जलमें रक्षा करें, वामन स्थलमें रक्षा करें, नृसिंह संकटादि स्थानोंमें रक्षा करें, वराह मार्गमें रक्षा करें, रामचन्द्र प्रवासमें रक्षा करें, दत्त योग-

भ्रष्टतासे रक्षा करें, कपिल कर्मबन्धनसे रक्षा करें, सनत्कुमार मदनसे रक्षा करें, हयग्रीव देवा-पमानसे रक्षा करें, कूर्म निरयसे रक्षा करें और धन्वन्तरि अपथ्यसे रक्षा करें।

देखो, किससे कौन रक्षा करे—इसका भी एक विज्ञान है। रक्ष्यके साथ रक्षकका सम्बन्ध होता है। जब हम प्रार्थना करते हैं कि हे धन्वन्तरि भगवान्! अगर हम कभी कोई गलत चीज खा लें तो उससे आप हमारी रक्षा करना, तो इसका अर्थ है कि वे वैद्यराज हैं, अमृतकलश हाथमें लिये हुए हैं। इसलिए वे रक्षा नहीं करेंगे तो और कौन करेगा?

इसी प्रकार सुख-दुःख, राग-द्वेष, गर्मी-सर्दीके द्वन्द्वसे ऋषभदेव रक्षा करें—इसका अर्थ है कि उनमें इन द्वन्द्वोंको सहन करनेकी सामर्थ्य है।

फिर कहते हैं यज्ञ भगवान् जनापवादसे रक्षा करें, बलभद्र कालसे रक्षा करें, शेष सर्पगणसे रक्षा करें, व्यास अज्ञानसे रक्षा करें, बुद्ध पाखण्डसे रक्षा करें और कल्कि कलिकाल-मलसे रक्षा करें। केशव प्रातःकाल रक्षा करें और गोविन्द दोपहरीमें रक्षा करें।

इस प्रकार ये सब भगवान्के नाम हैं, जो स्थान-स्थानपर हमारी रक्षा करनेके लिए हैं। ये कालकी दृष्टिसे भी हैं, स्थानकी दृष्टिसे भी हैं, क्रियाकी दृष्टिसे भी हैं और अङ्गकी दृष्टिसे भी हैं। मतलब यह कि प्रभुके नाम दिन-रात हमारी रक्षा करें। नामके बिना हम कभी न रहें।

आगे कहते हैं—हे चक्र, तुम हमारी शत्रु-सेनाको भस्म कर दो—'दन्दग्धि-दन्दग्धि (२३)। हे गदे, तुम हमारे दुश्मनोंको चूर-चूर कर दो। हे शङ्ख, हमारे दुश्मनोंको भगा दो। इसी तरह हे खड्ग छिन्धि-छिन्धि, भिन्दि-भिन्दि आदि मन्त्र आते हैं। इन्हें पाठ करनेवालोंको बड़ा मजा आता है। जैसे बच्चोंको लंकाकाण्ड पढ़नेमें बहुत मजा आता है वैसे ही मन्त्र-प्रेमियोंको छिन्धि-छिन्धि आदिका पाठ करनेमें मजा आता है।

इस संसारमें जितने भी दुःख हैं, उनके नाशके लिए भगवन्नाम-रूप अस्त्र हैं। जैसे ब्रह्मास्त्र है, वैसे ही नामास्त्र है। इससे हमारे कल्याणके समस्त विरोधियोंका नाश हो जाता है।

इस प्रकार यह नारायणात्मक कवच अपने शरीरमें धारण कर लेना चाहिए। इसकी बड़ी भारी महिमा है। इसको धारण करनेवाला यदि किसीको छू भी दे तो वह निर्भय हो जाता है और उसे किसीसे भय नहीं होता। एक बार कौशिक ब्राह्मणने इसको धारण किया था। वह मारवाड़में कहीं यात्रा कर रहा था, तो उसका शरीर छूट गया। उसके ऊपरसे चित्ररथ गन्धर्व अपने विमानपर चढ़कर गये तो उनको विवश होकर अपना विमान वहाँ उतारना पड़ा। फिर जब उन्होंने उस ब्राह्मणकी हड्डी गङ्गाजीमें डाली तब कहीं उनका कल्याण हुआ।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि जो यह नारायण-कवच धारण करता है, सम्पूर्ण प्राणी उसको नमस्कार करते हैं। विश्वरूपने यही विद्या इन्द्रको बतायी, उसके फलस्वरूप इन्द्रने त्रैलोक्य-लक्ष्मीका भोग किया और असुरोंको युद्धमें मार भगाया।

इस संसारमें जिससे लाभ होता है, उससे थोड़ी हानि होनेकी भी संभावना रहती है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सबसे लाभ-ही-लाभ होता है। लाभात्मक दृष्टिकोणमें मनुष्यका स्वार्थ ही ज्यादा काम करता है। नहीं तो संसारमें सुख और दुःख, हानि और लाभ ये सब एक दूसरेके साथ मिले ही रहते हैं।

सो विश्व रूपके तीन मुँह थे—सोमपीथ, सुरापीथ और अन्नाद। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं, क्योंकि विश्वमें सत्त्व-रज-तम तीनों होते ही हैं। यही उसका रूप है, विश्वरूप है।

एक दिन विश्वरूप देवताओंके यज्ञमें भाग ले रहा था। तो माताके सम्बन्धसे दैत्योंको भी भाग देता जाता था। वह एक ओर तो 'इन्द्राय स्वाहा' बोलता और दूसरी ओर 'हिरण्याक्षाय स्वाहा' बोल देता। इन्द्रको यह बात मालूम पड़ गयी और वे उससे भयभीत हो गये। उन्होंने तलवार लेकर विश्वरूपका सिर काट दिया। उसमें-से तीन पक्षी पैदा हुए। इन्द्रने ब्रह्महत्याको अञ्जलिसे ग्रहण कर लिया और संवत्सरतक उसका प्रायश्चित्त करके उसको चार विभागोंमें बाँट दिया। उन्होंने पहला भाग पृथिवीको, दूसरा जलको, तीसरा वृक्षको और चौथा स्त्रियोंको दे दिया। अगर हम किसीको बुराई-ही-बुराई देना चाहें और अच्छाई न दें तो इससे भी काम नहीं चलता। नपा-तुला हिसाब है इसमें। इसलिए उन्होंने पृथिवीको इस वरके साथ ब्रह्महत्याका चतुर्थांश दिया कि उसमें जो भी गड्ढे होंगे, अपने आप भर जायेंगे। वही ब्रह्महत्या ऊसरके रूपमें दिखाई पड़ती है। वृक्षोंको इस वरके साथ ब्रह्महत्या मिली कि वे काटनेपर भी फिर उग आयेंगे। स्त्री सगर्भा होनेपर भी भोगक्षम होगी, इस वरके साथ उसको ब्रह्महत्याका भाग मिला। वही ब्रह्महत्या प्रत्येक महीनेमें रजके रूपमें दिखाई पड़ती है। जलने इस वरके साथ ब्रह्महत्या स्वीकार की कि खर्च करनेपर भी उसकी वृद्धि होती रहेगी और वह दूध आदिके साथ मिलकर उसको बढ़ा देगा।

इसके बाद जब विश्वरूपके पिता त्वष्टाको मालूम हुआ कि उनके पुत्रकी तो मृत्यु हो गयी, तब वे—'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिरं जहि विद्विषम्' (११)—इस मन्त्रसे इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेके लिए हवन करने लगे। यह बहुत प्रसिद्ध मन्त्र है। इसको बार-बार वैयाकरण लोग उद्धृत करते हैं—'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति। (पाणिनीय शिक्षा ५२)। मन्त्रमें यदि स्वर-वर्णकी कमी हो जाये तो उसका अर्थ उल्टा हो जाता है। त्वष्टासे भी कुछ गलती हो गयी, जिससे इन्द्रको मारनेवाला बेटा होनेकी जगह, इन्द्रसे मरनेवाला बेटा पैदा हो गया। वह अत्यन्त घोर-दर्शन था। वह दिन-दिन बढ़ने लगा, लाल-लाल उसकी दाढ़ी-मूँछें थीं। जब वह शूल पकड़कर घूमता तो पृथिवी काँपने लगती। मुँह खोलता तो लगता कि अपनी जिह्वासे नक्षत्रोंको चाट लेगा और तीनों लोकोंको निगल जायेगा। उसने सारे लोकोंको घेर लिया, इसलिए उसका नाम वृत्रासुर पड़ा।

महात्माओंने वृत्रासुरपर बड़ा भारी अनुसन्धान किया है। उसका वर्णन कोई मेघके रूपमें करते हैं, कोई कुहराके रूपमें करते हैं, कोई अन्धकारके रूपमें करते हैं और कोई आवरणके रूपमें करते हैं।

देवता लोग उसपर अस्त्र-शस्त्रादिसे प्रहार करें तो वह उनको हाथसे पकड़-पकड़कर मुँहमें डाल ले। उसकी भयंकरता देखकर देवता लोग बड़े ही खिन्न हुए और भगवान्की शरणमें जाकर बोले—प्रभो, हम सब तो आपके सेवक हैं, आपकी पूजाके लिए ही सारे कर्म करते हैं। आपको छोड़कर जो दूसरेकी शरण ग्रहण करता है, वह मानो कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रके पार जाना चाहता है—'श्वलाङ्गूलेनातितितर्ति सिन्धुम्' (२२)। वह कभी भवसागरके पार नहीं जा सकता। आपकी शरणके विना जगत्में किसीका कल्याण नहीं होता। आपने तो प्रलय-समुद्रमें भी नावको अपने सींगसे बँधवाकर प्रलयके पार कर दिया, ब्रह्माका भी अज्ञानान्धकार दूर किया और अपनी मायासे हमारी सृष्टि की। आप युग-युगमें नानावतार धारण करके हमारी रक्षा करते हैं। हम सब आपकी शरणमें हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि इस प्रकार देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् प्रकट हुए। देवताओंने उनको प्रणाम किया और प्रार्थना की कि महाराज, आप ही यज्ञवीर्य हैं और आप ही तत्तत् कर्मोंके फलको परिच्छिन्न करनेवाले काल हैं। आपमें यह संसार-चक्र नहीं है। आप दैत्योंको अपने चक्रसे मारते हैं। यज्ञमें कोई 'इन्द्राय स्वाहा' बोले, कोई 'पूष्णे स्वाहा' बोले और चाहे कोई 'वरुणाय स्वाहा' बोले—ये सब-के-सब आपके ही नाम हैं। हे विधाता, इस संसारमें जो तीन प्रकारकी गतियाँ हैं, उनसे परे आपका पद है। जो आपके बाद पैदा हुआ है और पहले मर जायेगा, वह भला आपके स्वरूपको कैसे जान सकता है? हे सर्वेश्वर, हे लक्ष्मीनाथ, आप हमपर कृपा करें—

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना……। ३३

इन शब्दोंके द्वारा जो अपने हृदयमें आपका ध्यान करते हैं, उनके हृदयान्धकारको आप दूर कर देते हैं। आप स्वयं उपलब्ध निजसुखानुभवरूप हैं। आपका विहार-योग तो बड़ा कठिन है, क्योंकि आप निर्गुण होकर भी सृष्टि-स्थिति-संहार करते हैं। आप देवदत्तके समान पारतन्त्र्यसे शुभाशुभ फलको स्वीकार करते हैं अथवा आत्माराम होकर साक्षीके रूपमें रहते हैं, यह सब हमको मालूम नहीं। आपकी महिमा, आपकी माया बिलकुल दुर्घट है। जो आपके बारेमें जैसा सोचते हैं, उनके सामने आप वैसे ही स्फुरित होते हैं। सम्पूर्ण विषयोंके प्रकाशक आप हैं। हे मधुसूदन, आपके भक्त जब आपके चरणारविन्दकी सेवाका सुख पा लेते हैं, तब वे आपका परित्याग कैसे

कर सकते हैं ? आपही दैत्य और दानव दोनोंके स्रष्टा-द्रष्टा हैं। दोनों आपकी विभूति हैं, परन्तु यह दैत्योंके वरणका समय नहीं, उन्हें दण्ड देनेका समय है। इसलिए यदि आप उचित समझें तो वृत्रासुरको मार डालिये और हमारे पाप-तापको शान्त कीजिये। आप तो सर्वसाक्षी परमात्मा हैं। आपसे हम और क्या विज्ञापन करें ?

फिर भी भगवान् विज्ञापनकी अपेक्षा तो करते ही हैं। दुनियामें बहुत लोग दुःखी हैं। यदि भगवान् अपने आप रक्षा करनेके लिए आयें तो किसकी-किसकी रक्षा करें ? जब उनको रक्षा करनेका इतना बखेड़ा करना पड़े तो यह दुःखमयी सृष्टि बनायें ही क्यों ? जीवोंको पैदा ही क्यों करें ? इसलिए भगवान्‌ने यह मर्यादा बना दी कि संसारमें दुःख भी है, दुःखी भी हैं, भक्त भी हैं, अभक्त भी हैं। परन्तु इनमें-से जो उनसे रक्षाकी अपेक्षा करेगा और हृदयसे, भावसे, पुकारेगा कि हे प्रभो, दौड़ो, दौड़ो, हमारी रक्षा करो तो वे उनकी रक्षा करेंगे। जो भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान् उसीकी रक्षा करते हैं—'रक्षापेक्षामपेक्षते।

इसलिए देवताओंने यह कहा कि आप जानते ही हैं हम किस अपेक्षासे आपकी शरणमें आये हैं। वृत्रासुर तो हमारे सब हथियार खाये जा रहा है, आप उससे हमारी रक्षा कीजिये। तब भगवान् बोले—देवताओ ! देखो, मैं तुम लोगोंपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरी स्तुति की है, इससे मेरी भक्ति भी होती है और आत्मैश्वर्यकी स्मृति भी होती है। मेरे प्रसन्न हो जानेपर कोई भी बात बाकी नहीं रह जाती। असलमें तो जो मुझे प्राप्त कर लेता है, वह मुझसे दूसरी कोई चीज चाहता ही नही। संसारके लोग अपना कल्याण नहीं जानते, इसलिए वे विषयोंमें ही अपना सुख समझते हैं। यदि हम उनको वही चीज दें तो हम भी उन्हीं जैसे हो जायेंगे। दुनियाके लोग सोचते हैं कि खूब विषय-भोग मिलेगा और खूब कमायेंगे, तब हमको सुख मिलेगा। लेकिन रोगीको वैद्य जैसे कुपथ्य नहीं देता, वैसे हम भी उनको कुपथ्य नहीं देते।

इन्द्र, अब तुम लोग दधीचि ऋषिके पास जाओ और उनसे उनका शरीर माँग लो। उनको शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान है। उन्होंने घोड़ेके सिरसे अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मका उपदेश दिया था, इसलिए उनका एक नाम अश्वशिराः भी है। उन्होंने ही मदात्मक-कवच त्वष्टाको दिया था, त्वष्टाने विश्वरूपको दिया था और विश्वरूपके द्वारा तुमने धारण किया है। तुममें जो अश्विनीकुमार हैं, वे यदि जाकर दधीचि ऋषिसे उनका अङ्ग माँगेंगे तो वे दे देंगे। क्योंकि गुरुका दिया हुआ शरीर अगर गुरु ही माँगने लग जायें तो शिष्य उसे गुरुका ही मानकर दे देगा। इसलिए तुम अश्विनीकुमारके साथ जाकर माँगो, माँगनेपर दधीचि अपनी हड्डी दे देंगे, उससे वज्रका निर्माण होगा और उस वज्रके द्वारा वृत्रासुर मारा जायेगा। फिर तुम लोगोंको तुम्हारी सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी।

●

: १० :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित इस प्रकार देवताओंको आदेश देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। देवता लोग टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये और भगवान्का कहीं पता नहीं चला—

पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः। १

इसके बाद देवताओंने आथर्वण ऋषि दधीचिके पास जाकर यह प्रार्थना की कि हम लोग आपके पास आपकी हड्डी लेने आये हैं।

दधीचिने हँसकर कहा—देवताओ, तुम लोगोंको मालूम नहीं कि जीवात्माओंको अपने शरीरके प्रति कितना प्रेम होता है और कितनी ममता होती है। सब लोग अपने आपसे प्रेम करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि स्वयं विष्णु भगवान् भी भिखारी बनकर माँगने आयें तो उनको कौन अपना शरीर देगा?

देवताओंने कहा—आप ठीक कहते हैं महाराज, लेकिन जिनके हृदयमें दया होती है और आप-सरीखे महात्मा हैं, वे क्या नहीं छोड़ सकते? सब कुछ छोड़ सकते हैं। भगवन्, निस्सन्देह माँगनेवाले लोग बड़े स्वार्थी होते हैं। वे दूसरेके दुःखको नहीं जानते, केवल अपने स्वार्थको देखते हैं। असलमें व्यवहारका सार तो यह है कि केवल अपने स्वार्थको न देखा जाये, सामनेवालेकी

सुविधा भी देखी जाये। लेकिन उनसे इतनी समझ होती तो वे माँगने क्यों जाते और यदि माँगने चले ही गये तो देनेवाला उनको 'नहीं' कैसे करता ? असलमें इस संसारमें स्वार्थका ही बोल-वाला है।

इसपर दधीचि ऋषिने कहा कि सच है देवताओ, मैंने आपके मुखसे धर्म सुननेके लिए ही आपकी माँगके प्रति उपेक्षा दिखाई है। यह शरीर तो मुझे एक-न-एक दिन छोड़कर जायेगा ही, मैं इसको अभी छोड़ देता हूँ। यह नाशवान् है। इसके द्वारा यदि एक नित्य धर्मका संचय कर लिया जाये तो वह सबसे श्रेष्ठ है। जो प्राणियोंपर दया नहीं करता, वह तो पशुओंसे भी गया बीता है।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥ ९

अविनाशी धर्म इतना ही है और महापुरुषोंने इसीकी उपासना की है कि दूसरेके सुख-दुःखके साथ अपने सुख-दुःखको मिला दिया जाये। अपना सुख-दुःख अलग रखा ही न जाये। यह शरीर तो एक दिन जाने ही वाला है, प्राण छूटनेवाले हैं, इसलिए अगर यह किसीके काम आजाये तो इससे बढ़िया बात और क्या होगी ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, ऐसा कहकर दधीचिने अपना मन भगवान्में लगा दिया और वे बिलकुल समाधिस्थ हो गये। उनका देह कब छूट गया, इसका उनको पता ही नहीं चला। उन्हींकी हड्डियोंसे विश्वकर्माने वज्र बनाया और इन्द्रने गजेन्द्रपर स्थित होकर त्रिलोकीको हर्षित करते हुए वृत्रपर धावा बोल दिया। त्रेताकालमें नर्मदाजीके तटपर दोनोंका बड़ा भारी संग्राम हुआ। उसमें इन्द्रकी ओरसे रुद्र, वसु, आदित्य, मरुत आदि सब-के-सब देवता और वृत्रासुरकी ओरसे भी नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा आदि सब-के-सब दैत्य युद्धमें सम्मिलित हुए। वे सब सिंह-गर्जना करते हुए एक दूसरेपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार और पत्थरोंकी वर्षा करते। लेकिन इस बार देवताओंपर दैत्योंके प्रहारका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि भगवान् उनके अनुकूल हो गये थे। जब दैत्योंने देखा कि उनकी कुछ नहीं चल रही है तब वे वृत्रासुरको छोड़कर भागने लगे। वृत्रासुरने सबको ललकारते हुए कहा कि देखो, जो पैदा होता है वह मरता है। मृत्युकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। मौतसे बच जानेका कोई उपाय सृष्टिमें नहीं है। इसलिए जब आखिरमें एक दिन मरना ही है तो ऐसे ढंगसे मरो कि उससे यश हो। या तो योग करके मरो या युद्धभूमिमें सम्मुख लड़ते हुए मरो। यह दो प्रकारकी मृत्यु ही सबसे बढ़िया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, इस प्रकार वृत्रासुर युद्धभूमिमें धर्मोपदेश देने लगा। कई लोगोंको व्याख्यान देनेकी आदत भी होती है। मौके-बेमौके बोलते रहते हैं। लेकिन कौन सुनता है उनकी ? यहाँ तो मौत सिरपर सवार है, इसलिए भाग खड़ी हुई असुर सेना।

वृत्रासुरने सोचा कि मेरी सेना नहीं सुनती तो देवताओंको ही डाँटो। इसलिए उसने कहा—अरे देवताओ, जो डरकर भाग रहे हैं उनपर तुम शस्त्र-अस्त्रका प्रयोग क्यों करते हो ? तुम लोग मेरे सामने आओ और मुझसे लड़नेका मजा लो। ऐसा कहकर वृत्रासुरने इतना भयंकर सिंहनाद किया कि उसको सुनकर देव-सेना मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़ी और वृत्रासुर उसको रौंदने लगा।

जब इन्द्रने अपनी सेनाका यह हाल देखा तब उन्होंने वृत्रासुरपर गदा चलायी। लेकिन वृत्रासुरने बायें हाथसे वह पकड़ ली और ऐरावतको ऐसी गदा मारी कि वह पीछेकी ओर बहुत दूरतक भाग गया। लेकिन जब इन्द्रका वाहन अत्यन्त ढीला पड़ गया तब वृत्रासुरने उसपर फिर कोई प्रहार नहीं किया। इन्द्रने हाथीको अपने हाथसे सहलाकर ठीक किया। वृत्रासुरने कहा कि हे इन्द्र, तुम ब्रह्मघाती हो, गुरुघाती हो और भ्रातृघाती हो। इसलिए आज मैं तुमको मारकर इनके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा। तुमने हमारे भाईका सिर काटकर बड़ा निन्दित कर्म किया है। अब मैं ऐसा करता हूँ कि गीध तुम्हारा भक्षण करेंगे।

इस तरह वृत्रासुरने पहले इन्द्रको ललकारा और बादमें कहा कि तुम मुझपर अपना वज्र क्यों नहीं चलाते ? जैसे तुम्हारी गदा निष्फल हो गयी है, वैसे तुम्हारा वज्र निष्फल नहीं होगा, क्योंकि इसमें भगवान्‌का तेज है एवं दधीचिकी तपस्या है। इसलिए तुम मुझपर अपने वज्रका प्रहार करो, क्योंकि जहाँ श्रीहरि रहते हैं वहीं श्री है, वहीं विजय है और वहीं गुण हैं—'यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः' (२०)। इसलिए तुम वज्र चलाओ और मैं भगवान्‌के चरणारविन्दमें अपना मन लगाता हूँ—'अहं समाधाय मनो यथाऽऽह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे' (२१)। हमारे आराध्यदेव सङ्कर्षण भगवान्‌ने जैसे मुझे बताया है, वैसे ही मैं उनके चरणारविन्दमें अपना मन लगाऊँगा। यह ग्राम्य शरीर कटकर गिर जायेगा और मैं अपने लोकमें चला जाऊँगा। ससारकी सम्पत्ति भगवान् अपने भक्तको नहीं देते। त्रिलोकीकी सम्पत्ति भी नहीं देते, क्योंकि जहाँ सम्पत्ति आती है वहाँ उसके साथ द्वेष, उद्वेग, चिन्ता, मद, कलह, दुःख और संप्रयास, अपने-आप आते हैं।

देखो, वृत्रासुरकी बात सच्ची है। सब लोग विचारके अनन्तर इसको समझ सकते हैं। लेकिन यह बात जल्दी गलेके नीचे नहीं उतरती कि सम्पत्तिके साथ इतने दुःख आते हैं।

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥ २३

वृत्रासुर आगे कहते हैं कि इन्द्र, मैं अपने स्वामीके स्वभावको पहचानता हूँ। हमारे स्वामीका यह स्वभाव है कि जब कोई धर्मके लिए, अर्थके लिए, भोगके लिए प्रयास करना चाहता

है, तब वे उसके प्रयासको निष्फल कर देते हैं। भगवान् जिसका प्रयास निष्फल कर दें, समझना चाहिए कि उसपर भगवान् प्रसन्न हैं। उनका यह कृपा-प्रसाद केवल त्यागी भक्तोंको ही मिलता है, दूसरोंके लिए दुर्लभ है। जैसे बच्चा माँके स्तनका दूध न पीये, खिलौनेसे खेलने लगे, माँ चुपके-से उसके हाथसे खिलौना छीनकर अलग फेंक दे और उसको अपनी छातीमें चिपका ले तो खिलौना फेंक देनेमें माँका कोई अन्याय नहीं है बल्कि अत्यन्त स्नेह है, वैसे ही मनुष्य जब सम्पत्तिसे खेलने लगता है तब भगवान् वह सम्पत्ति उठाकर फेंक देते हैं और उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं। इतना कहते-कहते वृत्रासुर भगवान्के सम्मुख हो गया और बोला—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥ २४

प्रभो, मैं तो चाहता हूँ कि आपके चरणारविन्दके तलवोंके दासानुदासोंकी सेवाके लिए फिरसे जन्म लूँ। आप मेरे प्राणपति हैं। मेरा मन आपके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी उसका उच्चारण करे और मेरा शरीर आपकी सेवा करे। मुझे न तो चाहिए स्वर्ग, न चाहिए ब्रह्मका पद, न चाहिए सार्वभौम, न चाहिए रसाधिपत्य, न चाहिए कोई सिद्धि और न चाहिए मोक्ष। मैं आपको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

देखो, कितना प्रेम उमड़ पड़ा है वृत्रासुरके हृदयमें! वह जन्मसे असुर है, युद्धभूमिमें खड़ा है और मरने-मारनेके लिए तैयार है। लेकिन भक्ति-विह्वल होकर कह रहा है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ २६

मेरे प्यारे पद्मनेत्र प्रभो, जैसे पक्षियोंके पङ्खहीन बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँका दूध पीनेके लिए आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिए उत्कण्ठित रहती है; वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनोंके लिए छटपटा रहा है।

फिर कहता है कि प्रभो, मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। मुझे तो यह चाहिए कि अपने कर्मानुसार मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, जिस योनिमें भी जाऊँ, वहाँ आपके प्यारे भक्तजनोंसे मेरी मैत्री बनी रहे—

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्। २७

यहाँ देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं—

जेहि जेहि जोनि कर्मवश भ्रमहीं। तेहि तेहि नाथ देहु यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यहि नात निबाहू॥
नाथ योनिसहस्रेषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वच्युताभक्तिरच्युतेस्तु सदा त्वयि॥

अन्तमें वृत्रासुर कहता है कि हे नाथ, इस शरीरमें, पुत्रमें, स्त्रीमें, घरमें मेरी कभी आसक्ति न हो और आपकी माया मुझपर कभी प्रभाव न डाले।

: १२ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, वृत्रासुर यह चाहता था कि रणभूमिमें लड़ते-लड़ते उसका शरीर छूट जाये और वह मरकर भगवान्‌को प्राप्त करे। इसी उद्देश्यसे वह अपना शूल उठाकर इन्द्रपर टूट पड़ा। इन्द्रने अपने वज्रसे शूलसहित उसके दाहिने हाथको काट दिया। इससे वृत्रासुरको बड़ा क्रोध आया और उसने अपने एक ही हाथमें परिघ लेकर ऐसा प्रहार किया कि इन्द्रका वज्र उसके हाथसे छूटकर नीचे गिर पड़ा। सब लोग वृत्रासुरकी बहादुरीकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि इसने एक हाथसे ही इन्द्रको हरा दिया, लेकिन इन्द्रका सङ्कट देखकर देवता 'हाय-हाय' करने लगे। इन्द्रको शर्म आगयी और वे वज्र उठावें ही नहीं।

इसपर वृत्रासुरने कहा कि देखो इन्द्र, यह लजानेका समय नहीं, जय-पराजय तो ईश्वरके अधीन है। जो लोग अपनेको कारण मानकर कहते हैं कि हमने जीत लिया अथवा हम हार गये, वे मूर्ख हैं। ज्योतिषी लोग तीन-तीन जन्म आगेका भविष्य बता देते हैं, लेकिन अगले क्षणमें क्या होगा यह बतानेवाला कोई नहीं है—

क्षणार्धं नैव जानामि विधाता किं विधास्यति।

इन्द्र, असलमें कोई पीछेसे हमको प्रेरित कर रहा है और वही हमारे सामने दृश्य भेज रहा है। यह सारी सृष्टि ईश्वरके द्वारा नाच रही है। प्रकृति और प्रकृतिके सारे खेल ईश्वराधीन

हो रहे हैं। जो लोग इस बातको नहीं समझते, वे ही अपनेको कर्त्ता समझकर कहते हैं कि हमने यह किया, वह किया। लेकिन लोग जिन्दगी-भर करते-करते मर जाते हैं, कुछ होता नहीं। इसलिए जय-पराजय, जीवन-मृत्यु और सुख-दु:खमें समान रहकर परमात्माको देखना चाहिए। मैं तो, अब प्राणोंकी बाजी लगाकर आया हूँ। देखता हूँ जय-पराजयमें-से क्या मिलता है ?

वृत्रासुरको वाणी सुनकर इन्द्रने उसका बहुत आदर किया और हाथसे गिरे हुए वज्रको उठा लिया। फिर बोले कि वृत्रासुर, तुम तो आसुर भाव छोड़कर सिद्ध हो गये, महापुरुष हो गये और मायासे पार हो गये।

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे। २२

वृत्रासुर, तुम तो निःश्रेयस भगवान् श्रीहरिके ऐसे भक्त हो गये कि अब तुम्हें भोगोंकी क्या आवश्यकता है ? भला, जो अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा कर रहा हो, उसको गड्ढेके पानीसे क्या प्रयोजन हो सकता है ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार भक्तिभावकी बातें करनेके बाद इन्द्र और वृत्रासुर आपसमें फिर भिड़ गये। वृत्रासुरने अपने बाकी बचे एक हाथसे ही अपना परिघ उठाया और इन्द्रपर प्रहार कर दिया। इन्द्रने वज्रसे परिघ और वृत्रासुरका हाथ दोनों काट दिये। वृत्रासुरके दोनों हाथ कट जानेपर अपना अत्यन्त विशाल मुँह खोलकर अजगरकी तरह ऐरावत और इन्द्र दोनोंको निगल लिया। अब तो सृष्टिमें हाय-हाय मच गयी। परन्तु इन्द्र एक तो 'नारायण-कवच' धारण किये हुए थे, दूसरे उनके हाथमें वज्र था।

देखो, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। बम्बईमें पाँच बरसका एक बालक मकानके नीचे खेल रहा था। कोई बाल-चोर आया और उसने बच्चेको छुरा दिखाकर बोरेके भीतर कस लिया। छुरा भी उसीमें डाल दिया। फिर बोरेको गठरीकी तरह रखकर वह चोर भागा। बालकके माँ-बाप वृन्दावनमें बिहारीजीके बड़े भक्त थे। इसलिए बिहारीजीने बालकको बुद्धि दी और उसने उसमें रखे हुए छुरेसे बोरेको फाड़ दिया। अब बालचोर पकड़े जानेके डरसे बोरा पटककर भाग खड़ा हुआ और बालक अपने घर आगया। वह लड़का अब बड़ा हो गया है और मेरे पास आता रहता है।

इसी तरह 'नारायणवर्म' धारण किये हुए इन्द्रको भगवान्ने यह बुद्धि दी और वे वृत्रासुरके पेटको फाड़कर निकल आये। तदनन्तर इन्द्र एक वर्ष बाद वृत्रासुर-वधका योग उपस्थित होनेपर अपने वज्रसे वृत्रासुरका सिर काट सके। फिर तो दुन्दुभियाँ बजने लगीं और वृत्रासुरके शरीरसे एक ज्योति निकलकर भगवान्से एक हो गयी।

●

: १३ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि वृत्रासुरके मरनेपर अन्य सब लोग तो सुखी हो गये, लेकिन इन्द्रपर बड़ा भारी संकट आगया। इन्द्रने सोचा कि विश्वरूप ब्राह्मणको मारनेपर जो ब्रह्महत्या आयी थी, उसको तो मैंने बाँटकर एवं तपस्या करके दूर कर दिया, किन्तु अब वृत्रासुरको मारनेकी जो हत्या है, वह कहाँ जायेगी ?

बड़े-बड़े ऋषि लोग बुलाये गये। उन्होंने इन्द्रसे कहा कि आप डरिये मत, हम लोग आपको पाप-मुक्त करनेके लिए अश्वमेध यज्ञ करवायेंगे और उसके द्वारा परमात्माकी आराधना करेंगे।

इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात्। ७

भगवान् नारायणकी उपासना ऐसी है कि उससे वृत्रासुरका वध तो क्या चीज है, यदि आप सम्पूर्ण विश्वका वध करें तो उसके पापसे भी छूट जायेंगे। चाहे कोई ब्रह्मघाती हो, पितृ-

घाती हो, गोघाती हो, मातृघाती हो, आचार्यघाती हो अथवा और किसी पापका पापी हो और चाहे वह जन्मसे श्वपच हो, कुत्ता खानेवाला हो, पुल्कसक—कसाई हो, कुछ भी क्यों न हो, वह भगवान्‌का नाम लेनेपर परम पवित्र हो जाता है—

शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात् । ८

इतनेमें ब्रह्महत्या मूर्तिमती होकर इन्द्रके पास आगयी। उसके आनेसे इन्द्रको बड़ा भारी ताप हुआ। ब्रह्महत्याके वस्त्र चाण्डालीके समान रक्तसे रञ्जित थे और उसको क्षयरोग लगा हुआ था। वह अपनी दुर्गन्धसे मार्गको दूषित कर रही थी और बहुभाषिणी थी। जब इन्द्रने देखा कि ब्रह्महत्या मेरे पीछे आरही है तब वे भाग-भागकर चारों ओर गये। लेकिन कहीं भी उनको कोई सहारा नहीं मिला। अन्तमें वे कमलनालके भीतर जाकर छिप गये। खाने-पीनेको कुछ नहीं मिलता था। वहाँसे कैसे उनको छुटकारा मिले, यह चिन्ता सताने लगी।

उन्हीं दिनों राजा नहुष अपनी तपस्याके बलसे स्वर्गके राजा बने। परन्तु वहाँका ऐसा बड़ा ऐश्वर्य है, वहाँकी ऐसी ऊँची कुर्सी है कि उसका मद सब लोग सह नहीं सकते। वहाँ जब कोई छोटा-मोटा आदमी पहुँच जाता है तब तो 'छुद्र नदी भरि चलि उतिराई' जैसी कहावत चरितार्थ हो जाती है। नहुषकी भी बुद्धि ऐश्वर्यके मदसे अन्धी हो गयी। उन्होंने इन्द्राणीसे कहा कि मैं इन्द्र हो गया हूँ, तुम मेरी पत्नी बनो। लेकिन शचीने युक्तिपूर्वक नहुषसे ब्राह्मणोंका अपराध करवा डाला और वे वहाँसे गिर पड़े।

उसके बाद इन्द्र ढूँढ़कर लाये गये। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया और वे ब्राह्मण-वधसे मुक्त हो गये। अश्वमेध-यज्ञसे सब मुक्त हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण पापोंका क्षालन करनेवाला और भगवान्‌की महिमाको बढ़ानेवाला इतिहास है। इसमें दधीचिके परोपकारकी, नारायणवर्मकी और भगवान्‌के नामकी तथा उनकी उपासनाकी महिमाका वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि वृत्रासुर असुर होनेपर भी किस प्रकार भगवान्‌का भक्त हो जाता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वे इस आख्यानको बार-बार पढ़ें। इसमें उनके जीवनके लिए बहुत बड़ी सामग्री मिलेगी।

•

राजा परीक्षित कथाके बड़े रसिक हैं। कोई भी प्रसंग मिल जाये तो वे पूछे बिना रहते ही नहीं। श्रीशुकदेवजीसे उन्होंने पूछा कि महाराज! इतने बड़े रजोगुणी-तमोगुणी स्वभावके वृत्रासुरको भगवान् नारायणके प्रति इतना प्रेम कहाँसे मिला? बड़े-बड़े महात्माओं, निर्मलात्मा ऋषियों और शुद्ध सत्त्वात्मा देवताओंकी भी भक्ति प्रायः भगवान्के चरणारविन्दमें नहीं होती, क्योंकि भगवान्के चरणोंमें भक्ति होना बहुत मुश्किल है। हजारों, लाखोंमें कोई-कोई सिद्ध होता है और फिर करोड़ों सिद्धोंमें कोई एक भक्त होता है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥ ५

इसलिए परीक्षितजी पूछते हैं कि ऐसी भक्ति वृत्रासुरके हृदयमें कहाँसे आगयी? आप कृपा करके मुझे समझाइये।

परीक्षितका प्रश्न सुनकर और यह देखकर कि परीक्षित बहुत श्रद्धासे प्रश्न कर रहे हैं, श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्, सावधान होकर श्रवण करो। मैंने यह इतिहास व्यास, नारद और देवलसे सुना है।

शूरसेन देशमें चित्रकेतु नामके एक सार्वभौम राजा थे। देखो, आजकल मथुरा आगराके क्षेत्रको शूरसेन कहते हैं। चित्रकेतुकी पृथिवी क्या थी, साक्षात् कामधेनु थी। उनकी बहुत-सी पत्नियाँ थीं। उनके पास बहुत सारी सम्पत्ति भी थी। फिर भी उनको सुख प्राप्त नहीं था।

एक दिन राजाके घरमें अङ्गिराः ऋषि आये। उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ। ऋषिने पूछा, राजा! तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी प्रजा तो सुखी है न! जब पत्नी, पुत्र, कोषाध्यक्ष, सेनापति पुरोहित—ये सब सुखी रहते हैं तब राजा सुखी रहता है। बताओ, तुम्हारे साथके लोग तुम्हारी आज्ञा मानते हैं कि नहीं? क्योंकि कोई मालिक तो हो, लेकिन उसकी बात कोई न मानता हो—सब अपने-अपने मनकी करते हों तो सबसे ज्यादा दुःखी वह मालिक ही होगा। सच्ची बात यह है कि जिसका अपना मन वशमें होता है, उसके वशमें सब होते हैं और उसकी प्रसन्नता चाहते हैं। तुमको कोई चिन्ता हो, दुःख हो तो हमको बताओ।

राजाने कहा कि महाराज, आप तो सब कुछ जानते हैं। फिर भी जब पूछते हैं तब बताना ही पड़ेगा। मेरे पास सम्पत्ति, पत्नी, राज्य, प्रजा सब कुछ है, परन्तु बेटा नहीं है। इसके कारणसे हमको सुख नहीं हो रहा है। कृपया आप इस दुःखसे छुटकारा पानेका उपाय बताइये।

देखो, इस संसारमें सबके पास कुछ-न-कुछ कमी तो रहती ही है। जब सृष्टिके प्रारम्भमें जीवात्मा भगवान्के यहाँसे चलने लगा तब इसको डर लगा कि मैं कहीं संसारमें फँस जाऊँ तो लौटकर नहीं आ सकूँगा। वह हाथ जोड़कर भगवान्से कहने लगा कि प्रभो, मैं कहीं संसारमें फँस

गया और आपके पास लौटकर न आ सका तब क्या होगा ? भगवान्‌ने कहा कि अच्छा लो, हम तुमको देते हैं दुःखकी-बेचैनीकी एक पुड़िया। यह संसारमें वहाँ-वहाँ पड़ी मिलेगी, जहाँ-जहाँ तुम जाओगे। जबतक तुम हमारे पास लौटकर नहीं आते, तबतक बिल्कुल सुखी नहीं रह सकोगे। यह दुःखकी पुड़िया तुमको हर समय हमारे पास आनेकी प्रेरणा देती रहेगी। इस तरह सबके साथ भगवान्‌ने थोड़ा-सा दुःख भेज दिया है और इसीलिए सब दुःखी हैं। कबीरदास कहते हैं—

राजा दुखिया, परजा दुखिया, साधुनके दुख दूना।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, एकहु घर नहिं सूना॥

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजा चित्रकेतुकी प्रार्थना सुनकर कृपालु अङ्गिराःजीने चरु पका दिया। देखो, मनुष्यके शरीरमें जो वीर्य बनता है वह भीतरकी रासायनिक प्रक्रियाओंसे ही तो बनता है। उसकी भी अपनी पद्धति है। इसी तरह चरु-जैसे बाह्य पदार्थमें भी मन्त्र-बल और ईश्वरानुग्रहसे वीर्यके गुण-स्वभावका आधान किया जा सकता है। पहलेके ऋषि-मुनि ऐसा करते थे। इसलिए अङ्गिराःजीने चरु पकाकर राजाको दे दिया और राजाने वह अपनी बड़ी पत्नीको खिला दिया। महात्मा अङ्गिराः बोले कि तुमको इससे बेटा तो हो जायेगा, लेकिन उससे तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही मिलेंगे। यह कहकर महात्मा चले गये।

दुनियामें कोई भी चीज सुख-ही-सुख देनेवाली नहीं होती, दुःख देनेवाली भी होती है। एक सज्जनने कहा जब हम सिरमें चन्दन लगाते हैं तब कितना सुख होता है। उससे कितनी सुगन्ध आती है। दूसरेने कहा कि उसको घिसनेमें कितनी तकलीफ होती है, यह भी तो देखो। इसके अलावा बिना आदतके सिरमें चन्दन लगा लें तो सिर चकराने लगता है। इसी तरह संसारके सभी सुखोंके साथ दुःख लगे हुए हैं।

राजा चित्रकेतुके यहाँ समयपर पुत्रका जन्म हुआ। उसके जातकर्मादि सभी संस्कार सम्पन्न किये गये। राजाने खूब दान किया। परन्तु दूसरी जो पुत्र-विहीना रानियाँ थीं, उनके मनमें दुःख हो गया। उन्होंने सोचा कि अब राजा बेटा होनेसे उसीको चाहेंगे, हमलोगोंको नहीं चाहेंगे। सचमुच राजाका मन भी बच्चेको खिलानेमें ही ज्यादा लगने लगा और वे उसीके पास रहने लगे। रानियोंको उस पुत्रसे इतनी जलन हुई कि एक दिन उन्होंने दुष्ट बुद्धिसे ग्रस्त होकर उस सुकुमार राजकुमारको विष दे दिया। महारानी कृतद्युतिको तो कुछ मालूम ही नहीं था। जब दासीने हाय-हाय करके रोना शुरू किया, तब सब लोग इकट्ठे हुए और शोकग्रस्त होकर रोने लगे। राजा, महारानी, सारा रनिवास, सारा राजपरिवार, सारी राजधानी दुःखमें डूब गयी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जब महर्षि अङ्गिराः और नारदजीको पता चला कि राजा चित्रकेतु पुत्र-शोकके कारण संतप्त होकर चेतनाहीन हो रहे हैं तब वे दोनों वहाँ पधार गये।

●

: १५ :

जब उन दोनों महात्माओंने देखा कि राजाका मुकुट एक ओर पड़ा है और राजा धूलमें लोट-लोटकर हाय बेटा, हाय बेटा, कहते हुए छाती पीट रहे हैं, तब उन्होंने कहा—राजा, तुम जिसके लिए शोक कर रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? जो पहले जन्ममें पिता होता है, दादा होता है, वही इस जन्ममें पुत्र-पोता हो जाता है। तुम्हीं बताओ, कौन किसका सम्बन्धी है? जैसे नदीके वेगमें बालू बहता रहता है, वैसे ही इस सृष्टिमें जीव बहते रहते हैं। इसमें न तो कोई किसीका बेटा है और न कोई किसीका बाप है। यह जीव बिल्कुल असम्बद्ध है। इसके लिए शोक नहीं करना चाहिए। जरा सोचो तो, जन्मसे पहले और मृत्युके बाद कौन किसका रहता है? यह सब भगवान्‌का खेल है। देहसे देह होता है, बीजसे बीज होता है और जीव तो शाश्वत है। इसमें बाप-बेटेका भेद देहमूलक है, अज्ञानमूलक है। इसलिए तुम शोक मत करो।

अब राजाको स्मरण हुआ महात्माके पूर्ववचनका। उन्होंने अपने हाथसे अपना मुँह पोंछा और बोले—महाराज, आप दोनों कौन हैं? क्या सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिराः हैं? बताइये आप लोग बड़े सिद्धेशोंमें कौन-कौन हैं? क्योंकि वे लोग ही ज्ञान देनेके लिए विचरण करते हैं। आपलोग कृपा करके मुझे भी थोड़ा-सा ज्ञान प्रदान कीजिये।

अङ्गिरा ऋषिने कहा कि देखो राजा, मैं ही तुमको बेटा दे गया था। मेरे साथ यह नारदजी हैं। तुम भगवान्‌के पथपर चलकर भी अपने मृत पुत्रके दुःखसे इतने दुःखी हो रहे हो, अतः तुमको बचानेके लिए, तुमपर अनुग्रह करनेके लिए हम लोग तुम्हारे पास आये हैं। मैं पहले ज्ञानोपदेशके लिए तुम्हारे पास आया था लेकिन देखा कि तुम्हारा मन पुत्र-प्राप्तिकी ओर है, इसलिए पुत्र देकर चला गया था। जब किसीका मन दूसरी तरफ होता है और उसको कोई दूसरी बात बतायी जाये तो वह सुनता नहीं। मैंने पुत्रकी ओर तुम्हारा अभिनिवेश देखकर सोचा कि लो पहले तुम पुत्र प्राप्त कर लो और फिर देखो कि पुत्र होनेमें भी कितना दुःख होता है। यही संसारकी सब वस्तुओंकी गति है।

राजन्, इस संसारमें कोई किसीका नहीं है—न पृथिवी है, न राज्य है, न कोश है और न भृत्य हैं। ये सब जितनी भी चीजें हैं, सब शोक देनेवाली हैं, क्लेश देनेवाली हैं। स्वयं इस देहमें ही बहुत शोक है, इसलिए स्वस्थ होकर अपने मनमें आत्मतत्त्वका विचार करो और द्वैतभ्रमको दूर करके शान्तिस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाओ—

द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश। २६

इसके बाद नारदजीने कहा कि देखो चित्रकेतु, मैं तुमको एक मन्त्र देता हूँ। इससे सात दिनमें ही तुमको सङ्कर्षण भगवान्‌का दर्शन होगा और वहाँ जानेपर द्वैतका भ्रम दूर हो जायेगा।

: १६ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, इसी बीच देवर्षि नारदने उस राजकुमारके जीवात्माको बुलाकर सबके सामने खड़ाकर दिया और कहा कि देख जीवात्मा, तेरे यह माँ-बाप तेरे लिए कितने दुःखी हो रहे हैं। तू आजा, अपने शरीरमें प्रवेश कर ले और राज्य-सिंहासनपर बैठ, राज्य कर, भोग कर। तू क्यों चला गया ?

जीवात्माने कहा कि महाराज, मैं तो इनको पहचानता भी नहीं कि ये हमारे किस जन्मके माता-पिता हैं। मैं तो कर्मवश न जाने कहाँ-कहाँ गया। कभी पशु हुआ, तो कोई गाय मेरी माता हुई, तो कोई साँड़ मेरा पिता हुआ, कोई घोड़ी मेरी माता हुई, कोई घोड़ा मेरा पिता हुआ। कभी कोई चिड़िया मेरी माँ बनी तो कोई पक्षी मेरा पिता बना। 'देवतिर्यङ्नृयोनिषु (४)। न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा। कितने-कितने मित्र-शत्रु बने। जैसे कोई चीज बाजारमें इस दुकानपर-से उस दुकानपर चली जाती है, वैसे ही जीवात्मा अपने कर्मानुसार इस घरसे उस घरमें, इस योनिसे उस योनिमें घूमता रहता है। जबतक शरीरका सम्बन्ध रहता है, तभीतक ममता रहती है। बाप-बेटेका सम्बन्ध बिल्कुल अनित्य है। जीवात्मा अव्यय और सर्वेन्द्रिय-साक्षी है। इसका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है। इस प्रकारकी जो बुद्धियाँ हैं, हित-अहित हैं, मित्र-शत्रु हैं, उन सबका यह साक्षी है। मेरा तुम लोगोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम लोग मेरे लिए शोक मत करो।

इतना कहकर जीवात्मा किसीसे कुछ पूछे बिना ही चला गया। उसके बाद सब लोगोंके शोक-मोह और स्नेहकी निवृत्ति हो गयी तथा उस मृत शरीरको जला दिया गया।

रानियोंने देखा कि देहके मरनेके बाद भी जीवात्मा रहता है। उनका धर्मपर विश्वास हो गया। उन्होंने अनुभव किया कि हमने हत्या करके बड़ा भारी पाप किया और उस पापका प्रायश्चित भी किया।

इसके बाद राजा चित्रकेतु घरसे निकले, उन्होंने कालिन्दीजीमें स्नान किया और सूतक-निवृत्तिके पश्चात् शास्त्रीय रीतिसे नारदजी द्वारा यह परमात्म-विद्या ग्रहण की।

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये॥ १८.१९

इसके बाद राजा चित्रकेतुने **ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन् नमस्ते।** (२५) मन्त्रका जप शुरू किया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, राजा चित्रकेतुको यह मन्त्र बताकर नारदजी अङ्गिराके साथ अपने धाममें चले गये और इधर चित्रकेतु केवल पानी पीकर सात दिनतक इस विद्याका जप करते रहे। सात दिनके बाद वे विद्याधराधिपति हो गये। थोड़े ही दिनोंमें उन्हें नीलाम्बरधारी, किरीटी, केयूरी, कटिसूत्री और कङ्कणी भगवान् शेषका दर्शन प्राप्त हुआ। उनका सारा पाप-ताप मिट गया। शरीरमें रोमाञ्च हो गया। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। ऐसा प्रेम उमड़ा कि वे स्तुति भी नहीं कर सके।

उसके बाद चित्रकेतुने अपने मनको स्थिर करके जगद्गुरुकी स्तुति प्रारम्भ की—

अजित जितः सममतिभिः साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता।
विजितास्तेऽपि च भजतामकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः॥ ३४
तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि।
विश्वसृजस्तेऽशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या॥ ३५

हे अजित, जो आपने आपको जीत लेता है, वह भगवान्‌को जीत लेता है। अपने आपको जीतना ही सबसे बड़ी वस्तु है। आपने भी उनको अपने गुणोंसे जीत लिया है। आपने करुणासे उनको आत्माका दान किया है। सृष्टिके जो बड़े-बड़े लोग हैं वे सब आपके अंशांश हैं। परमाणु और परम महान् उनके आदि, मध्य भी आप ही हैं। उनके अन्तरवर्ती भी आप ही हैं। यह सप्तावरणसे वेष्टित पृथिवी आपके सिरपर परमाणुके समान भासती है। आप अनन्तर हैं। जो

आपको छोड़कर दूसरेका भजन करते हैं, उनका मनोरथ नष्ट हो जाता है। यदि विषयकी कामनासे भी कोई आपके चरणारविन्दकी सेवा करे तो उसको मोक्षकी प्राप्ति होती है। सनकादि मुक्तपुरुष आपकी उपासना करते हैं। आपमें विषमता बिल्कुल नहीं है। कोई अपने-परायेका द्रोह करके यदि चाहे कि आपको प्राप्त कर लेगा, तो वह नहीं प्राप्त कर सकता। ज्ञानी लोग आपकी ही आराधना करते हैं। यह कोई असम्भव बात नहीं कि आपके दर्शनसे मनुष्यके सारे पाप क्षीण हो जायें—

यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात्। ४४

देखो, पहले अजामिलके प्रसङ्गमें बोलनेका माहात्म्य आया था। यहाँ सुनानेका माहात्म्य है। कहते हैं कि यदि एक कसाई भी दूसरेके मुँहसे उच्चारण किया हुआ भगवन्नाम श्रवण कर ले तो वह पापसे मुक्त हो जाता है। मैं बिल्कुल कृतार्थ हो गया हूँ। नारदजीने मुझको जो उपदेश किया है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? अब मैं आपसे क्या प्रार्थना करूँ ? आप सहस्रमूर्धा हैं। आपको बारम्बार नमस्कार है।

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने॥ ४८

क्षीरसागरमें विष्णु भगवान् शेष भगवान्‌की गोदमें रहते हैं। वहींसे दुनिया-भरको खाने-पीने-जीनेकी सब चीजें भेजते रहते हैं। शेष भगवान् महाप्रलयके समय भी शेष ही रहते हैं। जगद्-बीज जीवके साथ मिला रहता है। जब कभी वे अवतार कालमें लक्ष्मण होकर आते हैं तब जैसे शेष भगवान् फुफकारते रहते हैं—मच्छर, मक्खी भगवान्‌के शरीरपर नहीं बैठने देते, सब उनके डरसे ही दूर भागते रहते हैं, वैसे ही लक्ष्मणजी डाँट-डाँटकर सबको ठीक रखते हैं। सद्‌रूपी क्षीरसागर है, चिद् रूपो शेष भगवान् हैं और आनन्दरूपिणी भगवती लक्ष्मीजी हैं, जो भगवान्‌के पाँव दबाती रहती हैं। यह सच्चिदानन्दघन हैं। उनकी महिमाका कोई क्या गान करे।

देखो, भगवान् जब कभी मिलते हैं तो अपनी ओरसे कोई नयी बात नहीं बताते। वस्तु निरहंकृति होती है, वह किसीकी बातको नहीं काटती। यही उसकी महिमा है। सच्चा महात्मा वही है जो कहे कि ऐसे भी ठीक, वैसे भी ठीक। असलमें वहाँसे ऐसा दीखता है। सब परमात्माका स्वरूप है। जब भगवान् चित्रकेतुको मिले तो यह नहीं कहा कि नारद-अङ्गिराःने जो बताया वह गलत है और मैं जो कहता हूँ, वह सच है। बल्कि उन्होंने यह कहा कि तुमको नारद-अङ्गिराःने जो बताया, उससे तुम सिद्ध हो गये हो और तुमको मेरा दर्शन भी प्राप्त हो गया है। सब कुछ मैं ही हूँ। शब्द ब्रह्म, परब्रह्म, सगुण, निर्गुण सब मैं ही हूँ। आत्मामें सब और सबमें आत्मा और दोनोंमें मैं हूँ। जैसे स्वप्नकालमें, निद्रामें अपने भीतर प्रपञ्च दिखता है, उसीमें आदमी उठकर खड़ा होता है और उसको मालूम होता है कि मैं तो इस एक देशमें हूँ, वैसे ही जागरणादि

अवस्थाएँ मायामात्र हैं। इनका जो द्रष्टा है, वही बिल्कुल सच्चा है। जो स्वयंप्रकाश-रूपसे सबको प्रकाशित करता है, वही ज्ञान ब्रह्म है।

अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम्। ५६

जिस ज्ञानकी सत्तासे सब सिद्ध होता है और किसीके न रहनेपर भी जो सबसे अतिरिक्त ज्ञानस्वरूप है, वही ज्ञान साक्षात् परब्रह्म है। यह ज्ञान स्वरूपको समझनेकी एक प्रक्रिया है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्योंके द्वारा वही लखाया जाता है। यह बात जीवको भूल गयी है, इसीसे जन्म-मरण, लोक-परलोक प्राप्त हो गया है। जो मनुष्य-शरीर प्राप्त करके अपने आपको नहीं जानता, वह क्लेशका भागी होता है।

वासनाओंकी पूर्तिमें बड़ा दुःख है। लोग इसीके लिए नाना प्रकारके कर्म करते हैं और विपर्ययमें फँस जाते हैं।

आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम्। ६१

अपने आपको पहचानो। आत्माका स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। जाग्रत्में स्वप्न नहीं, स्वप्नमें जाग्रत् नहीं, जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्तिमें नहीं, और अपना आत्मदेव सर्वत्र है। देश, काल, वस्तु तो तीनों अवस्थाओंमें चले जाते हैं। यह तो माया है, जो आत्माको ढक देती है, देखनेवालेको ढक देती है। अपनेको विरक्त करके दृश्य पदार्थोंसे निकालो और ज्ञान-विज्ञानसे सन्तुष्ट होकर परमात्माकी भक्तिमें लग जाओ। जितने ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न विशुद्ध महात्मा हुए हैं, उन्होंने यही कहा है—

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥ ६३

जो अपने साधन-भजनमें, योग-सांख्यमें निपुण-बुद्धि मनुष्य हैं, उनको चाहिए कि वे सबको अपना ही स्वरूप समझें। हमारा इतना ही सर्वात्मना स्वार्थ-परमार्थ है कि परमात्मा और आत्मा दोनों एक हैं। अनुभव ही दर्शन है और यही असलमें मूल तत्त्व है। मेरे इस वचनको तुम धारण करना। ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न होकर तुम सिद्ध हो जाओगे।

इस प्रकार भगवान् श्रीहरि चित्रकेतुको समझा-बुझाकर उनके सामने ही अन्तर्धान हो गये।

●

: १७ :

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् सङ्कर्षण जिस दिशामें अन्तर्धान हुए, उस दिशाको चित्रकेतुने नमस्कार किया। अब चित्रकेतुकी शक्ति अपार हो गयी और सिद्ध लोग उनकी स्तुति करने लगे। विद्याधरोंकी स्त्रियाँ उनके पास आकर भगवान्के गुणों और लीलाओंका गान करती रहतीं। वे 'कुलाचलेन्द्र द्रोणी' (२)में विहरण करने लगे।

एक बार वे भगवान्के दिये हुए विमानपर बैठकर शङ्करजीकी ओर चले गये। शङ्करजी महाराज त्रिगुणसे परे रहते हैं और उनकी रहनी भी बहुत विलक्षण है। उनके पास महात्माओंकी सभा जुड़ी थी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि बैठे हुए थे और उनके मध्य भगवान् शङ्कर भगवती पार्वतीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उनका आलिङ्गन किये हुए थे। उनको इस अवस्थामें देखकर चित्रकेतु बड़े जोरसे हँस पड़े और देवी पार्वतीको सुनाकर बोले—

उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके। ५

देखो, जरा सारे जगत्के धर्माचार्य शङ्करजीको! ये समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं, सबके गुरुदेव हैं, लेकिन महात्माओंकी सभामें पत्नीके साथ चिपककर बैठे हुए हैं। इनकी लम्बी-लम्बी जटाएँ हैं,

ये बड़े भारी तपस्वी हैं, सभापति बनकर ब्रह्मवाद कर रहे हैं, किन्तु निर्लज्ज प्राकृत पुरुषके समान औरतको गोदमें लेकर बैठे हुए हैं। प्रायः साधारण लोग भी एकान्तमें ही स्त्रीको गोदमें बैठाते हैं, लेकिन ये बड़े-भारी व्रतधारी होकर भी भारी सभामें इस प्रकार बैठे हुए हैं!

जब शङ्कर भगवान्ने चित्रकेतुका यह व्यङ्ग्य सुना तो वे हँसने लगे क्योंकि उनकी बुद्धि अगाध है। यही महापुरुषका माहात्म्य है कि वह ऐसी बातोंसे विचलित नहीं होता। किन्तु चित्रकेतुको उनका माहात्म्य मालूम नहीं था, इसलिए वे ऐसी बातें बक रहे थे—

इत्यतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम्। १०

भगवान् शङ्करने तो चित्रकेतुको कुछ नहीं कहा, परन्तु देवीजीको आगया क्रोध। उन्होंने कहा—अच्छा, अब तुम हमलोगोंको दण्ड देनेवाले ईश्वर पैदा हुए हो? अबतक तो हम समझते थे कि शङ्करजी सबसे बड़े हैं। लेकिन इनको भी दण्ड देनेके लिए, तुम्हारे-सरीखे बड़े आगये हैं। हमलोग दुष्ट हैं, निर्लज्ज हैं और तुम हमारे दण्ड-दाता हो। ब्रह्माजी, सनत्कुमार, नारद, कपिल और मनु आदि तो ऐसे हैं कि यदि इनके सामने शङ्करजीके शरीरसे कोई धूलका कण भी छिटक जाता है तो ये लोग उसको उठाकर अपने सिरपर लगाते हैं। उनको शङ्करजीके बारेमें कभी कोई शङ्का नहीं होती। किन्तु तुम इनके ध्येयके लिए ऐसे शब्द बोलते हो! तुमको दण्ड मिलना ही चाहिए। अब तुम भगवान्के चरणोंमें रहने योग्य नहीं रहे। इसलिए आसुरी योनिमें चले जाओ।

इस प्रकार जब पार्वतीजीने शाप दिया तो चित्रकेतु जो बड़ा भारी वैष्णव और शेष भगवान्का कृपा-प्रसाद-प्राप्त था, विमानसे उतरकर नीचे आगया और उसने पार्वतीजीको दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा—मैं आपका शाप स्वीकार करता हूँ। असलमें देवता लोग किसीको शाप नहीं देते। वे तो जो होनेवाला होता है, उसीको समयसे पहले बोल देते हैं। न तो कोई किसीको सुख देता है और न दुःख देता है। यह जो अपनेको या किसी दूसरेको सुख-दुःखका हेतु मानता है, वह तो गलत है। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी धारा बह रही है—इसमें क्या ताप, क्या स्वर्ग, क्या नरक, क्या सुख और क्या दुःख! यह सब तो खेल-मेलका मामला है। भगवान् अकेले ही अपनेको सर्वरूपमें दिखाते हैं। वही बन्धन हैं और वही मोक्ष हैं, वही सुख हैं और वही दुःख हैं। उनके सिवाय और क्या है? न उनका कोई अपना है, न पराया है; न उनको राग है, न रोष है। यह सब तो उनकी लीला है। देवीजी, मैं आपको आपके शापसे मुक्ति पानेके लिए प्रसन्न नहीं कर रहा। मैं यह नहीं कहता कि मुझे आसुरी-योनिमें न जाना पड़े। लेकिन मुझसे आपको जो दुःख पहुँच गया है, उसके लिए मैं अवश्य यह चाहता हूँ कि आप दुःखी न हों और मुझे क्षमा करें।

इतना कहकर चित्रकेतु अपने विमानपर चढ़कर चला गया। इधर शङ्करजीने पार्वतीजीसे

कहा कि देवीजी, तुमने देख लिया कि भगवान्‌के भक्त कैसे होते हैं ? तुमने उसे शाप दे दिया और उसने हाथ जोड़कर तुमसे क्षमा माँग ली। असलमें जो भगवान्‌के भक्त होते हैं, वे केवल भक्ति देखते हैं। अगर गीधकी योनिमें भक्ति मिले, तो गीधकी शक्लसे उनको कोई परहेज नहीं हो सकता हूँ। किसी भी योनिमें रहना हो, स्वर्गमें रहना हो, अपवर्गमें रहना हो, नरकमें रहना हो, भगवद्भक्तके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि सब जगह भगवान् हैं—

स्वर्ग नरक अपवर्ग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनु बाना ॥

देहके संयोगसे सुख-दुःख, मृत्यु-जन्म आदि होते रहते हैं। अविवेकके कारण ही अर्थ-भेद दिखाई पड़ता है। यह वैसा ही है, जैसे गुण, दोष, विकल्प आदि हैं और साँपको कोई रस्सी समझ ले या मालाको साँप समझ ले। जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाती है और ज्ञान-वैराग्यका वीर्य उदय हो जाता है, उसके लिए किसी दूसरे सहारेकी जरूरत नहीं पड़ती। ईश्वर क्या करना चाहता है, हम नहीं जानते। उनका कोई प्रिय-अप्रिय नहीं है। वे तो सबसे प्यार ही करते हैं; क्योंकि वे सबके आत्मा हैं। जैसा मैं भगवान्‌का प्यारा हूँ, वैसा ही चित्रकेतु भी भगवान्‌का प्यारा है। इसलिए भगवद्भक्तके किसी बर्तावपर तुम्हें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि शङ्करजीकी बात सुनकर पार्वतीजी शान्त हो गयीं और उनका विस्मय जाता रहा। चित्रकेतु चाहते तो वे भी पार्वतीजीको कोई शाप दे सकते थे, परन्तु उन्होंने शाप नहीं दिया, क्योंकि 'एतावत्साधुलक्षणम्'। (३७) साधुका लक्षण यही है कि इनको 'मूर्ध्ना सञ्जगृहे शापम्'। (३७) कोई कितनी भी गाली दे, भला-बुरा कहे, लेकिन वे बुरा नहीं मानते, सुनकर चुप रहते हैं। चित्रकेतु शापके कारण वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुए, इसलिए वृत्रासुरके जीवनमें इतनी भक्ति आगयी। वृत्रासुरका इतिहास केवल उनका ही इतिहास नहीं, सम्पूर्ण विष्णुभक्तोंका इतिहास है। इसे जो सुनता है, वह बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

●

: १८ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज सविता, भग, धाता, विधाता आदिके वंशका संक्षेपमें वर्णन करनेके बाद कश्यपजीकी दूसरी पत्नी दितिके वंशका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। इस छठे स्कन्धमें दितिका प्रसङ्ग मुख्य है। दितिके हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो पुत्र हुए। इनकी कथा तीसरे स्कन्धमें आ चुकी है। हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधुसे चार पुत्र हुए—संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद। इन पुत्रोंके अतिरिक्त एक सिंहिका नामकी कन्या भी हुई। उसका विप्रचित्तिसे विवाह हुआ। उसीसे राहुकी उत्पत्ति हुई। राहुकी कथा तो लोकमें बहुत प्रसिद्ध है। वह अमृत-मन्थनके प्रसङ्गमें विशेष करके आयेगी। इन सबका वंश चला। प्रह्लादके पुत्र विरोचन हुए और विरोचनके बलि तथा बलिके बाण हुए। बाण शङ्करजीके मुख्य गण हो गये।

कश्यप द्वारा दितिके गर्भसे उनचास वायु भी पैदा हुए। वे सब निस्सन्तान रहे और मरुद्गण कहलाये। इन्द्रने इन सबको देवता बना लिया।

यहाँ परीक्षितजीने पूछा कि महाराज दितिसे तो दैत्य होने चाहिए। मरुद्गण तो देवता हैं। दितिके पेटसे कैसे पैदा हो गये? उनका आसुर भाव कैसे बदल गया? वे देवत्वको कैसे प्राप्त हुए?

श्रीशुकदेवजी महाराजने वर्णन किया कि जब इन्द्रने दितिके पुत्रों—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मरवा दिया, तब वह यह सोचने लगी कि जैसे हमारे पुत्र मारे गये हैं, वैसे ही मेरी सौत अदितिके बेटे भी मारे जायँ तब मैं सुखकी नींद सो सकती हूँ। देखो परीक्षित, भगवान्की कैसी माया है कि लोग अपनेको और अपने आत्मीयोंको तो बचाना चाहते हैं, लेकिन दूसरोंसे द्रोह करते हैं। यह द्रोह नरकमें ले जानेका रास्ता है। जो दूसरेको दुःख पहुँचाना चाहेगा, उसको नरकमें जाना ही पड़ेगा।

तो, दितिने यह सङ्कल्प करके कि उसे भी एक ऐसा बेटा हो, जो इन्द्रको मार डाले, वह अपने पतिको प्रसन्न करनेके लिए उनकी सेवा करने लगी। वैसे तो पतिकी सेवा बहुत बढ़िया वस्तु है; लेकिन उसके पीछे नीयत क्या है, इस बातपर भी ध्यान देना चाहिए। दितिने् अपने मनको रोककर प्रेमसे, विवेकसे, मधुर भाषणसे, मुस्कानसे, चितवनसे कश्यपजीके मनको पकड़ लिया। वे उस विदग्ध स्त्रीकी सेवाओंसे मुग्ध होकर जड़ हो गये। स्त्रीके लिए यह बात कोई आश्चर्यजनक नहीं है कि वह बाँयेको दायें और दायेंको बाँये बता दे। ऐसी बहुत सारी कथाएँ आती हैं। भगवान्ने स्त्रीको ऐसा बनाया ही है।

एक दिन कश्यपजी दितिसे बोले कि देवी, मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। यदि पति पत्नीपर प्रसन्न हो जाये तो उसके लिए कुछ दुर्लभ नहीं होता, क्योंकि पत्नीका देवता पति है और सबके पति भगवान् हैं। इसलिए कश्यपजीने कहा कि दिति, तुमने मेरा बहुत सत्कार किया है। पतिव्रता स्त्री अपने पतिको ही परमेश्वर मानकर सेवा करती है। अब तुम जो चाहो हम करनेके लिए तैयार हैं।

दितिने देख लिया कि ये वचनबद्ध हो गये, तो बोली कि हमारे कई बच्चे इन्द्रके द्वारा मारे गये हैं। इसलिए मैं चाहती हूँ कि मेरे भी एक ऐसा बेटा हो, जो इन्द्रको मार दे।

यह सुनकर कश्यपजीको बहुत दुःख हुआ, क्योंकि इन्द्र भी अदितिके गर्भसे कश्यपके ही बेटे हैं। उन्होंने सोचा कि अब तो अधर्मका प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। मायाने मुझे पकड़ लिया। मुझे नरकमें गिरना पड़ेगा। मैं अपने स्वार्थ-परमार्थको समझनेमें असमर्थ हो गया। संसारमें लोग स्वार्थके लिए पति-पुत्रादिका भी नाश कर देते हैं। अब क्या हो ? मैंने जो वचन दे दिया है, न तो वह व्यर्थ होना चाहिए और न इन्द्रका अनिष्ट होना चाहिए।

इस प्रकार सोच-विचार करके कश्यपजीने दितिको एक वर्षका व्रत बता दिया। बोले कि यदि तुम एक वर्षतक व्रतका पालन करोगी तो तुम्हारे जो बेटा होगा, वह इन्द्रको मारनेवाला होगा और उससे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा। लेकिन यदि व्रतमें कोई त्रुटि हो जायेगी तो वह इन्द्रका मित्र हो जायेगा।

इसके बाद कश्यपजीने दितिके व्रतके नियम बताते हुए कहा कि, किसीको दुःख न पहुँचाना, किसीको गाली नहीं देना, झूठ नहीं बोलना। यदि गर्भवती स्त्री किसीको सतायेगी, गाली देगी,

झूठ बोलेगी, तो उसका बेटा भी वैसा ही होगा। इन सब बातोंका प्रभाव गर्भ-शिशुपर पड़ेगा ही। उन्होंने आगे कहा—नख-रोमका छेदन नहीं कराना, निषिद्ध वस्तुका स्पर्श नहीं करना, जलमें प्रवेश करके नहाना नहीं, दुष्टसे सम्भाषण नहीं करना, बिना धुला हुआ कपड़ा नहीं पहनना, किसीकी उतारी हुई माला नहीं पहनना, उच्छिष्ट, चण्डिकान्न, मांसादि नहीं खाना।

इन सब नियमोंका वर्णन करनेके बाद उन्होंने बताया कि किस प्रकार उसको सौभाग्यवती स्त्रियोंकी पूजा करनी चाहिए, पतिकी सेवा करनी चाहिए, उसके पास रहना चाहिए और भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए। यही पुंसवन व्रत है। यदि तुम एक वर्षतक इसको धारण करोगी तो तुम्हारे इन्द्रघाती पुत्र होगा।

दितिने यह सब स्वीकार कर लिया और गर्भ धारण करके व्रतका पालन करने लगी।

अब इन्द्रकी ओर आओ! वह चतुर राजनीतिज्ञ नहीं, जिसको शत्रुके घरकी एक-एक बातका पता न हो। जब शत्रुके घरकी बात मालूम रहती है, तभी उससे सावधान रहा जा सकता है। यह राजनीति है। इन्द्र कोई साधारण राजनीतिज्ञ नहीं हैं। उनको मालूम पड़ गया कि मेरी सौतेली माँ क्या करना चाहती है। इसलिए वे तुरन्त एक सेवकका वेश धारण करके आगये और अपनी सौतेली माँकी सेवा करने लगे। उसके लिए समय-समयपर उसकी जरूरतकी चीजें ले आवें और यही देखते रहें कि इससे कब क्या गलती होती है। मनमें कपट रखकर उसकी सेवा करने लगे। जब प्रसवके थोड़े-से दिन बाकी रह गये, तब एक दिन सन्ध्या समय दिति बिना हाथ-पाँव धोयें उच्छिष्टावस्थामें ही सो गयी। अब तो इन्द्रको मौका मिल गया और वे दितिके गर्भमें प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने अपने वज्रसे गर्भके सात टुकड़े कर दिये।

अब देखो, यह कथा ऐसी है कि इसे सुनकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होगा। अबसे चालीस-पचास वर्ष पहले लोग पुराणोंकी कथा सुनकर कहते थे कि सब गप्प ही है। लेकिन इन चालीस-पचास वर्षोंके भीतर जो वैज्ञानिक उन्नति हुई है, उसको देखकर अब लोगोंका मुँह बन्द हो गया है। इस संसारमें ऐसे-ऐसे कीड़े होते हैं जिनके टुकड़े होते जाते हैं और उनका वंश चलता जाता है। आजकल विदेशोंमें नलीसे भी सन्तानोत्पादनकी क्रिया होने लगी है। वैज्ञानिक ऐसी ओषधियोंका अनुसन्धान कर रहे हैं कि सीधे उन्हींसे सन्तानकी उत्पत्ति होने लग जाय। ऐसी-ऐसी बातें दुनियामें चल रही हैं। इसलिए अब कोई आश्चर्य नहीं रहा। असलमें जो लोग प्राचीन-कालकी वैज्ञानिक उन्नतिपर ध्यान न देकर, समर्थनात्मक बुद्धिसे विचार न करके, केवल खण्डनात्मक तर्कों द्वारा सोचते हैं, उन्हींको इन सब कथाओंसे आश्चर्य होता है।

तो, जब इन्द्रने गर्भके सात टुकड़े कर दिये तब गर्भ रोने लगा। इसपर इन्द्रने कहा कि 'मा रोदीः' (६२) मत रोओ। फिर उन सातोंके भी सात-सात टुकड़े कर दिये और सब मिलाकर उनचास टुकड़े हो गये। फिर भी जब वे रोने लगे तब इन्द्रने कहा कि, तुम सब मेरे भाई हो, मत

रोओ। मरुद्गणोंने कहा कि जब हम तुम्हारे भाई हैं तब हमें मत मारो। इन्द्रने कहा कि हाँ तुमलोग मेरे भाई हो। मैं तुम्हें नहीं मारूँगा, अब रोओ मत।

परीक्षित, दितिने भगवान्की पूजा की थी। इसलिए भगवान्का ऐसा अनुग्रह हुआ कि इन्द्रके वज्रसे भी दितिके गर्भका नाश नहीं हुआ। यह सुनकर परीक्षितको थोड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जरा आँख खोलकर मानो पूछा कि यह क्या महाराज! तो शुकदेवजी महाराज बोले कि तुमको भी आश्चर्य होता है? अरे, तुम्हें क्या अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रकी बात भूल गयी, जिसने तुम्हारी माताके पेटमें घुसकर तुमको नष्ट कर देना चाहा था? उससे किसने तुम्हारी रक्षा की थी? वही हरि दितिके भी रक्षक हैं।

तो, इन्द्रके साथ वे उनचासों गर्भसे बाहर निकल आये। स्वभावके दोषसे दितिके पुत्रोंको दैत्य होना चाहिए था। पर भगवान्की आराधनासे उनको ऐसा पोषण प्राप्त हुआ कि वे दैत्यकी जगह देवता हो गये। इन्द्रने उन सबको देवता बना लिया। जब दितिको बहुत ही आश्चर्यमिश्रित आनन्द हुआ और उसने पूछा कि हमारे इतने बच्चे कैसे हो गये, तब इन्द्रने कहा—मैय्या, मैं तुम्हारे पेटमें घुस गया था, इसलिए अब मैं भी तुम्हारा बेटा हो गया। मुझे शाप मत देना। तुम तो एक ही बेटा चाहती थी। लेकिन अब हम पचास बेटे बनकर आये हैं। यह सब भगवान्की आराधनाका प्रभाव है। अब तुम खुश हो जाओ।

असलमें जो सकाम भावसे भगवान्की आराधना करते हैं, वे भगवान्की बुद्धिको अपनी बुद्धिसे बड़ी नहीं समझते। वे समझते हैं कि हमारी बुद्धि बड़ी है और हम जो चाहते हैं उसीमें हमारा कल्याण है। उन्हें तो ऐसा कहना चाहिए कि भगवन्! तुम जो चाहो, वह करो, लेकिन वे कहते यह हैं कि हे भगवान्, जो हम चाहते हैं वही तुम करो।

वस्तुतः जो भगवान्की बुद्धिपर अपनेको छोड़ देते हैं, निष्काम हो जाते हैं: वही स्वार्थ-कुशल होते हैं। भगवान्से कोई भी चीज माँगना बेवकूफी है। जो अपने आपको ही देनेके लिए तैयार हो और कहे कि चलो मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ, दिन-रात तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा रहूँगा, उसको तो माँगनेवाला छोड़ दे और उससे कानी-कौड़ी माँगकर ले आये, उसकी समझके बारेमें क्या कहा जाये? जो ऐसा समझते हैं कि हमारे लिए तुम्हारा विधान ही ठीक है, हमको तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं चाहिए, वे ही बुद्धिमान् हैं।

इन्द्रके क्षमा माँगनेपर दितिने क्षमा कर दिया और बोली कि अच्छा तुम अपने इन भाइयोंको ले जाओ, यह तुम्हारी सहायता करेंगे। इसके बाद वे सब स्वर्गमें चले गये। यह मरुद्गण-जन्मकी कथा है।

राजा परीक्षितने प्रश्न किया कि महाराज, वह व्रत कौन-सा था, जिसका उपदेश कश्यपजीने दितिको किया था ?

यहाँ देखो, कश्यपजीने अदितिसे भी एक बार व्रत कराया था, पर वह केवल तेरह दिनका था। तेरह दिनके व्रतसे ही वामन भगवान् पैदा हो गये थे। इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई सद्‌गुण-सम्पन्न सदाचारी व्यक्ति व्रत करे, तो उसको कितना जल्दी और कितना बड़ा फल मिलता है। दुर्भावसे व्रत करनेपर उसको व्रतका फल तो मिलता है, परन्तु बहुत दिनोंके बाद मिलता है, कभी उलटा भी हो जाता है। इसलिए दुर्भाव लेकर मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदिके लिए कोई व्रत नहीं करना चाहिए। व्रत करना हो तो भगवद्भावसे करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी बोले—परीक्षित, वह व्रत पत्नीको मार्गशीर्षके शुक्लपक्षमें, पतिसे आज्ञा लेकर करना चाहिए। इस व्रतका नाम सार्वकामिक व्रत है। पहले इस कथाको ब्राह्मणसे सुने, फिर पतिकी आज्ञा लेकर, श्वेत-वस्त्रालंकार धारण करके लक्ष्मी-विष्णुकी पूजा करे और इस मन्त्रसे भगवान्‌को नमस्कार करे—

अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते।
महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये॥ ४

आवाहन आदि षोडशोपचारसे भगवान्‌की पूजा करे। हविष्य-शेषसे बारह आहुतियों द्वारा हवन करे। लक्ष्मीनारायणको पूजा करे। दण्डवत् प्रणाम करे। यह प्रार्थना करे कि—

युवां ते विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम्।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया॥ ११

भगवन्, आप ही सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं। फिर उनको आचमन आदि दे। भक्तिपूर्वक स्त्रोत्र-स्तवन करे। यज्ञोच्छिष्टको सूँघ ले। परमभक्तिसे अपने पतिका सेवन करे। पति भी स्वयं प्रेमयुक्त रहकर पत्नीके अनुकूल रहे। यदि व्रतके दिनोंमें पत्नीको रजस्वलादि दोष हो जाये, तो पतिको ही पत्नीकी ओरसे उसके नियमों और कर्मका पालन करना चाहिए। दोनोंमें-से कोई एक भी कर ले तो यह व्रत सफल हो जाता है। इस व्रतको कभी बीचमें नहीं तोड़ना चाहिए। सौभाग्यवती स्त्रियोंकी सेवा करनी चाहिए। भगवान्‌को निवेदित अन्नका प्रसाद भोजन करना चाहिए। रोज-रोज भगवान्‌की आराधना, हवन आदि करने चाहिए। आचार्यको आगे करके यह सब काम सम्पन्न करने चाहिए। फिर मनुष्यका इष्ट सिद्ध हो जाता है। स्त्रीको सौभाग्य, श्री, सुप्रजा और यशका लाभ मिलता है। कन्याको उत्तम वर और विधवाको सद्‌गतिकी प्राप्ति होती है। मृतप्रजा जीवसुता हो जाती है। दुर्भगा सुभगा हो जाती है। कुरूपाको सुरूपकी प्राप्ति हो जाती है। जो किसी कर्ममें इस कथाका पाठ करता है, उससे देवता-पितरोंको अनन्त तृप्ति होती है। भगवान् उसकी कामना पूर्ण करते हैं।

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण
१

सप्तम स्कन्ध

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट
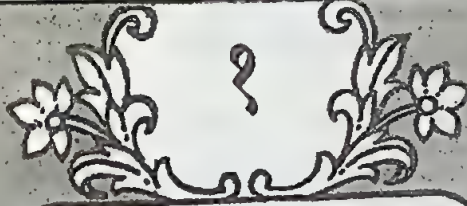
प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

सप्तम स्कन्ध

यह सातवाँ स्कन्ध पन्द्रह अध्यायोंका है। इसमें पाँच-पाँच अध्यायोंके तीन प्रकरण हैं, जिनमें कर्म-वासनाओंका वर्णन हैं। 'ऊतिवत् कर्मवासना'–जैसे जाल बुना जाता है, वैसे ही कर्म-वासनाएँ जीवके लिए वेशभूषा या पोषाक बुनती हैं। इन्हींसे सूक्ष्म और स्थूल शरीरकी आकृतियाँ बनती हैं। इसलिए इनको 'ऊति' कहते हैं।

कर्म, वासनाओंके तीन विभाग हैं—असुर-वासना, देव-वासना और मानव-वासना। इन तीनोंका वर्णन पाँच-पाँच अध्यायोंमें है। पहलेके पाँच अध्यायोंमें हिरण्यकशिपुकी प्रधानतासे असुर-वासनाका, उसके बादके पाँच अध्यायोंमें प्रह्लादकी प्रधानतासे देव-वासनाका और अन्तके पाँच अध्यायोंमें युधिष्ठरकी प्रधानतासे मानव-वासनाका वर्णन है। इन वासनाओंके वर्णनके लिए पाँच-पाँच अध्याय इसलिए हैं कि कर्म अपने लिए पाँच वस्तुएँ चाहता है, जैसा कि गीतामें (अ० १८) बताया गया है—

> अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
> विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४
> शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५
> तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
> पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६

मानव-वासनाके अनुसार कर्म-अकर्मका अथवा धर्म-अधर्मका विचार मनुष्यके लिए ही हैं—'मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।' क्योंकि अन्य सब योनियाँ तो भोग-योनियाँ हैं, परन्तु मनुष्य-योनि कर्मयोनि है। मनुष्य अपने संस्कारके द्वारा विकारको बदल सकता है और शास्त्रीय संस्कारके अनुसार कर्म करके अपनेको मुक्तिपर्यन्त ले जा सकता है। ऐसा पूर्ण जीवन मनुष्यके सिवाय दूसरी किसी योनिमें नहीं होता।

: १ :

राजा परीक्षितने प्रश्न किया कि ब्रह्मन्, भगवान् तो सबके प्रति समान हैं, सबके प्यारे हैं और सबके सुहृद् हैं। फिर वे इन्द्रके लिए दैत्योंको क्यों मारते हैं ? ऐसा तो पक्षपाती ही करता है। भगवान्को देवताओंसे क्या लेना-देना है और असुरोंसे क्या दुश्मनी है ? असुरोंके चरित्रसे भी निर्गुण भगवान्को क्या उद्वेग है ? मेरे मनमें नारायणके गुणोंके प्रति संशय हो गया है, इसलिए आप उसको काट देनेकी कृपा करें।

श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा कि तुमने बहुत बढ़िया बात पूछी है परीक्षित ! असलमें यह भगवान्की महिमा नहीं कि वे अपने भक्तोंसे पक्षपात करते हैं। महिमा तो भक्तोंकी है, जो उनसे पक्षपात करवा लेते हैं। माना कि भगवान्को किसीसे उद्वेग नहीं, किसीसे विद्वेष नहीं, किसीसे कुछ लेना-देना नहीं; फिर भी भक्त भक्तिकी ऐसी महिमा है कि भगवान्को उनका पक्ष लेना ही पड़ता है। भगवान्के प्रति भक्ति बढ़ानेका साधन भक्तोंकी महिमाका श्रवण ही है— यद् भागवत-माहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम्।'

इसलिए अब मैं अपने पिता श्री व्यासजी महाराजको नमस्कार करके यह कथा सुनाता हूँ। ध्यानसे सुनो। भगवान् वास्तवमें प्रकृतिसे परे हैं, परन्तु कभी-कभी अपनी मायाके गुणोंमें प्रवेश कर लेते हैं। वहाँ तीनों गुण परस्पर एक दूसरेको बाधा पहुँचाते हैं। सत्त्व रजको, रज तमको, तम रजको तथा रज सत्त्वको बाधा पहुँचाता है, जब कि भगवान् रहते हैं उन्हीं गुणोंमें। इसीलिए वे बाध्य-बाधक हो जाते हैं।

तीनों गुण प्रकृतिके गुण हैं, आत्माके गुण नहीं हैं। इनमें एक साथ ह्रास-उल्लास नहीं होते। समयानुसार कभी सत्त्वकी, कभी रजकी तथा कभी तमकी वृद्धि होती है। भगवान् सर्वथा स्वयंप्रकाश, आत्मज्योति हैं। जब बड़े-बड़े विद्वान् अपने भीतर ढूँढ़ते हैं, तब इन्हें पाते हैं। भगवान्का मन जब सृष्टि करनेका होता है तब रजका संवर्द्धन करते हैं, जब विचित्र योनियोंमें रमण करनेका होता है तब सत्त्वका संवर्द्धन करते हैं और जब संहार करनेका होता है तब तमसका संवर्द्धन करते हैं। इसीके अनुसार वे कालकी भी सृष्टि करते हैं।

इस सम्बन्धमें नारदजीने एक कथा सुनायी थी। बात तबकी है, जब तुम्हारे दादा राजा युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था। उन्होंने अपने यज्ञमें एक विचित्र बात देखी कि शिशुपालका तेज सबके देखते-देखते भगवान्के शरीरमें प्रविष्ट हो गया।

इसपर राजा युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा कि बड़े-बड़े भक्तोंके लिए भी भगवान्में प्रवेश पानेकी गति दुर्लभ है। फिर यह भगवद्-द्वेषी शिशुपालको कैसे प्राप्त हो गयी? राजा वेनने भगवान्की निन्दा की तो ब्राह्मणोंने उसको नरकमें डाल दिया। शिशुपाल और दन्तवक्त्र तो बाल्यावस्थासे ही भगवान् श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करते रहे। ये दोनों तो जैसे कोई किसीको पानी-पी-पीकर गाली दे—'शपतोरसकृद्विष्णुम्' (१८)—वैसे ही बारम्बार भगवान्को गाली देते रहे, उनकी निन्दा करते रहे। इनकी जीभमें कोढ़ तो हुआ नहीं, ये नरकमें तो गये नहीं, उल्टे सबके सामने भगवान्में समा गये। इसलिए मेरी बुद्धिमें यह बड़ा प्रश्न घर किये बैठा है कि द्वेष करने-वालोंको भगवत्प्राप्ति जैसी अद्भुत बात कैसे हो गयी?

नारदजी यह प्रश्न सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि मुझसे पूछनेवाला हो तो ऐसा ही हो। यदि जिज्ञासु कोई गम्भीर बात, सूक्ष्म बात, रहस्यकी बात पूछता है तो उसे बतानेमें एक हार्दिक उल्लास होता है और यह कितनी अच्छी बात है कि मुझे एक बहुत बड़ी सभामें भगवान्की महिमा सुनानेका अवसर मिल गया।

नारदजीने कहा कि देखो युधिष्ठिर, निन्दा-स्तुति या सत्कार-धिक्कार केवल शरीरके लिए होता है। इसका प्रभाव उन लोगोंपर पड़ता है, जो देहसे अपनेको मिलाकर बैठे हुए हैं।

जब एक महात्माने सुना कि कोई स्त्री उनको गाली दे रही है तब वे बोले कि अरे भाई, उसने तो मुझको कभी देखा ही नहीं, गाली कहाँसे देगी? इतनेमें उस स्त्रीने आकर उनका सिर झकझोर दिया और कहा कि हाँ-हाँ मैं तुमको गाली दे रही हूँ। महात्माने कहा कि देख लिया, इसकी पहुँच केवल अन्नमयकोशतक है। लेकिन मैं तो साक्षी ब्रह्म हूँ। मुझको इसने कहाँ देखा है और जब कभी देखा ही नहीं तब गाली कहाँसे देगी?

तो, जब देहमें अभिमान होता है, तभी गाली लगती है। परमात्मा तो देहसे बिल्कुल परे हैं, उनकी हिंसा कौन कर सकता है? इसलिए अपना मन भगवान्में चाहे वैरसे लगाओ, निर्वैरसे लगाओ, भयसे लगाओ, स्नेहसे लगाओ, कामसे लगाओ, भगवान्की दृष्टिमें इन भावोंमें कोई भेद नहीं है—'कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्' (२५)। जैसे कोई नन्हा बच्चा गुस्सेमें आकर अपने बापकी ओर दौड़ता है और पिता झट अपनी गोदमें उसे उठा लेता है, यह नहीं सोचता कि बच्चा गुस्सेमें आया है तो इसको गोदमें न लें। बच्चा नाकमें उँगली डालता है, मूँछ पकड़कर खींच लेता है, तब भी माँ-बाप उसे प्यार ही करते हैं। इसी तरह मनुष्य भगवान्के पास कैसे भी पहुँचे, किसी भी भावसे जाये, परमात्मा उसको अपनेसे अलग नहीं देखता।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, वैरसे जितनी एकता होती है, उतनी एकता भक्तियोगसे नहीं। लेकिन मच्छर हाथीसे क्या वैर करेगा ? हाथीसे वैर करनेवाले भी हाथी होते हैं अथवा शेर होते हैं।

जब पेशस्कृन् अर्थात् भृङ्गी किसी कीटको भीतमें रुद्ध कर देता है तब वह कीट उसका ध्यान करते-करते वही भृङ्गी हो जाता है। इसी प्रकार जिनकी दुश्मनी भगवान्से हो जाती है, वे भगवान्का चिन्तन करते-करते भगवद्रूप हो जाते हैं। कामसे, द्वेषसे, भयसे, स्नेहसे, भक्तिसे, कैसे भी हो भगवान्में मन लग जाये तो भगवत्प्राप्ति हो जाती है। भगवान्में गोपियोंने कामसे मन लगाया, कंसने भयसे मन लगाया, शिशुपाल आदि ने द्वेषसे मन लगाया, यदुवंशियोंने सम्बन्धसे मन लगाया, तुम लोगोंने स्नेहसे मन लगाया और हम लोगोंने भक्तिसे मन लगाया है। हम लोगोंमें वेन कोई नहीं है। वह तो ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानता था। लेकिन जो गुस्सा करते हैं, गाली देते हैं, निन्दा करते हैं, वे ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं। आस्तिक होते हैं। इसलिए किसी भी उपायसे अपने मनको भगवान्में लगाना चाहिए। फिर ये जो शिशुपाल और दन्तवक्त्र हैं, तुम्हारे भाई हैं, ये दोनों पहले भगवान् विष्णुके पार्षद थे और शापके कारण अपने पदसे च्युत हो गये थे।

युधिष्ठिरने पूछा कि महाराज, वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुके जय-विजय नामक द्वारपालोंको प्रभावित करनेवाला शाप किसने दिया ? यह तो विश्वास करने योग्य बात नहीं लगती। वैकुण्ठमें, जहाँ कोई स्थूल सृष्टि नहीं होती, वहाँ देहसे सम्बन्ध रखनेवाली बात कहाँसे आगयी ?

नारदजीने कहा कि युधिष्ठर, एक दिनकी बात है—ब्रह्मा-पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार वैकुण्ठमें गये। वे देखनेमें पाँच-पाँच, छह-छह वर्षके बालक-सरीखे लगते हैं, परन्तु हैं बहुत बूढ़े ! कपड़ा पहनते नहीं। उनको साधारण बालक समझकर द्वारपालोंने उन्हें भीतर जानेसे रोक दिया ! इसपर सनकादि क्रुद्ध हो गये और उन्होंने शाप दे दिया कि तुम दोनों पापयोनि—असुरयोनिमें चले जाओ ! इसके बाद जब वे दोनों नीचे गिरने लगे तब उन कृपालु महात्माओंने उनपर अनुग्रह करते हुए कहा कि अच्छा तीन जन्मोंमें शाप भोगकर लौट आना ! वही दोनों दितिके पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए। भगवान्ने हिरण्याक्षका उद्धार वाराह-रूप धारण करके और हिरण्यकशिपुका उद्धार नृसिंहरूप धारण करके किया।

हिरण्यकशिपु अपने भगवद्भक्त पुत्र प्रह्लादसे बहुत द्वेष करता था। उसने प्रह्लादको मारनेके लिए नाना प्रकारकी यातनाएँ दीं। परन्तु भगवान्ने प्रह्लादकी रक्षा की, क्योंकि प्रह्लाद सबको अपनी आत्माके रूपमें देखते थे—'सर्वभूतात्मभूतं तम्' (४२)। इस सृष्टिमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब प्रह्लादके लिए अपनी आत्मा थे। विष्णुपुराणमें स्वयं प्रह्लादका वचन है—

सर्वगत्वादनन्तस्य स ऐवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वम् अहं सर्वं मयि सर्वं चराचरे ॥ १.१९.८५

जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। परमात्मा अनन्त तो मैं भी अनन्त ! मुझमें सबका सब भरपूर है। ऐसे सर्वभूतात्मभूत प्रह्लाद थे।

विष्णु पुराणमें कथा आती है कि हिरण्यकशिपुके पुरोहितोंने प्रह्लादको मारनेके लिए कृत्या राक्षसी उत्पन्न की। जब वह प्रह्लादपर टूटी तो भगवान्‌के चक्रने उसको खदेड़ा और उसने लौटकर षण्डामर्क नामक दोनों पुरोहितोंको ही मार दिया। जब पुरोहित मर गये तब नन्हें-से बच्चे प्रह्लादने, हाथ जोड़कर भगवान्‌से प्रार्थना की कि हे प्रभो ! जिन्होंने मुझको समुद्रमें डुबवाया, पहाड़ोंसे गिरवाया, साँपोंसे डँसवाया, हाथियोंसे कुचलवाया, आगमें जलवाया, उनके प्रति भी यदि मेरे मनमें कभी द्वेषकी भावना न आयी हो तो ये हमारे पुरोहित जीवित हो जायँ। इसके बाद दोनों पुरोहित जीवित हो गये। इस प्रकार प्रह्लादका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, क्योंकि सर्वत्र भगवान्‌का तेज उनकी रक्षा करता था।

वही हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु आगे चलकर रावण-कुम्भकर्ण हुए और भगवान्‌ने राम-रूप धारण करके उनका संहार किया। वही दोनों शिशुपाल और दन्तवक्त्रके रूपमें प्रकट हुए थे और अब वे भगवान् श्रीकृष्णके चक्रसे शाप-निर्मुक्त हो गये हैं। वे हमेशा भगवान्‌की याद, भगवान्‌का ध्यान करते हुए रहे हैं। इस कारण इनको भगवान्‌की प्राप्ति हुई है।

अब युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञकी सभामें ही यह अवान्तर प्रश्न कर दिया कि प्रह्लाद एक तो हिरण्यकशिपुके बड़े प्यारे पुत्र थे, दूसरे महात्मा थे। फिर हिरण्यकशिपुने पिता होकर भी अपने महात्मा और प्यारे पुत्रके प्रति द्वेष क्यों किया ? यह भी बताइये कि प्रह्लादका भक्ति-भाव कैसा था ?

नारदजीने कहा कि देखो युधिष्ठिर, प्रह्लाद इतने भगवन्मय थे कि वे जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ लोग भगवान्‌का नाम लेने लगते थे। प्रह्लाद शब्दका अर्थ ही है—'प्रह्लादयति लोकान् इति प्रह्लादः' 'ह्लादः—अव्यक्ते शब्दे' अर्थात् जो लोगोंको भगवन्नामका उच्चारण करनेके लिए विवश कर दे, उनका नाम प्रह्लाद ! इसलिए लोग उनकी उपस्थितिसे ही भगवान्‌का नाम 'नारायण-नारायण' कहने लगते थे।

प्रह्लाद शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि 'प्रकृष्टो ह्लादो यस्य'—जिसका आनन्द सर्वोपरि हो, हर हालतमें जिसका आनन्द बना रहे; उसका नाम प्रह्लाद। इतना आनन्द प्रह्लादको इसलिए मिला कि वे अपनेको जीवभावमें, जगत्‌भावमें कहीं रखते ही नहीं थे और 'अच्युतात्मता' (४७)—परमात्माको कभी छोड़ते नहीं थे। इसको ऐसे भी समझो कि—'न च्युतः आत्मा परमात्मा' अर्थात् परमात्मा प्रह्लादकी बुद्धिसे, उनके हृदयसे कभी च्युत नहीं होते थे। मतलब यह कि प्रह्लाद कभी भगवान्‌को भूलते नहीं थे।

: २ :

नारदजी महाराज युधिष्ठिरके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जब वराहरूप धारण करके भगवान्‌ने हिण्याक्षको मार दिया तब हिरण्यकशिपुको बहुत शोक हुआ। उसकी आँखें जलने लगीं और भौंहें टेढ़ी हो गयीं। उसने सब दानव-दैत्योंको बुलाकर कहा कि हमारे शत्रुओंने विष्णुको अपने पक्षमें करके हमारे भाईको मरवा डाला है। विष्णुकी बुद्धि भी कुछ ठिकानेकी नहीं है। वे कभी-कभी अपने स्वभावको छोड़कर बनवासीका रूप धारण कर लेते हैं और जो उनकी तारीफ कर दे, स्तुति कर दे, बिल्कुल उसीके हो जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे बच्चेको कोई मिठाई खिला दे और वह उसके पक्षमें हो जाय—

बालस्येवास्थिरात्मनः। ७

देखो, व्याख्याताओंने हिरण्यकशिपुके इन सब वचनोंका अर्थ स्तुतिपरक ही किया है। क्योंकि हमारी जो गैर्वाणी वाणी है, यह कभी भगवान्‌की निन्दा नहीं करती, हमेशा प्रशंसा ही करती है।

हिरण्यकशिपु कहता है कि जब विष्णु नष्ट हो जायेंगे तो सब-के-सब देवता अपने आप नष्ट हो जायेंगे। इसलिए तुम-लोग जहाँ जहाँ तपस्या, स्वाध्याय, यज्ञ, व्रत, दान, धर्म आदि होते हों, उन सबका नाश कर दो। जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गाय, वेद, वर्णाश्रम, सत्कम आदि हों वहाँ-वहाँ जाकर आग लगा दो। लोगोंको काट-पीट डालो, क्योंकि विष्णु इन्हीं सब स्थानोंपर रहते हैं।

असुरोंको तो और चाहिए ही क्या ? वे सब दौड़ पड़े गाँव-गाँव, ठाँव-ठाँव जाकर आग लगाने लगे। जहाँ पुल बना होता, बाँध-बाँध होता, पेड़ लगे होते तो उसे तोड़-फोड़ देते—'सेतुप्राकारगोपुरान्' (१५)। चारो ओर विनाशका दृश्य-उपस्थित हो गया। देवता लोग छिपकर विचरण करने लगे।

इधर हिरण्यकशिपुने हिरण्याक्षकी अन्त्येष्टि क्रिया की। असुर लोगोंमें भी श्राद्धादिकी विधि ठीक-ठीक तरहसे सम्पन्न होती थी। वे शास्त्रको भी मानते थे। भगवद्भक्त होना दूसरी चीज है। वह धर्मात्मासे बिल्कुल विलक्षण है।

अन्त्येष्टि क्रियाके बाद हिरण्यकशिपुने अपनी माता, अपने भाईकी पत्नी आदि सबको बुलाया और वह उनको समझाने लगा—हमारा भाई हिरण्याक्ष बड़ा वीर था, शूर था। उसके लिए शोक करनेकी जरूरत नहीं। वह तो जीया भी अच्छी तरह और मरा भी बहादुरकी तरह—युद्ध-भूमिमें ! लोग जैसे प्याऊ पर मिलते हैं, वैसे ही इस संसारमें मिलना होता है। यह आत्मा अविनाशी, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्ववित्, पर है और मायासे ही—अविद्यासे ही गुणोंको धारण करता है। जैसे पानी हिलता है और लोग समझते हैं कि वृक्ष हिल रहा है, आँख घूमती है और लोग समझते हैं कि धरती घूम रही है; इसी प्रकार लोग अन्तःकरणरूप उपाधिके भ्रमणसे ही अपनेको, आत्माको घूमता हुआ मानते हैं। उसीसे संयोग, वियोग और संसारकी प्राप्ति होती है।

यहाँ देखो, हिरण्यकशिपु और कंसादि भी कभी-कभी औपनिषद उपदेशका, नित्य-शुद्ध आत्माके स्वरूपका, वर्णन करते हैं। ये भी आत्मवादी हैं, कोई अनात्मवादी नहीं। परन्तु इनका स्वभाव ऐसा है कि जब दूसरोंपर दुःख पड़े, तब कहेंगे कि दुःखकी सत्ता ही नहीं और अपनेपर दुःख पड़े तो कहेंगे कि 'हाय-हाय मैं बड़ा दुःखी हूँ।' यही आसुरी रीति है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि दूसरेपर दुःख पड़े तब तो जाकर उसमें हिस्सा ले, उसको समझाये-बुझाये और अपनेपर दुःख पड़े तो कह दे कि इसकी तो तीन कालमें सत्ता ही नहीं, यही वेदान्त होता है।

अब हिरण्यकशिपुने एक कथा सुनायी। कहा कि उशीनर देशमें सुयज्ञ नामके राजा थे, जो युद्धभूमिमें मर गये। उनके घरके लोग रोते-धोते श्मशानमें ही बैठ गये। न तो राजाके शरीरको छोड़कर जायँ और न जलायें। शाम हो गयी।

इतनेमें यमराज बालकका रूप बनाकर उनके पास आये और बोले—तुम्हारी दाढ़ी तो सफेद हो गयी है, तुम लोग बड़ी-बड़ी उम्रवाले हो, लेकिन इतना मोह तुम्हारे मनमें है। अरे जहाँसे आदमी आया, वहाँ चला गया, इसके लिए इतना शोक करनेकी क्या जरूरत है ? देखो, मेरे न माँ है और न बाप हैं, फिर भी मुझे कोई पशु भी नहीं सताता, क्योंकि जो गर्भमें रक्षा करता है, वही हर जगह रक्षा करता है—'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे' (३८)। गर्भमें आनेवाले शिशुके लिए पहलेसे ही जगह बनायी गयी होती है। सोचो तो सही, माताके शरीरसे बच्चेके

शरीरमें नाली कौन जोड़ देता है, जिससे कि उसका खाना-पीना मिले। उसके लिए माताके स्तनमें दूध कौन भेजता है ? यदि तुम गम्भीरतासे देखोगे तो तुम्हें मालूम पड़ेगा कि तुम्हारी सुरक्षा आदिकी व्यवस्था प्रभुने पहलेसे ही कर रखी है।

उसी प्रभुकी इच्छासे सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है। वही दण्ड दे सकता है, वही अनुग्रह कर सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मार्गमें कोई वस्तु गिर जाती है और भगवान् अदृष्ट होकर उसकी रक्षा कर देता है, लेकिन घरमें, तिजोरीमें रखी हुई वस्तु नष्ट हो जाती है। लोग अनाथ बच्चेको वनमें छोड़ देते हैं और वह जिन्दा रह जाता है, लेकिन घरमें बड़ी-बड़ी तरकीबें-दवा-दारू करनेपर भी जीवित नहीं रहता। यह सब-का-सब परमात्माका खेल है। परमात्मासे अनुगृहीत कालके कारण ही कभी कोई पैदा होता है कभी कोई नष्ट होता है।

न तत्र ह्यात्मा प्रकृतावपि स्थितस्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते। ४१

परन्तु प्रकृतिमें, शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा, प्रकृति और शरीरके गुणोंसे बद्ध नहीं होता, क्योंकि वह अत्यन्त विलक्षण है, अत्यन्त अन्यतम है।

देखो लौकिक संस्कृतमें जैसा अन्यतम शब्दका प्रयोग करते हैं, वैसा यहाँ नहीं है, यहाँ तो अतिशय पृथग्भूतका वाचक है।

जैसे पानीमें बुलबुले पैदा होते हैं, वैसे ही यह शरीर पैदा हुआ है। इसमें मोह हो गया है। लेकिन आत्मा बिल्कुल अनासक्त है। जिसके लिए तुम शोक कर रहे हो, वह क्या नींदमें है ? उसमें तो अब न श्रोता रहा और न वक्ता रहा, फिर उसके लिए तुम क्यों रो रहे हो ? आत्मा देहादिसे भिन्न है, प्राणसे भी पृथक् है, वह शरीर छोड़कर चला गया। स्थूल शरीरमें एक शक्ति होती है, जो सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध रखती है। सूक्ष्म शरीर मोहके द्वारा आत्म-चैतन्यके साथ सम्बन्ध रखता है। जैसे जब बल्बका फ्यूज उड़ जाता है तब तारमें बिजली रहनेपर भी प्रकाश नहीं होता; वैसे ही जब स्थूल शरीरमें सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है तब उसमें प्रकाश नहीं होता। बिजलीका तार स्थूल शरीर जैसा है, पावर हाऊस कारण शरीर जैसा है व्यापक विद्युत् विभु-परमात्मा जैसा है। इसलिए तुम लोग शोक बिल्कुल मत करो। यह संसार स्वप्न मनोरथके समान है, इसको सच्चा समझना बिल्कुल मिथ्या है। ज्ञानी लोग इसके लिए कभी शोक नहीं करते। महात्मा लोगोंका यह कहना है कि शरीर नित्य हो तब भी शोक मत करो और अनित्य हो तब भी शोक मत करो। क्योंकि किसी भी वस्तुका स्वभाव बदला नहीं जा सकता। तब शोक करनेका क्या कारण है ?

यमराजने कहा—मैं इसके सम्बन्धमें एक छोटा-सा उपाख्यान सुनाता हूँ। एक बहेलिया था। वह चिड़ियोंके लिए अन्तक-यमराज जैसा था। उसने जाल फैलाया और पक्षियोंको प्रलोभित करने लगा। वहाँ एक कुलिङ्ग पक्षीका जोड़ा था, जिसको बहेलियेने चारा चुगते देख लिया और

उसमें-से मादा पक्षीको जालमें फँसा लिया। यह देखकर नर पक्षी बड़ा रोने लगा कि हाय-हाय देवताने हमारे साथ बड़ी निष्ठुरता की। अब मैं अपनी पत्नीके बिना कैसे जीवन बिताऊँगा? हमारे बच्चे अभी बहुत-छोटे-छोटे हैं। वह विलाप कर ही रहा था कि बहेलियेने तीरका निशाना साधकर उस नर पक्षीको भी ढेर कर दिया और कृतार्थ होकर घर चला गया।

इसी प्रकार इस संसारमें लोग दूसरोंके बारेमें शोक करते हैं कि हाय-हाय हमारा वह मर गया, वह बिछुड़ गया। लेकिन उन दुःखी होनेवालोंपर भी काल ऐसा निशाना मारता है कि वे भी मर जाते हैं।

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि॥ ५७

अगर तुम लोग सौ वर्षतक भी रोते रहे तो क्या वह मरा हुआ आदमी लौट आयेगा? उसके लिए तो एक क्षण भी रोनेकी जरूरत नहीं।

हिरण्यकशिपुने कहा—बालकरूप यमराज इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। उनकी बातोंसे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन लोगोंने समझ लिया कि यह संसार अनित्य है, अयथोत्थिक है। 'अयथोत्थित' (५८) माने जैसा दीखता है, वैसा बिल्कुल नहीं। इसके बाद उन लोगोंने राजाकी अन्त्येष्टि-क्रिया की। अतः किसीके लिए तुम लोग शोक मत करो। अपना और पराया केवल अज्ञानके कारण ही प्रतीत होता है।

नारदजीने कहा युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपुकी बात सुनकर उसकी माता और भाईकी पत्नी आदि सबके दुःख दूर हो गये। दुःख तो एक दिन दूर होते ही हैं। कौन किसके लिए हमेशा दुःखी रहता है? अतः जब कभी किसी बातके लिए शोक हो कि हाय-हाय हम इसके बिना कैसे रहेंगे तो यह सोचो कि आजसे छह महीने बाद, छह वर्ष बाद हमारा मन कैसा रहेगा? फिर तो तुम देखोगे कि मरे हुए लोगोंको कोई याद ही नहीं करता। यदा-कदा याद आजाये तो आजाये, नहीं तो आता नहीं। मनुष्य सब-कुछ छोड़ता हुआ चल रहा है, रास्तेमें चलते हुए देशको छोड़ता जाता है, कालके प्रवाहमें कालको छोड़ता जाता है और वस्तु-स्वभावके प्रवाहमें वस्तुको भी छोड़ता जाता हैं। इसलिए छूटी हुई वस्तुकी ओर दिमाग ले जानेकी कोई जरूरत नहीं। परमात्मा बिल्कुल नये-नये रूपमें तुम्हारे सामने आ रहे हैं। वे जब जिस रूपमें आयें, उस रूपमें उनका स्वागत-सत्कार करते चलो।

: ३ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपुने दूसरोंको तो वेदान्तका उपदेश किया; किन्तु स्वयं उसके मनमें अपने शरीरको अजर-अमर बनानेका विचार हुआ, जिससे कि कोई उसके मुकाबलेमें खड़ा न हो सके—उसकी बराबरी न कर सके। इसके लिए उसने मन्दराचलकी घाटीमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की। उसने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा लिये, आकाशमें दृष्टि स्थापित कर ली और पाँवके अँगूठेके बल पृथिवीपर खड़ा हो गया। वह अपनी तमोगुणी तपस्याके प्रभावसे ऐसे लगने लगा, जैसे प्रलयका सूर्य आगया हो। उसके सिरसे ऐसी आग निकली, ऐसा धुँआ निकला, जिससे सारी सृष्टि व्याकुल हो गयी। देवता लोग तप्त होकर ब्रह्माजीके पास गये और बोले—महाराज, हिरण्यकशिपुके तपकी ज्वालासे हम लोग जल रहे हैं, सारी दुनिया बरबाद हो रही है। इसलिए अपनी प्रजाका नाश होनेके पहले ही उसकी ज्वाला शान्त कर दीजिये।

इसके बाद देवताओंने अपने संकल्पका निवेदन करते हुए बड़ी बुद्धिमत्तासे कहा—आप जानते ही हैं कि उसने क्या संकल्प कर रखा है।

> **सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना।**
> **अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम्॥ ९**
> **तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना।**
> **कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः॥ १०**

हिरण्यकशिपुका संकल्प है कि ब्रह्माजी बड़ी भारी तपस्या करके सबसे ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए हैं। मैं उनसे भी बड़ी तपस्या करूँगा। आत्मा नित्य है और काल नित्य है। इसलिए समय चाहे जितना लगे, मैं ऐसी तपस्या करूँगा कि जिससे ब्रह्मा हो जाऊँ। फिर ब्रह्मा बनते ही मैं सृष्टिको बदल दूँगा। उसने सोचा है कि वैष्णव आदि पद तो कालनिर्धूत हैं, कल्पान्तमें कालके गालमें चले जाते हैं। उनको लेकर मैं क्या करूँगा? वह अपने आसुर भावके कारण वैष्णव पदको नित्य नहीं मानता। अतः आपका पद छीननेके लिए तपस्या कर रहा है। किन्तु आपका पद तो ब्राह्मण, गाय सबके कल्याणके लिए है।

जब देवताओंने यह प्रार्थना की तो ब्रह्माजीने कहा—अच्छा, चलो चलकर देखते हैं। उन्होंने भृगु, दक्ष आदि महात्माओंको साथ लिया और हिरण्यकशिपुके आश्रमपर गये। ब्रह्माजी जब कभी वरदान आदि देनेके लिए जाते थे तो महात्माओंको भी साथ ले लेते थे, जिससे कि लोग देखें कि वे कैसे समभावमें रहते हैं और जो बात कहते, वह पूरी होती है।

जब ब्रह्माजी हिरण्यकशिपुके पास पहुँचे तब उसकी ऐसी दशा थी कि उसका शरीर दीमककी मिट्टीसे ढक गया था, उसके चारो ओर बाम्बी बन गयी थी। उसके शरीरमें मेद-माँस कुछ भी नहीं बचा था, केवल प्राण हड्डीमें रह रहे थे। उसको इस अवस्थामें देखकर ब्रह्माजीने कहा कि ओ कश्यपनन्दन, ओ काश्यप, उठो-उठो। मैं तुम्हें वर देनेके लिए आया हूँ। तुमने बड़ी भारी तपस्या की है। ऐसा व्रत कोई नहीं कर सकता। तुमने मुझे जीत लिया है। इसलिए जो वर माँगो, वह मैं तुमको देनेके लिए तैयार हूँ।

इसके बाद ब्रह्माजीने हिरण्यकशिपुके अस्थि-चर्मावशिष्ट शरीरपर अपने कमण्डलुका जल छिड़क दिया। उसके प्रभावसे वह तुरन्त इन्द्रिय-बुद्धि-शक्तिसे सम्पन्न होकर निकल पड़ा। उसने ब्रह्माजीको प्रणाम किया और उनकी स्तुति प्रारम्भ की।

महाराज, आपकी तपस्यासे ही यह सारा जगत् प्रकट होता है। आप आदिबीज ज्ञान-विज्ञान मूर्ति हैं। आपकी इच्छासे ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय होते हैं, आप इनके नियन्ता हैं। आप ही वेदोंके द्वारा यज्ञका विस्तार करते हैं। आप ही लोगोंकी आयु बढ़ाते-घटाते हैं। आपके सिवाय और कोई वस्तु नहीं।

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति। ३२

देखो, हम विराट्से भी, हिरण्यगर्भसे भी, ईश्वरसे भी और परब्रह्म परमात्मासे भी कह सकते हैं कि आपके सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु उसमें जो तारतम्य होता है, उसको सूक्ष्मदर्शी लोग ही समझ सकते हैं।

हिरण्यकशिपुने कहा कि प्रभो, आपके द्वारा यह सम्पूर्ण सृष्टि व्याप्त है। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि आपके बनाये हुए किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो—चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, देवता हो, दानव हो या नागादि हों। फिर उसने स्थान, काल और समस्त अस्त्र-शस्त्रोंका निषेध करते हुए कहा कि मेरी मृत्यु न तो बाहर हो, न भीतर हो, न पृथिवीमें हो, न आकाशमें हो, न ऊपर हो, न नीचे हो, न दिनमें हो, न रातमें हो और न किसी अस्त्र-शस्त्रसे हो। बस, मुझसे कोई युद्ध न कर सके। सारे प्राणियोंका मैं ही एकमात्र स्वामी होऊँ। मुझे सब लोकपालोंकी महिमा मिल जाये और वह कभी घटे ही नहीं।

: ४ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, इस प्रकार जब हिरण्यकशिपुने वर माँगा तब उसपर प्रसन्न ब्रह्माजी बोले—'तुमने माँगा तो दुर्लभ वर है, लेकिन मैं तुमको दे ही देता हूँ।'

इसके बाद ब्रह्माजी वहाँसे चले गये। हिरण्यकशिपुका शरीर सोनेका-सा हो गया और वह भगवान्‌से द्वेष करने लगा—यह कारण बताकर कि उन्होंने हमारे भाईको मारा है। उसने सारी दिशाओंमें घूम-घूमकर जितने भी देवता, असुर और ऋषि-महर्षि थे, उन सबको अपने वशमें कर लिया। सिद्ध, चारण, ऋषि, पितर, यक्ष, पिशाच, भूतपति और प्रेतपति आदि सब-के-सब उसके अधीन हो गये।

हरिण्यकशिपुने स्वर्गपर भी अपना कब्जा कर लिया और वहीं इन्द्रके सिंहासनपर रहने लगा। वह बड़ा शराबी था, खूब मदिरा पीता। यही असुरका लक्षण है—'असुषु रमन्ते इति।' इन्द्रियाराम लोगोंको उसमें बड़ा स्वाद आता है। 'तमङ्ग मत्तं मधुनोगरुन्धिना' (१३)। वह मधु पीकर मत्त रहता, उसकी आँखें लाल-लाल रहतीं। उपासतोपायनपाणिभिर्विनात्रिभिः' (१३)—ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनको छोड़कर बाकी सब देवता उसकी उपासना करते और गन्धर्व लोग उसका गान करते थे।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठर, मैं भी वीणा लेकर पहुँच जाता और उसकी सभामें गाता-बजाता। वर्णाश्रमी लोग उसीके लिए यज्ञ करते। सारी पृथिवी बिना जोते-बोये, अन्न देती।

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही। १६

देखो, कोई ऐसी युक्ति, ऐसी रासायनिक प्रक्रिया अवश्य है कि उससे समयपर धरतीमें बीज निकल आते हैं, उससे अन्न पैदा होने लगता है और लोग उससे अपना भरण-भोषण करते हैं। यही स्थिति हिरण्यकशिपुके राज्यमें थी। जहाँ जिस चीजकी जरूरत होती, वह चीज वहाँ मिल जाती। 'द्यौस्तु नाना आश्चर्यपदं नभः' (१६)। यदि कोई आसमानकी ओर देखकर कहता कि मुझको खानेके लिए आमका फल चाहिए, सेव चाहिए, तो वे टपसे टपक पड़ते। किसीका मन होता कि मैं कोई तमाशा देखूँ, नाच देखूँ, चित्र देखूँ तो वह आकाशकी ओर आँख करता और उसको मनचाही चीज दिखायी पड़ने लगती। क्योंकि सब जगह सब चीजें रहती हैं, सबमें सब है ही। केवल उनको देखनेका सामर्थ्य नहीं होता। 'नाना आश्चर्यपदं नभः'—अगर किसीको कोई अचरजकी बात देखनी होती तो वह आकाशकी ओर देखनेपर दीखने लग जाती।

हिरण्यकशिपुके राज्यमें रत्नाकरोंने अपने रत्न प्रकट कर दिये—'क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः' (१७)। पर्वतोंने अपने अन्दर सब ऋतुओंके गुणोंको धारण कर लिया और क्रीड़ाके स्थान प्रकट कर दिये। इस प्रकार एक ही हिरण्यकशिपु सब देवताओंके गुण धारण करके बड़ा भारी भोग करता था।

असलमें तात्पर्य हिरण्यकशिपुके भोग-वर्णनमें नहीं, तात्पर्य तो यह है कि उसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं थीं—'नातृप्यदजितेन्द्रियः' (१९)। इतना भोग मिलनेपर भी उसको तृप्ति नहीं थी। जैसे पुंश्चली स्त्रीको नया-नया पुरुष चाहिए, वैसे ही हिरण्यकशिपुको नया-नया भोग चाहिए। वह ऐश्वर्य मदमें मत्त था, दृप्त था और उच्छास्त्रवर्ती हो गया था—शास्त्रके विरुद्ध आचरण करता था।

जब बहुत समय व्यतीत हो गया तब सारी प्रजा उसके कारण दुःखी हो गयी। सब देवता ब्रह्माजीकी शरणमें गये और कहा कि हमें हिरण्यकशिपुके कारण बड़ा दुःख हो रहा है। आपने उसे ऐसा वर दे दिया है कि उससे हमारा दुःख हजारगुणा अधिक बढ़ गया है। अन्तमें सब देवताओंने सोचा कि दूसरेका मिटाया हुआ दुःख मिटता नहीं। वास्तवमें जब ईश्वर दुःख मिटाते हैं, तभी दुःख मिटता है। इसलिए सब-के-सब देवता उस दिशामें गये, जिधर परमेश्वर रहते हैं और जहाँ जाकर शान्त महापुरुष लौटते नहीं। वहाँ देवताओंने भगवान्‌को नमस्कार किया। उसके बाद देवताओंके सामने आकाशवाणी हुई कि तुम लोग डरो मत, तुम लोगोंका कल्याण हो। मैं इस दुष्टकी दुष्टता जानता हूँ, समयपर उसकी शान्ति कर दूँगा, तबतक तुम लोग कालकी प्रतीक्षा करो—'कालं तावत्प्रतीक्षत' (२६)। जब यह मरनेवाला होगा, तब तुम लोगोंको अपने-आप मालूम पड़ जायेगा। कोई भी प्राणी जब देवता, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु, धर्म और ईश्वर इन सातोंके प्रति द्वेष करने लगता है तब समझना चाहिए कि अब इसके विनाशका समय बिल्कुल निकट आगया है—

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥ २७

देवगण, जब हिरण्यकशिपु अपने निर्वैर, प्रशान्त और महात्मा पुत्रसे द्वेष करेगा तब भले ही ब्रह्माजीने इसको वरदान दे रखा है, लेकिन मैं इसको अवश्य मार डालूँगा।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, जब भगवान्‌ने देवताओंको यह आश्वासन दिया तब उनकी घबराहट मिट गयी और वे उद्वेगरहित होकर लौट आये।

हिरण्यकशिपुके चार बड़े अद्भुत पुत्र थे। उनमें सबसे महान् प्रह्लाद थे, जो हमेशा हर हालतमें प्रसन्न रहते थे। 'प्रकृष्टो ह्लादो यस्य'—जिसका आह्लाद प्रकृष्ट हो, किसी निमित्तसे मिटे नहीं, हर हालतमें बना रहे; उसीको प्रह्लाद कहते हैं। 'गुणैर्महदुपासकः' (३०)। प्रह्लाद अपने

गुणोंसे तो स्वयं महान् था ही, महापुरुषोंकी उपासना भी करता था। उसके गुण कैसे थे, यह देखो —

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकः प्रिय सुहृत्तम ॥ ३१

प्रह्लादके रोएँ-रोएँमें ब्राह्मणोंकी भक्ति भरी हुई थी और वे इतने शीलसम्पन्न थे कि उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया, परन्तु शील नहीं छोड़ा।

देखो शीलकी ऐसी महिमा है कि महाभारतमें उसपर एक अध्याय ही है, जिसका नाम है 'शीलाध्याय'।

प्रह्लाद सत्यसन्ध थे, उनकी प्रतिज्ञा सच्ची थी। वे जितेन्द्रिय और सबके आत्मीय तथा प्यारे थे। उनको प्यार करनेवालोंको ऐसा लगता था, मानों वे अलग-अलग अपनेको ही प्यार कर रहे हों। बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य था। जैसे पिता अपने बच्चोंसे प्रेम करता है, वैसे ही वें दीनोंसे प्रेम करते। जो उनकी बराबरीके होते, उनसे भाई जैसा स्नेह करते थे। गुरुजनोंमें ईश्वरकी भावना करते थे। उनके पास विद्या थी, अर्थ था, रूप था, कुलीनता थी, परन्तु हेकड़ी नहीं थी। उद्दण्डता उनमें कभी नहीं आयी। वे मान-स्तम्भसे रहित थे। कितना भी दुःख सामने आजाये, पर उनका चित्त कभी उद्विग्न नहीं होता। संसारके जितने भी श्रुत और दृष्ट विषय हैं, उनसे वे निःस्पृह रहते थे। क्योंकि विषयोंको उन्होंने कभी सच्ची चीज समझा ही नहीं। उनके सारे इन्द्रिय, मन और प्राण अपने वशमें थे। वे असुर होनेपर भी आसुर भावसे रहित और शान्तकाम थे। उनमें इतने सद्‌गुण थे कि लोग उनका वर्णन करते-करते कभी थकते नहीं थे। यहाँतक कि उनके शत्रु देवता लोग भी कहते कि भक्त हो, सद्‌गुणी हो तो प्रह्लाद-जैसा। फिर औरोंकी तो बात ही क्या ?

युधिष्ठिर, मैं कहाँतक प्रह्लादकी महिमाका वर्णन करूँ ? उनके मनमें भगवान्‌के प्रति नैसर्गिक—स्वाभाविक प्रीति थी। जैसे जलमें स्वाभाविक द्रवता है, सूर्यमें स्वाभाविक प्रकाश है, अग्निमें स्वाभाविक दाहकता है; वैसे ही प्रह्लादकी भगवान्‌में स्वाभाविक भक्ति थी। दुनिया उनको ऐसे लगती, मानो यह भगवान्‌की क्रीडा है। उन्हें उठते-बैठते, घूमते-फिरते, खाते-पीते, बोलते-बतियाते ऐसा अनुभव होता था कि वे भगवान्‌की गोदमें हैं और भगवान्‌ने उनको अपनी दोनों भुजाओं द्वारा अपने हृदयसे लगा रखा है—'गोविन्द-परिरम्भितः' (३८)। इसके अतिरिक्त उनका और कोई अनुसन्धान नहीं होता था। वे भगवान्‌के लिए कभी रोते, कभी हँसते, कभी उनको चिन्तन करके आनन्द लेते, कभी जोर-जोरसे गान करते, कभी उत्कण्ठित होकर नाद करते. कभी नाचते और कभी मैं वही हूँ इस भावनामें मग्न होकर अनुकरण करने लगते। कभी रोमाञ्चित होते, कभी चुप बैठ जाते और कभी उनके हृदयमें बड़ा भारी आनन्द, परमात्माकी अनुभूति होने लगती।

युधिष्ठर, इस प्रकार प्रह्लादने भगवान्के चरणारविन्दमें भक्ति की। ऐसी भक्ति भक्तोंके सत्संगसे ही मिलती है—'अकिञ्चनसङ्गलब्धया' (४२)। परमानन्दमें मग्न महात्माओंके सम्पर्कमें जो भी आता है, उसको वे आनन्दमय बना देते हैं। संसारके लोग दुःसङ्गके कारण ही दुःखी हैं।

देखो, मैंने ऐसे लोगोंको देखा है, जिनके पास पहननेके लिए कपड़े नहीं, खाना भी नहीं, और कुछ होश-हवास भी ज्यादा नहीं, फिर भी वे दिनभर हँसते हैं। लेकिन जिनके पास बहुत-कुछ है, उनको मैंने रोते देखा है। इसका कारण यही है कि वे कुसङ्गमें पड़कर दीन-हीन हो गये हैं। ऐसे लोग यह नहीं देखते कि भगवान्ने उनको क्या-क्या दिया है, वे तो यह देखते रहते हैं कि उनके पास क्या नहीं है? हमें यह भी चाहिए, वह भी चाहिए—इससे क्या कभी इच्छा पूरी होनेवाली है।

मैंने किसी पुस्तकमें पढ़ा था कि एक दिन मैनाका बच्चा रोने लगा। मैनाने पूछा कि बेटा क्यों रोते हो? उसने कहा कि मुझे मोर-सरीखा शरीर चाहिए। मैना उसको साथ लेकर मोरके पास गयी और उसके पास ही बैठ गयी। इतने-में मोरका बच्चा रो पड़ा। मोरनीने पूछा कि बेटा, क्यों रो रहे हो? वह बोला कि मुझे इस मैना-जैसी आवाज चाहिए। इसीके लिए रो रहा हूँ।

तो, जैसे मैना मधुर आवाज मिलनेपर और मोर सुन्दर शरीर मिलनेपर भी प्रसन्न नहीं, वही हाल संसारके लोगोंका है। भगवान्ने मनुष्यको आँख दी, नाक दिया, हाथ दिया, पाँव दिया, दिल दिया, दिमाग दिया और इन सबको वह लाखों-करोड़ों रुपयोंपर भी बेचनेको तैयार नहीं है, फिर भी यदि कोई चीज उसे नहीं मिली तो उसके लिए वह रोता रहता है। यह उसकी कभी न पूरी होनेवाली वासनाका फल है। उसमें कुसङ्गके कारण और भी वृद्धि होती रहती है।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, प्रह्लादजी जहाँ रहते हैं, वहाँ वासना शान्त हो जाती है। लेकिन उनके-जैसे पुत्रके प्रति भी हिरण्यकशिपुने द्वेष किया।

इसपर युधिष्ठिरजीने पूछा कि महाराज, प्रायः लोग अपने बेटेसे इतना मोह करते हैं कि वह बुरा करे, तब भी उसीका पक्ष लेते हैं। अपना बेटा यदि दुश्मन हो जाता है तो भी लोग उससे प्रेम करते हैं। कभी उसको डाँटते भी हैं तो शिक्षण देनेके लिए ही डाँटते हैं, उससे द्वेष नहीं करते। लेकिन हिरण्यकशिपुके मनमें प्रह्लाद-जैसे सद्गुण-सम्पन्न पुत्रके प्रति इतना दुष्कर द्वेष कहाँसे आगया? इस सम्बन्धमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। कृपा करके हमें बताइये।

: ५ :

नारदजी महाराज कहते हैं कि युधिष्ठिर, प्रह्लादको पढ़ानेके लिए हिरण्यकशिपुके महलमें पुरोहित नहीं आते थे। क्योंकि घरपर पढ़ानेवाले अध्यापकों-से बालक कुछ विशेष नहीं सीख सकता, सदाचार-शिष्टाचार नहीं सीख सकता। इसलिए हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको पाठशालामें भेज दिया, जिससे कि वह सब बच्चोंके साथ मिलकर रहे, गुरुजीकी सेवा करे और पढ़े-लिखे। वह समझता था कि इससे बालकके जीवनका निर्माण होता है।

हिरण्यकशिपुके पुरोहित शुक्राचार्यके दो पुत्र थे—शण्ड और अमर्क। वे दोनों राजमहलके बाहर पाठशाला चलाते थे। इसी पाठशालामें प्रह्लाद भी पढ़ते थे। वे वहाँ जो पाठ पढ़ाया जाता उसे पढ़ तो लेते थे; लेकिन मनसे उनको वहाँकी पढ़ाई अच्छी नहीं लगती थी, क्योंकि उसमें अपने और परायेका बड़ा भारी भेदभाव रहता था—'स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् (३)। जहाँ यह सिखाया-पढ़ाया जाता हो कि अमुक अपना है, अमुक पराया है, अमुक अपनी पार्टीका है, अमुक दूसरी पार्टीका है, वहाँ कभी सच्ची शिक्षा नहीं प्राप्त हो सकती। भेदभावकी, पार्टीबन्दीकी शिक्षाका नाम सच्ची शिक्षा नहीं है।

एक दिन हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको बड़े प्रेमसे अपनी गोदमें बैठाकर पूछा कि बेटा, तुम जिस बातको ठीक मानते हो, वह मुझको बताओ। तुम्हारी निगाहमें अच्छी चीज क्या है? प्रह्लादने कहा कि पिताजी, मैं तो यह मानता हूँ कि संसारके लोग झूठी-मूठी बातोंको अपने दिमागमें बैठाकर हमेशा घबराते रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं। यह अन्धकूपमें गिरानेवाली प्रक्रिया है। इसलिए इसको छोड़कर वनमें चला जाये और भगवान्का आश्रय लिया जाये। इसीमें कल्याण है।

हिरण्यकशिपुने पहली-पहली बार प्रह्लादके मुँहसे ऐसी बात सुनी थी, इसलिए उसको हँसी आगयी। वह बोला—ऐसा लगता है कि पाठशालामें मेरे दुश्मनोंके आदमी प्रह्लादके पीछे लगे हैं और इसकी बुद्धिको फोड़नेकी कोशिश कर रहे हैं। इसलिए इसकी खूब सुरक्षा रहनी चाहिए, जिससे इसकी बुद्धि फूटे नहीं।

अब वे पुरोहित-पुत्र, जो प्रह्लादको पढ़ा रहे थे घबराये और प्रह्लादको एकान्तमें ले जाकर समझाने लगे।

देखो, ये जो राजाओं और सेठोंके सेवक होते हैं, वे चाहे पुरोहित हों, पण्डित हों या और कुछ हों, स्वभावसे दीन हो जाते हैं—'स दीनो राजसेवकः' (१५)। उनको अपने विचार प्रकट करनेकी हिम्मत नहीं होती। मुझे इस बारेमें बहुत अधिक जानकारी है कि पुरोहित लोग अपने सेठों और राजाओंको अन्धकारमें रखते हैं और वे जैसा चाहते हैं, वैसी ही व्यवस्था देते हैं।

तो, पुरोहित-पुत्रोंने प्रह्लादको एकान्तमें ले जाकर पूछा कि बेटा, तुमको यह उलटी बुद्धि किसने बतायी ? प्रह्लादने कहा कि गुरुजी, उलटी बुद्धि तो उनकी होती है, जो मायाके चक्करमें पड़ जाते हैं। अपने-परायेका भेद भगवान्‌की माया ही करवाती है। जो उससे मोहित होते हैं, उन्हींकी बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं करती। मैं तो भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ। प्रभु जब कृपा करते हैं तभी अपने-परायेका भेद मिटता है। 'चक्रपाणेर्यं इच्छया' (१४)—यह चक्रपाणि भगवान्‌की कृपा है कि जैसे चुम्बकके पास लोहा स्वयं घूमता है, वैसे ही मेरा चित्त भी संसारसे अलग होकर उनकी ओर अपने-आप खिंच जाता है।

नारदजी कहते हैं कि इतना कहकर प्रह्लाद तो चुप हो गये। लेकिन पुरोहित-पुत्रोंने उनको बड़ा फटकारा। वे बोले—अरे! बेंत ले आओ। यह तो हमारी नौकरी छुड़ाकर ही मानेगा। इसपर समझाने-बुझानेका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह कुलाङ्गार है, इसको दण्ड देना ही पड़ेगा। यह तो दैत्योंके वनमें काँटेदार बबूलका पेड़ हो गया। यही बनेगा बेंत और इससे दैत्य-वंश काटा जायेगा।

गुरुपुत्रोंने तरह-तरहसे डाँट-फटकारकर प्रह्लादको समझाया-बुझाया और धर्म, अर्थ, कामकी शिक्षा दी। एक दिन उनके मनमें आया कि प्रह्लादने तो सब-कुछ पढ़-सीख लिया, इसलिए अब इसको इसके माँ-बापके पास ले चलना चाहिए। वे पहले उसको उसकी माताके पास ले गये और वहाँ उसका खूब शृङ्गार करवाकर हिरण्यकशिपुके पास पहुँचाया। वहाँ प्रह्लादने पिताके पाँवोंमें गिरकर प्रणाम किया, पिताने बहुत आशीर्वाद दिया, छातीसे लगाया, गोदमें बैठाया, सिर सूँघा और फिर बोले कि बेटा! बताओ, इतने दिनोंमें तुमने क्या शिक्षा प्राप्त की ? प्रह्लादने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ २३

पिताजी, मेरी शिक्षाका सार यह है कि पहले भगवान्‌के बारेमें श्रवण करो, क्योंकि भगवान् कानके भीतर बैठते हैं। फिर उनका कीर्तन करो, उनको जिह्वापर ले आओ। मनमें उनका स्मरण करो। उनके चरणोंकी सेवा करो और अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन द्वारा अपने

आपको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर दो। प्रपन्न हो जाओ, शरणागत हो जाओ। आत्म-निवेदनम्‌का अर्थ है कि अपना शरीर ही भगवान्‌का भोग बना दो। इसीमें साधन-रूपसे मधुर भक्तिका भी समावेश हो जाता है। यदि यह नौ लक्षणोंवाली भक्ति भगवान्‌से चरणोंमें हो जाये तो यही सबसे बढ़िया पढ़ना-लिखना है।

अब तो हिरण्यकशिपुको बहुत क्रोध आया। लेकिन उसने प्रह्लादपर क्रोध नहीं किया। पढ़ानेवाले गुरु-पुत्रोंपर ही क्रोध प्रकट करता हुआ बोला कि अरे, ओ ब्रह्मबन्धो! ब्राह्मणाधमो! नीच ब्राह्मणो! तुम लोग हमारे दुश्मनोंसे मिल गये हो क्या? तुमने मेरा तिरस्कार करके मेरे बच्चेको यह सब पढ़ाया है। दुनियामें दुष्ट लोग वेश बदलकर दूसरोंको ठगते-फिरते हैं, लेकिन समय आनेपर उनकी धोखा-धड़ी प्रकट हो जाती है। पाप छिपानेसे छिपता नहीं। तुम लोगोंने मेरे दुश्मनोंसे मिलकर यह काम किया है, लेकिन अब यह प्रकट हो गया।

अब बेचारे गुरुपुत्र डर गये। उन्होंने प्रार्थना की कि आपका बेटा हमारे या अन्य किसीके सिखानेपर ऐसा नहीं बोलता। यह तो भीतरसे ही ऐसी बुद्धि लेकर आया है।

यहाँ महात्मा लोग कहते हैं कि जब सनत्कुमारोंने जय-विजयको शाप दिया था, तब जय-विजय तो हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु हो गये। भगवान्‌ने कहा कि मैं वराह-नृसिंह बनकर इनका उद्धार करूँगा। अब सनत्कुमारोंने सोचा कि भगवान् तो अपना करेंगे, अपने सेवकोंका उद्धार करेंगे, लेकिन जब हमने जय-विजयको शाप दिया है तो हमारा भी इनके प्रति कुछ कर्तव्य है। उसके बाद सनत्कुमार प्रह्लाद बनकर आगये। उन्होंने कहा कि हम घरमें और पास-पड़ोसमें भक्तिका वातावरण बनायेंगे और बारम्बार अपने पिताजीको भगवान्‌की याद दिलाया करेंगे। इसी तरह जब रावण-कुम्भकर्ण पैदा हुए, तब सनत्कुमार विभीषण बनकर आगये, जिससे कि वे रावण-कुम्भकर्णको भगवान्‌की याद दिलाते रहें। इसीलिए विद्वान् लोग बोलते हैं कि जब महात्मा लोग किसीको शाप देते हैं तो भी उसका भला हो जाता है और जब दुनियादार लोग किसीकी पूजा करते हैं तो भी उसका अनभल हो जाता है। भारविकी एक सूक्ति है—

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। १.८

इसका अर्थ है कि महात्माओंके साथ विरोध करना भी श्रेष्ठ है। अगर दुनियामें कहीं दुश्मनी भी करनी हो तो किसी दूसरेके साथ न करना, केवल महात्माओंके साथ ही करना। क्योंकि महात्मा लोग दुश्मनी करनेपर भी बुरा नहीं करते, जब करते तब भला ही करते हैं।

जब गुरुपुत्रोंने प्रार्थना की कि महाराज, आप इस प्रकार हमारा तिरस्कार मत कीजिये, प्रह्लाद तो पेटमें-से ही भक्ति लेकर आया है, तब हिरण्यकशिपुने पूछा कि बेटा प्रह्लाद, तुम्हारे गुरुओंने ऐसा नहीं सिखाया है तो ऐसी अभद्रा, ऐसी असती मति तुमको कहाँसे प्राप्त हुई?

प्रह्लादने कहा—पिताजी, अपने-परायेकी भावना रहनेपर ऐसी बुद्धि नहीं प्राप्त होती।

सब लोग घर-गृहस्थीमें लगे हुए हैं। किसीको भगवान्‌की याद नहीं आती। इन्द्रियाँ शान्त होती नहीं। जीभ नहीं मानती, दिनभर कुछ-न-कुछ बोलती और खाती रहती है। जो दिनभर अनाप-शनाप बोलते रहते हैं, वे लोगोंके कान जूठे करते रहते हैं, उनमें बुरी चीज डालते रहते हैं। इसलिए बोलना ही है तो लोगोंके कानोंमें भगवान्‌का नाम डालो। भगवान्‌के सिवाय दुनियाभरकी दूसरी बातें नहीं करनी चाहिए। संसारके लोग चर्वित-चर्वणमें लगे हुए हैं, बार-बार वही-वही चीज बोलते हैं। उन्हें परमात्माका पता नहीं लगता। जैसे अन्धेके पीछे अन्धा चलता हो, वैसे ही इनकी बुद्धि भगच्चरणारविन्दका दर्शन नहीं करती। जबतक निष्किञ्चन महापुरुषोके चरणकी धूलिमें लथपथ न हों, अभिषेक न करें, तबतक ऐसी बुद्धि मिलनेवाली नहीं।

अब तो हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें-से उठाकर धरतीपर पटक दिया। उसकी आँखें लाल-लाल हो गयीं और वह बोला—अरे ओ असुरो, इसको मार डालो, यह वध्य है। इसको यहाँसे निकाल दो। यह हमारे दुश्मनकी बात करता है। यह हमारा नहीं हुआ तो दूसरेका क्या होगा ? पराया अपत्य भी यदि हितकारी हो तो वह अपनी सन्तान है और अपनी सन्तान भी यदि अहितकारी हो तो वह रोगके समान नष्ट कर देने योग्य है। जिस अङ्गमें विष फैल जाये उसको काट देना ही श्रेष्ठ है। तुम लोग इसको खाते, सोते, बैठते, आदि समय किसी भी उपायसे अवश्य मार डालो।

अब असुरोंको और क्या चाहिए ? उनको मार-पीटका काम मिल जाये तो वे बड़े खुश होते हैं। हिरण्यकशिपुका हुक्म होते ही मारो-काटो कहते हुए जोर-जोरसे चिल्लाने लगे। उन्होंने प्रह्लादपर त्रिशूलसे प्रहार करना प्रारम्भ किया। परन्तु प्रह्लादका मन तो भगवान्‌में लगा हुआ था। इसलिए उनपर किसी भी प्रहारका कोई असर नहीं होता। इसके बाद उनके वधके अनेक उपाय किये गये—हाथियोंसे कुचलवाया गया, साँपोंसे डँसवाया गया और उनपर अभिचार करवाया गया।

देखो, भागवतमें तो केवल इतना ही लिखा है। लेकिन अन्य पुराणोंमें प्रह्लादजीका चरित्र बहुत फैला है। विष्णुपुराणमें लिखा है कि दोनों पुरोहितोंने प्रह्लादको मारनेके लिए कृत्या उत्पन्न की; जब कृत्या प्रह्लादके पास पहुँची तब उसने देखा कि वे हाथ जोड़कर भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हैं, उनको उसका कोई ख्याल ही नहीं है। तबतक भगवान्‌का चक्र प्रकट हो गया और उसने कृत्याको खदेड़ा। कृत्या भागी और उसने दोनों पुरोहितोंको ही मार दिया। जब वे दोनों मरकर गिर पड़े तो उस पाँच वर्षके नन्हें-से बालक प्रह्लादने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हे प्रभो, जिन्होंने मुझे हाथियोंसे कुचलवाया, साँपोंसे डसवाया, और आगमें जलवाया, उन लोगोंके प्रति भी यदि मेरे मनमें द्वेष न आया हो और मेरी बुद्धि सम बनी रही हो तो हमारे ये दोनों पुरोहित-पुत्र जीवित हो जायें। इसपर वे दोनों जीवित हो गये।

विष्णु-पुराणमें विस्तारपूर्वक लिखा है कि प्रह्लादको शम्बरासुरने माया द्वारा मारना चाहा, कमरेमें डाल दिया गया, भोजन बन्द कर दिया गया, विष पिलाया गया, बर्फमें घुसेड़ दिया गया, होलिका राक्षसी उनको आगमें लेकर बैठी, समुद्रमें डुबोया गया और ऊँचे पर्वतपर-से लुढ़का दिया गया; परन्तु किसी भी उपायसे हिरण्यकशिपु प्रह्लादको मरवा नहीं सका। नृसिंह-पुराणमें भी बहुत बढ़िया प्रह्लाद-चरित्र है। नृसिंह भगवान् हिरण्यकशिपुको मारनेके बाद गये नहीं, वहीं रह गये।

जब प्रह्लाद किसी भी उपायसे नहीं मरे, तब हिरण्यकशिपुको बड़ी चिन्ता हुई। बोला—यह तो मेरे शत्रुको भूलेगा नहीं और मुझे बहुत दुःख देगा। इसका प्रभाव बहुत बड़ा है। कहीं इसीको वजहसे मेरी मृत्यु न हो जाय। यह सोचकर हिरण्यकशिपुका मुँह लटक गया—मलिन हो गया—मुरझा गया। यह देखकर दोनों पुरोहित-पुत्रोंने एकान्तमें जाकर कहा कि महाराज, आपने तो सारी दुनिया जीत ली है। यह प्रह्लाद अभी बच्चा है। इसके लिए आप फिक्र क्यों करते हैं? इसको फन्देमें फाँसकर एक जगह रख दिया जाय। थोड़े दिनोंमें इसकी उम्र और बढ़ जायेगी और हमारे पिता शुक्राचार्य भी आजायेंगे। फिर वे इसको ठीक-ठीक पढ़ायेंगे तो सम्भव है कि इसको सुबुद्धि प्राप्त हो जाय।

हरिण्यकशिपु ने कहा—अच्छी बात है; जब यह मरता ही नहीं तो और उपाय भी क्या है? इसको ले जाओ और गृहस्थ नरपतियोंके योग्य धर्म, अर्थ, कामकी शिक्षा दो। पुरोहित-पुत्रोंने ऐसा ही किया। किन्तु धर्म, अर्थ, कामतक ही शिक्षाका अन्त नहीं। उसके आगे त्यागकी भी शिक्षा है, असंगताकी भी शिक्षा है। लोग धन कमानेका उपाय तो सिखाते हैं, परन्तु उसको खर्च करके कैसे सुखी होना चाहिए, यह नहीं सिखाते। भोग तो सिखाते हैं, पर उसमें असंग कैसे रहना चाहिए, यह नहीं सिखाते। धर्म तो सिखाते हैं, परन्तु उसको भगवदर्पण कैसे करना चाहिए, यह नहीं सिखाते। धर्म, अर्थ, कामकी एकांगी-शिक्षाके कारण ही संसारमें दुःख आया है और लोग द्वन्द्वाराम, त्रिवर्गमें फँस गये हैं।

अब एक दिन आचार्यजी तो घरके कामसे पाठशालाके बाहर चले गये और प्रह्लादजीके साथ बहुत-से बालक अपने-अपने खेल-खिलौने छोड़कर इकट्ठे हो गये। उन सबको पहलेसे ही मालूम था कि प्रह्लाद कितने प्रभावशाली हैं। उन्होंने उनको अपने बीचमें बैठा लिया। प्रह्लादके हृदयमें उनके प्रति बड़ी करुणा और मैत्री पैदा हुई। करुणा इसलिए कि वे जिस दुःखमें, भूलमें पड़े हुए हैं, उससे छूट जायें और मैत्री इसलिए कि जिस भगवान्‌की मैं भक्ति करता हूँ, उसकी भक्ति इनके हृदयमें भी हो।

: ६ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर प्रह्लादने उन असुर बालकोंसे कहा—मित्रो ! इस संसारमें मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाये, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको जवानी या बुढ़ापेके भरोसे न रहकर बचपनमें ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले साधनोंका अनुष्ठान कर लेना चाहिए। इस मनुष्य-जन्ममें श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है। क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद, प्रियतम और आत्मा हैं। स्वामीमें, ईश्वरमें दास्यरसका समावेश है और सुहृदमें सख्यरसका। इस प्रकार पाँचों भाव जो भगवान्‌के प्रति होते हैं, उन्हींमें मनुष्यका कल्याण है। रही बात खाने-पीने और इन्द्रियोंके भोगोंकी, वे तो सब जगह मिलते हैं—

सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः । २

जैसे न चाहनेपर भी और मिटानेकी कोशिश करनेपर भी दुःख हमको बिना प्रयत्नके ही मिलता है, वैसे ही सुख भी मिलेगा। उसके लिए कोई फिक्र करनेकी जरूरत नहीं। जो चीज अपने-आप मिलनेवाली है, उसके लिए आयुका अपव्यय क्यों करना—प्रयास क्यों करना ? लेकिन इस तरह भगवान् नहीं मिलते। वे किसी कर्मके फल नहीं हैं। इसलिए मनुष्यको अपने जीवन-कालमें ही भगवत्प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए। मनुष्यकी पूरी आयु सौ वर्षकी मानें तो जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया, उनकी आयुका रातवाला आधा हिस्सा तो यों ही बीत जाता है। क्योंकि वे रातमें तमोगुणमें ग्रस्त होकर सोते रहते हैं। बीस वर्ष बचपन-जवानीमें खेलते-खाते बीत जाते हैं। बीस वर्ष बुढ़ापेमें बीत जाते हैं और शेषमें ऐसी आपत्ति आती है कि मनुष्य वहाँसे निकल नहीं सकता। जब एक बार मनुष्य स्नेहके फन्देमें फँस जाता है तो निकलना कठिन हो जाता है।

देखो, हमने ऐसे लोगोंको देखा है, जिनके अपने बच्चे नहीं। लेकिन गोद लिये बच्चेसे उनकी आसक्ति हो जाती है। उनसे नहीं होती तो पशु-पक्षियोंसे आसक्ति हो जाती है। उनका पाला हुआ तोता जब कभी बीमार पड़ जाता है तो उसके लिए वैसे ही डाक्टर आते हैं, वैसी ही फिक्र होती है, वैसा ही खर्च होता है, जैसे उनके अपने अस्वस्थ होनेपर होता है। लोग अपने पालतू कुत्तेपर इतना खर्च करते हैं, जितना अपने बेटेको एम० ए० पास करानेमें खर्च होता है। उसके लिए नौकर अलग रहता है, डाक्टर अलग होता है। जिस घरमें माँस नहीं खाते, उस घरमें कुत्तेके लिए बाजारसे माँस मँगाकर खिलाते हैं। उससे इतना प्रेम होता है कि गोदमें लेकर उसको सोते हैं, मोटरपर साथ बैठाकर चलते हैं। एक ओर तो ईश्वरने उनपर यह कृपा की कि उनको बेटा नहीं दिया, जिससे कि वे मोहसे छूट जायें, भगवान्से प्रेम करें; लेकिन उनको कुत्तों और बिल्लियोंसे ही प्रेम हो जाता है। अतः सावधान रहना चाहिए कि कहीं स्नेहका फन्दा फँसा न ले।

जैसे रेशमका कीड़ा रेशम बनाता है और उसीके जालमें कैद हो जाता है, वैसे ही मनुष्य 'औपस्थ्यजैह्वयं बहु मन्यमानः'। (१३) केवल अपने जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियकी तृप्तिमें लग जाता है। उसके मनमें ऐसा मोह हो जाता है, जिसका कोई अन्त नहीं। वैराग्य तो फिर उसके पास फटकतातक नहीं। वे अपने कुटुम्बके पोषणमें ही अपनी सारी आयु बिता देते हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि हमारी कमायी हमने ही खायी तो क्या हुआ ? अरे हम भले ही भूखे हैं; लेकिन कमायें इतना कि हमारे बादकी आठ-दस पीढ़ियाँ भी खाती-पीती रहें। 'कुटुम्बपोषाय वियन् निजायुः (१४)। इस प्रकार जो अपने कुटुम्बियोंके पेट पालनेमें ही लगा रहता है, वह कभी भगवद्भजन नहीं कर सकता। उसमें चाहे कितनी भी विद्वत्ता हो, उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो कामिनियोंके मनोरञ्जनके समान, उनका क्रीड़ामृग बन रहा है और जिसने

अपने पैरोंमें सन्तानकी बेड़ी जकड़ ली है, वह बेचारा किसी प्रकार अपना उद्धार नहीं कर सकता। इसलिए विषयी लोगोंका संग छोड़कर नारायण भगवान्‌की आराधना करो।

मित्रो, यह बात ध्यानमें रखो कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता क्योंकि वे सबके आत्मा हैं, परम प्रेमास्पद हैं और सब जगह स्थित्त हैं। संसारमें जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबमें, चाहे वे अच्छी हों या बुरी हों—एक परमात्मा ही भरा हुआ है। वही अपना आत्मा है और वही सामनेवालेका आत्मा है। वही प्रत्यगात्मा है, वही दृश्य है, वही व्याप्य है, वही व्यापक है। वही अनिर्देश्य है, निर्विकल्प है, केवलानुभवानन्दस्वरूप है। मायाके कारण ही वह मालूम नहीं पड़ता।

इसलिए मेरी यह बात सुन-समझ लो—'तस्मात् सर्वेषुभूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।' (२४) सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करो, सौहार्द रखो, आसुरभावका परित्याग करो। इसी दयासे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि परमात्मा हमपर प्रसन्न हो गये तब तो फिर जो अपने आप मिलनेवाली चीजें हैं, उनके बारेमें क्या सोचना। धर्मादिकी बात छोड़ो, मोक्ष भी चाहनेकी वस्तु नहीं। सबसे बढ़िया तो यह है कि भगवान्‌के चरणारविन्दके सामने बैठकर परमानन्दमें भरकर उनके गुणानुवादका गान करो। सम्पूर्ण धर्म, अर्थ और वेद-शास्त्रका सार यही है कि भगवान्‌के चरणोंमें अपनी आत्माका अर्पण करो।

अन्तमें प्रह्लादने कहा कि यह ज्ञान जो मैंने तुमको बताया है, बड़ा दुर्लभ है। इसे नर-नारायणने नारदजीको दिया था और फिर नारदजीने मुझे बताया था। लेकिन यह ज्ञान केवल नारदको या मुझे ही हो, यह जरूरी नहीं। यह ज्ञान तो उन सबको होता है, जो भक्तजनोंका संग करते हैं और अपने-आपको अकिञ्चन भक्तोंके पादारविन्द-रजसे प्लुत कर लेते हैं। यही भागवतधर्म है।

देखो, इस प्रसङ्गमें प्रह्लादजीने उन बालकोंको जो 'दैत्य बालको' कहकर सम्बोधित किया है, इसका अर्थ 'भाइयो' है। क्योंकि प्रह्लादजी उन असुर बालकोंके भाई-बन्धु ही थे।

अब दैत्य बालकोंने यह शङ्का प्रकट की कि प्रह्लाद, तुम और हम शण्डामर्कको छोड़कर दूसरे किसीको गुरु नहीं जानते। फिर तुमको नारदजी कहाँ मिल गये, उनका सत्सङ्ग कहाँ प्राप्त हो गया? तुम्हारा नारदजीसे मिलना असंगत-सा लगता है। इस सम्बन्धमें विश्वसनीय बात हो तो तुम हमें बताओ।

❀

: ७ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, यह प्रश्न पूछकर असुर-बालक मुस्कुराने लगे। प्रह्लादजी भी मुस्कुराते हुए बोले—

> **पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम्।**
> **युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥ २**

यहाँ प्रह्लाद पहलेकी बात सुना रहे हैं। असलमें अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं, जिनपर लोगोंका ध्यान नहीं जाता। स्वायंभुव मन्वन्तरके प्रारम्भमें ही हिरण्याक्षको भगवान्ने मारा था। इसलिए हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु स्वायंभुव मन्वन्तरसे पहलेके होने चाहिए। यदि वे पूर्वकालमें नहीं होंगे तो संगति नहीं लगेगी। जो हिरण्याक्ष पृथिवी लानेके समय बाधा डालता है, वह पहले कल्पका है। वह जिस दिति और कश्यपसे पैदा हुआ है, वे भी पहले कल्पके होने चाहिए, इस कल्पके

नहीं। हिरण्याक्षके मर जानेके बाद हिरण्यकशिपु तपस्या करने गया और न जाने कितने दिनोंतक तपस्या करता रहा। उसी बीच देवताओंने दानवोंपर चढ़ाई की थी और वे प्रह्लादकी माताको गर्भवती अवस्थामें बन्दी बनाकर साथ ले गये। नारदजीने प्रह्लादकी माताको देवताओंसे छुड़ा दिया और अपने आश्रम ले गये। उन्होंने यह वरदान भी दे दिया कि तुमको इच्छा-प्रसूति प्राप्त होगी और तुम्हारा पुत्र भगवान्‌का भक्त होगा। प्रह्लादकी माताको नारदजीके आश्रममें भगवद्भक्तिकी कथा सुनते-सुनते बहुत दिन बीत गये और पता ही नहीं चला कि दुनियामें क्या हो रहा है। इधर हिरण्यकशिपु तपस्या पूरी होनेपर अपनी राजधानीमें अवस्थित हो गया। उसको राज्य मिल गया और वह—'कालो महीयान्' बहुत कालतक राज्य करता रहा। इस समय प्रह्लादजीकी उम्र पाँच ही वर्ष होनेका कारण यह है कि जब हिरण्यकशिपु तपस्या करके लौटा तब उसको अपनी पत्नीकी याद ही नहीं रही। उसने समझा कि जैसे देवताओंने सबको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, वैसे ही मेरी पत्नी और बेटेको भी नष्ट कर दिया होगा और वह राजकाजमें लग गया। बादमें नारदजीने प्रह्लादकी मातासे कहा कि तू कितने दिनोंतक बच्चेको पेटमें लिये रहेगी? अब जा अपने पतिके पास। बहुत दिनोंके बाद नारदजीने कयाधूको हिरण्यकशिपुके पास भेज दिया। फिर प्रह्लादकी उत्पत्ति हुई और इसी कारण प्रह्लादकी उत्पत्ति और हिरण्यकशिपुकी मृत्युमें केवल पाँच ही वर्षका फर्क पड़ा। इस प्रसङ्गका समाधान गिरिधरकी बाल-प्रबोधिनी टीकामें किया गया है और वह बहुत बढ़िया है।

इसी प्रसंगकी चर्चा करते हुए प्रह्लादजी बताते हैं कि जब देवता लोग युद्धमें असुरोंको मारकर मेरी गर्भवती माताको ले जा रहे थे तब मार्गमें नारदजी मिल गये। उन्होंने इन्द्रसे कहा कि तुम इस स्त्रीको क्यों लिये जा रहे हो? इसको छोड़ दो। इन्द्रने कहा कि इसके पेटमें असुर है। वह प्रकट हो जायेगा तो बहुत दुष्ट होगा। फिर हम लोग उसको नहीं मार सकेंगे। नारदजीने उत्तर दिया कि इसका गर्भस्थ शिशु निरपराध है, महान् है और महाभागवत है। वह तुम्हारे द्वारा नहीं मरेगा। जब इन्द्रने यह सुना, तब यह समझकर कि इसके गर्भमें भगवान्‌का भक्त है, मेरी माताकी परिक्रमा की और वे स्वर्गमें चले गये—

अनन्तप्रिय भक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ। ११

नारदजी मेरी माताको अपने आश्रममें ले गये और वह वहाँ निर्भय होकर रहने लगी। उसने ऋषिकी बड़ी सेवा की। उसकी यही इच्छा थी कि मेरे बेटेका कल्याण हो और जबतक मैं न चाहूँ, तबतक उसका जन्म न हो। नारदजीने दोनों वरदान उसको दे दिये। साथ-ही-साथ धर्मज्ञान और तत्त्वज्ञान भी सिखा दिया। मेरी मैयाको तो ज्ञान भूल गया, लेकिन ऋषिकी कृपासे मुझे सब याद है। यदि तुम मेरी बातपर श्रद्धा करोगे तो तुमको भी यह भक्ति और ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इसके बाद प्रह्लाद असुर-बालकोंको आत्मा और अनात्माका विवेक—जिसको देहात्मविवेक बोलते हैं, बताते हुए कहने लगे—जन्म, अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भाव विकार-देहमें ही होते हैं। इसको तुम ऐसे समझो कि जैसे यह सोना है, इसमें जब गहना गढ़ लिया गया तब वह गहना है, ऐसा मालूम पड़ा और उसमें वृद्धि-ह्रास भी होता रहा। अन्तमें गहना टूट गया तो क्या रहा? केवल सोना। गहना ही गढ़ा जाता है और गहना ही तोड़ा जाता है। सोना न तो गढ़ा जाता है और न ही तोड़ा जाता है। इसी तरह जगत्के मूलमें जो आत्मवस्तु है, वह न बनती है, न टूटती है, ज्यों-की-त्यों रहती है। जैसे वृक्षमें फल लगते हैं, बढ़ते हैं, घटते हैं, टूट जाते हैं, वैसे ही शरीर भी फलात्मक है और प्रारब्धसे ही बनता है। यह कर्मात्मक नहीं है। भोजन करना तो कर्मका फल है, लेकिन भोजन मिलता है प्रारब्धसे। यदि किसीने बेईमानीसे भोजन किया और उस भोजनमें इतनी आसक्ति हो गयी कि वैसा ही भोजन फिर मिले तो उसका परिणाम क्या हुआ? एक ओर तो वह भोजन मिला था प्रारब्धसे। प्रारब्ध छुट्टी देकर चला जाता। लेकिन उसमें बेईमानी और आसक्ति मिल गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह फल भी दूसरे फलका हेतु हो गया, बीज बन गया। इसलिए मनुष्य प्रारब्धके फलस्वरूप मिले इस शरीरसे कर्तापन, भोक्तापन, आसक्ति और निषिद्ध कर्म छोड़कर अपना जीवन व्यतीत करे तो तभी सफल हो सकता है।

अब शरीर और आत्माके बारह-बारह लक्षण अलग-अलग बताते हुए कहते हैं—आत्मा नित्य है, देह अनित्य। आत्मा अव्यय है, देह नाशवान्। आत्मा शुद्ध है, देह अशुद्ध। आत्मा एक है, देह अनेक। आत्मा क्षेत्रज्ञ है, देह क्षेत्र। आत्मा आश्रय है, देह आश्रित। इस तरह विचार करके मनुष्यको देहमें 'मैं-मेरा' छोड़ देना चाहिए। अज्ञानसे ही मोह पैदा हुआ है। इस शरीरमें आत्मा सोना है। उसको ढूँढ़कर निकाल लो और शरीरको छोड़ दो।

आठ प्रकृति हैं, तीन गुण हैं, सोलह विकार हैं और आत्मा एक है। शरीर संघात है। इसीमें परमात्माको ढूँढ़ना है—'अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन्' (२३)। जहाँ मालूम पड़े कि यह परमात्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है, उसका नेति-नेतिके द्वारा परित्याग कर देना चाहिए। इसके लिए उत्तम विवेक करना चाहिए, जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।

तीन अवस्थाएँ हैं और उनके द्वारा परम पुरुषका, अध्यक्षका अनुभव होता है। इन्हीं त्रिगुणोंके द्वारा अनेक प्रकारका बुद्धिभेद होता है और क्रियाओंका उदय होता है। अपने आत्माको उनसे अलग जानकर उन्हें छोड़ दो। इन गुण-कर्मोंमें फँस जानेके कारण ही यह संसार है। यह अज्ञानके कारण है। इसलिए प्रह्लादने उपदेश किया कि तुम लोग अपनी बुद्धिमें-से संसारका बीज निकालनेका उपाय करो।

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः। २९

इसके उपाय हजारों हैं, हम किसी उपायका निषेध नहीं करते। परन्तु भगवान्ने इसके लिए जो विशेष उपाय बताया है, वह है भगवद्भक्ति। जिससे भगवान्में भक्ति हो, वही सबसे श्रेष्ठ उपाय है। गुरुकी सेवा करना, साधु-सन्तोंका संग करना, ईश्वरकी आराधना करना, भगवान्की कथामें श्रद्धा रखना, उनके गुण-कर्मका कीर्तन और चरणारविन्दका ध्यान करना, उनकी मूर्तिका दर्शन और पूजन करना और भगवान् सबमें हैं—ऐसा समझकर यथासम्भव सबकी कामना पूरी करना। इन साधनोंसे ही षड्वर्गको जीतकर भगवान्की भक्ति की जाती है—

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥ ३४

भगवान्का गुणानुवाद सुनकर खूब खुशी होनी चाहिए—वैसी ही, जैसी बेटेका जन्म सुनकर, व्याह होनेपर और समागमसे खुशी होती है। भक्त लोग भगवान्की लीला सुनते ही हर्षसे रोमाञ्चित हो जाते हैं, उनकी आँखोंमें आँसू आजाते हैं, उनका कण्ठ गद्गद हो जाता है और वे कभी गाते हैं, कभी चिल्लाते हैं, कभी नाचते हैं, ऐसा लगता है, जैसे उनको कोई आवेश आगया हो। वे बारम्बार 'हरे जगत्पते नारायण' (३५)का उच्चारण करते हैं। उनके सामने जो आजाता है, उसको साक्षात् नारायण-स्वरूप ही समझते हैं। उस समय मनुष्यका भाव भगवदाकार हो जाता है, अन्तःकरणकी शक्ल बदल जाती है और सारे बन्धन कट जाते हैं। भक्तिके प्रयोगसे भगवान्की आराधना होती है।

प्रह्लाद कहते हैं—मेरे प्यारे भाइयो, भगवान्की प्राप्ति ही ब्रह्मका साक्षात्कार है। यही मोक्षका सुख है। इसलिए भगवान्का भजन करना चाहिए। भगवान्की आराधनामें कोई कष्ट नहीं है, क्योंकि दूसरेको खुश करना हो तो उसके घर जाना पड़ता है और भगवान् तो हमारे हृदयमें ही, हृदयाकाशकी तरह रहते हैं। उनके लिए कहीं अन्यत्र जाने-आनेका झगड़ा हो नहीं। वे अपने आत्मा ही हैं और अपने बहुत प्यारे हैं। इसलिए नाशवान् विषयोंकी ओर क्यों जाते हो? संसारकी सब वस्तुएँ नाशवान् हैं, क्षणभङ्गुर हैं। ये तुमको प्रसन्न नहीं कर सकतीं। स्वर्ग भी नाशवान् है। केवल भगवान् ही निर्दोष हैं। इसलिए उनकी भक्ति करनी चाहिए। मनुष्य संसारमें कुछ पानेके लिए जो प्रयास करता है, उससे सच्ची वस्तु नहीं, उल्टी वस्तु मिलती है। कर्मीको तो दुःख ही मिलता है।

यह देह भी अपने हाथमें नहीं, मरने मिटनेवाला है। जितने भी अपत्य, दारा, धन, राज्य, कोष, आदि हैं, वे सब जानेवाले हैं। इनको लेकर क्या करोगे? तुम स्वयं नित्यानन्द-महोदधि-स्वरूप हो। संसारकी सभी वस्तुएँ ही अनर्थ हैं। ये देखनेमें झूठमूठ ही भली लगती हैं।

भाइयो, बताओ तो सही जबसे हम माँके पेटमें आये हैं, तबसे दुःख-ही-दुःख भोग रहे हैं। सुखी होनेके लिए कर्म करते हैं, परन्तु उससे एक और शरीर बन जाता है। इसलिए सब जिसके

अधीन हैं, उन परम स्वतन्त्र भगवान्‌की आराधना करो, वे ही सबके आत्मा हैं और वे ही शरीर बनाकर इसमें बैठे हुए हैं।

भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्। ५०

इसलिए देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, कोई भी क्यों न हो, उसे भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन करना चाहिए, तभी वह कल्याणका भाजन होता है। भगवान्‌की भक्तिके लिए ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना जरूरी नहीं। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए बहुत, आचरण और बहुत ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं।

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। ५२

यहाँतक कि भगवान्‌के लिए दान, तपस्या, यज्ञ, पवित्रता, व्रत किसीकी भी आवश्यकता नहीं।

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्। ५२

भगवान् केवल निर्मल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं और सब साधन तो विडम्बना है। इसलिए भाइयो, 'हरौ भगवति भक्ति कुरुत दानवाः' (५३)—भगवान्‌की भक्ति करो। भक्तिका स्वरूप यह है कि परमात्मा सर्वस्वरूप है। इसलिए जैसे अपनेसे प्रेम करते हो, वैसे ही सबसे प्रेम करो। इसीमें भक्ति आजाती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे। ५३

धर्मका सार यही है कि जो क्रिया तुम्हारे लिए उल्टी पड़ती है—जैसे गाली, अपमान आदि, वह तुम दूसरेके साथ मत करो। क्योंकि जैसे तुमको गाली आदि बुरो लगती है, वैसे ही दूसरेको भी बुरी लगेगी। सबमें एक परमात्मा बैठा हुआ है, यहाँतक कि खग, मृग, पापीसे पापी जीव, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, सब-के-सब भक्ति द्वारा अच्युत भावको प्राप्त हो गये हैं।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥ ५५

भाइयो, इस लोकमें मनुष्यका इतना ही परम स्वार्थ और परमार्थ है कि गोविन्दके प्रति भक्ति हो और भक्तिका स्वरूप यही है कि सब जगह परमात्माका दर्शन हो—

यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।

ॐ

: ८ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठर, प्रह्लादका उपदेश सुनकर सब विद्यार्थी उनके पक्षमें हो गये और सबके मनमें भगवान्‌की भक्ति आगयी। बड़ा भारी राजविद्रोह हो गया। पुरोहित-पुत्र डर गये और राजाके सामने जाकर निवेदन किया। सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोधके मारे थर-थर काँपता हुआ पाठशाला पहुँचा। प्रह्लाद इतने अहिंसक थे कि उनको कोई भय नहीं हुआ। वे हाथ जोड़कर सिर झुकाये खड़े रहे। हिरण्यकशिपुने तिरछी नजरसे उनको देखा और डाँटा कि तूने हमारे वंशका नाश कर दिया। बोल, किसके बलसे तूने मेरे शासनका उल्लङ्घन किया है ?

प्रह्लादने कहा—राजन्, जो मेरा बल है, वही आपका बल है, सबका बल है, स्थावर-जङ्गमका बल है। उसके बलके सामने और किसीका बल नहीं है। आप असुर भाव छोड़ दीजिये और अपने मनको सम बनाइये। फिर आप देखेंगे कि आपका कोई दुश्मन नहीं, मैं भी आपका दुश्मन नहीं। असलमें आप गलत काम करते हैं, इसलिए आप ही अपने साथ दुश्मनी करते हैं। गलत काम न करना ही भगवान्‌की पूजा है। पहले आप अपने शरीरमें जो दुश्मन हैं, उनको जीत लीजिये। फिर आपको जीतनेके लिए दुनियामें कोई दुश्मन नहीं रहेगा।

हिरण्यकशिपुने कहा—अरे मूर्ख, अब तू मरना चाहता है, इसीलिए डींग हाँक रहा है। नहीं तो मेरे सामने ऐसी बात कोई नहीं कह सकता। बता, जिसको तू जगदीश्वर कहता है, वह कहाँ है ? यदि तू कहे कि सब जगह है तो इस खम्भेमें तेरा ईश्वर कहाँ है ? इसमें वह दिखायी क्यों नहीं देता—

कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते ? १३

इसपर जब प्रह्लादने कहा कि भगवान् तो तुम्हारे खड्गमें भी हैं और खम्भेमें भी हैं। तब हिरण्यकशिपु बोला—तू बहुत गप्प मार रहा है, डींग हाँक रहा है, बढ़-बढ़कर बातें कर रहा है। अब बुला अपने उस रक्षकको कि वह आकर तेरी रक्षा करे। इस तरह गाली-गलौज करते हुए एक घूँसा हिरण्यकशिपुने खम्भेको मारा। उससे ऐसी भयंकर आवाज हुई, मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो !

हिरण्यकशिपु कुछ चकराया और सोचा कि खम्भेमें घूँसा मारनेसे तो ऐसी आवाज नहीं निकल सकती, फिर यह आवाज कहाँसे निकली ? परन्तु उसकी समझमें बात नहीं आयी इधर भगवान्‌ने सोचा कि मेरे भक्तकी बात सच्ची होनी चाहिए। भगवान्‌का यही स्वभाव है कि वह अपनी बात भले ही झूठी कर दें, लेकिन अपने भक्तोंकी बात सच्ची करते हैं।

फिर यहाँ तो एक साथ अनेक भक्तोंकी बात सच्ची करनी है। भगवान्‌के एक भक्त ब्रह्मा हैं। उन्होंने यह कह दिया था कि हिरण्यकशिपुकी मृत्यु ऐसी-वैसी जगह नहीं होगी। मेरा बनाया

हुआ मनुष्य नहीं मारेगा, पशु नहीं मारेगा, अन्य कोई प्राणी नहीं मारेगा। इसलिए उनकी इस बातको सत्य करनेके लिए भगवान् नृसिंहरूपमें प्रकट हो गये। सनत्कुमारने भी जय-विजयको शाप देते हुए कहा था कि भगवान् तुम्हारा उद्धार करेंगे। इसलिए उनकी बात भी सच्ची करनी थी। स्वयं भगवान्‌ने भी जय-विजयसे कहा था कि हम तुम्हारा उद्धार करने आयेंगे, इसलिए उसको सत्य करनेके लिए भी भगवान् प्रकट हुए अथवा प्रह्लादने जो अभी-अभी कह दिया कि यहाँ खम्भेमें ही भगवान् हैं, इसलिए भी प्रकट हो गये 'सत्यं विधातुं निज-भृत्य-भाषितम्' (१८)। निजभृत्येन भाषितं सत्यं विधातुं—अर्थात् भगवान्‌ने सोचा कि मेरे भक्तने कह दिया है तो अब उसकी बात सच्ची होनी ही चाहिए।

तो अब जब भगवान् नृसिंहरूपमें प्रकट हो गये तब हिरण्यकशिपु चारों तरफ देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। भगवान्‌का विलक्षण स्वरूप देखो! तपाये हुए सोनेके समान चण्डनेत्र हैं, कन्धेपर जटाएँ हैं, बड़ा भारी मुख है, कराल दंष्ट्र हैं, बाल खड़े हैं, कान बड़े-बड़े हैं, शरीर स्वर्गका—आकाशका स्पर्श कर रहा है और लम्बे-लम्बे नखायुध हैं। उनका ऐसा भयंकर स्वरूप कि उनके सामने कोई जा न सके।

हिरण्यकशिपुने सोचा कि यह मेरे शत्रु नारायणने ही मुझे मारनेका यह उपाय किया है। वह बड़ा भारी मायावी है। लेकिन वह मेरा कर ही क्या सकता है? ऐसा सोचते ही हिरण्यकशिपु नृसिंह भगवान्‌पर टूट पड़ा—ठीक वैसे ही जैसे कोई पतिङ्गा आगमें कूद पड़ता है। वह नृसिंहपर प्रहार करने लगा। लेकिन भगवान् उसके हाथमें कहाँ आनेवाले थे। उन्होंने भी उसपर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। अन्तमें भगवान्‌ने जब देखा कि न दिन है, न रात है, सायंकालका समय है, तब वे उसको जो न बाहर था, न भीतर था—देहरीपर ले गये और उसको न तो ऊपर, न नीचे, अपने घुटनोंपर डाल लिया। फिर भगवान् स्वयं न मनुष्य थे, न पशु थे। उनके हाथमें कोई हथियार भी नहीं था। वे तो नृसिंह थे। हिरण्यकशिपुने ब्रह्माजीके सामने जितनी शर्तें रखी थीं, सब पूरी हो चुकी थीं। इसलिए भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको अपने नाखूनोंसे ही फाड़ दिया। उस समय उसके जो अनुचर आये, उनको भी भगवान्‌ने मार दिया।

उस समय अत्यन्त भयङ्कर हो गया नृसिंह भगवान्‌का चेहरा। उनकी गरदनके बालोंकी फटकारसे आकाशके बादल तितर-बितर होने लगे, उनके नेत्रोंके तेजसे सूर्यादि ग्रह निष्क्रिय हो गये और उनकी दहाड़से पहाड़ ऊपरको उड़ने लगे। उसी समय आकाश देवताओंके विमानोंसे भर गया। गन्धर्व, अप्सरा आदि नृत्य-गान करने लगे। प्रजापति आकर उपस्थित हो गये। विष्णु भगवान्‌के पार्षद तो दूर-दूरसे ही देखें, कोई नृसिंह भगवान्‌के पास न जाये।

अब देवता लोग भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए स्तुति करने लगे। सबसे पहले ब्रह्माजीने कहा कि प्रभो! आपकी शक्ति दुरन्त है, वीर्य विचित्र हैं और कर्म पवित्र हैं। हम आपको नमस्कार

करते हैं। फिर रुद्रने कहा कि आप तो प्रलयके समय क्रोध करते हैं। जब आपने इस नन्हें-से असुरको मार दिया तो अब इतना गुस्सा करनेकी क्या जरूरत है? आपका यह भक्त प्रह्लाद आपके पास आया है, इसकी रक्षा कीजिये। इन्द्रने कहा कि महाराज, यज्ञमें हमारा जो भाग छिन गया था, वह आपने इसको मारकर हमें दिला दिया। हमारा हृदयकमल जो आपका घर है, फिरसे प्रफुल्लित हो गया। संसारमें आपकी सेवा करनेवालोंके लिए यह तो कुछ भी नहीं है।

इसके बाद अन्य सब लोग स्तवन करने लगे। ऋषियोंने कहा कि महाराज, आपने तो हमको तप करनेकी आज्ञा दी थी; लेकिन इसने उसका लोप कर दिया। आपने हमें बचा लिया। पितरोंने कहा कि हमारे नामसे कोई पिण्ड देता था तो यह दुष्ट खा जाता था। आपने इसका वध करके अच्छा किया। सिद्धोंने कहा कि इसने तो हमारी सिद्धि ही हर ली थी। विद्याधरोंने कहा कि इसने हमारी विद्या ही छीन ली थी। नागोंने कहा कि इस पापीने तो हमारी मणियों और श्रेष्ठ-सुन्दर स्त्रियोंका अपहरण कर लिया था। मनुओंने कहा कि इस दुष्टने हमारी सारी मर्यादा ही तोड़ दी थी। आपने इसको मारकर बहुत अच्छा किया। प्रजापतियोंने नृसिंह भगवान्-का अभिनन्दन करते हुए कहा कि इसने तो प्रजाकी सृष्टि ही बन्द कर दी थी। गन्धर्वोंने कहा कि यह तो अपने मनोरञ्जनके लिए हमसे नचाता-गवाता था। अच्छा किया आपने इसका वध करके। 'किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते' (५०)—क्या कोई कुमार्गसे चलेगा तो सुरक्षित निकल जायेगा? कभी-न-कभी उसके पाँवमें काँटा तो गड़ेगा ही। चारणोंने कहा कि महाराज, यह दुष्ट साधुओंके हृदयके लिए बड़ा भारी उपद्रव था, इसलिए आपने इसको मारकर बड़ा मङ्गल किया। यक्षोंने कहा कि हम आपके अनुचर हैं, लेकिन यह हमसे बेगारमें पालकी ढुलवाया करता था—'वाहकत्वम्' (५२)। इसलिए आपने अपने सेवकोंका कष्ट दूर करनेके लिए ही इसी उपद्रवीको मारा है। किम्पुरुषोंने कहा कि आपने इसको मारा, यह अच्छा किया। वैतालिकोंने कहा कि हम तो आपके यशका गान करते हैं, लेकिन यह हमसे अपना यश गवाता था। किन्नरोंने कहा कि हम तो आपके अनुयायी हैं, लेकिन यह हमको बिना कुछ खाना-पीना दिये ही हमसे दिन भर बेगार लिया करता था—'विष्टिममुनानु कारिताः' (५५)। प्रभो, आपने इसको मारकर बहुत अच्छा किया।

अन्तमें विष्णु पार्षदोंने कहा कि महाराज, हम लोगोंने आपका ऐसा रूप तो कभी देखा नहीं। आपका जो सेवक होता है, उसका आप कल्याण करते हैं। जय-विजय आपके सेवक थे और वे ही सनकादिके शापसे हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु होकर दैत्य-योनिमें आगये। इसलिए आपने उनको मारकर उनके लिए फिरसे अपना सेवक बननेका द्वार खोल दिया है। आप बड़े कृपालु हैं, आप अपने सेवकोंको, उनके द्वारा अपराध होनेपर भी कभी छोड़ते नहीं।

: ६ :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठर, इस प्रकार ब्रह्मा, शंकर तथा अन्य सब लोगोंके द्वारा स्तुति करनेपर भी नृसिंह भगवान्‌का गुस्सा कम नहीं हुआ, बल्कि और बढ़ने लगा। देवता लोग जितना-जितना उनको पकड़नेकी कोशिश करते, उतना-उतना वे और दूर होते जाते। तब देवताओंने लक्ष्मीजीसे कहा कि देवीजी, जरा आप ही चलकर देखें और सँभालें अपने पतिदेवको। लेकिन उन्होंने भी इस अद्भुत स्वरूपको न कभी देखा था और न सुना था—'अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्‌ (२)—इसलिए वे भी उनके पासतक नहीं जा सकीं।

आश्चर्यकी बात है, नृसिंह भगवान्‌का अवतार युग-युगमें, कल्प-कल्पमें, मन्वन्तर-मन्वत्तरमें होता ही होगा और लक्ष्मीजी देखती भी होंगी। उनको यह पहचान तो होनी चाहिए कि ये हमारे पतिदेव हैं और वेश बदलनेमें, मेकअप करनेमें भी बड़े निपुण हैं। असलमें पहचानती तो होंगी हीं, लेकिन इस समय भूल गयीं हैं, क्योंकि उनको भगवान्‌का मधुर-मधुर रूप ही देखनेका अभ्यास है। 'सा नोपेयाय शङ्किता' (२) इस पदका अर्थ क्या है? उनको यह डर लगता है कि कहीं इन्होंने प्यारसे ही अपना पञ्जा मेरे सुकुमार हाथपर रख दिया तो उसका क्या हाल होगा। और कहीं प्यार करने लगे तो इनका मुँह, इनकी दाढ़ कैसी है। बाप रे बाप! मैं तो दूर ही रहूँगी। लक्ष्मीजी यह शङ्का नहीं करतीं कि ये वही हैं या कोई दूसरा है। लक्ष्मीजीके लिए ऐसी शङ्का करना उचित भी नहीं। इसलिए उनको यही आशङ्का है कि कहीं पञ्जा-वञ्जा मार देंगे तो मेरा शरीर छिल जायेगा।

अब ब्रह्माजीने प्रह्लादसे कहा कि बेटा, तुम्हीं जाओ और इनका क्रोध शान्त करो। प्रह्लाद एकदम निडर होकर जहाँ लक्ष्मीजी भी नहीं जा सकीं, वहाँ पहुँच गये और साष्टाङ्ग दण्डवत् किया—

उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः। ४

वास्तवमें बच्चोंको देखकर क्रोध जाता है। इसीसे बुद्धिमती पत्नी जब देखती है कि उसके पति क्रोधमें हैं तो अपने बच्चेको ही उनके सामने भेज देती है। कभी-कभी रुलाकर भी भेज देती है। पति जब बच्चेको रोते देखता है तो झट गोदमें लेकर पुचकारने लगता है और उसका क्रोध उतर जाता है।

इसीप्रकार जब नृसिंह भगवान्ने नन्हें बालक प्रह्लादको अपने चरणोंके पास पड़ा देखा तो तुरन्त उठाकर गोदमें ले लिया और उसके सिरपर हाथ रख दिया। भगवान्के कर-कमलका स्पर्श होते ही प्रह्लादकी बुद्धिमें सारा ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो गया, उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी।

नृसिंह भगवान्ने कहा कि बेटा, पाँच वर्षकी तेरी उम्र है, बहुत सुकुमार तेरा शरीर है लेकिन इस दुष्टने नाना प्रकारकी दारुण यातनाओंसे तुम्हें बहुत सताया है। इसलिए प्यारे प्रह्लाद, 'क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः'—यदि मेरे आनेमें देर हो गयी तो तुम मुझे क्षमा करना।

वहाँ देखो, अपूर्व लीला हो गयी। त्रिलोकीनाथ, अखिल ब्रह्माण्ड-नायक साक्षात् भगवान् अपने भक्त प्रह्लादको गोदमें लेकर कह रहे हैं कि क्षमा करो बेटा, क्योंकि मेरे आनेमें देर हो गयी। मुझे बहुत पहले आजाना चाहिए था।

अब प्रह्लाद खड़े हो गये और प्रेम गद्‌गद वाणीसे स्तुति करने लगे—प्रभो, बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवताओंने एकाग्र मनसे और धाराप्रवाह वाणीसे आपकी स्तुति की है। उनकी स्तुतिमें बड़े-बड़े गुण हैं। फिर भी आप उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए। मेरी तो जाति भी खराब है और मैं कुछ पढ़ा-लिखा भी नहीं हूँ। इसलिए भगवन्, क्या आप मुझपर प्रसन्न होंगे—'किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः'? (८) लेकिन मैं समझता हूँ कि आप धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष बुद्धि और योगसे सन्तुष्ट होनेवाले नहीं हैं।

देखो, कहीं-कहीं ऐसा भी मिलता है कि मनुष्य अपनी गति दिखाकर भगवान्को प्रसन्न करना चाहता है और कहता है कि मेरे किये तो कुछ होता नहीं, शायद मेरी जातिपर, मेरे वंशपर ही भगवान् प्रसन्न हो जायँ। ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कई जगह आयी है। एकने कहा कि मैं पाण्डव-वंशमें पैदा हुआ हूँ, शायद इसलिए भगवान् मुझसे प्रेम करते हों, क्योंकि मुझमें कोई सद्‌गुण नहीं है। दूसरेने कहा है कि मैं ब्राह्मण-वंशमें पैदा हुआ हूँ, इसलिए शायद भगवान् मुझपर कृपा करते हों। क्योंकि मेरे अन्दर कोई दूसरा गुण नहीं। यह सब भक्तोंका एक प्रकारका

दैन्य ही है। लेकिन भगवान्को इन सब बातोंकी जरूरत नहीं। किसीके पास बहुत धन होगा तो उससे प्रेम करनेवाला लोभी ही तो होगा। इसी तरह कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग मनुष्यके बड़प्पनके परिचायक तो हैं परन्तु भगवान् इन गुणोंसे प्रसन्न नहीं होते।

प्रह्लाद कहते हैं कि भगवान् तो केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं—'भक्त्या तुतोष भगवान्गज-यूथपाय' (९)। भला गजेन्द्रके पास क्या विद्या बुद्धि थी ? लेकिन उसकी भक्तिके कारण आप उसपर भी सन्तुष्ट हो गये। मेरी समझसे उपर्युक्त बारहों गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि आपसे विमुख है तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसमें ये बारहों गुण तो नहीं, परन्तु वह आपका भक्त है।

देखो, यहाँ ब्राह्मण-चाण्डालमें साफ-साफ तुलना की हुई है और कहा गया है कि भगवान्के पादारविन्दसे विमुख ब्राह्मण बारह गुणोंसे युक्त होनेपर भी उस श्वपचकी बराबरी नहीं कर सकता, जिसमें बारहों गुण तो नहीं हैं, लेकिन वह भगवान्के चरणोंकी भक्ति करता है। भगवान् अपने भक्त चाण्डालपर तो प्रसन्न होंगे, किन्तु अभक्त ब्राह्मणपर प्रसन्न नहीं होंगे—

मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ, प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः। १०

अभिमानीपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, दीनपर भगवान्की कृपा होती है। भला भगवान् कोई गरीब हैं कि उन्हें किसी चीजकी जरूरत हो। वे अपने आपमें मग्न हैं। जिस तरह मुखका सौन्दर्य दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बको सुन्दर बना देता है, उसी तरह जो मनुष्य भगवान्की पूजा और उनका सत्कार करता है, वह भगवान्के लिए नहीं, अपने लिए करता है—

तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः। ११

इसलिए प्रभो, मैं विकलता छोड़कर आपकी स्तुति करता हूँ। आपके गुणानुवादका वर्णन करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है। आप समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिए रुचिरावतार धारण करके लीला करते हैं। अब क्रोध करनेकी कोई जरूरत नहीं। जैसे साँप बिच्छू मर जाते हैं, वैसे ही यह असुर मर गया। दुनिया इस लीलाका स्मरण करेगी। भले ही आपने हिरण्यकशिपुकी आँत पहन रखी है और शरीरपर खूनकी बूँदें पड़ी हुई हैं, आपके बड़े-बड़े नाखून हैं, कान हैं, दाँत हैं; बहुत भयंकर आपका रूप है। लेकिन इससे मुझे बिल्कुल डर नहीं लगता। मुझे यदि डर लगता है तो केवल इस संसारके भयंकर काल-चक्रसे। इससे बचनेके लिए ही मैं आपके चरणोंमें आया हूँ।

प्रभो, संयोग-वियोगकी आग ऐसी है, जिसमें मैं जन्म-जन्म जलता रहा हूँ। जो इसकी दवा है, वह भी दुःख है। इसलिए मुझे आप अपनी सेवा दें। ब्रह्मादि आपकी लीला-कथाका गान करते हैं। बस, मुझे आपके भक्तोंका संग मिलता रहे और मैं इस संसार-सागरसे पार हो

जाऊँ। पिता-माता भी सब जगह अपने बालककी रक्षा नहीं कर सकते। यदि समुद्रमें नौका डूबने लगे तो क्या वहाँ माता-पिता बचानेके लिए जायेंगे? आप जिसकी उपेक्षा कर देते हैं, उसकी कभी रक्षा नहीं होती। रक्षा तो आपकी कृपासे ही होती है।

भगवन्, इस संसारमे जो कुछ था, है और होगा तथा जो सम्पूर्ण विश्व-विभक्तियोंका अर्थ है, वह सब आप ही हैं। मायाने यह सारी सृष्टि बना रखी है और आपकी कृपाके बिना कोई सोलह अरोंवाले काल-चक्रके पार नहीं जा सकता। मैं बहुत ही दुःखी होकर और संसारसे पिस-पिसाकर आपकी शरणमें आया हूँ। इसलिए आप हमारी रक्षा करें।

प्रभो, लोग चाहते हैं कि हमको स्वर्ग मिले। लेकिन उस स्वर्गमें रहनेवालोंका यह हाल है कि जब मेरे पिता नाराज होकर क्रोधसे ठठाकर हँसते तो देवता लोग वहाँसे टपाटप वैसे ही गिरते, जैसे फल पेड़से गिरते हैं। इसलिए दुनियादार लोग जो चाहिए हैं, वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो आपके भक्तोंका संग चाहिए। इस दुनियामें बहुत सारी चीजें हैं, परन्तु उनमें कोई तत्त्व नहीं होता। मैं दैत्य-वंशमें पैदा हुआ हूँ। मुझमें रजोगुण ज्यादा है। मेरे अन्दर अयोग्यता-ही-अयोग्यता है। परन्तु आपने मेरे सिरपर अपना हस्तकमल रख दिया है, फिर मुझे और क्या चाहिए? जो कल्पवृक्षके नीचे पहुँच जाता है, उसपर कल्पवृक्ष कृपा करता है। वहाँ छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं 'सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्' (२७)।

भगवान्, देवर्षि नारदजीने मुझपर कृपा करके मुझे बचा लिया था। इसलिए यही चाहता हूँ कि जैसे नारदजीका संग मिला, वैसे ही मुझे आपके भक्तोंका संग हमेशा मिलता रहे। आप अपने सेवकके वचनको सत्य करनेके लिए ही प्रकट हुए हैं।

प्रभो, इस सृष्टिमें आप ही स्रष्टाकी तरह, भर्ताकी तरह और संहर्ताकी तरह गुणोंके सेवके मालूम पड़ते हैं। यह सदसद् जगत् आपसे पृथक् नहीं। आपके सिवाय जो-कुछ मालूम पड़ता है, वह सब-का-सब आपकी माया है। 'त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो माया' (३१)। अपने-परायेका भेद बिल्कुल झूठा है।

आप प्रलयके समय सारी सृष्टिको लेकर अपनेमें सो जाते हैं। फिर आपसे ही लोक-पद्मका प्राकट्य होता है। लेकिन ब्रह्माको वहाँ आपका दर्शन नहीं होता, फिर वे तपस्या करनेपर आपके इस रूपका दर्शन करते हैं। यह सब आपका ही विराट् रूप है। आप ही हयग्रीव-रूप धारण करके मधुकैटभ दैत्यको मारते हैं और ब्रह्माको श्रुतियोंका अर्पण करते हैं। आप अनेक रूप धारण करके कभी राम बनकर तो कभी पशु-पक्षी आदिके रूप ग्रहणकर—दुष्टोंका संहार करते हैं।

बैकुण्ठनाथ, मेरा मन आपकी कथामें तृप्त नहीं होता। पछतावेकी बात तो यह है ही कितना भी धन मिले, उससे इसको सन्तोष नहीं होता—इसे और धन चाहिए और धन चाहिए। तिजोरीमें अधिक-से-अधिक धन जमा करके यह खुश हो जाता है। लेकिन कानसे आपकी कथा

सुनकर खुश नहीं होता—'नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते' (३९)। कोई पाप इसमें लग गया है। यह बड़ा दुष्ट हो गया है, काम चाहता है, अनेक एषणाओंसे व्याकुल है। मैं आपके बारेमें विचार कैसे करूँ ? जीभ कहती है इधर चलो, मूत्रेन्द्रिय कहती है इधर चलो, कान कहता है उधर चलो। जैसे बहुत-सी सौतें एक पतिको अपनी-अपनी ओर घसीटती हैं, वैसे ही ये सब इन्द्रियाँ घसीटती हैं। मैं तो भव-वैतरणीमें पड़ा हुआ हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये !

नैवोद्विजे परदुरत्यय-वैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः। ४३

हे अखिलगुरो, आपको इस भव-वैतरिणीसे पार उतारनेमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता और मूढ़ोंपर, आर्तोंपर अनुग्रह करना तो आपका स्वभाव ही है। मुझे तो इस संसार-रूपी वैतरणीमें पड़े रहनेमें भी कोई उद्वेग नहीं। क्योंकि मैं आपके गुणानुवादके गानमें मग्न रहता हूँ। मुझे उन लोगोंके लिए बहुत दुःख होता है, जो संसारमें फँस गये हैं और दुनियाका भार ढो रहे हैं।

स्वामी, प्रायः लोग अपने सुखके लिए मुक्तिके लिए परार्थ करते हैं। परन्तु मेरी दशा दूसरी ही है। 'नैतान्विहाय कृपणान्तिमुमुक्ष एकः' (४४)। मैं चाहता हूँ कि सब लोगोंकी मुक्ति हो जाये। इनको छोड़कर केवल मैं अपने लिए मुक्ति लेना नहीं चाहता। संसारके कृपण लोग सोचते हैं कि उनको घर-गृहस्थीमें बहुत सुख मिलेगा। लेकिन उनकी हालत तो वैसी ही है, जैसे किसीको दाद हो गयी हो, वह उसको खुजलाये, खुजलाते समय तो बहुत सुख मालूम पड़ता है; लेकिन बादमें वह दाद और बढ़ जाती है और दुःख देती है। इसलिए धीर पुरुषको चाहिए कि मनमें चाहे कितनी भी कामनाएँ हों, वह उनको सह ले। कामनाके अनुसार मनुष्यको बहना नहीं चाहिए।

यह मन बहुत अदलता-बदलता रहता है। मनके बदलनेसे अगर आदमी अपनेको बदलने लग जाये तो दिनभरमें न जाने कितने रूप उसको ग्रहण करने पड़ेंगे। यह बात जरूर है कि मौन व्रत, अध्ययन, तपस्या, स्वधर्म-व्याख्या, एकान्त-वास, जप, समाधि आदिसे मोक्ष मिलता है। परन्तु यदि अपनी इन्द्रियाँ वशमें न हों तो इनसे मोक्ष नहीं मिलता, केवल जीविका ही चलती है। लेकिन यदि कोई दम्भी हो तो वह चाहे कितना भी मौन ले, व्रत करे, श्रुति पढ़े, जब उसकी पोल खुल जाती है तब इन सबसे उसकी जीविका भी नहीं चलती।

देखो, एक सज्जनको लोग जानते थे कि वे बिल्कुल काष्ठमौनी हैं। एक दिन मैं उनके पास पहुँच गया तो वे कमरा बन्द करके एकान्तमें तीन घण्टेतक मुझसे बातें करते रहे। यह कैसा काष्ठमौन है। दुनियाके सामने अपनेको काष्ठमौनी सिद्ध करनेसे काम नहीं चलता। जब मन मौनी हो जाता है, तब काम चलता है। उन्होंने लोगोंको यह बता रखा था कि हम दिनभर पानी नहीं पीते। लेकिन जब सरोवरमें स्नान करने जायें तो डुबकी लगाकर पानी पी लिया करें

एक दिन मुँहमें चली गयी मछली। जब निकले तो पोल खुल गयी। रोज कहते थे कि मैं ऐसा काम करता हूँ कि ईश्वरको भी नहीं मालूम पड़ता। लेकिन पोल खुल गयी तो लोगोंको सब कुछ मालूम पड़ गया। भगवान्‌के सामने सच्चे आदमीका ही आदर होता है। दम्भी आदमीकी पोल कभी-न-कभी खुल ही जाती है।

असलमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिए कहीं जानेकी जरूरत नहीं है क्योंकि वह तो यहीं है। कुछ इन्तजार करनेकी भी जरूरत नहीं, क्योंकि जब अभी है तो इन्तजार किस बातका? उसको देखना भी क्या? अपने आपको देखो तो वही दीख जायेगा। उसके लिए दूसरेको देखनेकी जरूरत ही नहीं। ईश्वरकी प्राप्तिमें कुछ प्रयास करनेकी भी जरूरत नहीं, केवल अपने अन्दर दम्भ न आने पाये और इन्द्रियाँ विवश न होने पायें।

यह सारी सृष्टि अरूप भगवान्‌में ही वेदने प्रकाशित की है। जिसने मिट्टी नहीं देखी और उससे घड़ा बनता नहीं देखा; उसके मनमें तो मिट्टीसे घड़ा बनता है, यह ख्याल ही नहीं हो सकता। वेदने ही वर्णन कर-करके कार्य-कारण-भाव प्रकाशित कर दिया है। योगी लोग केवल परमेश्वरको पहचानते हैं।

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८

प्रभो, यह सारी सृष्टि ही आप हैं—सगुण भी आप और निर्गुण भी आप। मन, वाणीसे जो कुछ भी कहा जाता है, वह आपसे अतिरिक्त नहीं है और आपमें ये सब चीजें हैं नहीं। इसलिए मैं केवल एक बात चाहता हूँ और वह यह है कि मेरे जीवनमें षडङ्गा भक्ति आये।

देखिये, आप लोग इसी प्रसंगके पाँचवें अध्यायमें प्रह्लादके मुखसे नवधा भक्तिका वर्णन सुन चुके हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ ५.२३

लेकिन यहाँ प्रह्लादने भगवान्‌से षडङ्गा भक्तिकी याचना की, जो इस प्रकार हैं—एक तो यह कि मैं आपके चरणोंमें नमस्कार किया करूँ, वैसे ही, जैसे वैष्णवलोग साष्टांग दण्डवत् करते हैं। नमस्कारका अर्थ यह है कि वह 'न मे—मेरा नहीं'की याद दिलाता रहता है।

देखो, एक बार ऐसा हुआ कि मेरे दोनों हाथ ऊपर न उठें। कोई बहुत अच्छे वैद्य मिले। उन्होंने कहा कि स्वामीजी, अगर आप रोज भगवान्‌को दण्डवत् करते होते तो आपको यह रोग कभी नहीं होता। यदि होता भी तो दण्डवत् करनेके लिए हाथ उठानेपर तत्काल रोगका पता चल जाता। आपको वर्षोंसे रोग हुआ है और पता चला ही नहीं, क्योंकि आप हाथ ऊपर उठाते ही नहीं। बादमें इलाज हुआ और रोग दूर हो गया।

तो, नमस्कारके बाद षडङ्गा भक्तिका दूसरा साधन है—वाणीसे भगवान्की स्तुति करना। तीसरा साधन है कि जितने भी कर्म हों, सब भगवान्को समर्पित कर दिये जायें। चौथा साधन है भगवान्की सेवा-पूजा। ऐसा नहीं सोचना कि जब सब काम भगवान्के लिए करने हैं, तब सेवा-पूजा करनेकी क्या जरूरत है? अपने सब काम भी भगवान्को अर्पित करना और भगवान्की पूजा भी करना। पाँचवाँ साधन है भगवान्के चरणारविन्दका ध्यान करना और छठवाँ साधन है, उनकी कथा सुनना। कथा भजनके रसको बढ़ाती है। भजनका रस आता ही तब है जब हम भगवान्की महिमा सुनते हैं और भगवान्की महिमा सुननेमें रस आता तभी है, जब एकान्तमें भजन करते हैं। यही षडङ्गा भक्ति है।

इसीलिए प्रह्लादने कहा कि इस षडङ्ग सेवाके बिना आपके चरण-कमलोंकी भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? प्रभो, आप तो अपने परम प्रिय भक्तों, परमहंसोंके ही सर्वस्व हैं।

जब प्रह्लादने ऐसी स्तुति की तब नृसिंह भगवान्के क्रोधका कहीं पता ही नहीं चला। वे बोले कि बेटा प्रह्लाद, तू मेरा बहुत प्यारा है। तेरा कल्याण हो। मैं तुझपर बहुत प्रसन्न हूँ। जो तेरी इच्छा हो वह वर माँग ले। मैं लोगोंका काम पूर्ण करनेके लिए ही हूँ। तूने मुझे प्रसन्न कर लिया। मेरा दुर्लभ दर्शन तुझे मिल गया। अब तुम्हारे मनमें कोई सन्ताप, कोई परिताप नहीं होना चाहिए। बड़े-बड़े धीर साधु मुझे प्रसन्न करते हैं।

यहाँ नारदजीका यह कहना है कि असलमें भगवान्ने प्रह्लादको वर देनेके लिए नहीं कहा, प्रलोभन दिया। लेकिन भगवान्के वचनको प्रलोभन कहना, यह कोई मामूली बात नहीं—

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।
एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छत् तानसुरोत्तमः॥ ५५

वेदान्ती लोग ब्रह्ममें माया मानते हैं और भक्त लोग कहते हैं कि राम-राम, ब्रह्ममें माया-छाया कहाँसे आयी? परन्तु भगवान्में जो प्रलोभन है, यही तो उनकी माया है और यह ठगनी माया है। भगवान् भी कभी-कभी प्रलोभित करते हैं—'लोकप्रलोभनैः'। परन्तु भक्त ऐसा होता है कि वह मायाको स्वीकार नहीं करता। ब्रह्मज्ञानी भी वही है, जो मायाको बिल्कुल मिथ्या मानता है।

❀

: १० :

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, भगवान्‌की बात सुनकर प्रह्लादने मनमें सोचा कि वरदान माँगना तो भक्तिका, सेवाका विघ्न है। यदि सेवकने अपनी सेवाके बदलेमें कुछ माँग लिया अथवा यह कह दिया कि इतने दिन मुझको सेवा करते हो गये, तुमने मुझे क्या दिया है तो हजारों वर्षकी सेवा तुच्छ हो जाती है। इसलिए प्रह्लादने मुस्कराकर कहा कि मैं तो जन्मसे ही प्रलोभनमें फँसा हुआ हूँ और उनसे डरकर विरक्त होकर छूटनेके लिए ही, आपके पास आया हूँ। आपने मुझमें सेवकके लक्षण हैं या नहीं, यह जाननेके लिए ही वरदान माँगनेको कहा है। लेकिन क्या मैं संसारके बीज हृदयग्रन्थिमें फिरसे पड़ूँ? जो आपसे कुछ माँगना चाहता है, वह सेवक नहीं बनिया है। चाहनेवाला कभी सेवक नहीं हो सकता। स्वामी भी क्या यह चाहता है कि सेवक उसकी सेवा हमेशा करता रहे? आपको सेवाकी जरूरत नहीं और मुझे आपसे कुछ माँगनेकी जरूरत नहीं। हम दोनों ही राजा और सेवक नहीं हैं। आपने कह दिया कि माँग लो, अब मैं न मागूँ तो कहा जा सकता है कि देखो यह कितनी हेकड़ी दिखाता है, कितना उद्दण्ड

है। माँग लो, कहनेपर भी कहता है कि मुझको कोई जरूरत नहीं। इसलिए आप देना ही चाहते हैं तो दीजिये और यह दीजिये कि मेरे हृदयमें कोई कामना ही न उठे—

कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्। ७

क्योंकि हृदयमें कामनाके उत्पन्न होनेपर इन्द्रिय, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धृति, मति, ह्री, श्री, तेज, स्मृति, सत्य—ये सब नष्ट हो जाते हैं। हृदयमें द्वैतकी स्थापना हो जाये, उसमें सत्यत्व बुद्धि आजाये और भगवान्‌से अन्यपर दृष्टि चली जाये—यह तो परम अनर्थकारी है। जिस समय मनुष्य अपने मनमें-से कामनाओंको निकाल देता है, उसी समय वह आपसे एक हो पाता है।

नृसिंह भगवान्‌ने कहा—प्रह्लाद, तुमने बिल्कुल ठीक कहा। भक्त हो तो तुम्हारे सरीखा हो। असलमें जो मेरा एकान्ती भक्त होता है, वह मुझसे कुछ नहीं चाहता। लेकिन फिर भी तुम मेरी प्रसन्नताके लिए यहाँ एक मन्वन्तरतक राज्य-भोग करो। यह मत समझना कि वह तुमको फँसा लेगा। यहाँ रहकर तुम मेरे कथा-रसका पान करते रहना—

कथां मदीया जुषमाणः प्रियास्त्वमावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम्। ११

देखो, यहाँ 'जुषमाणः'का अर्थ है कथामृतका पान करते रहना। जैसे लोग जुकाममें जुषांदा पीते हैं, वैसे ही यह संसाररूपी जुकामके लिए अमृतमय जुषांदा हैं।

भगवान्‌ने कहा—मैं सबके हृदयमें बैठा हुआ एक हूँ—ऐसा समझकर कथा-श्रवण करते हुए राज्य करना। सुख आये तो प्रसन्न हो लेना, लेकिन जब दुःख आये तो उसको अस्वीकार कर देना कि मैं दुःखी नहीं। मैं परमात्माका भक्त हूँ, मेरे पास दुःख कैसे आ सकता है? समय आनेपर शरीरको छोड़ देना। तुम्हारी कीर्ति खूब फैलेगी और तुम अन्तमें मेरे पास आजाओगे। जो मेरी-तुम्हारी इस कथाका श्रवण-कीर्तन करेगा वह कर्म-बन्धनसे छूट जायेगा।

प्रह्लाद कहते हैं कि अच्छा, मैं आपके आदेशानुसार एक वर माँग लेता हूँ। मेरे पिताने आपकी बहुत निन्दा की है। वे समझते थे कि आपने उनके भाईको मारा है। आपका भक्त होनेके कारण वे मुझसे द्वेष करते थे। किन्तु आप कृपा करके उनको पवित्र कर दें।

अब आप जरा इस प्रसंगपर ध्यान दीजिये। प्रह्लादने पहले कहनेपर भी वह नहीं माँगा, किन्तु बादमें अपने-आप ही माँग लिया। इसका कारण क्या है? यही है कि यदि भगवान् प्रह्लादको हिरण्यकशिपुकी गद्दीपर बैठाकर एक मन्वन्तर तक राज्य करनेके लिए नहीं कहते तो न प्रह्लादके कोई पिता था और न ही उसकी पवित्रताके लिए वर माँगनेकी जरूरत थी। लेकिन जब भगवान्‌की आज्ञासे उत्तराधिकारमें बेटेको पिताकी गद्दीपर बैठना पड़ा, तब पिता और पुत्रका सम्बन्ध स्थापित हो गया। फिर जब पिता-पुत्रका सम्बन्ध स्थापित हो गया तब पुत्रका काम है पिताको पवित्र करना। इसलिए पहला काम उन्होंने यही किया कि मेरा पिता पवित्र हो जाये।

भगवान्‌ने कहा—प्रह्लाद, तुम बिल्कुल फिक्र मत करो। केवल तुम्हारे पिता ही नहीं,

तुम्हारी इक्कीस पीढ़ियाँ तर गयीं। जहाँ-जहाँ मेरे भक्त रहते हैं, वे देश पवित्र हो जाते हैं, क्योंकि मेरे भक्त किसीकी हिंसा नहीं करते।

उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन गतस्पृहाः। २०

मेरे भक्त ऊँच-नीच सबमें परमात्माको देखते हैं। तुम हमारे सब भक्तोंके प्रतिमान हो। जाओ अपने पिताका अन्त्येष्टि कर्म—प्रेत-कार्य सम्पन्न करो। एक तो मैंने उसको छू दिया है, फिर तुम्हारे-जैसा भक्त उसका बेटा है। इसलिए वह पवित्र लोकोंमें जायेगा। अब तुम अपने पिताके सिंहासनपर बैठो और अपना मन मुझमें लगाकर मत्परायण होकर, जो कर्तव्य कर्म है, उनको करो।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, प्रह्लादने भगवान्की आज्ञाका पालन किया। ब्राह्मणोंने प्रह्लादका अभिषेक किया। फिर ब्रह्माजी आये और उन्होंने नारायणकी स्तुति की—महाराज, आपने बहुत अच्छा किया कि हिरण्यकशिपुको मार दिया। वह लोगोंको बहुत सताता था। मैंने तो इसको यह वर दे दिया था कि मेरी बनायी हुई सृष्टिसे तुम नहीं मरोगे। इसका फल हुआ कि आप प्रकट हुए। अत्यन्त सौभाग्यकी बात है कि प्रह्लाद-जैसा भक्त उसका बेटा हो गया। आपने उसको मृत्युसे हमेशाके लिए मुक्त कर दिया।

नृसिंह भगवान् ब्रह्माजीपर बहुत प्रसन्न नहीं थे। इसलिए कुछ असन्तुष्ट-सरीखे बोले—

मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव।

वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा॥ ३०

ब्रह्माजी, ऐसा वर तुम असुरोंको मत दिया करो। क्योंकि वे स्वभावसे ही दुष्ट होते हैं। तुम्हारा वरदान साँपको दूध पिलाने-जैसा हो गया।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, इतना कहकर भगवान् नृसिंह देव अन्तर्धान हो गये। देखो, यह कथा दूसरे पुराणोंमें बहुत लम्बी है। इसका वर्णन वैदिक ग्रन्थोंमें भी है। यह वर्णन आता है कि नृसिंह भगवान् बादमें कुछ दिनोंतक वहाँ रहे।

किन्तु भागवतके अनुसार भगवान्के अन्तर्धान होनेके बाद प्रह्लादने सबकी पूजा की। सबने प्रह्लादको हिरण्यकशिपुके स्थानपर अभिषिक्त कर दिया। ब्रह्मादि देवता आशीर्वाद देकर वहाँसे चले गये।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवान्के पार्षद जय-विजय ही दिति-पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए। भगवान्के प्रति वैर-भाव करनेपर भी उनका कल्याण हो गया। वे ही फिर कुम्भकर्ण-दशग्रीव हुए। भगवान् रामचन्द्रने उनको अपने बाणोंसे पार किया। वे ही दोनों शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें प्रकट हुए थे और तुम्हारे देखते ही देखते भगवान्में मिल गये। उनका जो पूर्वपाप था वह श्रीकृष्णसे वैर करनेके कारण शान्त

हो गया और वे कृष्णरूप हो गये। जिनसे वैर करनेपर यह गति मिलती है, उनसे कोई प्रेम करे तो उसको क्या-क्या नहीं मिल सकता ?

युधिष्ठिर, तुमने जैसा प्रश्न किया था, उत्तर मैंने तुमको दे दिया। महात्मा प्रह्लादका जो चरित्र है, भगवान्‌के स्वरूपका जो निरूपण है, यही भागवत-धर्म है और इसीके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रसंगमें अध्यात्म-सम्बन्धी जितनी भी जानकारी प्राप्त होनी चाहिए, सब बता दी गयी हैं। जो श्रद्धासे इसका अनुष्ठान करता है, वह कर्म-पापसे, कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। नृसिंह भगवान्‌की लीला और प्रह्लादका चरित्र सुनकर मनुष्य अकुतोभय लोकको प्राप्त होता है।

युधिष्ठिर, तुम लोग बहुत ही भाग्यवान् हो कि तुम्हारे घरमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आते हैं। तुम्हारे घरमें तो साक्षात् परब्रह्म गुप्त रूपसे, मनुष्यके रूपमें रहते हैं। जिनको तुम श्रीकृष्ण कहते हो, वे ही साक्षात् परब्रह्म हैं और उन्हींको बड़े-बड़े महापुरुष लोग ढूँढ़ते हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य कैवल्यनिर्वाण-सुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥ ४९

ब्रह्मादि भी भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। वस्तुतः भगवान्‌की पूजा करनेकी एक पद्धति है। तीन बातोंसे उनकी पूजा होती है—'मौनेन, भक्त्या, उपशमेन' (५०)।

मौनका अर्थ है कि चुप रहो, दुनियाकी चर्चा अपनी जबानपर मत लाओ। बहुत आवश्यक हो तब बोलो जैसे पशु बोलते हैं। बहुत आवश्यकता होनेपर ही गाय बोलती है, भैंस बोलती है। बहुत जरूरत होनेपर ही हाथी चिग्घाड़ता है। उसकी आवाज कभी-कभी सुननेमें आती है। महात्माको भी अपनी वाणी ऐसी ही रखनी चाहिए। बोलो तो भगवान्‌के विषयमें बोलो—दुनियाकी चर्चा, व्यर्थकी चर्चा छोड़ दो। भक्त्या माने भक्ति-पूर्वक सेवा। केवल सेवा ही नहीं, प्रेमपूर्वक सेवा और उपशम माने काम, क्रोध, लोभ आदि अपने मनमें न आयें। शान्ति रहे हृदयमें, भक्ति हो भगवान्‌की और संसारके बारेमें मौन रहें। बस, यही भगवान्‌को प्रसन्न करनेका तरीका है।

युधिष्ठिर, एक बार तो ऐसा हुआ कि असुरोंके द्वारा रुद्रके यशका नाश हो रहा था। उस समय भगवान्‌ने उसकी रक्षा की थी। जब देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली थी तब सब-के-सब असुरोंने मायावियोंके परम गुरु मय नामक असुरकी शरण ग्रहण की। मयने सोने, चाँदी और लोहेकी तीन मायामयी पुरियाँ बनाकर असुरोंको दी थीं।

देखो, असुरोंको जबतक रहनेकी जगह न मिले, तबतक वे कोई काम नहीं कर सकते। अगर आप अपने शरीरमें असुरोंको रहनेके लिए जगह न दें तो वे कुछ बिगाड़ नहीं सकते। स्थान मिलनेपर ही वे दुःखी करते हैं।

अब असुर उन पुरियोंमें छिपकर सबका नाश करने लगे। देवता लोग दुःखी होकर शंकरजीके पास गये। शंकरजीने उनको आश्वासन दिया कि तुम लोग डरो मत और वे त्रिपुरासुरकी पुरीपर अपने बाणोंसे प्रहार करने लगे। परन्तु पुरीकी चमक बहुत होनेके कारण वह नष्ट नहीं होती थी। शंकरजीके बाणोंसे दैत्य मरें, उनको दूसरे दैत्य उनके पास जो अमृतकुण्ड था—रसकूप था, उसमें डाल दें और वे सब-के-सब जिन्दा होकर, वज्र-दृढाङ्ग होकर निकलें।

अब जब शङ्करजीकी असुरोंपर एक न चली, तब भगवान् नारायणने उनके लिए उपाय किया। उन्होंने ब्रह्माको बनाया बछड़ा और स्वयं विष्णु भगवान् हो गये गाय।

असलमें मायावीके प्रति थोड़ी मायाकी रचना भी करनी पड़ती है। मैंने एक ग्रन्थमें रावणकी मायाके सम्बन्धमें यह पढ़ा था कि उसने सब राक्षसोंको गाय बना दिया। वे सब भगवान् रामचन्द्रकी सेनाको सींगसे मारते हुए आगे बढ़ने लगे। अब मर्यादापुरुषोत्तम राम धनुष-बाण हाथमें लेकर खड़े रहे। क्या करें, गायपर बाण कैसे चलायें? क्योंकि गाय तो अवध्य है। इतनेमें विभीषण आये और बोले—महाराज, यह सब रावणकी माया है। आप ऐसे बाण मारें जो बाघ बन जायें। जब विभीषणकी सलाहपर रामचन्द्र भगवान्‌ने व्याघ्रबाणका प्रयोग किया, तब सब राक्षस, जो गाय बने हुए थे, अपनी-अपनी माया छोड़कर भागने लगे।

तो, युधिष्ठिर, जब ब्रह्मा बछड़े और विष्णु गाय बन गये तब उन्होंने मय दानवके त्रिपुरमें प्रवेश किया। उस जमानेमें असुर लोग भी गाय-बछड़ेको नहीं मारते थे और उनको त्रिपुरमें भी प्रवेश करनेकी छूट थी। उनको देखकर सब असुर मोहित हो गये। इतनेमें उन्होंने अमृत कुण्डके रसको पी लिया। जब मयने देखा तो वह समझ गया कि ईश्वरकी ऐसी ही इच्छा है। परमेश्वरकी लीलाको कोई रोक नहीं सकता!

इसके बाद भगवान्‌ने धर्म, ज्ञान, क्रिया आदिके द्वारा शङ्करजीके लिए एक रथ तैयार किया। उसके लिए सूत, ध्वज आदि बनाया स्वयं विष्णु भगवान् शङ्करजीके बाणमें आकर बैठ गये। फिर शङ्करजीने उन तीनों पुरियोंको ध्वंस किया और उनके यशकी रक्षा हो गयी। चारों ओर आनन्द-मङ्गल होने लगा। ब्रह्माजीने शङ्करजीकी स्तुति की और अपने धाममें चले गये। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने रुद्रके यशका विस्तार किया। ऐसे-ऐसे परम पवित्र चरित्र श्रीकृष्णके होते हैं।

युधिष्ठिरने भागवत-चरित्र सुनकर अत्यन्त आनन्द प्रकट करते हुए नारदजीसे कहा—महाराज, अब आप मुझे वर्णाश्रमाचार-युक्त सनातन धर्मका वर्णन सुनाइये। जितने भी धर्म हैं, वे सब भगवान् नारायणसे निकले हुए हैं। आप ब्रह्माके पुत्रोंमें सर्व-सम्मत हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं और बहुत दयालु भी हैं। आप इस धर्मका निरूपण कीजिये।

नारदजीने कहा—युधिष्ठिर, मैं वही धर्म तुम्हें बताता हूँ, जो नारायणने बताया है। नारायण जितना भी धर्म बताते हैं, मनुष्यमात्रके लिए ही बताते हैं। वह सबके लिए हितकारी होता है, क्योंकि वे सबके हृदयोंमें निवास करते हैं। 'नरस्य-इदं नारम्—हृदयं तदेव अयनं यस्य स नारायणः'। जो नरके हृदयमें निवास करे, उसका नाम नारायण। जो नरमात्रके लिए धर्मका उपदेश करे, इसका नाम नारायण।

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिए समय-पर अवतार लेते हैं और अवतार लेकर बद्रिकाश्रमपर तप करते हैं। ये वेदमय श्रीहरि धर्मके मूल हैं और उनके ज्ञाताओंने जो स्मरण किया है वह धर्ममें प्रमुख है।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु० २.१२

वेद, वेदाविरुद्ध स्मृति, वेद-स्मृति-अविरुद्ध सदाचार और वेद-स्मृति-सदाचाराविरुद्ध आत्मप्रिय—ये धर्ममें हेतु होते हैं। ऐसा व्याख्यान लूक भट्ट आदिने किया है।

अब नारदजी उद्देश्यतः धर्मकी गणना करते हुए कहते हैं—सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, तितिक्षा, युक्त-अयुक्तका विवेचन, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, स्वाध्याय, आर्जव, सन्तोष, महत्सेवा, प्रवृत्ति कर्मसे निवृत्ति, कर्मोंकी निष्फलतापर विचार, मौन, आत्मानात्मचिन्तन, अन्नादिका सबके लिए संविभाग, सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मा एवं ईश्वरका दर्शन, नवधा भक्तिमें वर्णित श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—ये सब धर्मके तीस लक्षण कहे गये हैं। जिनके गर्भाधानादि संस्कार अविच्छिन्न परम्परासे होते आये हैं, उनको द्विज और जो इनसे रहित हैं; उन्हें शूद्र कहते हैं। यजन, अध्ययन और दानादि द्विजोंके लिए विहित हैं और शूद्रके लिए वर्ण-धर्मका विधान है। विप्रके अध्ययन आदि षट् कर्म हैं। उनमें-से याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह ये तीन जीविकाके लिए हैं। जीवकाके लिए हैं माने लौकिक हैं। यदि ब्राह्मण यज्ञ न कराये, वेद न पढ़ाये और दान न ले तो इससे उसको कोई पाप नहीं लगता। पढ़ना, दान करना और यज्ञ करना—ये उसके लिए आवश्यक हैं। यदि इनको नहीं करेगा तो अपने कर्मसे भ्रष्ट हो जायेगा। जीविकार्थ कर्म ऐच्छिक हैं, किन्तु धर्मार्थ कर्म उसके जीवनमें रहने ही चाहिए।

इस प्रकार नारदजीने चारो वर्णों और आश्रमोंका विवेचन करके उनके लिए धर्मका

निरूपण करते हुए कहा—वैश्यको खेती करनी चाहिए, वाणिज्य करना चाहिए। कहीं-कहीं उसके लिए कुसीद वृत्ति अर्थात् ब्याजके द्वारा निर्वाहका भी विधान प्राप्त होता है।

द्विजकी मुख्य यज्ञादि-रूप वृत्ति है। अयाचित वृत्ति है और प्रतिदिन अपनी आवश्यकताके अनुसार अन्नकी याचना कर लेना भी उसकी वृत्ति है। खेतमें या बाजारमें जो अन्नके दाने पड़े रह जाते हैं, उन्हें बीनकर निर्वाह कर लेना भी उसकी वृत्ति है। इनमें जो उत्तरोत्तर हैं वे श्रेष्ठ हैं। नीच पुरुष अनापत्तिकालमें उत्तम वृत्तिका आश्रयण-भजन न करे।

क्षत्रियके लिए यह अनुमति है कि वह विपत्तिकालमें यज्ञ करा सकता है, पढ़ा भी सकता है, लेकिन दान लेनेका उसको अधिकार नहीं होता।

इस तरह इस प्रसंगमें धर्मका निरूपण करते हुए नारदजीने कहा—जो उत्तम-से-उत्तम वृत्ति है, उसका अनुष्ठान करना चाहिए और 'श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्' (२०)। अपनेसे नीचकी सेवा करके कभी जीविका नहीं चलानी चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मुख्य हैं। ब्राह्मण सर्ववेदमय है और क्षत्रिय सर्वदेवमय है। शम, दम, तपस्या, शौच, सन्तोष, दया, सरलता, ज्ञान, सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं और शौर्य, उत्साह, वीर्य, धैर्य, तेज, दान, आत्मजय, ब्रह्मण्यता क्षमा, अनुग्रह और रक्षा—ये क्षत्रियके लक्षण हैं। देवादिकी भक्ति, त्रिवर्गका परिपालन, नित्य उद्योगमें लगे रहना वैश्यके लक्षण हैं। पवित्रतासे रहना, स्वामीकी सेवा करना, नमस्कार आदिसे विद्या पढ़ना, अचौर्य, सत्यभाषण—ये सब शूद्रकी वृत्ति है।

इसी प्रकार स्त्रीका लक्षण है—अपने पतिकी सेवा करना, उसके सम्बन्धियोंकी सेवा करना और पतिके धर्मको अपना धर्म स्वीकार करना। घरकी जितनी भी जिम्मेदारियाँ हैं, वह सब-को-सब स्त्रीकी होती हैं। उसको सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह सोचकर असन्तोष नहीं रखना चाहिए कि हमारे घरमें यह नहीं, वह नहीं। उसे दूसरेकी वस्तु देखकर ललचना नहीं चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए और सच बोलना चाहिए। घरमें रो-रोकर नहीं मुस्कुरा-मुस्कुराकर काम करना चाहिए। यदि पति पतित नहीं हो तो उसकी सेवा आजीवन करनी चाहिए—

अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्। २८

लेकिन यदि पति पतित हो जाये तो उसके द्वारा सन्तानोत्पादन नहीं करना चाहिए। घरकी पतिव्रता स्त्री लक्ष्मी-जैसी है और उसका पति नारायण-जैसा है। इस भावसे जो स्त्री सेवा करती है, उसे परम कल्याणकी प्राप्ति होती है। दुर्भाव और दुर्व्यसन तो किसीके लिए भी किसी कालमें भी ग्राह्य नहीं। अपनी वृत्तिसे ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। गृहस्थाश्रममें रहकर कामनाको शान्त करना चाहिए, बढ़ाना नहीं चाहिए। गृहस्थाश्रम कामसे युद्ध करनेके लिए एक दुर्ग है। सबको अपने-अपने लक्षण धारण करने चाहिए और धर्म-शास्त्रके अनुसार अपनी जीविका चलानी चाहिए।

: १२ :

नारदजी कहते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर, ब्रह्मचारी गुरुकुलमें रहकर अपने गुरुका छोटे-से-छोटा काम करे। सायं-प्रातः गुरु, अग्नि, सूर्य और देवताकी उपासना, गायत्रीका जप तथा सन्ध्या-वन्दन करे। दोनों सन्ध्याओंमें थोड़ी देरतक मौन रहे और गुरुके बुलानेपर वेदोंका अध्ययन करे। अध्ययनके आदि-अन्तमें गुरुको नमस्कार करे। उसे हाथमें कुशा रखनी चाहिए। हाथको खाली रखनेसे वह कभी मुँहमें, कभी पाँवमें और कभी नाक आदिमें लगता रहता है और फिर वह दुर्व्यसन बन जाता है।

ब्रह्मचारीको मेखला, मृगचर्म, जटा, दण्ड, कमण्डलु और उपवीत भी धारण करना चाहिए। उसको गुरुसे लेकर नहीं खाना चाहिए। उसका काम तो भिक्षा लेकर गुरुको खिलाना है। वह थोड़ा खाये, इन्द्रियोंको वशमें रखे और संसारी लोगोंके साथ कम-से-कम व्यवहार करे, स्त्रियोंकी चर्चा न करे। ब्रह्मचारी जवान हो तो युवती गुरु-पत्नियोंके साथ भी ज्यादा मेल-जोल न करे। क्योंकि मनुष्यके मनका विश्वास नहीं, यह बदलता रहता है, अनेक रूप धारण करता है और जिस वृत्तिके साथ हम अपने आपको मिला देते हैं, वही उसे अच्छी लगने लगती है।

एकान्तमें 'सुतामपि रहो जह्यादन्यदा' (९)। अपनी युवती कन्याके साथ भी नहीं बैठना चाहिए और तबतक इस व्यवहारका ठीक-ठीक पालन करना चाहिए, जबतक मनमें स्त्री-पुरुषका द्वैतभाव बना हुआ है। अद्वैतका साक्षात्कार हो जानेपर, बोध हो जानेपर स्त्री-पुरुषका, भोग्य-भोक्ताका भेद निवृत्त हो जाता है।

गृहस्थाश्रममें भी ब्रह्मचर्य होता है। पतिको पत्नीका सङ्ग उतना ही करना चाहिए, जितना शास्त्रोंमें वर्णित है। उसमें एक तो कालका नियम है कि एकादशी-ग्रहणादिका परित्याग कर देना चाहिए। स्थानका नियम है कि मन्दिर, गङ्गातट आदि नहीं होना चाहिए और क्रियाका नियम है कि महीनेमें केवल ऋतुके अवसरपर सङ्ग करना चाहिए। इस प्रकार कालके अनुसार देशके अनुसार, क्रियाके अनुसार पत्नी-सङ्ग प्राप्त करना चाहिए। उसमें भी सन्तान उत्पन्न करना या नहीं करना, इसका भी विधान बृहदारण्यकोपनिषद्में है। सन्तान पुरुष हो, स्त्री हो या बिल्कुल न हो—इसके लिए भी क्रियाका और ओषधिका वर्णन उपनिषदोंमें है। सन्तान गौरवर्ण हो, हृष्ट-पुष्ट हो, बलिष्ठ हो—इसके लिए भी विधिका वर्णन है।

देखो, ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हमारे शास्त्र लौकिक विषयोंकी उपेक्षा करके उनको छोड़ देते हैं। उनका भी बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। यहाँतक कि गृहस्थाश्रममें पति-पत्नीके

समागमको भी यज्ञ बतानेवाले शास्त्र हमारे पास हैं और वे शास्त्र तान्त्रिक नहीं, साक्षात् वेद-उपनिषद् हैं। जहाँ यज्ञ-बुद्धिसे पञ्चाग्नि-विद्याका, पञ्चमाहुतिके आवाहनका वर्णन है, वहाँ कोई कहे कि हमारे शास्त्र लौकिक नहीं तो वहाँ उसका आक्षेप बिल्कुल व्यर्थ है। वे केवल परलोक हीके लिए नहीं, इहलोकको बनानेके लिए भी हैं।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, ब्रह्मचारी गुरु-दक्षिणा देनेके बाद चाहे तो गृहस्थ हो जाये, चाहे वानप्रस्थ हो जाये और चाहे संन्यासी हो जाये, लेकिन वह सबमें ईश्वरको देखे और अनुभव करे कि गुरुमें, आत्मामें, प्राणियोंमें सबमें ईश्वर बैठा हुआ है। अन्तमें ब्रह्मज्ञान होता है, परमात्माकी प्राप्ति होती है।

वानप्रस्थके नियमोंको बताते हुए कहते हैं कि बिना जोती हुई धरतीमें जो अन्न-फल पैदा होते हैं, उनको खाये और दर्श, पौर्णमास आदि यज्ञ करे। पर्णकुटी या गुहा केवल अग्निके लिए बनाये, अपनी सुख-सुविधाके लिए नहीं बनाये। उसको वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम बनानेकी जरूरत नहीं। थोड़ेमें ही बहुत अच्छी गुजर हो जाती है। अपने लिए कोई निर्माण नहीं किया जाता। वह वानप्रस्थ नियमका पालन करे। जब देखे कि उससे नियमका पालन नहीं होता तब बाहरवाली अग्निको भीतर कर ले और यह अनुभव करे कि जो वह खाता है, पीता है, उसका होम हो गया। इसके बाद उसे सब धातुओंका प्रविलयन कर देना चाहिए, ममता बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए। आकाशादिमें शरीरका प्रविलयन कर देना चाहिए। शरीरमें जो छिद्र हैं, वे आकाशमें चले गये, साँस वायुमें चली गयी, गर्मी तेजमें चली गयी, खून पानीमें मिल गया, अस्थि-माँसादि धरतीमें मिल गये—इस प्रकार स्थूल शरीरका लय करके, लिङ्ग-शरीरका भी लय कर देना चाहिए। वाणीका आगमें, पाँवका विष्णुमें, हाथका इन्द्र देवतामें तथा सब इन्द्रियोंका उनके अधिष्ठातृ अधिदेवतामें लीन कर देना चाहिए। अध्यात्मका भी लीन कर दे—चित्तका सत्त्वमें, गुणका वैकारिकमें और जीवका ब्रह्ममें। फिर मिट्टी पानीमें, पानी वायुमें, वायु अग्निमें—इस प्रकार क्रम-क्रमसे प्रधानको जीवमें लीन कर दे। बिना प्रधानके जीवकी भी सिद्धि नहीं होती। जीव ही प्रधानको जानता है। इसलिए उस जीवात्माको परमात्मामें लीन कर दे—

इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्। ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः॥ ३१

जब अपने आपमें अग्निका आरोप कर लेते हैं तब वानप्रस्थकी जगह संन्यासी हो जाते हैं। इस प्रकार क्रम-क्रमसे लय करनेके बाद चिन्मात्र और इष्ट शेष रह जाता है। अब जान लिया कि अद्वय तत्त्वके सिवाय, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके सिवाय और कुछ नहीं, अपना आप ही सब कुछ है। जब ईन्धन ही जल गया, ईन्धन ही नहीं रहा तो आग कहाँसे रहेगी?

: १३ :

अब नारदजी वर्णन करते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर, यदि वैराग्य हो, ज्ञानाभ्यासका सामर्थ्य हो तो संन्यास ग्रहण करना चाहिए—'कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य' (१)। किसी ऐरे-गैरेके लिए संन्यासाश्रम नहीं है। इसके लिए तो बहुत योग्य अधिकारी होना चाहिए।

शङ्कराचार्य भगवान्‌ने जैसे अधिकारीका निरूपण किया है, वैसे ही संन्यासी हों तो आज जो उनकी भीड़ दिखाई देती है, वह न दिखाई दे। उन्होंने तो बहुत थोड़े लोगोंके लिए संन्यासका अधिकार निरूपित किया है।

संन्यासीका कर्तव्य है कि वह एक गाँवमें एक रात्रितक ही निवास करे। चातुर्मास्यमें भले एक जगह रहे, लेकिन बाकी समयमें एक गाँवमें एक ही दिन रहे। पृथिवीपर विचरण करे। पहली बात तो यह है कि वस्त्र पहने ही नहीं। यदि पहने तो कौपीनके ऊपर एक छोटा-सा कटिवस्त्र धारण कर ले। संन्यासके दण्ड आदि जो लिङ्ग—चिह्न हैं, उनको छोड़कर दूसरी कोई चीज अपने पास न रखे। अकेले विचरण करे—आत्माराम, अनपाश्रय, सबके प्रति सुहृद् और नारायण-परायण होकर। यह देखे कि सब अपने और सबमें अपना आप है। सब ओर अपना आपा ही है, यह ब्रह्म ही है। रोज सोकर उठे और सोने लगे तो आत्मदृष्टिसे सबको देखे।

मृत्यु तो अपने आप आनेवाली है, उसका अभिनन्दन करनेकी जरूरत नहीं। उसको बुलाने या भगानेकी भी जरूरत नहीं। जब जो हो जाय सो हो जाय। अ-सत्-शास्त्रमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अपनी जीविकाके लिए कोई काम नहीं करना चाहिए। शास्त्रार्थमें कभी कोई पक्ष नहीं लेना चाहिए—

पक्षं कं च न संश्रयेत् । ७

इस बातका अर्थ यह है कि संन्यासी व्यवहारतः अनिर्वचनीय वादी है। परमार्थमें वह वाङ्मनसागोचर ब्रह्म है और व्यवहारमें सबसे विलक्षण अनिर्वनीय पक्षका महात्मा है। यदि वह सत् पक्ष और असत् पक्षको लेकर शास्त्रार्थ करता है तो अपने सिद्धान्तसे च्युत हो जाता है। इसलिए अनिर्वचनीय वादीको शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिए। ऐसी दृष्टि होनी चाहिए कि दोनों पक्ष अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं। क्योंकि जो जहाँ बैठा है, उसको वहाँसे वैसा ही दीखता है।

संन्यासीको अपने साथ ज्यादा शिष्य नहीं रखना चाहिए। बहुत ग्रन्थोंका अभ्यास नहीं करना चाहिए। व्याख्यान देकर अपनी जीविका नहीं चलानी चाहिए। संन्यासीको नये-नये आरम्भ, चन्दा करके बड़े-बड़े उत्सव नहीं करने चाहिए। संन्यासीका कोई आश्रम नहीं, वह उसके चिह्नोंको धारण करे या छोड़ दे—'बिभृयादुत वा त्यजेत्' (९)। मतलब यह कि दण्ड-वस्त्रादिको रखे और चाहे तो न रखे। 'अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थः' (१०)। उसको देखकर कोई पहचान न सके कि यह कौन है, इसका प्रयोजन क्या है ? वह विद्वान् होनेपर भी उन्मत्त बालकके समान रहे।

युधिष्ठिर, इस सम्बन्धमें महात्मा लोग प्रह्लाद और आजगर मुनिके संवादका उल्लेख करते हैं। आजगर मुनि दत्तात्रेयजीको कहते हैं। उन्होंने ही प्रह्लादको उपदेश किया है। यह प्रसङ्ग दूसरे स्थानपर भी आया है।

एक बार कावेरी नदीके तटपर, सह्य पर्वतकी तलहटीमें, एक महात्मा धरतीपर लेटे हुए थे। 'रजस्वलैस्तनूदेशैः' (१२)। उनके शरीरमें धूल लगी हुई थी, पर उनके भीतर तेज छिपा हुआ था। सहसा प्रह्लादजी अपने अनेक मन्त्रियोंके साथ वहाँ पहुँच गये। मुनिको देखते ही उनके मनमें आया कि यह जो दण्ड-कमण्डलु आदिसे, वर्णाश्रम आदिसे और आकृति-वाणी आदिसे पहचानमें नहीं आता; कहीं वही तो नहीं ? यह जो पञ्चमाश्रमी अवधूत है, कहीं वही तो नहीं ? शास्त्रमें इसका नाम अतिवर्णाश्रमी, जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, विष्णुभक्त, गुणातीत नाम आता है। 'सोऽसाविति न वेति च' (१४)। यह वही है कि कोई दूसरा है।

प्रह्लादने महात्माके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और वे उनसे ऐसे प्रश्न करने लगे कि यदि कोई छोटे दर्जेका आदमी हो तो तुरन्त ही नाराज हो जाये। प्रह्लादने कहा—देखनेमें तो आप बड़े मोटे-तगड़े लगते हैं, जैसे आप खूब भोग करते हों और आपके कल-कारखाने चलते हों—'सोद्यमो भोगवान्यथा' (१६)। जो उद्यम करता है उसके धन होता है, जिसके धन होता है, उसको भोग प्राप्त होता है और जो भोग करता है, वह मोटा होता है। परन्तु आप तो इस कावेरी नदीके तटपर, जहाँ भोगकी कोई सामग्री नहीं, नङ्ग-धड़ङ्ग सो रहे हैं। आप देखनेमें मोटे-तगड़े तो हैं ही, ऐसा लगता है कि होशियार भी बहुत हैं—'कविःकल्पो निपुणदृक् चित्रप्रिय-

कथः समः' (१८)। बातें भी आपकी बड़ी मीठी-मीठी हैं। सब लोग अपने-अपने काममें लगे हुए हैं, मजदूरी कर रहे हैं और आप चुपचाप सो रहे हैं, उसका क्या कारण है?

देखो, आजकलके लोग भी ऐसे लोगोंके बारेमें यही कहते हैं कि यह समाजपर भार है, कोई काम-धन्धा करते नहीं, अकर्मण्य हैं। यह सब सुनकर कई महात्मा नाराज हो जाते हैं, लेकिन दत्तात्रेय नाराज नहीं हुए।

उन्होंने मुस्कराकर कहा—अरे भाई प्रह्लाद! तुमने बड़े प्रेमसे बात पूछी। 'तद्वागमृत-यन्त्रितः (१९)—तुम्हारी यह बात मुझे बड़ी मीठी लगी। तुम जानते ही हो कि काम करनेमें और उपरामतामें, प्रवृत्तिमें और निवृत्तिमें कौन श्रेष्ठ है? क्योंकि तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है और भगवान् तुम्हारे अज्ञानान्धकारको दूर करते हैं। फिर भी तुम सुन लो। देखो, तृष्णा संसार-रूप नदीको बहाती रहती है। चाहे कितना भोग करो, 'उससे यह तृप्त नहीं होती। जीवको वह अनेक योनियोंमें ले गयी और उनमें भटकनेके बाद मनुष्य-योनि मिली। यह मनुष्य-योनि स्वर्ग और अपवर्ग दोनोंका दरवाजा है। यहाँ भी लोग काम-धन्धा तो बहुत करते हैं, सिर ठोंक-ठाककर दिन-रात खटते रहते हैं और चाहते हैं कि हमको दुःख न हो, सुख हो; परन्तु इन लोगोको कभी सुख देखनेको भी नहीं मिलता।

असलमें सुख बाहर नहीं, आत्माका स्वरूप है। निवृत्ति आत्माका शरीर है। इसलिए विषय और मनके संस्पर्शसे जो सुख-दुःख होता है, उसको छोड़कर मैं तो मौजसे सोता हूँ। प्रारब्धसे मनोरथ मात्रके भोग तो आते ही रहते हैं। लोग इस बातको न समझकर द्वैतबुद्धि करते हैं और संसारमें फँसते हैं। जलमें काई पैदा होती है और काईसे जल ढँक जाता है। फिर लोग जलके लिए मृगतृष्णाके पास जाते हैं, उनके पास जो जल है, उसको नहीं देखते।

यही दशा संसारी मनुष्योंकी है। वे इधर-उधर भटकते रहते हैं। उनके सब काम व्यर्थ होते हैं। उनको बारम्बार दुःख मिलता है। 'पश्यामि धनिनां क्लेशम्' (३१)—यह जो धनी लोग हैं, उनके क्लेशको मैं देखता हूँ। वे स्वयं नहीं जानते। लोभ उनके हृदयमें है और इन्द्रियाँ उनके वशमें नहीं। उनको भयके कारण निन्द्रा नहीं आती—'भयादलब्धनिद्राणाम्' (३१)। धनके लोभीको राजाका, चोरका, शत्रुका, स्वजनका, यहाँ तक कि अपने आपका डर लगा रहता है। बापको बेटेसे डर लगता है, बेटेको बापसे डर लगता है। बहूसे ससुर डरता है, ससुरसे बहू डरती है, भाईसे भाई डरता है। चारों ओर एक दूसरेके प्रति सन्देह अविश्वासका वातावरण है।

देखो, मैं बम्बईमें ऐसे करोड़पतियोंको जानता हूँ, जो रातको नींदकी गोलियाँ खाकर सोते हैं, बिना गोली खाये उनको नींद नहीं आती। जब उनके फर्ममें झगड़ा होता है, तब उनको सूझता है कि हाँ ईश्वर भी कुछ है, देवता भी कुछ हैं।

एक सेठ अपने साथ दस हजारके नोट लेकर कहीं जा रहे थे। रास्तेमें कहीं अलग रखकर

नलपर हाथ धोने लगे। कहींसे गधा आया, पूरा-का-पूरा नोटोंका बण्डल खा गया। इसी तरह एक दूसरे सेठके रुपयोंको चूहा अपने बिलमें खींचकर ले गया। उन्होंने पत्नीसे, बेटेसे, लड़ाई की कि तुम लोगोंने चुरा लिया है। अन्तमें उसकी तलाश हुई तो बिलमें-से निकला।

दत्तात्रेयजी कहते हैं कि इस तरह शोक, मोह, भय, क्रोध आदि धनके कारण आते रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यका काम यह है कि वह मस्त रहे। अपने सुख, अपनी प्रशंसाको ही सबसे बड़ी चीज समझे और धनकी स्पृहाको छोड़ दे। मैंने मधुमक्खी और अजगर दोनोंको अपना श्रेष्ठ गुरु बनाया है। इनसे मुझे वैराग्य और सन्तोषकी प्राप्ति हुई है।

मधुमक्खी कितने कष्टसे शहद इकट्ठा करती है, लेकिन लोग कम्बल ओढ़कर उसका सब मधु हर ले जाते हैं। यही गति धन इकट्ठा करनेवालेकी होती है। अजगरको भी सन्तोष रहता है, वह सोता रहता है और जो अपने-आप सामने आया; उसीसे अपना काम बना लेता है।

देखो, यह अवधूतोंकी बात है। इससे यह मत समझना कि इसमें घर-गृहस्थियोंको अनुद्योगी बनानेकी सलाह है।

प्रह्लाद, मुझे दिन या रातमें जब-जैसा, जो-कुछ श्रद्धा या अश्रद्धासे मिल जाता है, वह मैं खा लेता हूँ। जो कपड़ा मिल जाता है, वह पहन लेता हूँ। कभी धरतीपर तो कभी पलंगपर सो लेता हूँ। कभी नहा लेता हूँ, कभी अलङ्कार कर लेता हूँ। कोई मेरा मान करता है तो मैं उसकी स्तुति नहीं करता, कोई अपमान करता है तो उसकी निन्दा नहीं करता। क्योंकि मुझे मालूम है कि यह सब मायाका खेल है। सुख-दुःख तो मनको ही मालूम पड़ता है। इसलिए उस मनको ही अहङ्कारमें, अहङ्कारको मायामें, मायाको आत्मामें और आत्माको परमात्मामें डालकर, परमात्मासे एक होकर निवृत्त हो जाना चाहिए।

स्वात्मवृत्त मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्। ४५

मेरा जो आत्मचरित है; वह बड़ा गुप्त है। देखो, शास्त्रमें कहा गया है कि 'आत्मचरितं न प्रकाशयेत्'—आत्मचरित्रको कभी प्रकाशित नहीं करना चाहिए। अपनी गुप्त बातोंका भी वर्णन नहीं करना चाहिए और 'जीवतः कदाप्याशयो न वर्णनीयः'—जीवित व्यक्तिके आशयकी उपेक्षा न करके उसीसे पूछ लेना चाहिए।

इसलिए अवधूतजीने कहा मेरा चरित्र 'व्यपेतं लोकशास्त्राभ्याम्' (४५)। लौकिक और शास्त्रीय दोनों दृष्टिसे परेकी चीज है, फिर भी मैंने तुमको बता दिया।

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर प्रह्लादको अवधूत दत्तात्रेयसे परमहंस-धर्मका वर्णन सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उनकी पूजा करके लौट गये।

अब युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा कि महाराज, असलमें सुखी तो ये अवधूत लोग ही हैं। हम सम्राट् हो गये तो क्या हुआ ? क्योंकि हमें तो ऐसे सुखका दर्शन नहीं हुआ। इसलिए आप ऐसी कोई गति बताइये, जिससे हमलोगोंको भी यही मस्ती, यह आनन्द मिल जाये।

नारदजीने कहा—अच्छा, मैं तुमको एक ऐसी बात बताता हूँ कि आदमी रहे तो घरमें ही, लेकिन उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाये।

देखो, यह बात उन लोगोंके लिए बड़ी खुशीकी है, जो चाहते हैं कि घरमें रहते हुए ही हमको परमात्मा मिल जाये, परमानन्द मिल जाये। वैसे यह विचार बहुत बढ़िया है, घरमें परमात्मा मिल भी सकता है। लेकिन देखना यह है कि घरमें रहकर परमात्माको पानेकी जो इच्छा है, उसमें वासना तो नहीं समायी हुई है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप परमात्माको पाना चाहते हैं, लेकिन उसके लिए कुछ भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं ? यदि ऐसी बात है तो परमात्मा बेवकूफ नहीं है। युधिष्ठिर जहाँ भगवान्को घरमें ही पाना चाहते हैं, वहाँ उनका सारा जीवन भगवान्को समर्पित भी है।

नारदजी कहते हैं— युधिष्ठिर, घरमें भगवत्प्राप्ति चाहनेवाला अपने सारे कर्तव्य कर्म करे, परन्तु 'वासुदेवार्पणं साक्षात्' (२)—भगवान्को अर्पण करके करे। सत्सङ्ग कभी न छोड़े। हमेशा भगवान्की लीला-कथाका श्रवण करे—इस श्रद्धाके साथ कि यह लीला-कथा नहीं, अमृत है। सत्सङ्ग द्वारा संसारकी आसक्तिको छोड़ दे। घरमें विरक्त रहनेपर भी अनुरक्त ही रहे। जितना प्रयोजन हो, उतना ही स्वीकार करे।

विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः। ४

संसारके सम्बन्धी तो अपने-आप छूटते जा रहे हैं। इनको छोड़नेकी क्या जरूरत है ? जैसे जो मार्गमें चल रहा होता है अथवा नदीमें बह रहा होता है, उसके सब विश्रामस्थल, सब घाट अपने आप ही छूटते जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें पड़े हुए मनुष्यके सब सम्बन्ध अपने-आप ही छूटते जा रहे हैं। मनुष्यको जितना प्रयोजन देह-गेहमें हो, उसे उतना ही बर्ताव करना चाहिए। जो लोग अपनेको मनुष्य मानते हैं, उनके बीचमें अपनी मनुष्यता डाल देनी चाहिए। भीतरसे विरक्त रहना चाहिए, लेकिन बाहरसे रागीकी तरह व्यवहार करना चाहिए। अपनी ओरसे कोई जिद नहीं करनी चाहिए। जिद वासनाका लक्षण है। प्रबल वासनावान् व्यक्ति ही अपनी जिदके आगे दूसरेकी सुनना पसन्द नहीं करता। जो मेरी-मेरी-मेरीकी रट लगाये रहता है, वही संसारी है। इसलिए मनुष्यको अपनी जिद छोड़ देनी चाहिए और रास्तेमें चलते हुए रिश्तेदार-नातेदार मिल जायें, कहें कि इधरसे मत चलो, उधरसे चलो अथवा यहाँ बैठ जाओ तो उनकी बात मान लेनी चाहिए—

यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः। ६

घरमें बेटा होता है, बहू होती है या और दूसरे होते हैं, उनसे कोई आसक्ति न रखें, ममता न करें और वे जैसा कहें, वैसा कर दें। क्योंकि उसकी अपनी तो कोई वासना ही नहीं, जैसा घरवाले कहें, वही सही। घरमें हमारा जो कूड़ा छोड़ा हुआ है, फेंका हुआ है, उसको अगर कोई अपने खेतमें डालकर उसकी खाद बना लेता है तो इसमें हमको क्या आपत्ति है? हमारा यह शरीर तो छोड़े हुए कूड़ेके समान ही है।

किसीने एक महात्मासे पूछा कि आप रात-दिन 'राम-राम, कृष्ण-कृष्ण' क्यों करते रहते हैं? आपको क्या चाहिए? क्योंकि आप तो मुक्त हैं, ब्रह्म हैं। इसपर महात्मा बोले कि भैया, मैंने शरीर, इन्द्रिय, मन—सबको अनात्मा जानकर और यह मानकर कि 'ये न मैं हूँ और न ये मेरे हैं'—छोड़ दिया था। लेकिन बीचमें ही इनको 'राम-कृष्ण' लूट ले गये। अब जब वे मुझसे अपना नाम लिवा रहे हैं तो मैं क्या करूँ? अब उनके काम आने दो इन सबको।

नारदजी कहते हैं—इस संसारमें जो दिव्य, भौम अन्तरिक्ष आदि हैं, सब भगवान्‌की रचना हैं। उतने-से उतनेपर ही मनुष्यका अधिकार है, जो प्रारब्धसे उसको प्राप्त हो। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि जिना हम खा लेते हैं, उतना ही हमारे हकका है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ ८

देखो, भागवतका यह श्लोक भारतमें कम्युनिज्म आनेके बाद नहीं लिखा गया, यह तो पहलेसे ही है। ज़बसे श्रीमद्भागवत मिलता है, तबसे इसमें यह श्लोक भी मिलता है। इसका अर्थ है कि मनुष्यका सम्पत्तिपर उतना ही अधिकार है, जितने-से उसका भरण-पोषण हो जाये। जो इससे अधिकको अपना मानता है और कहता है कि यह भी मेरा, वह भी मेरा—वह स्तेन है, चोर है और दण्डका पात्र है। कहनेका अभिप्राय यह कि तुम संसारकी वस्तुओंके केवल संरक्षक हो सकते हो, सेवक हो सकते हो, परन्तु तुम्हारा स्वामित्व नहीं हो सकता। जैसे सारी प्रजा भगवान्‌की है, वैसे ही सब-की-सब वस्तुएँ भी भगवान्‌की हैं। जिसकी गङ्गाजी हैं, उसीकी चिड़ियाँ हैं। एक सन्त कविने कहा है—'राम दी चिड़िया राम दा खेत। खाओ चिड़िया भर-भर पेट।' इसमें अपना-पराया कुछ है नहीं। भगवान्‌की गङ्गामें कोई पानी पीता है तो तुम रोकनेवाले कौन हो?

इस संसारमें जितने भी जीव हैं, पशु-पक्षी हैं—जैसे मृग, ऊँट, खर, बन्दर, चूहा, केंचुआ, चिड़िया, मक्खी आदि—ये सब अपने बच्चे-सरीखे ही हैं। देखो, खटमल, जूँआ आदि क्या हैं? सब अपने पसीनेसे ही तो पैदा होते हैं। असलमें ममता ही दुःख देती है, इसलिए देश-कालके अनुसार बर्ताव कर लेना चाहिए। जो श्वपच हैं, चण्डाल हैं, उनकी कामना भी पूर्ण होनी चाहिए—

कामान्संविभजेद् यथा। ११

देखो, यहाँ एक बड़ी विलक्षण बात कही हुई है। ऐसी बात शायद ही किसी दूसरे शास्त्रमें मिले। कहते हैं कि—'अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः' (११) अर्थात् अपनी पत्नीको भी दूसरोंकी सेवामें लगा देना चाहिए। क्योंकि मनमें पत्नीके प्रति बड़ी भारी ममता होती है।

जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः॥ १२

लोग स्त्रीके लिए अपना प्राण छोड़ देते हैं। अपने पिता और गुरुकी भी हिंसा कर डालते हैं। ऐसी पत्नीपर, जिसने अपना यह स्वत्व छोड़ दिया कि यह मेरी है और मैं इसका हूँ तथा उसके प्रति अपनी ममता छोड़ दी, उसने अजितको भी, परमात्माको भी जीत लिया।

युधिष्ठिर, यह शरीर एक दिन कीड़ा होनेवाला है, विष्ठा होनेवाला है या भस्म होनेवाला है। यह शरीर अत्यन्त तुच्छ है। फिर कहाँ तो ऐसे तुच्छ शरीरमें रमना, कहाँ पत्नीको अपना मानना और कहाँ अपना अनन्त आत्मा? वह आत्मा कितना बड़ा है, जो आकाशको ढँककर बैठा हुआ है—'क्वायमात्मा नभश्छदि (१३)?

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥ १४

युधिष्ठिर, गृहस्थको चाहिए कि पहले यज्ञ करे, लोगोंको खिलाये और फिर खुद खाये। खानेके बाद घरमें जो बचा रहता है, उसको अपना नहीं समझो। ऐसा करनेपर घर-गृहस्थीमें रहते हुए भी जो पदवी अवधूतोंको मिलती है, वह मिल जाती है।

गृहस्थको देवता-ऋषि-पितरोंकी पूजा करनी चाहिए। अपने-अपने अधिकारके अनुसार यज्ञ करना चाहिए। भगवान् अग्नि और ब्राह्मणके मुँह द्वारा भोजन करते हैं। मास-मासमें, तिथि-तिथिमें श्राद्धके जो विधान हैं, वह सब करने चाहिए। स्नान, जप, होम, व्रत, देव, द्विजार्चन, यह मनुष्यका धर्म है। यह घरमें रहकर करना चाहिए। संस्कार सब करने चाहिए। दानमें न तो देशकी प्रधानता है और न कालकी, इसमें प्रधानता है पात्र की। 'सत्पात्रं यत्र लभ्यते' (२७)। जहाँ सत्पात्र, सदाचारी, त्यागी और देने योग्य व्यक्ति मिल जायें—वही दानका देश है, वही दानका काल है। जहाँ भगवान्‌की मूर्ति है ब्राह्मण-वंश है, वहाँ भगवान्‌की पूजा होती है। जहाँ-जहाँ पुष्करादि सरोवर हैं, नैमिषारण्य है और वाराणसी, मधुपुर आदि क्षेत्र हैं, पर्वत हैं, वहाँ-वहाँ भगवान्‌की पूजा होती है। ऐसे सब देश उत्तम हैं।

परन्तु सत्पात्रकी प्राप्ति सर्वोपरि है। असलमें सत्पात्र मनुष्य नहीं होता। वह तो स्वयं भगवान् होता है और उसे ही भगवान्‌की वस्तु दी जाती है—'पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः' (३८)। तुम अपने इसी राजसूय यज्ञकी बात देखो। यहाँ जब पात्रापात्रका विचार हुआ तब क्या हुआ? यही हुआ कि ब्राह्मणों, और ऋषि-महर्षियोंके उपस्थित रहनेपर भी

अग्रपूजाके लिए भगवान् श्रीकृष्णको ही चुना गया—'राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः' (३५)। इसका अभिप्राय ही यह है कि जिसको दान दिया जाये, उसको भगवद्भावसे दिया जाये।

देखो, आजकल दान देनेके पीछे स्वार्थभावना काम करती है। लोग उन्हीं ब्राह्मणोंको दान देते हैं जिनसे उनका स्वार्थ होता है। कई जगह तो लोग अपने रसोइयोंको ही दान दे देते हैं कि यह और भी अच्छी रसोई बनायेगा। लेकिन यह ठीक नहीं। जब आप दान करें तब यह देखें कि जिसको हम दान दे रहे हैं, वह भगवत्स्वरूप है और उसको जो वस्तु दे रहे हैं, वह भगवान्की है। मैंने इसे अपनी मान लिया था, यह बहुत बड़ा अपराध हुआ। अब भगवान्की चीज भगवान्को देते हैं। बस, इसीका नाम दान होता है।

तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्। ३६

युधिष्ठिर, इस संसार-वृक्षके मूल भगवान् हैं। इसलिए भगवान्की पूजा करना सर्वजीवात्माकी तृप्ति है। अनेक प्रकारकी सृष्टियाँ हैं। इनमें भगवान्के छोटे-बड़े अनेक शरीर हैं और उन सबमें भगवान् रहते हैं।

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥ ३९

पहले मनुष्यकी ही पूजा की जाती थी। परन्तु पूजा करनेवाले यह नहीं देखते कि आज ठण्डका दिन है, पानीसे भींगा हुआ फूल लाकर पूज्यके शरीरपर डाल देंगे और माघ मासमें चन्दन लाकर सिरमें लगा देंगे। भले ही पूज्यको अपच क्यों न हुआ हो, लेकिन उनको खीर-पूड़ी खिला देंगे। ऐसी पूजा करनेवाले तो पूज्यका अपमान ही करते हैं, तिरस्कार ही करते हैं। इसलिए महात्माओंने कहा कि बेटा। अभी तुम हमारी पूजा मत करो। थोड़े दिन भगवान्की प्रतिमाकी पूजा करके अपने हृदयमें पहले भाव जगा लो। जब भाव जग जायें तब तुमको मनुष्यके शरीरमें भगवान्की पूजा करनेका अभ्यास होगा। तभीसे अर्थात् त्रेता युगसे भगवान्ने अर्चावतार ग्रहण किया और उनकी प्रतिमा-पूजाकी परम्परा चली। भगवान्के अनेक प्रकारके अवतारोंमें एक अर्चावतार भी है। वे शालग्रामके रूपमें मूर्तिके रूपमें प्रकट हुए और लोग उनकी पूजा करने लगे। यह बहुत अच्छा है; क्योंकि शालग्राम अथवा अन्य मूर्तियाँ भगवान् ही हैं।

उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्। ४०

परन्तु यदि कोई मनुष्य दूसरे मनुष्यसे तो द्वेष करे और मूर्तिमें भगवान्की पूजा करे तो उसकी वह पूजा सफल नहीं होगी। जो मनुष्यमें विद्यमान भगवान्के साथ द्वेष करता है, उसके द्वारा मूर्तिमें की हुई पूजा अर्थद नहीं होती। पुरुषोंमें भी ब्राह्मण सुपात्र हैं, क्योंकि वे तपस्या, विद्या, सन्तोषके द्वारा भगवान्के शरीर वेदको धारण करते हैं। ये ब्राह्मण लोग तो अपनी चरण-धूलिसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करते हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी इनको अपना देवता मानते हैं। ॐ

: १५ :

नारदजी आगे वर्णन करते हुए कहते हैं कि युधिष्ठिर, ब्राह्मण तो बहुत होते हैं—कोई कर्मनिष्ठ, कोई तपोनिष्ठ, कोई स्वाध्यायनिष्ठ, कोई प्रवचननिष्ठ। लेकिन ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण सबसें श्रेष्ठ है। क्योंकि वह तत्त्व-चिन्तनमें ऐसा लगा रहता है कि उसको अपने खाने-पीनेकी भी फिक्र नहीं रहती। इसलिए ऐसे ब्राह्मणको खिलाना परमधर्म है।

यहाँ किस कर्ममें कितने ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए, यह बताते हुए नारदजी कहते हैं कि यदि देवताका कार्य हो तो ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए, पितरका कार्य हो तो तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए अथवा दोनोंमें एक-एक ब्राह्मणको ही भोजन कराना चाहिए। किन्तु अत्यन्त धनवान् होनेपर भी श्राद्ध-कर्ममें विस्तार नहीं करना चाहिए—'सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्' (३)। धर्मका काम दो बातोंसे बिगड़ता है—

सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात् । ४

एक तो छोटे कामको बढ़ा दिया जाये तब धर्मका काम बिगड़ जाता है और दूसरे धर्ममें अपने रिश्तेदारों-नातेदारोंका ख्याल ज्यादा रखा जाये तब भी वह बिगड़ जाता है। इसलिए देश-कालके अनुसार जो कुछ पवित्र अन्न प्राप्त हो, उसीके द्वारा श्राद्धादि कर्म सम्पन्न करना चाहिए। सबको परमात्म-भावसे अन्न बाँटना चाहिए। मांसादिका प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए। सृष्टिमें अहिंसासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८

किसी भी प्राणीको मन, वाणी अथवा शरीरसे दण्ड नहीं देना चाहिए। सद्धर्म चाहनेवालोंके लिए सबसे बड़ा धर्म यही है। इसीलिए कई लोग कर्म-यज्ञ न करके आत्मसंयम-यज्ञ करते हैं और ज्ञानदीप्त आत्मसंयमनमें सबका हवन कर देते हैं। हमेशा सन्तुष्ट रहकर अपने धर्मका पालन करना चाहिए। धर्म-पालनमें बाधा नहीं डालनी चाहिए। किसीके धर्मबाध भी अधर्म ही है। जो धर्म दूसरेके लिए उपदिष्ट है, उसका पालन नहीं करना चाहिए। जो मन्त्र अथवा कर्म अपने लिए हो, उसीका अनुष्ठान करना चाहिए। पाखण्ड नहीं करना चाहिए, दम्भ नहीं करना चाहिए और बोलनेमें छल नहीं करना चाहिए। सच्चे धर्मका पालन करनेवालेको सब कुछ मिल जाता है।

अब यह बताते हैं कि यदि आपके पास धन न हो और आप यह सोचते हों कि हमें धर्म करनेके लिए धन चाहिए तो यह ठीक नहीं। क्योंकि आप बिना धनके भी धर्म कर सकते हैं, व्रत कर सकते हैं, तप कर सकते हैं और जप कर सकते हैं। इसलिए आप धन इकट्ठा करके ही धर्म करेंगे, यह बात मत सोचिये।

'धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम्' (१५)—धर्मात्मा लोग निर्धन होनेपर भी धर्मके लिए अथवा जीवन-यात्राके लिए धनका चन्दा नहीं करते। क्योंकि जैसे निश्चेष्ट अजगरकी जीविका चलती रहती है, वैसे ही निर्वासित पुरुषकी अनीहा ही उसके पास भोजन ला देती है—

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा । १९

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।
दासमलूका कह गये सबके दाता राम ॥

जिसका मन सन्तुष्ट है, उसके लिए सब जगह सुख है। जिसके पाँवमें जूता है, उसको काँटा गड़नेका कोई डर नहीं। जब जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियकी वासना प्रबल हो जाती है तब मनुष्य कुत्ता बन जाता है। जो असन्तुष्ट होता है, उसकी सारी पढ़ाई-लिखाई व्यर्थ समझो, क्योंकि उसके इन्द्रियकी लोलतासे उसका सब कुछ, यहाँतक कि उसका ज्ञान भी बिखर जाता है—

स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते । १९

मनमें प्रबल कामवासना होनेपर भी यदि भूख-प्यास लग जाये तो वह कामवासना बिखर जाती है। इसी तरह क्रोध आनेपर यदि दो गालियाँ दे दीं और दो चाँटे मार दिये तो क्रोध भी निवृत्त हो जाता है। परन्तु लोभ ऐसा रोग है कि वह जितना-जितना पूरा होता है, उतना-उतना बढ़ता जाता है। असन्तोषके कारण बड़े-बड़े विद्वानोंकी भी अधोगति होती है। इसलिए जैसे रोग-निवारणकी ओषधियाँ होती हैं, वैसे ही कामपर विजय प्राप्त करनेका उपाय यह है कि संकल्प मत करो। क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका उपाय यह है कि कामना मत करो। धनसे क्या-क्या अनर्थ होते हैं—इसपर विचार करनेसे लोभपर विजय प्राप्त हो जाती है। तत्त्वपर विचार करनेसे, असलियतका पता लगनेसे भय दूर हो जाता है। आन्वीक्षिकी अर्थात् तत्त्व-विद्यासे शोक-मोह दूर हो जाता है। महापुरुषोंकी उपासनासे दम्भ दूर हो जाता है। मौनसे, योगसे विघ्न दूर होते हैं।

देखिये, इसका अर्थ यह है कि यदि आपको कभी किसी देवताका दर्शन हो, कोई सिद्धि आये, चमत्कार दिखाई पड़े तो उसे बताना नहीं चाहिए यदि आप बता देंगे तब तो आपके साधनमें विघ्न पड़ जायेगा। किन्तु मौन धारण करके रहेंगे तो आपका साधन बढ़ जायेगा—'योगान्तरायन् मौनेन' जब कोई सिद्धि आनेपर मुँह खुल जाता है तब वह सिद्धि चली जाती है।

शरीरको निश्चेष्ट रखकर हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिए। सबके ऊपर कृपा करनी चाहिए—यहाँतक कि जो सता रहा हो, उसके ऊपर भी। समाधि लगाकर दैव-दुःखको जीतना चाहिए। कभी वर्षा हो रही हो, बिजली कड़क रही हो और उससे बचनेका दूसरा कोई उपाय न हो तो समाधि लगाकर बैठ जाना चाहिए।

आगे बताते हैं कि जीवनमें चाहे कितने भी विघ्न हों, किन्तु उन सबपर गुरु-भक्तिके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। गुरुको कभी मनुष्य नहीं समझना। ये ज्ञानका दीपक हाथमें लेकर तुम्हें मार्ग दिखानेके लिए आये हैं। जो लोग उनको मनुष्य समझते हैं, उनका पढ़ना-लिखना वैसा ही व्यर्थ है, जैसे हाथीका स्नान। गुरुदेव तो साक्षात् प्रधानं पुरुषेश्वर हैं। बड़े योगेश्वर इनके चरणारविन्दको ढूँढ़ते रहते हैं।

सब साधनोंका फल यही है कि इन्द्रियाँ वशमें हों। जो वस्तु योगसे सिद्ध होती है, वही सबसे बड़ी है और उसके लिए मनुष्यको हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इसके बाद नारदजीने यह साधन बताया कि पवित्र देशमें बैठकर कैसे भगवन्नामका उच्चारण करना चाहिए, प्राणायाम करना चाहिए और जबतक मनमें-से वासनाएँ न निकल जायें, तबतक उसका अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास करनेपर धीरे-धीरे चित्त परब्रह्ममें मग्न हो जाता है और फिर चञ्चल नहीं होता।

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥ ३६

जो त्रिवर्ग अर्थात् अर्थ, धर्म और कामको छोड़कर घरसे निकल जाते हैं, संन्यासी हो जाते हैं और फिर लौटकर अर्थ, धर्म, कामके सेवनमें ही लग जाते हैं, वे तो वान्ताशी है। वान्ताशीका अर्थ होता है उगले हुएको खानेवाला। जैसे कुत्तेका यह स्वभाव है कि वह के कर देता है और फिर के किया हुआ खा लेता है, वैसे ही छोड़े हुएको फिर ग्रहण करनेवाला वान्ताशी है, अपत्रप है, निर्लज्ज हैं। संन्यासी होनेके बाद छोड़े हुए पदार्थोंका सेवन करनेकी कोई जरूरत नहीं। संन्यासीको तो परमात्माका चिन्तन करना चाहिए। जिन्होंने अपने शरीरको अनात्म', मृत्युग्रस्त, विष्ठा, कृमि एवं राख समझ लिया था—वे ही फिर उसे आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं तो समझो कि वे महामूढ़ हैं। जो गृहस्थ होकर कर्मका त्याग करे, ब्रह्मचारी होकर व्रतका पालन न करे, वानप्रस्थ होकर गाँवकी सेवा करे और संन्यासी होकर इन्द्रियलोलुप हो तो उनसे चारों आश्रमोंका सत्यानाश हो जाता है। उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए और समझना चाहिए कि वे मायाके चक्करमें पड़ गये हैं। जिसने अपने आत्माको परमात्माके रूपमें जान लिया, उसके अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है—

आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः । ४०

जब आत्माको परमात्माके रूपमें जान लिया तब 'किमिच्छन्कस्य वा हेतोः' (४०)—'किमिच्छन्कस्य कामाय, किं विषयजातं इच्छन् कस्य वा भोक्तुः कामाय' अर्थात् ऐसा कौन-सा विषय है, जिसकी तुमको इच्छा हो रही है और तुम किस भोक्ताको तृप्ति देना चाहते हो। अपनेको परमात्मा अनुभव कर लेनेके बाद न तो कोई विषय सच्चा रहा और न कोई भोक्ता सच्चा रहा। भोक्ता और भोग्य दोनों मारे गये। फिर तुम क्यों अभी देहके कोशमें लगे हुए हो ?

नारदजी मनुष्य शरीरका रूपक बताते हुए कहते हैं कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियां घोड़े हैं, बुद्धि सारथि है, मन बागडोर है, धर्माधर्म चक्र हैं। साहंकार जीव रथ है। प्रणव धनुष है। शुद्ध जीव शर है, परब्रह्म लक्ष्य है। जैसे लक्ष्यमें बाण मारते हैं, वैसे ही प्रणवके द्वारा अपने जीवको ब्रह्ममें मारो। अपने शत्रुओंको पहचानो। इस जीवनको बिल्कुल सफल करो। नहीं तो तुम्हारे शरीररूपी रथमें जो इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं, वे डाकू हैं और तुम्हें संसारके कुएँमें गिरा देंगे।

प्रवृत्तिमार्गसे संसार और निवृत्तिमार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वापी-कूपादि, वैश्वदेव, बलिहरण, पशुयाग ये सब मनुष्यको प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं। उनके द्वारा लोक-परलोकका भोग करनेके लिए मनुष्य फिर संसारमें गिरता है और संस्कार आदि बन जाते हैं।

इसलिए इन्द्रियोंको मनमें, मनको वाणीमें, वाणीको वर्ण-समुदायमें, वर्ण-समुदायको ओंकारमें, ओंकारको नादमें और नादको प्राणमें न्यस्त कर देना चाहिए। फिर निवृत्तिमार्गमें

चला जाना चाहिए। इस मार्गको जो शास्त्र-दृष्टिसे भी जान लेता है, वह देहमें रहकर भी मुग्ध नहीं होता—'शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति' (५६)।

जितने भी शरीर हैं, इनके आदिमें भी परमात्मा है, अन्तमें भी परमात्मा है, बाहर भी परमात्मा है, भीतर भी परमात्मा है, इनका कार्य भी परमात्मा है और कारण भी परमात्मा है। ज्ञान-ज्ञेय, वचन-वाच्य, अन्धकार और प्रकाश सब कुछ परमात्मा। 'अयं स्वयम्' (५७)—जो तत्वज्ञ महापुरुष है; वही सब कुछ हैं। जैसे भली भाँति बाधित होनेपर भी आभासादि वस्तुके रूपमें दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंसे दीखनेवाली सृष्टि परमात्मामें बाधित होनेपर भी दिखाई पड़ रही है।

परमात्मामें क्षित्यादिकी किञ्चित् भी छाया नहीं। वह न परमाणुओंका सङ्घात है, न प्रकृति आदिका विकार है, न परिणाम है और न संसार परमात्मासे पृथक् है, न अन्वित है। इसलिए परमात्माके स्वरूपमें यह बिल्कुल मृषा है। जब अवयवी ही सिद्ध नहीं होता तो अवयवकी सिद्धि कहाँसे होगी ? जैसे स्वप्नमें सृष्टि मालूम पड़ती है, जागना-सोना मालूम पड़ता है—'जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने' (६१)—वैसे ही शास्त्रके विधि-निषेध भी स्वाप्निक विधि-निषेध ही हैं। इसलिए मनुष्यको अपनी अनुभूतिके द्वारा भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत इन तीनोंको वशमें करके भून डालना चाहिए।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः॥ ६२

जो घड़ा है, वही माटी है और जो माटी है, वही घड़ा है। यदि तुम्हें पानी पीना है तो घड़ेसे लाकर पीओ। लेकिन यदि तत्त्वका निरूपण करना हो तो कार्य और कारणमें एक ही वस्तु है। जो कपड़ा वही सूत, जो सूत वही कपड़ा। दोनों ही एक-दूसरेसे अलग नहीं हैं। व्यावहारिक तो है, परन्तु अवस्तु है। इस दृष्टिमें स्थित होनेका नाम भावाद्वैत है, मन-वाणी-शरीरसे जितने भी कर्म होते हैं, उनको परब्रह्ममें अर्पित कर देनेका नाम क्रियाद्वैत है और देह, पत्नी, पुत्रादि सम्पूर्ण प्राणियोंका स्वार्थ एवं भोगमें जो ऐक्य-दर्शन है, उसका नाम द्रव्याद्वैत है।

इस प्रकार वर्णन करके अन्तमें श्रीनारदजी महाराजने कहा कि राजा युधिष्ठिर, तुम लोग धन्य हो, जो स्वयं भगवान् तुम्हारे घरमें आकर भिन्न-भिन्न विपत्तियोंसे तुम्हारी रक्षा करते हैं और तुम्हारी पूजा-ग्रहण करते हैं। यह सत्संगकी ही महिमा है।

मुझको ही देखो, मैं पूर्वजन्ममें एक उपबर्हण नामका गन्धर्व था। बड़ा सुन्दर था। 'स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरुलम्पटः' (७०)—स्त्रियाँ मुझसे प्रेम करती थीं और मैं भी अत्यन्त मतवाला तथा लम्पट था। एक दिन किसी विश्वस्रष्टा महात्माने हरिगाथाका गान करनेके लिए मुझको बुलाया। मैं वहाँ अपने साथ रहनेवाली स्त्रियोंको लेकर गया। इसपर विश्वस्रष्टाने

मुझे शाप दे दिया कि तुम इतनी स्त्रियोंको लेकर आये हो, तुमने हमारा तिरस्कार किया है। इसलिए जाओ, तुम्हारी शोभा चली जाये। उसके बाद मैं दासीके गर्भसे पैदा हुआ। वहाँ ब्राह्मणोंके घरमें आये हुए महात्माओंकी सेवा करके और भगवान्‌की आराधना करके सत्संगके प्रभावसे मैं फिर भगवान्‌के पार्षदोंमें आगया। इस प्रकार सन्तोंकी अवहेलना और सेवाका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है।

युधिष्ठिर, मैंने जिस गृहस्थ-धर्मका वर्णन किया है, वह साधारण गृहस्थ-धर्म नहीं है। 'गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात्' (७४)। यह वह गृहस्थ धर्म है, जिसका पालन करनेसे उस पदवीकी प्राप्ति हो जाती है, जो संन्यासोचित तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेपर प्राप्त होती है।

युधिष्ठिर, इस दृष्टिसे भी तुम अत्यन्त भाग्यशाली हो कि तुम्हारे घरसे लोक-पावन मुनिजन आते हैं। इसलिए आते हैं कि तुम्हारे घरमें साक्षात् गूढ़ परब्रह्म छिपकर मनुष्यके रूपमें रहता है। यह वही ब्रह्म है, जिसको महात्मा लोग ढूँढ़ा करते हैं। वह तुम्हारा सम्बन्धी, प्रिय, सुहृद, मातुलेय, आत्मा, अर्हणीय विधिकृत् बनकर तुम्हारे घर बैठा हुआ है। जब तुम लोग कहते हो कि श्रीकृष्ण, तुम हमारा यह काम कर दो तो वह झटसे बच्चोंकी तरह तैयार होकर दौड़ा आता है और तुम्हारा काम कर देता है। जैसे वह तुम्हारा कोई नौकर हो तुम्हारे हुक्ममें तो देरी होती है, लेकिन उसकी ओरसे तुम्हारा हुक्म बजानेमें देरी नहीं होती। वह तुम्हारा सब कुछ बननेके लिए तैयार है—सम्बन्धी भी, गुरु भी, सेवक भी। धन्य हो तुम लोग!

अन्तमें नारदजी कहते हैं कि शंकर और ब्रह्मादि जिनके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते, वे भगवान् हमपर प्रसन्न हों। हम भी यथाशक्ति उनकी पूजा करें।

इस प्रकार देवर्षि नारदका प्रवचन सुनकर युधिष्ठिरको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने देवर्षिकी श्रद्धापूर्वक पूजा की और उनके द्वारा यह सुनकर कि हमारे श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही!

❀

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

अष्टम स्कन्ध

प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अष्टम स्कन्ध

आठवें स्कन्धको मन्वन्तर-स्कन्ध कहते हैं। प्रकृत्यादिरूप सृष्टि किस तरह बनती है, उससे ईश्वरकी सिद्धि किस प्रकार होती है और कर्मानुसार विशेष-विशेष आकृतियाँ कैसे बनती हैं, इन सबका वर्णन आठवें स्कन्धमें है।

विसर्ग भी सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा ही मिलना चाहिए और इससे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। आकाशमें जो कोटि-कोटि ग्रह, नक्षत्र और ब्रह्माण्ड देखनेमें आते हैं, उनका धारण परमात्माकी शक्तिके बिना नहीं हो सकता। जब सृष्टि सूखने लगती है, तब इसका पोषण—इसपर अनुग्रह—करनेवाले भी भगवान् ही हैं। भिन्न-भिन्न वासनाओंके अनुरूप मनुष्यकी जो गतियाँ होती हैं, उनमें भी भगवान् ही हेतु हैं। बिना सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरके, सृष्टिकी व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

इसमें काल-गणनासे यह बताया गया है कि वैराग्य करना जरूरी है। मन्वन्तर, कल्प आदिकी गणना होनेपर सृष्टि बहुत छोटी हो जाती है। प्रकृतिके जो चौबीस तत्त्व हैं—क्रिया-प्रधान धर्म हैं, उनका सद्धर्मके नामसे वर्णन है। मन्वन्तरका अर्थ भी सद्धर्म बताया गया है। सत्पुरुषोंने जो धर्म स्थापित किया है, वही सद्धर्म है। जो प्रकृतिसे छुड़ानेवाला धर्म है, वह सद्धर्म है।

इसीसे इस स्कन्धमें चौबीस अध्याय हैं, जिनमें प्रकृतिके चौबीस बन्धनोंसे मुक्त करनेके लिए धर्मकी चौबीस प्रक्रियाएँ बतायी हुई हैं। उनमें पहली प्रक्रिया है हरिसंस्मरण—भगवत्स्मरण। वह सबसे बड़ा धर्म है। उसीसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सबकी प्राप्ति होती है। इन सबका वर्णन पहलेके चार अध्यायोंमें आया है और इनमें बताया गया है कि चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करानेवाला भगवत्स्मरणरूप धर्म है। इन चारों अध्यायोंमें पहले मनुजी उपस्थित होते हैं।

उसके बादके दस अध्यायोंमें दान-धर्मका निरूपण है। उसमें भगवान् भी दान करता है, जीवात्मा भी दान करता है, प्रकृति भी दान करती है। दान-ही-दान है।

तत्पश्चात् नौ अध्यायोंमें प्रतिज्ञा-पूर्तिका वर्णन है। जो प्रतिज्ञा कर ली, उसको पूरा करना सद्धर्म है। बलिके चरित्रसे वह बात बतायी गयी है।

अन्तिम एक अध्यायमें मत्स्य-चरित्र है। मत्स्य-चरित्रमें सब धर्मोंका मूल सार है। इसलिए भगवान् मत्स्यावतार ग्रहण करके ज्ञानकी तथा सम्पूर्ण द्रव्योंकी रक्षा करते हैं। ज्ञानकी रक्षा माने वेदकी रक्षा और द्रव्यकी रक्षा माने वीर्यकी रक्षा। इन दोनोंका प्रसङ्ग अन्तिम चौबीसवें अध्यायमें आया है।

अब राजा परीक्षितने श्रीशुकदेनजी महाराजसे प्रार्थना की कि आपने स्वायम्भुव मनुके वंशका तो विस्तारसे वर्णन किया, किन्तु मुझे केवल स्वायम्भुव मनुका वंश-वर्णन ही नहीं सुनना है, मुझे तो आप भगवान्‌की वह सब लीला-कथाएँ सुनाइये, जो स्थान-स्थानपर अतीतमें हुई हैं या आगे होनेवाली हैं। भगवान्‌ने अनेक-अनेक रूप धारण करके क्या-क्या लीलाएँ कीं, वह सब मैं आपके श्रीमुखसे सुनना चाहता हूँ गुरुदेव !

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सुनो। मनुजीने सुनन्दा नदीके किनारे एक पाँवसे धरतीपर खड़े होकर बड़ा भारी घोर तप किया। उस समय वे उपनिषद्‌के इन मन्त्रोंका पाठ करते थे—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः॥ ९
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १०

जिसकी सत्तासे, जिसके ज्ञानसे यह विश्व जाग्रत् हो रहा है; वह विश्वसे प्रकाशित नहीं होता, विश्व उससे प्रकाशित होता है। विश्वके सो जानेपर, महाप्रलयके बाद भी वह जागता रहता है। जीवात्मा उसको नहीं जानता, संसार उसको नहीं जानता, लेकिन वह जीवात्माको संसारको जानता है। सम्पूर्ण विश्व आत्मासे—परमात्मासे आवासित कर देने योग्य है। जैसे बिना मिट्टीके घड़ा नहीं होता, वैसे जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारणके बिना—परमात्माके बिना यह विश्व नहीं होता।

इसलिए 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—'तेन'–परमात्मना, 'त्यक्तेन'–दत्तेन 'भुञ्जीथाः'—उस ईश्वरके द्वारा जो दिया हुआ है, उसीसे अपना पालन-पोषण कर लो। उससे अधिक मत चाहो अथवा, सब परमात्मा ही है, इसलिए 'तेन'–हेतुना 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'–त्यागपूर्वकं भुञ्जीथाः—त्यागपूर्वक आत्माका, अपने आपका, पालन-पोषण करो। 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—दूसरेका धन मत लूटो। यह धन किसका है ? केवल परमात्माका है।

'आत्मावास्यमिदं विश्वम्'—सबको आत्माके रूपमें देखो। इस उपनिषद्-वाक्यमें मोक्ष-पुरुषार्थ और परमात्माका राग-द्वेष-रहित अनुभव सिद्ध हो गया। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—इसका तात्पर्य यह है कि भोग करो—आत्मरक्षा करो—आत्मनिर्वाह करो; पर भोगमें त्याग रखो।

अर्थ-पुरुषार्थके सम्बन्धमें यह कहा कि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—किसी दूसरेकी वस्तुको मत लो और लोभ मत करो। लेकिन यह अर्थ गृहस्थोंके लिए है। संन्यासियोंके लिए है—'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'। इसका अर्थ यह है कि अपने पास कुछ भी रखनेकी जरूरत नहीं, 'मा गृधः' मत करो–

गीध मत बनो। 'धनं कस्यस्वित् ?' न कस्यापि। धन किसीका होता ही नहीं। 'कस्यस्विद्धनम् मा गृधः। मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'—लालच मत करो। धन किसका है ? धन किसीका नहीं है। इस प्रकार उपनिषद्-विद्या हमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका ज्ञान कराती है।

जो दीखते नहीं, परन्तु उनकी आँख कभी बन्द नहीं होती। न उनका आदि है, न मध्य है, और न अन्त है, वे सर्वात्मा हैं। सब-के-सब ऋषि उन्हींका भजन करते हैं। उनमें अहंकार नामकी कोई वस्तु नहीं। वे ही अवतार लेकर मनुष्योंको उनके मार्गकी शिक्षा देते हैं।

इस तरह मनुजी भगवत्स्मरणमें लग गये। लेकिन उनको भी राक्षसोंने नहीं छोड़ा और खानेके लिए दौड़े। मनु विचलित नहीं हुए। वे भगवान्‌के स्मरणमें लगे रहे। ऐसे महात्माओंकी रक्षा तो स्वयं भगवान् ही करते हैं। जब मनुष्य अपनी चिन्तासे मुक्त होकर भगवान्‌में डूब जाता है, तब उसके योगक्षेमकी चिन्ता भगवान् करने लगते हैं। इसलिए जब भगवान्‌ने देखा कि असुर मनुजीको खानेके लिए दौड़ पड़े हैं, तब वे देवताओंके साथ वहाँ आये, उनकी रक्षा की और फिर वे इन्द्रके पदपर प्रतिष्ठित होकर स्वर्गका शासन करने लगे—

तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम्॥ १८

परीक्षित, पहले जो स्वायम्भुव मनु हुए और जिनके प्रियव्रत तथा उत्तानपाद दो पुत्र थे, उनके यागादि देवता थे। मरीचि प्रमुख ऋषि थे—यज्ञावतार थे। वे यज्ञ ही इन्द्र हुए।

उनके बाद दूसरे मनु अग्निके पुत्र स्वारोचिष हुए। उनके भी पुत्र हुए। उनमें एक पुत्र रोचन नामका हुआ। सप्तर्षि देवता हुए और तुषितामें विभु नामक अवतार हुआ। उनसे बहुत लोगोंने ब्रह्मचर्यकी शिक्षा ली थी।

उनके बाद प्रियव्रतके पुत्र उत्तम मनु हुए। उनके सप्तर्षि और देवता अलग-अलग हुए। उनमें भी इन्द्र हुए और सत्यसेन नामसे भगवान्‌का अवतार हुआ। उसने इन्द्रसे मित्रता जोड़कर राक्षसोंको मारा।

उसके बाद उत्तमके भ्राता तामस मनु हुए। उनके पृथु और ख्याति आदि पुत्र हुए। उनके भी देवता अलग थे। उनका इन्द्र त्रिशिख था और उसके ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे। तामसके राज्यमें और भी बहुत-से देवता थे। उन्होंने अपनी शक्तिसे सबकी रक्षा की।

उनके बाद हरिमेधाः नामके एक ब्राह्मण हुए। उनकी हरिणी नामकी स्त्रीसे हरि भगवान्‌का जन्म हुआ। उन्होंने गजेन्द्रको ग्राहसे मुक्त किया।

अब श्रीशुकदेवजी महाराजसे राजा परीक्षितने पूछा कि मुनिवर, गजेन्द्र और ग्राह दोनोंका उद्धार भगवान्‌ने कैसे किया ? यह कथा तो मुझे जरूर सुनाइये।

: २ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, एक त्रिकूट नामका बहुत ऊँचा पर्वत है, जो क्षीरसागरसे घिरा हुआ है। उसके तीन प्रकारके शिखर हैं, जो अपने रत्नों, धातुओं आदिकी छटासे सब दिशाओंको प्रकाशित करते हैं। वहाँकी हिरणमयी भूमि पन्नाके हरे-हरे पत्थरोंकी आभाके कारण श्याम रंगकी प्रतीत होती है। उस त्रिकूटमें नाना प्रकारके वृक्ष, पशु, पक्षी हैं और एक बड़ा भारी सरोवर है। उसके चारों ओर कदम्ब, वेतस, नल, नीप, वञ्जुल, कुन्द, कुरवकके वृक्ष लगे हुए हैं। उस त्रिकूटकी तलहटीके जंगलोंमें एक महागजेन्द्र रहता था। एक बार वह गजेन्द्र अपनी हथिनियोंके साथ विहार करता हुआ और मार्गमें पड़नेवाले वृक्षोंको तोड़ता-रौंदता हुआ सरोवरके पास आगया। वह इतना बलशाली था कि उसके डरसे सिंह भाग जाया करते थे। जिस प्राणीपर उसकी कृपा हो जाती, वही निर्भय होकर वहाँ विचरण करता। जब वह वहाँ आया, तब धूपका समय था, उसे प्यास लगी थी, इसलिए उसने सरोवरके सुवासित जलमें घुसकर पहले तो अपनी प्यास बुझायी और उसके बाद हथिनियों और बच्चोंके साथ उसमें क्रीड़ा करने लगा।

दैवयोगसे उसी सरोवरमें एक ग्राह भी रहता था। उसने क्रोधसे गजेन्द्रका पाँव पकड़ लिया। गजेन्द्रने अपने पूरे बलका प्रयोग किया, परन्तु वह छूट न सका। हथिनियाँ भी चिल्लाने लग गयीं। संघर्षमें बहुत समय बीत गया। पानीमें होनेके कारण ग्राहका बल तो बढ़ता जाता किन्तु हाथीका बल घटता जाता। इस तरह गजेन्द्रके सामने बड़ा भारी संकट उपस्थित हो गया।

इस प्रसंगका वर्णन करते हुए वृन्दावनके वक्ता लोग कहते हैं कि जब गजेन्द्र ग्राहसे युद्ध करते-करते थकने लगा तो उसके साथ जो हजारों हथिनियाँ थीं, उनके बच्चे थे, उन्होंने अपने-अपने सूंड़से गजेन्द्रके पाँव, पूंछ और सूंड़ पकड़ लिये। फिर उन पकड़नेवालोंको दस-दसने पकड़ा। फिर उन दस-दसको बीस-बीसने पकड़ा, सब एक दूसरेको खींचनेमें लग गये। परन्तु उस सरोवरमें से गजेन्द्रको खींचा नहीं जा सका—टस-से-मस नहीं किया जा सका।

अब जब गजेन्द्रने चारों ओरसे निराश होकर यह देखा कि इस संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो उसका उद्धार कर सके, तब उसे ईश्वरकी याद आगयी और उसने प्रार्थना की कि—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यद् किञ्चित् विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

प्रभो, मेरी बुद्धि विकुण्ठित हो गयी, मेरी युक्तियाँ समाप्त हो गयीं। अब तो आप ही मेरे शरण्य हैं। आपके सिवाय मेरा और कोई नहीं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, गजेन्द्र जब भगवान्‌की शरणमें चला गया, तब गजेन्द्र बननेसे पहले पूर्व जन्ममें जो स्तोत्र किया करता था, वह उसकी बुद्धिमें स्फुरित हो गया। उसके बाद वह भगवान्‌की स्तुति करने लगा—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥ २

जिनसे यह संसार प्रकाशित होता है, जो सबके आदि बीज हैं, सर्वान्तर्यामी प्रभु हैं; जिनमें यह सब है, जिनकी मायासे सब-का-सब दिखायी पड़ता है, कभी दीखता है और कभी नहीं दीखता, जो सबसे परे हैं उनका मैं ध्यान करता हूँ।

'अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते'(४)—जिनकी दृक्‌शक्तिका कभी लोप नहीं होता, जो आत्म-मूल परात्पर भगवान् हैं और अपना जड़ स्वयं वही हैं, दूसरा कोई नहीं है, वे हमारी रक्षा करें। जो सबके मर जानेपर भी जिन्दा रहते हैं, जिनको कोई जानता नहीं; जिनके दर्शनके लिए महात्मा लोग बड़ा-बड़ा त्याग करते हैं, जिनमें जन्म-कर्म आदि बिल्कुल नहीं है, जो अरूप होनेपर भी सर्वरूप हैं उन आश्चर्यकर्मा भगवान्‌की हम वन्दना करते हैं।

जो हमारे अन्तःकरणमें दीपज्योतिके समान प्रज्वलित होते हैं, साक्षी हैं, वाणी-मन और चित्तसे परे हैं, सत्त्वगुणसे जिनकी प्राप्ति होती है, शान्त, घोर, मूढ़, गुणधर्मी, निर्विशेष, क्षेत्रज्ञ, चिदाभासके प्रकाशक और चिदाभासके प्रकाशकके रूपमें सिद्ध, अखिल-कारण, स्वयं निष्कारण, अद्भुत कारण, सर्वागमाम्नाय, महार्णव अपवर्ग परायण हैं, उन भगवान्‌को हमारा नमस्कार है। वे स्वयं तो त्रिगुणसे ढँके हुए हैं, किन्तु हमारे जैसे शरणागतके फन्देको छुड़ानेवाले हैं।

जो लोग संसारके स्त्री-पुत्रादिमें फँस गये हैं, उन्हें तो आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है; किन्तु मुक्तात्मा अपने हृदयमें आपका ध्यान करते हैं। आपका भजन करनेसे सब कुछ मिल सकता है। परन्तु जो सच्चे भक्त होते हैं, वे आपका भजन करके सुख नहीं चाहते। आपका चरित्र अत्यन्त मङ्गलमय है और भक्तजन उसका गान करते हुए आनन्दसमुद्रमें निमग्न रहते हैं—

अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः। २०

आप अतीन्द्रिय हैं, सूक्ष्म हैं, परिपूर्ण हैं। आपकी बहुत छोटी-सी कलासे ब्रह्मादि बने हुए हैं। आपसे ही ये गुण-सम्प्रदाय चलते हैं। आप न देवता हैं, न असुर हैं, न मनुष्य हैं, न पशु-पक्षी हैं, न स्त्री हैं, न नपुंसक हैं और न पुरुष हैं। आपमें न गुण हैं, न कर्म हैं, न सत् है, न असत् है, नेति-नेतिके द्वारा सबका निषेध कर देनेपर जो बच रहता है वही अशेष आप हैं—

नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जायतादशेषः। २४

आप ही सर्वात्मा हैं, सब कुछ हैं। मैं हाथीके रूपमें जीनेके लिए आपकी प्रार्थना नहीं करता। मेरी तो यही कामना है कि मैं कभी कालके चक्करमें न पड़ूँ। जिसका कभी नाश नहीं होता, उसी आत्मलोकावरण मोक्षको मैं चाहता हूँ। प्रभो, मैं इसीलिए आपकी शरणमें आया हूँ कि आप अपने शरणागतकी रक्षा करते हैं। आप जीवात्माके साथ ही रहते हैं परन्तु यह आपको देख नहीं सकता। आपकी महिमा अपार है। आप मुझे अपनी शरणमें ले लीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार गजेन्द्रने मूर्तिभेद किये बिना, ब्रह्मा, विष्णु, महेशका नाम लिये बिना भगवान्‌की आराधना की—'एवं गजेन्द्रमुपवर्णित-निर्विशेषम्' (३०)। वहाँ गजेन्द्रकी रक्षा करनेके लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा अन्य कोई देवता आये भी नहीं थे, क्योंकि वे लोग तो एक-एक नाम, एक-एक रूप लेकर बैठे हैं।

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि चलो, हम चलते हैं, क्योंकि सब नाम-रूप हमारे हैं और सब नाम-रूपोंसे परे हम हैं। गजेन्द्रकी स्तुति सुनते ही वेदमय गरुड़पर सवार होकर भगवान् गजेन्द्रके पास प्रकट हो गये—'छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः' (३१)। देवता लोग भी स्तुति करते हुए उनके साथ आगये। जहाँ गजेन्द्र था, वहाँ एक गलावतार-एक विलक्षण अवतार प्रकट हुआ।

कहते हैं कि गजेन्द्रने जिस समय 'गोविन्द' कहकर पुकारा, उस समय भगवान् भोजन कर रहे थे। नाम सुनते ही उन्होंने भोजनकी थाली अलग छोड़ी और हाथ-मुँह धोये बिना ही चल पड़े। लक्ष्मीजीने कहा - हाथ तो धो लीजिये, लेकिन भगवान्‌ने उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया। विष्वक्सेनने भगवान्‌के सामने खड़ाऊँ रखा, तो भगवान्‌की चोटसे खड़ाऊँ गिर गयी। भगवान्‌के मनमें इतनी करुणा गजेन्द्रके लिए उदित हुई कि उन्होंने घरपर केवल 'गो' सुना और गरुड़पर चढ़कर चल पड़े। फिर जब चल पड़े तो रास्तेमें 'विन्द' सुना और अन्तमें जब उनको गरुड़के वेगसे सन्तोष नहीं हुआ तब वे गरुड़को छोड़कर मनकी गतिसे भी तेज़ गतिसे पहुँच गये।

'छान्दोमयेन गरुडेन'—इसीलिए कहा कि पहले तो भगवान् शब्द-वेगसे चले, परन्तु जब उस वेगसे सन्तोष नहीं हुआ तो मनकी गतिसे भी ज्यादा गतिवाले भगवान् झट वहाँ पहुँच गये। देवता लोग देखते ही रह गये—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार। ३३

भगवान् अपनी कृपासे ही पीड़ित हो गये। उन्होंने यह नहीं सोचा कि ग्राह और गजेन्द्रको अलग-अलग कर दें, बल्कि ग्राहके समेत गजेन्द्रका, मरने और मारनेवाले दोनोंका उद्धार एक साथ कर दिया। भगवान्‌ने अपने चक्रसे ग्राहका मुँह फाड़ दिया और उससे गजेन्द्रको छुड़ाकर उसकी रक्षा कर दी। देवता लोग टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये।

: ४ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् अपने पुकारनेवालोंकी कैसे रक्षा करते हैं और रक्षणमें उनकी कैसी तत्परता है, यह देखकर देवता, गन्धर्व, अप्सरा सब-के-सब नृत्य करने लगे। इधर ग्राह आश्चर्यजनक रूप धारण करके प्रकट हो गया। वह गन्धर्वसत्तम हूहू था और देवलके शापसे ग्राह हो गया था।

कहते हैं कि वह एक बार सरोवरमें अप्सराओंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। वहाँ आकर देवल ऋषि स्नान करने लगे तो हूहू डुबकी लगा-लगाकर और पास आ-आकर उनके पाँव खींचने लगा। इसपर देवलजीको क्रोध आगया और वे बोले कि तुम ग्राहकी तरह काम करते हो, इसलिए जाओ ग्राह हो जाओ। फिर अन्तमें उसके क्षमा माँगनेपर ऋषिने कहा कि अच्छा,

जब भगवान् गजेन्द्रका उद्धार करेंगे, तब तुम्हारा भी उद्धार हो जायेगा। इसके बाद हूहू भगवान्की स्तुति करके अपने लोकमें चला गया।

इधर गजेन्द्र भी भगवान्के स्पर्शसे मुक्त होकर भगवद्रूपको प्राप्त हो गया। वह पहले द्रविड़-देशमें पाण्ड्यवंशी राजा था। नाम था इन्द्रद्युम्न। भगवान्का बड़ा भक्त था।

एक बार जब वह मलयपर्वतपर मौन धारण करके जटाजूट-सहित भगवान्की आराधना कर रहा था, तब वहाँ अगस्त्यजी अपने शिष्यों-समेत आगये। लेकिन राजाने उनका सम्मान नहीं किया। असलमें जो गुरुजनोंको उनके सामने आनेपर प्रणाम न करे तो समझना चाहिए कि उसका कोई गुरु नहीं। यदि गुरु होता तो उसने प्रणाम करना सीखा होता। इसलिए राजा चुपचाप बैठा रहा।

अकृतार्हणादिकं तूष्णीं स्थितम्। ९

अगस्त्यजीने सोचा कि यह किताबी साधक मालूम पड़ता है इसलिए प्रजा-पालन और अतिथि-सत्कारादि धर्म छोड़कर तपस्वियोंकी तरह उपासना कर रहा है। जिसको गुरु-परम्परासे मन्त्र, दीक्षा और पद्धति नहीं प्राप्त होती, उसका अभिमान बहुत बढ़ जाता है। अतः अगस्त्यजी बोले कि तू ब्राह्मणका अपमान करता है और तेरी मति गजवत् स्तब्ध है। जा तू भी गज हो जा।

यह शाप देकर अगस्त्यजी चले गये। इन्द्रद्युम्नने कहा कि अच्छी बात है, भगवान्की जैसी इच्छा और वे हाथी हो गये। परन्तु उन्होंने जो भगवान्की पूजा-उपासना की, उसका यह प्रभाव हुआ कि हाथी होनेपर भी उन्हें संकटकालमें भगवान्का स्मरण हो गया। गरुड़ासन भगवान्ने गजेन्द्रको पार्षदगति दे दी और उसे साथ लेकर अपने धाममें चले गये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भगवान्ने विदा होते समय सबके सामने यह कह दिया कि जो लोग मेरा, गजेन्द्रका, इस सरोवरका, यहाँके गिरि-कन्दर, कानन एवं वृक्ष-लतादिका स्मरण करेंगे, उनको मेरी प्राप्ति होगी और वे सब पापोंसे छूट जायेंगे। जो गजेन्द्र द्वारा किये हुए स्तोत्रसे मेरी स्तुति करेंगे, उनको मैं बहुत बड़ा कल्याण-भाजन बनाऊँगा।

देखो, इस गजेन्द्र-मोक्षका पाठ मालवीयजी महाराजको भी बहुत प्रिय था। वे अपने अनुभवके आधारपर लोगोंको यह उपदेश किया करते थे कि गजेन्द्र-मोक्षका पाठ करोगे तो सम्पूर्ण आपत्ति-विपत्तियोंसे, समस्त संकटोंसे छूट जाओगे।

•

: ५ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितको रैवत-मन्वन्तरकी कथा सुनाते हुए कहते हैं—रैवत्त नामक मनुके पुत्र हुए बलि, विन्ध्य आदि। मन्वन्तरमें मनु-पुत्रोंकी भी विशेषता रहती है। उनके इन्द्र हुए विभु और दूसरे भूतरय आदि देवता हुए। हिरण्यरोमादि सप्तर्षि हुए। फिर वैकुण्ठावतार हुआ। वैकुण्ठ भी भगवान्‌का एक अवतार है। माताका नाम है विकुण्ठा और पिताका नाम है शुभ्र। उन्होंने वैकुण्ठ बनवाया।

यहाँ प्रश्न उठा कि वैकुण्ठ तो नित्य है, उसको भगवान् बनायेंगे कैसे? बनायेंगे तो वह अनादि नहीं रहेगा। बनाई हुई चीज तो कभी नित्य होती नहीं। इसका समाधान हुआ कि नित्य वैकुण्ठ तो है ही, जैसे कोई जंगलमें एक बँगला बनवा दे, वैसे ही लक्ष्मीजीकी प्रसन्नताके लिए एक नया रमा-वैकुण्ठ भगवान्‌ने निर्माण कर दिया। ये सब बातें पहले तीसरे स्कन्धमें आ चुकी हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि चाक्षुष छठे मनु हुए। उनके पुत्र पूरु, पूरुष, सुद्युम्न आदि हुए। देवता, इन्द्र, ऋषि आदि अलग हुए। भगवान्‌का अवतार अजित हुआ। उन्होंने पयोनिधिका मन्थन करवाकर देवताओंके लिए अमृत सिद्ध किया। वे ही कूर्मरूप धारण करके मन्दराचलकी मथानीके आधार बने।

राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज भगवान्‌ने किसलिए कच्छपरूप ग्रहण करके मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया? भगवान्‌की यह लीला तो बड़ी ही अद्भुत है। आप ज्यों-ज्यों

भगवान्‌की महिमाका श्रवण कराते हैं, त्यों-त्यों मेरी उत्सुकता बढ़ती जाती है। कृपा करके यह कथा भी मुझे जरूर सुनाइये। भगवान्‌की लीला सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती।

श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्‌की लीला-कथा सुनाने लगे—परीक्षित, एक बार युद्धमें दैत्योंने देवताओंको बहुत पीड़ा पहुँचायी। दैत्योंके प्रहारसे देवता लोग मर जायें और फिर जी न सकें। क्योंकि वे सब दुर्वासाके शापसे तीनों लोकों सहित गतश्री हो गये थे। यज्ञ आदिका नाश हो गया था।

विष्णु-पुराणके अनुसार दुर्वासाके शापका कारण यह बना कि एक बार जब वे अपने गलेमें अम्लान पारिजात पुष्पकी माला धारण किये हुए आ रहे थे, तब उन्होंने अपने सामने इन्द्रको ऐरावत हाथीपर चढ़े हुए आते देखा। ऋषिने इन्द्रको प्रसादके रूपमें माला पहना दी। लेकिन इन्द्र श्रीमदमें डूबे हुए थे कि मैं बड़े-बड़े देवताओंका स्वामी हूँ। इसलिए उन्होंने गलेमें-से माला निकाली और अपने ऐरावत हाथीको पहना दी। ऐरावत हाथीने मालाको अपने सूँड़से खींचा और पाँवके नीचे डालकर मसल दिया। जब दुर्वासाने अपने दिये हुए प्रसादका यह हाल देखा, तब उनको क्रोध आगया और उन्होंने यह शाप दे दिया कि यह लोक नष्ट-मङ्गल हो जाय—नष्ट-श्री हो जाय। इसी शापसे यज्ञका नाश हो गया, देवता लोग भूखे रहने लगे और श्रीहीन हो गये।

इस प्रसंगसे यह शिक्षा मिलती है कि किसीको प्रसाद सोच-समझकर देना चाहिए, अन्यथा उसका तिरस्कार हो जाता है। इस अद्भुत कथापर श्रीपञ्चानन तर्करत्नजीने एक काव्य लिखा है। सर्वमङ्गलोदयम् नाम है काव्यका, जो बारह सर्गोंमें है। उसमें उन्होंने बहुत सुन्दर ढंगसे कथाका निरूपण किया है।

जब देवता लोग श्रीहीन हो गये, तब वे ब्रह्माकी शरणमें गये। ब्रह्माने देखा कि ये देवता लोग बहुत ही कष्टमें हैं। उन्होंने समाहित चित्तसे भगवान्‌का चिन्तन किया। परमात्माका चिन्तन करते ही उनके सब दुःख दूर हो गये। वे प्रसन्न होकर बोले कि देवताओ, आओ, आओ, हम लोग उन्हींकी शरणमें चलें, जिनके हम अंश हैं—'उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः'। (२) जैसे पुत्र पिताकी शरणमें जाते हैं, प्रजा राजाकी शरणमें जाती है, वैसे ही हमलोग भी भगवान्‌की शरणमें चलें। यद्यपि उनके लिए कोई वध या रक्षाका पात्र नहीं है, तथापि वे सृष्टि, स्थिति, प्रलयके समय सत्त्वादि गुणोंको धारण करते हैं। यह स्थितिका समय है, इसलिए चलो, हम उन्हींकी शरणमें चलें।

इसके बाद ब्रह्माजी सब देवताओंको लेकर क्षीर-सागरपर गये। वहाँ उन्होंने वैदिक वाणीसे भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की—भगवन्, आप निर्विकार हैं, सत्य हैं, अनन्त हैं, अनादि हैं, गुहाशय हैं। आपमें न छाया है, न आतप है। कालचक्रके प्रेरक आप ही हैं। धीर लोग योगरथपर चढ़कर

आपकी उपासना करते हैं। आपकी मायाका उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता। हम केवल आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं।

हमलोग आपको जानते नहीं, फिर दैत्य आपको न जानें तो क्या आश्चर्य है? आपसे ही सारी सृष्टि होती है। यह समग्र विराट् आपका स्वरूप है। यहाँतक कि श्री, पितर, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, अप्सरा, विप्र, वेद, क्षत्रिय-बल, वैश्यवार्ता, शूद्रसेवा—ये सब कुछ आपमें हैं। लोभ, प्रीति, कान्ति, काम, काल, कर्म, गुण, भौतिक प्रपञ्च—ये सब भी आपके स्वरूपमें हैं।

हम जब विराट् रूपमें भगवान्‌का वर्णन करते हैं तब हमारे राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। जब सात्त्विक ढंगसे चिन्तन करते हैं, तब मालूम पड़ता है कि सब परमात्माका स्वरूप है। जब कार्य-कारणका, प्रकाश्य-प्रकाशकका, भोग्य-भोक्ताका और सर्वाधिष्ठान स्वयंप्रकाश अद्वय-तत्त्वका विचार करते हैं, तब मालूम पड़ता है कि परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं।

किन्तु यदि तत्त्वज्ञानकी बातको एक ओर रख दें, केवल भावनासे ही सोचें और विश्वास करें कि सब कुछ परमात्मा है तो इससे यह लाभ बिल्कुल प्रत्यक्ष है कि हमारे हृदयमें जो राग-मूलक पक्षपात है, मोह है, द्वेष-मूलक हिंसा है, क्रूरता है; उसकी निवृत्ति होकर हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। इसलिए सर्व परमात्मा है—ऐसी स्थिति जब एक बार हो जाती है तब भगवान्‌की कृपा अपने जीवनमें अवतीर्ण होती है। जो लोग पन्थ-सन्तमें बँधे रहते हैं और जिनके भीतर सबमें परमात्मा देखनेका सामर्थ्य नहीं, उनका न तो अन्तःकरण शुद्ध होता है और न उनके अन्दर परमात्माका प्रकाश होता है। यही सत्पुरुषोंका सम्प्रदाय है।

अन्तमें ब्रह्माने कहा कि प्रभो, हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। आप हमें अपने मुख कमलका दर्शन दीजिये क्योंकि आप बारम्बार शरणागत प्राणियोंको दर्शन देते रहे हैं :

प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्। ४५

इसलिए भगवन्, आइये, आइये; एक बार मुस्कुराकर हमारी ओर देख तो लीजिये। आप समय-समयपर पधारते ही रहे हैं। आपको जो भी कर्म अर्पित किया जाता है, वह सफल हो जाता है। जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेपर उसके सब भागोंको पानी मिल जाता है, वैसे ही 'एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि' (४९)—आपकी आराधना सबकी आराधना है और अपनी आराधना भी उसीमें है। अतः हे अनन्त, हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं!

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे। ५०

●

: ६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार जब देवताओंने स्तुति की तो भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए और उनके सामने ऐसे प्रकट हो गये, जैसे हजारों सूर्योंका उदय एक साथ हो गया हो। उस प्रकाशको देखकर देवताओंकी तो आँखें बन्द हो गयीं, उनको कुछ दिखायी ही न पड़ा। केवल शिव और ब्रह्माकी दृष्टियाँ जाग्रत् रहीं। उन्होंने देखा कि उनके सामने भगवान्की मरकतमणिके समान श्याम, कमललोचन, वस्त्राभरणयुक्त और सर्वाङ्गचारु मूर्ति प्रकट हो गयी! उनकी कमरमें करधनीकी लड़ियाँ हैं, गलेमें हार है और चरणोंमें नूपुर हैं।

देखो, ये सब आभूषण भगवान्के अङ्गोंकी शोभाको दबानेके लिए ही होते हैं। 'भूषण-भूषणाङ्गम्' भगवान्के अङ्गकी शोभा आभूषणोंसे नहीं होती, आभूषणोंकी शोभा भगवान्के अङ्गसे होती है।

जब भगवान् प्रकट हो गये, तब देवता लोग उनकी स्तुति करने लगे—महाराज, आप तो निर्वाण-सुखके समुद्र हैं। आपमें माया-वाया नहीं है। इस समय आपका जो रूप प्रकट हुआ है, वह तो आपकी उपासना करनेके लिए ही है। बिना वेदके भगवान्की स्तुति भी नहीं बनती। यदि कोई कहे कि हमने अपनी अक्लसे यह स्तुति की है तो वह बिल्कुल झूठ है—

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ १०

आदि-मध्य-अन्त सब आपमें हैं। जैसे घड़ेका आदि-मध्य-अन्त मिट्टीमें होता है, वैसे ही सब आपमें हैं। आप अपनी मायासे विश्व-सृष्टिका निर्माण करके उसमें प्रवेश करते हैं और ऐसे छिप जाते हैं कि दिखाई नहीं पड़ते। बड़े-बड़े विद्वान्, शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष जैसे मन्थानसे काष्ठका मन्थन करके उसमें-से अग्नि प्रकट करते हैं, वैसे ही आपको इस प्रपञ्चसे पृथक् करके आपका साक्षात्कार करते हैं। आपके दर्शनसे हमको बड़ा ही आनन्द हुआ है। आप तो अशेषसाक्षी हैं, सब कुछ जानते हैं, हम आपसे क्या प्रार्थना करें ? आप अग्नि हैं, हम आपकी चिनगारी हैं। आपसे ही हम प्रकाशित होते हैं। अब आप ऐसा कोई उपाय बताइये, जिससे इन देवताओंका कल्याण हो।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, ब्रह्माजीकी स्तुति सुनकर भगवान् उनके अभिप्रायको जान गये। देखो, किसीसे कोई बात करनी हो तो पहले उसके अभिप्रायको जान लेना चाहिए। सामनेवालेका अभिप्राय जाने बिना उसके सिरपर अपनी बात थोप देना उचित नहीं। इसीलिए भगवान्‌ने पहले देवता लोगोंका अभिप्राय समझा और फिर मेघ-गम्भीर वाणीसे बोले। भगवान् यह तो समझते थे कि देवता लोग जिस कामके लिए आये हैं, वह उनके लिए बहुत आसान है, लेकिन फिर भी कुछ लीला करनेकी इच्छा उनके मनमें हुई। इसी दृष्टिसे उन्होंने ब्रह्माजी, शङ्करजी तथा समस्त देवताओंको सम्बोधित करते हुए कहा :

देखो, तुम लोग सावधान होकर मेरी बात सुनो। इसीमें तुम सबका कल्याण है। पहली बात तो यह है कि तुम लोग जाकर दानवों और दैत्योंसे सन्धि कर लो। राजनीतिकी यही मर्यादा है—'बलवत्ता सन्दधीत'। पत्थरसे अपना सिर नहीं टकराना चाहिए। यदि शत्रु बलवान् हो तो उससे सन्धि करनी चाहिए। इस समय परिस्थिति असुरोंके अनुकूल है, प्रजा उनके पक्षमें है। उनसे लड़कर तुम क्या फायदा उठाओगे ? यदि कोई प्रयोजन हो तो शत्रुसे सन्धि करनेमें संकोच नहीं करना चाहिए। किन्तु जब प्रयोजन सिद्ध हो जाये, तब उस सन्धिको बनाये रखना या तोड़ देना तुम्हारी मर्जीपर है। यदि सन्धि करनेमें स्वतन्त्रता है तो उसको तोड़नेमें भी स्वतन्त्रता है। लेकिन जबतक प्रयोजन सिद्ध न हो तबतक सन्धि करके अमृत प्रकट करनेका प्रयास करो, क्योंकि वह जिसके हाथ लग जाता है, वह अमर हो जाता है। इसलिए संसारकी सारी 'वीरुत्तृणलतौषधीः' (२२) अर्थात् सब प्रकारकी घास, तिनके, लताएँ और ओषधियाँ क्षीर-सागरमें डाल दो। मन्दराचलको मथानी बनाओ। वासुकिको नेती बनाओ। मैं तुम लोगोंकी सहायता करूँगा। देवता-दैत्य सब मिलकर मन्थन करो। इस क्रिया द्वारा मैं यह दिखाऊँगा कि

जो मेरे अनुकूल होते हैं, भक्त होते हैं, उनको फल मिलता है और जो हमारे प्रतिकूल होते हैं, विरोधी होते हैं; उनको फल नहीं मिलता।

न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा। २४

देवताओ, केवल क्रोध करनेसे अपना काम नहीं बनता। समझा-बुझाकर जो काम बन जाता है, वह लड़ाई-भिड़ाईसे नहीं बनता। इसलिए दानव जो कहें, मान लो। कोई भी काम करनेमें विघ्न आता है, समुद्रसे भी पहले काल-कूट विष निकलेगा। उससे तुम लोग डरना नहीं। किसी वस्तुके लिए लोभ नहीं करना, रोष नहीं करना, कामना नहीं करना। हमारी आज्ञाके अनुसार काम करते रहना।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्रह्मादि देवता वहाँसे बलिके पास पहुँच गये। दैत्य लोगोंने उन्हें बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके देखा तो कहा—इन्हें बाँध लो, मारो। बलिने कहा कि नहीं, इससे हमारा बड़ा भारी अपयश होगा। सन्धि और विग्रहका समय होता है। कब किससे सन्धि करना, कब किससे विग्रह करना; लोकव्यवहारमें न हमेशा किसीके साथ सन्धि होती है और न हमेशा किसीके साथ विग्रह होता है। वह तो समयके अनुसार होता है।

पहले देवता लोग बलिको अपने यहाँ बुलवाया करते थे, अब उनके पास स्वयं गए। उनसे बहुत मीठी बातें इन्द्रने कीं, क्योंकि भगवान्‌ने पहले ही उनको इसके लिए शिक्षा दे दी थी। सब दैत्य इकट्ठे हुए और उन्होंने अमृत-मन्थनके प्रस्तावको बहुत बढ़िया बताया और कहा कि अमृत निकलेगा तो हम सब पीयेंगे।

अब अमृतके लिए उद्योग शुरू हुआ। देवता और दैत्योंने मन्दरगिरिको उठाया, पर वे उसे लेकर आ नहीं सके। विवश होकर उन्होंने उसे रास्तेमें ही पटक दिया। वह सोनेका पर्वत मन्दराचल बहुत भारी था। गिरते समय उसने बहुत-से देवता और दानवोंको चकनाचूर कर डाला। उनके हाथ-पाँव टूट गये, मन भी टूट गया, उत्साह भङ्ग हो गया। सहसा वहाँ गरुडासीन भगवान् प्रकट हो गये। उन्होंने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे उन देवता और दैत्योंको इस प्रकार जीवित कर दिया मानो उनको कुछ हुआ ही न हो। इसके बाद उन्होंने खेल-ही-खेलमें एक हाथसे उस पर्वतको उठाकर गरुडपर रख लिया और स्वयं भी सवार हो गये। फिर देवता और असुरोंके साथ उन्होंने समुद्रतटकी यात्रा की।

•

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, समुद्रतटपर वासुकि भी आ गये। उनको पर्वतके चारों ओर लपेट दिया गया। भगवान्ने देवताओंके साथ वासुकिके मुँहको पकड़ लिया कि हम लोग इधरसे मन्थन करेंगे। दैत्योंको यह बात पसन्द नहीं आयी। उन्होंने कहा कि पूँछ तो सर्पका अशुद्ध अङ्ग है। हम लोग स्वाध्याय और श्रुत-सम्पन्न हैं, मान्य हैं और राजा हैं। हम लोग भला पूँछ कैसे पकड़ेंगे ?

भगवान्ने सोचा कि यह तो बहुत बढ़िया है। काम बनाना हो तो मानापमानका ज्यादा ध्यान नहीं रखना चाहिए और वे देवताओंके साथ पूँछकी तरफ चले गये। दोनों पक्षोंके स्थानका निर्णय हो गया। मन्थन होने लगा।

लेकिन पहाड़ बहुत भारी था। वह समुद्रमें डूबने लगा। सब निरुपाय हो गये। भगवान्ने विघ्नेश-विधि करवायी, अर्थात् गणेशजीकी पूजासे काम बनेगा—यह समझाया। उसके बाद भगवान्ने कच्छपशरीर धारण करके जलमें प्रवेश किया और मन्दराचलको पीठपर धारण कर लिया। अब तो पर्वत ऊपर उठ गया। मन्थन फिर प्रारम्भ हुआ।

अब जब सब देवता-दानव मन्दराचलको चलाने लगे तब भगवान्को ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे उनकी पीठपर कोई खुजली कर रहा है—'मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः' (१७)। क्योंकि भगवान् कोई विषय थोड़े ही हैं ? उनका स्वरूप इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात अर्थके समान नहीं है, वे तो अप्रमेय हैं। देश, काल, वस्तुका परिच्छेद उनके अन्दर नहीं है।

जब भगवान्के कच्छप बन कर मन्दराचल धारण करनेपर भी समुद्र-मन्थनका काम आगे नहीं बढ़ा तब भगवान् देवताओंमें देवता और दैत्योंमें दैत्य बनकर उनका बल-वीर्य बढ़ाने लगे। मन्दराचल कच्छप भगवान्ने कारण नीचे तो जाये नहीं, ऊपरकी ओर जाने लगा। यह देखकर भगवान्ने एक रूप धारण करके उसको ऊपरसे नीचे दबाया। अब मन्दराचलके नीचे भगवान्, ऊपर भगवान्, वासुकिके शरीरमें भगवान्, देवताओंमें भगवान् और दैत्योंमें भगवान्। आगे भी भगवान्, पीछे भी भगवान्, ऊपर भी भगवान् और नीचे भी भगवान्, सबके भीतर भी भगवान्, चारों ओर भगवान्-ही-भगवान् ! असलमें ऐसा मन्थन और ऐसे अमृततत्त्वकी प्राप्ति जीवके प्रयाससे नहीं, भगवान्की कृपासे ही सम्भव है।

अब जब मन्थन होने लगा तब वासुकिके मुखसे आग निकलने लगी, धुँआ निकलने लगा। दैत्य लोग, जो मुँहके पास लगे हुए थे, उससे जलने लगे। उधर पूँछकी तरफ उसी आग और धूएँमें-से बादल निकल कर ऊपर छा जायँ और शीतल वायु बहे। इस प्रकार भगवान्की आज्ञासे पूँछकी तरफ रहनेके कारण देवताओंको तो सुख मिला और अपने अभिमानके कारण मुखकी तरफ रहनेसे दैत्योंको बहुत दुःख मिला।

फिर भी जब अमृत प्रकट नहीं हुआ तो स्वयं भगवान्‌ने अपने एक हाथसे वासुकिकी पूँछ पकड़ी, दूसरे हाथसे उसका मुँह पकड़ लिया और बीचमें आ गया मन्दराचल। अब अपने-आप ही मन्थन होने लगा—

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्युन्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथो धृताद्रिः॥ १७॥

उस समय मन्थन करते हुए भगवान्‌की कैसी शोभा हुई, इसका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—भगवान् मेघके समान हैं, पीताम्बरधारी हैं, उनके कानोंमें कुण्डल हैं, बाल हिल रहे हैं, वे वनमाला गलेमें धारण किये हुए हैं और उनकी आँखोंमें थोड़ी लाली आयी है। वे अपने चारों हाथोंसे वासुकिनागको पकड़ कर मन्थन करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो एक मन्थनगिरि मन्दराचल है और दूसरे मन्थनगिरि स्वयं भगवान् हैं।

इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा मन्थन होनेपर सबसे पहले अत्यन्त तीव्र हलाहल विष निकला। उस विषके वेगसे देवता-दानव सभी व्याकुल हो गये। कोई रक्षा करनेवाला नहीं रहा, क्योंकि सब अपने-अपने काममें लगे हुए थे—ब्रह्माजी अपने काममें और विष्णु अपने काममें। ब्राह्मण लोग चुप्पी लगा गये, क्योंकि पहले-पहल कोई चीज पैदा होती है तो वह ब्राह्मणोंको मिलती है। लेकिन यह विष कौन ले? इसलिए ब्राह्मणोंने सोचा कि जब खाने-पीनेकी कोई चीज पैदा होगी तब उसमें हमारा हिस्सा होगा।

अब उस विषसे सब प्राणी पीड़ित होकर भगवान् शङ्करकी शरणमें गये। वहाँ जाकर शङ्करजीको प्रणाम किया। प्रजापतियोंमें जो चुने हुए नेता थे, उन्होंने शङ्करजीसे प्रार्थनाकी कि महाराज, हमलोग उस विषसे डरकर आपकी शरणमें आये हैं। आप ही हमारी रक्षा कर सकते हैं। आप ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। आप ही शब्दयोनि हैं, जगदादिरात्मा हैं। अग्नि आपका मुख है, पृथीवी आपका पाद है, काल आपकी गति है, दिशा आपका कान है, जल रसना है और नभ नाभि है।

इस प्रकार उन लोगोंने विराट् रूपमें भगवान् शङ्करकी स्तुति करते हुए कहा—ब्रह्मादि भी आपको नहीं जानते। आपमें गुण तो बिल्कुल हैं ही नहीं। आपकी महिमा सर्वोपरि है। आपसे परे कोई नहीं। आप कृपा करके हमलोगोंको सुख दें, हमारी रक्षा करें।

जब भगवान् शङ्करने प्रजाका दुःख देखा तो उन्होंने सोचा कि प्रजाकी रक्षा करनी है तो पत्नीसे सलाह करके ही काम करना चाहिए। घरमें मैं अकेला ही तो नहीं, देवी भी हैं। कहीं रूठ न जायें—नाराज न हो जायें—तो एक और उपद्रव खड़ा हो जायेगा। वैसे देवी बहुत सहृदय हैं। उनके हृदयमें बड़ी कृपा है। यह सोचकर उन्होंने भवानीको बुलाया और कहा कि देवी, यह

कालकूट विष पैदा हो गया है और इससे संसारके प्राणियोंको बड़ा भारी दुःख प्राप्त हो रहा है। इससे ये सब लोग प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं, इनको अभय प्रदान करना हमारा काम है।

देखो, कुर्सीपर बैठनेका अर्थ क्या है ? बड़े भारी सिंहासनपर बैठे, बड़ी भारी सम्पत्ति और हुकूमत प्राप्त की, लेकिन गरीबकी रक्षा नहीं कर सके तो वह कुर्सीपर बैठना बिल्कुल व्यर्थ है।

इसलिए शङ्करजीने कहा कि प्रभुता मिलनेका तात्पर्य इतना ही है कि संसारके जो दीन हैं, उनकी रक्षा की जाये—'एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्' (३८) सत्पुरुष तो अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर भी दूसरोंकी रक्षा करते हैं। जो दुःखीपर भी कृपा करते हैं, उसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं और जिसपर भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसपर मैं प्रसन्न होता हूँ। इसलिए देवी, मैं यह गरल खा रहा हूँ। सबका कल्याण हो—

तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे। ४०

इस प्रकार शिवजी भवानीसे कहकर विषको हथेलीपर रखा और खाना शुरू किया। भवानी तो उनके प्रभावको जानती ही हैं। इसलिए उन्होंने कह दिया कि खा लो महाराज, कोई हर्ज नहीं। लेकिन वह विष इतना प्रबल था कि उसने शङ्करजीपर भी अपना बल दिखा दिया। शङ्करजीका गला नीला हो गया और वह उनका भूषण बन गया।

कहते हैं—भगवान् शङ्करने पहले सोचा कि इस विषको क्या करें ? अपने मुखमें रख लें ? लेकिन मुँहमें तो भगवान् रामका नाम है। राम-नामके साथ विष रहेगा तो लोग समझेंगे कि राम-नाममें विषको जलानेकी शक्ति नहीं। यदि इसको भीतर ले जायें तो वहाँ भगवान्का रूप है, यदि यह विष रूपके साथ रहेगा तो भी अच्छा नहीं। स्वामीको विष कैसे अर्पण करें ? अन्तमें भगवान् शङ्करने न ऊपर, न नीचे, गलेमें ही उस विषको रोक लिया और उससे उनका गला नीला हो गया। उस नीलेपनसे उनकी कोई बदनामी नहीं, वह तो उनका भूषण बन गया— 'साधोर्विभूषणम्' (४३)। शिवमहिम्नस्तोत्रमें कहा है—

स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्ग व्यसनिनः। (१४)

यदि दूसरेका दुःख दूर करते समय किसीको चोट लग जाती है तो उससे उसकी प्रशंसा होती है, निन्दा नहीं होती। दुनियाका दुःख दूर करते समय शङ्करजीने अपने कण्ठको नीला कर लिया। प्रायः सभी साधु पुरुष संसारमें दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं किन्तु यह दुःख नहीं, यह तो भगवान्की आराधना है।

अब विषपान कर लेनेके बाद सारी प्रजा शङ्करजीकी प्रशंसा करने लगी। विष ग्रहण करते समय उसकी जो कुछ बूँदें धरतीपर टपक पड़ीं, उनको बिच्छू, साँप आदि विषैले जीवों तथा विषैली ओषधियोंने ग्रहण कर लिया।

: ८ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब शङ्करजीने विष पी लिया तो उसके बाद समुद्र-मन्थनसे हविर्धानी कामधेनु प्रकट हुई। अब ब्राह्मण लोग आगे आये और बोले कि यह पहली चीज प्रकट हुई है, इसलिए हमारी है। ऋषियोंने कहा कि पहली चीज तो चली गयी! ब्राह्मणोंने कहा कि नहीं-नहीं, वह तो समुद्रकी काई थी, उसको फेंक दिया गया, रत्न तो अब निकला है। हमको रत्नोंमें-से पहला रत्न चाहिए। लेकिन ब्राह्मणोंकी नहीं सुनी गयी और हविर्धानीको ऋषि लोगोंने ले लिया। क्योंकि यज्ञके लिए गाय बहुत आवश्यक है।

उसके बाद उच्चैःश्रवा नामका अश्व निकला। बलिने कहा कि यह हमको मिलना चाहिए। भगवान्‌ने इन्द्रकी ओर इशारा किया कि तुम चुप रहो। ये बड़े भाई हैं, इसलिए इसपर इनका हक है। सो उच्चैःश्रवा बलिको मिल गया।

उसके बाद ऐरावत नामका हाथी निकला, जिसके चार दाँत हैं और जिसका श्वेत वर्ण है। भगवान्‌ने कहा—दैत्यो, अब तुम चुप रहो। घोड़ा बलिको मिला तो हाथी इन्द्रको मिलेगा। दैत्य लोग खिसियाकर रह गये अपने मनमें कि हाय-हाय चार दाँतोंवाला सफेद हाथी निकल गया हाथसे!

अब भगवान्‌ने सोचा कि समुद्र-मन्थनकी महिमा बढ़ानी चाहिए। उनके गलेमें जो कौस्तुभ था, उसको उन्होंने चुपकेसे कहा कि जाओ तुम समुद्रमें मिल जाओ और यह कहकर पीताम्बरसे अपना गला ढँक लिया, जिससे कि कोई देख न सके। कौस्तुभ तो पद्मरागमणि है और नित्य है। वे समुद्र-मन्थनमें-से निकलकर आये और अपने-आप ही जाकर भगवान्‌के गलेमें लग गये कि मैं तो भगवान्‌के हिस्सेमें ही हूँ। भगवान्‌ने भी कहा कि यह तो हमको चाहिए-ही-चाहिए और उन्होंने उसको अपने अलङ्कारके रूपमें धारण कर लिया।

इसके बाद कल्पवृक्ष निकला। उससे जो माँगो, सो मिलता है। वह अपने-आप ही स्वर्गमें चला गया। फिर अप्सराएँ निकलीं और वे भी स्वर्गलोककी रमणियाँ हो गयीं।

तदनन्तर निकलीं लक्ष्मीजी—'साक्षाच्छ्री रमा' (८)। भगवान्‌ने कहा कि आओ देवी, तुम्हारा-हमारा ब्याह बहुत पुराना हो गया, अब हम नया ब्याह करें। हम तुमको छुट्टी दे देते हैं, तुम स्वयं हमारा वरण करो।

लक्ष्मीजी वरण करेंगी तो केवल भगवान्‌को ही वरण करेंगी; दूसरेको वरण करनेवाली नहीं। वे समुद्रसे प्रकट क्या हुईं, मानो चमकती हुई बिजली प्रकट हो गयी। सारे देवता, दैत्य, दानव, मानव, उनके रूप एवं औदार्यसे आक्षिप्त-चित्त हो गये। इन्द्रने उनके लिए आसन लाकर बिछाया, गङ्गा आदिने उनको गङ्गाजलसे स्नान कराया। सब लोगोंने अपनी-अपनी उत्तम वस्तुएँ लाकर लक्ष्मीजीको दीं। ऋषि लोग उनका अभिषेक करने लगे। गन्धर्व गान करने लगे। नृत्य-गान होने लगा। वरुणने उनको वैजयन्तीमाला भेंट की। देवताओंने चित्र-विचित्र आभूषण हारादि दिये।

लक्ष्मीजी अपने हाथमें कमल-माल लेकर इधर-उधर मुस्कुराते हुए विचरण करने लगीं। उनके मनमें यह सङ्कल्प था कि जो मुझे न चाहता हो, उसीको मैं वरण करूँगी। लेकिन सृष्टिमें ऐसा कोई मिला ही नहीं, जो उनको न चाहता हो। उन्होंने फिर एक बार सबपर दृष्टि डाली, लेकिन किसीमें पूरे-के-पूरे सद्गुण नहीं मिले। उन्होंने देखा और सोचा कि एक ओर तो बड़े-बूढ़े महात्मा दुर्वासा आदि बैठे हैं, जो तपस्वी तो बहुत हैं, लेकिन मैं इतने अधिक क्रोधीके साथ ब्याह कर लूँ और ये शाप दे दें तो क्या होगा ? भला शाप देनेवालेसे, गाली देनेवालेसे भी कोई ब्याह करता है ? इसी तरह शुक्र, गुरु आदि ज्ञानी तो बहुत हैं, लेकिन उनमें आसक्ति भी बहुत है। ब्रह्मा, चन्द्रमा आदि वड़े समदर्शी और सुन्दर हैं, लेकिन ये सब कामी हैं। परशुराम आदि धर्मात्मा हैं, किन्तु हिंसक हैं। उनमें प्राणियोंके प्रति कृपा नहीं। शिवि आदिमें त्याग है; लेकिन निवृत्ति नहीं। कार्तवीर्य आदि वीर तो बहुत हैं, लेकिन वे समयपर ध्वस्त हो जाते हैं। मार्कण्डेय आदिमें आयु वहुत है, लेकिन शील-मङ्गल नहीं और जिनमें आयु-शील दोनों हैं वे अमङ्गल हैं। अब रहे ये सुमङ्गल श्रीमुकुन्द ! बस, यही मुझको नहीं चाहते।

कहते हैं कि जब लक्ष्मीजीका स्वयंवर होने लगा तब भगवान् बेफिक्र थे कि वे किसी दूसरेके हाथमें तो जानेवाली हैं नहीं। इसलिए उन्होंने सोचा कि जबतक लक्ष्मीजी सबका निरीक्षण करेंगी, तबतक हम थोड़ी देर सो लेंगे। वे पीताम्बर ओढ़कर सो गये। जब लक्ष्मीजीको कोई पसन्द नहीं आया तब वे बोलीं कि वह कौन सो रहा है ? संसारमें ऐसा कौन पुरुष है, जो मुझको नहीं चाहता ? यह तो हमारे ब्याहके समय तान दुपट्टा सो रहा है ! वे देखनेके लिए गयीं तो देखा कि ये तो साक्षात् विष्णु भगवान् हैं। बस, लक्ष्मीजी उनके पाँव दबाने लग गयीं और बोलीं कि मैं तो तुम्हींको वरण करूँगी।

अब लक्ष्मीजीने सर्वगुणाश्रय एवं निरपेक्ष भगवान् श्रीमुकुन्दके गलेमें कमलकी माला डाल दी और चुपचाप उनके अनुग्रहकी प्रतीक्षा करती हुई उनके सन्निकट स्थित हो गयीं। भगवान्‌ने

कहा कि देवी, तुम मेरे सौन्दर्यसे डरना मत। यदि तुमको यह ख्याल हो कि मुझे जो देखेगा, वही मुझसे ब्याह कर लेना चाहेगा और तब हमारी सौतें बहुत हो जायेंगी तो आओ-आओ तुम मेरी छातीपर बैठो। फिर मैं दूसरे किसीका आलिङ्गन हो नहीं कर सकूँगा। मैं तुम्हारी अनुमतिके बिना किसी दूसरेको अपनाऊँगा ही नहीं। अब बाजे बजने लगे। भगवान्‌का नया ब्याह हुआ। लक्ष्मीके नवीन अवतरणसे देवताओंको नवीन सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति हुई।

उसके बाद वारुणीदेवी आयीं। असुरोंने कहा कि अच्छी-अच्छी चीजें तो भगवान् लिये जा रहे हैं, देवता लिये जा रहे हैं, ऋषि लिये जा रहे हैं, हमारे हकमें तो कुछ पड़ता ही नहीं। भगवान्‌ने कहा कि ठीक है, यह वारुणीदेवी तुम्हारे योग्य हैं, इनको तुमलोग ले जाओ।

तत्पश्चात् एक अद्भुत पुरुष निकला। कमलके समान उसके नेत्र हैं, श्यामवर्ण है, वनमाला पहने हुए है, पीताम्बरधारी है, सर्वाभरणभूषित है और हाथोंमें अमृतका कलश लिये हुए है। वे और कोई नहीं, आयुर्वेदविद्याके प्रवर्तक साक्षात् भगवान् धन्वन्तरि हैं। उन्होंने ही आयु दी है और वे ही उसकी रक्षा तथा उसका संवर्द्धन करते हैं।

जब असुरोंने अमृत-कलश देखा तब वे आगे बढ़ आये और कहा कि देवताओ, तुमने हमारे साथ बड़ी चालाकी की है, अब तुम भी हमारी एक चालाकी देखो। सौ सुनारकी तो एक लोहारकी। हम कलश ही उठा ले जाते हैं। असुरोंने धन्वन्तरिके हाथोंसे अमृत-कलश छीन लिया और वे चलते बने। यह देखकर हा-हाकार मच गया। देवता लोग भगवान्‌की शरणमें गये कि महाराज, अब क्या होगा? हमलोग आपकी भक्ति करते हैं। हम यदि इस तरह निष्फल हो गये तो दुनियासे भक्तिकी मर्यादा चली जायेगी। इसलिए आप कोई उपाय कीजिये भगवन्!

भगवान्‌ने कहा कि तुमलोग डरो मत। अभी तो हमारे पास ऐसी-ऐसी कलाएँ हैं कि दैत्यलोग उनको जानते ही नहीं। मैं अपनी मायासे मोहिनी-रूप धारण करके तुम्हारा काम बनाऊँगा।

इसके बाद अमृतके लिए असुरोंमें कलह होने लगा। आपसमें फूट पड़ गयी कि यह अमृत-कलश किसके पास रहे? इसी बीच भगवान्‌ने मोहिनीका रूप धारण कर लिया। प्रेक्षणीय, उत्पलश्याम, सर्वं अवयव-सुन्दर, समान कर्णाभरण, सुन्दर कपोल, उठी हुई नासिका, उभरे हुए वक्षःस्थल और रमणीय मुख—सर्वाङ्ग सुन्दर रूप धारण करके मोहिनी आयीं और मुस्कुराते हुए लज्जाके साथ अपनी भौंहोंका संचालन करने लगीं। उनको देखकर दैत्योंके चित्तमें कामका उद्दीपन हो गया।

: ६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, दैत्योंने जब मोहिनीको देखा तब वे आपसमें लड़ना-झगड़ना छोड़कर मोहिनीके पास आगये और बोले कि तुम तो बहुत सुन्दरी हो। कौन हो तुम ? ऐसा लगता है कि तुमको कभी किसीने स्पर्श ही नहीं किया। ब्रह्माजीने तुम्हें हमारे लिए ही भेजा होगा कि तुम यहाँ आकर हमारे मन और इन्द्रियोंकी तृप्ति करो। देवीजी ! हमलोग एक ही वस्तुके लिए आपसमें लड़ाई कर रहे हैं। हममें परस्पर वैर हो गया है। तुम उसे शान्त कर दो, हमलोगोंका समझौता करा दो। हमलोग कश्यपके बेटे हैं और हम सबने समान पौरुष करके इसको प्राप्त किया है। अब तुम न्यायके अनुसार इस वस्तुका वितरण कर दो, जिससे कि हमलोगोके बीच भेद-भाव न हो।

देखो, असुरोंका स्वभाव ! एक अज्ञात-कुलशीला सुन्दरी स्त्री उनके सामने आयी और उन लोगोंने उसके हाथमें न्याय सौंप दिया। इसे कहते हैं भगवान्की माया। अब भगवान्ने दिखाया अपना त्याग। इसे 'चरसिया-त्याग' कहते हैं। इसमें ज्यादा पकड़नेके लिए पहले थोड़ा-सा त्याग दिखाते हैं।

भगवान् बोले—कहाँ तो मैं पुंश्चली स्त्री और कहाँ आपलोग कश्यपके बेटे ! भला कोई विद्वान् किसी कामिनीपर विश्वास करता है ? व्यभिचारिणी स्त्री और कुत्तेकी मैत्री कभी स्थिर नहीं होती। इनको तो नया-नया चाहिए। फिर भला आपलोग मेरे ऊपर विश्वास कैसे करते हैं ?

इस कथनसे दैत्य और भी मोहित हो गये। उन्होंने हँसकर वह अमृत-पात्र मोहिनी-रूपधारी भगवान्के हाथोंमें दे दिया। सो उन्होंने तिरछी नजरसे मुस्कुराकर कहा कि मैं जो कुछ

अच्छा-बुरा करूँगी, वह आपलोगोंको स्वीकार करना पड़ेगा। माया-मोहित दैत्योंने उत्तर दिया कि ठीक है, ऐसा ही होगा।

इसके बाद भगवान्‌ने कहा कि समुद्र-मन्थनसे निकली हुई पवित्र वस्तु यों ही थोड़े पिलायी जाती है? सब लोग स्नान करो। व्रत करो। अग्निमें हवन करो। ब्राह्मणोंको दान करो। शुद्ध वस्त्र पहनो और सब लोग कुशासनपर आसन लगाकर बैठो। सबने ऐसा ही किया। इसके बाद मदविह्वलाक्षी मोहिनी रुनझुन करती हुई हाथमें अमृत-कलश लेकर आयी। उसका सौन्दर्य देखकर सब मोहित हो गये। मन विषयान्तर में चला गया।

अब भगवान्‌ने सोचा कि इन दैत्योंको अमृत पिलाना साँपोंको दूध पिलानेसे भी अधिक अन्याय होगा, क्योंकि ये हमेशा जिन्दा रहकर लोगोंको बहुत सतायेंगे। इसलिए उन्होंने दैत्योंको अमृत न पिलानेका निर्णय करके ऐसा किया कि दैत्योंसे तो मीठी-मीठी बात करें, उनकी ओर तिरछी चितवनसे देखें और देवताओंको अमृत पिलाते जायें, जिसको पी लेनेपर जरा-मरणका निवारण हो जाता है।

दैत्य लोग मोहिनी द्वारा निर्धारित मर्यादाका पालन करनेके लिए चुपचाप बैठे रहे। केवल राहु वेश बदलकर देवताओंकी पंक्तिमें सूर्य और चन्द्रमाके मध्य बैठ गया। उसने थोड़ा-सा अमृत पिया ही था कि सूर्य और चन्द्रमा उसको पहचान गये और उन्होंने भगवान्‌को उसकी सूचना दे दी। भगवान्‌ने उसी क्षण चक्रसे उसका सिर काट दिया। अब तो यह सारी-की-सारी पोल ही खुल गयी कि अमृत पिलानेवाली मोहिनी साधारण स्त्री नहीं, साक्षात् भगवान् विष्णु हैं।

अब तो भगवान्‌ने झट मोहिनीका वेश बदल दिया। न उनके सिरपर जूड़ा रहा, न साड़ी रही, न शरीरमें वे अंग रहे; उनका वही शङ्ख-चक्र, गदायुक्त पीताम्बरधारी स्वरूप प्रकट हो गया। साक्षात् नारायण प्रकट हो गये। 'पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः' (२७)। देवता और दैत्य टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये। देवताओंको तो फल मिल गया, किन्तु दैत्योंको नहीं मिला। क्योंकि सफलता तो भगवान्‌के आश्रयसे ही प्राप्त होती है—

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥ २९

जैसे पेड़की जड़में पानी डालनेसे सम्पूर्ण पेड़ सिंच जाता है, वैसे ही भगवान्‌का आश्रय लेकर अभेद-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह सफल होता है और जो भेद-बुद्धिसे कर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है।

●

: १० :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, यद्यपि देवता और दानव दोनों समान रूपसे एक ही कर्ममें लगे रहे, तथापि वासुदेव—पराङ्मुख होनेके कारण दैत्योंको सफलता नहीं मिली। देवताओंको अमृत पिलाकर गरुड़वाहन भगवान् सबके देखते-देखते चले गये।

इधर जब दैत्योंने देखा कि हमारे शत्रुओंको बड़ी भारी सफलता मिल गयी है, तब वे तिलमिला उठे। उन्होंने देवताओंसे युद्धकी घोषणा कर दी। दोनों ओरसे अस्त्र शस्त्र सज गये, युद्धकी भूमिका तैयार हो गयी। देवता लोगोंको नारायणका अस्त्र प्राप्त है एवं अमृत मिला हुआ है। वे दैत्योंसे युद्ध करने लगे। बड़ा रोमहर्षक संग्राम हुआ। चारों तरफ बाजे बजने लगे।

पदातिसे पदाति, सवारसे सवार, यहाँ तक कि कोई भी जानवर युद्धमें नहीं छोड़ा गया। ऊँट, वानर, सिंह, रीछ, गृध्र, कङ्क, बक, मूषक सबपर चढ़कर देवता और दैत्य आविष्ट होकर आपसमें युद्ध करने लगे।

बलि भी अपने विमानपर आरूढ़ होकर उस युद्धमें सम्मिलित हो गये। नमुचि, शम्बर, बाण, सब-के-सब युद्ध-भूमिमें आ धमके। बड़ा भयङ्कर संग्राम हुआ। इन्द्र ऐरावतपर चढ़कर आये। एक दूसरेके प्रति मर्म-वचन बोलने लगे। अपने-अपने जोड़ीदारके साथ सब-के-सब भिड़ गये। पृथिवी उनका पादाघात न सह सकी। बलिने अन्तर्धान होकर मायाकी सृष्टि की। चारों ओरसे अङ्गारोंकी वर्षा होने लगी। जब देवता लोग हारने लगे, तब उन्होंने विश्वपालक भगवान् कमलनाभ नारायणका स्मरण किया। किरीटी, कुण्डली, पीताम्बरी प्रभु उनके बीचमें प्रकट हुए। भगवान्के प्रकट होते ही असुरोंकी माया नष्ट हो गयी। क्योंकि 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (५५)—भगवान्की स्मृति सारी विपत्तिको नष्ट कर देती है।

जब कालनेमिने देखा कि युद्धमें गरुड़ारूढ़ हरि आये हैं तब उसने उनपर शूल फेंका। शूल गरुड़के सिरपर गिरा। भगवान्ने उसको पकड़ लिया और फिर कालनेमिको मार डाला। इसके बाद उन्होंने चक्रसे माली, सुमालीके भी सिर काट दिये। माल्यवान्ने गदासे गरुड़पर प्रहार किया। किन्तु भगवान्ने उसका भी सिर काट दिया।

कहते हैं कि अमृत पीनेके बाद भी देवता लोग विजयी नहीं हो रहे थे। अमृतका जो लाभ होना चाहिए था, वह उनको नहीं हो रहा था। कारण यह है कि अमृत चेतन है। उसने यह विचार किया कि जब देवता और दैत्य दोनोंने बराबर-बराबर मन्थन किया, दोनोंका परिश्रम लगा तो देवताओंके लिए उचित यही था कि वे दैत्योंको भी भाग दे देते। लेकिन देवताओंने ऐसा न करके बहुत अनुचित किया। इसलिए अमृतने देवताओंको सहायता ही नहीं की। किन्तु जब भगवान् स्वयं आकर देवताओंकी ओरसे युद्ध करने लगे तब अमृतने कहा कि अब ठीक है। देवताओंको कृतघ्नताका दोष नहीं लगेगा। क्योंकि भगवान् उनके सहायक हैं। औचित्य उसी पक्षमें होता है, जिधर भगवान् होते हैं। जितने भी धर्म हैं, वे सब भगवान्का प्रसाद, भगवान्की सहायता प्राप्त करनेके लिए हैं, उनकी शरणागतिके लिए हैं। 'यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः'—जहाँ भगवान् हैं, वहीं जीत है। यह नहीं समझना कि अमृतमें ईश्वरसे पृथक् कोई बल है। वह तो वैसे ही निर्बल है जैसे अग्नि निर्बल है, वायु निर्बल है। यह कथा केनोपनिषद्में आती है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि जब देवताओंको भगवान्‌की सहायता प्राप्त हुई तो उनका बल बहुत बढ़ गया और उन लोगोंने असुरोंपर भीषण-प्रहार प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रने अपने हाथमें वज्र उठा लिया और बलिको मारनेके लिए उद्यत हो गये। सृष्टिमें हाय-हाय मच गयी। इन्द्रने ललकारते हुए कहा कि बलि तुम हमलोगोंके साथ मायाका व्यवहार करते हो? हम तो स्वयं मायाके अधिपति हैं। लेकिन तुम मायासे स्वर्गके राजा बनना चाहते हो? अभी तुम्हारा वज्रसे सिर काटता हूँ।

बलिने कहा कि इन्द्र, हम दोनों युद्धमें आमने-सामने खड़े हैं। हममें-से किसी-न-किसीकी तो कालके अनुसार कीर्ति और जय-पराजय होगी ही। महात्मा लोग इस बातको जानते हैं। वे न जयसे हृष्ट होते हैं और न पराजयसे अपकृष्ट होते हैं। तुम मूर्ख हो, जो अहङ्कार करते हो। हम तुम्हारी बातको ग्रहण नहीं करते। यह कहते हुए बलिने इन्द्रपर बहुत बाण चलाये। लेकिन इन्द्रने बलिको वज्रसे मारकर धरतीपर गिरा दिया।

अब जम्भासुर जो बलिका मित्र था, लड़नेके लिए आया। उसने ऐसी गदा मारी कि ऐरावतने घुटने टेक दिये। इन्द्र रथपर चढ़े। उन्होंने जम्भका सिर काट दिया। उसके बाद नमुचि, बल, पाक—ये तीनों असुर आये। नमुचिके साथ इन्द्रका बड़ा प्रबल युद्ध हुआ। इन्द्रने नमुचिपर वज्र-प्रहार भी किया, परन्तु उसका सिर नहीं कटा। इन्द्र बड़ी चिन्तामें पड़ गये कि यह क्या हो गया? यहाँ तो वज्र भी निष्फल है। आकाशवाणी हुई कि इसको किसी गीली या किसी सूखी चीजसे नहीं मरनेका वरदान प्राप्त है। तब इन्द्रने युक्तिसे वज्रके साथ समुद्रका फेन लगाया और उसके बाद नमुचिके सिरको काट दिया।

महात्माओंने इन्द्रकी बहुत स्तुति की। देवताओंकी जीत हो गयी। देवताओंने इन्द्रका बड़ा स्वागत-सत्कार किया किन्तु जब देवता लोग दैत्योंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे, तब नारदजीने आकर कहा कि इसमें तुम लोगोंकी कोई बहादुरी नहीं। भगवान्‌के भुजाश्रयसे, तुम लोगोंको अमृतकी प्राप्ति हो गयी। लक्ष्मीने तुम्हें कृपा-दृष्टिसे देखा। तुम्हारी वृद्धि हो गयी। अब व्यर्थमें द्वेष करनेसे कोई लाभ नहीं।

देवता लोगोंने नारदकी बातपर बहुत ध्यान दिया और युद्ध करना छोड़ दिया। जो दैत्य बच गये थे, उनको नारदजीने जाकर शिक्षा दी। क्योंकि नारद देवता और दैत्य दोनोंके गुरु हैं, दोनोंको भगवान्‌की ओर ले जाते हैं।

अब दैत्य लोग बलिको साथ लेकर अस्ताचल पहुँचे। वहाँ शुक्राचार्यने जिन-जिन असुरोंके अंग-भंग हो गये थे, उन सबको जोड़-जाड़कर सञ्जीवनी-विद्यासे जीवित कर दिया। बलिको पूर्व-स्मृति प्राप्त हो गयी। बलि इतने विद्वान् और बुद्धिमान् थे कि पराजित होनेपर भी खिन्न नहीं होते थे। •

: १२ :

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, जब शङ्करजीके पास यह समाचार पहुँचा कि भगवान्‌ने मोहिनी रूप धारण करके असुरोंको मोहित कर दिया और देवताओंको अमृतपान कराया तब वे भी बैलपर चढ़कर भगवान्‌का दर्शन करनेके लिए आये। भगवान्‌ने भी उनका बहुत स्वागत-सत्कार किया।

शङ्करजीने प्रार्थना की कि प्रभो, आप तो जगद्व्यापी हैं, सारे भाव आपमें ही हैं। महात्मा लोग, लोक और परलोक दोनोंकी आसक्ति छोड़कर आपके चरण-कमलकी उपासना करते हैं। आप साक्षात् ब्रह्म हैं। 'सदसद् द्वयमद्वयं च'—सत् भी आप ही हैं और असत् भी आप ही हैं, द्वैत भी आप ही हैं, अद्वैत भी आप ही हैं।

देखो, यह महात्माओंके आस्वादनकी पद्धति है। परमात्माका रस एक है, आस्वादनकी पद्धति अनेक हैं। कोई विशिष्टाद्वैतकी रीतिसे आस्वादन करते हैं, कोई द्वैतकी रीतिसे आस्वादन करते हैं। द्वैत कहो, अद्वैत कहो—एक ही परमात्मा कारण-कार्य, द्वय-अद्वय हैं। वेदान्ती लोग उसीको ब्रह्म कहते हैं। मीमांसक लोग उसीको धर्म कहते हैं। साङ्ख्यक उसीको प्रकृति और पुरुषसे परे परमपुरुष कहते हैं। पातञ्जल उसको पुरुषविशेष कहते हैं। सब-के-सब उसीके नाम हैं।

शङ्कर भगवान्ने कहा—प्रभो, आपके नाम सब हैं, मैं आपको पहचानता हूँ। जगत्के बन्ध, मोक्ष, स्थिति, जन्म, नाश जो कुछ भी हैं, वे सब आप ही हैं। आपके सियाव दूसरी कोई वस्तु नहीं। मैंने आपके बहुत-से अवतारोंका दर्शन किया। किन्तु इधर आपने मुझको तो पिला दिया विष और उधर अमृत पिलानेके लिए मोहिनी रूप धारण कर लिया। वह मोहिनी रूप क्या है—मैं भी देखना चाहता हूँ।

कहते हैं कि जब देवताओंकी जीत और दैत्योंकी हार हो गयी, तो सब देवता सम्मिलित होकर विष्णु भगवान्के पास गये तथा बोले कि महाराज, आपके सहारे हमारी जीत तो हो गयी; लेकिन अब दैत्य लोग जाकर शङ्करजीकी शरण लेंगे। शङ्करजी शरणागतवत्सल हैं। यदि उनकी ओरसे त्रिशूल लेकर खड़े हो जायेंगे, तब हमारा जय भी पराजय हो जायगा।

विष्णु भगवान्ने कहा कि यह कोई बात नहीं। हमारा उनका तो बहुत प्रेम है। आओ, हम उनका चिन्तन करते हैं। नारायणने मन-ही-मन कहा कि शङ्करजी, देवता लोग बहुत घबराते हैं। शिवजीने कहा—बात तो ठीक है। अगर दैत्य लोग हमारी शरणमें आयेंगे तो हम उनकी मदद तो जरूर करेंगे। विष्णुजी बोले—फिर आप ही बताओ क्या युक्ति करें? तब शङ्करजी बोले कि आप कोई ऐसी युक्ति करो महाराज, कि हम आपसे हार जायें। जब हम आपसे हार जायेंगे तो दैत्य लोग कहेंगे कि जब ये भी नारायणसे हार गये तो इनकी शरणमें जानेसे क्या होगा? और वे हमारी शरणमें नहीं आयेंगे। इसलिए आपने मोहिनीरूप धारण करके जैसे दैत्योंकी वञ्चना की, वैसा ही कोई खेल हमारे साथ भी कीजिये। इस तरह विष्णु और शङ्कर दोनोंमें टेलीफोनपर बात हो गयी तब शङ्करजी वहाँ तुरन्त पहुँच गये।

दूसरी बात यह है कि भागवतपुराणमें नारायण प्रतिपाद्य देवता हैं, साक्षात् भगवान् हैं और दूसरे देवता उनकी अपेक्षा कनिष्ठ ही हैं। यदि भागवतमें शङ्करजीको हराया नहीं जायगा तो नारायणके परत्वका प्रतिपादन ही नहीं होगा। इसीलिए वे मोहिनीको देखकर हार जाते हैं।

तीसरी बात यह है कि स्त्रीके आकर्षणसे कभी किसीको आश्वस्त नहीं होना चाहिए। जब शङ्करजीके मनमें भी कामका उदय हो सकता है, तब साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है?

अब आप एक चौथी बातपर भी ध्यान दें। वह यह है कि जो आत्माराम महापुरुष हैं, उनके जीवनमें क्या आता है और क्या जाता है, इससे उनकी निष्ठामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह बात स्वयं विष्णु भगवान्‌ने ही शङ्करजीकी प्रशंसा करते हुए कह दी है—

स्वां निष्ठामात्मना स्थितः। ३८

पाँचवीं बात यह है कि जब कामदेव फिरसे जीवित हो गया तब उसने बड़ी भारी तपस्या द्वारा भगवान् शङ्करकी आराधना की। इससे भगवान् शङ्कर उसपर प्रसन्न हो गये और बोले कि कामदेव, तुम जो चाहते हो, मुझसे माँग लो। कामदेवने कहा कि महाराज, आपने पहले मुझे जला दिया था। अब कुछ ऐसी लीला कीजिये, जिससे दुनिया यह देख ले कि आप भी कभी-कभी कामके वशमें हो जाते हैं। इसलिए भी शङ्कर भगवान्‌ने मोहिनीको देखनेकी इच्छा प्रकट की।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोण हैं इस मोहिनी-लीलाके प्रसंगमें। भगवान्‌की यह अद्भुत जो महामाया है, वह सबको मोहित कर लेती है। स्वयं अवढरदानी शङ्करजी महाराज भी कभी-कभी ऐसे प्रसंगोंमें फँसकर भक्तोंका भला करते हैं, जैसा कि उन्होंने वृकासुरके प्रसंगमें किया था।

भगवान्‌ने कहा कि शङ्करजी, वह तो मैंने दैत्योंको कौतूहलमें डालनेके लिए मोहिनीका रूप धारण किया था। कामी लोग उसका आदर बहुत करते हैं, किन्तु जो मोहित करनेके लिए रूप होता है, वह उपास्य नहीं होता। जैसे बुद्धका रूप मोहित करनेके लिए है, इसलिए उपास्य नहीं, वैसे ही मोहिनीका रूप भी उपास्य नहीं—

कामिनां बहु मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम्। १६

अब वहाँ तुरन्त बड़ा भारी बगीचा और सरोवर तैयार हो गया। भगवान् शङ्कर अपने साथ उमाजीको लेकर गये थे। उनके सामने ही गेंद खेलती हुई मोहिनीजी प्रकट हुईं। अब उनकी कन्दुक-क्रीड़ा देखकर शङ्कर भगवान् मोहित हो गये। मोहिनीजो कटाक्ष करती हुई देवीजीकी ओर देखने लगी। शङ्करजी विह्वल हो गये। जब मोहिनीजीके हाथसे कन्दुक थोड़ा दूर चला गया तब मोहिनीजी उसे लेनेके लिए आगे बढ़ीं। शङ्करजी भी उनकी ओर चल पड़े। इतनेमें मोहिनीकी कमरकी करधनी हट गयी। जो सूक्ष्म वस्त्र उनके शरीरपर थे, उनको भी वायुने हर लिया। अब तो शङ्करजी महाराजको विह्वलताकी सीमा नहीं रही। उनके साथ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी थे। परन्तु शङ्कर भगवान्‌ने किसीकी शर्म नहीं की। मोहिनीजीके पीछे-पीछे भागने लगे और अन्तमें ऐसे हो गये, जैसे मायाने उनको वशमें कर लिया हो! उनका वीर्य स्खलित हो गया।

शङ्करजीको किसीकी कोई परवाह नहीं थी। क्योंकि वे समझते थे कि मैं दुनियाके सामने तो मोहित हुआ नहीं हूँ, भगवान्‌के सामने ही मोहित हुआ हूँ। यह हमारे विष्णु भगवान्‌की माया है। अपने इष्टदेवसे या गुरुसे हार जाना कोई पराजयकी बात नहीं होगी। वे बहुत हीं प्रसन्न हुए।

भगवान् बोले कि शङ्करजी, तुम्हारे अद्वैत-बोधमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं। मेरे द्वारा मोहित होनेपर भी तुम मायासे पार हो गये। तुम्हारे सिवाय भला ऐसा कौन है सृष्टिमें, जो मेरी मायासे पार जा सके? अब यह गुणमयी माया तुमपर अपना कोई प्रभाव नहीं डालेगी—

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः। ३८

इस प्रकार भगवान् नारायणने शङ्करजीका बहुत सत्कार किया। फिर उनको आमन्त्रित करके वे चले गये।

अब शङ्कर भगवान् ऋषियों-मुनियोंके बीचमें ही उमासे कहने लगे कि देवी, तुमने भगवान्‌की माया देख ली। जब मैं ही इससे मोहित हो जाता हूँ तब इससे यदि संसारके जीव मोहित हो जायेंगे तो कहना ही क्या है!

इस प्रकार समुद्र-मन्थनके प्रसंगमें भगवान्‌की जो लीला है, वह उनके पराक्रमकी लीला है। इसमें दर्शन होते हैं अमृत-प्राप्तिके लिए परामर्श देनेवाले भगवान्‌के, मन्दराचलको उठाकर लानेवाले भगवान्‌के, कच्छप बनकर बैठनेवाले भगवान्‌के, उसको दवानेवाले भगवान्‌के, वासुकिके शरीरमें स्थित भगवान्‌के, देवता दैत्योंके रूपमें प्रकट भगवान्‌के, अकेले दोनों ओरसे मथनेवाले भगवान्‌के, अमृतको लेकर प्रकट होनेवाले भगवान्‌के, मोहिनी बनकर अमृत पिलानेवाले भगवान्‌के, देवताओंकी ओरसे युद्ध करके उनकी रक्षा करनेवाले भगवान्‌के और अन्तमें पुनः मोहिनी बनकर शङ्करजीको मोहित करनेवाले भगवान्‌के। सारी-की-सारी लीला भगवन्मयी है। इसके आदि-मध्य-अन्तमें सर्वत्र भगवान्‌के पराक्रमका ही प्राकट्य है—

असदविषयमङ्घ्रि भावगम्यं प्रपन्नानमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारींस्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥ ४७

●

: १३ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज वर्तमान तथा भावी मन्वन्तरोंका संक्षेपमें वर्णन करते हुए कहते हैं कि परीक्षित, वर्तमानमें श्राद्धदेव वैवस्वत मनु हैं। इनके इक्ष्वाकु, नभग, दिष्ट आदि दस पुत्र हैं। नवम स्कन्धमें इनका चरित्र आनेवाला है। आदित्य, वसु, रुद्र, ये सब देवता हैं। पुरन्दर नामका इन्द्र है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि सप्तर्षि हैं। इसमें कश्यपसे अदितिमें वामनावतार होता है।

परीक्षित, यह मैं तुमको छठे स्कन्धमें बता चुका हूँ कि विवस्वान्‌की दो पत्नियाँ थीं—एक छाया और दूसरी संज्ञा। विवस्वान्‌को सूर्य भी कहते हैं। छाया उन्हींसे उत्पन्न होती है, जहाँ जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ-वहाँ छाया भी होती है। इसी तरह संज्ञा भी—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पशु है, यह पक्षी है—सूर्यके साथ ही रहती है। कोई-कोई कहते हैं कि इन दोनोंके

अतिरिक्त विवस्वान्की एक तीसरी पत्नी भी थी—वड़वा। सावर्णि, तपती, श्नैश्चर—ये तीन छायाकी सन्तान हुईं। यम, यमी, श्राद्धदेव—ये तीन संज्ञाके पुत्र हुए और अश्विनीकुमार बड़वाके हुए।

भविष्यमें सावर्णि आठवें मनु होंगे। उनके दस पुत्र होंगे। उनके मन्वन्तरमें बलि इन्द्र हो जायेंगे। वामन भगवान्ने बलिसे तीन पग पृथिवीकी याचना की थी। बलिने उनको अपना सर्वस्व देकर मुक्तिकी प्राप्ति कर ली। इस समय वे सुतललोकमें भगवान्के साथ निवास करते हैं। आठवें मन्वन्तरमें गालव आदि सप्तर्षि होंगे। इस समय वे अपने-अपने मण्डलमें हैं। भगवान्का सार्वभौम नामक अवतार होगा। वही इन्द्रसे स्वर्ग छीनकर बलिको दे देंगे।

इसी प्रकार दक्ष सावर्णि नवें मनु, ब्रह्म सावर्णि दसवें मनु, धर्म सावर्णि ग्यारहवें मनु, रुद्र-सावर्णि बारहवें मनु, देव सावर्णि तेरहवें मनु और इन्द्र सावर्णि चौदहवें मनु होंगे। इन सबके पृथक्-पृथक् पुत्र, सप्तर्षि और अवतार आदि होंगे।

इस प्रकार यह जो चौदह मन्वन्तर हैं, इनको सद्धर्मकी स्थापनाके लिए पुरुषकी आवश्यकता पड़ती है। उनमें ऋषि भी होने चाहिए, पालन करने योग्य प्रजा भी होनी चाहिए, पुत्र भी होने चाहिए और उस धर्मके संरक्षक राजा लोग भी होने चाहिए। इस दृष्टिसे मन्वन्तरोंके माध्यमसे धर्मराज्यका वर्णन है।

अब जब हम मन्वन्तरोंके हिसाबसे अपनी आयुको देखते हैं तब पता लगता है कि वह कितनी छोटी है। हमारा जो युग है, यह ब्रह्माजीकी घड़ीकी टिक-टिकके बराबर है। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर, एक मन्वन्तरमें इकहत्तर चतुर्युगी और एक चतुर्युगीमें एक कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्षका होता है। उसमें हमारी नन्हीं-सी आयुकी कोई गणना नहीं है। असलमें इस प्रकारकी काल-गणना हमारे वैराग्यमें बड़ी भारी मददगार है। परमात्मा नित्य है और इसी नित्यताको समझनेके लिए बताया गया है कि चौदह मन्वन्तरोंका ब्रह्माका एक दिन है, उन दिनोंके सौ वर्षोंको ब्रह्माकी आयु है और वह ब्रह्माकी आयु विष्णु भगवान्का एक क्षण है। अब आप ही विचार करें कि उसमें हमारे देहादिका क्या अस्तित्व है? इसीलिए जब हम परमात्माकी दृष्टिसे देखते हैं तब इसमें प्रपञ्चबाधित हो जाता है। काल गणनाके द्वारा इस बातको समझानेके लिए कि नित्यता कैसी होती है और हमारे देहादिकी अनित्यता कितनी तुच्छ है, क्षुद्र है, मिथ्या है—इस बातको समझानेके लिए ही मन्वन्तरोंका वर्णन आता है।

•

: १४ :

जब राजा परीक्षितने यह पूछा कि भगवान् किस मन्वन्तरमें किसको, किस कर्ममें नियुक्त करते हैं तब श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया—मनु, मनुपुत्र, मुनि, इन्द्र, सुरगण—ये सब भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न होते हैं। उनमें यज्ञादि भगवान्के अवतार होते हैं। उनके द्वारा धर्मकी रक्षा होती है। चतुर्युगीके अन्तमें ऋषि लोग तपस्यासे वेदका विस्तार करते हैं और वेदसे सनातन धर्मकी रक्षा होती है। धर्म चतुष्पाद होता है। मनुजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार सारे काम करते हुए प्रजाका पालन करते हैं। देवता लोग यज्ञका भाग लेते हैं। इन्द्र त्रैलोक्य-लक्ष्मीका पालन करते हैं और लोकमें सबकी कामनाकी वर्षा करते हैं। भगवान् सिद्धरूप अर्थात् महात्माओंका रूप धारण करके कर्म-योग-ज्ञानका उपदेश करते हैं और प्रजेश अर्थात् प्रजापतिके रूपमें डाकुओंके दलका हरण करते हैं।

फिर भगवान् कालरूपसे सबको प्रलयकी ओर ले जाते हैं। लोग भगवान्की स्तुति तो करते हैं, लेकिन नाम-रूपात्मक मायामें विमूढात्मा हो जाते हैं—विमोहितात्मा हो जाते हैं। जब अनेक प्रकारका, नानात्वका दर्शन होने लगता है तब भगवान्का दर्शन लुप्त हो जाता है।

परीक्षित, इस प्रकार कल्प-विकल्पका प्रमाण शास्त्रमें बताया हुआ है। यह मन्वन्तर जीवके लिए तो वैराग्यका हेतु है और ईश्वरकी नित्यताका ज्ञापक है। इसका वर्णन यही बोधित करनेके लिए किया गया है कि मनुष्यको अपने क्षण-भङ्गुर जीवनमें सद्धर्मका पालन करना चाहिए।

: १५ :

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत ।
भूतेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥ १

अब राजा परीक्षितने पूछा कि भगवन्, मुझे इस बातका बड़ा कौतूहल है कि भगवान्‌ने एक गरीबकी भाँति बलिके पास जाकर तीन पग धरती क्यों माँगी ? फिर निरपराध बलिको बाँधा क्यों ? न तो परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका भिखारी होना उचित लगता है और न धर्मात्मा बलिको बन्धनमें डालना उचित प्रतीत होता है। इसलिए कृपया आप मेरी शङ्का निवारण कीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि जब बलि युद्धमें हार गये और भृगुवंशी ब्राह्मणोंने उनको जीवित कर दिया तब बलिने सोचा कि मेरे प्राण तो ब्राह्मणोंके द्वारा ही प्राप्त हुए हैं और सुरक्षित हैं। यह सोचकर उन्होंने अपना सब कुछ भृगुवंशी ब्राह्मणोंके चरणोंमें निवेदित कर

दिया और उन्हींकी सेवा करने लगे। भृगुवंशी ब्राह्मणोंने भी उनकी तरह-तरहसे सहायता की और उनसे विश्वजित्-याग करवाया। विश्वजित्-यागमें यज्ञाग्निसे एक स्वर्णरथ इन्द्रके हरे रंगके घोड़ेकी तरह घोड़े निकले। सिंह चिह्नसे युक्त ध्वजा भी प्रकट हुई और दिव्य धनुष प्रकट हुआ। पितामह प्रह्लादने उनको अम्लान पुष्पोंकी माला दी। शुक्राचार्यने शङ्ख दिया। ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया। उनके पास युद्धकी सारी सामग्री इकट्ठी हो गयी।

उसके बाद बलि धन्वी, खड्गी, धृतेषुधि होकर दिव्य रथपर सवार हुए और उन्होंने नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित सेना लेकर इन्द्रपुरीपर चढ़ाई कर दी। इन्द्रपुरी बड़ी विलक्षण पुरी है। मनुष्यके चित्तमें जो एक उत्तम-से-उत्तम पुरीकी कल्पना हो सकती है उससे भी सुन्दर है वह इन्द्रपुरी। वहाँ भाँति-भाँतिके पशु-पक्षी, खग-मृग और उद्यान हैं। वह आकाशगङ्गासे वेष्टित है, अग्निवर्ण प्राकारसे घिरी हुई है। उसमें राजमार्ग अलग हैं, साधारण मार्ग अलग हैं तथा पैदल चलनेवालोंके लिए मार्ग हैं। वहाँ स्फटिकमणिके पुर-द्वार, सभा-भवन और रथ आदि सब-कुछ हैं। उसमें देवता लोग अलङ्कार आदि धारण करके विचरण करते रहते हैं।

जब बलिने अमरावतीको चारों ओरसे घेर लिया और भार्गव-आचार्यका दिया हुआ शङ्ख बजाया, तब इन्द्र अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास जाकर बोले कि महाराज, बलिने तो बड़ी भारी सेना लेकर हमारी राजधानीको घेर लिया है। अब हम क्या करें? गुरुजीने कहा कि देखो इन्द्र, तुम्हारे शत्रु बलिको भृगुवंशियोंने अपना तेज दे दिया है अब तुम या तुम्हारे सरीखा दूसरा कोई बलिके सामने टिक नहीं सकता। जबतक इनके विपर्ययका समय न आये, तबतक तुम्हें उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस समय बलिको जीत सकना किसी प्रकार संभव नहीं।

जब गुरुजीने ऐसी सलाह दी, तब देवतालोग स्वेच्छानुसार रूप धारण करके वहाँसे निकल गये और बलि बिना युद्ध किये ही इन्द्रपदपर बैठ गये। उसके बाद भृगुवंशी ब्राह्मणोंने बलिसे उनके इन्द्रपदको स्थिर करनेके लिए सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये। उन यज्ञोंके प्रभावसे बलिकी कीर्तिका विस्तार हो गया। बलि अपनेको कृतकृत्य मानकर ब्राह्मणोंकी बुद्धि और कृपासे प्राप्त समृद्धिलक्ष्मीका उपभोग करने लगे।

●

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब देवता लोग इधर-उधर भागकर छिप गये तब उनकी माता अदितिको बहुत दुःख हुआ।

देखो, जब दैत्य मारे जाते हैं तब उनकी माता दितिको दुःख होता है और जब देवता हार जाते हैं तब उनकी माता अदितिको दुःख होता है। यद्यपि अदिति अदीना है, हमेशा सन्तुष्ट रहती है; तथापि कभी-कभी उसके मनमें भी दैन्यका सञ्चार हो जाता है। जो भेद-भाव करे उसका नाम है दिति। यह 'द्यो-अवखण्डने' धातुसे बना हुआ रूप है। जो भेद-भाव न करे, जिसकी बुद्धि समन्वयात्मक, समन्वय करनेवाली होती है, उसका नाम है अदिति। अदितिके शरीरमें देवता प्रकट होते हैं, किन्तु दिति भेद-भाव रखनेवाली, खण्ड-खण्ड करनेवाली और संघर्ष-वैमनस्य-परायणोंकी जननी होती है।

तो, जब अदिति दुःखमें डूबी हुई थी तब एक दिन कश्यपजी महाराज उसके आश्रममें आये। कश्यपजी बराबर विचरण करते रहते थे, किसी एक आश्रममें रहनेवाले नहीं थे। उन्होंने जब देखा कि उनकी पत्नी अत्यन्त दुःखी हो रही है तब पूछा कि देवी, तुम्हारे घरमें कुशल तो है न ? तुम्हारे धर्म-व्यवहारमें कोई हानि तो नहीं हुई ?

देखो, आजकलके लोग अपनी पत्नीको दुःखी देखेंगे तो पूछेंगे कि तुम्हारे शरीरमें कोई रोग तो नहीं, तुम्हें पैसेकी कमी तो नहीं, किसीने तुम्हारा अपमान तो नहीं किया ? लेकिन प्राचीनकालके महात्मा लोग पत्नीको दुःखी देखकर पूछते थे कि तुम्हारे धर्म-पालनमें कोई त्रुटि हो गयी क्या ? नहीं तो तुम उदास क्यों होती।

कश्यपजी पूछते हैं कि अदिति, क्या तुम्हारे घरमें कोई अतिथि आया और बिना खाये ही लौट गया ? क्या इसीलिए तुम्हारे घरमें इतनी उदासी छायी हुई है ? तुम तो कुटुम्बिनी हो। जिसके घरमें अतिथिकी सेवा नहीं होती, उसका घर तो गीदड़के घरके समान है। क्या हवन करनेमें कोई त्रुटि हो गयी ? ब्राह्मणके आदरमें कोई कमी आगयो ? जब अदितिने इन प्रश्नोंका कोई उत्तर नहीं दिया, कश्यपजीने फिर पूछा कि अच्छा, तुम्हारे पुत्र तो कुशलसे हैं न ? तुम्हारा मन अस्वस्थ क्यों दिखायी पड़ता है ?

अब अदितिने कहा कि महाराज, सब कुछ कल्याण है। जब आप जैसे महात्मा हमको धर्मोपदेश देते रहते हैं, तब हमारे धर्म-पालनमें कोई बाधा नहीं आ सकती। यह सारी-की-सारी प्रजा आपकी है, आप सबके प्रति समान हैं। फिर भी ईश्वरका नियम है कि जो उसका भजन करता है, उसके प्रति वह पक्षपात करता है। मैं आपकी दासी हूँ। हमें केवल कष्ट इस बातका

है कि दैत्योंने हमारे पुत्रोंका स्थान छीन लिया है। मैं बहुत दुखिया हो गयी हूँ। इसलिए हमारे पुत्रोंको पुनः उनका स्थान मिल जाये, ऐसी कृपा आप कर दीजिये।

कश्यपजी मुस्कुराकर बोले कि देखो, विष्णुकी क्या माया है ! यह सारा जगत् स्नेहकी रस्सीसे बँधा हुआ है। कहाँ तो यह अनात्मा, भौतिक शरीर और कहाँ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, प्रकृतिसे परे अभौतिक आत्मा। कौन किसका पति, कौन किसका पुत्र ? लेकिन लोग मोहके कारण फँसे हुए हैं। देवी, अब तुम जगद्गुरु भगवान् वासुदेवकी आराधना करो, क्योंकि वे सबके हृदयमें रहते हैं। वही तुम्हारी कामनाको पूर्ण करेंगे। हमारा यह निश्चय है कि भगवान्की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं जाती। भक्तिके सिवाय दूसरी कोई वस्तु अमोघ नहीं है—

अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम। २१

अदितिजी कहती हैं कि स्वामी, मैं भगवान्की आराधना किस प्रकार करूँ, जिससे कि सत्य-सङ्कल्प प्रभु मेरा कल्याण करें ? आप भगवान्को जल्दी सन्तुष्ट करनेका उपाय बताइये।

देखो, पहले कोई ज्ञान-चोर नहीं होता था। जब अपने शिष्यको कोई मन्त्र बताना होता, कोई उपासना बतानी होती तो बतानेवाला कहता कि अमुक हमारे गुरुजी थे और उन्हींसे मैंने यह मन्त्र प्राप्त किया है। असलमें उपासना-पद्धतिमें यह बात आती है कि पहले गुरुकी पूजा, फिर परम गुरुकी पूजा और फिर परात्पर गुरुकी पूजा। जैसे विवाहमें तीन पीढ़ीतकका शाखोच्चार होता है, वैसे ही गुरुपूजामें भी परम गुरु और परात्पर गुरुका शाखोच्चार होता है। आजकलका समय तो यह है कि लोग अपने गुरुका नाम भी बतानेमें झिझकते हैं, क्योंकि उनको आशङ्का रहती है कि गुरुका नाम बता देनेपर हमारी महिमा नहीं रहेगी, गुरुजीकी हो जायेगी। इसलिए लोग अपने गुरुका हो नाम छिपा लेते हैं।

किन्तु कश्यपजीने कहा कि देवी, जो साधन मैं तुमको बता रहा हूँ, उसको ब्रह्माजीने मुझे बताया है। वह इस प्रकार है कि फाल्गुन महीनेके शुक्लपक्षमें बारह दिनका पयोव्रत धारण करके उसमें भगवान्की आराधना करनी चाहिए। आराधना करनेवाला अमावस्याके दिन 'क्रोडविदीर्ण' (२६) अर्थात् सूअरके द्वारा खोदी हुई माटी लेकर अपने शरीरमें लेप करे और फिर बहते हुए पानीमें स्नान करे। उस समय यह प्रार्थना करे कि देवी, वराह भगवान्ने तुम्हारा उद्धार किया है, तुम मेरे पापका नाश करो। अपना नित्य-नैमित्तिक कर्म करके प्रतिमामें, पृथिवीमें, सूर्यमें, जलमें, अग्निमें और गुरुमें भी भक्तिपूर्वक भगवान्की पूजा करनी चाहिए।

उसके बाद महापुरुष सर्वभूत-निवास वासुदेव, सूक्ष्म, प्रधानपुरुष आदित्य भगवान्के लिए जो मन्त्र श्रीमद्भागवतमें लिखे हैं, उन मन्त्रोंके द्वारा भगवान्की आराधना करनी चाहिए, उनके

चरणोंमें प्रार्थना करनी चाहिए। द्वादशाक्षर मन्त्रसे हृषीकेश भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। फिर दूधसे भगवान्‌को स्नान कराकर वस्त्र, उपवीत, आभरण आदि अर्पण करना चाहिए। फिर शुद्ध दुग्ध-संयुत शाल्यन्नका नैवेद्य लगाना चाहिए।

देखो, भगवान्‌को भात बहुत प्यारा है। भात खूब खाते हैं। संस्कृत भाषामें भातका नाम भक्त है। नामसाम्यसे भगवान्‌को भक्तकी तरह भात भी बहुत प्रिय है। भक्त या भातमें कुछ ऐसी विशेषता है कि उसका छिलका रूप आवरण-भङ्ग हो गया है। वह रसमें, पानीमें पकाया जाता है और उसमें अभिमानकी कणिका नहीं होती। सात्त्विक, उज्ज्वल होता है। वह अभिमान न होनेपर भी पृथक्-पृथक् रहता है। बहुत मधुर होता है। अतः भगवान्‌को शाल्यन्न बहुत प्यारा है।

कश्यपजी कहते हैं कि घी-दूध सबका भगवान्‌को भोग लगाना चाहिए। फिर भगवान्‌के मन्त्रका जप करना चाहिए। साष्टाङ्ग दण्डवत् करना चाहिए। इस प्रकार जैसी विधि श्रीमद्भागवतमें बतायी हुई है उसी विधिसे 'द्वादशाह-पयोव्रत' करना चाहिए। अन्तमें फिर होम और ब्राह्मण-भोजन भी कराना चाहिए। त्रयोदशीपर्यन्त ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, त्रिकाल स्नान, इन नियमोंका पालन करना चाहिए। असद्भाषण, भोग, हिंसादि नहीं करना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहते हुए भगवान् वासुदेवका आश्रय लेना चाहिए। त्रयोदशीके दिन फिर शास्त्रोक्त विधिसे भगवान्‌की महापूजा करनी चाहिए। उनको नैवेद्य देना चाहिए। आचार्य, ऋत्विज आदिको भी वस्त्राभरणसे सन्तुष्ट करना चाहिए। दक्षिणा देनी चाहिए। फिर भक्तोंको भोजन कराकर बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वयं भी भोजन करना चाहिए। नृत्यवादित्र गीतसे मनको प्रसन्न रखना चाहिए।

देखो, मनःप्रसाद भी एक तपस्या है—'मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः'। हर हालतमें मन प्रसन्न रहना चाहिए। दुनियामें चाहे कुछ भी हो जाये, किन्तु अपने मनको हर हालतमें प्रसन्न रखना—यह भी भगवान्‌की आराधनाकी एक पद्धति है।

अन्तमें कश्यपजी कहते हैं कि देवी, ब्रह्माजी द्वारा उपदिष्ट पयोव्रत मैंने तुमको बता दिया। इसके अनुसार भगवान्‌की आराधना करो। यह व्रत सर्वव्रत है, सर्वज्ञ है, तपःसार है, ईश्वर-तर्पण है। इससे भगवान् सन्तुष्ट होकर तुमपर प्रसन्न होंगे और तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे।

●

अब श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि कश्यपजीके आदेशानुसार अदितिने बारह दिनका 'पयोव्रत' प्रारम्भ किया। मनसे इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें किया और मनको वासुदेवमें लगाया। इस व्रतसे सन्तुष्ट होकर स्वयं पीताम्बरधारी, शङ्ख-चक्र-गदाधारी श्रीहरि उसके सामने प्रकट हो गये।

देखो, जो लोग यह कहते हैं कि भगवान्‌का दर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता, उन्होंने न तो भजन किया है, न ध्यान किया है और न मनोवैज्ञानिक तत्त्वको समझा है। जिस वस्तुका दर्शन मनमें हो सकता है, उस वस्तुका दर्शन खुली आँखसे भी हो सकता है। यह सब तो बड़ी छोटी बात है। यदि कोई कहे कि जीवके प्रयत्न, पुरुषार्थ, ध्यान या मानसिक शक्तिसे ईश्वरका दर्शन नहीं हो सकता तो ईश्वरकी कृपा, ईश्वरकी शक्ति और ईश्वरकी दयासे तो ईश्वरका दर्शन हो ही सकता है। भगवान् जहाँ चाहते हैं और जब चाहते हैं तब प्रकट होकर भक्तको दर्शन दे देते हैं।

तो, जब भगवान् प्रकट हो गये तब अदितिको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने भगवान्‌की पूजा की और वह हाथ जोड़कर स्तुति करने लगी—

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः॥ ८
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय। ९

अदितिने कहा कि प्रभो, आप यदि सन्तुष्ट हो जायें तो मनुष्यको ब्रह्माकी आयु और शरीर प्राप्त हो सकता है, फिर दुश्मनोंको जीतने-जैसी कामनामें तो रखा ही क्या है? इसपर अन्तर्यामी भगवान् बोले कि देवी, तुम जो चाहती हो, वह मुझे मालूम है। जहाँ तुम्हारे दिलमें कोई बात फुरती है, उससे भी अन्तरङ्गमें क्षेत्रज्ञके रूपमें मैं ही रहता हूँ।

यहाँ देखो, क्षेत्रज्ञ भी दो तरहका है—एक छोटा क्षेत्रज्ञ, दूसरा बड़ा क्षेत्रज्ञ। छोटे क्षेत्रज्ञको जीव बोलते हैं और बड़े क्षेत्रज्ञको ईश्वर बोलते हैं। क्षेत्रसे अलग करके यदि व्यक्तिमात्रपर विचार किया जाये तो वहाँसे अद्वैत-ब्रह्म निकल आता है।

भगवान्‌ने कहा कि देवी, मैं तो क्षेत्रज्ञ रूपसे तुम्हारे हृदयमें ही रहता हूँ और सब कुछ जानता हूँ। इस समय तुम यह चाहती हो कि तुम्हारे बेटोंकी सम्पत्ति लौट आये और दैत्य लोग हरा दिये जायें। तुम यह भी चाहती हो कि तुम्हारे पुत्रोंके शत्रुओंकी पत्नियाँ रोवें और तुम्हारे बेटे स्वर्गमें चलकर खुशी मनावें। लेकिन यह असुरोंकी वृद्धिका समय है। उनको हरा देना इस समय बड़ा कठिन है। जब किसीपर ईश्वर ब्राह्मण अनुकूल हों और उसके द्वारा धर्मानुष्ठान हो

रहा हो तो उसपर चढ़ाई नहीं करनी चाहिए। इस समय उनके साथ लड़ाई छेड़ी जायगी तो उससे सुख मिलनेकी आशा नहीं है—

न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति। (१६)

फिर भी, तुमने मेरी आराधनाकी है तो कुछ-न-कुछ उपाय करना ही पड़ेगा, क्योंकि मेरी आराधना कभी निष्फल नहीं जाती। 'श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात्' (१७)—उससे श्रद्धानुरूप फल मिलता ही है। तुमने अपने पुत्रोंकी रक्षा करनेके लिए यह अनुष्ठान किया है। तो मैं ऐसे तो तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु तुम्हारा बेटा बनकर तुम्हारे पुत्रोंको रक्षा करूँगा। जैसे भाई अपने भाईका पक्षपात करता है, वैसे ही मैं भी अपने भाईयोंकी रक्षा करूँगा। अब तुम जाओ, अपने पतिकी सेवा करो और उनमें मुझ नारायणको देखो। मैंने तुमसे जो यह बात कही है कि मैं तुम्हरा बेटा होनेवाला हूँ, यह किसीको बताना नहीं, क्योंकि देवताकी बात जितनी गुप्त रहती है उतनी ही प्रभावकारी होती है। मन्त्र कहते ही उसको हैं जो गुप्त रहे। 'मत्रि गुप्त-भाषणे' धातुसे मन्त्र शब्द बनता है। गुरु जिस मन्त्रको शिष्यके कानमें बताता है, वह लोकमें बतानेका नहीं है। इसीलिए भगवान्ने कहा कि यह मन्त्र है बताना मत।

इसके बाद भगवान् अन्तर्धान हो गये। अदितिको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने भगवान् कश्यपकी बड़ी भारी सेवाकी। कश्यपजी समझ गये कि मेरे अन्दर अब भगवान्का प्रवेश हो गया और तब उन्होंने वीर्याधान किया।

अब ब्रह्माजी अदितिके पास आये और उसके गर्भमें बैठे हुए भगवान्की स्तुति करने लगे—

जयोरुगाय भगवन्नुरुपक्रम नमोऽस्तु ते।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः॥ २५
नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे। २६

देखो, भगवान् जिज्ञासा और वेद दोनोंमें रहते हैं। स्वर्गादि गुप्त परोक्ष वस्तु हैं। उनका साधन धर्म वाक्यसे ही ज्ञात होता है। अन्य कोई उपाय नहीं। नित्य अपरोक्ष साक्षात् साक्षी आत्माकी ब्रह्मता भी वेदान्त उपदेश्य है, वेदान्त वाक्यसे ही समझी जा सकती है। उसके लिए और कोई रीति नहीं।

पृश्निगर्भ भगवान् अदितिके पेटमें आये हुए हैं और ब्रह्माजी उनकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि आप ही आदि-मध्य-अन्त हैं, सृष्टिके आप ही परमाश्रय हैं। आपमें जन्मादि नहीं हैं, फिर भी प्रयोजनवश आप जन्मादि धारण करते हैं। अब आप देवताओंको फिरसे स्वर्गमें स्थापित कीजिये।

: १८ :

श्रीशुकदेवजी महारा.ज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार ब्रह्माजीके स्तुति करनेपर अदितिके गर्भसे चतुर्भुज, शङ्खी, गदी, चक्री, पद्मी, पीताम्बरी भगवान् प्रकट हुए—'प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम्' (१)। कमलके समान उनके नेत्र, उज्ज्वल श्यामवर्ण, कानोंमें कुण्डल और सब वस्त्राभूषण धारण किये हुए; गलेमें वनमाला, भौंरे गुञ्जार कर रहे। उस समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं। सम्पूर्ण प्रकृतिने अपने सौभाग्यका भगवान्के चरणोंमें निवेदन कर दिया। भाद्र मास था, शुक्लपक्ष और द्वादशी तिथि थी। श्रवण नक्षत्र, अभिजित् मुहूर्त था। इसमें भगवान् प्रकट हुए। इस समय सूर्य बिल्कुल मध्य भागमें थे। देवताओंके बाजे बजने लगे। सिद्ध-विद्याधर उनकी स्तुति करने लगे। अदितिके आश्रमपर पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अदितिने कहा कि हमारे गर्भसे भगवान् प्रकट हुए हैं, धन्य हैं, धन्य हैं।

पहले भगवान्ने चतुर्भुज रूप धारण किया था। लेकिन माता-पिताके सामने फिर वे वामन-वटु हो गये। जब माँगनेका काम करना है तब बड़प्पन भी दिखाएँ और माँगे भी—यह दोनों काम कैसे बनेंगे ? माँगनेवालेको तो छोटा बनना ही पड़ता है। भगवान् भी जब माँगते हैं तो छोटे हो जाते हैं। फिर माँगना हुआ तो ब्राह्मण बनना पड़ा। वामन वटु हो गये। तुरन्त जातकर्मादि संस्कार उनके किये गये। सूर्यने गायत्रीका उपदेश दिया, बृहस्पतिने यज्ञोपवीत कराया। कश्यपने मेखला दी। भूमिने मृगचर्म दिया। सोमने दण्ड, माताने कोपीन, गोलोकने

छत्र, ब्रह्माने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश, सरस्वतीने रुद्राक्षमाला, कुबेरने भिक्षापात्र एवं उमाने भिक्षा दी। इस प्रकार अब तो देवताओंकी सभामें सर्वोपरि वामनजीने वेदी बनाकर उसमें अग्नि-स्थापन किया, परिसमूहन किया, अभ्यर्चना की और समिधासे उन्होंने हवन करना शुरू कर दिया।

इन्हीं दिनों शुक्राचार्यजी बलिसे अश्वमेध-यज्ञ करवा रहे थे। ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न वामन भगवान् दण्ड लेकर उसी यज्ञशालाकी ओर चल पड़े। वह यज्ञ नर्मदाजीके तटपर भृगुकच्छ क्षेत्रमें हो रहा था और भृगुवंशी ब्राह्मण लोग यज्ञ करवा रहे थे। आजकल उस स्थानको 'भँड़ौच' कहते हैं। बड़ौदा और सूरतके बीचमें जहाँ नर्मदा मिलती है, उसी स्थानपर भृगुकच्छ नामका स्थान है।

वामनकी ज्योति देखकर भृगुवंशी ब्राह्मण कहने लगे कि कहीं सूर्य, सनत्कुमार आदि तो नहीं आरहे हैं? वामनजी छत्ता लगाये और कमण्डलु हाथमें लिये देखनेमें नन्हें-मुन्ने, बौने लगते थे; लेकिन वास्तवमें थे वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका वेष्टन करनेवाले विष्णुराट्। वेदका वाक्य है—'वामनो ह विष्णुरास' (श० ब्रा० १.२.५.५)। 'वेवेष्टि इति विष्णुः'—विष्णु उसको कहते हैं, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका वेष्टन कर ले।

जब भृगुवंशियोंने ब्रह्मचारीको देखा तब उनकी अगवानी की। उनको यज्ञशालामें पहुँचाया और आसनपर बैठाया। बलि तो उनको देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने ब्रह्मचारीके पाँव धोये और चरणोदकको सिरपर चढ़ाया।

यहाँ बलिके सौभाग्यको देखो। उनको साक्षात् अव्यवहित गङ्गाजल मिल गया। वह न ब्रह्माके कमण्डलुमें गया, न शिवजीके सिरपर गया। बलिने कहा कि महाराज, आपके पधारनेसे हमारा वंश तृप्त हो गया। हमें यज्ञ-यागादिका फल मिल गया। हमारी धरती पवित्र हो गयी। अब आपको जो चाहिए, वह हमसे माँग लीजिये। क्योंकि आप यज्ञ-भूमिमें हमारे पास आये हैं। आपको गाय चाहिए तो गाय लीजिये, सोना चाहिए तो सोना लीजिये, मकान चाहिए तो मकान लीजिये, अन्न चाहिए तो अन्न लीजिये, यान चाहिए तो यान लीजिये। यदि ब्याह करना हो तो सुन्दर सुकुमारी सुयोग्य कन्याके साथ आपकी शादी भी कर दी जायेगी। गाँव लीजिये, हाथी लीजिये, घोड़ा लीजिये, जो भी चाहिए लीजिये।

जैसे हँसते समय रोकना बुराईका लक्षण है, इसी प्रकार देनेके समय मनमें कृपणता लाना भी अच्छी बात नहीं है। किन्तु यहाँ तो बलि अपने आपको ही बलि चढ़ानेके लिए उद्यत हैं।

●

: १६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, बलिकी बात सुनकर वामनजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि वाह, वाह, वाह !

देखो, वाह माने कुलधर्मका वहन करनेवाला। यह संस्कृत शब्द है। आप इसको बाहरका न समझें। जब वाह संस्कृतमें होता है तो वाहमें क्या शङ्का हो सकती है ? जैसे वाहन है, वैसे ही वाह है, 'उद्वाह' है।

वामनजीने कहा कि राजन्, आपके वंशमें ऐसे लोग होते आये हैं, इसीलिए ऐसी मधुर, मीठी और धर्मयुक्त बात आपने कही है। धर्मके बारेमें आप अपने पितामह प्रह्लादकी आज्ञाको प्रमाण मानते हैं, यह उचित ही है। इस कुलमें कोई कृपण अथवा निःसत्त्व नहीं हुआ।

वामनजीने बलिको थोड़ा और पक्का कर लेनेके उद्देश्यसे कहा कि आपके वंशमें ऐसा भी कोई नहीं हुआ, जिसने ब्राह्मणको देनेका सङ्कल्प करके अपनी बात फिर लौटा ली हो।

मैंने देखा है कि जो लोग दान करके फिर वापिस ले लेते हैं अथवा देनेकी प्रतिज्ञा करके नहीं देते; उनके घरमें कोई मङ्गल नहीं होता, उदासी आजाती है और उनको बहुत भारी हानि होती है।

वामनजीने कहा कि आपके वंशमें तो कोई अदाता हुआ ही नहीं। दान और युद्ध दोनोंसे कोई पराङ्मुख नहीं हुआ। आपके प्रह्लाद-जैसे पूर्वजके यशके बारेमें क्या कहना है! उनके पितृव्य महाबली हिरण्याक्षको विष्णु भगवान्‌ने जीत तो लिया था, लेकिन उनको जब हिरण्याक्षके बलका स्मरण आता था, तब उनका हृदय धक-धक करने लगता था कि मैंने सचमुच जीत लिया या नहीं ? और हिरण्यकशिपुने जब सुना कि भगवान्‌ने हमारे भाईको मार दिया तो वह गदा लेकर उनको ढूँढ़ने लगा। विष्णु भगवान्‌के सामने यह समस्या खड़ी हो गयी कि मैं कहाँ छिपूँ। हिरण्यकशिपुके हाथसे कैसे बचूँ ? वे जहाँ-जहाँ भी जायें, वहाँ-वहाँ हिरण्यकशिपुका प्रवेश था। अन्तमें विष्णु भगवान् हिरण्यकशिपुके साँसके साथ मिलकर उसके कलेजेमें बैठ गये। तब हिरण्यकशिपुने सोचा कि विष्णु तो है ही नहीं, मर गया होगा; उसने पीछा छोड़ दिया। यहाँतक कि आपके पिता विरोचन भी मरनेवाले नहीं थे। देवताओंने ब्राह्मण बनकर उनकी आयु माँग ली और उन्होंने वह भी दे दी।

ऐसे वंशमें आप पैदा हुए हैं। मैं आपसे बड़ी चीज क्या माँगू ? मुझे तो बस केवल तीन कदम धरतीका दान चाहिए।

यहाँ देखो, वामनजीने जो तीन कदम धरती माँगी, उसमें जाग्रत्स्थान, स्वप्नस्थान, सुषुप्तिस्थान—इन तीनोंको माँग लिया, फिर बाकी क्या रहा ? केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रहा।

इसीलिए वामनजीने कहा हमें तो केवल तीन स्थान चाहिए। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। आप बड़े वदान्य हैं—

नान्यत् ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात्। (१७)

देखो, एक होता है वद। वद माने बक्कू, जो बोले तो बहुत, पर दे कुछ नहीं। वदको बदमाश या दुष्ट भी कहते हैं। और, दूसरा होता है वदान्य—वदसे अन्य। वदान्य उसको कहते हैं जो कहे सो कर दे। जो केवल बोलनेवाला नहीं, करनेवाला हो।

वामन कहते हैं कि मुझे तो कुछ ज्यादा लेना भी नहीं। जितनेसे अपना काम चल जाये, जितना प्रयोजन हो, उतना ही दान लेना चाहिए—'यावदर्थप्रतिग्रहः' (१७)। इससे प्रतिग्रह लेनेवाला पापसे बच जाता है।

बलिने कहा—वामनजी, तुम बात तो बूढ़ोंकी तरह करते हो, लेकिन अपना स्वार्थ समझते नहीं। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ और तुम तीन कदम धरती माँग रहे हो ! तुम्हें मेरे पास आनेके बाद फिर किसी दूसरेके पास माँगनेके लिए नहीं जाना चाहिए। इसलिए जितनेसे तुम्हारी जीविका चले, उतनी धरती तो तुम मुझसे ले ही लो।

वामनने कहा कि आप संसारका सारा विषय दे देंगे तो क्या उससे मेरी तृप्ति हो जायेगी ? अगर तीन पाँव धरतीमें मुझे सन्तोष नहीं तो सारा द्वीप पाकर भी सन्तोष नहीं होगा। क्या पृथु, गय आदि बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओंको सन्तोष हो गया था ? अतः जितना है, उतनेमें ही सन्तोष कर लेना ठीक है। सन्तोषसे ही मुक्ति होती है। ब्राह्मणको सन्तुष्ट रहना चाहिए। असन्तोष तो अग्नि है, वह भस्म कर देता है। 'वित्तं यावत्प्रयोजनम्' (२७)—जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो, उतना ही धन चाहिए, ज्यादा धन नहीं चाहिए।

अब तो बलिजी हँसते हुए बोले कि अच्छा महाराज ! आपकी जैसी इच्छा हो, वह लीजिये। इसके बाद बलिने सङ्कल्प करनेके लिए जलभाजन हाथमें लिया। धर्मशास्त्रकी यह मर्यादा है जो कर्म सङ्कल्पपूर्वक, कर्तृत्वपूर्वक किया जाता है, वही फलप्रद होता है। जहाँ सङ्कल्प ही नहीं, कर्तृत्व ही नहीं, वहाँ फल कहाँसे उत्पन्न होगा ? फल कर्ममें नहीं रहता, कर्तृत्व और सङ्कल्पमें फलका निवास है। इसलिए बलि जल लेनेके लिए तैयार हो गया।

इतनेमें बलिके गुरु शुक्राचार्यजी, जो सब समझ गये थे, बोले कि ये वामन तो विष्णु भगवान् हैं और यहाँ इन्द्रका काम बनानेके लिए उनके भाई बनकर आये हैं। तुमने इनके साथ प्रतिज्ञा करके बड़ा अन्याय किया है। ये तो तुम्हारा सब कुछ छीनकर इन्द्रको दे देंगे। विश्व इनका शरीर है। ये अपने तीन पगोंमें ही सारे लोकोंको नाप लेंगे। तुम्हारे लिए खाने-पीने-रहनेकी भी जगह नहीं रह जायेगी। दान उतना ही करना चाहिए, जिससे दाताकी जीविकाका नाश न हो। ये वामन अपने एक पाँवसे धरती नाप लेंगे, दूसरेसे स्वर्ग नाप लेंगे, इनके शरीरसे आकाश भर जायेगा और तीसरे पाँवके लिए कोई जगह नहीं होगी। फिर अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करनेके कारण तुमको नरकमें जाना पड़ेगा। जिससे जीविका बिगड़ जाये, वह दान उचित नहीं। जब जीविका बनी रहेगी तो उससे यज्ञ होगा, तप होगा और कर्म होगा।

इसलिए अपनी सम्पत्तिको पाँच भागोंमें बाँट देना चाहिए। 'धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च' (३७)—एक भाग धर्मके लिए, दूसरा भाग यज्ञके लिए, तीसरा भाग और धन कमानेके लिए, चौथा भाग भोगके लिए और पाँचवाँ भाग अपने स्वजनोंको देनेके लिए। इस तरहसे जो अपनी आमदनीको पाँच हिस्सोंमें बाँट देता है, उसका लोक-परलोकमें कल्याण होता है। कहते हैं कि 'सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत्' (३८)—किसी बातको ओम् कहकर स्वीकार कर लेना सत्य है और ना कह देना अनृत है। शरीर एक वृक्ष है और सत्य फल है। लेकिन यदि वृक्ष न रहे तो फल-फूल कहाँसे होंगे ? इसलिए अनृतसंग्रह शरीररूप वृक्षका मूल है और सत्य इस वृक्षके पुष्प-फल हैं। जिन्दगी बनी रहे और उसके द्वारा सत्यके फल-फूल लगें तो यही मनुष्यके लिए उचित है।

देखो, यदि कोई माँगने आये और बोल दिया जाये कि ओम् तो इसका अर्थ स्वीकार होता है! जैसे एकने पूछा कि दधि है और दूसरेने उत्तर दिया कि ओम् तो इसका अर्थ है कि हाँ दही है। जैसे हिन्दीमें 'हाँ जी' बोलते हैं, वैसे ही संस्कृतमें ओम् बोलते हैं।

यह संन्यासियोंका मन्त्र भी है। वे बोलते हैं प्रलय हो गया—ओम्। तृप्ति हो गयी—ओम्। मर गये—ओम्। चले गये—ओम्। मतलब हुआ कि जो हुआ सो ठीक। हमारी ये आनन्दमयी माँ भी बोलती हैं कि पिताजी, जो हो जाये सो ठीक। यह भी मन्त्र ही है। ऋग्वेदमें सत्यानृतकी व्यवस्था ऐसी की गयी है कि मनुष्य अपने जीवनको रखकर ही अपना सब काम करे। अपने जीवको सुखाये नहीं।

इसलिए शुक्राचार्यजी कहते हैं कि यदि कोई माँगने आये और कह दिया कि ओम् तो उसको देना पड़ेगा। फिर वह चीज उसके पास नहीं रहेगी, चली जायेगी। इसलिए कभी-कभी मनुष्यको ना करके और यह कहकर कि अमुक चीज मैं नहीं दूँगा, जिन्दगी व्यतीत करनी पड़ती है। किन्तु सबको न तो 'नहीं' बोलना चाहिए और न सबको 'हाँ' बोलना चाहिए।

शुक्राचार्यजीने यह भी बताया कि अगर सच बोलनेसे गाय मरती हो, ब्राह्मण मरता हो, प्राणसंकट हो, जीविका छिनती हो, कन्याका विवाह न होता हो तो ऐसे प्रसंगोंमें झूठ बोलना जुगुप्सित नहीं है—

नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्। (४३)

देखो, यहाँ जिद्दी लोगोंकी बात नहीं है, समझदार लोगोंकी बात है। समझदार लोगोंके समाजमें मौन रहना भी एक धर्म है, बोलते जाना ही धर्म नहीं है। जो लोग समझते हैं कि बस, सच बोलते जाओ; माँकी बात जाकर पत्नीको कह दो, पत्नीकी बात जाकर माँको कह दो अथवा अपनी बात दुश्मनको कह दो तो यह धर्म नहीं होता। कई प्रसंग होते हैं, जहाँ मौन भी धर्म होता है। असलमें उद्देश्य है जीवनकी रक्षा! उसके लिए यथायोग्य, यथास्थान सत्य और अनृत बोलना चाहिए। ऐसा शुक्राचार्यजी महाराजने बलिको बताया। महात्मा लोग इसे शुक्रनीति अर्थात् दैत्योंके लिए गुरु शुक्राचार्यकी नीति बताते हैं।

•

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, शुक्राचार्यकी बात सुनकर बलिजी क्षण भरके लिए चुप हो गये। किन्तु बादमें उन्होंने विनय-पूर्वक उत्तर देना प्रारम्भ किया—गुरुदेव, आपने गृहस्थोंके लिए जो सच-झूठ मिलाकर बोलनेको कहा है, वह वाणिज्य है। सच और झूठ मिलाकर ही वाणिज्य होता है। केवल सच-सच, अथवा झूठ-झूठ बोलना वाणिज्य नहीं होता। जैसे गृहस्थाश्रममें वाणिज्य है, वर्णधर्ममें वैश्य है, वैसे ही जीवनमें भी सत्य और असत्यका मिश्रण है। गृहस्थों और वैश्योंको वही धर्म करना चाहिए, जिससे धनमें, भोगमें, यशमें और जीविकामें वाधा न पड़े। लेकिन मैं तो यज्ञमें बैठा हूँ। यह ब्राह्मणको कैसे मना कर दूँ? एक बार प्रतिज्ञा कर ली तो उससे कैसे मुकर जाऊँ? धरती कहती है कि 'असत्यसे बढ़कर और कोई अधर्म नहीं। मैं सब सह सकती हूँ, पर झूठेको नहीं सह सकती।' फिर मैं असत्यका आश्रय कैसे लूँ? मुझे नरक और दुःखसे डर नहीं लगता। स्थान-भ्रष्ट होनेका भी भय मुझको नहीं है। मैं किसी भी हालतमें ब्राह्मणको धोखा नहीं दे सकता। सारे धन-वैभव एक दिन मुझे छोड़कर चले जायेंगे। यदि ये एक ब्राह्मणको सन्तुष्ट करनेके काम भी नहीं आये तो किस काम आयेंगे? दधीचि-शिवि आदि जैसे लोग तो अपना प्राण देकर भी दूसरोंका भला करते हैं, लेकिन मैं अपने राज-पाटके लिए इस ब्राह्मणको एक बार हाँ करके ना कर जाऊँ? यह धरती तो हमारे बाप-दादोंके पास भी

थी, लेकिन वे मर गये और यह यहीं रह गयी। केवल हमारे पूर्वजोंकी कीर्ति ही तो बच रही है। जैसे वीर लोग युद्ध-भूमिमें धर्मके लिए प्राण-त्याग कर देते हैं, वैसे ही पात्रके प्राप्त होनेपर धनका त्याग कर देना चाहिए। यदि दयालु पुरुष दान करनेमें दीनता दिखायें तो उस दानकी महिमा ही क्या रही ?

गुरुदेव, आपने जो यह कहा कि विष्णु भगवान् ही इस वामन-वेशमें आये हैं तो यह बहुत बढ़िया बात है। इससे तो हमारी जीत ही हो गयी। जिस परोक्ष विष्णुकी आराधनाके लिए सब लोग दान-धर्म करते हैं, वे हमारे सामने और हमसे लेनेके लिए आगये तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है ? विष्णु भगवान्‌की तो ये सब चीजें हैं ही। वे यदि अपनी धरती ले लेते हैं तो इसमें क्या हर्ज है ? यदि वे हमको बाँधना चाहते हैं तो इसका हमें कोई डर नहीं है। क्योंकि वे बली होते तो चक्र लेकर आते, हमको मारते और फिर धरती छीनकर इन्द्रको दे देते। ये तो हमसे हारकर और वेश बदलकर आये हुए हैं। इनके आने मात्रसे ही हमारी जीत हो गयी है। ये यदि हमको बाँधना चाहेंगे तब भी हम इनके ऊपर प्रहार नहीं करेंगे। क्योंकि ये ब्राह्मण बनकर हमारे पास आये हैं। यदि इनका इरादा हमपर हथियार चलानेका हो तब भी हम इनपर हथियार नहीं चलायेंगे और इनसे हार जायेंगे तब हमारी जीत भी हो जायेगी और हमारे यशका नाश भी नहीं होगा। ये हमसे सारी धरती लेना चाहें तो ले लें।

सभी गुरु चाहते हैं कि शिष्य उनकी बात माने, इसलिए जब बलिने अपने गुरुकी बात नहीं मानी तो उनको क्रोध आगया और उन्होंने कहा—'मूर्ख, तू है तो अज्ञानी, लेकिन अभिमानवश धर्मज्ञानी बनता है। तुमने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, इसलिए तू शीघ्र ही अपना ऐश्वर्य खो बैठेगा।

लेकिन इस प्रकार गुरुके शाप देनेपर भी बलि विचलित नहीं हुए और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वामनके लिए दानका सङ्कल्प करनेकी तैयारी की। बलिकी पत्नीने उनके धर्म-पालनमें उनकी सहायता की। पत्नीका यही काम है कि यदि पति कोई धर्मका काम करता हो तो वह उसमें मदद करे, बाधा न डाले।

अब जब बलिने वामन भगवान्‌के चरणारविन्दका प्रक्षालन किया और सङ्कल्पके लिए हाथमें जल लेना चाहा तब वह झारीमें-से निकले ही नहीं। यह कथा भागवतमें तो नहीं है, लेकिन नृसिंह और वामनपुराणोंमें है। उनके अनुसार जब बलि सङ्कल्पके लिए जल लेने लगे तो जलकी टोंटीदार झारीमें आकर शुक्राचार्यजी घुस गये कि हम पानी नहीं गिरने देंगे।

बात तो हँसीकी है, लेकिन हर पुरोहित चाहता है कि हमारा यजमान सम्पन्न रहेगा तो हमको हमेशा दान-दक्षिणा मिलती रहेगी। यदि वह गरीब हो जायेगा तो कहाँसे धर्म-कर्म करेगा और कहाँसे हमको धन मिलेगा? इसलिए शुक्राचार्यने टोंटीमें अपने आपको प्रविष्ट कर दिया। वामनजीने कहा कि क्या कारण है, जो पानी नहीं गिरता? जरा पात्र हमको देना। उन्होंने हाथमें झारी लेकर एक कुश टोंटीमें डाला और उससे शुक्राचार्यकी आँख फूट गयी—शुक्राक्षिका-वेधन हो गया। वामन भगवान्‌के कारण शुक्राचार्यजी काने हो गये। लेकिन इस कर्मसे उनको भी बड़ा यश मिला।

बलिका सङ्कल्पपाठ पूरा होते ही चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, गन्धर्व गान करने लगे। उसी समय वामन भगवान् बढ़कर विराट् बन गये, त्रिविक्रम हो गये।

देखो, जबतक मनुष्य अपने दानका सङ्कल्प नहीं करता, तबतक भगवान् अपना विराट् रूप उसपर प्रकट नहीं करते और छोटेसे भगवान् बने रहते हैं। किन्तु सर्वमें आत्मसमर्पण करनेका सङ्कल्प करते ही भगवान् विराट् हो जाते हैं। ऋग्वेदमें इस विषयके पन्द्रह-सोलह मन्त्र हैं।

अब जब भगवान्‌ने विराट् रूप ग्रहण किया तो सारे लोक त्रिविक्रमके शरीरमें आगये। बलिने उस अद्भुत रूपमें भगवान्‌के दर्शन किये और देखा कि पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, दिशा, पाताल, समुद्र आदि सब कुछ भगवान्‌में हैं। गीतामें जैसा विराट् रूपका वर्णन आता है, वैसा ही वर्णन यहाँ भी है। उनके अङ्घ्रितलमें रसातल, पादमें पृथिवी, पिण्डलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पृथिवी और जांघोंमें मरुद्गणके दर्शन बलिको हुए। उनके हृदयमें धर्म, स्तनमें सत्य और ऋतु, मनमें चन्द्र हैं। जितने भी तत्त्व हैं, जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, जितने भी विषय हैं, जितने भी कर्त्ता हैं सब-के-सब विराट् भगवान्‌के शरीरमें दिखायी पड़े। यह सब देखकर दैत्य लोग बहुत दुःखी और भयभीत हुए। इतनेमें भगवान्‌के आयुध भी उनके हाथमें आगये। उस समय भगवान्‌की बड़ी शोभा हुई।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, त्रिविक्रमने एक पाँवसे सारी धरतीको नाप लिया, शरीरसे आकाशको नाप लिया, बाहुसे दिशाओंको नाप लिया और तीसरे पगके लिए कोई वस्तु शेष नहीं रही। ये दो ही लोक और परलोक धर्मके स्थल हैं। बलिजी बड़े धर्मात्मा थे। उनको लोकमें भी सुख मिलनेवाला था और परलोकमें भी। इसलिए दोनोंको त्रिविक्रमने नाप लिया। उनसे लोक-परलोक दोनों ले लिये। अब तीसरा पग कहाँ जाये?

●

: २१ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब भगवान्के चरणारविन्द सत्यलोकमें गये तो ब्रह्मा सनकादि बड़े-बड़े योगियोंने वहाँ आकर उनकी वन्दना और पूजा की। गङ्गाजी उन्हीं चरणकमलोंके धोवनका जल हैं, जो तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं।

उसके बाद जब भगवान्ने अपने स्वरूपको कुछ छोटा कर लिया, विभूतियोंको समेट लिया तब ब्रह्मादि लोकपाल उनको भेंट-पूजा आदि देकर उनकी स्तुति करने लगे। ऋक्षराज जाम्बवान्ने भेरी बजाकर चारों ओर उनकी प्रदक्षिणा की और भगवान्की विजयकी घोषणा की।

दैत्योंने यह सब देखा तो उनको क्रोध आगया कि इसने हमारे स्वामीका सब कुछ छीन लिया। यह ब्राह्मण नहीं, साक्षात् विष्णु है। इसको मारना हमलोगोंका धर्म है। सब आयुध उठाकर दौड़े। इतनेमें विष्णुदूत उनके सामने आकर डट गये और उनको मार-मारकर भगाने लगे। बलि ने दैत्योंको रोकते हुए कहा कि तुमलोग इस समय युद्ध मत करो। यह युद्धका समय नहीं। समय-समयपर जय-पराजय होता ही है। जो काल पहले हमारे अनुकूल था, वह अब देवताओंके अनुकूल हो गया है। इस समय परिस्थिति हमारे प्रतिकूल है। इसलिए अब युद्ध बिल्कुल नहीं करना चाहिए। कोई भी कालका अतिक्रमण नहीं कर सकता। हमने देवताओंको बहुत बार जीता है। एक बार वे भी जीत जायें तो क्या हर्ज है? यदि काल फिर हमारे अनुकूल होगा तो हम उनको जीत लेंगे। तुमलोग समयकी प्रतीक्षा करो।

बलिकी बात सुनकर सब दैत्य रसातलमें चले गये। भगवान्ने बलिसे कहा कि तुमने अपने धर्मका फल लोक-परलोक तो हमको दे दिया, लेकिन अभी हमारा तीसरा पग तो पूरा नहीं हुआ। गरुड़जी भगवान्की इच्छा जान गये और उन्होंने वरुणपाशसे बलिको बाँध दिया। हाय-हाय मच गयी। वामनने बलिसे कहा कि तूने तीन पग धरती देनेकी प्रतिज्ञा की थी। दो पगोंकी जगह तो हमें मिल गयी। अब तुम तीसरे पगके लिए व्यवस्था करो। यदि तुम तीसरे पगके लिए स्थान नहीं दोगे तो तुम्हारी दुर्गति होगी, तुमको नरकमें जाना पड़ेगा। जो प्रतिज्ञा करके याचकको नहीं देता उसका अध पतन होता है। तुमने अभिमान करके कहा था कि मैं दूँगा। उससे मेरा तिरस्कार हुआ। अब तुम इसका फल भोगो

•

: २२ :

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितसे कहते हैं कि इस प्रकार भगवान्‌ने बलिका बड़ा तिरस्कार किया, किन्तु बलिने अपना धैर्य नहीं छोड़ा और कहा—भगवन्, मैं आपको अपने अविकल वचनका दान करता हूँ—'अविक्लवं वचः' (१)। मैंने आपको अपना मन दिया, धन दिया, तन दिया और अब यह प्रार्थना करता हूँ कि मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं थी, क्योंकि आपने वामन-रूपसे तो भिक्षा माँगी और त्रिविक्रम-रूपसे नाप लिया। जब आपने अपना वह रूप ही बदल लिया तो इसमें मेरा क्या दोष है ?

यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्॥ २

इसमें 'यदि' पदका प्रयोग करके बलिने कहा कि मेरे मनमें तो ऐसा है कि मेरा वचन झूठा नहीं हुआ। लेकिन आपके मनमें यदि यह है कि यह मेरा वचन झूठा हो गया तो मैं शर्त लगा कर कहता हूँ कि मेरा वचन झूठा नहीं हुआ। मैं अपनी वाणीको सत्य सिद्ध करता हूँ। मैं आपको कभी ठग नहीं सकता, धोखा नहीं दे सकता।

अब यहाँ देखो, भगवान् समझते थे कि मैं ही चतुर हूँ, परन्तु बलि ऐसे भक्त हैं कि भगवान्‌से भी चतुर निकले। उन्होंने कहा कि महाराज, धर्मका फल तो आपने ले लिया। मेरे

लोक और परलोक दोनों आपके पास चले गये, लेकिन धर्मका कर्ता अहम् तो अभी बचा ही हुआ है। उसके अर्पणके बिना तो अर्पण पूरा होगा ही नहीं।

इसलिए बलिने कहा कि आप अपने तीसरे पदको मेरे सिरपर धारण कर दीजिये। उससे मेरा सिर नाप लीजिये। यदि आप कहें कि कहाँ लोक-परलोक और कहाँ तुम्हारा छोटा-सा सिर, यह तो छोटा पड़ेगा मेरे पगके लिए, तो ऐसी बात नहीं है महाराज! यह तो लोक-परलोक दोनोंसे बड़ा है। क्योंकि उन दोनोंको बनानेवाला तो यही है।

असलमें मुझे नरकका डर नहीं, पाशबन्धका डर नहीं, धन नाशके दुःखका डर नहीं, लेकिन एक डर जरूर है साधुओंकी सभामें कोई मेरी ओर उँगली उठाकर यह न कहे कि इसने भगवान्‌को कहकर भी नहीं दिया। प्रभो, आप मुझसे बड़े हैं, गुरुजन तो दण्ड देते ही रहते हैं। मुझको अनेक प्रकारका मद हो गया था और मैं उससे अन्धा हो गया था; आपने उसको दूर कर दिया, आपकी बड़ी कृपा है। लोग तो आपसे वैर करके सिद्धि प्राप्त करते हैं और ऐसी सिद्धि प्राप्त करते हैं जो एकान्त-योगियोंको प्राप्त होती है। आपने हमें बाँधा, बड़ा अच्छा किया। आप मेरे माता, पिता, गुरु, सखा सब कुछ हैं।

मेरे पितामह प्रह्लादजी आपके भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं। उनके पिता हिरण्यकशिपुको आपने मार दिया, फिर भी उन्होंने आपकी भक्ति की। आपने मेरा ऐश्वर्य छुड़ा लिया तो क्या हुआ, मुझे अपनी शरणमें तो ले लिया और मेरा अभिमान तो तोड़ दिया। आपकी यह सारी-की-सारी लीला अभिमान तोड़नेके लिए ही है।

जिस समय राजा बलि इस प्रकार प्रार्थना कर रहे थे, उसी समय प्रह्लादजी आगये। बलिजी उनको पहलेकी तरह नमस्कार नहीं कर सके, क्योंकि उनके हाथ-पाँव बँधे थे। इससे बलिजीको थोड़ी लज्जा आगयी—'सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह' (१४)। लज्जा यह सोचकर आयी कि मुझसे जो गलती हुई, उसको मैं समझता हूँ। गलती यह हुई है कि संसारकी सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। सबके मालिक वही हैं।लेकिन जब भगवान् मेरे सामने आये, तब मैंने कहा कि यह वस्तु मेरी है और मैं इसका दान करूँगा। भगवान्‌के सामने ऐसा अहङ्कार करके मैंने बड़ी भारी गलती की है। मुझे तो ऐसा कहना चाहिए था कि यह धरती तुम्हारी, स्वर्ग तुम्हारा और मैं भी तुम्हारा—'मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव'। मैं और मेरा सब कुछ तुम्हारा है। मेरा कुछ हो और मैं कुछ होऊँ तब तो अर्पण करूँ? जब न मेरा कुछ है और न मैं कुछ हूँ तो आपको अर्पण क्या करूँ? परन्तु मैंने ऐसा न करके अभिमान किया। उसी अभिमानके फलस्वरूप भगवान्‌ने मुझे बाँध दिया। जो 'अहम्' करेगा—मैं करेगा, उसको तो बन्धन होगा ही।

प्रह्लादने भगवान्‌से कहा कि प्रभो, आपने ही इसको इन्द्र बनाया था और आपने ही इससे इन्द्रकी पदवी छीन ली। ऐसा करके आपने इसपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। क्योंकि लक्ष्मी बड़े-बड़े विद्वानोंको भी मोहित कर देती है। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, प्रह्लादके सामने ही ब्रह्माजीने भगवान्‌से कुछ कहना चाहा, परन्तु बीचमें आगयी विन्ध्यावलि और वह बोलने लगी। फिर ब्रह्माजी चुप हो गये और बोले कि विन्ध्यावलिको बोल लेने दो।

विन्ध्यावलिने कहा कि प्रभो, तीन लोक आपने बनाये हैं। इसमें जो मालिक बनता है, वह झूठा है। वे लोग निर्लज्ज हैं जो संसारकी किसी भी वस्तुको अपनी कहते हैं।

ऐसा कहकर जब विन्ध्यावलि चुप हो गयी तब ब्रह्माजी बोले कि प्रभो, मुञ्चैनं हृत-सर्वस्वम्' (२१)। अब आप इसको मत मारिये, छोड़ दीजिये। यह दण्डका पात्र नहीं। क्योंकि इसने अपना सब लोक-परलोक आपको दे दिया। इसने अविचल बुद्धिसे—धैर्यके साथ अपने शरीर और आत्माका समर्पण भी कर दिया है। यदि कोई आपके चरणोंमें दूब, अङ्कुर या तुलसीदल चढ़ा देता है तो उसको भी उत्तम गति मिलती है, फिर इसके मनमें तो कोई विकलता नहीं आयी और इसने 'अविक्लवया' (२२) आपको सब कुछ दे दिया। इसलिए इसको दुर्गति कैसे प्राप्त होगी?

भगवान्‌ने कहा—ब्रह्माजी, आप तो हमेशा कर्म-धर्ममें ही लगे रहते हैं। जरा यह भी तो देखिये कि मेरे मनमें क्या है?

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥ २४

मेरा स्वभाव तो ऐसा है कि मैं जिसके ऊपर अनुग्रह करता हूँ, उसका धन छीन लेता हूँ। क्योंकि धनके मदसे मनुष्य घमण्डी और खम्भे सरीखा-स्तब्ध हो जाता है। वह दूसरोंका तिरस्कार तो करता ही है, मेरा भी तिरस्कार करता है।

देखो, मैं एक सज्जनको जानता हूँ, जो अपनेको करोड़पति मानते हैं, अरबपति मानते हैं। एक दिन कोई आदमी उनको पकड़कर सत्संगमें ले आया। अब वहाँ उनका सिर ही न झुके। उनको मालूम ही नहीं था कि साधुओंके बीचमें कैसे खड़ा होना चाहिए, कैसे प्रणाम करना चाहिए। वे वहाँ आकर स्तम्भवत् खड़े हो गये। जब उनके साथीने इशारा किया कि प्रणाम करो तब उन्होंने सिर तो नहीं झुकाया, हाथ उठाकर अपने सिरसे लगा लिया। प्रणामकी भी कई

प्रणालियाँ हैं। हाथ जोड़नेका अर्थ है कि आप जो कहेंगे, सो करूँगा। सिर झुकानेका अर्थ है कि मेरी बुद्धिसे आपकी बुद्धि बड़ी है। साष्टाङ्ग-दण्डवत्का अर्थ है मैं अपना जीवन आपको अर्पित करता हूँ। लेकिन जो सीधे खड़े होकर केवल अपना हाथ सिरसे लगा लेते हैं, उनका क्या तात्पर्य है—इसको वे ही जानें!

भगवान् कहते हैं कि इस संसारमें मद अनेक प्रकारके होते हैं—कुलीनताका मद, कर्मका मद, उम्रका मद, रूपका मद, विद्याका मद, ऐश्वर्यका मद। यदि इनके कारण मनुष्य घमण्डी न हो जाये, तो समझो कि उसपर मेरा बड़ा अनुग्रह है। अभिमान सम्पूर्ण कल्याणका विरोधी है।

ब्रह्माजी, इसलिए मेरे जो शरणागत हैं, वे इससे दूर रहते हैं। यह बलि तो बड़ा श्रेष्ठ पुरुष है। इसने मायापर विजय प्राप्त कर ली है। दुःखमें भी यह मोहित नहीं हुआ। इसका धन छिन गया, यह स्थान-भ्रष्ट हो गया, इसको शत्रुने बाँध लिया, भाई-बन्धुओंने छोड़ दिया और नाना प्रकारकी यातनाएँ मिलीं, गुरुने इसकी भर्त्सना की, परन्तु इस सत्यप्रेमीने अपने सत्यका परित्याग नहीं किया। मैंने भी तो इसके साथ छल ही किया, लेकिन इसने मुझको एक बार भी उलाहना नहीं दिया कि आप छलसे मेरे दान-धर्मका हरण क्यों करते हैं?

असलमें ऐसे अवसरोंपर जो सत्यकी रक्षा करता है वही धर्मकी रक्षा करता है। अब यह अगले मन्वन्तरमें इन्द्र होगा और तबतक सुतल-लोकमें रहेगा। वहाँ आधि-व्याधि कुछ नहीं होगी और इसको मेरा दर्शन प्राप्त होता रहेगा।

इसके बाद वामन भगवान्ने बलिको आज्ञा दी कि तुम सुतल-लोकमें चलो, मैं भी वहाँ तुम्हारे साथ आता हूँ। मेरा चक्र तुम्हारी रक्षा करेगा। हर समय मैं तुम्हारे साथ रहूँगा—

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान्॥ ३५

मैं तो अब तुम्हारा पहरेदार बन गया बलि! सदा तुम्हारी आँखोंके सामने बना रहूँगा। तुम्हारे मनमें आसुरभाव नहीं रहेगा और तुमको मेरा दर्शन होता रहेगा।

अब बताइये इन्द्रपर भगवान्की कृपा हुई कि बलिपर? इसीलिए एक जगह बलिने कहा कि इन्द्रको अपनी भलाईका कुछ भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह स्वर्गमें कष्ट भोग रहा है और यहाँ भगवान् हमारे घरमें रह रहे हैं।

●

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब भगवान्‌ने ऐसा कहा तब बलिने हाथ जोड़ लिये, उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा गिरने लगी, वे भक्तिसे उद्गल हो गये और गद्गद गिरासे बोले—प्रभो, मैंने आपको ठीक-ठीक प्रणाम भी नहीं किया। लेकिन आप अपने भक्तकी रक्षामें सर्वदा तत्पर रहते हैं। मैंने आपसे कभी प्रार्थना नहीं की कि आप मुझे अपनी शरणमें ले लें, मेरा घमण्ड तोड़ दें और अपना बना लें।

देखो भगवान्‌की मर्यादा यही है कि जब मनुष्य उनसे कोई प्रार्थना करता है तब वे उस प्रार्थनाको पूरी कर देते हैं। यह भगवान्‌का धर्म है, उनकी मर्यादा है। उनका नियम है कि जब उनसे कोई रक्षाकी प्रार्थना करता है तभी वे उसकी रक्षा करते हैं—'रक्षापेक्षामपेक्षते'। लेकिन बलिने तो भगवान्‌से कोई प्रार्थना ही नहीं की। भगवान् स्वयं अपने-आप उनके पास आये, उनसे भीख माँगी उनपर अनुग्रह करके उनको अपना लिया और हर समयके लिए उनके पहरेदार बन गये।

इसलिए बलि बोले कि भगवन्, मेरे जैसे नीच असुरपर आपने जो अनुग्रह किया है, वह संसारमें किसी भी देवताको कभी प्राप्त नहीं हुआ—

अमरैरलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः। २

इसके बाद बलिजी भगवान्‌को, ब्रह्माको, शिवको नमस्कार करके सुतललोकमें चले गये। उधर भगवान्‌ने जाकर इन्द्रको कहा कि लो, अपना त्रिविष्टप सँभालो। अदितिकी कामना पूरी हुई। इन्द्र त्रिलोकीका शासन करने लगे।

जब प्रह्लादने देखा कि भगवान्‌ने मेरे पौत्र बलिको ऐसा प्रसाद दिया है तो भक्ति-प्रवण होकर स्तुति करने लगे—प्रभो, आपका यह कृपा-प्रसाद न ब्रह्माको प्राप्त हुआ, न लक्ष्मीको प्राप्त हुआ और न शिवको प्राप्त हुआ। 'यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालः' (६)—आप तो हम असुरोंके नगर-रक्षक हो गये, दुर्गपाल हो गये। सारे लोक आपको नमस्कार करते हैं। असलमें आपकी लीला अनिर्वचनीय है। आप सर्वात्मा समदर्शी होनेपर भी विषम स्वभावके हैं, क्योंकि अपने भक्तके प्रति आपका पक्षपात है। आपका स्वभाव कल्पवृक्षके समान है।

भगवान्‌ने कहा कि प्रह्लाद, अब तुम भी चलकर सुतललोकमें ही अपने पौत्रके साथ रहो। वहाँ तुम देखोगे कि मैं गदा हाथमें लेकर तुम्हारे पौत्रको रक्षामें नियुक्त हूँ—'नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्' (१०)। मेरे दर्शनसे तुमको परमानन्द होगा और तुम्हारे कर्मके बन्धन कट जायेंगे।

प्रह्लादजी भगवान्‌की परिक्रमा करके बलिके साथ चले गये। उनके जानेके बाद भगवान्‌ने शुक्राचार्यकी ओर ध्यान दिया तो देखा वे एक ओर अपनी फूटी आँख लेकर बैठे हुए हैं। यह फूटी आँखवाली बात इस प्रसंगमें नहीं है, केवल यही है कि भगवान्‌ने उनको बलिके यज्ञमें जो त्रुटि रह गयी हो, उसको पूरा कर देनेका आदेश दिया और कहा कि कर्म करनेमें कर्त्तासे जो भूल-चूक हो जाती है, वह ब्राह्मणोंकी कृपासे सुधर जाती है—

यत् तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्। १४

शुक्राचार्यने कहा कि महाराज, जिस यज्ञमें आप स्वयं आगये, आपकी पूजा हो गयी और आपने सब कुछ ले लिया, वहाँ कोई त्रुटि कैसे रह सकती है? महात्मालोग जो कर्मकाण्ड करते हैं, उसमें यदि मन्त्र-तन्त्रसे कोई छिद्र रह जाता है तो आपका नाम-संकीर्तन उसको निश्छिद्र कर देता है। जब कर्मकाण्डका मन्त्र-भाग आता है तब पण्डितलोग इसी श्लोकको बोलते हैं—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥ १६

जिसके नामसे यज्ञ सम्पूर्ण हो जाता है, उसीकी यदि यज्ञमें पूजा हुई तो अब उस यज्ञकी पूर्तिमें क्या सन्देह है? सो यज्ञ पूरे हो गये, परन्तु फिर भी आप आज्ञा देते हैं तो आपकी आज्ञाका पालन करना भी परम कल्याण है—

एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत् तवाज्ञानुपालनम्। १७

भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार शुक्रजीने बलिका यज्ञ पूर्ण कर दिया। भगवान्‌ने बलिसे भीख माँगकर इन्द्रको स्वर्ग लौटा दिया। वे देवताओंके साथ वहाँ रहने लगे। कश्यप अदितिकी प्रसन्नताके लिए लोकपालाधिपति वामनके रूपमें उनका अभिषेक कर दिया गया। वामन भगवान् धर्माध्यक्ष हो गये। धर्मसे इन्द्र हो गये, गोविन्द हो गये। इन्द्रको बड़ा भारी आनन्द मिला। मुनि-पितृ-सिद्ध आदि भगवान्‌की प्रशंसा, स्तुति करने लगे। यदि कोई पृथिवीके एक-एक कणकी गणना कर ले तो वह संभव है, परन्तु भगवद्गुणानुवादकी गणना संभव नहीं। जो इस त्रिविक्रम-अवतारचरित्रका श्रवण करता है, उसको परमगतिकी प्राप्ति होती है।

: २४ :

यह चौबीसवाँ अध्याय सद्धर्म प्रकरण है। इस प्रकरणमें ये चार बातें आयी हैं—एक तो शरणागतकी रक्षा, दूसरी बीजकी रक्षा, तीसरी ऋषिकी रक्षा और चौथी वेदकी रक्षा। इन चारोंका सद्धर्मसे सम्बन्ध होनेके कारण इनका वर्णन इस अध्यायमें आया है। नहीं तो यहाँ सद्धर्मके प्रकरणमें मत्स्यावतारका प्रसंग कैसे आ सकता था? साम्य इतना ही है कि कच्छपावतार और मत्स्यावतार दोनों जलमें हुए थे। लेकिन इनकी संगति केवल प्रसंग-श्रवणमात्रमें ही न होकर सद्धर्ममें होनी चाहिए।

जहाँतक प्रलय प्रसंगका प्रश्न है, उसका वर्णन कई लोग तो कल्पान्तमें मानते हैं और कई लोग अवान्तर प्रलयके रूपमें इसको स्वीकार करते हैं। दोनों प्रकारकी व्याख्या महापुरुषों द्वारा की हुई है। इनको अपनी रीतिके अनुसार ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब राजा परीक्षितके पूछनेपर मत्स्यावतार-चरित्रका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—भगवान् गाय, ब्राह्मण, देवता, साधु, छन्दः (वेद)—इनके स्वामी हैं। इनकी तथा धर्म और अर्थकी रक्षा करनेके लिए ही भगवान् अवतार धारण करते हैं। भगवान् सब छोटे-बड़े प्राणियोंमें विराजमान रहते हैं, परन्तु उससे वे छोटे-बड़े नहीं होते। क्योंकि उपाधिके गुणसे उपहितका किञ्चित् भी, कुछ भी, नहीं बिगड़ता।

आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप॥ ७

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली ।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥ ८

अतीत कल्पके अन्तमें एक नैमित्तिक लय ब्राह्म लय हुआ था । उसमें समुद्र उपप्लुत हो गया था और भूरादय लोक लीन हो गये थे । ब्रह्माको आयी नींद और वेद उनके मुँहसे निकल गये । उनको हयग्रीव असुरने ले लिया । यह जानकर भगवान्ने मत्स्यरूप ग्रहण किया । जलमें तो मत्स्य ही आता है । उस समय सत्यव्रत नामक राजर्षि तपस्या कर रहे थे । एक दिन जब वे कृतमालामें स्नान करके जलतर्पण कर रहे थे, तब उनकी अञ्जलिमें एक शफरी अर्थात् मछली आगयी । उन्होंने उसको पानीमें डाल दिया ।

मछली बोली कि मुझे बड़ी-बड़ी मछलियाँ खा जायेंगी, मेरी रक्षा करो । इसपर सत्यव्रत उसको कलशके जलमें रखकर अपने आश्रममें ले आये । लेकिन वह रात भरमें ही कमण्डलुसे बड़ी हो गयी । उसके लिए उसमें कोई अवकाश नहीं रहा । मछलीने कहा कि राजन्, मैं कमण्डलुमें नहीं रह सकती । ऐसी जगह रखो, जहाँ आरामसे रह सकूँ ।

सत्यव्रतने उसको मढ़ीके जलमें रखा । लेकिन वह वहाँ भी बढ़ गयी । जब उसको सरोवरमें डाला तो वह सरोवरमें भी व्याप्त हो गयी और कहने लगी कि मैं सरोवरमें भी नहीं रह सकती, मुझे किसी बहुत बड़े ह्रदमें डालो । जब कई ह्रद भी छोटे पड़ गये तब अन्तमें उसको समुद्रमें डाल दिया किन्तु वहाँ भी मत्स्य कहने लगा कि समुद्रमें तो और बड़े-बड़े जीव हैं जो मुझे खा जायेंगे ।

अब तो राजा मत्स्यकी यह लीला देखकर बड़े मोहित हुए और बोले—महाराज, आप कौन हैं, जो मुझे इस तरहसे मोहित कर रहे हैं ? आप जैसा जलचर तो मैंने कहीं नहीं देखा, जो एक दिनमें इतना बड़ा बन जाये ! आप जरूर भगवान् हैं और मुझपर अनुग्रह करनेके लिए आपने यह जलचर-रूप धारण किया है । मैं आपका भक्त हूँ, प्रपन्न हूँ । आपके सिवाय मेरा और कोई सहारा नहीं । आप मेरा कल्याण कीजिये ।

भगवन्, आप यह तो बताइये कि आपने पहले जो बहुत सारे लीलावतार ग्रहण किये हैं, उनके बाद आपके इस मत्स्यावतारका कारण क्या है ? मेरे लिए यह सुख-सौभाग्यकी बात है कि मुझे आपके चरणोंकी प्राप्ति हो गयी । किन्तु आपके चरणोंकी प्राप्ति कभी मृषा नहीं होती—व्यर्थ नहीं होती, क्योंकि आप सबके कल्याणकारी हैं । अतः आपने हमारे कल्याणके लिए यह अद्भुत शरीर कैसे धारण किया है ?

भगवान् बोले—राजन्, मैं प्रलयार्णवमें विहार करना चाहता हूँ। आजसे सातवें दिन यह धरती डूबनेवाली है। जब सारी त्रिलोकी प्रलयके जलमें डूब जायेगी, तब एक नाव तुम्हारे पास आयेगी। उसमें सर्वौषधियों और सर्वबीजोंको लेकर तुम सप्तर्षियोंके साथ बैठ जाना। जब वायुके वेगसे नाव चंचल हो जायेगी तब मैं उस एकार्णवमें विचरण करता हुआ तुम्हारे पास आऊँगा। तुम मेरे सींगमें वासुकिसे नावको बाँध देना। नावमें सब वस्तुओंके बीज रहेंगे, सप्तर्षि रहेंगे तथा राजा रहेगा तो वेद एवं धर्मकी रक्षा होगी। मैं प्रलयकालमें नावको पकड़कर धारण करके तुम सबकी रक्षा करूँगा। उस समय तुम मुझसे प्रश्न करना और मैं तुमको उत्तर दूँगा।

देखो, पुराणोंमें ऐसी कथाएँ बहुत ज्यादा आती हैं कि ऋषि लोग कहीं किसी रूपसे तो कहीं किसी रूपसे उपदेश करते रहते हैं, जैसे श्वेताश्वतर और मण्डूक आदि। श्वेताश्वतर माने सफेद खच्चर और मण्डूक माने मेंढक। इनके उपदेश श्वेताश्वतर और माण्डूक्य उपनिषदोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए। इसी तरह भगवान् भी मत्स्य, कच्छप आदि रूप ग्रहण करके उपदेश करते हैं। इसका अर्थ यह है कि नाम रूप आकृति अथवा आभासपर न जाकर जो असली तत्त्व है, उसको ग्रहण करना चाहिए। सोना चाहे किसी भी शक्लमें हो और उसके कंगन आदि कोई नाम क्यों न हों परन्तु उनमें पहचानना चाहिए एक सोनेको ही।

मत्स्यावतार भगवान् राजा सत्यव्रतको यह कहकर अन्तर्धान हो गये। राजा नदीके तटपर कुश बिछाकर बैठ गये और मत्स्य भगवान्का ध्यान करने लगे। इसी बीच समुद्र बढ़ा और चारों ओर पानी ही पानी हो गया। सत्यव्रत भगवान्की आज्ञाके अनुसार आयी हुई नावपर सप्तर्षियोंके साथ ओषधि-वनस्पति आदिको लेकर बैठ गये।

मुनियोंने कहा कि अब हम भगवान्का ध्यान करें। वही इस संकटसे हमको बचायेंगे इतनेमें प्रलय-समुद्रमें-से एक शृङ्गधारी स्वर्णमय नियुत योजन मत्स्यका प्रादुर्भाव हुआ। उसके शृङ्गमें वासुकिसे नाव बाँधी गयी। भगवान्को देखकर सत्यव्रतने उनकी स्तुति की। इस स्तुतिका सारांश यह है कि संसारमें जितनी भी शिक्षा मिल रही है, वह सब भगवान् ही दे रहे हैं। असलमें गुरु एक तत्त्व है और उस तत्त्वके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं—

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥ ४६

सत्यव्रतने कहा—प्रभो, संसारके जीवोंका ज्ञान अनादि अविद्यासे आवृत हो गया है। इसीके कारण लोग संसारमें पड़े-पड़े दुःखी हो रहे हैं। यदि सौभाग्यवश आपकी कृपासे वे आपके

चरणोंमें आजाते हैं तो आप गुरुके रूपमें उनका उद्धार कर देते हैं। आप ही सबके परमगुरु हैं। संसारके प्राणी मूर्ख हैं। इनको अपने सुख-दुःखका कुछ पता नहीं। जब कभी वे आपकी सेवा करते हैं तो आप परमगुरुके रूपमें प्रकट होकर उनकी हृदय-ग्रन्थिका भेदन कर देते हैं। इस प्रकार गुरुओंके गुरु आप ही हैं। दूसरे देवता आपके प्रसाद लेशके दस हजारवें हिस्सेकी भी बराबरी नहीं कर सकते। जैसे अन्धेके आगे अन्धा नहीं चल सकता, वैसे ही अज्ञानीके आगे अज्ञानी भी नहीं चल सकता। आप तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रकाशक हैं। मैंने आपको अपना गुरु वरण किया है। मनुष्य जब दूसरे मनुष्यको बुद्धि देता है तब अ-सती बुद्धि देता है, जिससे संसारकी प्राप्ति होती है। लेकिन आप तो उस अमोघ-ज्ञानका उपदेश करते हैं, जिससे आपके निज पदकी प्राप्ति होती है। आप ही सब लोकोंके गुरु हैं। मनुष्य नहीं जानता कि आप उसके हृदयमें बैठकर शिक्षा दे रहे हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ। आप अपने परमार्थ-प्रकाशक वचनों द्वारा मेरे हृदयकी गाँठको काट दें और अपने स्वरूपको प्रकाशित कर दें।

श्रीशुकदेवजो महाराज कहते हैं कि राजाने जब इस प्रकार प्रार्थना की तो भगवान्‌ने पुराण-संहिताका, जिसको मत्स्यपुराण कहते हैं, उपदेश किया। उसमें सांख्य, योग, क्रिया सबका उपदेश है। आत्मज्ञानका उपदेश है। सत्यव्रतने सबके साथ उसका श्रवण किया। जब प्रलय बीत गया तब भगवान्‌ने हयग्रीव असुरको मारकर वेदका उद्धार किया।

भगवान्‌की कृपासे वही राजा सत्यव्रत इस समय वैवस्वत मनुके रूपमें प्रकट हुए हैं। उनकी इस कथाको सुनकर मनुष्य पापमुक्त हो जाता है और जो भगवान्‌के इस अवतारका प्रतिदिन कीर्तन-श्रवण करता है, उसके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥ ६१

परीक्षित, भगवान् जिह्ममीन हैं, कपटी मीन हैं, मायासे मछली बने हुए हैं। इन्होंने ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया और सत्यव्रत तथा अन्य सबकी रक्षा की। उनको हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।

हरि ॐ तत्सत्

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	स्कंध	पंक्ति	जो है	जो होना चाहिए
१	भूमिका	२०	शौदकादि	शौनकादि
९	,,	१६	श्ची	श्री
१९	,,	१७	अप प्रेमी	अपने प्रेमी
२०	,,	१४	छान	छीन
२२	,,	२०	प्राणाली	प्रणाली
३५	,,	७	चार	पाँच
३६	,,	९	अरिरिक्त	अतिरिक्त
५०	,,	६	अतवार	अवतार
५१	,,	१२	सांख्यावादी	सांख्यवादी
६६	,,	१०	दो पूजा शब्दों में से एक शब्द 'पूजा' रखना है।	
६९	,,	३	आयेंगी	आयेंगे
७३	,,	२४	श्री राघ	श्री राधा
७४	,,	११	बनते	करते
७४	,,	२५	कुलक्षेत्र	कुरुक्षेत्र
८१	,,	२६	मिहि	मिट्टी
८५	,,	२६	विभाग	विभाव
८५	,,	२६	स्थायि	स्थायी
१०४	,,	१०	लालारस	लीलारस
१२१	,,	२८	द्वीतीय	द्वितीय
१३१	,,	१६	र्सस्कृत	संस्कृत
१३३	,,	२	भूद्र	शुद्र
१५५	,,	४	बाहरहवें	बारहवें
१५६	,,	१२	अठाहर	अठारह
१५८	,,	१०	राश का	यश का
३०	माहात्म्य	५	भगावन	भगवान
५१	,,	१७	श्रीमद्भवत्	श्री मद्भागवत
५२	,,	१९	योग	लोग
५६	प्रथम स्कंध	अंतिम पंक्ति	तयार	तैयार
६९	,,	८	छट	छूट

पृष्ठ	स्कंध	पंक्ति	जो है	जो होना चाहिए
८८	,,	अंतिम से एक ऊपर	लेस पर	इस पर
११५	,,	९	करोड़ा	करोड़ों
११५	,,	१९	सम्रा	सम्राट
१९	द्वि. स्कंध	१	क	कि
२४	,,	१८	हाता	होता
२४	,,	२०	हाकर	होकर
३३	,,	२१	लक्ष्म	लक्ष्य
३५	,,	२०	दनों	दोनों
५२	तृतीय स्कंध	९	व्यङ्ग्य	व्यंग्य
५६	,,	१	मत्रय	मैत्रेय
६३	,,	१८	चतन	चेतन
२	चतुर्थ स्कंध	१८	कैलल्य	कैवल्य
२१	,,	१०	लाग	लोग
२७	,,	६	खडन	खंडन
३१	,,	२५	बढ़या	बढ़िया
३७	,,	१	बदुर जी	विदुर जी
९३	,,	७	आध्नात्मिक	आध्यात्मिक
१०४	,,	२४	आश्रय	आश्रम
११६	,,	अंतिम	उसक	उसका
५	पंचम् स्कंध	७	सुललत	सुललित
८	,,	१२	पिषय	विषय
१४	,,	१२	ममुल्य	मनुष्य
४६	,,	२३	मस्य	मत्स्य
४७	,,	अंतिम	भलवान	भगवान
५५	,,	२१	न दयों	नदियों
६६	,,	२०	क्षी का	पक्षी का
४	षष्ठ स्कंध	१४	भड़े	बड़े
४६	,,	१९	याग	योग
१५	अष्ट्म स्कंध	१७	सनुद्र	समुद्र
१६	,,	२१	पृथीवी	पृथिवी
२३	,,	१२	निवाण	निवारण

षष्ठ स्कंध के प्रारम्भ में ४ पृष्ठों पर गलत संख्या छप गयी है।